समकालीन भारतीय समाज

एक समाजशास्त्रीय परिदृश्य



नदीम हसनैन

समकालीन भारतीय समाज

एक समाजशास्त्रीय परिदृश्य

प्रो. नदीम हसनैन
विभागाध्यक्ष,
मानव शास्त्र विभाग,
लखनऊ विश्वविद्यालय,
लखनऊ

भारत बुक सेन्टर

2

प्रकाशक
भारत बुक सेन्टर
17, अशोक मार्ग, लखनऊ
दूरभाष : (0522) 2288381, 09415102821

ISBN No. : 978-81-7678-177-0

पुर्नमुद्रित संस्करण : 2011

मूल्य : 250.00 रुपये (छात्र संस्करण)

मुद्रक : तरुण ऑफसेट, दिल्ली

SAMKALIN BHARATIYA SAMAJ

- By Nadeem Hasnain

प्रस्तावना

प्रस्तावना की यह पंक्तियाँ लिखते हुए मैं अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव कर रहा हूँ। विभिन्न स्तरों पर 'भारतीय समाज' पर पाठ्य पुस्तकों का अभाव नहीं है परन्तु जब आप यह पुस्तक पढ़ेंगे तो पायेंगे कि यह स्थापित लोकप्रिय पुस्तकों से काफ़ी भिन्न है। इसका कारण केवल यही नहीं है कि इसमें वर्ष 2003 तक के तथ्यों व आँकड़ों का इस्तेमाल किया गया है बल्कि समाजशास्त्र-सामाजिक मानवशास्त्र के बेहतरीन विश्लेषणों को भी समाहित किया गया है विशेषकर भारतीय समाज में निरन्तरता व परिवर्तन के परिप्रेक्ष्य में।

भारतीय समाज पर कोई समग्र पुस्तक लिखना आसान नहीं है और वह भी 500-600 पृष्ठों में। स्थान की इन सीमाओं के साथ इतने फैले हुए कैनवेस को क़ैद करना कठिन कार्य है। शायद इसीलिये आप को किसी-किसी विषय में उतना विस्तरित विवरण व विश्लेषण न मिल सके जितना होना चाहिये था। यह लेखक की मजबूरी है। इसीलिये प्रयास किया गया है कि जो विषय सापेक्षतया सुगम हैं तथा सभी दूसरी उपलब्ध पुस्तकों में मौजूद हैं उन पर विस्तार से चर्चा नहीं की गयी है।

पुस्तक में विषयों व मुद्दों का चयन इस प्रकार किया गया है कि यह समाजशास्त्र व सामाजिक मानवशास्त्र के विश्वविद्यालय स्तर के पाठकों के साथ-साथ विभिन्न प्रतियोगी/प्रशासनिक परीक्षाओं के परीक्षार्थियों के लिये भी समान रूप से उपयोगी हो सके। साथ ही भारतीय समाज के गंभीर सामान्य पाठक भी इसे रुचिकर पायें।

पुस्तक के प्रकाशन में भारत बुक सेन्टर के श्री वीरेन्द्र कुमार बाहरी, उनके योग्य पुत्र तरुण बाहरी व टाईपसेटर सिस्टेक कम्प्यूटर के मनोज कुमार का अभारी हूँ जिन्होंने अपना भरपूर सहयोग दिया। साथ में अपनी पत्नी निशात, बेटे असीम व बेटी समता के प्रति भी आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होंने पुस्तक लिखने की सम्पूर्ण अवधि में मुझे घरेलू चिंताओं से मुक्त रक्खा। मेरे विद्यार्थियों व पूर्व प्रकाशित पुस्तकों के अनेकों पाठकों का प्रेमपूर्ण आग्रह न होता तो शायद इतने कम समय में यह पुस्तक न लिख

पाता। उनके प्रति भी मैं आभार व्यक्त करता हूँ। समय के अभाव में 'भारतीय समाज की प्रमुख समस्यायें' व 'भारतीय समाज के अध्ययन में विभिन्न उपागम' जैसे कुछ विषय छूट गये हैं जिन्हें आगामी संस्करण में शामिल किया जायेगा।

हमेशा की तरह अपने पाठकों की प्रतिक्रिया व सुझावों का इन्तेज़ार रहेगा जिन्होंने मेरी पुस्तकों की उपयोगिता बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

5/505, विकास नगर
लखनऊ- 226022

(डॉ0) नदीम हसनैन
(0522) 2769803
2769638

विषय सूची (Contents)

खण्ड-तीन

भारत में सामाजिक स्तरीकरण
(Social Stratification in India)

खण्ड-पाँच

भारत में कमजोर वर्ग : अनुसूचित जातियां, अनुसूचित जनजातियां व अन्य पिछड़े वर्ग
(Weaker Sections in India: Scheduled Castes, Scheduled Tribes and Other Backward Classes)

खण्ड-छह

महिलायें तथा समाज
(Women and Society)

खण्ड-सात

जनसंख्या गतिकी
(Population Dynamics)

खण्ड-आठ

परिवर्तन की गतिकी
(Dynamics of Change)

13

खण्ड-एक

भारतीय समाज के ऐतिहासिक नौबंध तथा समकालीन परिस्थितिः एक सामान्य समीक्षा

(Historical Moorings of Indian Society and Contemporary Situation: A General Review)

अध्याय 1

भारतीय समाज के ऐतिहासिक नौबन्ध
(Historical Moorings of Indian Society)

जीवाश्मिक प्रमाणों के आधार पर ऐसा माना जाता है कि मानव का उद्‌भव भारत में लगभग 5 लाख वर्ष पुराना है। यद्यपि भारत में कई विद्वानों ने भारतीय जनसंख्या का वर्गीकरण किया है फिर भी भारत के प्रारंभिकतम रहने वाले कौन थे और किन प्रजातीय समूहों के थे, यह आज भी एक अनबुझी पहेली है। इस प्रकार भारतीय समाज के गठन के बारे में हमारा ज्ञान लिपि के आविष्कार होने के बाद व प्राचीनतम सभ्यताओं के उदय होने के बाद लगभग 5 हजार वर्ष तक ही सीमित है। पिछले 4-5 हजार वर्ष की भारतीय जनसंख्या व समाज के बारे में भी अनेकों विवाद व मतांतर हैं।

भारतीय समाज की मूल प्रकृति काफी जटिल है। जब हम भारतीय समाज पर नज़र डालते हैं तो पाते हैं कि औपचारिक समाजशास्त्रीय अर्थों में इसे 'समाज' नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसमें 'समाज' की मूलभूत विशेषताओं का अभाव रहा है। ऐसी विशेषताओं में प्रमुख हैं (1) एक राज्य सत्ता के अधीन किसी भौगोलिक क्षेत्र में लोगों का आवास (स्वतंत्रता के बाद ही भारतीय डोमीनियन अस्तित्व में आई) (2) सामाजिक एकजुटता (भारत सदा से जातियों, जनजातियों, नृजातीय समूहों (ethnic groups) आदि के रूप में रहता आया है।) (3) व्यक्तियों का ऐसा समूह जो अन्तर्संबंधों की ऐसी व्यवस्था से बंधा हो जिनको समान संस्थायें निर्धारित करती हों (योद्धाओं, तीर्थयात्रियों, व्यवसायियों आदि को छोड़कर इस प्रकार के परस्पर संबंध व सामाजिक अन्तःक्रिया बड़े पैमाने पर तभी आ सकी जब भारत एक 'भारतीय संघ' के रूप में उभरा)। इस प्रकार यहाँ कोई 'भारतीय समाज' न होकर 'भारत में अनेकों समाज' (Societies in India) थे जो एक अद्‌भुत विविधता के साथ जी रहे थे। ऐसे समाजों के योग को हम 'भारतीय समाज' कहना पसन्द करते हैं। ऐसे हजारों हजार समाजों के बीच अन्योन्य या परस्पर क्रिया एक समान भाषा व संस्कृति के अभाव में बाधक रही है लेकिन छठी शताब्दी ईसापूर्व से भारत के विभिन्न क्षेत्रों का एकीकरण आरम्भ हो चुका था।

विशाल सांस्कृतिक विभिन्नताओं के बावजूद 19वीं शताब्दी से अनेकों शक्तियों व कारकों के आ जाने के कारण संस्कृतियों का अभिसरण बड़े पैमाने पर आरम्भ हुआ। ऐसे कारकों में समान राजनीतिक संरचना, समान कानूनी व्यवस्था, समान प्रशासनिक व्यवस्था, समान शैक्षिक

व्यवस्था, बढ़ती हुई आर्थिक परस्पर निर्भरता व एक नई राष्ट्रीय चेतना प्रमुखता से गिनवाये जा सकते हैं जिन्होंने एक 'भारतीय समाज' के गठन में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। इनके अतिरिक्त पश्चिमीकरण की प्रक्रिया के प्रौद्योगिक व सांस्कृतिक प्रभाव जैसे यातायात व संचार के आधुनिक साधन, छपाई की नई प्रविधि, अंग्रेजी तथा हिन्दी भाषायें, इहलौकीकरण (secularization) की बढ़ती प्रवृत्ति ने भी इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है। फिर भी अधिकतर विद्वानों की नज़र में भारत एक संरचनात्मक सत्ता (structural entity) से अधिक एक सांस्कृतिक सत्ता (cultural entity) के रूप में रहा है।

आज भी जब कोई भारतीय समाज के बारे में सोचता है तो परम्परागत भारतीय सामाजिक व्यवस्था के आधार के रूप में धर्म (religion) का विचार ही दिमाग में आता है। इस प्रकार से धर्म को ही भारतीय समाज का प्राथमिक नौबन्ध (Primary mooring) के रूप में देखा जाता है। उन सभी धर्मों की तुलना में, जिनके अनुयायी भारत में रहते हैं, हिन्दू धर्म सबसे अधिक पुराना है और भारत का बहुसंख्य वर्ग इसी धार्मिक व्यवस्था में अपना जीवन गुजारता है। यह बाकी सभी धर्मों से भिन्न है। इसके न तो कोई निश्चित सिद्धांत (fixed dogmas) हैं और न ही कोई एक केन्द्रीय सत्ता बिन्दु। यह संरचनाओं, संस्थाओं, विश्वासों, मूल्यों, आदर्शों व प्रतिमानों का एक वृहत् जाल या तंत्र है जो चारों ओर बिखरा हुआ है। यहाँ शैक्षिक व आर्थिक व्यवस्था बिल्कुल स्वतंत्र न रहकर धर्म के दिशानिर्देशों से संचालित होती रही है।

युगांतरी सामाजिक-सांस्कृतिक गतिकी (Socio-Cultural Dynamics through the Ages)

ढीले-ढाले व वृहत् अर्थों में सामाजिक-सांस्कृतिक गतिकी को किसी समाज के सामाजिक व सांस्कृतिक गुणों में आने वाले परिवर्तनों के रूप में समझा जा सकता है। यद्यपि सामाजिक व सांस्कृतिक गुणों व विशेषताओं को एक एकीकृत समग्रता (integral whole) के रूप में देखा जाता है और इसलिये उसको अलग नहीं किया जा सकता फिर भी यहाँ 'सामाजिक' को संरचनात्मक पहलुओं जैसे प्रतिमानित अन्योन्यता (patterned interaction) के रूप में समझा जा रहा है जो विभिन्न सामाजिक संस्थाओं के द्वारा ही संभव हो पाता है। सांस्कृतिक गुण व विशेषतायें हमें किसी मानव समूह के सामूहिक सहभागिता के सामाजिक मूल्यों, विचारों व प्रतीकों के बारे में बताते हैं। इस प्रकार सामाजिक-सांस्कृतिक गतिकी एक सार्वभौमिक व अन्तहीन प्रक्रिया है। चूंकि कोई समाज जड़ता में नहीं रह सकता, सभी समाज प्रत्येक युग में परिवर्तन की प्रक्रिया से गुज़रते रहते हैं।

सामाजिक-सांस्कृतिक गतिकी एक बहुत ही जटिल घटना है। यदि परिवर्तन की शक्तियाँ किसी सामाजिक संरचना के अन्दर से ही निकलती हैं तो इस प्रक्रिया को अन्तरगामी (endogenous) कहा जाता है। बौद्धवाद या जैनवाद जैसी सामाजिक-धार्मिक विचारधारायें, भारतीय समाज में अन्तरगामी परिवर्तनों के उदाहरण हैं जबकि इस्लाम व ईसाई धर्म जो भारत में बाहर से आये थे, बहिर्गामी व बहिर्जात परिवर्तनों (exogenous changes) के रूप में देखे

जाते हैं। भारतीय समाज में परिवर्तन इन दोनों प्रक्रियाओं के द्वारा होते रहे हैं।

आधुनिक पश्चिम का भारतीय समाज पर प्रभाव (Impact of Modern West on Indian Society)

आधुनिक पश्चिम के प्रभाव में होने वाले सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तन भारत में सामाजिक-सांस्कृतिक गतिकी का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष प्रस्तुत करते हैं। भारत सदा से एक परम्परागत समाज रहा है और आधुनिक पश्चिमी संसार से सम्पर्कों के परिणामस्वरूप ही उसमें आधुनिकीकरण की प्रक्रिया आ सकी। यह आधुनिकीकरण प्रौद्योगिक व सांस्कृतिक दोनों ही क्षेत्रों में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सका। समाजशास्त्रियों ने ऐसे परिवर्तनों को विषमजातीय (heterogenetic) परिवर्तन की संज्ञा दी है। इसके अतिरिक्त यद्यपि भारत का सम्पर्क फ्रांस, पुर्तगाल व डच से भी रहा लेकिन ब्रिटिश प्रभाव की तुलना में यह नगण्य है। पश्चिमी प्रभाव के फलस्वरूप घटने वाली सामाजिक-सांस्कृतिक गतिकी को समझने के लिए हमें भारतीय समाज की प्रकृति व पाश्चात्य परम्परा को समझ लेना आवश्यक है। भारतीय संस्कृति बहुत ही परम्परागत थी जबकि पाश्चात्य संस्कृति आधुनिकीकरणोन्मुख थी। तर्कवाद, व्यक्तिवाद व उपयोगितावाद उसके विशिष्ट गुण थे। उसमें समतावादी व विश्ववादी तथा सर्वहितवादी तत्त्व मौजूद थे। इसके विपरीत भारतीय सामाजिक व्यवस्था श्रेणीकरण (hierarchy) व पदस्थान (status) पर आधारित थी जो कठोर धार्मिक सिद्धांतों के अधीन थी। ब्रिटिश शासन की स्थापना के साथ ही भारत में नई संरचनायें विकसित होने लगीं जिनमें शैक्षिक, विधिक तथा सैन्य संरचनायें प्रमुख थीं। इसके साथ ही परिवर्तन के नये कारकों ने स्तरीकरण के नये आधारों को प्रोत्साहित करना शुरू किया। ऐसे आधारों में धर्मनिरपेक्ष या इहलौकिक (secular) आधार प्रमुख था जिसने भविष्य के भारत को बहुत प्रभावित किया। निम्न विवरण में कुछ ऐसे ही महत्त्वपूर्ण मानदण्डों व कारकों का उल्लेख किया जा रहा है।

पश्चिम के प्रभावों में अंग्रेजी भाषा व धर्मनिरपेक्ष शिक्षा (secular education) की भूमिका बहुत महत्त्वपूर्ण थी। ब्रिटिश शासन के आगमन से पूर्व भारत में सभी सरकारी व प्रशासनिक कार्य संस्कृत, फ़ारसी व तत्पश्चात् उर्दू भाषा में सम्पन्न होते थे। अंग्रेजों ने अंग्रेजी भाषा को स्थापित किया और अंग्रेजी ने भारत के लिये 'बाहरी संसार' के लिये रास्ते खोल दिये। अंग्रेजी भाषा ने भारतीयों को एक नई मूल्य व्यवस्था से परिचित करवाया जो समतावाद, तर्कवाद व इहलौकिकवाद पर आधारित थी। यातायात व संचार के नये साधनों ने देशिक (spatial) व सामाजिक गतिशीलता को बढ़ावा दिया। छपाई की नयी प्रविधि, डाक सेवा व रेडियो ने विचारों के प्रसार में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभानी शुरू की। विचारों के स्तर पर एक नयी जागृति आरम्भ हुई जो मौलिक सामाजिक परिवर्तन की अग्रदूत साबित हुई। एक नई दण्ड संहिता प्रस्तुत हो जाने से न केवल परम्परागत विधि व्यवस्था व न्याय व्यवस्था में परिवर्तन आये बल्कि उसने परम्परागत भेदजनक हिन्दू विधि पर भी सीधा प्रहार किया जो समाज के विभिन्न वर्गों के प्रति, विशेषकर

दलितों के लिये, बहुत ही भेदकारी व अन्यायपूर्ण थी। इस प्रकार पूरे भारत में समान विधिक व्यवस्था के साथ 'कानून के सामने बराबरी' के सिद्धांत को स्थापित किया गया। औद्योगिकीकरण व नगरीयकरण जैसे परिवर्तन के महत्त्वपूर्ण कारकों में तेजी के साथ बढ़ोत्तरी हुई। औद्योगिकीकरण की प्रक्रिया ने सामाजिक प्रस्थिति के नये निर्धारक आधार प्रस्तुत किये। ऐसे सेक्युलर आधारों में भौतिक सूचक जैसे शिक्षा, धन, संपत्ति, राजनीतिक शक्ति आदि प्रमुख थे। इसी दौरान 'राष्ट्रवाद' की अवधारणा के उदय के साथ भारतीय समाज के एकीकरण की प्रक्रिया भी तेज हुई।

यहाँ यह उल्लेख करना भी आवश्यक है कि पश्चिमीकरण के प्रभाव ने भारत में एक पश्चिमीकृत अभिजात वर्ग (westernized elite) के उदय में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की जिसने भारत के परम्परागत अभिजात वर्ग का स्थान लेना शुरू कर दिया। इस नये अभिजात वर्ग ने, जिसका संसार एक नई विचारधारा व मूल्य व्यवस्था पर आधारित था, अपने ही समाज को एक नई नज़र से देखना शुरू कर दिया। इसने हिन्दू विचारधारा व जाति व्यवस्था को एक प्रगतिशील व अधिक मानवतावादी दृष्टिकोण से पुनर्व्याख्यायित किया और एक नई सामाजिक व्यवस्था का अग्रदूत बन गया। इस प्रकार हम पाते हैं कि पश्चिमीकरण ने भारत के प्रौद्योगिक व सांस्कृतिक आधुनिकीकरण में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है। यह अलग बात है कि भारत को आज भी एक 'आधुनिक समाज' नहीं कहा जा सकता। 'समकालीन भारत कितना आधुनिक है-' समाजशास्त्रियों में विवाद का विषय रहा है। दीपांकर गुप्ता (2001) भारत की आधुनिकता को छद्म आधुनिकता मानते हैं और जीवन के अनेकों पहुलओं में नज़र आने वाली आधुनिकता शायद बाहरी दिखावा मात्र है। वास्तविकता भी यही है कि सांस्कृतिक स्तर पर भारतीय समाज का एक बहुत छोटा वर्ग ही सही अर्थों में 'आधुनिक' हो सका है। यह सभी बातें सही हैं, लेकिन यह भी सही है कि पश्चिम के प्रभाव में आने के बाद से भारत पहले वाला भारत नहीं रह सका। यहाँ यह बात बहुत महत्त्वपूर्ण है कि भारतीय समाज में आने वाले परिवर्तन परम्परागत संचरनाओं को बिल्कुल हटाकर नहीं आये हैं बल्कि उन्हीं में कुछ आधुनिक तत्त्वों का समावेश हुआ है। भारत की परम्परागत संस्थायें इतनी मजबूत व लचीली रही हैं कि परिवर्तनों के साथ भी अपने को अनुकूलित कर लेती हैं और अपने मूल तत्त्वों को बनाये रखती हैं। भारत की जाति व धर्म व्यवस्था इसी अनुकूलनशीलता के प्रमुख उदाहरण हैं। शायद इसीलिये योगेन्द्र सिंह अपनी चर्चित पुस्तक का नाम "Modernization of Indian Tradition" (भारतीय परम्परा का आधुनिकीकरण) रखने में असुविधा महसूस नहीं करते। शायद यह नाम कुछ लोगों को बड़ा अजीब व अंतर्विरोधी लगे लेकिन जो भारतीय समाज की सामाजिक-सांस्कृतिक गतिकी को समझते हैं वे इस नाम को और उससे जुड़े विचार को सहजता से स्वीकार कर लेंगे।

निरंतरता व परिवर्तन (Continuity and Change)

सभी समाज अपने अतीत की निरंतरता होते हैं, लेकिन परिवर्तनों के दौर से गुजरने पर भी वे कुछ हद तक निरंतरता बनायें रखते हैं। ऐसे ही कालान्तर में किसी समाज की पहचान बनती है। वैसे भी, कुछ निरंतरता होना आवश्यक है क्योंकि मानवीय प्रकृति अपरिर्वतनीय है।

जैसा कि एस0 सी0 दुबे (1990) लिखते हैं, प्रदत्त प्रस्थिति (ascribed status), अधिक्रम या सोपानिकी (hierarchy) व कर्मकांडीय शुद्धता व अशुद्धता (ritual purity-impurity) हिन्दू सामाजिक संरचना के मूल तत्त्व रहे हैं। इन तत्त्वों व विचारों पर समय-समय पर सामाजिक व धार्मिक सुधार आन्दोलन, इहलौकीकरण प्रक्रिया (secularization process) व दूसरे कारक प्रहार करते रहे हैं। लेकिन इस व्यवस्था ने आश्चर्यजनक स्थिति-स्थापन व जीवटता का परिचय दिया है। आवश्यकता पड़ने पर यह थोड़ी ज़मीन छोड़ कर पीछे हट जाती है, लेकिन फिर वापस आ जाती है और यथास्थिति को बनाये रखने का प्रयास करती है। उदाहरण के तौर पर जब जाति को धार्मिक/अनुष्ठानिक क्षेत्र से बाहर करने का प्रयास किया जाता है तो यह राजनीतिक प्रक्रिया में प्रविष्ट कर जाती है और जाति चेतना नगरीयकरण की परिस्थितियों में भी मजबूत हो जाती है। भारत में वैज्ञानिक सोच के साथ धार्मिकता व कर्मकाण्डीय प्रवृत्तियाँ भी बढ़ी हैं तथा आधुनिक शिक्षित लोगों का एक बड़ा वर्ग धार्मिक प्रघटनाओं (religious phenomena) के साथ जीवन गुज़ारता देखा जा सकता है। उसकी 'आधुनिकता' व 'सेक्युलर' जीवन अपने आप में न जाने कितने अंधविश्वास व अतार्किकतायें समाये हुये देखी जा सकती है। इस्लाम व ईसाई विचारधारायें भी, जिनका उद्भव भारत के बाहर हुआ था, यहाँ रहकर 'भारतीयकरण' को आत्मसात कर लेती हैं। संयुक्त परिवार जब नगरीयकरण व औद्योगीकरण के दबाव से हटने लगते हैं तो जनतांत्रिक प्रक्रिया को अपनाकर उसे बनाये रखने का प्रयास किया जाता है। अब परिवार का कर्ता व बड़े बूढ़े विवश होकर ही सही मतान्तरों के प्रति सहनशीलता दर्शाते नज़र आते हैं। बदली हुई परिस्थितियों में संयुक्त परिवार अनुकूलनशीलता का परिचय देता देखा जा सकता है। यह सारे उदाहरण दर्शाते हैं कि यह नैरन्तर्य अतीत का ही संशोधित रूप है। जब किलिफ़र्ड गीर्टज़ जैसे जाने माने सामाजिक मानवविज्ञानी अपने एक चर्चित अध्ययन को 'Old Societies, New States' के नाम से पुकारते हैं तो शायद यही भावना प्रकट करते नज़र आते हैं।

भारतीय समाज में निरन्तरता के एक और पहलू को 'लघु परंपराओं' व 'वृहत् परंपराओं' की निरंतरता के रूप में देखा जा सकता है। शहरों में पढ़े लिखे व आधुनिक लोग भी परिवार में किसी सदस्य के बीमार होने पर एक आधुनिक चिकित्सक के साथ झाड़ फूँक, गंडा-तावीज, भभूत बाबा-फकीर का इस्तेमाल करते देखे जा सकते हैं। पूरे ग्रामीण भारत में किसी के द्वारा ट्रैक्टर जैसी कोई वस्तु लाने पर उसकी पूजा की जाती है, आरती उतारी जाती है, धार्मिक अनुष्ठान किये जाते हैं व स्थानीय देवी-देवताओं का आशिष प्राप्त किया जाता है जबकि ट्रैक्टर या दूसरी मशीनें आधुनिक प्रौद्योगिकी का उत्पाद हैं और इस प्रकार वृहत् परंपरा का हिस्सा हैं। इस प्रकार भारत में न केवल लघु व वृहत् पंरपराओं में निरंतरता देखी जाती है बल्कि दो विभिन्न वृहत् परपराओं में भी ऐसी ही निरंतरता देखी जा सकती है। करोड़ों हिन्दू जनमानस का सूफी संतों की मज़ार पर श्रद्धावनत होना एक आम दृश्य है जबकि भारत के शास्त्रीय संगीत में अनेकों मुसलमानों का योगदान एक महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक पहलू है जबकि इस्लाम की रूढ़िवादी व्याख्या में संगीत को अच्छी चीज नहीं माना जाता। ऐसा करने पर इन लोगों का 'हिन्दुत्व' व 'इस्लाम'

ख़तरे में नहीं पड़ता। दिन में पांच बार नमाज़ पढ़ने वाले उस्ताद बिस्मिल्लाह खां हज करने के बाद काशी विश्वनाथ मंदिर में शहनाई बजाते नज़र आते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि भारतीय सभ्यता में कुछ ऐसा अवश्य है जो इस सांस्कृतिक निरंतरता को आगे बढ़ता है।

भारतीय समाज में परिवर्तन के कारकों में ब्रिटिश शासन व उससे आज़ादी, लोकतंत्रीकरण, वयस्क मताधिकार, भारतीय संविधान इत्यादि प्रमुख हैं जिन्होंने परिवर्तन के वाहक की भूमिका निभाई है। नगरीयकरण, औद्योगीकरण, आधुनिक शिक्षा और एक नयी विधायी व प्रशासनिक व्यवस्था ने भी इन परिवर्तनों को आगे बढ़ाया है। ज़मीनी स्तर पर औद्योगीकरण व बाजारी अर्थव्यवस्था ने जजमानी व्यवस्थ‌ा ो तोड़ा या कमज़ोर किया है, नगरीयकरण ने व्यवसायिक गतिशीलता में योगदान किया व संयुक्त परिवार को कम से कम संरचनात्मक स्तर पर तोड़ने में ही सही, महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है। स्तरीकरण की एक नई व्यवस्था का उदय हुआ है जो प्रदत्त प्रस्थिति के स्थान पर अर्जित प्रस्थिति को अधिक महत्त्व देती देखी जा सकती है परंतु, जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, यह परिवर्तन परंपरागत संरचनाओं के संपूर्ण प्रतिस्थापन की कीमत पर नहीं हुए हैं। आधुनिकता के साथ-साथ जाति-धर्म जैसी परंपराओं से मोह व लिपटे रहना आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में एक सांस्कृतिक पिछड़ेपन (cultural lag) का कारण बनता है। जातिवाद व साम्प्रदायिकता का बढ़ना वह भी हिंसा के साथ, टेलीविजन जैसी आधुनिक मशीन के द्वारा आस्थाओं व अतार्किक अंधविश्वासों को बढ़ाना, धार्मिक वैमनस्य व अलगाववाद ऐसे ही सांस्कृतिक पिछड़ेपन के उदाहरण हो सकते हैं जो आधुनिक प्रौद्योगिकी के इस्तेमाल से विस्फोटक व विघटनकारी भूमिका अदा करते देखे जा सकते हैं। फरवरी-मार्च-2002 में गुजरात में भीषण अल्पसंख्यक विरोधी हिंसा, जिसमें खाते-पीते, शिक्षित नगरीय मध्यम वर्ग ने लूटमार में भी हिस्सा लिया, शिक्षित नगरीय मध्यम वर्ग के संप्रदायीकरण का उदाहरण ही तो हैं। आधुनिक गतिशील अर्थव्यवस्था के साथ बढ़ती हुई धार्मिकता व कर्मकांडीयता व धार्मिक चेतना, लोकतंत्र के साथ मतांतरों के प्रति घटती सहनशीलता, खुली राज्यव्यवस्था के साथ समाज के कमज़ोर वर्गों पर बढ़ते अत्याचार, उच्चतर अध्यात्मवाद के साथ सामाजिक मूल्यों की अशिष्टता व घटियाकरण समकालीन भारतीय समाज के अध्येताओं के लिये खतरे के संकेत हैं। एस0सी0 दुबे (1990) अपने एक विश्लेषण में कहते हैं कि समकालीन भारतीय समाज परिवर्तन की दुखदायी प्रक्रिया से गुज़र रहा है जहाँ अनेकों संशय व विरोधाभास हैं। यहाँ परम्पराओं के कुछ पहलू अपनी उपयोगिता तथा जीवन्तता के चलते जीवित रह जायेंगे लेकिन अतीत की पूर्वाग्रही परम्परायें समाप्त करनी पड़ेंगी। शोषण व दमन की संरचनाओं को नष्ट कर‌.. होगा। रास्ता बहुत लम्बा है और यह प्रक्रिया दुष्कर भी है लेकिन भारत में प्रत्येक नागरिक का एक अच्छे भविष्य की रचना में बहुत कुछ दाँव पर लगा है इसलिये यह प्रयास करने ही होंगे।

❑

अध्याय 2

छह परम्परागत दार्शनिक व्यवस्थाएँ
(Six Traditional Philosophical Systems)

तीसरी सहस्राब्दी ईसा पूर्व में ही पारस्परिक मेलजोल, अन्तर्व्यवहार और संस्कृति-संक्रमण (interaction, fusion and acculturation) के चलते आर्य और द्रविड़ संस्कृतियां विशिष्ट 'भारतीय संस्कृति' के साँचे में स्थापित हो चुकी थीं। इस प्रकार लम्बे समय से विकसित होते हुए विभिन्न दार्शनिक मत सामने आये। स्टीफन टायलर (1973) के विचार से प्रारम्भ में यह मत दार्शनिक मुद्दों पर विभिन्नता रखते रहे, परन्तु यह परिकल्पना विकसित हुई कि यह सभी मत एक-दूसरे के पूरक हैं और मिलजुल कर एक वृहत्तर व्यवस्था की संरचना करते हैं। प्रत्येक व्यवस्था ने एक 'विशिष्ट दृष्टिकोण' (a way of seeing) विकसित किया और हरेक ने अपने-अपने व्यावहारिक उपायों से एक उद्देश्य -'मोक्ष'- का मार्ग बताने का प्रयास किया। व्यावहारिक रूप से सभी मतों के कार्य व्यवहार और अंतिम परिणति में अन्तर रहा किन्तु महत्त्वपूर्ण मुद्दों पर सभी मतों में एकता रही। सभी ने वेदों की सत्ता को स्वीकृति दी। सभी ने माना कि सभी दर्शनों का अन्तिम उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति है। समय के साथ-साथ जो विभिन्न विशिष्ट दर्शन विकसित हुए उसमें छह दर्शन प्रमुख हैं। परम्परागत रूप से इन्हें दो-दो के तीन समूहों में विभाजित किया जा सकता है। ये हैं : न्याय और वैशेषिक, सांख्य और योग, मीमांसा और वेदान्त।

न्याय और वैशेष

प्रारम्भिक अवस्था से ही न्याय और वैशेषिक एक दूसरे से काफी सम्बद्ध रहे और समय के साथ धीरे-धीरे एक ही रूप हो गये। इसलिए बाद में दोनों को मिलाकर एकरूप न्याय-वैशेषिक माना गया। न्याय के शाब्दिक अर्थ में 'सही या न्यायपूर्ण व्यवस्था' तर्क की परिणति है। पहली शताब्दी ईसा बाद 'गौतम' द्वारा न्याय दर्शन का विकास किया गया। इस दर्शन का मूल न्याय-सूत्र और वैशेषिक सूत्र के जनक गौतम और कणाद हैं। न्याय-तर्क व्यवस्था बाकी अन्य मतों द्वारा भी स्वीकारी गयी। स्पष्ट सोच और तर्कपूर्ण युक्ति मोक्ष-मार्ग के अज्ञान को दूर करती है। तर्क का धार्मिक आधार है। ज्ञान-प्राप्ति के न्याय के अन्तर्गत चार प्रकार स्पष्ट किये गये हैं : अन्तर्ज्ञान (intuition), अनुमान (inference), तुलना (comparison), मौखिक साक्ष्य (verbal testimony)। इन सबमें अंतर्ज्ञान (intuition) प्रमुख है। स्टीफन टायलर के अनुसार न्याय तर्क क्रम (Nyaya syllogism) की अनुमानात्मक संरचना (inferential structure) के पाँच भाग हैं : 1. प्रस्तावना (Preposition) 2. तर्क (reason) 3. उदाहरण (example)

4. अनुप्रयोग (application) 5. उपसंहार (conclusion).

महान् कणाद ऋषि द्वारा प्रतिपादित वैशेषिक (विशेष से उत्पन्न) दर्शन शास्त्र के न्याय सिद्धान्त के लिए भौतिक और तात्त्विक पृष्ठभूमि तैयार की गयी। न्याय सिद्धान्त छह श्रेणियों के अनुभवों पर आधारित है। 1. तत्त्व (substance), गुण (quality), कार्य (action), सामान्यीकरण (generality), वैयक्तिकता (individuality) और अन्तर्निहितता (inherence)।

इन श्रेणियों के वास्तविक स्वभाव और गुणों के ज्ञान के बाद व्यक्ति धन्य हो जाता है। अंतिम अविभाज्य आणविक तत्त्व पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु हैं। वास्तविकता इन्हीं चार तत्त्वों के रूप में समाहित है। इसमें पाँच आनुमानिक तत्त्व भी शामिल हैं। ये हैं आकाश, समय, स्थान, स्व और बुद्धि (ether, time, space, self & mind)। तत्त्वों में गुण होता है- रंग, गंध, स्वाद, संख्या, संयोजन व अन्य। वे गतिमय भी होते हैं। यह तीन-तत्त्व, गुण और क्रिया (action) तो स्पष्ट से या अंतर्ज्ञान से ज्ञात किये जा सकते हैं किन्तु सामान्यीकरण (generality) और अन्तर्निहितता (inherence) केवल तर्कपूर्ण अन्तर्ज्ञान (logical inference) से ही जाने जा सकते हैं। इन्हें सीधे ज्ञात नहीं किया जा सकता है। जब व्यक्ति का सत्य की वास्तविकताओं से साक्षात्कार हो जाता है तो 'स्व' (self) अन्तर्धान हो जाता है। 'स्व' का पुनर्जन्म नहीं होता और मोक्ष को प्राप्त होता है।

सांख्य एवं योग

सभी छह दर्शनों में सांख्य सर्वाधिक प्राचीन है। इसके मूल और विकास के संदर्भ में डी.पी. चट्टोपाध्याय (1964) ने कहा है कि सांख्य दर्शन हमारे समक्ष कई समस्याएँ प्रस्तुत करता है। सांख्य का अर्थ अस्पष्ट है और इस दर्शन का उद्‌भव अनुमानों पर आधारित है। चौथी और पाँचवी शताब्दी ईसापूर्व यह दर्शन छिटपुट रूप में मिलता है। यह परम्परा कपिल के नाम से जानी जाती है। अन्य प्राचीन सांख्य शिक्षक असुरी, पंचाशिखा, बोधि, इत्यादि हैं जिनके सिर्फ नाम ज्ञात हैं। सांख्य दर्शन के बारे में दो चीजें ही स्पष्ट हैं : यह दर्शन अत्यन्त प्राचीन है और इसका प्रभाव काफी विस्तृत था।

सांख्य-दर्शन में दो अंतिम सत्य हैं : पुरुष (spirit) व प्रकृति (substance)। इस द्वन्द्व (duality) के बीच विषय और वस्तु (subject and object) ज्ञाता और ज्ञान (knower and known) के मध्य विरोधाभास है। बौद्ध और जैन धर्म की ही भाँति सांख्य-दर्शन भी मूलतः अनीश्वरवादी (atheistic) और भौतिकवादी है। इसमें किसी देवता का प्रावधान नहीं है। सांख्य-दर्शन के अनुसार भौतिक संसार का स्वयं में अस्तित्व है। यह भ्रम नहीं है। बौद्ध-दर्शन की भाँति अस्तित्व का अन्तिम सत्य पीड़ा और दुःख (pain and suffering) है। जैन दर्शन की भाँति 'स्व' (individual self) का पदार्थ (matter) में विलय सांख्य में भी है। सांख्य दर्शन का उद्देश्य ज्ञान प्राप्ति है, जिससे दुःखों का, कष्टों का अंत हो जाये और जीवात्मा बंधनमुक्त हो जाये। वस्तुओं की सही प्रकृति को वास्तविकता के ज्ञान के आलोक में जानने के बाद आत्मा मुक्ति प्राप्त कर लेती है।

शायद दूसरी शताब्दी ईसापूर्व योग-दर्शन महर्षि पतंजलि का योगदान है। सांख्य के वैश्विक

से वैयक्तिक (particular) या विशेष के तात्त्विक दर्शन में पतंजलि ने 'ईश्वर' तत्त्व का समावेश करके मूलभूत परिवर्तन किया। लेकिन यह ईश्वर सृजनकर्ता (creator) नहीं है। बल्कि जैन तीर्थंकरों की भाँति यह ईश्वर 'विशिष्ट आत्माएँ' हैं। 'योग' का मूल उद्देश्य 'स्व' को 'चित्त' (mindstuff) से मुक्त करना है जो 'स्व' को दिग्भ्रमित करता है। योग के अन्य उपादान स्वनिग्रह (non-attachment), मस्तिष्क का बाह्य प्रवाह और जीवात्मा का परमात्मा से मिलन इत्यादि हैं। योग का व्यवहारिक रूप अष्टांग (आठ भागों) में विभक्त है :

1. आत्म नियंत्रण (self control) 2. अवलोकन (observance) 3. आसन (posture) 4. श्वासनियंत्रण (breath control) 5. प्रत्याहार (withdrawal) 6. मस्तिष्क संतुलन (steadying of mind) 7. ध्यान (meditation) 8. समाधि (release)।

प्रथम दो अहिंसा, सत्य, अचौर्य, पवित्रता और लालच न करने पर निर्भर करते हैं। आसन का तात्पर्य है बैठने की अवस्था, जिसमें व्यक्ति ध्यानस्थ होता है। श्वास-नियंत्रण से शरीर की अनैच्छिक क्रियाओं पर नियंत्रण प्राप्त होता है। समाधि की अवस्था में व्यक्ति बाहरी वस्तुओं से स्वयं को मुक्त कर लेता है। मस्तिष्क संतुलन की अवस्था वह स्थिति है जब मस्तिष्क ध्यानस्थ बिन्दु को छोड़कर किसी अन्य वस्तु या अवस्था में केन्द्रित नहीं होता। ध्यान योग के मध्य की अवस्थाओं को स्थितिप्रज्ञ करता है। इस अवस्था में व्यक्ति विषय और वस्तु के अलगाव से अनभिज्ञ हो जाता है। वह परमात्मा में लय (merged) हो जाता है। योग का प्रमुख रूप 'राजयोग' है। यह अन्य सभी योग-व्यवस्थाओं का आधार है।

मीमांसा एवं वेदान्त

मीमांसा (अन्वेषण या गवेषणा) या पूर्व-मीमांसा वेदों में प्राप्त क्रियाकलापों का विश्लेषण है। अपनी प्रारम्भिक अवस्था में मीमांसा के अन्तर्गत 'स्वर्ग' को 'जीवन से मुक्ति' के रूप में जाना गया न कि अंतिम अवस्था 'मोक्ष' की बात कही गई। किन्तु परवर्ती लेखकों ने प्रचलित विश्वासों के अनुरूप मीमांसा की व्याख्या की। जैमिनी ऋषि द्वारा 2500 सूक्तियों का संग्रह मीमांसा-सूत्र के रूप में उपलब्ध है। यह सर्वाधिक प्राचीन है जो सम्भवतः 200 ईसापूर्व से 200 ईसाबाद के मध्य का है। इसका उचित काल निर्धारण संभव नहीं हो पाया है। परन्तु यह दर्शन काफी पुराना है। जैमिनी ने अपने पूर्ववर्ती कई ऋषियों की सूक्तियों के उद्धरण दिए हैं। कर्मकांड से संबंधित कई व्याख्याएँ हैं। 'ब्राह्मण साहित्य' में मीमांसा का मुख्य भाग काफी समाहित है।

मीमांसा'-दर्शन के अन्तर्गत वेदों की सत्ता को सिद्ध करने का प्रयास किया गया है और आचरण (conduct) को ही जीवन का सार बताया गया है। उचित आचरण न केवल मोक्ष की प्राप्ति में सहायक है, बल्कि भविष्य में आने वाली पीढ़ी को भी आधार प्रदान करता है। वैदिक साहित्य की व्याख्या के लिए मीमांसा नियमों का संग्रह है। आचरण का विश्लेषण करते हुए मीमांसा विचारकों ने तर्क और ज्ञानशास्त्र के क्षेत्र में विशेष योगदान दिया है। उदाहरणार्थ, किसी मत के पीछे का सत्य क्या है बल्कि उसके पीछे का असत्य क्या है यह निश्चित करना अधिक आवश्यक है।

वेदों के साथ-साथ उसी क्रम में वेदान्त-दर्शन का विकास हुआ। शाब्दिक रूप में इसका तात्पर्य 'वेद-अंत' या उपनिषद है अर्थात् वैदिक साहित्य का अंतिम भाग। वेदांत, उपनिषदों का

दर्शन है। यह उपनिषदों के धार्मिक और दार्शनिक पक्षों का अध्ययन करता है। वेदांत-सूत्र मूलतः बदरायण जो ईसवी की प्रारंभिक शताब्दी में रहे होंगे, के द्वारा रचित है। लेकिन हिन्दू धर्म में शंकर (आठवीं शताब्दी), रामानुज (11वीं शताब्दी) और माधव (12वीं शताब्दी) की व्याख्याएँ अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। विभिन्न उपनिषदों के मतवैभिन्य और विरोधाभासों को दूर करके उन्हें एक व्यवस्थित रूप देने का श्रेय शंकर को है। उन्होंने कहा है कि आत्मा, ब्रह्म का व्यक्तिवादी स्वरूप है। आत्मा और ब्रह्म के बीच अज्ञान के कारण माया या भ्रम (illusion) की स्थिति उत्पन्न होती है। किन्तु ज्ञान और भक्ति (समर्पण) के चलते व्यक्ति मोक्ष प्राप्त करता है। शंकर ने अद्वैत (nondualism) सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। ब्रह्म और आत्मा एक हैं। रामानुज ने विशिष्टाद्वैत (qualified nondualism) का प्रतिपादन किया। रामानुज के मतानुसार व्यक्ति और संसार दोनों ब्रह्म से अलग हैं। 'स्व' ब्रह्म में नहीं समा सकता। ब्रह्म के दो रूप हैं– 'स्व' (selves) और संसार (phenomenal world)। 'स्व' ब्रह्म के अधीनस्थ है। 'स्व' ब्रह्म को पूज सकता है। मोक्ष, स्थायी आराधना की अवस्था है। माधव का द्वैतवाद ईश्वर, स्व और संसार को अलग-अलग रूप में प्रस्तुत करता है। लेकिन स्व (व्यक्ति) और संसार ईश्वर पर निर्भर है। 'ब्रह्म' जो कि 'विष्णु' के रूप में है व्यक्ति और संसार पर छाया हुआ है। मोक्ष विष्णु की कृपा से प्राप्त होता है और नैतिक जीवन जीने वाले ही मोक्ष को प्राप्त होते हैं। पापी जीवन-मरण के चक्र से कभी भी छूट कर मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते।

❑

अध्याय 3

परपंरागत भारतीय सामाजिक व्यवस्था के आधार (Bases of Traditional Indian Social System)

भारत में मुख्यतः तीन धार्मिक विश्वासों-हिन्दू धर्म, इस्लाम व ईसाई धर्म को मानने वाले लोग रहते हैं। इसके अतिरिक्त यहूदी और पारसी धर्म को मानने वाले भी हैं लेकिन वे बहुत कम संख्या में हैं। भारतीय उपमहाद्वीप में हिन्दू धर्म की मुख्यधारा से निकले हुए अन्य धर्म - बौद्ध, जैन और सिक्ख भी साथ-साथ अस्तित्व में रहे। पिछले पाँच हजार वर्षों से भारतीय उपमहाद्वीप में अनेक धार्मिक विचारधारायें अपने समन्वित रूप में बह रही हैं। वर्तमान भारतीय समाज और उसका सामाजिक ढाँचा इसी सहअस्तित्व का अनूठा संगम है। यद्यपि जब हम परम्परागत भारतीय सामाजिक व्यवस्था की अवधारणा की बात करते हैं तो मुख्यतः यह हिन्दू सामाजिक व्यवस्था ही है जिससे करोड़ों लोग जुड़े हुए हैं।

यूरोपीय लोगों ने समग्र रूप में हिन्दू जीवन के धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक-सांस्कृतिक और दार्शनिक विश्वासों को Hinduism या हिन्दूवाद नाम दिया। हिन्दूओं ने स्वयं अपनी धार्मिक परम्परा को 'सनातन धर्म' कहा है। हिन्दू (भारतीय) सामाजिक व्यवस्था के प्रमुख आधार हैं: वर्ण, आश्रम, पुरुषार्थ, कर्म, ऋण, पुनर्जन्म, संयुक्त परिवार और जाति व्यवस्था।

पुरुषार्थ

पुरुषार्थ जीवन के चार लक्ष्यों-धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को पाने की ओर संकेत करता हैं। व्यक्ति की स्वतःस्फूर्त इच्छा बहुत लम्बी आयु पाने की हो सकती है लेकिन जीवन का अंतिम लक्ष्य मोक्ष पाना ही है। पुरुषार्थ का उद्देश्य जीवन के इन दो लक्ष्यों-लम्बी आयु और मोक्ष-के बीच एक समन्वय स्थापित करना है। पुरुषार्थ का सिद्धान्त उस मूलभूत भारतीय आचारनीति व्यवस्था (ethical system) की परिकल्पना है जो एक 'सम्पूर्ण पुरुष' को परिभाषित करती है।

पुरुषार्थ चतुष्ठानम् यानि चार पुरुषार्थों में मनुष्य की सभी गतिविधियों का केन्द्र धर्म है- **धारयेति इति धर्मः** अर्थात् जो धारण करने योग्य है वही धर्म है। धर्म की उत्पत्ति 'धर' से हुई है 'धर' का तात्पर्य है 'धारण करना', 'सहारा देना', 'पोषित करना'। वी.पी. काणे ने अपनी पुस्तक **'हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र'** में धर्म को बहुत गहन रूप में परिभाषित किया है:

1. व्यक्ति के व्यक्ति के रूप में अधिकार और कर्तव्य,
2. आर्य समुदाय के सदस्य के रूप में उसके कर्तव्य और उनसे प्राप्त विशेषाधिकार।
3. वर्ण धर्म या जाति के रूप में उसके विशेष अधिकार, कर्तव्य।

4. आश्रम-धर्म अर्थात् जीवन की बदलती अवस्थाओं में व्यक्ति के अधिकार और कर्त्तव्य (obligations) जैसे छात्र, गृहस्थ, वानप्रस्थी और संन्यासी।

धर्म अपनी प्रकृति में केन्द्रीकृत उस अभिकेन्द्रीय बल (centripetal force) की तरह है जो चीजों को केन्द्र में रखती है। धर्म व्यक्ति, समाज और ब्रह्माण्ड का अभिकेन्द्रीय बल है। धर्म वह धुरी है जो अर्थ और काम को संतुलन प्रदान करती है। भारतीय आचारनीति (ethics) में यह दोनों विचार समाहित हैं कि धर्म स्वयं में परम उद्देश्य है तथा उस परम उद्देश्य को पाने का एक साधन भी है।

धर्म का वह विचार जिसके अनुसार धर्म स्वयं में अंतिम सत्य है, जर्मन विचारक कांट के उस विचार से मिलता है जिसके अनुसार 'अच्छा विचार स्वयं अपने आप में चमकता तारा है भले ही उससे कुछ और हासिल न होता हो' (what is good is the goodwill in self which will shine like the starry heavens even if it accomplishes nothing)

यदि धर्म स्वयं में अंतिम सत्य है तो भारतीय संस्कृति चार नहीं तीन भागों में विभक्त होगी। इसके स्थान पर 'धर्म यदि अंतिम सत्य को पाने का साधन है' यह विचार ज्यादा स्वीकार्य होगा। (एन.ए. निकम, 1973)। धर्म सभी नैतिक कार्यों में निहित है।

अर्थ, जीवन में सत्ता और धन यश सभी कुछ पाने की आकांक्षा की ओर संकेत करता है। अर्थ से तात्पर्य सही दिशा व उचित कार्यों से धनोपार्जन सम्बन्धी गतिविधियों में संलग्न रहना है। सभी आर्थिक गतिविधियों का उद्देश्य 1. अर्थोपार्जन 2. अपरिग्रह (संग्रह न करना) 3. अस्तेय (चोरी या अधर्म से अर्थोपार्जन न करना) है। यद्यपि 'अर्थ' जीवन के भौतिक पक्ष और सुरक्षा की ओर संकेत करता है, वहीं दूसरी ओर आवश्यकता से अधिक अर्थ को त्याग करने की विचारधारा भी 'अर्थ' की भारतीय अवधारणा में समानान्तर रूप से प्रवर्तित रही है। धार्मिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए व्यक्ति को जितने 'अर्थ' की आवश्यकता है सिर्फ उतना ही 'अर्थ' अथवा 'धन' व्यक्ति के लिए उचित है। व्यक्ति को अधिकाधिक भोगलिप्सा, अर्थसंग्रह और भौतिक जगत में अपने लगाव को सीमित रखने का प्रयास करना चाहिए।

'काम' व्यक्ति के जीवन की समस्त कामनाओं, आकांक्षाओं का प्रतीक है जिनसे इंद्रिय-सुख प्राप्त हो। यद्यपि आमतौर पर 'काम' का अर्थ सिर्फ 'दैहिक-भोग' 'स्त्री-पुरुष' के सम्बन्ध या सैक्स के संदर्भ में लिया जाता है, जबकि पुरुषार्थ के अन्तर्गत 'काम' को बहुत व्यापक आधार दिया गया है। 'काम' का तात्पर्य व्यक्ति की पाँचों इंद्रियों की संतुष्टि के संदर्भ में है। जो कुछ सौन्दर्ययुक्त है, देखने योग्य है, सुनने योग्य है; सभी 'काम' में निहित है। व्यक्ति इंद्रियों पर नियंत्रण कर एक संतुलन बनाए रखने की अपेक्षा सिर्फ इंद्रिय भोग-लिप्सा में तत्पर रहता है। इसलिए शारीरिक और मानसिक आवश्यकताओं के बीच संतुलन बनाये रखना अत्यन्त आवश्यक है। 'काम' की इच्छा को पुरुषार्थ में स्थान देकर भारतीय जीवन में कामेच्छा का सम्मान सदा किया गया है। जैसा कि राघवन का मानना है विस्तृत संदर्भ में देखें तो कामेच्छा सभी गतिविधियों की जनक है। कुछ नया करने अर्थात् सृजन को ऊर्जा 'काम' से ही प्राप्त होती है। 'काम' से ही 'रसों' की निष्पत्ति होती है जिससे चित्रकला, संगीत, कविता, वास्तु जैसी कलाओं का जन्म होता है। अतः काम न केवल

व्यक्ति की आवश्यकता की पूर्ति करता है जो कि कुल और परिवार की वृद्धि के लिए आवश्यक है बल्कि व्यक्ति के सौन्दर्य जनित विकास के लिए भी आवश्यक है।

'मोक्ष' यानि निर्वाण का तात्पर्य है जीवन और मरण के चक्र से मुक्ति। यह 'स्वयं' के अंतिम सत्ता में विलीन होने की स्थिति का सूचक है। 'मोक्ष' का एक और अर्थ भी है 'स्व' की खोज। एन.ए. निकम ने ठीक ही कहा है कि उपनिषद् में मोक्ष को कई उपमाएँ दी गयी हैं। किन्तु जिस तरह नदियाँ अंत में सागर में जाकर विलीन हो जाती हैं, अर्थात् जहाँ से आए हैं उसी में समाहित हो जाना ही अंतिम सत्य है, मोक्ष है। मोक्ष उस सत्य की अनुभूति है जहाँ जानने वाला यह जानता है कि उसे ज्ञात है। 'ब्रह्मविद् ब्राह्मैव भवति' अर्थात् ब्रह्म को जानने वाला स्वयं ब्रह्म हो जाये अर्थात् ज्ञाता को यह ज्ञात हो कि वह वास्तव में ब्रह्म है। उस अनुभव की अनुभूति कि 'मैं ही ब्रहम् हूँ'- "अहं ब्रह्मास्मि'' किन्तु यह अनुभूति सिर्फ एक मानसिक अवस्था की द्योतक है। यह सांसारिक अस्तित्व का नकार नहीं है। इसे हर व्यक्ति नहीं पा सकता। सिर्फ एक संन्यासी ही इस अवस्था को प्राप्त हो सकता है।

अतः यह कहा जा सकता है कि पुरुषार्थ जीवन-मूल्य है। जीवन के यह वह उद्देश्य हैं जिन्हें क्रमवार सभी व्यक्तियों और सामाजिक श्रेणियों को प्राप्त करना है। व्यक्ति का जीवन प्रायः धर्म, अर्थ और काम के चक्र में ही घूमता है। जीवन के अंतिम लक्ष्य 'मोक्ष' को पाने के लिए व्यक्ति इन्हीं तीनों को व्यवस्थित करने में लगा रहता है। समाज में व्यक्ति के इस त्रिकोणीय कार्य-व्यापार को लुई ड्यूमां (1960) ने एक सही दिशा दी। इस धर्म, अर्थ और काम की त्रयी। (triology) में धर्म का तात्पर्य है कर्तव्य जो सार्वभौमिकता (Universalisation) की ओर ले जाता है, अर्थ का तात्पर्य उस लाभ से है जो आर्थिक से लेकर राजनीतिक सभी परिप्रेक्ष्यों में सही या उचित कार्य-व्यापार कराता है। काम का संदर्भ जीवन के सुखों से है। मनु का कहना है कि जीवन की व्यवस्था को इस प्रकार से समायोजित किया जाये कि यह तीनों– धर्म, अर्थ, काम-'त्रिवर्ग' अथवा एक समन्वय में बने रहें।

आश्रम

पुरुषार्थ की सही व्यवस्था 'आश्रम' के माध्यम से ही की जा सकती है। आदर्श रूप में हिन्दू जीवन चार अवस्थाओं में विभक्त है। जीवन का यह चतुष्वर्गीय विभाजन ही आश्रम व्यवस्था है। आश्रम जीवन के विभिन्न सोपानों और उससे जुड़े धर्म मूल्यों के निष्पादन की अभिव्यक्ति है। यह चार अवस्थायें हैं–

1. ब्रह्मचर्य आश्रम
2. गृहस्थ आश्रम
3. वानप्रस्थ आश्रम
4. संन्यास आश्रम

जीवन की प्रथम अवस्था ब्रह्मचर्य आश्रम की है, जब वह छात्र के रूप में गुरु के आश्रम में रहता है। यह अवस्था अध्ययन और सीखने की अवस्था है। यहाँ गुरु की देखरेख में व्यक्ति शिक्षा और अन्य विधायें सीखता है जिनसे कि जीवन के अन्य तीन आश्रमों में वह अपने कर्तव्य का

भलीभाँति पालन कर सके।

ब्रह्मचर्य की अवस्था में ब्रह्मचारी को 'अर्थ' और 'काम' से दूर अनुशासित, आत्मदया, आत्मत्याग और इंद्रिय-निग्रह का जीवन-यापन करना होता है। उसका मुख्य ध्येय धर्म का पालन करना और शिक्षा ग्रहण करना होता है। उपनयन संस्कार (जनेऊ) के बाद ब्रह्मचर्य आश्रम का प्रारम्भ होता है। इस अवस्था में विवाह होने तक पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करना अनिवार्य है।

गुरु की आज्ञा प्राप्त करके ही व्यक्ति जीवन की द्वितीय अवस्था 'गृहस्थ आश्रम' में जाने योग्य हो पाता है। ब्रह्मचर्य आश्रम की समाप्ति के बाद व्यक्ति अपने पितृगृह लौट आता है। विवाह के बाद गृहस्थ आश्रम का प्रारम्भ होता है। यह आश्रम 'त्रिवर्ग' (धर्म, अर्थ और काम) को सम्पूर्णता देने वाला आश्रम होने के कारण बहुत महत्त्वपूर्ण है। एक गृहस्थ के कर्तव्य के रूप में व्यक्ति को संतानोत्पत्ति, धन प्राप्ति, परिवार का भरण-पोषण, यज्ञ, बलिदान, शिक्षा व अन्य सामाजिक क्रिया-कलापों में सक्रिय रूप से भाग लेना होता है। यहाँ व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं और इच्छाओं की पूर्ति के साथ-साथ अपने आसपास के लोगों की भी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। इसके अतिरिक्त परिवार के सभी ऋणों को चुकता करने की जिम्मेदारी भी गृहस्थ पर ही है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि प्रत्येक हिन्दू कुछ ऋणों जैसे पितृ ऋण, ऋषि ऋण व देव-ऋण के साथ ही जन्म लेता है और इन ऋणों को वेदों के उच्चारण, यज्ञ व अन्य धार्मिक क्रियाकलापों के माध्यम से पूर्ण करता है।

तीसरी अवस्था 'वानप्रस्थ आश्रम' को अंतिम आश्रम 'संन्यास' की तैयारी की अवस्था कह सकते हैं। इस अवस्था में व्यक्ति गृहस्थ के रूप में अपने कर्तव्यों का निर्वहन करने के बाद जंगलों की ओर प्रस्थान कर जाता है, वहाँ धार्मिक यज्ञ, पूजा और अनुष्ठानों में समय व्यतीत करता है। यहाँ वह जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं पर आधारित रह जाता है। पत्नी भी पति के साथ वानप्रस्थ की ओर जा सकती है, किन्तु वहाँ स्त्री-पुरुष सम्बन्ध का पूर्णतः निषेध है। यहाँ महत्त्वपूर्ण यह है कि वानप्रस्थी पूरी तरह सांसारिक स्थिति से विरक्त नहीं होता। यदा-कदा उसका आना-जाना बना रहता है।

अंतिम अवस्था संन्यास की है जब व्यक्ति अपने सामाजिक जीवन से पूर्णतः विरक्त हो जाता है। संन्यास उस अवस्था का नाम है जब वह तीनों आश्रमों को पार करने के बाद समाज को छोड़कर सिर्फ ईश्वर को पाने के लक्ष्य में लग जाता है। व्यक्ति का संन्यासी में परिवर्तन उसे सुख-दुःख से परे लोगों को सत्य का मार्ग समझाने का माध्यम बन जाता है। लेकिन यहाँ महत्त्वपूर्ण यह भी है कि 'गीता' में 'मोक्ष' हेतु संन्यास को आवश्यक नहीं बताया गया है। गीता में कहा गया है कि एक 'कर्मयोगी' भी एक संन्यासी ही है इसलिए उसे औपचारिक रूप से संन्यास लेने की आवश्यकता नहीं है।

अतः हम देखते हैं कि पुरुषार्थ, आश्रम जीवन को व्यवस्थित व नियंत्रित करते हैं। समाजशास्त्रीय नजरिये से वर्ण, गुण, पुरुषार्थ और आश्रम इन चार स्थितियों को क्रमशः भूमिका संस्थाकरण (role institutionalization) चमत्कारिक दान (charismatic endowments) जीवन लक्ष्य (goal orientation) एवं जीवन की अवस्थाओं और उनकी मूल्य आधारित

अवधारणा के रूप में समझा जा सकता है। सामाजिक वर्णक्रम के यह सभी तत्त्व हिन्दू-सामाजिक व्यवस्था के भौतिक और आध्यात्मिक दोनों पक्षों के संतुलन की अभिव्यक्ति हैं। इन तत्त्वों को इस क्रम में व्यवस्थित किया गया है कि व्यक्ति भौतिकता से आध्यात्मिकता की ओर जाने का मार्ग प्रशस्त करता है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि वर्णाश्रम-व्यवस्था हिन्दू-सामाजिक जीवन में पूरी तरह कभी लागू नहीं हो पायी। इनमें से अधिकांश मूल्य आदर्शवादी प्रेरक प्रक्रियायें ही थीं। इन सभी मूल्यों में भरपूर लचीलापन भी था जो देश, काल, परिस्थिति और व्यक्तिगत गुणों और क्षमताओं के अनुसार परिवर्तनशील था।

निष्कर्षतः, हम कह सकते हैं कि हिन्दू धर्म, धर्म या धार्मिक परम्परा से अधिक एक जीवन पद्धति है।

ऋण

हिन्दू सामाजिक व्यवस्था में 'ऋण' का सिद्धान्त भी काफी महत्त्वपूर्ण है। एक स्वस्थ सामाजिक व्यवस्था में 'समाजीकरण' (socialization) इस प्रकार होना चाहिए जिसमें व्यक्ति सिर्फ अपने प्रति जिम्मेदारियों को न निभाए बल्कि उसका यह भी कर्तव्य हो जिसमें परिवार, नातेदार, रिश्तेदार और समाज के प्रति भी वह अपनी जिम्मेदारियों को निभाए। यह सभी कर्तव्य ऋण के अन्तर्गत हैं।

1. देव ऋण

यह ऋण देवी-देवताओं का ऋण है, यह ऋण वेदोच्चार के माध्यम से, यज्ञ, बलिदान, और अन्य माध्यमों से भक्ति प्रदर्शित करके अदा किया जा सकता है।

2. ऋषि ऋण

ऋषि-मुनियों और गुरु का ऋण व्यक्ति पर सदा ही होता है जो उसे शिक्षा और ज्ञान देकर उसके मस्तिष्क और आत्मा के अंधकार को दूर करता है।

3. पितृ ऋण

व्यक्ति का अस्तित्व उसके माता-पिता के कारण ही है। व्यक्ति संतानोत्पत्ति करके और उन्हें समाज के लिए उपयोगी नागरिक बनाकर पितृ ऋण से उऋण हो सकता है।

4. अतिथि ऋण

कोई भी व्यक्ति नितान्त अकेला नहीं रह सकता है। समाज के विभिन्न वर्गों के व्यक्तियों के बीच लगातार संवाद होता रहता है इसीलिए हिन्दू सामाजिक व्यवस्था में अतिथि को देव तुल्य माना गया है। अतिथि देवो भवः। अतिथि-ऋण, अतिथियों के आदर-सम्मान, स्वागत-सत्कार से चुकाया जा सकता है।

कर्म

'कर्म' हिन्दू सामाजिक व्यवस्था का प्रमुख सिद्धान्त है। कर्म से तात्पर्य व्यक्ति की कार्य-क्षमता से है। कर्म अच्छे या बुरे दोनों हो सकते हैं। धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष कर्म और संसार से जुड़े हैं। यहाँ 'संसार' शब्द का तात्पर्य उस स्थान से है जहाँ व्यक्ति के जन्म-मरण का चक्र तब तक चलता है जब तक उसे मोक्ष प्राप्त न हो जाये।

'कर्म' ही 'कार्य' है और कार्य का परिणाम है। कर्म उस सामाजिक मूल्य पर आधारित है जहाँ व्यक्ति को किये गये कार्यों के लिए जिम्मेदार ठहराया जा सकता है। व्यक्ति द्वारा किए गए अच्छे बुरे कार्यों की नैतिक जिम्मेदारी ही 'कर्म का सिद्धान्त' है। व्यक्ति के प्रत्येक कार्य के कुछ परिणाम भी होते हैं। निश्चय ही अच्छे कार्य के अच्छे और बुरे कार्य के बुरे ही परिणाम होते हैं। इसलिए व्यक्ति को कर्म करते समय सावधान रहना चाहिए। ऐसा माना जाता है कि व्यक्ति की वर्तमान स्थिति सिर्फ उसके वर्तमान क्रिया-कलापों का परिणाम नहीं है, बल्कि उसके पूर्व-कर्मों का भी फल है। यह पुनर्जन्म से भी सम्बद्ध है।

इतिहास में कर्म की व्याख्या विभिन्न तरीकों से की गई है। 'कर्म' का सिद्धान्त' सर्वप्रथम उपनिषद् में वर्णित किया गया है। बीते कुछ वर्षों में विचारकों ने कर्म के सिद्धान्त को अलग-अलग तरीके से व्याख्यायित करने का प्रयास किया है। एन.ए. निकम ने एक स्पष्ट व्याख्या में 'अर्थ-क्रिया-करित्व' का सिद्धान्त बताया है, जिसका तात्पर्य है 'अच्छे कार्यों का अच्छा परिणाम और बुरे कार्यों का बुरा परिणाम' तुरन्त ही प्राप्त होता है। जहाँ एक ओर प्राकृतिक विज्ञान का मानना है कि व्यक्ति प्रकृति के विकासवाद की देन है, वहीं कर्म सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति को स्वयं अपने विकास की प्रक्रिया के लिए सतर्क होकर प्रयत्नशील होना चाहिए। यह विकास नैतिक और आध्यात्मिक स्तर पर शारीरिक और जैविक विकास से कहीं ज्यादा आवश्यक है। बीता हुआ कल कुछ भी हो सकता है, किन्तु भविष्य सदा नवीन होगा। यदि हम वर्तमान की चिन्ता करके उसे अच्छा बना सकते हैं तो भविष्य की चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। यदि वर्तमान अच्छा है तो भविष्य स्वयं ही शुभ होगा।

एक अन्य व्याख्या के अनुसार 'व्यक्ति अपने कर्मों से ही संचालित और प्रभावित होता है।' व्यक्ति का जीवन आवागमन-चक्र का एक हिस्सा मात्र है जहाँ उसका अस्तित्व परिवर्तन होता रहता है। परिवर्तन के इस चक्र को 'आवागमन (पुनर्जन्म) चक्र' कहते हैं। सुप्रसिद्ध दर्शनशास्त्री डॉ.एस. राधाकृष्णन के अनुसार जीवन और आचरण में 'कर्म-सिद्धान्त' से ज्यादा उपयोगी कोई और सिद्धान्त नहीं हो सकता। इस सिद्धान्त का तात्पर्य भूत को छोड़कर भविष्य के लिए आशा की किरण है।

भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने भी कर्म सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। कर्म ही सर्वव्यापक और शाश्वत है और प्रत्येक व्यक्ति जीवन में अच्छा या बुरा कुछ न कुछ कर्म करता ही रहता है। इस सिद्धान्त में पाँच तत्त्व शामिल हैं: 1. अधिष्ठान, केन्द्र या आधार जहाँ से व्यक्ति कार्य सम्पन्न करता है, 2. कर्ता अर्थात् कार्य करने वाला, 3. कर्म, यानि कार्य करने वाले का माध्यम, 4. चेष्टा या प्रयास, 5. दैव या भाग्य। अंतिम तत्त्व अर्थात् दैव या भाग्य वह शक्ति है जो मनुष्य की परिधि से परे है। डा. राधाकृष्णन ने भगवद्गीता के अपने अनुवाद में कर्म-पंथ को ही महत्त्व दिया है। व्यक्ति को सिर्फ कार्य करने का अधिकार है, फल की इच्छा किसी कार्य करने के पीछे का उद्देश्य नहीं होना चाहिए, व्यक्ति में अकर्त्तव्य की इच्छा नहीं होनी चाहिए।

कभी-कभी कर्म सिद्धान्त को भाग्य और भाग्यवाद में विश्वास करने को लेकर गलत अवधारणा बना ली जाती है। जो लोग कर्म की भाग्यवादी अवधारणा को लेकर जीते हैं उनकी

नैतिक प्रगति में बाधा आती है और यह असामाजिक है। उन्होंने आगे यह भी कहा है कि व्यक्ति की वर्तमान दुर्दशा पर सामाजिक शक्तियों का क्या प्रभाव होता है कर्म-सिद्धान्त में यह व्याख्यायित नहीं है। इस विचार के कारण दूसरे की परेशानियों का कारण स्पष्ट नहीं होता। कष्ट चाहे स्वयं के हों या दूसरों के, सभी की पूर्वजन्मों के फल के रूप में व्याख्या की गई है।

कर्म की आधुनिक व्याख्या करने वालों का मानना है कि कर्म एक तर्कसंगत सिद्धान्त है जहाँ किसी दैवीय शक्ति, चमत्कार या भाग्य की अवधारणा नहीं है। बल्कि यह पुरुषार्थ को व्यक्त करता है और नैतिकता का एक ऐसा भाव जगाता है जिससे व्यक्ति वर्तमान के साथ-साथ आने वाले कल में भी अच्छे कार्य करने के लिए प्रेरित होता है।

पुनर्जन्म

'कर्म का सिद्धान्त' पूर्णरूप से पुनर्जन्म के सिद्धान्त में प्रतिबिंबित होता है। यह स्वर्ग, नर्क और मोक्ष की अवधारणा से भी जुड़ा हुआ है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त इस अवधारणा पर आधारित है कि 'आत्मा' अमर है। 'आत्मा' ब्रह्म का ही एक रूप है। सिर्फ भौतिक शरीर ही मृत्यु के बाद नष्ट होता है। आत्मा दूसरे जीवन के रूप में पुनर्जीवित होती है। मोक्ष की अवस्था में आत्मा परमात्मा में विलय हो जाती है।

पुनर्जन्म का प्रारम्भिक उल्लेख 'शतपथ ब्राह्मण' में मिलता है, जिसमें बार-बार मृत्यु और पुनर्जन्म को एक श्राप के रूप में ग्रहण किया गया है। जो जीवन में यज्ञ, धर्म आदि पुण्य कर्म नहीं करते उन्हें ही जन्म-मरण के चक्र में बार-बार फँसना पड़ता है। "कर्म के सिद्धान्त के साथ-साथ पुनर्जन्म की अवधारणा उत्तर-वैदिक परिकल्पना है। सामख्या परम्परा में योग का अंतिम लक्ष्य शिष्य को मोक्ष की प्राप्ति कराना है जहाँ वह जन्म मृत्यु के चक्र से मुक्त हो जाता है" (आर.एन. सक्सेना)। इस अंतिम उद्देश्य में दो अवस्थाएँ स्पष्ट हैं जिसके कारण शिष्य इस संसार में रहना चाहता है अथवा नहीं। प्रथम अवस्था में शिष्य 'सविकल्प समाधि' से युक्त रहता है। यह अवर्णनीय आनंद की द्वैत अवस्था है जहाँ वस्तु और विषय (object-subject) दोनों का अस्तित्व है। दूसरी अवस्था में 'निर्विकल्प समाधि' के दौरान वह जीवन से मुक्त हो जाता है, जहाँ आत्मा परम मुक्ति को प्राप्त करती है।

अतः यह स्पष्ट है कि मोक्ष पुरुष के सांसारिक अस्तित्व का नकार नहीं है। यह मानसिक अवस्था है। व्यक्ति का इस अवस्था तक पहुँचना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। हर व्यक्ति मोक्ष की स्थिति को नहीं प्राप्त कर सकता। केवल संन्यासी ही इस मोक्ष की अवस्था को प्राप्त होता है।

प्रचलित अवधारणा में कर्म के अनुसार पुनर्जन्म की प्राप्ति फल के रूप में होती है। जो धर्म के अनुसार जीवन यापन और कर्म करते हैं उन्हें बेहतर और सम्पन्न जीवन की प्राप्ति होती है। पुनर्जन्म की अवधारणा ने व्यक्ति के आचरण को प्रभावित किया। अच्छे कर्म फल की अपेक्षा में व्यक्ति स्वयं और परिवार और समाज के साथ अच्छा और उचित व्यवहार करता है।

संयुक्त परिवार

तीन या अधिक पीढ़ियाँ जिसमें रक्त सम्बन्ध हों संयुक्त परिवार की अवधारणा में शामिल हैं। यह संरचना आज के कारपोरेट समूह से थोड़ा भिन्न थी। एक संयुक्त परिवार में लम्बवत्

(vertical) के अतिरिक्त क्षैतिज (horizontal) फैलाव भी था। संयुक्त परिवार का महत्त्वपूर्ण लक्षण था 'अविभाजित' होना, और सम्पत्ति का सामूहिक उपभोग। सम्पत्ति परिवार की होती थी। सम्पत्ति को बनाए रखने का सामूहिक दायित्व परिवार पर होता था। सम्पत्ति के लाभों का सामूहिक उपभोग परिवार करता था। इसके लिए एक व्यवस्थित प्रबन्धन और एक जिम्मेदार व्यक्ति की भी आवश्यकता थी। आमतौर पर प्रबन्धन की शीर्ष भूमिका परिवार का सबसे बड़ा पुरुष निभाता था। यह उसकी जिम्मेदारी थी। परिवार का कोई भी व्यक्ति सम्पत्ति के उपभोग व लाभों से वंचित न रहे और सम्पत्ति की व्यवस्था उसका अधिकार था।

संयुक्त परिवार के 'कर्ता' या प्रबंधक के रूप में उसके अधिकार थे। उसे परिवार के सदस्यों से विश्वास और सम्मान भी प्राप्त था। हिन्दू-दर्शन के अन्तर्गत संयुक्त-परिवार परम्परा ने व्यक्तिगत हितों के स्थान पर सामूहिक पारिवारिक हितों को प्रमुखता देने की परम्परा डाली। संयुक्त परिवार में अक्सर दूर के रक्त सम्बन्धी भी शामिल थे। परिवार में प्रतिभा और कार्यक्षमता एक सी नहीं होती। इसलिए कभी-कभी ज्यादा काम और अधिक उत्पादकता और अधिक कमाई वाले सदस्यों के बीच मनमुटाव भी होते थे। यहाँ परिवार के मुखिया की जिम्मेदारी सामने आती थी। परिवार का मुखिया कार्य का बँटवारा व्यक्ति की क्षमता और प्रतिभा के आधार पर करता था, साथ ही हर सदस्य की आवश्यकतानुसार उसे लाभ भी देने की व्यवस्था वही करता था। संयुक्त-परिवार एक प्रकार की सामाजिक-सुरक्षा थी जिसमें बीमार, कम क्षमतावान या किसी कारण से अक्षम विकलांग व्यक्ति भी सुरक्षित थे। अक्षम व विकलांगों के पत्नी और बच्चों को संयुक्त परिवार में कम समस्याओं का सामना करना पड़ता था। परिवार में एक सामूहिक रसोई व सभी के लिए एक ही प्रकार के नियम लागू होते थे। भारतीय कृषि अर्थव्यवस्था में ऐसी संयुक्त परिवार व्यवस्था कारगर थी। यहाँ परिवार में पुरुषों का महत्त्व था किन्तु महिलाओं को कोई खास हैसियत व स्वतंत्रता प्राप्त नहीं थी।

ब्रिटिश राज्य के भारत में आने के बाद इस व्यवस्था में काफी परिवर्तन आये जिन्होंने संयुक्त परिवार संस्था पर दूरगामी प्रभाव छोड़ा। पश्चिमी शिक्षा व्यवस्था के चलते सामूहिकता की जगह व्यक्तिवाद ने ले ली। एक ऐसा मूल्य-तंत्र स्थापित हुआ जिसमें व्यक्ति अहम् था, उसका सारा व्यवहार कार्यव्यापार स्वकेंद्रित था। ब्रिटिश शिक्षा ने महिलाओं को भी शिक्षा देने के लिए रास्ते खोले और सम्पत्ति में उनके अधिकार की भी बात उठायी गयी। यह सारी स्थितियाँ परम्परागत संयुक्त-परिवार ढाँचे की व्यवस्था पर कुठाराघात कर रही थीं। अंग्रेजों ने धीरे-धीरे उद्योगों की स्थापना भी प्रारम्भ की जिससे उनके आर्थिक हित सुरक्षित रह सकें। उद्योगों के आस-पास कई शहरी केन्द्र बनने लगे जिससे धीरे-धीरे ग्रामीण क्षेत्रों से पलायन इन शहरी क्षेत्रों में होने लगा।

अतः औद्योगीकरण और शहरीकरण ने संयुक्त परिवार के ढाँचे को छिन्न-भिन्न कर दिया, यद्यपि यह पूरी तरह नष्ट नहीं हो पाया।

कास्ट (Caste)

अंग्रेजी में 'कास्ट' पुर्तगाली भाषा के शब्द 'कास्ट' से लिया गया है। इसका तात्पर्य नस्ल, वंशानुक्रम (lineage) या शुद्ध वंश (pure stock) था जो कि लैटिन भाषा के शब्द castus से लिया गया जिसका मतलब है शुद्ध और पवित्र। 'कास्ट' या जाति का मूल विचार

भारतीय समाज के सामाजिक स्तरीकरण (stratification) की ओर संकेत करता है। यह सम्भवतः द्वितीय या प्रथम ईसापूर्व में आया और पांचवी सदी तक काफी स्थापित हो गया।

संक्षेप में जाति को एक श्रेणीबद्ध, बंद और अंतरविवाही समूह स्तर के रूप में परिभाषित कर सकते हैं जिसमें जाति की सदस्यता पूर्व निर्धारित होती है, सम्पर्क सीमित है और सैद्धान्तिक रूप से गतिशीलता नहीं है यद्यपि विभिन्न रोजगारों के कारण उनके आर्थिक स्तर में असमानतायें हैं। लेकिन जाति स्तरीकरण पूरी तरह से आर्थिक स्थिति पर आधारित नहीं है। अपने विशुद्ध रूप में जाति का सिद्धान्त पूर्णतया धर्म पर आधारित है, जातियाँ अनुष्ठानिक-शुचिता पर आधारित हैं जिसका पालन इसके सदस्यों की धार्मिक क्रियाकलापों से व्यक्त होता है (**डिक्शनरी ऑफ सोशियोलॉजी** में डेविड जेरी व जुलिया जेरी)। जाति को दो मॉडलों के द्वारा समझा जा सकता है- वर्ण मॉडल और जाति मॉडल।

वर्ण मॉडल

जाति (caste) का अभ्युदय किसी निश्चित समय से नहीं तय किया जा सका है। जाति व्यवस्था के उदय से सम्बन्धित विभिन्न सिद्धान्त हैं। 'दैवीय उत्पत्ति का सिद्धान्त' जाति उत्पत्ति को दैवीय मानता है। इसमें संस्कार विधियाँ भी शामिल हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार जाति व्यवस्था ईश्वरीय निर्माण है। इसमें मनुष्य का कोई हाथ नहीं है। ऋग्वेद के 'पुरुष-सूक्त' में चार वर्णों की उत्पत्ति इस प्रकार बतायी गयी है। पुरुष (ब्रह्म) ने अपना ध्वंस किया, जिससे एक सुव्यवस्थित सामाजिक-ढाँचा अस्तित्व में आ सके। ब्राह्मणों का जन्म परम पुरुष ब्रह्मा के मुख से, क्षत्रियों का भुजा (बांहों) से, वैश्यों का जांघ से और शूद्रों का जन्म पैरों से हुआ माना गया।

वर्ण का 'प्रजातीय (Racial) सिद्धान्त' पूर्णतः नस्ल पर आधारित है। वर्ण का मुख्य तात्पर्य त्वचा के रंग से है जो कि प्रजाति वर्गीकरण का एक प्रमुख आधार है। इस वर्गीकरण के अनुसार लोगों का पृथक्करण सामाजिक जुड़ावों के आधार पर होता है। एच.एच. रिस्ले जैसे कुछ विद्वान् इस विचारधारा से सहमत भी हैं। लेकिन किसी ठोस वैज्ञानिक या जीवाश्मिक आधार के बिना इस सिद्धान्त से कुछ क्षेत्रों की व्याख्या नहीं की जा सकती। अतः यह सिद्धान्त बहुत स्वीकार्य नहीं है।

वर्ण की उत्पत्ति का 'गुण सिद्धान्त' समाजशास्त्रीय दृष्टि से कुछ हद तक स्वीकार्य है। यह इस विश्वास पर आधारित है कि व्यक्ति के तीन मूलभूत गुण हैं। यह हैं सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण। सतोगुण शुद्धता, ज्ञान के प्रति समर्पण और सांसारिक वस्तुओं से मोहभंग का प्रतीक है। रजोगुण सत्य के प्रति अटूट समर्पण, कर्तव्य-निष्ठा, न्याय और समाज के व्यापक हित में आत्मबलिदान का प्रतीक है। तमोगुण व्यक्ति के सांसारिक वस्तुओं के मोहपाश, सिर्फ शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति और पशुवत प्रवृत्तियों की ओर संकेत करता है। यह माना जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति में यह तीनों गुण विद्यमान होते हैं लेकिन तीनों में से कोई एक प्रमुखता से होता है, और वही व्यक्ति के व्यक्तित्व को आकार देता है। सात्विक गुणों की प्रमुखता व्यक्ति को ब्राह्मण का दर्जा देती है, रजोगुण क्षत्रिय और तमोगुण वैश्य का प्रतीक है। वह जिसमें सिर्फ तमोगुण या तामसिक वृत्ति है वह शूद्र है; उसमें अन्य कोई वृत्ति उपस्थित नहीं होती। एक ब्राह्मण का कर्तव्य है

ज्ञान की प्राप्ति और उस ज्ञान का उपदेश देना, क्षत्रिय का कार्य प्रशासन और भूमि की रक्षा करना और वैश्य का कार्य खेती करना, व्यापार और वाणिज्य देखना और शूद्र का इन तीन वर्णों की सेवा करना है। श्रेणीक्रम में ब्राह्मण का स्थान सर्वोपरि था। उसके बाद क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अंतिम श्रेणी पर माने गये। वर्णव्यवस्था 'बंद' नहीं थी। वर्ण में परिवर्तन व गीतशीलता संभव थी। शूद्र ज्ञान प्राप्त करके ब्राह्मणत्व प्राप्त कर सकता था। वैदिक समय में शूद्र अछूत भी नहीं थे। वे विभिन्न व्यवसायों में लगे कारीगर थे।

मनु ने अपने समय की सामाजिक स्थितियों की तत्कालीन अवस्था और समाज कैसा होना चाहिये, इसका विस्तृत विवरण दिया है। यह जीवन के इहलौकिक (secular) और धार्मिक (religions) पौरोहित्य दोनों पक्षों से सम्बन्धित है। मनु ने विस्तार से वर्ण-धर्म, आश्रम-धर्म, राज-धर्म, गृह-धर्म सभी का वर्णन किया है। ब्राह्मणों ने सामाजिक रूप से महत्त्वपूर्ण कई धर्मशास्त्रों की रचना की है। वर्ण व्यवस्था के अनुसार विवाह को परिभाषित किया गया है। विवाह 'अनुलोम' होना जाति व्यवस्था की प्राकृतिक श्रेणी है। अनुलोम-विवाह में एक ब्राह्मण पुरुष न केवल ब्राह्मण बल्कि क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र महिला से भी विवाह कर सकता था, क्षत्रिय, क्षत्रिय के अतिरिक्त वैश्य व शूद्र से, वैश्य, वैश्य या शूद्र से विवाह कर सकता था। यद्यपि अनुलोम विवाह को बहुत प्राथमिकता व सामाजिक स्वीकारोक्ति नहीं दी गयी। किन्तु फिर भी यह मान्य था और इस विवाह से उत्पन्न बच्चे वैध थे। लेकिन 'प्रतिलोम विवाह' अर्थात् 'निम्न' जाति के पुरुष का ऊँची जाति की महिला से विवाह निषिद्ध माना गया। लेकिन दोनों ही प्रकार (अनुलोम व प्रतिलोम) के विवाह प्रचलित थे और इनके चलते कभी-कभी सामाजिक श्रेणियों में मिली-जुली जातियों (hybrid castes) के कारण द्वन्द्व की भी स्थिति आती रही। इस प्रकार के विवाहों से जातियों को गतिशीलता भी मिली।

जाति मॉडल

एम.एन. श्रीनिवास के शब्दों में 'वर्ण मॉडल' ने कास्ट या जाति की एक गलत और छिन्नभिन्न तस्वीर प्रस्तुत की है। वर्ण मॉडल भारत के सामाजिक स्तरीकरण का एक आदर्श मॉडल है, जबकि वास्तविकता में ऐसा नहीं रहा है। यह भारतीय हिन्दू समाज का एक विस्तारित रूप है। यहाँ एक निश्चित श्रेणीक्रम है जिसमें सर्वोपरि ब्राह्मण और सबसे निम्नस्तर पर शूद्र हैं। अछूत इस श्रेणीक्रम के दायरे में नहीं हैं। जबकि 'जाति मॉडल' वास्तविकता पर आधारित सच्चाई थी। जाति मॉडल कब से अस्तित्व में है इस विषय पर सामाजिक इतिहासकारों में मतभेद हैं किन्तु 'गुप्त कालीन' समय में जाति मॉडल स्पष्ट रूप से स्वीकार्य मॉडल के रूप में स्थापित हो चुका था।

जाति के उदय के बाद सामाजिक व्यवस्था 'बंद व्यवस्था' हो गयी। समाज में जाति के विशेष नियमों के साथ जातियाँ निश्चित भागों में बँटे हुए समाज का प्रतिनिधित्व करती हैं। हिन्दू जाति का रूप विज्ञान तीन मुख्य विशेषताओं में लक्षित होता है (बोगले, 1908)। ये विशेषताएँ मुख्य रूप में शुद्धता की धार्मिक अवधारणा से जुड़ी हैं। **सामाजिक विज्ञान एनसाइक्लोपीडिया** में जे.पी. पैरी ने इस स्थिति को इस प्रकार सारांशित किया है:

1. सैद्धान्तिक रूप से जातियों का श्रेणीकरण है। ये जातियाँ मुख्यतः शुद्धता पर आधारित

हैं। इस आधार पर ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ हैं। जिन जातियों के हाथ में राजनीतिक और आर्थिक शक्तियाँ केंद्रित हैं, ब्राह्मण उन जातियों से ऊपर हैं। 2. शुद्ध अपनी शुद्धता तभी व्यवस्थित रख सकता है जबकि उसमें प्रदूषण (अशुद्धता) न हो। इसके लिए ज्यादातर वे अपने आपको प्राकृतिक वातावरण में ही व्यस्त रखते थे, जातियों में श्रम-विभाजन (Divison of labuor) था जिसके चलते आपस में उनकी एक दूसरे पर निर्भरता बनी हुई थी। 3. प्रदूषण को संक्रामक माना गया इसलिए उच्च जाति अपनी श्रेष्ठता बनाये रखने के लिए अपना सम्पर्क अपने से नीची जातियों से नहीं रखती थी। जाति-विभेद को बनाए रखने के लिए विभिन्न तरीके इस्तेमाल किये जाते रहे। अन्तर्विवाह के माध्यम से, खान-पान सीमित रखने से, वैवाहिक सम्बन्ध अपने से नीची जातियों में न करने से यह प्रयास किया गया। जिन लोगों ने जाति की शुद्धता के नियम को तोड़ने का प्रयास किया, उन्हें जाति से बहिष्कृत कर दिया गया। छुआछूत की भी प्रथा प्रचलित थी। अशुद्ध लोग बाकी लोगों को नहीं छू सकते थे। अतः उपरोक्त आधार पर जाति -व्यवस्था की यह विशेषतायें सामने आयीं:

1. आंतरिक प्रकृति

जाति की सदस्यता जन्मजात थी। जिस जाति में व्यक्ति का जन्म हुआ उसी जाति में उसकी मृत्यु होती थी। उसकी सामाजिक हैसियत या प्रस्थिति उसकी जाति से तय होती थी।

2. अन्तरविवाह

अन्तरविवाह नियम का पालन जाति में बड़ी कड़ाई से होता था। सिर्फ अपनी जाति या समूह में ही विवाह की अनुमति थी। परम्परागत रूप से अन्तरजातीय विवाह निषिद्ध था। आज भी अंतःजातीय विवाह को ही अधिक मान्य माना गया है।

3. श्रेणीकरण

निश्चित श्रेणीकरण के चलते एक श्रेणीबद्ध सामाजिक संरचना सामने आयी। किसी गाँव या गाँव के समूह में या क्षेत्र में एक निश्चित श्रेणीकरण (Hierarchy) होता है जिसमें हर जाति की पूर्व निश्चित स्थिति होती है। वर्ण श्रेणीकरण के विपरीत जाति श्रेणीकरण स्थानीय और क्षेत्रीय है। वर्ण-श्रेणीकरण पूरे भारतवर्ष में एक समान था जबकि जाति श्रेणीकरण में स्थानीय आधार पर विभिन्नता हो सकती है।

4. खानपान

खाना और पीना विस्तृत रूप से नियमबद्ध था। साथ खाने और परस्पर सामाजिक व्यवहार में कड़े नियम थे। खान-पान **कच्चा खाना** और **पक्का खाना** इन दो में बंटा था। कौन किस खाने में शामिल होगा यह पूर्व निर्धारित था।

5. रोजगार नियम

जन्म से ही प्रत्येक व्यक्ति का व्यवसाय निर्धारित हो जाता था। हर जाति को अपने रोजगार को धर्म के अनुसार पूर्व निर्धारित मान कर करना होता था।

6. विशेषाधिकार और अयोग्यतायें

ब्राह्मण और अन्य उच्च जातियों को धार्मिक और सेक्युलर मामलों में अनेक विशेषाधिकार प्राप्त थे। जबकि अछूतों को कई प्रकार के सामाजिक भेदभावों को झेलना होता था।

7. जाति-पंचायत

जाति-प्रथा का एक अन्य कड़ा नियम था, जाति पंचायत की आज्ञाओं का पालन करना। सभी प्रकार के प्रतिबंधों का निर्धारण इन जाति-पंचायतों के माध्यम से होता है। अपने सामाजिक और राजनीतिक अधिकारों का प्रयोग करके जाति के किसी भी सदस्य को यह 'जाति निकाला' या 'जात बाहर' कर सकती है।

जाति-प्रथा के गुण-दोष

समाज विज्ञानियों ने जाति-प्रथा के गुण व दोषों दोनों की ही चर्चा की है। इसके निम्न लिखित प्रमुख बिंदु इस प्रकार हैंः-

गुण

1. सामाजिक और मनोवैज्ञानिक सुरक्षा।
2. रोजगार की सुरक्षा और उसमें पूर्ण सक्षमता।
3. जीवन-साथी का चुनाव।
4. नियंत्रित व्यवहार।
5. श्रम-विभाजन का नियम।

दोष

1. चूंकि रोजगारों में आमतौर पर परिवर्तन नहीं होता इसलिए यह आर्थिक विकास को बाधित करती है।
2. निम्न जातियों का शोषण व उत्पीड़न।
3. जाति प्रथा के कड़े शोषण और दमनकारी नियमों के चलते ही धर्म परिवर्तन होता रहा है।
4. अस्पृश्यता : राष्ट्रीय एकता के लिए खतरनाक।
5. लोकतंत्र की मूल भावना-समानता-पर कुठाराघात
6. समाज के विभिन्न वर्गों के बीच जाति प्रथा के कारण सामाजिक गतिशीलता सीमित होना।

❑

अध्याय 4

भारतीय समाज पर बौद्ध, जैन, इस्लाम तथा ईसाई धर्म का प्रभाव

(Impact of Buddhism, Jainism, Islam and Christianity on Indian Society)

विश्व समुदाय में भारत का बड़ा अनूठा स्थान है। यह दुनिया के सभी बड़े धर्मों की विचारधाराओं को मानने वालों का घर है; उदाहरणार्थ, हिन्दू, बौद्ध, जैन, ईसाई, यहूदी, इस्लाम और पारसी। इन सभी धार्मिक विचारधाराओं ने किसी न किसी सीमा तक भारतीय समाज को प्रभावित किया है। यह लेख केवल जैन, बौद्ध, इस्लाम और ईसाई विचारधाराओं के प्रभाव तक सीमित रखा गया है। इस्लाम के प्रभाव की चर्चा किंचित विस्तार से की गई है क्योंकि उसका भारतीय समाज के जीवन पर गहन और विस्तृत प्रभाव पड़ा है।

जैन और बौद्ध धर्म

आमतौर पर विश्वास किया जाता है कि जैन और बौद्ध विचारा धाराएँ प्राचीन हिन्दुत्व की प्रशाखाएँ हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से जैन मत बौद्धों की तुलना में थोड़ा पुराना है क्योंकि जैन मत के प्रवर्तक महावीर समकालीन होते हुए भी गौतम बुद्ध से बड़े थे। महावीर का काल 599-527 ई0पू0 माना जाता है जबकि गौतम बुद्ध का काल 560-480 ई0पू0 बताया गया है।

भारतीय समाज पर अपने प्रभाव के किसी भी उल्लेख में जैन मत के नैतिक एवं आचरण सम्बन्धी आदर्शवाद का केन्द्रीय स्थान होता है। उसने नैतिक गुणों और आचार व्यवहार के जीवन को सुदृढ़ करने की दिशा में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। जैन मत ने मितोपभोग और जीवन की सहजता-बाह्य एवं आंतरिक-पर विशेष रूप से बल दिया है जिससे पाप और बुराई का अंतःप्रवाह रुक जाय। बाह्य मितोपभोग में भिक्षा, उपवास आदि शामिल हैं। अंधविश्वास या जड़ोपासना का अभाव है जबकि मानवता की विनम्र सेवा, ज्ञानार्जन, ध्यान आदि अनेक मूल्यों पर भी बल दिया गया है। गूढ़ और जटिल विचारों के बजाय जैन मत में आम जनता के लिए सरल नैतिक संहिता की व्यवस्था है। जैन धर्म में प्रमुखतः पाँच सिद्धान्तों का अनुपालन आवश्यक माना गया है। वे सिद्धान्त हैं- अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। जैन शब्दावली में इन पाँचों भौतिक मूल्यों का पालन ही साधुता और सदाचार है। इसे अणुव्रत की संज्ञा दी गई है। अहिंसा का स्थान सर्वप्रमुख है। यह मानव समाज के प्रति ही नहीं सभी जीवों के लिए दया का भाव रखने की शिक्षा

देता है। इससे विशुद्ध शाकाहारी मनोवृत्ति को बढ़ावा मिलता है। "श्रावक" (साधारण अनुयायी) और "यती" (वैरागी, संन्यासी) दोनों कुछ विशेष प्रकार के नियमों अथवा संकल्पों से बँधे रहते हैं जिनमें से प्रमुख हैं: मानसिक अवस्था को शुद्ध व सही रखना, नियमित ध्यान, चन्द्रमा की वृद्धि और उसके क्षय की अवधि में अष्टमी और चतुर्दशी को उपवास रखना, पाप कर्मों को स्वयं स्वीकार करना और उनका पश्चाताप करना आदि। जैन धर्म में नशा करना निषिद्ध है।

जनसेवा के क्षेत्र में धर्मशालाओं का निर्माण और ललित कलाओं के क्षेत्र में शिलाओं को काटकर उनके द्वारा बनाई या बनवाई गयी वास्तुकला, मन्दिर निर्माण और चित्रकला एक अनुपम देन है। कट्टरता जैसी कुछ बातों के कारण जैन मत को ब्राह्मणवाद के प्रति आकर्षित माना जाता है। मिशनरी भावना से मुक्त होने तथा अन्य धर्मों से प्रतियोगिता की भावना न रखने के कारण जैन मत आज भी भारतीय समाज में फल-फूल रहा है। यह बात अलग है कि दूसरी अनेक धार्मिक विचारधाराओं की भाँति उसमें भी अनेक विकृतियाँ आ गयी हैं।

गौतम बुद्ध महावीर के समकालीन थे किन्तु धर्म के क्षेत्र में वह थोड़ा बाद में उतरे। उनका प्रारम्भिक नाम सिद्धार्थ था। बचपन से ही उनका दृष्टिकोण मानवीय और आध्यात्मिक था। बौद्ध नामक जिस धार्मिक आन्दोलन का उन्होंने प्रवर्तन किया उससे कट्टर ब्राह्मणवाद को गहरा धक्का लगा। भारतीय समाज के विभिन्न पक्षों के निर्माण में बौद्ध मत का व्यापक योगदान है। देश के सामाजिक-सांस्कृतिक, धार्मिक और राजनीतिक क्षेत्रों पर उसके प्रभाव को नकारा नहीं जा सकता। बौद्ध धर्म एक लोकप्रिय धर्म के रूप में विकसित हुआ। उसमें किसी प्रकार का जटिल, विस्तृत अथवा आम जनता की समझ में न आ सकने वाला कर्मकाण्ड नहीं था। इसीलिए उसमें किसी प्रकार के पुरोहित वर्ग की आवश्यकता ही न थी। उसके सार्वजनिक रूप से विस्तार पाने का एक कारण यह भी था। बौद्ध मत की नैतिक संहिता सापेक्षतया सरल है। वह दान, दया, विशुद्धता, सच्चाई, आत्म-निग्रह और मनोवेगों के नियंत्रण पर आधारित है। उसमें प्रेम, समानता और अहिंसा को सर्वोपरि माना गया है। यह सही है कि इन सब गुणों पर बौद्ध मत के पहले उपनिषदों में भी जोर डाला गया था किन्तु उनके आधार पर सार्वजनिक नैतिकता को उन ऊँचाइयों तक पहुँचाने का श्रेय बौद्ध विचारधारा को ही है जितनी पहले कभी भी देखी नहीं गयी। वे बौद्ध धर्म के अनुगामियों के लिए आस्था के स्तम्भ बन गये। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि बौद्ध मत ने इस मान्यता पर बल दिया कि मनुष्य स्वयं ही अपने भाग्य का विधाता है, कोई अन्य ईश्वर नहीं। बौद्ध मत में काफी वैयक्तिकता है और वह ईश्वर सम्बन्धी किसी विस्तृत अवधारणा से शून्य है।

बौद्ध मत यद्यपि ब्राह्मणवाद को उसके ऊँचे आसन से उतार तो नहीं सका फिर भी उसने उसे करारा झटका अवश्य दिया। उसने भारतीय समाज में संस्थागत परिवर्तन करने की प्रेरणा भी दी। जाति प्रथा और उससे पैदा होने वाली बुराइयों को अस्वीकार किया, पशुबलि पर आधारित हिंसक कर्मकाण्डों को रद्द किया, तीर्थ यात्राओं, उपवास, अनुदारता और पुराणपन्थी बातों का तिरस्कार किया। सभी लोगों की समानता का उपदेश दिया। बौद्धों की धर्म-पद्धति में

देवी-देवताओं, भाग्यवाद-पुनर्जन्म और ग्रहों-नक्षत्रों के प्रभाव आदि पर विश्वास नहीं किया जाता। उसके अनुसार लोगों को अपने प्रश्नों का उत्तर इसी संसार में ढूँढ़ना चाहिए। उसके मानव मात्र की समानता, स्त्री-पुरुषों की समानता, सभी जीवों का संरक्षण, सबका कल्याण जैसे सिद्धान्तों ने सम्पूर्ण समाज को एक सूत्र में बाँधा और वह सूत्र था सामाजिक समानता और सामाजिक न्याय को प्रोत्साहन देने का। इसी सूत्र की बदौलत बौद्ध धर्म भारत की सीमाओं के बाहर जा सका और कालांतर में विश्व-धर्म बन सका। बौद्ध विचारधारा का प्रभाव हमारे देश की विदेश नीति पर भी देखा जा सकता है। पंचशील और किसी गुट में शामिल न होना, राष्ट्रीय एकता, पारस्परिक सहयोग, शान्ति के लिए प्रयास, महात्मा गांधी की अहिंसा की नीति, दुर्बल तबकों का उत्थान, अनुसूचित जातियों, दलितों और जनजाति समुदायों का कल्याण आदि बौद्ध धर्म से ही प्रेरणा लेकर आगे बढ़े। चूंकि बौद्ध धर्म में अज्ञान को सभी प्रकार के कष्टों का मूल माना जाता है इसीलिए उसने ज्ञान प्राप्त करने पर सबसे ज्यादा जोर दिया है। लोकतंत्र और लोकतंत्रीय मूल्यों का प्रोत्साहन भी भारतीय समाज को बौद्ध धर्म की देन हैं। बौद्ध धर्म के संघों और मठों ने लोकतंत्रीय भावनाओं को प्रचारित किया। समय के साथ अनेक हिन्दू मठों और संस्थानों ने उसके प्रभाव को महसूस किया।

शिक्षा के क्षेत्र में बौद्धों ने शिक्षा को व्यावहारिक और काम करने की प्रेरणा देने वाली (Action Oriented) बनाया तथा उसे समाज कल्याण की ओर उन्मुख किया। भारत के ज्यादातर विश्वविद्यालय- जैसे, नालन्दा, तक्षशिला, विक्रमपुर, सोमपुरी और अन्य-बौद्धों की देन थे। बौद्धों की ज्ञान अर्जित करने की पिपासा ने भारत में अनेक प्रथम कोटि के विद्वान् पैदा किये, जैसे दिग्नाग, अश्वघोष, नागार्जुन, वसुमित्रा, चरक, मातृचेत, धर्मजात आदि। बौद्धों ने देशी भाषाओं को लोकप्रिय बनाकर देश की विभिन्न भाषाओं और बोलियों को समुचित सम्मान प्रदान किया। इसमें भी संदेह नहीं कि बौद्ध मत के प्रभाव से ही भारत में महान् मानवतावादी और लोकोपकारी भावनाओं का प्रचलन हुआ है।

इस्लाम

भारत में इस्लाम का आगमन लगभग बारहवीं शताब्दी में अर्थात् अरब में एक बड़े धर्म के रूप में अपने उदय के लगभग तुरन्त बाद ही हुआ। इस्लाम शब्द की व्युत्पत्ति जिस मूल शब्द से हुई है, उसका अर्थ है "शान्ति"। इसलिए सच्चा मुसलमान वही माना जा सकता है जो अपने आपको "अल्लाह" के सुपुर्द कर दे, उसके आदेशों का पालन करे और अपने साथी निवासियों के साथ शान्तिपूर्वक जिन्दगी बसर करे। इस्लाम के उदय ने अरब की दुनिया में क्रान्ति कर दी और उन सभी क्षेत्रों और राज्य सीमाओं में जहाँ उसने प्रवेश किया, उसने अपना प्रभाव डाला। इस्लाम की सामाजिक-ऐतिहासिक भूमिका के बारे में हरबन्स मुखिया (1969) ने यह सही टिप्पणी की है जब बहुधर्मी अरब में मुहम्मद एक ईश्वर होने का उपदेश देते हुए यह समझा रहे थे कि अल्लाह के अलावा कोई दूसरा ईश्वर नहीं है तो सही अर्थों में वह एक महान् सामाजिक क्रान्ति का आह्वान कर रहे थे क्योंकि "एक ईश्वर की अवधारणां का अर्थ ही सामाजिक समानता

की अवधारणा है। यदि ईश्वर एक है और उसी ने सबको पैदा किया तब हर कोई उसकी गुण विशेषता की दृष्टि में एक समान है ठीक उसी प्रकार जैसे एक बाप की दृष्टि में उसकी संतानें होती हैं। इसलिए हर व्यक्ति दूसरे के समान है। मुस्लिम भाईचारे (मिल्लत) की अवधारणा भी इसी मूल से पैदा हुई। यही नहीं इस्लाम ने न कोई सत्ताधारी वर्ग होने की इजाजत दी और न किसी वर्ग के लिए अनन्य रूप से पुरोहितगीरी करने की सिफारिश की।

भारतीय समाज पर इस्लाम का प्रभाव मुख्यतः उसकी मानवीय अवधारणाओं के कारण पड़ा है। ये अवधारणाएँ हैं- मानव मात्र का भाईचारा, सामाजिक सदाचार में शासकीय सिद्धान्त के रूप में न्याय, जिसके पास कुछ नहीं उनके लिए उदारता और सदाशयता, पुरोहिताई का परित्याग, नियम-सिद्धान्तों की सादगी, अद्वैतवाद, ईश्वर के "रहमान" और 'रहीम' रूप में अटूट आस्था रखते हुए उसकी करुणा, दया और दीन वत्सलता आदि गुणों को अपनाने पर बल जिससे मानव समाज के प्रति अपनी जिम्मेदारियों को पूरा किया जा सके। इस्लाम में इसे "हक्कुलइबाद" कहा गया है जिसका तात्पर्य है जनता का हक़ जिसका छीना जाना कानून और अल्लाह की निगाहों में पाप है। अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक "इन्फ्लूएन्स ऑव इस्लाम आन इन्डियन कल्चर" में प्रख्यात इतिहाकार एवं दार्शनिक डॉ0 ताराचन्द ने "मुस्लिम सूफी सिलसिला" के "सुलहेकुल" वाले संदेश पर भी जोर दिया है। इस संदेश में सबके लिए "पूर्ण शान्ति" की बात कही गयी है। "मुसलमान सूफी संतों ने इन बातों को आगे बढ़ाया और वे मानवीय उदारता के लोकप्रिय प्रतीक बन गये। उन्होंने विभिन्न समुदायों में भाईचारा रखने, मनुष्य के अधिकारों की रक्षा और मुसलमान शासकों व मुसलमान सामन्तशाही के जुल्मों और अत्याचारों का विरोध करने की शिक्षा दी, उनकी खानकाशाहों (मठों) में जाति और धर्म का ख्याल किये बिना सभी दीन, दुखी, उत्पीड़ित, पददलित और बहिष्कृत लोगों को शरण मिलती थी" (रशीदउद्दीन खान, 1987)। इस प्रकार सूफियों ने इस्लाम की मूल प्रवृत्ति के सच्चे प्रतीक बनकर दबे और पिछड़े हुए को संरक्षण प्रदान किया, हालांकि इस्लाम के अनेक कट्टरवादी भाष्यकार सूफीवाद या सूफियों को इस्लाम से बाहर या किनारे रखने का प्रयास करते नज़र आते हैं। विडंबना यह है कि सूफी संतों और सूफी विचारधारा ने ही "मानवतावादी इस्लाम" को शाश्वतता प्रदान की और "साम्राज्यवादी इस्लाम" सुल्तानों की शासकीय दीर्घाओं तक ही समिति रहा। इस्लाम की सूफी परम्परा ने न केवल उसके धार्मिक विश्वासों और तत्त्वज्ञान को शाश्वत बनाया वरन् भारत में इस्लाम धर्म के प्रचार के काम में भी एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। संयमशील वैयक्तिक नैतिकता, सांसारिक वस्तुओं की अल्पकालिकता (फ़ना) और रहस्यमय आत्मोसर्ग या "स्व" के परित्याग पर उसमें जो बल दिया गया है वह हिन्दू-परम्परा से मेल खाती थी इसलिए इस्लाम ने बड़े पैमाने पर हिन्दुओं को प्रभावित किया। "सूफी संतों और दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित कर्मकाण्ड निषेध और अमूर्त अद्वैतवाद ने हिन्दुओं को न केवल आकर्षित और प्रेरित किया वरन् वह उनकी अंतःप्रवृत्ति और राजनीतिक सत्ता छिन जाने के कारण पैदा होने वाली पलायन-प्रवृत्ति के अनुरूप भी सिद्ध हुआ।" (योगेन्द्र सिंह, 1988)। अनेक मुसलमान विद्वानों और शासकों ने इस्लाम के साथ कुछ हिन्दू-परम्पराओं

को समाहित करने की स्पष्ट चेष्टा भी की। अकबर ने "दीने-इलाही" नामक एक नया समन्वयवादी मत ईजाद करके इस दिशा में कदम उठाया। यह मत इस्लाम, जैन, हिन्दू और पारसी धर्मों का मिश्रण था। दाराशिकोह ने उपनिषदों के एकेश्वरवाद को उसके इस्लामी प्रतिरूप से मिलाना चाहा और दोनों में पायी जाने वाली समानताओं पर बल दिया। साहित्य के क्षेत्र में अमीर खुसरो ने हिन्दुओं और मुसलमानों की परम्पराओं में पायी जानी वाली समानताओं की व्याख्या करने का बहुत काम किया। ईसा पश्चात् सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में अनेक मुसलमान कवियों और लेखकों ने हिन्दी में लिखना शुरू किया। इसके अलावा अनेक पिछड़ी हुई, हीन और वंचित जातियों के लाखों लोगों ने अपेक्षाकृत अधिक अच्छी सामाजिक स्थितियों की तलाश में इस्लाम कबूल किया लेकिन अपनी अनेक स्थानीय और लघु परम्पराओं को कायम रखा। इस प्रकार उन्होंने भी भारत की मिश्रित संस्कृति में अपना ख़ासा योगदान किया।

इस्लाम ने हिन्दू संस्कारों, रीति रिवाजों, सामाजिक प्रवृत्तियों, विचारों, आदर्शों, भाषा साहित्य, विज्ञान और कलाओं को प्रभावित किया। औषधि विज्ञान के क्षेत्रों में मुसलमानों ने यूनानी चिकित्सा की शुरुआत की जिसे आज भी चिकित्सा की "यूनानी पद्धति" कहते हैं। सुविख्यात भारत-विद् **(Indologist)** बी0एस0 उपाध्याय ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक "फीडर्स ऑव इन्डियन कल्चर" (1973) में भारतीय पुनर्निर्माण में इस्लाम और मुसलमानों के योगदान का विस्तार से उल्लेख किया है। इसका एक अनूठा उदाहरण संगीत का क्षेत्र है। यह एक सर्वविदित बात है कि 'कट्टरपंथी' इस्लाम में संगीत से नफ़रत की जाती है लेकिन भारत के शास्त्रीय संगीत के श्रेष्ठतम उस्तादों में अनेक मुसलमान रहे हैं और आज भी हैं। ग़ज़ल, लावनी, ठुमरी, क़व्वाली, धुन व तरंग मुसलमानों की देन हैं, जिन्हें हिन्दुओं ने कृतज्ञता के साथ स्वीकार किया। मुसलमान संगीतज्ञों ने अनगिनत वाद्यों का आविष्कार किया है, जैसे सारंगी, दिलरूबा, तौंस, सितार, रूबाब, सुरबीन, सुरसिंगार, तबला, अलगोजा आदि। ललित कलाओं का एक अन्य पक्ष नृत्य है जिसे हिन्दू और मुसलमान दोनों ने मिलकर आगे बढ़ाया है। उसकी कथक शैली, जिसका प्रारम्भ और परिपोषण मुस्लिम देशों में हुआ, मुसलमानों की वह देन है जो सदियों से उत्तर भारत की भूमि पर फल-फूल रही है। संगीत सदा वह बिन्दु रहा है जहाँ विभिन्न समुदायों के बीच भेदभाव को कभी बर्दाश्त नहीं किया गया। वास्तु संरचना के क्षेत्र में भी मुसलमान-नवागन्तुकों के आते ही एक परिवर्तन सामने आया जब उन्होंने नई प्रविधियाँ और नये आकार प्रस्तुत किये। गुम्बद, कलश, कंगूरे, बुर्ज, मेहराब और मीनारें आज भारत के अनेक शहरों को सुशोभित कर रही हैं। मुसलमानों ने अपने नये चयनित घर (भारत) का ऐसा निर्माण किया जैसाकि उन्होंने संसार में कहीं नहीं किया। विश्व के किसी भी मुस्लिम मुल्क में इतने बड़े और भव्य किले नहीं हैं जैसे कि दिल्ली और आगरा में मौजूद हैं, कहीं कुतुबमीनार जैसी भव्य मीनार नहीं है, सीकरी के बुलन्द दरवाजा जैसे द्वार नहीं हैं, मोती और जामा मस्जिद जैसी मजिस्दें नहीं हैं और ताजमहल जैसी सुन्दर सुकुमार विरल और सूक्ष्म कारीगरी की मिसाल नहीं है। दुनिया का कोई भी मुल्क यह दावा नहीं कर सकता है कि उसके यहाँ भारत से ज्यादा या बराबर संख्या में मुस्लिम स्मारक हैं- ऐसे स्मारक जो विभिन्नता,

वैचित्र्य या सुन्दरता में उनकी बराबरी कर सकें" (बी0एस0 उपाध्याय)। राजपूताने के राजाओं ने अपने महल ही नहीं मकबरे तक मुस्लिम शैली के बनवाये और अपने दरबारों में मुसलमानों की पोशाकों और उनकी तहज़ीब को प्रोत्साहित किया। चीनी पृष्ठभूमि से पैदा होने वाली चुगताई शैली की चित्रकला ने भी भारत की चित्रकला को सम्पन्न किया।

पोशाकों के पैटर्न और आभूषणों के क्षेत्र में नथ (नथुनी) हिन्दू-विवाह की यथार्थ प्रतीक और "सेहरा" और "मौर" दूल्हे की आवश्यक पहचान बन चुके हैं। उर्दू भाषा भारत की मिली जुली संस्कृति की एक खूबसूरत मिसाल है। वह भारत में इस्लाम के चिरस्थायी योगदानों में से एक है। उर्दू एक भारतीय भाषा है जिसे हिन्दू और मुसलमान दोनों ने मिलकर गढ़ा और विकसित किया है और वह भारत में दोनों की सम्मिलित व साझी विरासत है। उर्दू भाषा के चिरंतन प्रभाव का दृष्टांत देते हुए बी0एस0 उपाध्याय ने लिखा है कि उसमें ऐसे अनेक शब्द हैं जो शुद्धिवादियों के लाख प्रयत्नों के बावजूद उत्तर, केन्द्रीय और पश्चिमी भारत की शब्दावली से बहिष्कृत नहीं किया जा सके। ऐसे शब्दों की तालिका अनन्त है फिर भी उनके कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं: बन्दूक, तोप, कागज, सराय, चपरासी, बही, ग़बन, बारूद, सिपाही, देहात, ज़मींदारी, नौकर, मुनीम, जिल्द, लिफ़ाफा, कुर्ता, पाजामा, इस्त्री (कपड़े पर लोहा करने वाली) आदि ऐसे हजारों शब्द हैं जो हिन्दी में घुल-मिल गये हैं, उनमें बहुतों के समानार्थी शब्द भी हिन्दी में प्रचलित नहीं हैं। क्या गांधी जी के "चर्खे" या "इन्कलाब जिन्दाबाद" और प्रतिदिन इस्तेमाल होने वाली "रोटी" या "चपाती" से भी ज्यादा महत्त्वपूर्ण कोई शब्द हो सकता है। अतः यही वह सही समय है जब हम फिर से अपनी इस गंगा-जमुनी संस्कृति को पहचानते हुये और उसके मूल्यों पर कट्टरवादी हिन्दुओं और मुसलमानों के आक्रमण का मुकाबला करने के लिए उनकी रक्षार्थ अपने को समर्पित कर सकें।

ईसाई धर्म

ईसाई धर्म की स्थापना ईसा मसीह ने की थी। किन्तु उसका मूल यहूदी परम्परा से सम्बद्ध है। ईसा एक ऐतिहासिक महापुरुष थे जिनका जन्म लगभग 2000 वर्ष पहले हुआ था। ईसाई धर्म में "चर्च" ने एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। उसी ने ईसाई संसार के मौजूदा दृष्टिकोण का निर्माण किया है। आमतौर पर यह कहा जाता है कि भारत में ईसाई धर्म की पृष्ठभूमि काफी पुरानी है। हालांकि इस तथ्य को न प्रमाणित किया जा सकता है और न अप्रमाणिक कहा जा सकता है कि थामस ने भारत को इंजील का सुसमाचार दिया था ("द क्रिश्चियन मिशन टूडे", 1960)। परम्परा के अनुसार थामस नामक ईसा के एक दिव्य संदेशवाहक 52 ईस्वी में केरल के समुद्रतट पर उतरे। वहाँ के विभिन्न क्षेत्रों में उन्होंने सात गिरजाघरों की स्थापना की। तब उन्होंने मद्रास की यात्रा की, जहाँ वे 72 ईस्वी में दिवंगत हो गए। किन्तु सच्चे अर्थों में भारत में ईसाई धर्म का प्रचार यूरोप के लोगों के आने बाद 16वीं शताब्दी में या उसके बाद शुरू हुआ। प्रारम्भिक प्रचारकों में पुर्तगालियों का उल्लेख मिलता है। बाद में डच, फ्रांसीसी और अंग्रेज प्रचारक आये। यूरोप के लोगों के साथ कुछ अमरीकी प्रचारक भी भारत आये। शुरू में इन धर्म प्रचारकों ने जनजातीय

क्षेत्रों और अछूतों की आबादियों को अपना कर्म क्षेत्र बनाया। बाद में उन्होंने अपना कार्य शहरी इलाकों तक फैलाया।

भारत में ईसाई धर्म आधुनिकीकरण और आर्थिक विकास के महत्त्वपूर्ण तत्त्वों में से एक रहा है। उसके प्रचारकों ने यह कार्य उन सामाजिक मूल्यों द्वारा किया जिन्हें उन्होंने वैध करा लिया था। (विक्टर डिसूजा, 1914)। सार रूप में ईसाई मत विश्व-बन्धुत्व, समता का दृष्टिकोण रखने और सुविधाहीन लोगों की सेवा करने का उपदेश देता है। अपने सामाजिक दर्शन के अनुसार ईसाई मत के प्रचारकों ने भारत की जाति प्रथा की बुराइयों पर धावा बोला। अपने प्रवचनों से उन्होंने समकालीन रिवाजों और पद्धतियों को झकझोर दिया और फिर आत्मसम्मान एवं सामाजिक न्याय पर आधारित एक समान स्तर के समाज-निर्माण की प्रेरणा दी। ईसाई धर्म ने निःसन्देह भारतीय समाज को एक खुला समाज बनाने में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। उसने सुविधाओं से वंचित और विशेष रूप से आक्रामक जाति प्रथा से पीड़ित समाज को आश्रय और सहारा दिया। ईसाई धर्म गरीब और कमजोर वर्गों के लिए समाज कल्याण की प्राचीन एजेन्सियों में से एक है। अपनी सामाजिक सेवाओं की व्यापक शाखा-प्रशाखाओं द्वारा उसने भारत के दूर-दराज के उन इलाकों में भी शिक्षा, सेवा और चिकित्सा की सेवाएँ पहुचाईं जहाँ सरकारी सहायता का नाम तक न था। इस वक्तव्य का जीता-जागता प्रमाण उन क्षेत्रों की साक्षरता दर है जहाँ ईसाई धर्म के प्रचार और उनकी सेवा कार्य संरचना मजबूत रही है।

❑

खण्ड-दो

ग्रामीण भारत
(Village India)

अध्याय 5
भारत में ग्रामीण समाज व संस्कृति के कुछ पहलू
(Some Aspects of Rural Society and Culture in India)

भारत को हम गाँवों का राष्ट्र भी कह सकते हैं। इस देश की लगभग 70 फीसदी आबादी 6 लाख से भी ज्यादा गाँवों में निवास कर रही है। सभी गाँव संरचना और व्यवहार में एक जैसे नहीं हैं। प्रमुख विभिन्न प्रकार के गाँव इस प्रकार हैं : (i) संकेन्द्रित (nuclear village) : यह हमारे देश में सामान्य तौर पर हैं, जिसमें घरों का एक संगठित समूह खेती के मैदानों के बीचों-बीच स्थित होता है। (ii) रेखांकित व्यवस्था : इसके अन्तर्गत घर दूर-दूर स्थित होते हैं। प्रत्येक घर की चहारदीवारी अलग दूर तक फैली होती है। इस व्यवस्था में यह जानना मुश्किल है कि एक गाँव कहाँ समाप्त हुआ और दूसरा कहाँ प्रारम्भ हुआ। (iii) दो या तीन घरों का समूह है जहाँ भौतिक रूप से उन्हें अलग रेखांकित कर पाना मुश्किल है। इन प्रकारों के अतिरिक्त विभिन्न घनत्व और संरचना वाले गाँवों के प्रकार भी उपस्थित हो सकते हैं।

परम्परा, संरचना, शैली और धार्मिक कर्मकांडों की दृष्टि से भी भारतीय गाँवों में काफी वैविध्य है। हर गाँव की परम्परा लम्बे विकास के दौर में स्थापित हुई है। हजारों वर्षों में भिन्न-भिन्न सांस्कृतिक परिवेशों में अलग-अलग लोगों ने इन्हें स्थापित किया है। वर्तमान भारतीय गाँव अपने भूतकाल का दर्पण हैं। सामाजिक संरचना में बदलाव के बावजूद भारतीय ग्रामीण समाज में आज भी परिवार, नातेदारी, जाति, वर्ग और गाँव प्रमुख तत्त्व हैं। कुछ समाजशास्त्री भारतीय परिवेश में गाँव को परिभाषित करते हुए तीन तत्त्वों का जिक्र करते हैं : जाति, संयुक्त परिवार और गाँव-समाज। किन्तु विस्तृत रूप में देखें तो यह सामाजिक संस्थाएँ ऐतिहासिकता के परिप्रेक्ष्य में भी काफी पुरानी और स्थापित है। सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक सभी क्षेत्रों में इन्हीं सामाजिक संस्थाओं का प्रभुत्व है।

सामाजिक मूल्यों, प्रतिमानों, कानूनों और प्रतिस्थापनाओं में अधिकारों और कर्त्तव्यों में इन्हीं का प्रतिबिम्ब झलकता है। भारतीय ग्रामीण सामाजिक व्यवस्था में प्रायः 'संयुक्त परिवार', आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और धार्मिक व्यवस्था की मूल इकाई है।

जब हम भारतीय गाँवों के आवश्यक गुणों की बात करते हैं तो सर्वप्रथम 'गाँव की स्वायत्तता' (village autonomy) का प्रश्न आता है। यह एक विवादित विषय रहा है। हेनरी मेन (1881), चार्ल्स मेटाकॉफ (1833) और बेडेन पावेल (1896) जैसे विद्वानों ने गाँव की

स्वायत्तता के प्रश्न को कुछ ज्यादा ही बढ़ा-चढ़ा कर प्रस्तुत किया है। भारतीय गाँव का चित्रण एक 'बंद' व 'पृथक्कृत' व्यवस्था के रूप में किया गया। चार्ल्स मेटकॉफ ने एक कदम आगे बढ़कर गाँव को एक 'लघु गणतंत्र' (little republic) की संज्ञा दी जो स्वयं में स्वतंत्र, अखंडित (monolithic) अपरिवर्तनीय और सम्पूर्ण है। बाद की शोधों में इतिहासविदों, समाजशास्त्रियों और मानवशास्त्रीय विशेषज्ञों ने इस अवधारणा को नकार दिया। गाँवों का सम्बन्ध वृहत्तर समाज से बराबर बना रहा है। वे सदैव भारतीय सभ्यता के केन्द्रों के इर्द-गिर्द रहे। काम और व्यापार के सिलसिले में गाँवों से अन्यत्र लोगों का आना-जाना भी रहा। अन्तरक्षेत्रीय बाजार, अन्तर-ग्रामीण प्रशासनिक सम्बन्ध, जाति सम्बन्ध, तीर्थयात्राएँ, मेले-त्योहार और अन्य गतिविधियाँ आसपास के गाँवों और वृहत्तर समाज के बीच सम्पर्क-सूत्र रहे। बाद के वर्षों में आधुनिक संसाधनों के चलते ग्रामीण और शहरी क्षेत्र के सम्पर्क और भी अधिक बढ़ते गए। आस्कर-लुईस (1955) ने इसे ग्रामीण विश्वगृहिता (Rural Cosmopolitanism) कहा। बढ़ते हुए बाहरी अन्तरसम्बन्धों के बावजूद गाँव एक मूल सामाजिक इकाई बना रहा जिसमें लोगों की एक पहचान और एक आस्था बनी रही।

ग्रामीण विश्वगृहिता (Rural Cosmopolitanism)

इस आवधारण के प्रवर्तक ओस्कर लेविस हैं। यह उनके उन अध्ययनों का परिणाम है जो उन्होंने दिल्ली के निकट रानीखेड़ा नामक भारतीय गाँव और मैक्सिको के मोरेलोस क्षेत्र के टेपोज़टालान नामक गाँव में किया था। उनके पहले 1930 में इसी गाँव में रहकर राबर्ट रेडफील्ड ने नृशास्त्रीय अध्ययन किया था जिसके फलस्वरूप मानवशास्त्र में ग्राम्य अध्ययन (village studies) का श्रीगणेश हुआ था।

1953-54 में राबर्ट रेडफील्ड; मिकिम मैरियट और मिल्टन सिंगर ने शिकागो विश्वविद्यालय में "भारतीय गाँव संबंधी अध्ययन" पर एक गोष्ठी का आयोजन किया था जिसमें उन्होंने भारत के आठ क्षेत्रों में काम कर चुके सामाजिक मानवशास्त्र के विशेषज्ञों को अपने-अपने अध्ययन के विषयों पर विचार विनिमय करने के लिए आमंत्रित किया था। गोष्ठी में दो केन्द्रीय प्रश्न विचारार्थ उठाये गये थे:

1. भारतीय गाँव किस सीमा तक प्रथक्कृत और आत्मनिर्भर लघु समुदाय हैं?
2. ग्राम्य अध्ययनों से सम्पूर्ण भारतीय सभ्यता के बारे में क्या सीखा जा सकता है?

इस गोष्ठी में ओस्कर लेविस द्वारा प्रस्तुत शोध निबन्ध में भारत और मैक्सिको के दो गाँवों के बीच में विरोधाभास पर प्रकाश डाला गया था। उन्होंने मैक्सिको के गाँवों को अन्तर्मुखी पाया था। वहाँ के लोग गाँव के भीतर ही विवाह सम्बन्ध करते हैं। दूसरे गाँवों से उनके सम्बन्ध केवल व्यापारिक हैं- अन्य किसी सांस्कृतिक सूत्र से सम्बन्धित नहीं हैं जैसे कि धर्म स्थलों की तीर्थ यात्राएँ आदि। इसके अतिरिक्त मैक्सिको के गाँव सापेक्षतया आत्मनिर्भर हैं, नाभिक या केन्द्रक समूह जैसे हैं अर्थात् कुछ गाँवों को मिलाकर, उन्हें केन्द्रीयकृत कर उनमें पौरसंघवादी व्यवस्था जैसी स्थापित होती है।

ठीक इसके विपरीत भारतीय गाँव अपने क्षेत्र के अन्य गाँवों, कस्बों और शहरों से विभिन्न

प्रकार से ऐसे जालतंत्र (network) के जरिए मिले होते हैं जो जाति, गोत्र, बांधुत्व, शादी-विवाह, व्यापार, व्यवसाय, धार्मिक तीर्थाटन और प्रशासनिक एवं राजनीतिक संगठनों से परस्पर जुड़े होते हैं। स्वयं लेविस के शब्दों में "भारत के गाँव एक ऐसे बहु-अन्तर्ग्रामीण जालतंत्र से सम्बद्ध हैं जिसमें प्रत्येक गाँव कम से कम 400 गाँवों के साथ वंश, परम्परा, प्रेम और भ्रातृभाव से जुड़ा होता है और जिससे एक प्रकार की ग्रामीण विश्ववादी स्थिति सी परिलक्षित होती है।"

परम्परागत संस्कृति (Traditional Culture)

परम्परागत संस्कृति की अवधारणा जार्ज फ़ास्टर के शोध कार्य– "Traditional Societies and Technological Change" (1962) से सम्बद्ध है। यह अध्ययन लैटिन अमेरिकी देशों में उनके दीर्घकालीन अनुभवों का परिणाम है। वे लैटिन अमेरिका के मैक्सिको, कोलम्बिया, पेरू और ब्राजील आदि देशों में रहे थे और उन्होंने देखा था कि कुछ सामाजिक-सांस्कृतिक कारकों ने वहाँ के सार्वजनिक स्वास्थ्य केन्द्रों की सेवाओं को प्रभावित किया था। इस तरह यह अवधारणा परिवर्तन के विरुद्ध कुछ सांस्कृतिक अवरोधों के बारे में है क्योंकि वहाँ के कृषक या ग्रामीण समाज अपनी परम्परागत संस्कृतियों के कारण अक्सर सामाजिक-आर्थिक और तकनीकी परिवर्तन का विरोध कर रहे थे।

परम्परागत संस्कृतियों का रूढ़िबद्ध (stereotyped) चित्रण अक्सर तर्कहीनता, निष्क्रियता, भाग्य परायणता और इहलौकिक विरोधी मान्यताओं का बोध कराता है। परम्परागत संस्कृति का सबसे महत्त्वपूर्ण अभिलक्षण यह होता है कि उसके असली रचनाकारों और योगदाताओं की जानकारी नहीं होती। प्रत्येक जुबानी सम्प्रेषण और कृषक अथवा जनसमुदाय द्वारा व्यावहारिक प्रदर्शन के अलावा संचार के कुछ ऐसे तरीकों का विकास भी किया जा सकता है जिसके द्वारा वे अपने परम्परागत ज्ञान को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को प्रदान करते होंगे- जैसे अपनी भाषा की संक्षिप्त सूक्तियाँ। इन सूक्तियों में, जो पद्यात्मक भी हो सकती हैं, वे जलवायु, मौसम की दशा, कृषि, पशुपालन, धार्मिक और नैतिक निर्देश अथवा विभिन्न प्रकार के अनुभवों के ज्ञान-कण पिरो देते हैं और ये कहावतों के रूप में प्रचलित हो जाती हैं।

संस्थागत सामाजिक सभाएँ या बैठकें परम्परागत संस्कृति के प्रचार में काफी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं। ये सभाएँ घरों पर, किसी अनुष्ठान के अवसर पर, मेलों या पर्वों के अवसर पर हो सकती हैं। बीते हुए अतीत का यशोगान परम्परागत संस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। परम्परागत संस्कृति में रहने वाले कृषकों के बीच अक्सर यह सुना जाता है कि हमारे पिता-पितामहों ने यह बात इसी तरह से की थी, और मैं भी उसी तरह करूँगा।

इस तरह हम देखते हैं कि परम्परागत ग्रामीण समुदाय की अपनी परम्परागत संस्कृति होती है जिसमें उसके अपने मूल्य और तर्क आधार होते हैं। उनका अपना सांस्कृतिक नृजाति केन्द्रवाद (cultural ethnocentrism) उन्हें अक्सर हठी बना देता है और वे परिवर्तन का विरोध करने लगते हैं। इसलिए ऐसे परम्परागत समाजों में नया विचार या नई प्रौद्योगिकी की शुरुआत करने के पहले नियोजनकर्त्ताओं को इस बात को पहले से जान और समझ लेना चाहिए। वैसे, सभी परम्पराएँ खराब नहीं हैं और परम्परा एवं आधुनिकता का अभिक्षरण असम्भव भी नहीं है।

❑

अध्याय 6

कृषिक सामाजिक संरचना व कृषि का सामाजिक संगठन

(Agrarian Social Structure and Social Organization of Agriculture)

कृषिक सामाजिक संरचना का अध्ययन ग्रामीण समाजशास्त्र और सामाजिक नृतत्वशास्त्र में गंभीर अध्ययन का मसला रहा है। यदि शब्दकोश में परिभाषित अर्थ को मानें तो 'कृषिक' (agrarian) का अर्थ भूमि अथवा उसकी धरिता या भूमि के सामूहिक वितरण एवं कृषि के हितों को संगठित करने या उनको पुष्ट करने से लगाया जाता है। कृषिक का मंतव्य एक विशेष प्रकार के मूल्यों से लगाया जाता है, जिसके अनुसार कृषि सबसे प्राकृतिक एवं आवश्यक व्यवसाय है और खेत ही रहने के लिए आदर्श स्थान है। इस प्रकार कृषिक समाज किसी भी प्रकार का समाज, विशेषकर पारंपरिक समाज है जो औद्योगिक उत्पादन के बजाय मूलतः कृषि उत्पादन और उससे संबंधित शिल्पों पर आधारित है। यदि हम इसे और विस्तृत रूप में कहें तो यह कहा जा सकता है कि ज़मीन पर आश्रित समाज, 'अपने उत्पादन के तरीके के अंतर्गत मूलतः कृषि और खेतों के जोतने, बोने और फसल काटने पर ध्यान देता है।' इसकी यही गतिविधि इसे 'शिकारी-संग्राहक समाज' से अलग करती है जो कि अपने खाद्य पदार्थ में से कुछ का भी स्वयं उत्पादन नहीं करता और, 'बागवानी समाज' से भी जिसमें से खाद्य पदार्थों को खेतों के बजाय छोटे-छोटे बागों में उगाया जाता है (**द ब्लैकवेल डिक्शनरी ऑफ सोशियोलॉजी,** 1995)।

ए.आर. देसाई और आंद्रे तथा कई अन्य ने भारत में कृषिक सामाजिक संरचना को स्पष्ट करने में भारी योगदान किया है। बेत्ते ने कृषिक सामाजिक संरचना को परिभाषित करते हुए यह स्पष्ट मत प्रकट किया है कि यह सिर्फ किसान आधारित नहीं है। कृषक समाजों और संस्कृतियों के अध्ययन से कुछ अतिरिक्त मत निकलते हैं। इस प्रकार कृषक समाज में छोटी भूमिका निभाने वाले सभी लोगों से मिलकर यह समाज बनता है। उन्होंने यह भी कहा है कि कृषिक सामाजिक संरचना का अध्ययन मुख्यतः दो आयामों के इर्द-गिर्द होना चाहिए। (1) प्रौद्योगिकी व्यवस्था (technological arrangements) तथा (2) सामाजिक व्यवस्था (social arrangements)। पहले के अंतर्गत मूलतः परिस्थिकीय स्थितियाँ (ecological conditions) व कृषि संबंधी प्रौद्योगिकी (agricultural technology) आती है और दूसरी व्यवस्था के अंतर्गत भू-स्वामित्व

एवं नियंत्रण, सत्ता समीकरण, भूधारिता तथा संबद्ध सामाजिक परिस्थितियाँ आती हैं। कृषक समाज इस सम्पूर्ण व्यवस्था का आधार है।

'कृषि के सामाजिक ढाँचे' (Social Framework of Agriculture) को समझने के लिए आंद्रे बेत्ते द्वारा 1974 में लिखी गई किताब (Social Farmework of Agrulture) ग्रामीण समुदाय अथवा कृषक समाज की गहरी समझ और भारतीय परिवेश में उसके विभिन्न प्रकार के असर तथा आयामों पर पकड़ के लिये महत्त्वपूर्ण है। कृषि को सामाजिक संरचना से अलग करके ढंग से नहीं समझा जा सकता, क्योंकि ये दोनों साथ-साथ घटित होते हैं। एशिया के कम विकसित (और विकासशील) देशों के बारे में यह बात खास तौर पर सच है जहाँ आर्थिक संगठन की पश्चिम के औद्योगिक समाजों के मुकाबले कम स्वायत्तता है। इस प्रकार ऐसे एशियाई समाजों में आर्थिक संगठन विभिन्न प्रकार की सामाजिक संस्थाओं से अधिक निकटता से गुँथा हुआ पाया जाता है। इन संस्थाओं का कार्य आंशिक रूप से आर्थिक और आंशिक रूप से गैर-आर्थिक है। वह आर्थिक गतिविधियों में सामाजिक ढाँचे के महत्त्व पर यह दर्शाते हुए और अधिक जोर देते हैं कि आर्थिक गतिविधियों में व्यक्तियों का आपसी लेन-देन निहित रहता है, जिसके अधिकार और दायित्व सामाजिक रूप से परिभाषित हैं। कृषि की तरह लगभग ऐसी ही गतिविधियाँ सामाजिक रूप से संगठित की जा सकती हैं।

कृषक समाज (Peasant Society)

कृषक समाज लघुस्तरीय सामाजिक संगठन है। उसमें किसानों का वर्चस्व रहता है। कृषक समाजों को नृतत्वशास्त्रियों ने विभिन्न प्रकार से पारिभाषित किया और समझाया है। कृषक समाजों की औपचारिक परिभाषा गढ़ने वाले पहले नृतत्वशास्त्री ए.एल. क्रोबर थे। उन्होंने कृषक समाजों को 'आंशिक समाज' (part society) बताया था। इससे यह पता लगता है कि यह एक वृहद् समाज पर प्रौद्योगिकीय, आर्थिक, राजनैतिक, प्रशासनिक, धार्मिक और नैतिक क्षेत्रों में आश्रित था। जॉर्ज फॉस्टर ने क्रोबर की अवधारणा को आगे बढ़ाते हुए कृषक समाज को 'आधा समाज' (half society) कहा। उनका मंतव्य था कि राष्ट्र जैसा वृहद् समाज दो हिस्सों से बनता है- पहले हिस्से में फसल उगाने वाले वर्ग गाँव में रहते हैं और दूसरे हिस्से में शहरी क्षेत्रों में रहने वाला उच्च वर्ग आता है। वृहद् समाज का फसल उगाने वाले वर्ग से बनने वाला हिस्सा कृषक समाज अथवा आधा समाज कहलाता है। रॉबर्ट रेडफील्ड ने भी क्रोबर का अनुसरण किया और उन्होंने भी कृषक समाज को 'आंशिक समाज' के रूप में परिभाषित किया है।

वर्ष 1960 तक समाजशास्त्र में कृषक समाज का अध्ययन अधिकतर उपेक्षित था। इस समाज के बारे में माना जाता था कि इतिहास में इसकी कोई महत्त्वपूर्ण भूमिका नहीं है। यह धारणा इस तथ्य के बावजूद बनाई गई थी कि लिखित इतिहास की अधिकतर अवधि में और दुनिया के कई हिस्से में कृषक मौजूद रहे हैं। 1960 के दशक से एरिक वुल्फ (1966) और बेरिंगटन मूर (1967) जैसे प्रमुख कार्यों के प्रकाशन के साथ ही इस दृष्टिकोण में परिवर्तन आया और

नृतत्वशास्त्र व राजनैतिक अर्थव्यवस्था (Political Economy) में विकसित अवधारणा को समाजशास्त्र में समाहित कर लिया गया। वियतनाम युद्ध में कृषक समाज की भूमिका व लातिनी अमेरिका एवं एशिया में कृषकों की राजनैतिक गतिविधियों में तेजी आने के साथ ही कृषक समाज की कथित निष्क्रियता पर सवाल उठने लगे। मार्क्सवादी पुस्तकों में आंशिक रूप से माओवाद तथा 1949 की क्रांति के कारण ... उसके बाद चीन की घटनाओं के असर में यह सवाल उठा कि तीसरी दुनिया में कृषक समाज, समाजवाद की क्रांतिकारी ताकत का प्रतिनिधि है या नहीं। अब एक दूसरे से जुड़े कृषक समाज पर अध्ययन एक प्रमुख शोध क्षेत्र बन गया है। अभी तक इस बारे में बहस चल रही है कि अवधारणा और अनुभव के स्तर पर कृषक समाज की एक अलग श्रेणी के रूप में पहचान होनी चाहिए या नहीं। शानिन भी इस अवधारणा के पक्ष में दिए जाने वाले तर्कों में सबसे मजबूत तथा असरदार तर्क देने वालों में शामिल हैं। इस शताब्दी में किए गए विभिन्न कृषक अध्ययनों से अपने परिणाम निकालते हुए उन्होंने कहा है कि कृषक समाज की पहचान की छः विशेषताएँ हैं। (शानिन, 1982; शानिन, (संपादित) 1988 इंट्रोडक्शन)

(अ) पारिवारिक खेत प्रमुख आर्थिक इकाई है। इसी के इर्द-गिर्द उत्पादन, श्रम तथा उपभोग व्यवस्थित हैं।

(ब) भूमि को जोतना प्रमुख गतिविधियाँ हैं, जिसके साथ न्यूनतम विशेषज्ञता और विभिन्न कार्यों के लिए पारिवारिक प्रशिक्षण भी जुड़े हुए हैं।

(स) स्थानीय ग्रामीण समुदाय पर आधारित एक विशेष किस्म की 'कृषक जीवनचर्या' है जिसके अंतर्गत अधिकतर सामाजिक जीवन और संस्कृति आते हैं और उसी से यह शहरी जीवन से तथा अन्य सामाजिक समूहों के जीवन से अलग दिखाई देता है।

(द) कृषक राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक रूप से गैर-कृषक समूहों के अधीन हैं और उनके खिलाफ कृषकों ने विरोध, विद्रोह अथवा क्रांति के विभिन्न तौर-तरीके भी सीख लिए हैं।

(घ) इसकी एक विशिष्ट सामाजिक गत्यात्मकता (dynamics) होती है, जिसमें पीढ़ी दर पीढ़ी परिवर्तन होता है। इसमें भूमि के बंटवारे और घरेलू चक्र (domestic cycle) के जरिए पारिवारिक श्रम की उपलब्धता में उतार-चढ़ाव आने से विषमता दूर होती रहती है।

(च) विशेषकर समकालीन दुनिया में संरचनात्मक परिवर्तन का एक आम प्रतिमान है, जिसमें किसान विपणन के सम्पर्क में आते हैं। ऐसा अवसर कृषि व्यवस्था (agribusiness) जैसी बाहरी संस्थाओं के जरिए होता है और धीरे-धीरे कृषक राष्ट्रीय राजनीति में आ जाते हैं। इन सामान्य परिवर्तनों का सटीक परिणाम पूर्व निर्धारित नहीं होता।

रॉबर्ट रेडफील्ड ने अपने ऐतिहासिक कार्य 'Peasant Society and Culture' (1956) में कृषक समाज को लोक एवं शहरी समुदायों के बीच का मानते हुए कृषक संस्कृति के निम्नलिखित तीन सबसे महत्त्वपूर्ण लक्षण बताए हैं:

(अ) भूमि से अत्यंत गहरा लगाव।

(ब) कृषि की सबसे पवित्र, सर्वश्रेष्ठ और आदर्श रोजगार के रूप में मान्यता, और

(स) कृषकों का दर्शनीय, मेहनती व्यवहार जिससे श्रम की प्रतिष्ठा (dignity of labour), के प्रति पक्का विश्वास झलकता है।

कृषक समाज के कुछ दूसरे महत्त्वपूर्ण लक्षणों में से हैं:

(अ) परिवार, बहुपक्षीय सामाजिक संगठन (multilateral social organization) की प्राथमिक इकाई है।

(ब) आजीविका का मुख्य स्रोत भूमि और कृषि हैं, जिनसे जीवन की लगभग सारी आवश्यकताएँ पूरी होती हैं।

(स) वे दैनंदिन जीवन और उसकी दिनचर्या में विशिष्ट पारंपरिक संस्कृति का निर्वाह करते हैं।

(द) उन पर प्रायः बाहरी लोगों का प्रभुत्व रहता है।

कृषक समाजों के लिए कृषि कोई धंधा नहीं बल्कि जीवनशैली (way of life) है, जिसे किसी भी अन्य गतिविधि के बदले छोड़ा नहीं जा सकता भले ही उसमें ज्यादा पैसा या लाभ मिलता हो। यदि कृषि जीवनचर्या के बजाय धंधा बन जाय तो कृषक पंजाब, हरियाणा, महाराष्ट्र और कर्नाटक के अमीर किसानों की तरह 'किसान' (Farmer) बन जाता है। इस प्रकार कृषक, कृषि भूमि के जीवन निर्वाह खेतिहर हैं। वे भले ही भू-स्वामी या बटाईदार हों या बाजार में उनकी भागीदारी हो अथवा नहीं। कुछ लेखकों (उदाहरण के लिए चेयनमव एवं एरिक वुल्फ) ने एक विशिष्ट कृषक अर्थव्यवस्था को अलग-थलग करने का प्रयास किया है। अन्य (उदाहरण के लिए रेडफील्ड) ने कृषक संस्कृति की धारणा पर जोर दिया है।

ऊपर लिखे विवरणों से जैसा जाहिर होता है, कृषक समाज की सभी परिभाषाओं में इस बात पर मतैक्य है कि कृषक समाज और शहरी अभिजात के बीच खासा भेद है। कृषक समाज और शहरी केन्द्र एक ही सामाजिक-आर्थिक प्रणाली के दो विपरीत ध्रुव हैं और यह सिर्फ उनकी आर्थिक अंतरनिर्भरता में ही नहीं बल्कि कृषक और शहरी संस्कृति के बीच मौजूद पेचीदा संबंधों में भी झलकता है। यह वृहद्-लघु परंपरा तथा लोक-शहरी सातत्य (folk-urban continuum) की अवधारणाओं में भी परिलक्षित होता है। नृतत्वशास्त्रियों में एरिक वुल्फ़ कृषक समाज को परिभाषित करते हुए आर्थिक पहलू पर जोर देते हैं। वुल्फ (1969) अपनी पुस्तक 'Peasants' में किसानों को परिभाषित करते हुए बताते हैं कि उनकी विशेष अधिशेष पैदावार को एक प्रभुता संपन्न सत्तारूढ़ समूह को हस्तांतरित कर दिया जाता है जो इस अतिरिक्त पैदावार को अपने रख-रखाव तथा आबादी के गैर कृषि क्षेत्रों को पुनर्वितरित करने में उपयोग करता है। कृषकों को सबसे स्पष्ट रूप से कृषिक समाजों (agrarian societies) में पहचाना जा सकता है।

यह महत्त्वपूर्ण है कि आबादी के सिर्फ फसल उगाने वाले वर्ग को ही 'कृषक समुदाय' नहीं माना जा सकता। इसमें ऐसे लोग भी शामिल हैं जिन्हें विश्लेषण के आधार पर भले ही कृषक की परिभाषा में न रखा जा सके मगर फिर भी वे 'कृषक समुदाय' में शामिल हैं। वे कृषि व्यापारी, भूमिहीन मजदूर और कारीगर भी हो सकते हैं, जिनका कृषकों से नज़दीकी सामाजिक एवं आर्थिक संबंध हो सकता है। इतना ही नहीं विश्लषेणात्मक रूप से कृषक की परिभाषा में आने वाले लोग भी अक्सर अपना कुछ समय ऐसी कुछ गतिविधियों में लगाते हैं। इस प्रकार कृषक समाज की परिभाषा भले ही कभी-कभी परिवार के कार्यकलाप पर आधारित हो फिर भी यह देखना आवश्यक है कि यह कितनी मजबूती से वृहद् सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक श्रृंखला में जुड़ा हुआ है। डेविड लेहमैन (1985) ने कहा है कि सर्वोचित तो यही लगता है कि ग्रामीण आबादी को समग्र रूप से दर्शाने वाले शब्द के रूप में 'कृषक' (Peasant) को अस्वीकार कर दिया जाना चाहिए। इसके बजाय इसे एक विशेषण मानते हुए उन्होंने गंभीर परिभाषाओं के पूर्वाग्रह के बिना ही ग्रामीण उत्पादन प्रणालियों की विशेषताओं का खुलासा किया है।

कृषक समाज की विशेषताएँ

क्रोबर, फॉस्टर, रेडफील्ड, वुल्फ, नॉरबैक, थॉर्नर, शानिन, आंद्रे बेत्ते तथा कृषक समाजों के बारे में लिखने वाले कई अन्य नृतत्वशास्त्रियों और समाजशास्त्रियों ने निम्नलिखित विशेषताओं को कृषक समाजों का स्वभाव बताते हुए सहमति जताई है:

(अ) नगर और राज्य के साथ कृषक समाज का भी लंबा इतिहास है।

(ब) कृषक समाज में व्यक्तिगत संबंधों पर आधारित सामाजिक प्रणाली प्रचलित है। इसमें ग्रामीण समुदाय भी शामिल हैं जिनमें लोग एक-दूसरे को रोजगार, रस्मो-रिवाज तथा खाली समय बिताने संबंधी गतिविधियों में भागीदारी के कारण जानते-पहचानते हैं। यह निकट संबंघी व्यक्तिगत संबंधों पर आधारित सामाजिक प्रणाली के जन्मदाता हैं। प्रत्येक गाँव के निवासियों के अपने ग्रामीण समुदाय के बाहर भी कुछ व्यक्तियों से निजी संबंध होते हैं।

(स) कृषक समाज के लिए कृषि का महत्त्व लाभ के लिए धंधा नहीं, बल्कि आजीविका का माध्यम है। ऐसा नहीं है कि कृषक अपनी फसल में से कुछ हिस्से को बेचना नहीं चाहते मगर ऐसी बिक्री का उनका मनोरथ नहीं होता। ऐसी बिक्री को एक विनिमय के रूप में समझा जा सकता है जिससे एक निश्चित जीवनचर्या चल सके और बुनियादी आवश्यकताएँ पूरी की जा सकें। इस प्रकार कृषकों की प्राथमिका चिंता जीवन निर्वाह उत्पादन (subsistence production) की होती है और जो खाद्यान्न एवं अन्य वस्तुएँ वे पैदा करते हैं, उसमें से अधिकतर का उपभोग वे स्वयं कर लेते हैं।

(द) कृषक समाज पुरानी प्रौद्योगिकी और न्यून कृषि उत्पादकता पर आधारित है। दुनिया के अनेक भागों में उनकी प्रौद्योगिकी में नवपाषाण काल से लेकर आज तक कुछ विशेष परिवर्तन नहीं आया है। कृषक अर्थव्यवस्था से कृषि, सरल प्रौद्योगिकी, जीवनयापन के लिए उत्पादन, सीमित

संख्या में फसलें उगाना और पर्यावरण पर प्रत्यक्ष निर्भरता का पता चलता है।

(ध) कृषक समाज अपने आर्थिक व्यवहार को तत्काल उपभोग एवं उत्सवधर्मिता (ceremonialism) की भौतिक रूपों में पूर्ति की दिशा में केन्द्रित रखता है। पहली बात कृषक समाज के चारित्रिक गुणों में विलंबित परितोषण (deferred gratification) की है। जैसे बचत के बजाय खर्च करने की प्रवृत्ति, कल के बजाय आज खर्च करना। दूसरी बात यह है कि हरेक कृषक समाज उत्सव के मौके पर बनाए जाने वाले व्यंजनों, आतिशबाजी, धूप-अगरबत्ती, पारंपरिक भुगतानों तथा दायित्वों, करों, हिस्सेदारियों तथा अन्य देनदारियों तथा किराये आदि की मद में व धार्मिक समारोहों और सामाजिक हैसियत की भौतिक माँगों को पूरा करने की कोशिश करता है।

(च) कृषक समाज का नगरीय केन्द्रों से संचार हमेशा बना रहता है। यह विनिमय योग्य अतिरिक्त खाद्यान्न सीमित मात्रा में ही पैदा कर पाते हैं जो कि कस्बों और शहरों का पेट भरने के लिए भेज दिया जाता है और वहाँ से गाँवों को निर्मित अथवा संसाधित सामान (Processed goods) की कुछ विशेष किस्में और सेवाएँ हासिल होती हैं। इस प्रकार के लेनदेन को आम तौर पर कस्बों और नगरों में स्थापित मंडी प्रणालियों के जरिए अक्सर आयोजित करके उसका निर्वाह किया जाता है। इनकी कई संस्थाएँ राष्ट्रीय संस्थाओं का ही स्थानीय संस्करण हैं, जैसे आर्थिक लेनदेन में राष्ट्रीय मुद्रा का प्रयोग और राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली। इसके अलावा ग्रामीण जीवन नगरीय केंद्रों के धार्मिक, बौद्धिक एवं नैतिक जीवन से भी प्रभावित होता है और इन्हीं से कृषक समुदाय व्यापक समाज से जुड़ता है।

(छ) कृषक समाज परिवर्तन के प्रति प्रतिरोधी या अत्यंत धीमी गति से परिवर्तनकारी होता है। कृषक हजारों वर्षों से ऐसी प्रौद्योगिकी की श्रृंखला के बलबूते जिंदा हैं, जिसके कारण वे आसानी से निगाह में नहीं आते। कृषकों को यह समझाना मुश्किल है कि वे अपने इस सुरक्षात्मक कवच को एक झटके से उतार कर फेंक सकते हैं। कृषकों की यह विशेषता है कि वे अर्थशास्त्रियों की आह व राजनैतिकों का पसीना निकलवा सकते हैं और मॉस्को और वाशिंगटन, पेइचिंग तथा दिल्ली सहित पुरी दूनिया में नीति निर्धारकों की नींद हराम कर सकते हैं।

शक्ति संरचना एवं वर्ग स्तरीकरण (Power Structure and Class Stratification)

सामाजिक संरचना का वर्णन करने का सार्वभौमिक तरीका जन्म आधारित संस्थाओं जैसे परिवार, नातेदारी तथा जाति पर आधारित है। इसके वर्णन का दूसरा तरीका वर्ग पर आधारित है। इस प्रकार कृषिक वर्ग संरचना को भारतीय ग्रामीण सामाजिक संरचना में शक्ति संरचना एवं वर्ग स्तरण को समझने के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है। इसके बावजूद भारत में कृषिक सामाजिक संरचना की मीमांसा के लिए जाति एवं वर्ग दोनों ही आवश्यक हैं। इससे ग्रामीण भारत में सत्तात्मक संरचना का भी पता चलता है। इस प्रकार से जब हम कृषिक वर्ग स्तरण की बात करते हैं तो हमें ग्रामीण भारत की बेहतर तस्वीर दिखाई देती है, जिसे प्राचीन काल से ही सिर्फ

जातीय वर्गीकरण के नजरिए से देखा जाता रहा है। के.एल.शर्मा (1980) संपूर्ण मुद्दे को समुचित परिद्रष्य में रखते हुए ये गहन टिप्पणी करते हैं कि "जाति में वर्ग का तत्त्व भी शामिल है और वर्ग का सांस्कृतिक (जातीय) प्रतिमान भी है। इसलिए दोनों प्रणालियों को विश्लेषणात्मक रूप में भी आसानी से अलग नहीं आंका जा सकता।"

मोटे तौर पर भारत में कृषिक वर्ग संरचना अंग्रेजी औपनिवेशिक शासन में गढ़ी गई थी। यह भू-राजस्व प्रणाली का परिणाम थी, जिसे अंग्रेजी राज में ही तैयार और लागू किया गया था। तब तीन वर्ग थे- (1) भू-स्वामी (2) बटाईदार (3) खेतिहर मजदूर।

डेनियल थॉर्नर (1973) ने अपने बहुमूल्य अध्ययन में इन तीन वर्गों को इस प्रकार परिभाषित किया है।

(1) भू-स्वामी (Proprietors)

(2) कामकाजी कृषक (Working Peasants)

(3) मजदूर (Labourers)

कामकाजी भाषा में उन्होंने इनको *मालिक, किसान* तथा *मजदूर* कहा है। भूस्वामी अथवा मालिक प्राचीन काल से ही ऊँची जाति समूहों के थे। वे लगान जमा करते थे और भू-स्वामी होने के बावजूद स्वयं खेत को जोतते-बोते नहीं थे। थॉर्नर (वही) का मानना था कि भू-स्वामी या मालिक की श्रेणी ऐसे परिवारों के संदर्भ में बनाई गई थी जहाँ कृषि आमदनी प्राथमिक तौर पर (हालाँकि प्रायः पूर्णतः नहीं) धरती के मालिकाना अधिकारों से प्राप्त की जाती थी। इसका मतलब यह है कि पारिवारिक आय के भले ही कोई अन्य स्रोत हों जैसे-कोई व्यवसाय या व्यापार-मगर कृषि से मुख्य आमदनी पारिवारिक मालिकाने वाली भूमि पर होने वाली पैदावार में हिस्से के रूप में होती थी। यह हिस्सा पहले से ही किराए के रूप में वसूला जाता था। आम तौर पर किराया नकद लिया जाता था मगर यदि बटाईदारी फसल के बंटवारे के आधार पर तय होती थी तो किराये के बदले उपज भी ले ली जाती थी। अपने खेतों को बटाई पर देने के बजाय भू-स्वामी मजदूरों से उन पर अपने लिये खेती भी करवाया करते थे। दिहाड़ी पर रखे गए इन मजदूरों की निगरानी वे खुद भी करते थे और अपने कारिंदों से भी करवाया करते थे। कभी-कभी वे खुद भी खेतों में जाकर मजदूरों के साथ मिलकर खेतीबाड़ी संबंधी कार्य किया करते थे। इसमें मुख्य भूमिका उनके आमदनी के स्रोत की मानी जानी चाहिए- यदि उनकी अपने हाथों से जोते-बोने जाने वाले खेत के उस हिस्से से बटाई पर दी गई भूमि से होने वाली आमदनी के मुकाबले आमदनी कम होती थी जिसे वे खुद जोते-बोते थे या मजदूरों से उसमें काम करवाते थे। मालिकों के इस समूह या वर्ग के अंतर्गत दो उपसमूह छांटना संभव है। इसमें एक समूह के अंतर्गत बड़े अनुपस्थित भू-स्वामी आते हैं जिनकी एक से अधिक गाँवों में जमीन है। दूसरे उपसमूह में वे अपेक्षाकृत लघु भू-स्वामी (absentee landlords) आते हैं जो उसी गाँव में खुद रहते हैं जहाँ उनकी जमीन है और उस पर खेती करने के आंशिक प्रबंध एवं नियंत्रण का प्रयास भी वही करते हैं। इस वर्ग

के अधिकतर लोग ऊँची जातियों के होते हैं।

कामकाजी कृषकों के वर्ग (किसान के रूप में उल्लेखित) का भी भूमि में घोषित स्वामित्व हित है (थॉर्नर, वही)। वे लघु मालिक या किसान भी हो सकते हैं, जिनकी सुरक्षा का स्तर अनिश्चित है। कुल मिलाकर (लेकिन हरेक राज्य में नहीं) उनके कानूनी और प्रथागत अधिकार एक ही गाँव में मालिकों से कुछ ही कम होंगे। इसमें भी प्रमुख भेद इस बात पर आधारित हैं कि किसके पास कितनी जमीन है। किसानों के मामले में देखा जाय तो खेत सिर्फ इतना ही बड़ा होता है कि उससे सिर्फ एक परिवार का गुजारा चल सके और परिवार के एक या अधिक सदस्य ही खेत पर मजदूरी करते हैं। वास्तव में किसान के स्वामित्व वाली जमीन में होने वाली पैदावार की आमदनी शायद उनके परिवार के खर्चे पूरे करने के लिए समुचित नहीं है लेकिन उससे कम से कम उसे दूसरे लोगों की जमीन पर मजदूरी करने आदि अन्य खेतिहर स्रोतों से होने वाली आदमनी के मुकाबले कहीं बड़ा हिस्सा प्राप्त हो जाता है। यहाँ परिभाषित किसान ऐसे ग्रामीण हैं जो प्राथमिक तौर पर अपने खेत खुद ही जोतते और बोते हैं। वे कभी-कभी जोतने या फसल काटने के मौसम के अलावा मजदूर नहीं रखते, न ही उन्हें किराये से नियमित आमदनी होती है। वे मुख्यतः मध्यम स्तर के कृषक या कारीगर वर्ग के होते हैं और इनमें से अधिकतर अन्य पिछड़े वर्ग या पिछड़ी जाति के होते हैं।

कृषि पर निर्भर तीसरा वर्ग जिसे *मजदूर* कहा गया है, ऐसे ग्रामीण हैं जो मुख्यतः दूसरे लोगों के खेतों पर काम करके आजीविका कमाते हैं। इस वर्ग के परिवारों के पास भले ही पुश्तैनी बटाई के अधिकार हों या मालिकाना हक भी हो, मगर खेत इतने छोटे होते हैं कि उन्हें जोतने, बोने या उन्हें बटाई पर देने से होने वाली आमदनी मजदूरी से होने वाली कमाई से भी कम होती है। मजदूरी के बदले पैसा या कोई वस्तु भी मिल सकती है। यदि वस्तु के रूप में मजदूरी मिलती है तो वह पूर्व निर्धारित होती है या फिर पैदावार में एक हिस्से के रूप में भी तय हो सकती है। व्यवहार में किसानों का निम्नवर्ग या अपनी मर्जी से बटाईदारी करने वालों की स्थिति लगभग मजदूरों जैसी है। उन्हें अस्थाई तौर पर इस वर्ग में शामिल किया जाएगा। इस वर्ग के अधिकतर सदस्य प्राचीन काल से ही भूमिहीन, वंचित, निचली अछूत जातियों या अनुसूचित जातियों और पिछड़ी जातियों के होते हैं।

थॉर्नर (वही) ने यह ठीक ही कहा है कि भूहितों की इस सोपनात्मक (hierarchical) संरचना को बनाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि पैदावार का एक मोटा हिस्सा कृषि के लिए कोई भी श्रम न करने वाले वर्ग के लिए सुरक्षित रखा जाय। विभिन्न उच्च वर्ग के मालिकों को देने के बाद किसान के पास जो कुछ भी बचता था उसमें से भी उन्हें वसूली के लिए या फिर साहूकार के कर्ज को चुकाने के लिए हिस्सा देना पड़ता था। इस प्रकार खेती पर निर्भर वर्गों में सत्ता अथवा शक्ति संरचना अधिकतर शोषण और वंचना पर आधारित रही है।

डी.एन. धनाग्रे (1983) ने अपनी महत्त्वपूर्ण पुस्तक में कहा है कि थॉर्नर द्वारा प्रतिपादित

श्रेणियाँ और उपसमूह भारत के कृषि पर निर्भर समाज की सामाजिक संरचना के यथार्थ से काफी मिलते हैं, लेकिन इन श्रेणियों को ऐसे व्यापक और अधिक एकीकृत तरीके से फिर से समायोजित अथवा समूहों में बांटने और कृषक समाजों के अध्ययन में सामूहिक रूप से प्रयुक्त अवधारणाओं तथा मापदंडों के आधार पर पुनर्निर्धारित करने की आवश्यकता है। ऐसा नमूना लेनिन और मार्क्स के कार्यों से तैयार किया जा सकता है- विशेषकर क्रमशः रूस और चीन के समाज में कृषि पर निर्भर वर्गों के विश्लेषण से संबंधित कार्यों में से लिया जा सकता है। यह वर्ग मोटे तौर पर निम्नलिखित श्रेणियों में समाहित किया जा सकते हैं।

(1) ज़मींदार (Land lords)

(2) अमीर किसान (Rich Peasants)

(3) मँझोले किसान (Middle Peasants)

(4) गरीब किसान (Poor Peasants)

(5) भूमिहीन मजदूर (Landless Labourers)

धनाग्रे (वही) का यह भी कहना है कि भारत के विभिन्न अंचलों में इन कृषिक वर्गों (agrarian classes), जातियों, धार्मिक या नृजातीय समूहों (ethnic groups) आदि के रूप में विशिष्ट स्तरीय समूहों का सामाजिक संघटन के रूप में समझना इतना अधिक जटिल है कि इन्हें किसी सीधे-सादे फार्मूले में नहीं ढाला जा सकता। इसके बावजूद ढीले-ढाले और व्यापक वर्गीकरण के लिए इसे आधार बनाया जा सकता है। उदाहरण के लिए ज़मींदार और अमीर भू-स्वामी उत्तर भारत में (जमीन न जोतने-बोने वाले नगरीय साहूकारों/मालिकों सहित) ब्राह्मण, ठाकुरों या बनिया जैसे ऊँची जातियों के थे। आंध्र प्रदेश के कम्मा, रेड्डी और राव, मैसूर से वौकालिग्गा और लिंगायत, गुजरात क्षेत्र में पट्टीदार, महाराष्ट्र में मराठा तथा देशमुख का उदाहरण स्थानीय प्रभुतासंपन्न भूस्वामी जातियों के रूप में दिया जा सकता है। मँझोले और गरीब किसान अधिकतर कर्ज के बोझ से दबे रहते थे और ये मूलतः किसानों, कारीगरों आदि की पारंपरिक जातियों से थे। भूमिहीन मजदूर अधिकतर अछूत जातियों, या अनुसूचित जातियों आदि से थे।

आजादी के बाद के युग में भारत में कृषिक वर्ग की संरचना में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आए हैं। भूमि सुधार और ग्रामीण विकास कार्यक्रमों के सहारे नयी परिवर्तनकारी ताकतें उभरी हैं। दरअसल राष्ट्रवादी आंदोलन में उभार के साथ ही सामंतवादी वर्ग संरचना को चुनौती मिलनी शुरू हो गई थी। इन परिवर्तनों का विश्लेषण करते हुए योगेन्द्र सिंह कहते हैं कि भारत में वर्ग संरचना सभी जगह सामंतवादरी चरित्र की थी। सामंतवादी वर्ग संरचना को राष्ट्रवादी आंदोलन से चुनौती मिलनी शुरू हुई, क्योंकि तब कृषिक वर्गों की परिवर्तनकारी विचारधारा को स्वीकार किया गया और राष्ट्रीय नेतृत्व ने भी शोषित कृषक समाज का पक्ष लिया और देश के विभिन्न भागों में किसान आंदोलनों का नेतृत्व किया। इसलिए आजादी के बाद अधिकतर राज्यों में भूमि सुधार कार्यक्रम शुरू किए गए और कृषिक वर्ग संरचना को बदलने के लिए एक शुरुआत की गई। कृषिक वर्ग

संरचना के अधिकतर समाजशास्त्रीय अध्ययनों में सामाजिक परिवर्तनों की इन प्रक्रियाओं का जिक्र किया गया है। इसके साथ ही ऐसे अध्ययनों में उल्लिखित महत्त्वपूर्ण संकेत हैं:

(अ) आजादी के संघर्ष के दौरान प्रतिपादित भूमि सुधार के सिद्धांतों और बाद में भूमि सुधार के लिये उठाये गये वास्तविक कदमों से भी गाँव की वर्ग संरचना में कोई समाजवादी परिवर्तन नहीं आया है।

(ब) इस कमी को आंशिक तौर पर भारतीय राजनैतिक और प्रशासनिक अभिजात के वर्ग चरित्र के विश्लेषण से समझा जा सकता है, जो कि आवश्यक आमूलचूल सुधारों की राह में बाधक रहा है।

(स) वर्तमान भूमि सुधारों से जो प्रक्रिया शुरू हुई उसके द्वारा अमीर किसानों की सुरक्षा और आर्थिक सम्पन्नता बढ़ गई है। लेकिन आर्थिक स्तर तथा पट्टेदारी की स्थिरता दोनों ही लिहाज से लघु किसानों की हालत खराब हुई है।

(द) सामंतवादी और प्रथागत बटाईदारी कम हुई है और ठेका मजदूरी या दिहाड़ी मजदूर-ज़मींदारी प्रणाली जैसी पूंजीवादी प्रथा शुरू हो गई है।

(ई) कृषक व्यवस्था में एक नये अमीर मध्यम स्तर के वर्ग का उदय हुआ है और इनमें से सभी भूतपूर्व ज़मींदार नहीं हैं।

(ए) उच्चतम और न्यूनतम वर्गों के बीच वर्गीय विषमताएँ घटने के बजाय बढ़ी हैं।

(ऐ) भूमि सुधारों के लाभ अभी तक खेतिहर मजदूरों या पूर्व ज़मींदारों के बजाय तेजी से उभर रहे मँझोले कृषक समाज को अधिक मिले हैं।

(उ) कृषिक वर्ग संरचना में इन विसंगतियों के परिणामस्वरूप ग्रामीण सामाजिक प्रणाली में तनाव बढ़ गये हैं और भविष्य में उनके और बढ़ने की आंशका है। और अंत में,

(ऊ) गाँवों में चल रहे वर्तमान वर्गीय परिवर्तनों के पीछे कुछ के बुर्जुआकरण (embourgeoisement) और कई सामाजिक स्तरों के सर्वहाराकरण (proletarianization) की सामाजिक प्रक्रिया का हाथ है।

पी0सी0 जोशी (1971) ने अपने चर्चित अध्ययन में कृषिक वर्ग संरचनात्मक प्रवृत्तियों के बारे में बहुत सटीक टिप्पणियाँ की हैं।

इनमें से कुछ का सारांश निम्नलिखित है:

(अ) इससे सामंतवादी और प्रथागत बटाईदारी का विघटन हुआ है। इसकी जगह और अधिक शोषक और असुरक्षित पट्टेदारी व्यवस्था ने ले ली है।

(ब) इससे एक नये व्यवसाय-आ""रित अमीर किसान (commercial farmers) वर्ग का उदय हुआ जो आंशिक रूप से मालिक और आंशिक रूप से बटाईदार थे। उनके भीतर व्यावसायिक खेती करने की उद्यमशीलता और संसाधन थे।

(स) इससे सामंतवादी ज़मींदार वर्ग का पतन हुआ है तथा व्यावसायिक किसानों के नये वर्ग का उदय हुआ, जिसके लिए कृषि एक कारोबार था। उन्होंने गैर प्रथागत बटाईदारी का प्रयोग किया।

इस प्रकार ग्रामीण भारत ने सामाजिक गतिशीलता और परिवर्तन की प्रक्रिया को देखा और अब भी देख रहा है। ग्रामीण भारत में आ रहे परिवर्तनों का और एक परिणाम यह है कि लघु और सीमांत किसान से खेतीबाड़ी का धंधा छूट रहा है। यह अकृषकीकरण (depeasantization) का एक उदाहरण है।

जजमानी प्रणाली (Jajmani System)

यह हिंदू जातीय प्रणाली का सामाजिक-आर्थिक आधार रहा है और भारत में कृषिक सामाजिक संरचना का अन्तर्निहित हिस्सा है। ऐसा कहा जाता है कि जजमानी प्रणाली नामक यह मुहावरा भारतीय समाजशास्त्र और सामाजिक नृतत्वशास्त्र को विलियम वाइजर की देन है। उन्होंने यह मुहावरा अपने अंवेषकीय कार्य The Hindu Jajmani System (1936) में सबसे पहले प्रयोग किया था। उन्होंने यह अध्ययन उत्तर प्रदेश के करीमपुर गाँव में किया था। अपने इस मौलिक योगदान में वाइजर ने यह विस्तारपूर्वक बताया है कि माल और सेवाओं के उत्पादन और विनिमय में विभिन्न जातियाँ किस प्रकार एक दूसरे से लेनदेन करती हैं। देश के विभिन्न हिस्सों में हालाँकि इस मुहावरे के क्षेत्रीय उपनाम हैं: मगर *जजमानी प्रणाली* समाजशास्त्रीय साहित्य में एक मानकीकृत शब्द बन गया है।

जजमानी प्रणाली के अंतर्गत गाँव में हरेक जातीय समूह को अन्य जातियों के परिवारों को कुछ मानकीकृत सेवाएँ (standardised services) देनी होती हैं। आमतौर पर इस मुहावरे का प्रयोग भूस्वामी उच्च जातियों और भूमिहीन सेवारत जातियों के बीच माल और सेवाओं के लेनदेन के सूचक के रूप में किया जाता है। ये जातियाँ हमेशा ही एक व्यावसायिक परंपरा निभाने के कारण व्यावसायिक रूप से निपुण हो जाती हैं इसलिए इन्हें कारीगर जातियों के रूप में भी जाना जाता है। लुहार, सुनार, बुनकर, तेली, मोची, नाई, धोबी, गायक जैसी कारीगर जातियाँ और व्यावसायिक निपुणता वाले अन्य कई समूह व खेतिहर मजदूरी करने वाले पारंपरिक भूमिहीन अछूत जातियों के लोग 'सेवक जातियों' में आते हैं। इन्हें *कमीन, प्रजन* और देश के विभिन्न हिस्सों में कई अन्य नामों से पुकारा जाता है। भू-स्वामी उच्च जातियों को मोटे तौर पर *जजमान* (संरक्षक) कहा जाता है। पीढ़ी दर पीढ़ी चलने वाले ये सेवा आधारित संबंध जजमान-प्रजन संबंध कहलाते हैं।

जजमानी प्रथा बुनियादी तौर पर उत्पादन माल एवं सेवाओं के वितरण की कृषि आधारित प्रणाली है। जजमानी संबंधों के माध्यम से यह कारीगर जातियाँ भू-स्वामी प्रभुतासंपन्न जातियों के संपर्क में आती हैं। भूस्वामी जातियाँ अपनी कारीगर अथवा सेवक जातियों के प्रति उच्चता एवं 'पालनहार' का सा रुख अपनाती हैं।

करीमपुर गाँव के इस अध्ययन में वाइजर (वही) निम्नलिखित क्रम में इस गाँव में रहने वाली 24 जातियों के सदस्यों के बीच उत्पाद और सेवाओं के विनिमय की प्रणाली का वर्णन करते हैं। देश के लगभग सभी हिस्सों में कमोबेश यही प्रथा प्रचलित है।

1. ब्राह्मण-पुजारी एवं शिक्षक
2. भाट-पारिवारिक चारण और शजर (bard and geneologist)
3. कायस्थ-लेखाकार
4. सुनार-सुनार
5. माली-फूल लाने वाला
6. काछी-सब्जी पैदा करने वाला
7. लोध-चावल उत्पादक
8. बढ़ई एवं लुहार-लकड़ी का कारीगर और लोहे का कारीगर
9. नाई-दाड़ी, बाल काटने वाला
10. कहार-पानी भरने वाला
11. गड़रिया-ढोर चराने वाला
12. भड़भूजा-भुना अनाज तैयार करने वाला
13. दर्जी-कपड़े सिलने वाला
14. कुम्हार-मिट्टी के बर्तन बनाने वाला
15. महाजन-व्यापारी
16. तेली-तेल पेरने वाला
17. धोबी-कपड़े धोने वाला
18. धानुक-चटाई बुनने वाला
19. चमार-चमड़ा निकालने वाला
20. भंगी-झाडू लगाने वाला
21. फकीर-वंशागत मुसलमान भिखारी
22. मनिहार-मुसलमान चूड़ी बेचने वाला
23. धुनिया-मुसलमान रुई धुनने वाला
24. तवायफ-मुजरा करने वाली

करीमपुर में जजमानी व्यवस्था और अधिकार पर अपनी चर्चा में वाइजर ने निम्नलिखित

विवरण दिया है।

I. प्राप्ति के माध्यम (Means of Realization)

(अ) सेवाएँ

(ब) निर्धारित भुगतान

(1) दिहाड़ी

(2) मासिक

(3) द्विवार्षिक

(4) प्रत्येक काम के हिसाब से

(5) विशेष अवसर

स. रियायतें (Concessions)

(अ) रहने के स्थान की मुफ्त व्यवस्था

(ब) मुफ्त की लकड़ी

1. भवन निर्माण एवं मरम्मत के लिए

2. औजारों के लिए

3. ईंधन के लिए

4. अंत्येष्टि के लिए

स. मुफ्त भोजन (Free Food)

(1) हरी सब्जियाँ

अ. फल

ब. अनाज

(1) जंगली चावल

(2) खेत का बचा-खुचा अनाज

(3) चने का सीधा उपहार

(4) पका हुआ भोजन और कच्ची चीनी

द. मुफ्त कपड़ा

ड. मवेशियों के लिए मुफ्त खाना

(1) चराने का अधिकार

(2) चारा

च. मुफ्त गोबर

(1) ईंधन के लिए

(2) दीवारों और फर्श की लिपाई के लिए

(3) खाद के लिए

छ. किराया माफ भूमि

ज. कर्ज की सुविधाएँ

(1) पुरुषों के लिए

(2) महिलाओं के लिए

ट. औजारों, हल आदि और जोतने वाले पशुओं का मुफ्त प्रयोग

ठ. कच्चे माल का मुफ्त प्रयोग

ड. मुफ्त की खाल

ढ. चिता जलाने के लिए मुफ्त भूमि

त. आकस्मिक अवकाश

थ. मुकदमें में सहायता

द. खुराक की किस्म

छ. स्वास्थ्यप्रद स्थान

II. रख-रखाव के साधन

(1) प्रथाएँ एवं मान्यताएँ

(2) गाँव के बुजुर्गों का प्रभाव

(क) काम करने वाले से संबंधित

(ख) जजमान से संबंधित

3. हिंदुओं की पवित्र पुस्तकों में

(क) मानव का स्थान

(ख) मानव के कर्त्तव्य

(ग) मानव का सर्वोच्च लक्ष्य

4. राज्य का कानून

ऑस्कर लेविस (1956) ने यह सही कहा है कि इस प्रणाली के अंतर्गत गाँव में रहने वाले हरेक जाति समूह को अन्य जातियों के परिवारों को एक निश्चित मानदंड के अनुसार सेवाएँ प्रदान

करनी होती हैं। पॉलिन कोलियेन्डा (1963) इस प्रणाली को वितरणपरक व्यवस्था बताती हैं जिसके अंतर्गत उच्च जातियों के भूस्वामी परिवार जिन्हें जजमान कहा जाता है, उन्हें विभिन्न निम्न जातियों द्वारा सेवाएँ एवं उत्पाद उपलब्ध कराए जाते हैं। इस प्रकार यह प्रणाली भारतीय कृषि आधारित गाँव में श्रम के कार्यानुसार विभाजन को स्पष्ट करती है जिसमें भूमिका (role) संबंधों और भुगतान की श्रृंखला बनती है। यह व्यवस्था परंपरा के अनुसार ही चलती रही है और आपसी विश्वास तथा एक-दूसरे पर निर्भरता इसका सातत्य बनाए हुए है। इसलिए इसे भारतीय कृषिक व्यवस्था में जाति पर आधारित कार्यात्मक अंतरनिर्भरता (functional Inter-dependence) की योजना भी कहा जा सकता है। जजमानी प्रणाली की सामाजिक गतिकी (social dynamics) का वर्णन करते हुए एस. सी. दूबे (1953) कहते हैं कि किसी कृषक के लिए अपने परिवार से जुड़े किसी परिवार को हटाकर किसी दूसरे की सेवाएँ प्राप्त करना आसान नहीं था। जातीय पंचायत द्वारा सजा दिए जाने के डर से उसके बदले कार्य करने के लिए अन्य कोई तैयार नहीं होगा। डेविड मेंडलबॉम (1972) भारतीय गाँवों के गहन अध्येता रहे हैं और उन्होंने जजमानी प्रथा की भीतरी कार्यप्रणाली पर ध्यान दिया है। उनका कहना है कि जजमानी संबंध मूलतः पारिवारिक स्तर पर ही संचालित होते हैं। भू-स्वामी राजपूत परिवार के जजमानी रिश्ते ब्राह्मण, नाई, बढ़ई आदि के एक-एक परिवार से रहते हैं तथा 'सेवक जातियों' में से प्रत्येक का एक परिवार जजमानों के विशिष्ट परिवारों को अपनी सेवाएँ देता है, लेकिन जजमानी नियमों को जातीय पंचायतें क्रियान्वित कराती हैं।

जजमानी रिश्ते अटूट होते हैं। जजमानी अधिकार को पिता से पुत्र के हाथ में जायदाद के हस्तांतरण का एक प्रकार भी माना जा सकता है। यह संबंध एक प्रकार से स्थानीय पंरपराओं से ही अधिकतर संचालित होते हैं। कुल मिलाकर जजमानी प्रणाली में आधिपत्य, शोषण एवं संघर्ष ही प्रमुख तौर पर निहित हैं। भू-स्वामी प्रभुतासंपन्न संरक्षकों तथा उनकी सेवा करने वाले गरीब कारीगरों और भूमिहीन मजदूरों के बीच सत्ता के प्रयोग में भारी खाई विद्यमान रही है।

जजमानी प्रणाली की एक और महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि जजमानी संबंधों का संचालन हालाँकि ग्रामीण स्तर पर ही होता है फिर भी अक्सर वे किसी एक गाँव तक ही सीमित नहीं रहते। क्योंकि सभी गाँवों में सभी कारीगर जातियाँ नहीं होतीं इसलिए कारीगर जातियों की सेवाएँ अन्य गाँवों से भी अक्सर उधार ली जाती हैं। इसके अलावा सुनारों, लुहारों और बढ़ई जैसी कारीगर जातियों के लिए एक ही गाँव से पूरे साल रोजगार योग्य काम जुटाना संभव नहीं है। इसलिए ऐसी जातियाँ एक सीमित क्षेत्र में कई गाँवों की आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं। उपसंहार के रूप में यह कहा जा सकता है कि जजमानी प्रथा युगों पुरानी सामाजिक संस्था है जो भारतीय गाँवों में प्रचलित अंतरजातीय तथा अंतरपारिवारिक सामाजिक-आर्थिक-राजनैतिक और धार्मिक संबंधों को परिलक्षित करती है। यह भारत में कृषि के सामाजिक संगठन के सबसे महत्त्वपूर्ण अवयवों में शामिल है।

जजमानी प्रथा का पतन

भारतीय अर्थव्यवस्था के धीरे-धीरे हुए आधुनिकीकरण के समांतर जजमानी प्रथा का भी पतन हो रहा है लेकिन आजादी के बाद की अवधि में इस प्रथा का तेजी से पतन हुआ है। मोटे तौर पर जजमानी प्रथा के पतन को निम्नलिखित शीर्षकों में बताया जा सकता है।

(अ) सरकार (राज्य) की भूमिका (role of thestate)

(ब) प्रौद्योगिकी अन्वेषणों और औद्योगीकरण की शुरुआत (Introduction of technological innovations and industrialization)

(स) दलितों और पिछड़ी जातियों की राजनैतिक लामबंदी (political mobilization of dalit and backward classes)

पारंपरिक रूप में जजमानी प्रथा पर चलने वाले गाँवों की अर्थव्यवस्था प्रारंभिक स्तर पर गुजर-बसर की अर्थव्यवस्था (subsistence economy) थी, जिसका लक्ष्य स्थानीय आबादी की उपभोग संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति करना था। स्थानीय आत्मनिर्भरता और श्रम एवं पूंजी में ठहराव के कारण कृषि का व्यवसायीकरण और पूंजीवादी रूपांतरण नहीं हो पाया। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद जानबूझकर नियोजित ढंग से यह प्रयास किया गया कि ग्रामीण अर्थव्यवस्था को क्षेत्रीय एवं राष्ट्रीय मंडियों से जोड़ा जाय। इस कार्य को सुचारु बनाने के लिए सरकार ने यातायात एवं संचार श्रृंखलाओं के विस्तार के लिए बड़े पैमाने पर पूँजी निवेश किया। सरकार की नीतियों से ग्रामीण भारत में अर्थव्यवस्था का तेजी से मौद्रीकरण (monetization) हुआ। बढ़ती हुई आबादी का पेट भरने के लिए सरकार की कार्यसूची में कृषि में उत्पादकता का सवंर्द्धन प्राथमिकता का विषय था।

स्वतत्रंता प्राप्ति के तत्काल बाद अपनाए गए नियोजित विकास की प्रक्रिया से कृषि क्षेत्र में पूँजीवादी रूपांतरण हुआ। इसके अलावा सरकार ने ऋण सुविधाएँ, प्रौद्योगिक जानकारी, खाद, सिंचाई और अधिक उपजाऊ बीज आदि उपलब्ध कराने की भी पहल की। इसके कारण भूस्वामी वर्ग की मानसिकता में आमूलचूल परिवर्तन हुआ और बाजार की शक्तियों के आने के कारण उन्हें सदियों पुरानी जजमानी प्रथा को जिन्दा रखने के बजाय उन्हें बिक्री के लिए अधिक उत्पादन करने का प्रोत्साहन मिला। इससे भूस्वामी वर्गों तथा खेतिहर मजदूरों एवं कारीगरों के बीच ठेके पर आधारित संबंधों को बढ़ावा मिला। पारंपरिक अनौपचारिक संबंधों की जगह औपचारिक ठेकेदारी दायित्वों के अनुरूप औपचारिक संबंधों की शुरुआत होने लगी।

प्रौद्योगिक अंवेषणों और औद्योगीकरण से एक स्थिति ऐसी आई कि जिसमें कार्यात्मक अंतरनिर्भरता की कोई संभावना ही नहीं बची। मशीनों से तैयार सामानों के बाजार पर छा जाने और दूर-दराज के ग्रामीण क्षेत्रों तक पहुँच जाने के कारण ग्रामीण कारीगरों को सीधे यंत्रों से स्पर्धा करने पर मजबूर होना पड़ा। आइए कुछ साधारण सी प्रौद्योगिक खोजों व उनके प्रभावों का जायजा लें:-

दाढ़ी बनाने के लिए सेफ्टी रेजर की विश्वसनीयता बढ़ने और उसके कारण उसका प्रयोग

बढ़ने की वजह से अपने हाथ से दाढ़ी बनाने का रिवाज चल निकला और गाँव के नाई का काम घट गया। स्टेनलेस स्टील के बर्तनों के आविष्कार से गाँव के कुम्हार का महत्त्व घटा और गाँव में बरमे यानि हैंडपंप लग जाने के कारण उच्च जातियों की कहारों (पानी खींचकर उसे घरों तक पहुँचाने वाले) पर निर्भरता कम हुई। इस सबके कारण अधिकतर कारीगर जातियाँ बेरोजगार हो गईं। इनमें से कई जातियों ने बाजार का रुख किया अथवा अपनी सेवाएँ औपचारिक आर्थिक लेनदेन के अंतर्गत नकद भुगतान के बदले देनी शुरू कर दीं। इसके साथ ही सेवक जातियों के नए उभरते शहरी केंद्रों और औद्योगिक बस्तियों में पलायन का सिलसिला शुरू हो गया। गाँव में छूट जाने वाले लोगों ने भूस्वामी अभिजात की जमीनों पर दिहाड़ी मजदूरी अपना ली। इस प्रकार ग्रामीण अर्थव्यवस्था अब अधिकांश शहरी और राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था से एकीकृत होने लगी।

आजादी से पहले राष्ट्रवादी आंदोलन में सामाजिक समानता के बारे में एक सैद्धांतिक और लगभग अर्द्धवैचारिक प्रतिबद्धता दिखाई दी थी। कमजोर वर्गों-दलित, आदिवासियों और पिछड़ी जातियों से समतामूलक और अन्याय और शोषण मुक्त नए समाज की स्थापना का वायदा किया गया था। उस दृष्टि से पिछड़ी जातियों के आंदोलनों ने भारत के दक्षिणी और पश्चिमी क्षेत्रों में अपना रंग जमा लिया था। संविधान के लागू हो जाने से सरकार उनके कल्याण और सशक्तिकरण के लिए प्रतिबद्ध हो गई।

वर्तमान भारतीय समाज में एक अत्यंत स्थायी महत्त्व का परिवर्तन दलितों एवं अन्य पिछड़े वर्गों में अपनी पहचान की नई भावना का प्रस्फुटन है। भारतीय जनसंख्या के पिछड़े वर्गों का लोकतंत्र में अपनी हिस्सेदारी के लिए संघर्ष और देश के विभिन्न हिस्सों में उनकी राजनैतिक लामबंदी शोषणमूलक जजमानी प्रथा के लिए गंभीर चुनौती साबित हुई। जजमानी प्रभाव भूस्वामी उच्च जातियों की पारंपरिक कृषि पर निर्भर अर्थव्यवस्था में उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण के साथ उनके एकाधिकारवादी अधिकार पर आधारित थी। पिछड़े वर्गों द्वारा नए आत्मविश्वास और लोकतंत्र में हिस्सेदारी के लिए उनके संघर्ष से जजमानी प्रथा पतन के गर्त में जा रही है। इसके बावजूद इस तर्क में भी दम दिखाई दे रहा है कि कमजोर वर्गों द्वारा इस प्रकार प्राप्त किए गए अधिकारों का नई आर्थिक नीतियों और वैश्वीकरण से फिर हनन होने के आसार बन रहे हैं।

भूधारी या पट्टेदारी व्यवस्था (Land Tenure System)

भूमि-प्रबन्धन कृषि व्यवस्था और कृषिक सम्बन्धों का प्रमुख हिस्सा है। कृषि-भूमि पर किरायेदारी का तात्पर्य 'कृषि भूमि' को अस्थायी तौर पर उस व्यक्ति को देना है जो वास्तविकता में अपने श्रम से उस पर खेती करता है और खेती की उपज के रूप में या नकद पैसे के रूप में भूमि का किराया अदा करता है। भूमि-मालिक के लिए वह भूमि सामाजिक हैसियत की प्रतीक होती है जिससे उसे अनर्जित आय (unearned income) होती है। ऐसी स्थिति में भूमि-मालिक की उस भूमि के सुधार को लेकर कोई विशेष रुचि नहीं होती है क्योंकि भूमि व उस पर खेती उसकी आय का प्रमुख साधन नहीं है। इस तरह की भूमि किरायेदारी (land tenure) भूमि पर मालिक द्वारा

खेती करने से काफी निम्न श्रेणी की मानी जाती है।

यदि हम भूमि किरायेदारी व्यवस्था की समस्या पर निगाह डालें तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि यह समस्या ब्रिटिश राज की देन है। इस तरह की भूमि व्यवस्था साम्राज्यवादियों के हितों का पोषण करती थी। पूर्व ब्रिटिश काल में भारत में भूमि-व्यवस्था की मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार थीं :

- यह स्वआश्रित (self reliant) भूमि व्यवस्था थी जिसमें वस्तु विनिमय व्यवस्था (अनाज के बदले अन्य सामानों का लेन-देन) प्रचलित थी।
- खेतिहर अपनी आजीविका के लिए किसी पर निर्भर नहीं थे। वे अपनी उपज का 1/8वाँ भाग लगान के रूप में अदा करते थे।
- राजा का कार्य कर इकट्ठा करके अनाज को सुरक्षित रखना और उसके लाने ले जाने की व्यवस्था करना था (आर.पी. दत्त, 1979)।

ब्रिटिश राज के आने के बाद मोटे तौर पर तीन प्रकार की भूमि-व्यवस्था अस्तित्व में आयीः

ज़मींदारी व्यवस्था

इस व्यवस्था में मुख्य भूमिका भूमि के मालिकों (ज़मींदारों) की थी। ज़मींदार सरकार और भूमि पर अन्न उपजाने वाले किसानों के बीच मध्यस्थ थे। यह व्यवस्था ईस्ट इंडिया कम्पनी द्वारा 1765 में बंगाल, बिहार और उड़ीसा में कर इकट्ठा करके मुगल साम्राज्य को अदा करने के चलते अस्तित्व में आयी।

स्थायी व्यवस्था (permanent settlement) के तहत 1793 में लार्ड कार्नवालिस ने ज़मीन पर मालिकाना हक ज़मींदारों को दिया। ये अपनी इच्छानुसार किसी को भी खेती करने के लिए ज़मीन दे सकते थे और अपने हिसाब से खाली करवा सकते थे। सरकार को कर देने की जिम्मेदारी ज़मींदारों की थी। ये भूमि के गैर-कृषक मालिक थे। ज़मींदारी-व्यवस्था दो स्थितियों में थी : 1. स्थायी व्यवस्था, 2. अस्थायी व्यवस्था।

स्थायी व्यवस्था के अन्तर्गत भूमि पर कर लम्बे समय के लिए तय किया जाता था जबकि अस्थायी व्यवस्था में कर व्यवस्था थोड़े समय के लिए थी। राजनीतिक शब्दों में कहें तो ज़मींदार अंग्रेजों के हाथों की कठपुतली बनकर रह गये थे।

रैयतवारी व्यवस्था

इस व्यवस्था के अन्तर्गत एकल किरायेदारी (single tenure) थी। 1792 में यह व्यवस्था थॉमस मनरो ने मद्रास प्रान्त के लिए दी थी, लेकिन धीरे-धीरे बम्बई, मध्य प्रान्त, असम और कूर्ग में भी लागू हुई। रैयतवारी व्यवस्था में रैयत या रजिस्टर्ड भूमि मालिक को भूमि सीधे सरकार द्वारा दी जाती थी जिसमें कोई मध्यस्थ नहीं होता था। उसकी किरायेदारी जब तक वह उस पर खेती करता रहे तब तक की थी। दखल पट्टा (occupancy tenure) व्यवस्था में किरायेदारी 20-30 वर्ष तक होती थी। भूमि का कर सरकार द्वारा भूमि की उपज के अनुसार तय

होता था।

महलवाड़ी व्यवस्था

इस व्यवस्था में गाँव समूह या संयुक्त रूप से गाँव की किरायेदारी तय होती थी। 1833 में यह व्यवस्था आगरा और अवध में प्रचलित हुई। फिर पंजाब और मध्य प्रान्त के कुछ क्षेत्रों में प्रचलित हुई। इस व्यवस्था में पूरा महाल (mahal) गाँव भूमि की ज़मींदारी से सम्बन्धित होता था। इस व्यवस्था का पूरा आधार समुदाय विशेष की समूहगत व्यवस्था थी। नम्बरदार (गाँव प्रधान) की मालगुजारी (कर) वसूलने की जिम्मेदारी थी और वही उसे सरकारी खज़ाने में जमा कराता था। बेकार भूमि, पेड़, कुएँ, तालाब इत्यादि सारे गाँव की सार्वजनिक सम्पत्ति हुआ करते थे।

आजादी के बाद किरायेदारी कानून में अनेक संशोधन किये गये। वास्तविकता यह है कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ज़मींदारों, बिचौलियों और खेतिहरों के परजीवियों को समाप्त करने के लिए कृतसंकल्प थी। यद्यपि 'जमीन पर बोने वाले का अधिकार' (tiller of the soil) पूरी तरह से तो नहीं लागू हो पाया, फिर भी कृषि व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आये। भूमि-सुधार के कई नये कानून आये तथा परिवर्तन के नये आयाम सामने आने लगे।

परिवर्तनशील कृषिक संरचना (Changing Agrarian Structure)

जब प्रसिद्ध ब्रिटिश इतिहासकार, एरिक हाब्सबॉम ने अपनी पुस्तक **'एज ऑफ एक्सट्रीम्स'** में घोषित किया कि "इस शताब्दी के उत्तरार्ध का सर्वाधिक नाटकीय परिवर्तन खेतिहरों की समाप्ति है जो हमें हमेशा के लिये अतीत से अलग कर देती है" तो निश्चय ही, उन्होंने यह शब्दशः नहीं कहा। वे केवल पूरे संसार में कृषि में लगे श्रमिकों के अनुपात में बहुत ज्यादा गिरावट की ओर इंगित कर रहे थे।

उप-सहारा अफ्रीका और दक्षिण एशिया इस नियम के अपवाद सिद्ध हुए। भारत में 1950 से 1970 तक कृषि, कारखानों और नौकरियों में श्रमिकों का वितरण कमोबेश अपरिवर्तित रहा और बाइरस ने इसको एग्रीकल्चरल स्टैसिस (agricultural statis) की संज्ञा दी। उपरांत भी कृषि से श्रमिकों का स्थानान्तरण बहुत धीमा और आकस्मिक था।

तालिका : 1

कृषि में कुल श्रम-शक्ति का प्रतिशत भाग

देश	1960	1990
फ्रांस	22	5
जापान	33	7
ब्राजील	52	23
मैक्सिको	55	28
कोरिया गणराज्य	66	17

स्रोत : टी. जे. बाइरस (2003), **'स्ट्रक्चरल, चेंजेस, द एग्रेरियन क्वेश्चन एण्ड पॉसबिल इम्पेक्ट ऑफ ग्लोबाइजेशन'** इन जयन्ती घोष एण्ड सी. पी. चन्द्रशेखर (ई. डी.), वर्क एण्ड वेल बीईंग इन द एज ऑफ फाइनेंस, दिल्ली : भूमिका।"

तालिका : 2

श्रमिकों का वितरण (साधारण स्तरों के संदर्भों में) : भारत

उद्योग	1972-73	1977-78	1982-83	1987-88	1993-94	1999-2000
1. कृषि	73.9	71.0	68.6	65.0	63.9	59.8
2. खनन एवं उत्खनन	0.4	0.4	0.6	0.7	0.7	0.6
3. निर्माण उद्योग	8.8	10.2	10.7	11.1	10.7	11.1
4. विद्युत, गैस और ऊर्जा	0.2	0.3	0.3	0.3	0.4	0.3
5. भवन निर्माण	1.9	1.7	2.2	3.8	3.2	4.4
6. व्यापार	5.1	6.1	6.2	7.2	7.6	10.4
7. परिवहन और भण्डारण	1.8	2.1	2.5	2.6	2.9	3.7
8. सेवाएँ	7.9	8.1	8.9	9.3	10.7	9.7
सारी	**100**	**100**	**100**	**100**	**100**	**100**

स्रोत : 1. **इण्डियन जर्नल् ऑफ लेबर इक्नोमिक्स**, वाल्यूम, 39, 1996।

2. **इक्नोमिक एण्ड पॉलिटिकल वीकली,** 17 मार्च, 2001 (पी. पी. 931-40)।

जैसा कि तालिका- 2 से स्पष्ट है कि कृषि में श्रमिकों का भाग 1972-73 और इसके उपरांत धीमी गति से कम हुआ था और निर्माण एवं सेवाओं में सहभागिता थोड़ी सी बढ़ी थी। 1987-88 और 1993-94 के बीच श्रमिक विविधता की प्रक्रिया को धक्का लगा और उद्योग निर्माण के क्षेत्र में श्रमिकों की भागीदारी घटी और कृषि क्षेत्र में भागीदारी में गिरावट रुक गई। इस दौरान ग्रामीण महिला श्रमिकों की कृषि में भागदारी बढ़ी। 1993-94 से 1999-2000 तक कृषि का भाग 4 प्रतिशत कम हुआ है। यह विस्थापित श्रम शक्ति मुख्यतः व्यापार और परिवहन के क्षेत्र में लग गई। निर्माण उद्योग क्षेत्र में इनकी वृद्धि सीमित है।

कृषिक व्यवस्था में संक्रमण - एक राजनीतिक आर्थिक प्रक्रिया

पूँजीवाद के विकास के साथ कृषि से उद्योग (और सेवाओं) में श्रमिकों का ढाँचागत स्थानान्तरण केवल एक यांत्रिक प्रक्रिया नहीं है। इसमें राजनीतिक आर्थिक तथ्य शामिल हैं। यह कृषि और उद्योग दोनों में बदलते हुए उत्पादन आधारों (तकनीकी, उत्पादकीय ढाँचा और सम्पत्ति संबंधों) से सम्बन्धित है। ये बदलाव एक ओर श्रमिकों की मुक्ति और दूसरी ओर इसकी खपत को उत्पन्न करते हैं। दो क्षेत्रों के बीच अन्तर-क्रिया जटिल है और श्रमिकों के एकदिशीय प्रवाह

के बजाय स्पष्टतः बहुदिशीय प्रवाहों को सम्मिलित किये हुए है।

शुरू से ही, काम करने वाले लोगों की बड़ी संख्या कृषि में है और वहीं एक बड़ी मात्रा में राष्ट्रीय उत्पाद पैदा किया जाता है। जब कृषि में उत्पादकता बढ़ती है और अधिभाग एकत्र हो जाता है तो गाँव उद्योग निर्माण के विकास में योगदान देते हैं। निर्माण उद्योग के लिये गाँव श्रमिक, वेतन, वस्तुएँ और कच्चा माल उपलब्ध कराते हैं और घरेलू बाजार उत्पन्न करते हैं। उद्योग इसके बदले में बाजार देता है और कृषि के लिये नया कच्चा माल देता है, जिससे इसकी उत्पादकता और बढ़ती है। इस प्रक्रिया के साथ-साथ दोनों सिरों पर उत्पादन संबंधों में, क्रान्तिक परिवर्तन होते हैं जिनके कारण नियंत्रक और अधीनस्थ वर्गों की उत्पत्ति होती है। कृषि से उद्योगों में अधिभाग का यह स्थानान्तरण 'प्राथमिक संचय' के रूप में वर्णित किया गया है अर्थात् उत्पादन के पूर्व-पूंजीवादी उत्पादन माध्यम में अधिभाग का स्थानान्तरण और अन्ततः खेतिहर अर्थव्यवस्था का स्वयं ही पूँजीवादी कृषि व्यवस्था में संक्रमण।

इतिहास में कृषि-उन्मुखी परिवर्तन के विभिन्न रास्ते खोजे जा सकते हैं। टी. जे. बाइरस ने अपनी पुस्तक और विभिन्न लेखों में इन मार्गों के विस्तृत ऐतिहासिक विवरण प्रस्तुत किये हैं। ये मार्ग गाँव में वर्ग प्रतिनिधियों के उदय के सन्दर्भों में आवश्यक रूप से भिन्न हैं जो संरचना और उसके परिणामस्वरूप औद्योगिकीकरण की प्रक्रिया पर प्रकाश डालते हैं। लेनिन ने प्रक्रिया में परिवर्तन को 'ऊपर से पूँजीवाद' वर्णित किया था। सामंती ज़मींदार- जंकर्स पूँजीवादी कृषक वर्ग बन गये। यूनाइट स्टेट्स के उत्तर और पश्चिम में यह 'नीचे से पूँजीवादी' था। पूँजीवाद, छोटी वस्तुओं में उत्पादक वर्ग- खेतिहरों से उपजा। फ्रांस में, अड़ियल खेतिहरों ने काफी लम्बे समय तक पूँजीवादी प्रभाव को जगह नहीं बनाने दी और उसे हताश किया।

जिस भी स्तर से पूँजीपति कृषक वर्ग का उदय होता है और यह होता भी है या नहीं, यह पूर्व-पूँजीवादी ढाँचों और सम्पत्ति सम्बन्धों तथा कृषिवादी संक्रमण के मध्य में राज्य की केन्द्रीय भूमिका पर निर्भर करता है।

भारतीय कृषि में ढाँचागत अवरोध

ऐतिहासिक परिद्रष्य

भारत में पूर्व-पूँजीवादी कृषि-व्यवस्था में बढ़ती हुई उत्पादकता से उत्पन्न पूँजीवादी औद्योगिकीकरण की संभावनाओं को औपनिवेशिक शासन ने समाप्त कर दिया। साम्राज्यवादी हितों के अनुरूप कठोर भूमि-राजस्व तंत्र और कृषि के व्यवसायीकरण ने वर्तमान कृषक अर्थव्यवस्था के उत्पादन आधार को नष्ट कर दिया। कृषकों के बड़े वर्ग दरिद्र बना दिये गये या लगभग भूमिहीन कर दिये गये थे। वर्ष 1931 में 32 प्रतिशत ग्रामीण श्रमिक भूमिहीन के रूप में वर्गीकृत किये गये। दूसरी तरफ, भूमि और परिणामस्वरूप उत्पन्न अधिभाग कुछ हाथों में सिमट कर रह गया। इस अधिभाग का उपयोग न तो कृषि उत्पादकता को बढ़ाने के लिये किया गया और न ही निर्माण में वृद्धि को प्रेरित करने के लिये किया गया। घरेलू बाजार के सीमित आकार के कारण दोनों प्रक्रियायें अवरुद्ध हो गई थीं। एक उपनिवेश के रूप में भारत ने ब्रिटिश उद्योगों को न केवल

कच्चा माल ही उपलब्ध कराया बल्कि ब्रिटिश निर्माताओं को बाजार भी उपलब्ध कराया।

निर्माण उद्योग के सीमित विकास ने शिल्पकारों की जगह ले ली। लेकिन ये गरीब किसान के लिये पर्याप्त संख्या में बहुत से रोजगार उत्पन्न नहीं कर पायी। जड़ों से उखड़े किसान कृषि में स्वयं के लिये जीविकोपार्जन के अवसर ढूँढ़ने के लिये मजबूर थे। इससे बहुत ऊँचे किराये पर पट्टे की जमीन का बाजार और जीवन-निर्वाह से भी नीची दर पर मजदूरी का एक श्रमिक बाजार उत्पन्न हुआ। भूमिहीन और गरीब किसानों ने उत्पादक का स्तर प्राप्त करने के लिये जमीनें पट्टे पर लीं और अपनी आय में पूरक के रूप में उपभोगी ऋण लिये। पट्टे पर जमीन देकर और सूदखोरी के द्वारा ज़मींदार ज्यादा लाभ प्राप्त कर सके। उत्पादक उद्यमिता में निवेश हेतु उनके पास बहुत कम प्रेरणा थी। खेतिहर मजदूरों को लगाकर उन्होंने अपनी जमीनों में उपज पैदा की। इन खेतों की विशेषता कम खर्च और निम्न स्तर की तकनीकी का प्रयोग था। खेतिहर श्रमिक अन्यत्र अवसरों के अभाव, दमनकारी जाति संबंधों और ऋण बन्धता के द्वारा इन खेतों से बँधा था। जैसा कि उत्सा पटनायक ने स्पष्ट कहा है कि यह पूँजीवादी खेती नहीं थी। (देखें उत्सा पटनायक (1990), **ऐग्रेरियन रिलेशन एण्ड एक्यूमूलेशन**, दिल्ली : आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस)।

अधिभाग के पुनर्निवेश के साथ पूँजीवादी खेती बागानों तक ही सीमित रही थी। ये बहुत छोटी विदेशी स्वामित्व वाले निर्यातोन्मुखी स्थल थे।

संक्षेप में, औपनिवेशिक शासकों से हमें विरासत में मिले कृषि ढाँचे की विशेषता, भूमि और अन्य संसाधनों का अत्यन्त असमान वितरण थी। प्रति व्यक्ति अनाज की उपलब्धता और उत्पादन में गिरावट से कृषि का विकास अवरुद्ध था। किराये और सूदखोरी द्वारा धन-वृद्धि संभावना ने उत्पादक उद्यमिता में अधिभाग के निवेश को बाधित कर दिया था।

स्वातन्त्रोत्तर काल में उत्पादन-परिस्थितियों के विकास और उत्पादन-संबंधों को समझने में यह ऐतिहासिक परिद्रष्य काफी सहायक है। यह आज के नव-उदार तंत्र और तब के उपनिवेशिक शासन के बीच समानता को भी इंगित करता है।

असफल भूमि सुधार

'भूमि-सुधार', 'राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आन्दोलन' के आर्थिक कार्यक्रम का एक महत्त्वपूर्ण अंग था। कृषि भूमि उपलब्ध कराके ग्रामीण भारत में भूमि और अन्य संसाधनों के समतापूर्वक वितरण को प्राप्त करने और दमन और शोषक सामन्ती संबंधों को समाप्त करने के उद्देश्य से स्वतन्त्रता के पश्चात् एक विस्तृत कानून की रूपरेखा तैयार की गई थी। सामान्य तौर पर सभी एकमत हैं कि 'भूमि-सुधार' कार्यक्रम अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने में पूर्णतया असफल हो गया। अप्रत्यक्ष ज़मींदारी और बिचौलियों के उन्मूलन के बावजूद भी उच्च जाति के धनी ज़मींदारों ने राजनीतिक, प्रशासनिक और न्यायिक तंत्र के द्वारा सामन्ती प्रभुत्व को कायम रक्खा। जहाँ कहीं भी सामन्ती हितों के वर्चस्व को कम करने की दिशा में कुछ प्रगति की गई, धनी कृषकों ने बहुत जल्दी ही उसे राजनीतिक और आर्थिक स्तर पर अपने प्रभुत्व को बढ़ाकर पूर्ण कर लिया। राज्यों में काश्तकारी कानूनों ने केवल काश्तकारी (tenancy) को भूमिगत करने में असफलता प्राप्त

की। प्रच्छन्न और अनौपचारिक काश्तकारी ने निर्धन और सीमान्त काश्तकारों के दु:ख को बढ़ाया। भूमि प्रतिबन्ध और भूमि के पुनर्वितरण के थोपे जाने के परिणाम नगण्य ही रहे हैं। केवल भूमि के बहुत छोटे हिस्से का ही पुनर्वितरण किया गया और यह अधिकतर बंजर और निम्न श्रेणी की ही भूमि थी।

कानून बनाने और राज्य स्तर पर इसके क्रियान्वयन के संबंध में अत्यधिक अंतर है। इस प्रकार, बिहार में अर्ध सामन्तवाद सुरक्षित रहा किंतु पश्चिम बंगाल और केरल में मार्क्सवादी सरकारों ने ग्रामीण उत्पादन आधारों को परिवर्तित करने में सफलता प्राप्त की। पंजाब में भूमि की चकबंदी को प्रभावशाली ढंग से किया गया जो कि आधुनिक तकनीकी और मशीनीकरण की शुरुआत के लिये महत्त्वपूर्ण था। इस प्रकार यह आवश्यक है कि अखिल भारतीय स्तर पर इस संबंध में कोई योग्य निर्णय लिया जाय। वास्तव में, यहाँ भिन्नता इतनी ज्यादा है कि कुछ विद्वानों के अनुसार सारे भारतवर्ष में एक जैसा निर्णय लिया जाना व्यर्थ है।

एक दशक के उपरान्त 'हरित-क्रान्ति', भूमि सुधार के मुद्दे को पीछे धकेल कर, सामने आ गई।

हरित क्रान्ति और पूँजीवादी कृषि का प्रसार

जब कृषि व्यवस्था सामंती वर्चस्व पर आधारित थी तब नयी तकनीक (उच्च उपज वाले बीजों) की शुरुआत की गयी थी। बहुत से छोटी, सीमान्त और भूमिहीन इकाइयों का अस्तित्व ज़मींदारों को पट्टे और सूदखोरी के द्वारा धन संचय के योग्य बनाता था। ऊँचे भूमि के किराये (लगान) और ऊँची ब्याज-दर पूँजीवादी कृषि के विकास में अलंघनीय बाधा उत्पन्न करते थे। केवल तकनीकी बदलाव के द्वारा ही, जो कि अपेक्षित लाभों में मात्रात्मक वृद्धि की आशा उत्पन्न करते हैं, अधिभाग को उत्पादक क्रिया-कलापों में लगाया जा सकता है। ये बदलाव एच.वाई.वी. बीजों के साथ सिंचाई, उर्वरकों और कीटनाशकों के संयुक्त प्रयोगों द्वारा प्राप्त किये जाते हैं।

कृषि में आवश्यक वृद्धि अमीर कृषक और ज़मींदारों के भरोसे पर प्राप्त की जा सकती थी ऐसा अधिकारित मत था। इसी के अनुरूप इन लोगों को भौतिक और वित्तीय आधारभूत ढाँचा प्रदान किया गया। सरकारी तंत्र के माध्यम से एच.वाई.वी. बीज, अनुदानित उर्वरक तथा कीटनाशक उपलब्ध कराये गये थे। उसी समय, न्यूनतम कीमतों के निर्धारण द्वारा अनुकूल बाजार परिस्थितियाँ भी उत्पन्न कर दी गई थीं।

आरम्भ में नयी तकनीकी का विस्तार, सिंचित गेहूँ पट्टी वाले राज्यों पंजाब, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश तक ही सीमित था। 1970 के मध्य तक चावल की पैदावार में एक नयी खोज की गई और ये पश्चिमी राज्यों में पहुँच गयी। 1980 के दौरान बंगाल के पूर्वी हिस्सों, उड़ीसा और बिहार आदि में इसका प्रसार हो गया। 1980 में ही रुई, तेल और मोटे अनाजों के संकर बीजों की शुरुआत हो गई, इस प्रकार नयी तकनीकि मध्यवर्ती राज्यों में प्रसारित की गयी। नयी तकनीकी के विस्तार के साथ पूँजीवादी उत्पादन का विस्तार किया गया है। किराये के श्रमिकों का अनुपात, बाजार का रुझान और पूँजी वृद्धि पर राज्यवार आँकड़ों के आरेख से

यह स्पष्ट होता है कि 1990 की शुरुआत तक पूँजीवादी कृषि ने लगभग सभी राज्यों में अपनी पैठ बना ली थी। (देखें सुचा सिंहगिल और रणजीत सिंह घमोन, **इण्डियन जर्नल् ऑफ लेबर इक्नॉमिक्स**, अक्टूबर, दिसम्बर- 2001)।

भारतीय कृषि में बढ़ती पूँजीवादी प्रवृत्ति के निम्न प्रभाव उल्लेखनीय हैं:-

1. कृषकों के मध्य असमानता में वृद्धि

राज्य ने बड़े कृषकों के लिये लाभ प्रदान करने वाले अवसरों के नये आयाम खोल दिये। कृषकों और ज़मींदारों ने स्वयं खेती करने के लिये पट्टे-बाजार से अपनी जमीन वापस ले ली। काश्त पर देने के बजाय काश्त पर लेने की प्रवृत्ति बढ़ी, विशेषकर उन हिस्सों में जहाँ पूँजीवाद ने स्वयं को स्थापित कर लिया था।

संसाधनों की सीमितता के कारण छोटे और मध्यवर्गीय कृषकों के लिये नयी तकनीकी का प्रयोग करना संभव नहीं था। हरित क्रान्ति ने संसाधनों के केन्द्रीयकरण को किस प्रकार बढ़ाया और इसने छोटे और सीमान्त कृषकों पर कुप्रभाव डाला, इस बारे में काफी साहित्य उपलब्ध है।

2. कृषि में रोजगार अवसर कम हुए

उत्पादकता में वृद्धि के लिये पूँजीवादी कृषि और निवेश के साथ-साथ कृषि कार्यों का यंत्रीकरण भी हुआ है। यह श्रमिकों की आवश्यकता तेजी से घटा देता है। छोटी और मध्यम कृषि में श्रम-योजन बढ़ा है क्योंकि पारिवारिक श्रम का उपयोग उन्हें मजदूरी को जीवन-निर्वाह स्तर से नीचे ले जाने के योग्य बनाता है। अंततः पूँजीवादी कृषि में रोजगार ढाँचे में अतिरिक्त श्रम-शक्ति की खपत के लिये जगह नहीं है। पूँजीवादी कृषि से कृषि क्षेत्र में श्रमिकों को खपा लेने की क्षमता अनिश्चित प्रकार से (अलबत्ता कम उत्पादकता और कम आय पर) नष्ट होती है। पंजाब, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में मजदूरी दर शेष भारत की अपेक्षा ऊँची है, किंतु रोजगार में लचीलापन (प्रति इकाई उपज में वृद्धि के साथ रोजगार में वृद्धि) लगभग शून्य अथवा उससे भी कम है।

3. सामाजिक सम्पत्ति संबंधों ने अधिभाग के स्थानान्तरण को अवरुद्ध कर दिया

धनी कृषकों के पास संचित अधिभाग निर्माण उद्योग में स्थानान्तरित नहीं हो पाया। अमीर कृषकों का आन्दोलन महाराष्ट्र, उत्तर प्रदेश, कर्नाटक और वास्तव में पंजाब और हरियाणा में उभरा। उन्होंने कृषि-कर में रुकावट डाली और कृषि व्यापार में अनुकूल शर्तों की माँग की। कृषि में संचित अधिभाग कुछ ही हाथों में केन्द्रित था। इस प्रकार सघन निर्माण उद्योग का विस्तार अवरुद्ध हुआ।

राज्य समर्थित औद्योगिकीकरण उद्योग में बुर्जुवाओं की आवश्यकताओं के अनुरूप था। राज्य ने भारी उद्योगों में निवेश किया जो कि पूँजी सघन थे और रोजगार के सीमित अवसर पैदा करते थे।

इस प्रकार सीमान्त और भूमिहीन परिवार कृषि में ही फँसे रहे। दो प्रश्नों, जो कि पूँजीवादी विकास के प्रसार और अस्तित्व से भिन्न हैं, से पता लगता है कि कृषि व्यवस्था में पूँजीवादी संबंधों ने किस दर तक अपनी जड़ें जमा ली हैं। क्या पूँजीवादी उत्पादन संबंधों ने स्वयं इतनी गहराई प्राप्त कर ली है कि इसे उत्पादन का प्रभावी माध्यम माना जा सके। विकल्पता क्या उन्होंने इतनी गहराई प्राप्त कर ली है कि पूँजीवादी संक्रमण की प्रक्रिया में कोई बाधा न उत्पन्न होने पाये? क्या निकट भविष्य में पूँजीवाद ही उत्पादन का प्रभावी माध्यम होगा? सभी विद्वानों ने 1980 में और 1990 की शुरुआत तक इन प्रश्नों का उत्तर स्पष्ट रूप से 'नहीं' कहा था।

तालिका 3, 4 और 5 स्वामित्व आधारित धारिता और कार्याधारित धारिता और गिनी गुणांक के वितरण या दो वितरणों के लिये अनुपात संकेन्द्रन को बताती है। बढ़ता हुआ संकेन्द्रन और कृषकों में विषमता की प्रवृत्ति को इन तालिकाओं से भली प्रकार समझा जा सकता है। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि पूँजीवादी कृषि के प्रवेश के बावजूद भी वर्ष 1991-92 में कृषि ढाँचे में छोटे और सीमान्त भूमि धारकों का वर्चस्व था। वे न केवल कुल कार्याधारित धारिता का 80.6 प्रतिशत हिस्से बल्कि उन्हीं के द्वारा जुताई क्षेत्र में 34.3 प्रतिशत का हिस्सा जोता जाता था।

तालिका : 3

ग्रामीण परिवारों में स्वामीगत धारिता का प्रतिशत वितरण

वर्ष	सीमांत (0-1 हेक्टेयर)		छोटे (1-2 हेक्टेयर)		अर्ध मध्यम (2-4 हेक्टेयर)		मध्यम (4-10 हेक्टेयर)		बड़े (>10 हेक्टेयर)	
वर्ष	धारिता	क्षेत्र	धारिता	क्षेत्र	धारिता	क्षेत्र	धारिता	क्षेत्र	धारिता	क्षेत्र
1960-61	60.06	7.59	15.16	12.40	12.86	20.54	9.07	31.23	2.85	28.24
1970-71	62.62	9.76	15.49	14.68	11.40	21.92	7.83	30.75	2.12	22.91
1980-81	66.64	12.22	14.70	16.49	10.78	23.38	6.45	29.83	1.42	18.07
1991-92	69.38	16.93	21.75	33.97	5.06	17.63	2.84	17.64	0.95	13.83

स्रोत : एग्रीकल्चर स्टेटिस्टिक्स एट ए ग्लान्स, गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया, 1993।

तालिका : 4

ग्रामीण परिवारों में कार्याधारित धारिता के वितरण का प्रतिशत

वर्ष	सीमांत (0-1 हेक्टेयर)		छोटे (1-2 हेक्टेयर)		अर्ध मध्यम (2-4 हेक्टेयर)		मध्यम (4-10 हेक्टेयर)		बड़े (>10 हेक्टेयर)	
वर्ष	धारिता	क्षेत्र	धारिता	क्षेत्र	धारिता	क्षेत्र	धारिता	क्षेत्र	धारिता	क्षेत्र
1960-61	39.1 (17.13)	6.9	22.6	12.3	19.4	20.7	14.0	31.2	4.5	29.0
1970-71	45.8 (21.25)	9.2	22.4	14.8	17.7	22.6	11.1	30.5	3.1	23.0

1980-81	56.0 (33.05)	11.5	19.3	16.6	14.2	23.6	8.6	30.1	1.9	18.2
1991-92	62.8 (37.70.13)	15.6	17.8	18.7	12.7	24.1	6.1	26.4	1.3	15.2

नोट : कोष्ठक में दिये गये आँकड़ों 0.4 हेक्टेयर से नीचे की प्रतिशत धारिता बताते हैं।

स्रोत : भूमि और पशुधन पर एन.एस.एस. का सर्वेक्षण 17वाँ, 26वाँ, 37वाँ और 48वाँ दौर।

तालिका : 5

गिनी गुणांक में प्रचलन (ग्रामीण भारत)

गिनी गुणांक

वर्ष	कार्याधारित धारिता	स्वामी आधारित धारिता
1960-61	0.583	0.731
1970-71	0.586	0.709
1981-82	0.629	0.712
1991-92	0.641	0.710

स्रोत : भूमि और पशुधन पर एन.एस.एस. का सर्वेक्षण

ऐसी बहुत सी छोटी और सीमान्त धारिताओं ने भूमि के पट्टे पर देने और अनियमित उधार-बाजार को सक्रिय बनाये रखने में सहयोग किया है। जैसा कि तालिका- 5 से स्पष्ट है कि कार्याधारित धारिता के लिये संकेन्द्रन अनुपात स्वामीगत धारिता की तुलना में काफी कम है। वास्तव में सीमांत कृषकों और भूमिहीनों के लिये जमीन को जैसे-जैसे पट्टे पर लेना कठिन होने लगा उन्होंने ऊँची दरों से किराया देना शुरू कर दिया। यह आवश्यक नहीं था कि ऊँचे किराये सदैव धन या उपज के बड़े हिस्सों के रूप में ही हो। यह ज़मींदार के यहाँ मुफ्त में मजदूरी करके अथवा अन्य किसी रूप में भुगतान करना भी हो सकता था। भूमि-पट्टे के बाजार में बढ़ता हुआ किराया पूँजीवादी संचयन प्रक्रिया में बाधक हो सकता है। कुछ राज्यों में यह प्रवृत्ति देखी गई है।

दूसरी तरफ ऐसी बहुत सी छोटी और सीमान्त इकाइयों के अस्तित्व ने कृषि में आवश्यकता से कहीं ज्यादा श्रम-शक्ति के खपाने की क्षमता को बनाये रखने में सहयोग दिया। 1970 और 1980 की राज्य-नीतियों ने भी इस क्षेत्र में श्रमिकों को लगाये रखने में सहयोग किया। भूमिहीनों और सीमान्तों को विविध गरीबी उन्मूलन कार्यक्रमों और गरीब किसान-सीमान्त किसान योजनाओं ने जीविकोपार्जन के पूरक अवसर प्रदान किये।

इस प्रकार कृषि से इतर क्षेत्र में रोजगार संभावनाओं की अनुपस्थिति ने कृषि-व्यवस्था के संक्रमण की प्रक्रिया में ठहराव सा लगा दिया। जैसा कि तालिका-2 में देखा जा सकता है कि 1987-88 और 1993-94 के बीच में कृषि श्रमिकों के भाग में गिरावट रुकी हुई थी।

वैश्वीकरण और भारतीय कृषि में संकट

1990 के दशक में, ढाँचागत सुधार कार्यक्रमों और विश्व व्यापार संगठन की व्यापार-व्यवस्था ने ग्रामीण जीवन यापन में नया संकट उत्पन्न कर दिया। नयी अर्थव्यवस्था कुछ सीमा तक हम लोगों को उपनिवेशी युग की ओर वापस ले आयी है, जहाँ संचयीकरण और उपयोग की प्रक्रिया एक बार फिर मेट्रोपोलिटन शहरी पूँजी के द्वारा नियंत्रित हो रही है।

राज्य के हस्तक्षेप की समाप्ति

राज्य ने घरेलू उत्पादकों की आर्थिक सुरक्षा हेतु और उनके बीच के छोटे उत्पादकों एवं कमजोर भागों की सुरक्षा हेतु, बाजार में हस्तक्षेप की अपनी पूर्व घोषित भूमिका को वापस ले लिया है। घरेलू और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एवं निवेश पर नियंत्रण के विस्तृत ढाँचे को तेजी से समाप्त किया गया। आवागमन, भण्डारण, विपणन और कृषि उत्पाद के प्रसंस्करण को प्रतिबन्धित करने वाले, आवश्यक वस्तु अधिनियम (Essential Commodity Act), कृषि उत्पाद विपणन अधिनियम (Agricultural Produce Marketing Act) और लघु उद्योग आरक्षण अधिनियम (Small Scale Reservation Act) को संशोधित कर दिया गया है। बहुराष्ट्रीय और बड़ी घरेलू इकाइयों को अब इन गतिविधियों में प्रवेश की अनुमति प्रदान कर दी गई है।

उदारवादी दौर में आयात-निर्यात नीति में कृषि वस्तुओं पर आयात-नियंत्रण तेजी से हटा लिया गया है- कभी-कभी विश्व-व्यापार संगठन (WTO) के द्वारा निर्धारित समय से पूर्व ही हटा लिया गया है। प्राथमिक वस्तुओं के लिये वैश्विक बाजार के अत्यधिक विरोधी परिस्थितियों के कारण व्यापार में उदारीकरण आया है। 1990 के दौरान सारी प्राथमिक वस्तुओं (गेहूँ और चावल को लेते हुए) की कीमतों में बहुत ज्यादा गिरावट आयी है।

सरकार द्वारा प्रदान की जाने वाली आधारभूत सुविधाओं में कमी आयी है। बहुत सी छोटी और मध्यम आकार वाली सिंचाई संजाल परियोजनाएँ न केवल विवादास्पद होने के कारण अपितु धन की कमी के कारण अधूरी पड़ी हैं। पिछले दशकों में ऊर्जा क्षेत्र का निजीकरण हुआ और आने वाले दशक में पानी का निजीकरण मुख्य मुद्दा है। भारतीय कृषि पर इसके अत्यन्त व्यापक प्रभाव होंगे। यह मध्यम स्तर के कृषकों की भी सक्षमता को समाप्त कर सकता है।

बैंकिग क्षेत्र में बदलती प्राथमिकता ने वाणिज्यिक के साथ-साथ सहकारी बैंक द्वारा कृषि क्षेत्र में दी जाने वाली सहायता को कम कर दिया है। छोटे और सीमान्त कृषकों की आर्थिक आवश्यकता को पूरा करने वाली योजनाएँ पूर्णतया समाप्त कर दी गई हैं। इससे आर्थिक अनौपचारिक पूँजी बाजार में बहुत तेज वृद्धि हुई। इन बाजारों में, पारम्परिक उधार देने वालों से अलग नयी तकनीकी, इनपुट और उपकरण के व्यापारी प्रवेश कर गये हैं।

वार्षिक बजट लेखों में उर्वरकों पर अनुदान घटा दिया गया और सरकार ने बीज देने का काम बहुराष्ट्रीय और निजी कम्पनियों को सौंप दिया है।

अंततः आजकल की भाषा में 'भूमि सुधार' शब्द का प्रयोग भूमि प्रतिबन्धन और काश्तकारी नियमों को हटाने की वकालत के लिये किया जा रहा है। इससे प्रत्यक्ष खेती कार्यों में

उद्योग जगत का प्रवेश सुगम हो जायेगा। बड़े कृषक उद्योग क्षेत्र और बहु-राष्ट्रीय कम्पनियों के साथ लाभ वाले व्यापार समझौते करने में सफल हो जायेंगे। कुछ राज्यों जैसे महाराष्ट्र और कर्नाटक ने इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कदम उठाये हैं।

तालिका : 6

यू.एस. डालर में प्राथमिक उत्पादों की गिरती हुई कीमतें (यू.एस.डी. प्रति टन)

वस्तुएं	1988	1995	1997	1999	2001
गेहूँ (यू.एस.एच.डब्लू)	167.0	216.0	142.0	-	133.0
चावल (यू.एस.)	265.7	-	439.0	-	291.0
रुई (यू.एस.सेन्ट्स-प्रति आईबी.)	63.5	98.2	77.5	-	49.1
मूँगफली तेल	590.0	991.0	1010.0	788.0	-
वनस्पति तेल	437.0	626.0	93.5	74.7	-
सोयाबीन तेल	464.0	479.0	625.0	71.4	-
सोयाबीन के बीज	297.0	273.0	262.0	-	178.0

स्रोत : *उत्सा पटनायक (2003), 'एग्रेरियन क्राइसिस एण्ड ग्लोबल डीफ्लेशनिज्म', सोशल साइंटिस्ट, जनवरी-फरवरी- 2002।*

भारतीय कृषि में उद्योग जगत (बहुराष्ट्रीय कम्पनियों) का प्रवेश

खाद्य सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक अर्थव्यवस्था के ढाँचे में मूलभूत परिवर्तन बहुराष्ट्रीय कृषि खाद्य नियमों का उदय है, जो कि अपने निवेश और विपणन उद्देश्यों के अनुरूप राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाओं में उत्पादन और उपभोग को नियोजित करने की कोशिश कर रहे हैं।

भूमि प्रतिबन्ध कानून के कारण, भारत में उद्योग जगत का प्रत्यक्ष कृषि उत्पादन में प्रवेश प्रतिषिद्ध हो गया है। कम्पनियों की अपेक्षानुसार वृहत् पैमाने पर खेती किये जाने की अनुमति निम्न प्रतिबन्ध सीमा (low ceiling limit) के कारण नही है। केवल बागानों के क्षेत्र को भूमि प्रतिबन्ध अधिनियम से मुक्त रक्खा गया है। पूँजीवादी खेती जो विदेशी कम्पनियों द्वारा नियंत्रित होती थी, स्वतन्त्रता के पूर्व से ही इस क्षेत्र में विद्यमान है। बड़े आकार की खेती का औसत आसाम में 88.80 हेक्टेयर और केरल में 59.33 हेक्टेयर है। 'भूमि-सुधार' की नयी परिभाषा से कम्पनियों को प्रत्यक्ष-कृषि-उत्पादन, विशेषकर उद्यान प्रसंस्करण (Horticulture) पुष्प प्रसंस्करण (फ्लोरीकल्चर) और कृषि वानिकी (Agro Forestry) के क्षेत्र में कार्य करने की अनुमति देने का दबाव बढ़ रहा है। अब माँग भूमि प्रतिबन्ध सीमा को काफी ज्यादा बढ़ाये जाने या इसे पूर्णतया समाप्त कर दिये जाने की है। जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है कि बहुत सी राज्य-सरकारें इस माँग को स्वीकार करने के लिये तैयार हैं। महाराष्ट्र सरकार ने उद्यान प्रसंस्करण (Horticulture) के उद्देश्य के लिये संघों, कम्पनियों और सहकारी संघों को जमीन को पट्टे कानून से मुक्त करने के लिये पहले से ही पहल कर दी है। ऐसी इकाइयाँ बंजर, बेकार या खार भूमि को खरीद सकती हैं और कृषि योग्य भूमि पट्टे पर ले सकती हैं। खेतों का क्षेत्रफल 1000 एकड़

जितना बड़ा हो सकता है।

इस दौरान कम्पनियों ने जलीय जीव (एक्वाकल्चर) के लिये उड़ीसा और दक्षिणी राज्यों में विस्तृत क्षेत्र वाले भू-भाग का अधिग्रहण किया है। इस प्रक्रिया में बड़ी संख्या में छोटे और सीमान्त कृषक जड़ से उखाड़ दिये गये हैं। बहुत सी कम्पनियाँ भूमि प्रतिबन्ध अधिनियम को धोखा देकर कृषि वानिकी (टीक वृक्षारोपण) में प्रवेश कर रही हैं। वे जमीन खरीदते हैं और इसे अच्छी खासी रकम के भुगतान पर व्यक्तियों को आवंटित कर देते हैं और उनको इसके बदले में आकर्षक लाभ देने का वादा करते हैं।

फिर भी, कृषि क्षेत्र में अधिभाग को नियंत्रित करने के लिए कृषि बाजार की रूपरेखा, प्रत्यक्ष कृषि से हो सकने वाली प्राप्ति की तुलना में, कहीं ज्यादा महत्वाकांक्षी है। कृषि क्षेत्र में निवेश और निर्गत के प्रवाह पर कृषि व्यापार, भारत सरकार की सहमति से, तेजी से नियंत्रण बढ़ा रहा है। भूमि उद्योग के तरीकों में उनके हित लाभों के अनुरूप, बदलाव लाने वाला ढाँचा है।

ठेके पर खेती

ठेके पर खेती के अन्तर्गत कृषकों को एक निर्धारित कीमत पर, एक निर्धारित समय पर, निर्धारित मात्राओं में निर्धारित गुणवत्ता का विशिष्ट उत्पाद उत्पन्न करने और उसकी आपूर्ति करने के लिये नियुक्त किया जाता है। कम्पनी, बीज, उर्वरक, तकनीकी, कर्ज और खेती के उपकरण भी कृषकों को उपलब्ध कराती है। पंजाब में टमाटर की फसल (एच एल एल, पेप्सी और निज्जर), पंजाब में ही सरसों की फसल (मार्कफेड, अर्धसरकारी संस्था (Para Statal body) आलू (मेक्डोनाल्ड), मध्य-प्रदेश में गेहूँ की फसल (रैलीस और एच. एल. एल.) बागवानी (Horticulture) और पुष्प उत्पादन (फ्लोरीकल्चर) (ऐस) आदि उदाहरण सभी को ज्ञात हैं। किंतु, पट्टे पर खेती कुछ क्षेत्रों और कुछ उत्पादों तक ही सीमित है।

बीज कम्पनियाँ

बीज उद्योग पर बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का नियंत्रण बहुत ज्यादा व्याप्त है। एच.वाई.वी. गेहूँ के प्रवेश के साथ.ही राष्ट्रीय बीज निगम (National Seed Corportion) की स्थापना 1963 में की गई थी। इसके उपरान्त गुणवत्ता युक्त बीजों की जरूरत को पूरा करने के लिये राज्य बीज निगमों की स्थापना की गई थी। 1973 से 1985 के दौरान विश्व बैंक समर्थित बीज परियोजना के अन्तर्गत निजी क्षेत्र ने बीज उद्योग में प्रवेश किया। 1987 में, एम.आर.टी.पी. (MRTP) और फेरा (FERA) कम्पनियाँ बीज निर्माण के लिये बुलायी गईं। इसी वर्ष में बीजों के आयात ओपन जनरल लाइसेंस श्रेणी में रक्खे गये। विश्व व्यापार संगठन के टी.आर.आई.पी अधिनियमों के अन्तर्गत बहुराष्ट्रीय बीज कम्पनियाँ, बीज उद्योग पर पूर्ण अधिकार करने की दिशा में शक्तिशाली तत्त्व के रूप में उभरीं और इस प्रकार वे भारतीय कृषि में भूमि उपयोग की प्रकृति नियंत्रित करती हैं। बीज पोषकों के साथ संकर बीजों और कीटनाशी प्रबंधन और ट्रिशू प्रसंस्करण पर आधारित पौधे, बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा, गरीब किसानों की पहुँच से बाहर कीमतों पर, आपूर्ति किये जाते हैं।

दूसरी तरफ कृषि प्रसंस्करण उद्योग जो कि पूर्व में लघु उद्योगों के लिये आरक्षित था, उसे बड़े निगमों और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के लिये खोल दिया गया है।

आगामी वर्षों में, भारतीय कृषि में, भूमि प्रयोग और भूमि स्वामित्व पैटर्न में बहुत तेजी से परिवर्तन की आशा की जा सकती है।

राज्य नियंत्रित व्यवस्था से बाजार नियंत्रित व्यवस्था में परिवर्तन, जिस पर वृहत्-बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का वर्चस्व है, ने कृषक समुदाय के विभिन्न वर्गों को भिन्न प्रकार से प्रभावित किया है।

नव-उदारवादी व्यवस्था पर बड़े कृषकों के समूह में व्याप्त भ्रम

जैसा कि पहले वर्णित है कि हरित क्रान्ति के विस्तार और कृषि में उत्पादकता वृद्धि के साथ, 1970 में अमीर कृषकों का समूह, एक शक्तिशाली राजनीतिक आन्दोलन के रूप में उभरा। शरद जोशी ने महाराष्ट्र में, एम.एस. टिकैत ने उत्तर-प्रदेश में और अजमेर सिंह लखोवाल, बलवीर सिंह, रजवाल और भूपिन्दर सिंह मान ने पंजाब में, इसका नेतृत्व किया। इन आन्दोलनों में अपने उत्पादों के लिये अच्छी कीमतों और खेती के लिये कच्चे माल के रूप में सभी आवश्यक वस्तुओं पर अनुदान बढ़ाने की माँग की गई है।

वैश्विक प्रक्रिया के लिये धनी कृषक समुदाय की प्रतिक्रिया भ्रामक है। एक ओर वे सोचते हैं कि व्यापार-उदारीकरण, खेती उत्पाद की विविधता और कृषि-व्यापार के प्रवेश उनके लिये लाभकारी हैं। दूसरी ओर वे सशंकित हैं कि विकसित देशों में कृषि क्षेत्र में भारी अनुदान द्वारा आयात सस्ते होने से वे प्रतिस्पर्धा के योग्य नहीं हो पायेंगे। इस प्रकार, जबकि शरद जोशी ने उरुगुवे राउण्ड के डंकल ड्राफ्ट के प्रस्ताव का स्वागत किया और उत्तर-प्रदेश एवं कर्नाटक में कृषक आन्दोलनों ने इसका विरोध किया। 1988 में, फल और सब्जियों को प्राप्त करने और सुरक्षित रखने के लिये पंजाब में एक अर्धसरकारी (Para Statal) (पंजाब कृषि-उद्योग निगम), भारतीय किसान यूनियन और कृषक आधारित राजनीतिक पार्टी अकाली दल ने पेप्सी को एक संयुक्त साहसिक भागीदार के रूप में वोल्टाज के साथ बुलाया। बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के, पट्टे पर खेती के प्रबंधन अनिवार्यतः मध्यम या बड़े कृषक के साथ हैं। बड़े कृषक उद्योग क्षेत्र के साथ मिलकर भूमि प्रतिबन्ध कानून में संशोधन और पट्टे की भूमि पर एकीकरण करने के लिये राज्य सरकार पर दबाव डाल रहे हैं। सूक्ष्म स्तर पर किये गये अध्ययनों से यह पता चलता है कि विपरीत काश्तकारी सिद्धान्त जो कि 1970 और 1980 के दौरान पंजाब एवं हरियाणा में ही प्रचलित था, 1990 में दूसरे राज्यों में भी तेजी से फैल चुका है। किंतु इस पर ध्यान दिया जाना चाहिए कि विश्व-बाजार में प्राथमिक वस्तुओं की कीमतों में गिरावट की प्रवृत्ति और उद्योग समूह की तुलना में असमान सौदेबाजी की शक्ति से बड़े कृषकों का समूह नये परिद्रष्य में, सम्प्रति व्यग्र है। ये चाहता है कि सरकार, विश्व व्यापार-संगठन के समझौते में उसके आर्थिक हितों की रक्षा करे। भविष्य में यदि बड़े कृषकों को अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों में अच्छी स्थिति लगती है और उन्हें औद्योगिक

भागीदारों से आकर्षक सौदे हो जाने की आशा हो तो वे दूसरी तरफ भी जा सकते हैं। बड़े कृषक साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष का एक अभिन्न अंग बन सकते हैं या नहीं, यह एक विवेचनीय विषय है।

छोटे और अर्ध मध्यम खेतों की अनिर्वहनीयता और बढ़ती हुई भूमिहीनता

छोटे और मध्यम किसान नयी उत्पादन-व्यवस्थाओं, नये फसल प्रारूपों और नयी तकनीक में बड़े कृषकों का ही अनुसरण करते हैं। कुछ समय तक वे इस आशा में, इसे इच्छा से करते हैं कि इसके बदले में उनके लाभ ऊँचे होंगे। किंतु प्रायः यह दबाव में किया जाता है क्योंकि पूर्व आधारभूत ढाँचा समाप्त हो चुका है। बहुत से छोटे और मध्यम कृषक, मोटे अनाज के उत्पादन से हटकर सोयाबीन, नये किस्म की रुई और तिलहनों के उत्पादन में लग गये हैं। इस परिवर्तन के कारण खर्चों में काफी वृद्धि किये जाने की जरूरत होती है।

ग्रामीण क्षेत्रों में नियोजित ऋण उपलब्धता घट जाने के कारण कृषक अनियमित ऋण बाजार से, चाहे पारम्परिक महाजनों से या नये कृषि निवेश व्यापारियों, ऋण लेने के लिये विवश हुए हैं। यदि फसल खराब हो जाये या अन्तर्राष्ट्रीय बाजार के कारण उत्पाद की कीमत गिर जाये, तो छोटे या मँझोले किसान पूरी तरह से बर्बाद हो जाते हैं।

ऋणग्रस्तता और इसके फलस्वरूप आन्ध्र-प्रदेश और कर्नाटक में किसानों द्वारा की गई आत्महत्याओं ने संचार माध्यमों का ध्यान अपनी ओर खींचा है। वे आत्महत्या करें या न करें छोटे और सीमान्त कृषक अपने भूमि संसाधन आधार से बड़ी तेजी से वंचित हो रहे हैं। 1991-92 के उपरान्त भूमि धारिता पर विस्तृत एन.एस.एस.सर्वेक्षण के आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं। फिर भी वर्ष 1993-94 और 1999-2000 के लिये रोजगार और बेरोजगारी के सर्वेक्षणों में भूमि धारिता पर दिये गये आँकड़ों से उपरोक्त अनुमान सत्य सिद्ध होता है।

जैसा कि तालिका 7 में देखा जा सकता है कि बहुत थोड़े समय में 0.01 हेक्टेयर से 0.4 हेक्टेयर की जमीन रखने वाले परिवारों का हिस्सा 16.6 प्रतिशत बढ़ गया है। 0.4 हेक्टेयर तक काश्तकारी उपसीमान्त है और जीवन-निर्वाह योग्य जीविकोपार्जन को निश्चित नहीं करती है। जैसा कि तालिका 8 में देखा जा सकता है कि इतनी छोटी जमीन का टुकड़ा रखने वाले अधिकांश परिवार उसे स्वयं नहीं जोतते हैं। वे या तो अधिक जमीन पट्टे पर लेते हैं और अपनी काश्तकारी को बढ़ाते हैं या अपने खेत पट्टे पर दे देते हैं और कुछ दूसरे व्यवसाय ढूँढ़ते हैं। यह स्पष्ट है कि पहला विकल्प नहीं चुना गया है। या तो यह उपलब्ध नहीं है और यदि उपलब्ध है तो यह निर्वहनीय नहीं है। तालिका 7 और 8 बताती है कि उप-सीमान्त परिवारों ने अपनी जमीनें छोड़ दी हैं और भूमिहीन श्रमिक श्रेणी में विस्थापित हो गये हैं। वे कुटुम्ब जो 0.4 हेक्टेयर तक की भूमि पर खेती करते हैं, प्रायः इसे महिलाओं पर छोड़ देते हैं। पुरुष सदस्य अच्छी आय कमाने के अवसरों को ढूँढ़ने के लिये बाहर चले जाते हैं। इन उप-सीमान्त खेतों के विस्तार से कृषि के महिलाकरण का उदय हुआ है।

भूमिहीनता अखिल भारतीय स्तर पर और प्रत्येक राज्य में बहुत तेजी के साथ बढ़ी है (देखें, सी.पी.चन्द्रशेखर और जयन्ती घोष, **'मेक्रोस्केन',** बिजनेस लाइन, 22 अप्रैल 2003)।

छोटे, अर्ध-मध्यम और मध्यम खेती वाले परिवारों की अनिर्वहनीयता में वृद्धि की अपेक्षा की जाती है क्योंकि बिजली की दरें बढ़ी हैं और पानी पर उपयोग के लिये शुल्क लगा दिया गया है।

गरीब और सीमान्त लोगों के जीवन-निर्वाह पर संकट

बढ़ती हुई भूमिहीनता के साथ 1999-2000 के एन.एस.एस. द्वारा रोजगार और बेरोजगार के लिये किये गये सर्वेक्षणों से कृषि क्षेत्र में रोजगार वृद्धि में चकित कर देने वाली गिरावट प्रदर्शित होती है।

तालिका : 7

आकार आधारित भू-स्वामित्व वाले ग्रामीण परिवारों का वितरण व जोती जाने वाली भूमि आकार श्रेणी

वर्ष	0.00	0.01-0.40	0.41-10.0	1.01-2.00	2.01-4.00	4.01 के ऊपर
1993-94	12.9	40.4	18.7	14.0	8.8	5.2
1999-2000	7.2	51.0	19.1	11.5	7.3	3.9

स्रोत : ***भारत में रोजगार और बेरोजगार की स्थिति, एन.एस.एस.ओ.,*** जी.ओ.आई।

तालिका : 8

जोती जाने वाली भूमि आकार श्रेणी पर ग्रामीण परिवारों का वितरण प जोती जाने वाली भूमि की आकार श्रेणी

वर्ष	0.00	0.01-0.40	0.41-10.0	1.01-2.00	2.01-4.00	4.01 के ऊपर
1987-88	35.7	19.1	17.3	13.9	8.5	5.8
1993-94	38.7	18.8	17.1	13.4	7.6	4.3
1999-2000	40.9	22.3	16.8	11.2	5.9	3.0

स्रोत : भारत में रोजगार और बेरोजगार की स्थिति, एन.एस.एस.ओ., जी.ओ.आई।

साप्ताहिक और दैनिक स्तर पर यह गिरावट बहुत ज्यादा है जो कि यह इंगित करती है कि प्रायः रोजगार पाने वाले लोग अब कम दिनों के लिये रोजगार पाते हैं। कृषि में रोजगार लोच 0.7 (1987-88 से 1993-94 के दौरान) से गिरावट 1993-94 से 1999-2000 के मध्य 0.1 रह गई है। 11 राज्यों में रोजगार की लोच शून्य के करीब या ऋणात्मक हो गई। (देखें **मेक्रोस्केन,** बिजनेस लाइन, 22 अप्रैल, 2003)।

जबकि बढ़ता हुआ मशीनीकरण (विशेषकर 1990 में हारवेस्टर्स के बढ़ते हुए प्रयोग)

और फसलों के प्रारूप में परिवर्तन रोजगार वृद्धि में इस गिरावट को कुछ स्पष्ट करते हैं बदलता हुआ भू-धारिता प्रारूप और भूमि-पट्टा बाजार इसमें प्रमुख योगदान देते हैं।

जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है कि छोटे और अर्ध मध्यम खेती कार्य बड़ी खेती की अपेक्षा बहुत अधिक श्रम सघन है। इन खेतों में, वास्तविक आवश्यकता से कहीं अधिक लोगों को लगा लेने के लिये काम को टुकड़ों में बाँटा जा सकता है। जैसे-जैसे भूमिहीन के लिये भूमि पट्टे पर लेना और जोतक स्तर प्राप्त करना कठिन होता जाता है, खेती में श्रमिकों को खपाने की क्षमता घटती जाती है।

जैसा कि तालिका 10 में देखा जा सकता है कि 1987-88 से 1993-94 के दौरान कृषि में स्व-रोजगार का हिस्सा 37.7 प्रतिशत पर ही अपरिवर्तित रहा। वर्ष 1999-2000 में यह घटकर 32.7प्रतिशत रह गया। कृषि में स्व-रोजगार की संख्या में गिरावट आयी है। इस दौरान कृषि श्रमिकों का हिस्सा बढ़ा है।

1970 और 1980 में, सीमांत कृषकों को जीवन-निर्वाह योग्य जीविकोपार्जन के लिये आंशिक सहायता देने के लिये राज्य आगे आये हैं। 21वीं शताब्दी में राज्य ने स्वयं को इन सारी जिम्मेदारियों से मुक्त कर लिया है। कृषि में गरीब और सीमान्त विस्थापित होने के लिये विवश हैं। एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में, ग्रामीण से शहरी और कृषि क्षेत्र से गैर कृषि में विस्थापन बढ़ा है।

दुर्भाग्य से बाहर भी कोई रोजगार उपलब्ध नहीं है। उद्योग क्षेत्र में पहले से ही सीमित रोजगार की संभावनाएँ नयी उदारवादी नीति के कारण और कम हो गई हैं। छोटी और श्रम सघन निर्माण इकाइयाँ तेजी से बंद हुई हैं और पारम्परिक बड़ी औद्योगिक इकाइयों ने छँटनी और बाहर से कार्य कराने की नीति अपना ली है।

तालिका : 9

कृषि रोजगार में वृद्धि की दरें

काल	सामान्य स्तर	सामान्य गौण स्तर	साप्ताहिक स्तर	दैनिक स्तर
1987-88 से 1993-94	2.08	2.17	3.91	2.47
1993-94 से 1999-2000	0.80	0.18	0.68	0.14

स्रोत : भारत में रोजगार और बेरोजगार की स्थिति, एन.एस.एस.ओ., जी.ओ. रिपोर्ट।

तालिका : 10

ग्रामीण भारत में पारिवारिक प्रकारों के आधार पर परिवारों का वितरण

परिवार प्रकार	1987-88	1993-94	1999-2000
कृषि में स्व-रोजगार	37.7	37.8	32.7
गैर कृषि में स्व-रोजगार	12.3	12.7	13.4
कृषि श्रमिक	30.7	30.3	32.2

अन्य श्रमिक	9.0	8.0	8.0

स्रोत : एन.एस.एस. का रोजगार और बेरोजगारी सर्वेक्षण 1999-2000।

आधुनिक इकाइयाँ पूजी और आयात बहुल हैं जिनमें केवल उच्च्व कुशल लोगों के लिये जगह है। कृषि के समाज सेवा क्षेत्र में ही निम्न उत्पादकता और निम्न आय स्तर पर अतिरिक्त श्रमिकों को खपा लेने की क्षमता है। 1993-94 और 1999-2000 के बीच में कृषि से निकले हुए श्रमिक सेवा-क्षेत्र में चले गये। सेवा-क्षेत्र में भी एक सीमा तक ही श्रमिक को लगाया जा सकता है।

जो कृषि में हैं और समाधान आधार में अपने बहुत छोटे हिस्से को माँगने का जोखिम उठाने का साहस करते हैं वे बड़े किसानों की हिंसा और राज्य-प्रशासन का सामना करते हैं- कभी-कभी तो हत्या किये जाने की नौबत तक आ जाती है। यह भी ध्यान देने योग्य है कि कृषि में पूँजीवाद के प्रवेश ने सांमती ढाँचे का उपयोग भी किया है और उसे सदैव समाहित भी किया है। श्रमिकों के आधुनिक पूँजीवादी शोषण ने केवल जाति-व्यवस्था और दमन के लिये ही जगह नहीं छोड़ी है बल्कि इसने इसका भी इस्तेमाल अपने हितों को सिद्ध करने में किया है।

निष्कर्ष

भारतीय अर्थव्यवस्था के राज्य समर्थित औद्योगिकीकरण के अन्तर्गत कृषि उन्मुखी संक्रमण एक कठिन स्थिति में पहुँच गया है। कृषि और उद्योग दोनों में संसाधनों के केन्द्रन ने औद्योगिक वृद्धि को बढ़ावा दिया जहाँ श्रमिकों के लिये रोजगार बहुत कम था। कृषि ने स्वयं में अकुशल और सीमांत प्रकार की श्रम-शक्ति को खपा लिया है।

21वीं शताब्दी में नयी-उदारवादी वैश्विक व्यवस्था ने दुनिया भर में न रोके जा सकने वाले राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाओं की कार्य शैली में गुणात्मक परिवर्तन ला दिया है। भारत में कृषि व्यवस्था संबंधी प्रश्नों का समाधान वैश्वीकरण की अपनी कठोर प्रक्रिया द्वारा किया जा रहा है।

कृषि के निवेश और निर्गत प्रवाह पर कृषि-व्यापार के बढ़ते हुए नियंत्रण के परिणामस्वरूप इस क्षेत्र से श्रम-शक्ति का सामूहिक उन्मूलन होगा। ऐसी प्रवृत्ति पहले से ही दृष्टिगोचर है। कृषि से बाहर निकली हुई श्रम-शक्ति के लिये बाहर कोई रोजगार नहीं है। निर्माण उद्योग सेवा-क्षेत्र मिलकर भी खपा लेने में अक्षम है। सम्पूर्ण उत्पादन-आधार में आमूल परिवर्तन के अतिरिक्त इस परिस्थिति का अन्य कोई हल नहीं है।

हम सब जो कि एक समता मूलक समाज में सम्मानपूर्ण मानवीय अस्तित्व के प्रति प्रतिबद्ध हैं के लिये कृषि-व्यवस्था संबंधी प्रश्न को उसकी ऊपरी परत के रूप में ही देख सकते हैं- वर्तमान व्यवस्था को उलट देने के लिये दबे-कुचले खेतिहर मजदूरों के समर्थन की माँग के रूप में।

(साभार : Alternative Economic Survey, 2002-03 by Alternative Survey Group, Rainbow Publishers)

❑

अध्याय 7

बाजारी अर्थव्यवस्था का भारतीय गाँवों पर प्रभाव

(Impact of Market Economy on India's Villages)

हम जब भारत के गाँवों पर नजर डालते हैं तो पाते हैं कि पारंपरिक ग्रामीण अर्थव्यवस्था प्राथमिक तौर पर जीवनयापन उन्मुख अर्थव्यवस्था थी, जिसका लक्ष्य स्थानीय जनसंख्या की उपभोग संबंधी आवश्यकताओं को पूरा करना था। जजमानी प्रथा आर्थिक संगठन का आधार थी। इसके अंतर्गत विभिन्न जातियों के लोग स्थानीय प्रथाओं के अनुसार माल और सेवा के विनिमय में लिप्त थे लेकिन यह भी सच है कि जीवनयापन आधारित इस अर्थव्यवस्था में भी बाजार की मामूली भूमिका अवश्य थी। लोग स्थानीय होते थे, विभिन्न अवधियों में अनौपचारिक बाजार लगते थे लेकिन इनमें औपचारिक आर्थिक सौदों के बजाय सामाजिक-सांस्कृतिक कार्यकलापों पर अधिक जोर होता था। निर्धारित अवधि पर लगने वाली *हाटों* में गाँवों के समूहों के बीच अंतरसंबंध स्थापित होने की संभावना भी बनती थी। ऐसे बाजारों में आर्थिक विनिमय खास तौर पर पुनर्वितरण अथवा वस्तु विनिमय जैसा होता था। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि भारत में औद्योगीकरण से पूर्व के नगरीय केंद्रों में सीमित मात्रा में नगदी अर्थव्यवस्था और बाजार विनिमय मध्यकाल से ही चला आ रहा है।

ब्रिटेन के आधिपत्य की शुरुआत और उसके बाद शुरू हुई आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के कारण परिवर्तन की गति तेज हुई। अंग्रेजों के राज में औपनिवेशिक निहित स्वार्थों ने कृषि में एक नए प्रकार की पूँजीवादी अर्थव्यवस्था थोप दी। भूमि भी वस्तु और जायदाद हो गई। मौद्रीकरण को बढ़ावा देने के लिए नए प्रकार की भूराजस्व प्रणाली लागू की गई। इसके साथ ही कृषकीकरण और विकृषकीकरण की प्रक्रिया भी देखी गई विशेषकर आदिवासी समुदायों के बीच में। अंग्रेजी शासकों द्वारा भूराजस्व निर्धारित करने की जो प्रणाली लागू की गई थी, उसके अंतर्गत लगान का भुगतान नकद करना होता था। इससे अपनी फसल से अधिक से अधिक नकदी बटोरने या व्यावसायिक नकदी फसलें पैदा करने की तेजी से शुरुआत हुई। इस प्रकार ग्रामीण अर्थव्यवस्था नगरीय और बाद में राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था से जुड़ी। यही भारतीय गाँवों तक बाजार अर्थव्यवस्था के प्रसार और मौद्रीकरण की शुरुआत भी थी।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद परिवहन एवं संचार के आधुनिक साधन सरकार द्वारा खड़े करने शुरू किए गए। यह मुहिम बड़े पैमाने पर आर्थिक विकास कार्यक्रमों के अंतर्गत चलाई गई, जिससे

बाजार अर्थव्यवस्था का ग्रामीण भारत तक पूरी तरह विस्तार हुआ। इसके साथ ही शहरी बाजारों में उपलब्ध रोजमर्रा उपयोग की वस्तुएँ जैसे साबुन, टूथपेस्ट, हौजरी आदि गाँवों और कस्बों के बीच उपलब्ध हुईं। दूसरी तरफ उत्तर भारत के किसी गाँव से पोल्ट्री की चीजें (अंडा, मुर्गा आदि) दूरदराज के क्षेत्रों से महानगरों के बाजार तक पहुँच गई हैं। कृषक समाज में एक अमीर वर्ग बन जाने से गाँवों में भी आराम के सामान की भारी माँग बढ़ गई है। ए.आर.देसाई ने अपने मौलिक योगदान में ग्रामीण भारत में परिवर्तन की चार प्रमुख विशेषताओं या प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है।

(अ) कृषिक समाज का जीवनयापन आधारित अर्थव्यवस्था से बाजारी अर्थव्यवस्था में त्वरित रूपांतरण

(ब) आधुनिक प्रौद्योगिकी अपनाये जाने से आया त्वरित परिवर्तन

(स) ज़मींदारों और बिसवेदारों जैसे बिचौलियों का पतन

(द) नगरीय एवं राष्ट्रीय संगठनों से जुड़े संघों और संस्थाओं की स्थापना

बाजार अर्थव्यवस्था की शुरुआत से उत्पादन और उपभोग की प्रकृति में परिवर्तन आया। अब कृषि उत्पादन के पीछे प्रमुख उद्देश्य मंडी में बेचने लायक अतिरिक्त फसल उगाना बन गया। इससे बाजार की शक्तियों के अधिक से अधिक प्रवेश का रास्ता बना। इससे ग्रामीण जनता में उपभोग उन्मुख जीवनचर्या को भी बढ़ावा मिला। नगरीय यांत्रिक पद्धति से निर्मित वस्तुओं का उपभोग और उन्हें घर में रखा जाना हैसियत के सूचक (status symbols) बन गए। इस प्रकार बाजार अर्थव्यवस्था द्वारा संचालित ग्रामीण रूपांतरण को निम्नलिखित रूप में संक्षेप में बताया जा सकता है।

(अ) नई बाजार अर्थव्यवस्था ने अमीर किसानों, बड़े व्यापारियों, छोटे अधिकारियों और राजनैतिक कार्यकताओं का नया वर्ग पैदा किया।

(ब) इससे बड़ी संख्या में नई सुविधाएँ भी स्थापित हुईं, खासकर ऋण की सुविधा।

(स) अब ग्रामीण समाज में क्रेडिट कार्ड भी पहुँच गए हैं।

(द) अब बेहतर उपादानों जैसे ट्रैक्टरों,/पानी खींचने के पंपों, हार्वेस्टर आदि का प्रयोग भी हो रहा है।

(घ) कृषकों के अमीर भूस्वामी वर्ग और बेहद गरीब भूमिहीन मजदूरों के बीच की खाई और भी गहरी हो गई।

(च) मौद्रीकरण से सामाजिक गतिशीलता के अवसर बढ़ गए हैं। इसका संयुक्त परिवार जैसी पारंपरिक सामाजिक संस्थाओं पर गहरा असर पड़ा। संयुक्त परिवार के विभिन्न सदस्यों की आमदनी जुटाने की भिन्न-भिन्न क्षमता के कारण छोटे-छोटे परिवारों की स्थापना का चलन शुरू हुआ।

(छ) इससे व्यवसायिक गतिशीलता (occupational mobility) और नया धंधा अपनाने का चलन शुरू हुआ।

(ज) व्यवसायमुक्त जातीय संचरना (occupationfree caste structure) का उदय हुआ जिससे पारंपरिक जजमानी प्रथा को गहरा झटका लगा।

(झ) आर्थिक उन्नयन व गतिशीलता में जातीय बाधाएँ ध्वस्त हो रही हैं तथा स्वास्थ्य सेवाओं व शिक्षा के नये अवसर ग्रामीण जीवन में प्रविष्ट हो रहे हैं।

(व) इसने प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से महिला सशक्तिकरण को भी बढ़ावा दिया है।

इन सभी विशेषताओं में हाल की कुछ घटनाएँ सबसे अधिक चर्चित रही हैं। ये घटनाएँ कृषि पर निर्भरता से होने वाली निराशा (agrarian distress) और उसके कारण हुई किसानों की आत्महत्याओं की हैं। ये आत्महत्याएँ हरित क्रांति वाले क्षेत्रों जैसे-पंजाब, हरियाणा, कर्नाटक, आंधप्रदेश आदि क्षेत्रों में भी होना चिंता का विषय है। ए.आर. वासवी (1999) ने कृषकों की आत्महत्या की गुत्थी का विश्लेषण करते हुए बताया है कि इसकी कुछ आम प्रवृत्तियाँ और कारण हैं। उन्होंने यह ठीक ही कहा है कि अर्द्धबंजर क्षेत्रों में भी संकर बीजों, रासायनिक खाद एवं कीटनाशकों के उपयोग के द्वारा नगदी फसलों को बढ़ावा दिए जाने के कई दुष्परिणाम हुए हैं। कुल मिलाकर उन क्षेत्रों की पारिस्थितिकीय प्रकृति (ecological specificity) और व्यवसायिक कृषि प्रथाओं के बीच तालमेल नहीं बन पा रहा। जलवायु में परिवर्तनों, खासकर वर्षा में आए परिवर्तनों, के कारण वहाँ कृषि में अनिश्चितता और जोखिम बढ़ रहा है जिसकी वजह से कृषि पारिस्थितिकी संकट का शिकार हो रही है। पारिस्थितिकी संकट के साथ आर्थिक संकट ने हालात और भी खराब कर दिए हैं। व्यवसायिक कृषि को हालाँकि बाहरी कच्चे माल के उपयोग के आधार पर संचालित किया जाता है, मगर इस कच्चे माल को खरीदने के लिए सांस्थानिक कर्ज (institutional credit) की सांस्थानिक सुविधाएँ कृषकों को बहुत सीमित मात्रा में (अधिकतर बड़े भू-स्वामियों को ही) उपलब्ध हैं। ज्यादातर कृषक व्यवसायिक खेती करने के लिए भारी कर्ज उठा लेते हैं। लघु और सीमांत कृषकों को चूंकि सांस्थानिक कर्ज तुरंत और आसानी से नहीं मिल पाता, इसलिए वे आधुनिक कृषि को अपनाने अथवा खेती का धंधा बरकरार रखने के लिए ऊँची ब्याज दरों पर निजी साहूकारों से कर्ज लेने पर मजबूर होते हैं। स्थानीय सूदखोर और साहूकारों से उन्हें आसानी से कर्ज मिल भी जाता है जो कि ब्याजखोरी पर ही फलते-फूलते हैं। पारिस्थितिकीय संकट के दौर में कीटों की मार पड़ने या फसलों में बीमारी लग जाने पर ऐसे किसानों को और ज्यादा कर्ज लेना पड़ता है।

मूलतः सूखे कृषि क्षेत्रों में व्यवसायिक कृषि शुरू किए जाने का प्रभाव सामाजिक ताने बाने पर भी पड़ा है। इस प्रकार की कृषि में स्थानीय अथवा देसी जानकारी के सिद्धांतों और जातीय एवं कुटुम्बीय संबंधों से कोई सहायता नहीं मिलती। ऐसी खेती में कृषि व्यवसाय के एजेंट और एजेंसियाँ तथा कृषि विस्तार कार्यकर्ताओं की भूमिका ही प्रमुख रहती है और जानकारी देने वाली

पारंपरिक संस्थाओं की कोई पूछ नहीं होती। इसका नुकसान यह होता है कि ये बाहरी तत्त्व अनपढ़ कृषकों के हितों के प्रति अक्सर कोई ध्यान नहीं देते।

कीमतों में भारी उतार-चढ़ाव बाजार अर्थव्यवस्था का हिस्सा है और इससे समस्याएँ और बढ़ जाती हैं। सरकारी एजेंसियों द्वारा निश्चित खरीद अथवा समर्थन मूल्य के अभाव में उत्पादन की अधिक लागत के कारण किसान अकेले पड़ जाते हैं। किसान कीटनाशकों में बड़े पैमाने पर मिलावट और नकदी फसलों के बीजों की नई किस्मों की गारंटी न होने की भी शिकायत करते हैं। लगातार दो फसलों के खराब हो जाने पर किसानों का भट्ठा बैठ जाता है। बदलती कृषि प्रथाओं, सरकार और प्रशासन से मिलने वाली सहायता में गिरावट, बाजार की शक्तियों के आगे किसानों की घटती ताकत, कृषि में बढ़ता जोखिम और सामुदायिक समर्थन में कमी जैसी परिस्थितियों में इस बात का आसानी से अंदाजा लगाया जा सकता है कि कृषकों को कितना निजी तनाव झेलना पड़ता होगा। फसल खराब हो जाने या उनके नियंत्रण से बाहर दामों में भीषण उतार-चढ़ाव की नौबत आने पर सुरक्षा के लिए बिना किसी सहारे के किसानों पर पूँजी की मार छोटे किसानों को तो तबाह करके कंगाल बना देती है। आत्महत्या की घटनाएँ जिस प्रकार किसी क्षेत्र में फैली निराशा की प्रतीक हैं, उसी तरह जिंदा रहने के लिए खाए जाने वाले अनाज से वंचना को भी गम्भीरपूर्वक लिया जाना चाहिए। सूसन जॉर्ज (1985) ने जैसा कहा है कि किसी भी निर्धारित क्षेत्र में बिना पर्याप्त वैकल्पिक आर्थिक आधार बने मुख्य अनाजों का गायब हो जाना, खाद्य सुरक्षा (food security) के लिए खतरे की घंटी है और उससे स्थानीय समुदाय भी असुरक्षित हो जाता है। इस प्रकार आत्महत्या की घटनाएँ बाजार अर्थव्यवस्था से जुड़े आर्थिक कारणों से सीधे संबद्ध हैं।

❑

74

अध्याय 8

ग्रामीण भारत के कुछ दूसरे आयाम

(Some Other Facets of Village India)

बँधुआ मजदूरी (Bonded Labour)

भारत की सामाजिक-आर्थिक असमानताओं के ढाँचे में आदमी द्वारा आदमी के शोषण के चलते साहूकार-कर्जा लेने वाले (debtor-creditor), मालिक-नौकर (master-slave) सम्बन्ध विकसित हुए। सदियों से सत्ता, कानून और धर्म के नाम पर पीढ़ी-दर-पीढ़ी जाति-प्रथा को बढ़ावा मिलता रहा। शायद विश्व का कोई अन्य समाज भौतिक रूप से अपने बीते हुए कल से उतना आक्रान्त नहीं दिखता, जितना कि भारतीय समाज है। शोषण और बँधुआ मजदूरी का यहाँ लम्बा इतिहास है। कर्ज के चलते बँधुआ मजदूरी सबसे ज्यादा प्रचलित रही। भारत के विभिन्न भागों में बँधुआ मजदूर विभिन्न नामों से जाने जाते हैं। हिमाचल प्रदेश में **जीता**, उत्तर प्रदेश में **सेवक** या **हारी**, बिहार में **कामिया**, **बारहमसिया** या **जानौर**, गुजरात में **हाली**, उड़ीसा में **हलिया** और **मुलिया**, **पाडियाल**, **पनियाल** और **पन्नयाल**, तमिलनाडु में **अडिम्मार**, **पनियान**, **कट्टूनिकन** केरल में **जसीगुला**, **गोठी** और **वेठी**, आन्ध्र प्रदेश में **बारामासी** और **सलकारी**, मध्य प्रदेश में, कर्नाटक में **जीठा**, पश्चिम बंगाल में **चाकर** और **हालिया**, राजस्थान में **सागरी**, महाराष्ट्र में **वेटा**, **बेगार** और **सलकारी** जैसे शब्द प्रचलित हैं। बँधुआ मजदूरी की प्रथा कमोबेश पूरे ग्रामीण भारत में तथा कुछ जनजातीय क्षेत्रों में प्रचलित है।

शोषण की संस्कृति के पीछे सभी तरह के शोषण और उत्पीड़न शामिल हैं। सिर्फ बँधुआ मजदूरी ही नहीं, बच्चों से बेगार व बँधुआ औरतों का यौन शोषण सभी इस बँधुआ मजदूरी का हिस्सा हैं। यद्यपि संविधान के अनुसार बलपूर्वक मजदूरी (बेगार या बँधुआ मजदूरी) पूर्णतया प्रतिबंधित है, फिर भी यह प्रथा सदियों से जीवित है और आज भी प्रचलित है। भारत सरकार ने *बँधुआ मजदूरी समाप्ति अधिनियम*, 1976 के माध्यम से ऋणग्रस्तता के कारण हुई बँधुआ मजदूरी को समाप्त करने का प्रयास किया। इस अधिनियम के सेक्शन 2 धारा (G) में बँधुआ मजदूरी को "जबरदस्ती या आंशिक रूप से जबरदस्ती से कराया गया श्रम माना है जिसमें एक अनुबंध (agreement) के तहत कर्जदाता निम्न शर्तों के साथ बँधा होता है :

(i) यदि कर्जदार या उसके उत्तराधिकारियों ने कोई अग्रिम लिया है और (यह अग्रिम लिखित या अलिखित समझौते के अन्तर्गत हो सकता है) इस अग्रिम पर ब्याज की राशि बाकी हो, या

(ii) कोई सामाजिक या पारम्परिक बाध्यता (obligation) हो, या

(iii) यदि उत्तराधिकार में उस पर पूर्वजों की कोई बाध्यता हो, या

(iv) किसी आर्थिक बाध्यता के लिए जो उसे पूर्वजों या उत्तराधिकारियों से मिली हो,

(v) यदि किसी विशेष समूह या जाति में उसका जन्म हुआ हो, तो वह,

(a) स्वयं के द्वारा या परिवार के किसी सदस्य या स्वयं पर आश्रित अन्य व्यक्ति के द्वारा कर्जदाता की एक निश्चित या अनिश्चित समय सीमा तक, मजदूरी के एवज में बेगारी द्वारा सेवा करेगा।

(b) वह अपनी आजीविका के लिए एक निश्चित या कभी-कभी अनिश्चित सीमा तक रोजगार की स्वतंत्रता भी गिरवी रख चुका होता है।

(c) उसका भारत भर में कहीं आने-जाने का अधिकार भी प्रतिबंधित हो जाता है। या

(d) वह अपनी सम्पत्ति या अपने या परिवार के उत्पाद को बेचने का हक भी खो बैठता है। वह कर्जदाता की शर्तों के अनुसार पूर्ण या आंशिक रूप से बलपूर्वक अपना श्रम देने को मजबूर होता है। कर्जदाता की शर्तों में यह शामिल होता है कि कर्ज न चुका पाने की स्थिति में वह कर्जदार के रूप में बँधुआ-मजदूरी करेगा।

अतः यह स्पष्ट है कि बँधुआ मजदूरी को जिस प्रकार परिभाषित किया गया है वह एक प्रकार से 'दासता' का उदाहरण है। कर्ज के चलते बँधुआ मजदूरी भूमिहीन खेतिहर मजदूरों, ईंट-भट्टे पर लगे कामगारों, पत्थर तोड़ने वाले मजदूरों, कपड़े के लूम पर काम करने वालों व कुछ अन्य में अधिक प्रचलित है। खेतिहर मजदूरों में अधिकांश भूमिहीन व सीमान्त जोतों वाले किसान-मजदूर इससे प्रभावित हैं। सामाजिक-आर्थिक कुरीतियों के चलते समाज का अछूत और पिछड़ा वर्ग, अनुसूचित जातियाँ और जनजातियाँ इससे सर्वाधिक प्रभावित हैं। नदीम हसनैन (1981) ने अपने महत्त्वपूर्ण सर्वेक्षण कार्य में जौनसार भाभर (देहरादून), जौनपुर (टिहरी-गढ़वाल), खांईं (उत्तर काशी) के कोल्टा मजदूरों में गहन अध्ययन के बाद बँधुआ मजदूरी और शोषण के समीकरणों को स्पष्ट किया था। क्षेत्रीय प्रथाओं के मुताबिक कोल्टा अछूत होने के कारण भूमि के स्वामी नहीं हो सकते थे। सामाजिक कुप्रथाओं के चलते वे सोने को छू भी नहीं सकते, न रख सकते हैं। ऐसे में किसी आर्थिक कठिनाई के समय न उसके पास जमीन है, न पैसा, ऐसे में उसके शरीर और मजदूरी को आसानी से बंधक बनाया जा सकता है।

बँधुआ-मजदूरी का सबसे खराब पहलू यह है कि वर्तमान में यह हरित क्रान्ति के क्षेत्रों पंजाब और हरियाणा में सर्वाधिक प्रचलित है जहाँ प्रवासी (migrant) मजदूर आसानी से बँधुआ-मजदूरी के जाल में फँस जाते हैं। प्रशासनिक और कानूनी कदमों के उठाये जाने के बावजूद बँधुआ-मजदूरी का यह शिकंजा बना हुआ है यद्यपि इसमें कमी अवश्य आयी है।

कृषिक-असंतोष (Agrarian Unrest)

ग्रामीण भारत में ग्रामीण असन्तोष की जड़ें कृषिक संरचना (agrarian structure) में हैं। यदि हम भारतीय कृषि व्यवस्था का अध्ययन करें तो पायेंगे कि भूमि के स्वामित्व, भूमि पर

नियंत्रण, आय और रहन-सहन के स्तर को लेकर बराबर भिन्नतायें रही हैं। यद्यपि पूर्व में भी आर्थिक और सामाजिक प्रकृति की असमानताएँ विद्यमान थीं, किन्तु वे परम्परागत धार्मिक विश्वासों और क्रियाकलापों के कारण असंतोष के रूप में ज्यादा उभरती नहीं थीं। धर्म और कर्म का सिद्धान्त भाग्य के सिद्धान्त के साथ जुड़कर समाज में एक सेफ्टी वाल्व का काम करता था। 'ईश्वर की कृपा' सर्वोपरि थी। निर्धन, दबा-कुचला वर्ग भी अपने को भाग्य से बँधा मानकर संतोष कर लेता था। असमानताओं को प्राकृतिक और सामान्य रूप से ग्रहण कर लिया जाता था। धीरे-धीरे कामगार समूहों में जागरूकता आयी जिसने उनके जीवन और समाज में उनके स्थान के लिए उनके विचारों में आमूल-चूल परिवर्तन ला खड़ा किया। राजनीतिक आन्दोलनों ने गरीब किसान और मजदूर वर्गों को उनके शोषण के पीछे की गणित के प्रति जागरूक बनाया और उन्हें उसके प्रति विद्रोह करने के लिए ताकत और आवाज भी दी।

कृषक असंतोष मुख्य रूप से कृषिक संरचना में लोगों के जीवन स्तर को लेकर था। कृषकों की जीवन शैली के भौतिक पक्ष में गिरावट के चलते उनका आन्दोलन उग्र हुआ। यदि हम आजादी से पूर्व के परिद्रष्य को देखें तो पता चलेगा कि 1918 के आसपास कृषकों में भी जागरूकता आनी प्रारम्भ हुई। उन्होंने सामूहिक रूप से राष्ट्रीय आन्दोलनों में भाग लिया और धीरे-धीरे अपने अलग समूह बनाये। 1922 के मोपला संघर्ष, 1923 में आन्ध्र प्रदेश में कृषक और मजदूर यूनियनें बनाना, गुजरात के बारदोली में 1928-31 में कृषक संघर्ष व 1926-27 के बीच उत्तर प्रदेश, पंजाब और बंगाल में संघर्ष हुए। इसी तरह के अन्य आन्दोलनों ने कृषक असन्तोष को हवा दी।

कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी, कम्युनिस्ट पार्टी और दूसरे अन्य कम्युनिस्ट व वामपंथी समूहों और राष्ट्रवादी नेताओं जैसे नेहरू ने किसान संगठनों को खड़ा करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। 1935 में जब लखनऊ में पहली अखिल भारतीय कांग्रेस का सम्मेलन हुआ तो भारतीय किसानों की आवाज उठाने वाला और उनकी भावनाओं को एक कार्यक्रम के माध्यम से सामने रखने वाला यह प्रथम संगठन था। दुर्भाग्य से आजादी से पूर्व विभिन्न कांग्रेसी प्रान्तीय सरकारों ने किसानों की उम्मीद के अनुसार कुछ विशेष नहीं किया। इसके चलते तत्कालीन कृषि व्यवस्था में गरीब किसानों को काफी आघात लगा।

राजनीतिक जागरूकता के चलते 1946-50 में संगठित किसानों ने कई आन्दोलन किये। महाराष्ट्र में वार्ली संघर्ष, पूर्वी बंगाल में तहबागा संघर्ष, हैदराबाद में तेलंगाना संघर्ष आदि प्रमुख हैं। इन संघर्षों में कम्युनिस्टों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई और कृषक आन्दोलनों को नेतृत्व भी प्रदान किया। आजादी के बाद नक्सली आन्दोलन कृषक असन्तोष का काफी मुखर रूप बनकर उभरा।

कृषक आन्दोलन पूरे भारत में समान रूप से नहीं फैला। आज भी यह धान की उपज वाले क्षेत्रों आन्ध्र प्रदेश, तमिलनाडु, पश्चिम बंगाल और केरल इत्यादि क्षेत्रों में ही अधिक प्रभावशाली है। इन क्षेत्रों में जनसंख्या घनत्व भी अधिक है। गरीब किसान और मजदूर वर्ग भी इस क्षेत्र में अधिक है। पश्चिम बंगाल और केरल की वामपंथी सरकारें काफी हद तक भूमि सुधार कानून लागू करने में

सक्षम रही हैं और इसके चलते बटाईदारों व पट्टेदारों के कृषक हितों की रक्षा हो सकी है।

यदि हम कृषक-असंतोष के कारणों का संक्षिप्तीकरण करें तो वे इस प्रकार हैं :

(1) ग्रामीण क्षेत्रों में आय के स्रोतों और उनके वितरण के बीच असमानता और अन्याय।

(2) कम मजदूरी, बेरोजगारी और अल्प रोजगार (under-employment)

(3) ऋणग्रस्तता, खासकर जनजातीय कृषक समाज के पास अपनी जमीन का लगातार खोते रहना।

(4) बढ़ता हुआ विस्थापन और पुनर्वास के माध्यमों का अभाव।

(5) पिछड़े और शोषित वर्ग में अपनी सामाजिक-आर्थिक दैन्यता के प्रति बढ़ती जागरूकता और भौतिक साधनों का अभाव। ज्यादातर मजदूर और कृषक वर्ग दलित-पिछड़ी जातियों और जनजातियों का है।

(6) दलितों और पिछड़ों की बढ़ती राजनीतिक चेतना व लामबंदी।

आंद्रे बीते ने कृषक असन्तोष के कारणों की चर्चा में निम्न मुद्दों को उठाया है :

(a) सामाजिक और आर्थिक असमानता के दो छोरों की उपस्थिति-एक ओर बेहद गरीब और दूसरी ओर अत्यन्त अमीर वर्ग।

(b) आजादी के बाद बढ़ता आत्मविश्वास कि असमानताएँ यदि समाप्त नहीं होतीं तो कम जरूर हो सकती हैं।

(c) निचले स्तर पर प्रचलित असमानताओं को दूर करने में प्रशासनिक व राजनीतिक अक्षमताएँ।

शताब्दियों से भारत में अपनी मूल जरूरतों को कुचलते हुए एक निम्न तबका (subaltern) रह रहा है जिसका असंतोष धीरे-धीरे हिंसक और अहिंसक रूप से लावे के रूप में फूट रहा है।

नेतृत्व और गुटसंघर्ष (Leadership and Factionalism)

ग्रामीण नेतृत्व की संरचना को दो स्तरों पर समझा जा सकता है: (1) परम्परागत नेतृत्व (traditional leadership) (2) नया उभरता हुआ नेतृत्व (emerging modern leadership)।

भारत के ग्रामीण क्षेत्रों का परम्परागत नेतृत्व जाति प्रस्थिति पर आधारित है जिसमें परिवार का आकार, सामाजिक प्रतिष्ठा, आर्थिक हैसियत, उम्र, परम्परागत कौशल, वृहत्तर समाज से सम्पर्क इत्यादि कई कारक हैं। परम्परागत नेतृत्व में रक्त-सम्बन्ध, आनुवंशिकता, अनौपचारिक नियंत्रण इत्यादि भी शामिल हैं। ग्राम पंचायत और जाति पंचायत नेतृत्व परम्परागत नेतृत्व के स्वाभाविक उदाहरण हैं।

आजादी के बाद, खासकर पंचायती-राज व्यवस्था के कानूनी रूप में आने के बाद, ग्रामीण समाज में भी लोकतंत्रीकरण की प्रक्रिया के फलस्वरूप नये नेतृत्व का उदय हुआ। ग्रामीण क्षेत्र में परम्परागत समाज में मूलभूत परिवर्तनों का दौर है। लोकतंत्रीकरण व लोकतांत्रिक विक्रेन्द्रीकरण ने एक लोकतांत्रिक नेतृत्व को विकसित करने में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। गाँव की परम्परागत शक्ति

संरचना में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आये हैं। लेकिन यह भी सही है कि अनेकों क्षेत्रों में परम्परागत अभिजात वर्ग (traditonal elite) प्रजातांत्रिक प्रक्रिया के द्वारा आधुनिक अभिजात (modern elite) बन बैठा। प्रजातांत्रिक प्रक्रिया के द्वारा ही अनेकों क्षेत्रों में परम्परागत प्रभुजातियों के प्रभुत्व को समाप्त करके पिछड़ी जातियों ने सत्ता प्राप्त की है। नयी उभरती नेतृत्व क्षमता में शिक्षा की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। नये नेतृत्व के क्षेत्र में युवा वर्ग और मध्यम आय वर्ग का शामिल होना भी एक महत्त्वपूर्ण बिन्दु है। अब एकतंत्रीय निरंकुश नेता (autocratic leader) के बजाय 'सामूहिक नेतृत्व' (collective leadership) का सामने आना भी एक महत्त्वपूर्ण बदलाव है।

यदि हम ग्रामीण समाज में गुटवाद पर नजर डालें तो गुटबाजी का मूल इस प्रकार समझा जा सकता है : गुट अपने मूल रूप में राजनीतिक होगा जो अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए संघर्षरत होगा। गुट में व्यक्ति का शामिल होना, गुट के उद्देश्यों और गुट के नेता में विश्वास अर्जित करने पर ही संभव है। ग्रामीण समाज में गुट हमेशा महत्त्वपूर्ण रहे हैं जिसके अन्तर्गत न केवल सामाजिक बल्कि आर्थिक और राजनीतिक लक्ष्यों की पूर्ति भी महत्त्वपूर्ण है। अन्य समूहों की भाँति ग्रामीण गुट या समूह भी एक छोटे आकार का सामाजिक समूह है जो अपने कुछ सामान्य लक्ष्यों और हितों की पूर्ति के लिए सतत प्रयत्नशील है। ऑस्कर लुईस ने 1953 में उत्तर भारत के ग्रामीण क्षेत्रों के महत्त्वपूर्ण अध्ययन में ग्रामीण-गुटवाद के निर्धारण में निम्न कारकों को रखा था :

(i) भूमि के उत्तराधिकार (Succession) का झगड़ा;
(ii) बच्चा गोद लेने पर झगड़ा;
(iii) जमीन और सिंचाई सम्बन्धी झगड़े;
(iv) यौन-सम्बन्धी अपराधों के कारण झगड़े;
(v) हत्या;
(vi) अन्तरजातीय झगड़े।

पॉल ब्रास ने गुटबाजी को भारतीय परम्परागत समाज का एक अटूट हिस्सा कहा है क्योंकि इसको समझे बिना तत्कालीन राजनीति को समझना मुश्किल है। उत्तर प्रदेश के पाँच जिलों के अध्ययन के बाद पॉल ब्रास ने जारी गुटबाजी के तीन महत्त्वपूर्ण कारण निर्धारित किये :

(a) बाहरी धमकियों व दबावों का अभाव;
(b) वैचारिक स्तर पर एकता का अभाव;
(c) प्रभावशाली सत्ता (authority) का अभाव।

संक्षेप में गुटबाजी के कारण और परिणामों को जाति-प्रथा, जजमानी, धार्मिक आस्थाओं में बदलाव, अलग-अलग राजनीतिक विचारधाराओं में विश्वास, वर्ग-संचेतना, पंचायती राज और सहकारिता के उदय के नजरिये से देखा जा सकता है। गुटबाजी यूँ तो स्वयं में ही घातक है किन्तु इसके चलते सामाजिक सुख-शान्ति और राजनीतिक आर्थिक लक्ष्यों की पूर्ति भी बाधित होती है।

जनतंत्रीकरण और नेतृत्व (Democratization and Leadership)

ग्रामीण भारत की परम्परागत-शक्ति संरचना के तीन आधार थे : ज़मींदारी व्यवस्था, गाँव

पंचायत और जाति पंचायत। सत्ता व्यवस्था में उच्च जाति के संभ्रांत समूहों का प्रभुत्व था। नेतृत्व कमोबेश वंशानुगत था। निम्न-मध्य स्तरीय जातियों का बहुतायत में होने के बावजूद निर्णय लेने की प्रक्रिया में व सत्ता की भागीदारी में हिस्सा नगण्य था।

आजादी के बाद ज़मींदारी व्यवस्था का उन्मूलन हुआ और लोकतंत्र के उदय के साथ ग्रामीण क्षेत्रों मे भी सत्ता के लोकतंत्रीकरण का प्रयास हुआ। सत्ता समीकरण के आर्थिक और सामाजिक ढाँचे में ज़मींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार कार्यक्रमों से व्यापक परिवर्तन आये। ग्रामीण विकास कार्यक्रमों और विशेषकर कमजोर तबकों की शिक्षा और विकास ने ग्रामीण भारत की सामाजिक गतिकी को नया आयाम दिया। प्रदत्त प्रस्थिति (ascribed status) के स्थान पर अर्जित प्रस्थिति (achieved status) ने सत्ता समीकरण को नया रूप दिया। नेतृत्व के नजरिये से ग्रामीण समाज में सत्ता व शक्ति के दो स्रोत रहे हैं।

1. जन्म और कर्मकाण्डीय आधारित श्रेष्ठता।
2. संख्यात्मक शक्ति।

जनतंत्रीकरण समीकरणों में निश्चय ही संख्यात्मक दृष्टिकोण प्रधान था। फिर भी परम्परागत शक्ति समीकरण जनतंत्र की व्यवस्था में भी महत्त्वपूर्ण बना रहा। चुनावों के दौरान उच्च जातियों के समूह काफी शक्तिशाली रहे। फिर भी धीरे-धीरे व्यवस्था में परिवर्तन दिखायी देने लगे।

यदि हम ग्रामीण नेतृत्व पर एक नजर डालें तो जनतंत्रीकरण के फलस्वरूप नये उभरते प्रतिमान इस प्रकार हैं :

(a) **जनतांत्रिक नेतृत्व का उभार** : जनतांत्रिक व्यवस्था में एक नया जनतांत्रिक नेतृत्व उभरा। ग्रामीण क्षेत्रों में परम्परागत वंशानुगत नेतृत्व पूर्व निर्धारित हैसियत, भूमि के मालिकाना हक और जातीय समीकरणों पर आधारित था। इन सभी कारकों का प्रभाव धीरे-धीरे कम होने लगा। जनतांत्रिक व्यवस्था में व्यक्ति का स्वयं का अवदान (contribution) और गुटीय शक्ति महत्त्वपूर्ण है। जनतांत्रिक प्रक्रिया ने सेक्युलर नेतृत्व को भी प्रोत्साहन दिया। इस प्रकार परम्परागत नेतृत्व लगभग मूल रूप से परिवर्तन की ओर अग्रसर हुआ।

(b) **शिक्षा** : परिवर्तन की दिशा में शिक्षा एक महत्त्वपूर्ण कारक थी। विस्तृत रूप से निरक्षता के माहौल में नेतृत्व के लिए शिक्षा कोई महत्त्वपूर्ण अर्थ नहीं रखती थी। परन्तु बदलते समय के साथ-साथ कुशल नेतृत्व के लिए शिक्षा भी एक आवश्यक शर्त के रूप में सामने आयी।

(c) **नेतृत्व के लिए विशेषज्ञता** : बढ़ती हुई सामाजिक-आर्थिक गतिशीलता में ग्रामीण परिवेश में बहुलता (pluralism) धीरे-धीरे महत्त्वपूर्ण होने लगा। अब एक ही नेता सभी कार्यों के लिये उपयुक्त नहीं रहा।

(d) **युवा शक्ति का उदय** : परम्परागत स्तरीकरण प्रारूप (traditional stratification model) में सत्ता-समीकरण में आयु एक महत्त्वपूर्ण कारक थी। 'बड़े-बूढ़ों की समिति' (council of elders) इसका उदाहरण है। लोगों का मानना था कि उम्र और अनुभव नेतृत्व के लिए

आवश्यक है। शिक्षा और पश्चिमीकरण के प्रभाव के चलते खासकर अंग्रेजी ज्ञान ने युवा नेतृत्व को उभारा।

इनके अतिरिक्त नेतृत्व में गतिशीलता, समूह नेतृत्व क्षमता, राजनीतिक पार्टियों पर आधारित नेतृत्व आदि को भी ग्रामीण क्षेत्र में जनतंत्रीय नेतृत्व के लिए जिम्मेदार माना जा सकता है। दलित और पिछड़े वर्गों में बढ़ती हुई राजनीतिक चेतना और जनतंत्र के सिद्धान्तों से ग्रामीण नेतृत्व और शक्ति संरचना में व्यापक परिवर्तन आया है।

जनसशक्तिकरण (Empowerment of People) : पंचायती राज और 73वाँ संशोधन

स्वशासित ग्राम्य समुदाय जो कि साम्राज्यवाद के उत्थान और पतन के बीच बच गये वे उपनिवेशपूर्व भारत का महत्त्वपूर्ण हिस्सा हैं। वह देश, जिसकी 70 प्रतिशत जनता गाँवों में रहती है उसके लिए विकेन्द्रीकृत लोकतंत्र की प्रभावी व्यवस्था होना अति आवश्यक था। भूमि सुधार, सहकारी संस्थाएँ और सामुदायिक विकास के आन्दोलन, एक समृद्ध गतिशील और अच्छी लोकतांत्रिक ग्रामीण व्यवस्था के लिए आवश्यक हैं।

पंचायती-राज का दर्शन महात्मा गांधी के सपनों पर आधारित है कि "ग्राम स्वराज्य के माध्यम से लोग जब व्यवस्था में स्वयं प्रतिभागी होंगे तभी सच्चा लोकतंत्र होगा।" संविधान के अनुच्छेद 40 के अनुसार, "राज्य को पंचायत के ऐसे अधिकार और जिम्मेदारियाँ देनी चाहिए कि यह स्वशासन की इकाई संस्था बन सके।" संविधान के नीति निर्देशक सिद्धान्तों के अनुसार पंचायती राज संस्थाओं में शक्तियों और कार्य को विकेन्द्रित करने की संकल्पना की गयी थी।

1950 में जब ग्रामीण विकास के कार्यक्रमों को प्रारम्भ किया गया था तो उसमें महात्मा गांधी के 'ग्राम-स्वराज्य' की संकल्पना शामिल नहीं हो सकी। सामुदायिक विकास के कार्यक्रम में लोगों की समुचित भागेदारी भी नहीं हो सकी और यह दिशाहीन कार्यक्रम हो गये। स्थिति का आंकलन करने के लिए 1957 में बलवन्तराय मेहता कमेटी का गठन हुआ। इस कमेटी के निष्कर्षों में यह कहा गया कि जब तक गाँव-स्तर पर पूरे समुदाय का प्रतिनिधित्व करने वाली कोई संस्था नहीं होगी जिसे आवश्यक नेतृत्व देकर विकास कार्यक्रमों को लागू करने की जिम्मेदारी दी जाये तब तक कोई महत्त्वपूर्ण ग्रामीण विकास कार्यक्रम लागू नहीं हो पायेंगे। सामुदायिक कार्यों में जन-भागीदारी वैधानिक तौर पर हो, यह इस स्थिति की संस्तुति थी जो कि काफी महत्त्वपूर्ण थी। इस समिति ने 1959 में पंचायती राज व्यवस्था लागू करने की संस्तुति की। मेहता समिति की सिफारिशों के अनुसार सभी राज्यों में लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया के तहत पंचायती राज संस्थाओं के गठन की प्रक्रिया तेज हुई। तत्पश्चात् *नेशनल डेवलेपमेंट काउन्सिल* ने भी लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण के मेहता कमेटी के मूल सिद्धान्तों को लागू करने की सिफारिश की और उसके लिए आवश्यक संरचनात्मक व्यवस्था को राज्य सरकारों की आवश्यकताओं पर छोड़ दिया।

व्यापक रूप में देखें तो पंचायती राज और स्थानीय स्वशासन प्रशासनिक व्यवस्था का ही विकेन्द्रीकरण है। यह व्यवस्था निम्नांकित सिद्धान्तों पर आधारित है :

(i) स्थानीय स्वशासन इकाइयों से लेकर जिला स्तर तक एक त्रिस्तरीय स्वशासन व्यवस्था होनी चाहिये, जिसमें निचले स्तर से लेकर ऊपर के स्तर तक एक सवयवी समन्वय (organic link) बना रहे।

(ii) इन निकायों को व्यवस्थित रूप से जिम्मेदारियाँ और अधिकार सौंपे जाने चाहिए।

(iii) अपने अधिकारों का उपयोग उचित रूप में होने देने के लिए इनके पास पर्याप्त वित्तीय अधिकार भी होने चाहिए।

(iv) ग्राम स्तर के सभी विकास कार्यक्रम इन्हीं संस्थाओं के माध्यम से लागू किये जाने चाहिए।

(v) व्यवस्था इस प्रकार लागू की जानी चाहिए कि आवश्यकतानुसार पर्याप्त विकेन्द्रीकरण भविष्य में भी लागू हो सके।

पंचायती राज के ढाँचे में तीन मुख्य अंग हैं : **ग्राम पंचायत, पंचायत समिति** और **जिला परिषद्**। विभिन्न राज्यों में इन स्तरों के नामों में कुछ अन्तर हो सकता है। व्यापक दृष्टिकोण में पंचायती राज व्यवस्था शासन की सम्पूर्ण प्रक्रिया है और यह एक प्रकार से लोगों को 'गाँव सभा से लोकसभा' तक जोड़ने की व्यवस्था है।

सामुदायिक विकास मंत्रालय की 1964-65 की रिपोर्ट के अनुसार पंचायती राज के माध्यम से नौजवान और ऊर्जावान नेतृत्व सामने आयेगा और इससे निचले स्तर तक लोगों में संतुष्टि की भावना जाग्रत होगी। पंचायती राज व्यवस्था की स्थापना ने स्थानीय नेतृत्व को उभार दिया। लोकतांत्रिक चुनावों के माध्यम से सत्ता के नये केन्द्र सामने आये। इसने स्थानीय स्तर पर बहुत से नये लोगों को नेतृत्व का मौका दिया जबकि पहले की स्थानीय परम्परागत व्यवस्था में राजनीतिक या प्रशासनिक स्तर पर सामाजिक-राजनीतिक कारणों के चलते यथास्थिति (status quo) की प्रवृत्ति बनी रही थी।

1977 में अशोक मेहता कमेटी के बनने के बाद पंचायती राज की अवधारणा और व्यावहारिक रूप में काफी परिवर्तन आये। इस कमेटी की स्थापना पंचायती राज की संस्थाओं की कार्यप्रणाली को देखने और उन्हें और मजबूत करने के उपाय सुझाने के लिए की गयी थी। अशोक मेहता कमेटी की संस्तुतियों के आने के बाद जिन राज्यों में पंचायती राज व्यवस्था की स्थापना हुई उन्हें दूसरी पीढ़ी की पंचायती राज संस्थाएँ कह सकते हैं। 1979 में पश्चिम बंगाल पहला राज्य था जिसने अशोक मेहता कमेटी की सिफारिशों पर आधारित पंचायती राज व्यवस्था लागू करके उसे नया जीवन दिया। कर्नाटक, आन्ध्र प्रदेश, जम्मू और कश्मीर ने भी अशोक मेहता समिति की सिफारिशों के आधार पर अपनी व्यवस्थाओं में काफी परिवर्तन किये। इस दूसरी पीढ़ी की पंचायती राज व्यवस्था में स्थानीय निकायों को काफी अधिकार दिये गये अतः उससे कार्यक्रमों और उनके क्रियान्वयन के स्तर पर काफी उत्साह जाग्रत हुआ। पश्चिम बंगाल का उदाहरण सफलता की कहानी बन गया।

फिर भी द्वितीय चरण का पंचायती राज भी उचित संवैधानिक प्रावधानों के अभाव में अपेक्षित सफलता प्राप्त नहीं कर सका। इसके चलते 64वाँ संविधान संशोधन विधेयक 1989

में संसद में प्रस्तुत किया गया। लेकिन तकनीकी कारणों से यह बिल पास नहीं हो सका। 1991 में कांग्रेस सरकार ने 73वाँ संविधान संशोधन विधेयक (पंचायत) व 74वाँ संशोधन (नगरपालिका और स्थानीय निकाय) प्रस्तुत किया।

73वाँ संशोधन विधेयक

लम्बी प्रक्रिया के बाद अंततः 1993 में 73वाँ और 74वाँ संविधान संशोधन विधेयक पास हुआ। इन संविधान संशोधनों से त्रिस्तरीय व्यवस्था लागू हुई : जिला, तालुका/ब्लाक और ग्राम स्तर ग्रामीण क्षेत्रों में और नगर पंचायत छोटे शहरी क्षेत्रों में अस्तित्व में आये। जबकि बड़े शहरी क्षेत्रों में नगरपालिकाएँ और नगर निगम यथावत थे। स्थानीय स्वशासी संस्थाओं का कार्यकाल 5 वर्ष का तय हुआ और भंग होने की स्थिति में 6 माह के भीतर यह संस्थाएँ पुनः चुनावी प्रक्रिया से बनेंगी, यह विधान किया गया। जनसंख्या के अनुपात में अनुसूचित जाति/जनजाति के भी सदस्य होंगे और एक तिहाई संख्या में महिलाएँ भी सभी स्तरों पर होंगी। अन्य पिछड़ी जातियों का आरक्षण राज्य विधायिकाओं पर छोड़ दिया गया और अधिसंख्य राज्य सरकारों ने राज्य की पिछड़ी जातियों को आनुपातिक प्रतिनिधित्व दिया। सभी राज्य सरकारों द्वारा एक राज्य वित्त आयोग (state finance commission) की स्थापना का प्रावधान भी रक्खा गया जो इन स्थानीय निकायों के लिये राजस्व निर्धारण करेगा।

73वें संविधान संशोधन विधेयक के बाद XIवीं अनुसूची बढ़ाई गई, जिसके अन्तर्गत निम्न विषयों को शामिल किया गया :

1. कृषि, कृषि-विस्तार (agricultural extension) भी इसमें शामिल है
2. भू-सुधार, भूमि सुधार कार्यक्रमों का क्रियान्वयन, भूमि चकबन्दी (land consolidation) और भूसंरक्षण।
3. लघु सिंचाई, जल प्रबंधन, जल संचय कार्यक्रम
4. पशुपालन, डेरी और मुर्गीपालन
5. मछली पालन
6. सामाजिक वानिकी और कृषि वानिकी
7. लघु वन उत्पाद
8. लघु उद्योग जिसमें खाद्य प्रक्रमण उद्योग (food processing industry) भी शामिल है
9. खादी, ग्रामीण और कुटीर उद्योग
10. ग्रामीण गृह-व्यवस्था (rural housing)
11. पेयजल
12. ईंधन और चारा
13. सड़कें, पुल, जल-परिवहन और संचार के अन्य साधन

14. ग्रामीण विद्युतीकरण जिसमें विद्युत वितरण भी शामिल है
15. गैर परम्परागत ऊर्जा स्रोत
16. गरीबी-उन्मूलन कार्यक्रम
17. प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा
18. तकनीकी और व्यावसायिक शिक्षा
19. प्रौढ़ और अनौपचारिक शिक्षा
20. पुस्तकालय
21. सांस्कृतिक कार्यक्रम और गतिविधियाँ
22. बाजार और मेले
23. स्वास्थ्य और सफाई कार्यक्रम जिसमें अस्पताल, स्वास्थ्य केन्द्र और डिस्पेंसरी भी शामिल हैं
24. परिवार कल्याण
25. महिला और बाल कल्याण
26. सामाजिक-कल्याण जिसमें विकलांग कल्याण और मानसिक रुग्णता वाले लोग भी शामिल हैं
27. पिछड़े और कमजोर तबकों का विकास खासकर अनुसूचित जाति/जनजाति।
28. सार्वजनिक वितरण व्यवस्था
29. सामुदायिक सम्पत्तियों (community assets) की देखभाल

1993 के संवैधानिक संशोधन के बाद बहुत से राज्यों ने संविधान की 11वीं अनुसूची में दर्ज इन 29 कार्यों में से कई स्थानान्तरित (delegate) कर दिये। यद्यपि कार्यों का स्थानान्तरण तो अधिकांश राज्यों में हो गया, किन्तु फंड का स्थानान्तरण कुछ ही राज्यों में हुआ।

73वाँ संविधान संशोधन विधेयक महिलाओं के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। लोकतंत्र की सबसे निचली पायदान पर पंचायतों में महिलाओं का प्रतिनिधित्व इस विधेयक द्वारा निश्चित किया गया। एक तिहाई सदस्यता के अलावा जब एक तिहाई महिलाएँ पंचायत अध्यक्ष होंगी तो पंचायत के माध्यम से लाखों महिलाएँ नेतृत्व की भूमिका में आ जायेंगी। यद्यपि पारम्परिक पितृसत्तात्मक समाज में महिलाओं के अधिकार और उनका नेतृत्व पचा पाना आसान नहीं है, किन्तु धीरे-धीरे महिलाओं के बढ़ते आत्मविश्वास और कार्यक्षमता ने यह सिद्ध करना शुरू कर दिया है कि इस दी गई अधिकार क्षमता से धीरे-धीरे ही सही वे सफलता की सीढ़ियाँ चढ़ती हुई अपनी मंजिलें हासिल कर लेंगी। महिला सशक्तिकरण का क़दम अब पीछे हटने वाला नहीं है।

❑

अध्याय 9

ग्रामीण पुनर्निर्माण तथा नियोजन

(Rural Reconstruction and Planning)

अंग्रेजों की औपनिवेशिक नीति के फलस्वरूप भारत के गाँव अत्यधिक दरिद्र होते गए तथा ग्रामीण अर्थव्यवस्था पूर्णतः छिन्न-भिन्न हो गई। भारत के स्वतंत्र होने के पश्चात् ग्रामीण भारत का सर्वप्रमुख उद्देश्य ग्रामीण पुनर्रचना करना हो गया। शाब्दिक अर्थों में 'ग्रामीण पुनर्निर्माण' का आशय ग्रामीण जीवन को एकदम नए सिरे से रचने हेतु किए गए सामूहिक प्रयासों की व्यवस्था से है। ग्रामीण पुनर्निर्माण की कोई भी योजना मुख्यतः चार अंगों में बँटी होती हैः

(क) संगठित प्रयास

(ख) सामाजिक-आर्थिक विकास का कोई निश्चित कार्यक्रम

(ग) अपने विकास के लिए बनाए गए कार्यक्रमों हेतु ग्रामीणों में व्याप्त सचेतनता एवं उन कार्यक्रमों को इस वर्ग द्वारा प्राप्त मंजूरी

(घ) इन कार्यक्रमों द्वारा अपेक्षित परिवर्तन लाने का प्रयास

अतः ग्रामीण पुनर्निर्माण को 'एकल दिशा यातायात' की तरह एकल अवधारणा के रूप में नहीं लिया जा सकता। राज्य विकास–कार्यक्रम प्रायोजित कर सकता है तथा निर्देशन भी प्रदान कर सकता है किन्तु जनता को भी इन कार्यक्रमों की अपेक्षित सफलता हेतु इनमें भागीदारी करनी पड़ेगी तथा इनके प्रति प्रतियोत्तर (response) देना पड़ेगा। इनमें से किसी भी वर्ग द्वारा इन कार्यक्रमों में रुचि न लेने से ग्रामीण पुनर्निर्माण हेतु बनाए गये कार्यक्रम प्रभावहीन एवं निरर्थक हो जाएँगे। अतः ग्रामीण पुनर्निर्माण कार्यक्रम एक अवधारणा है तथा यह तथ्य स्पष्ट करता है कि ग्रामीण पुनर्निर्माण केवल तभी सार्थक हो सकता है जबकि सरकार एवं जनता इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु संगठित एवं सुव्यवस्थित प्रयत्न करें। भारत में ग्रामीण पुनर्निर्माण का मुख्य उद्देश्य सरकार, जनता एवं गैर-सरकारी संगठनों (NGOs) के संगठित प्रयत्नों द्वारा कुछ निश्चित मंतव्यों की पूर्ति करना है। ग्रामीण पुनर्निर्माण के उद्देश्यों को निम्न बिन्दुओं द्वारा समझा जा सकता है–

(क) ग्रामीण जनसंख्या के सामाजिक एवं आर्थिक विकास हेतु समस्त जनता की शक्ति एवं उपलब्ध संसाधनों का अधिक से अधिक मात्रा में उपयोग।

(ख) नवीनतम् यंत्रों एवं औजारों की मदद से पारम्परिक पिछड़ी कृषि-व्यवस्था की प्रौद्योगिक रूप से प्रगति।

(ग) असमानता की भावना को कम करना तथा भूमि सुधारों द्वारा कृषि-उत्पादकता को बढ़ाना।

(घ) विशाल ग्रामीण जनता को कर्जदारी से छुटकारा दिलाना तथा उनके जीवन-स्तर में वृद्धि करना।

(ङ) बँधी हुई आय प्राप्त करने हेतु कुटीर-उद्योगों का विकास करना।

(च) स्वच्छ पीने योग्य जल, स्वास्थ्य एवं आवास सुविधाओं की व्यवस्था करके लोगों का स्वास्थ्य स्तर ऊँचा उठाना।

(छ) स्वस्थ नेतृत्व के विकास में सहायता प्रदान करना।

(ज) किसी प्रकार की आपदा से निपटने हेतु बनाए गए कार्यक्रमों को सुदृढ़ रूप प्रदान करना।

(झ) एक ऐसा सामाजिक परिवर्तन लाने का प्रयास करना जो जातिवाद, अस्पृश्यता एवं अन्य सामाजिक बुराइयों का खण्डन कर सके।

(अ) संस्कृति एवं प्रौद्योगिकी में सकारात्मक परिवर्तनों को स्वीकार करने हेतु उपयुक्त सोच का विकास करने में सहायक होना।

ग्रामीण पुनर्निर्माण के महत्त्व को समझते हुए स्वतंत्रता के पश्चात् इस दिशा में उल्लेखनीय प्रयास किए गए हैं। ग्रामीण नियोजन को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया गया, जिसका मुख्य उद्देश्य सीमित संसाधनों का अधिकाधिक उपयोग करना था। स्वतंत्रता के बाद राज्य द्वारा ग्रामीण विकास कार्यक्रमों/परियोजनाओं के जनतांत्रिक नियोजन का रास्ता अपनाया गया।

स्वतंत्रता-पूर्व भी ग्रामीण विकास की दिशा में कुछ कदम उठाए गए थे जिन्होंने भविष्य में इस दिशा में होने वाले प्रयासों को प्रेरित किया। स्वतंत्रता के पश्चात् प्रारम्भ किए जाने वाली निम्न परियोजनाएँ भारत में ग्रामीण पुनर्निर्माण का आधार स्तम्भ हैं–

(1) **भू-दान** एवं **ग्रामदान** आन्दोलन।

(2) पंच-वर्षीय योजनाएँ।

(3) अलबर्ट मेयर की फिरका एवं इटावा परियोजनाएँ।

(4) एकीकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रम (आई.आर.डी.पी.)

(5) **अन्त्योदय** कार्यक्रम

(6) राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम (एन.आर.ई.पी.)

(7) ग्रामीण भूमिहीन रोजगार सुरक्षा कार्यक्रम

(8) जवाहर रोजगार योजना

(9) पंचायत राज एवं ग्रामीण विकास योजना

(10) ग्रामीण इलाकों में स्त्रियों एवं बच्चों के विकास हेतु परियोजनायें

भारत सरकार द्वारा नियमित रूप से प्रकाशित वार्षिक रिपोर्ट के ताज़ा संस्करण '**भारत-**

2003' ने ग्रामीण विकास का निम्नलिखित ब्यौरा दिया है।

भारत ने आजादी के समय से विकास के लिए लंबी दूरी तय की है और विभिन्न क्षेत्रों में उन्नति भी की है। तब भी राष्ट्रीय जीवन के अन्य पहलुओं में अभी सभी दृष्टि से कुल विकास नहीं हो पाया है। अभी भी गाँव की लगभग 27 प्रतिशत आबादी गरीबी में जीवन यापन करती है और ग्रामीण क्षेत्र में घर, पीने का पानी, सड़क जैसी बुनियादी सुविधाओं की भारी कमी है।

राष्ट्रीय पुनर्निर्माण की प्रक्रिया में ग्रामीण विकास को महत्त्व प्रदान करने की दृष्टि से हाल के वर्षों में सुधार के कदम उठाए गए हैं, ताकि असंतुलन को दूर किया जा सके। ग्रामीण विकास मंत्रालय ने ग्रामीण क्षेत्रों में विभिन्न कार्यक्रमों द्वारा स्थायी विकास लाने के लिए बड़ी मात्रा में पूँजी लगाई है। सामरिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण गरीब समर्थित नीति में ग्रामीण गरीबों को उनके अपने परिपूर्ण विचार और क्षेत्रीय परिस्थितियों के उनके अनुभवों को लेकर शुद्ध साधन की तरह विकास रणनीति का अभिन्न हिस्सा बनाया गया है। इस प्रक्रिया में समाज के सबसे पिछड़े वर्ग को उच्च प्राथमिकता दी गई है। ग्रामीण क्षेत्रों के विकास को कायम रखने के लिए ग्रामीण विकास के प्रावधान में भारी मात्रा में वृद्धि की गई है। वर्ष 2000-01 के लिए बजट प्रावधान 9,760 करोड़ रुपये की तुलना में वर्ष 2001-02 में यह बजट प्रावधान 12,265 करोड़ रुपये रखा गया। वर्ष 2002-03 के लिए यह पुनः बढ़ाकर 13,670 करोड़ रुपये का बजट प्रावधान किया गया।

सरकारी पहल पर ग्रामीण क्षेत्रों में गरीबी उन्मूलन के कार्यक्रमों को प्रधानता दी गई है। ग्रामीण क्षेत्रों में गरीबी को कम करने के लिए सरकार ने प्रत्येक वर्ष इन कार्यक्रमों की समीक्षा कर उन्हें प्रभावी ढंग से लागू करने के प्रयास किए हैं। देश की औसत आबादी के संबंध में अगर हम देखें तो ग्रामीण गरीबी, जिसका प्रतिशत वर्ष 1973-74 में 56.44 प्रतिशत था, वह घटकर वर्ष 1993-94 में 37.27 प्रतिशत रह गया है। तो भी इस महत्त्वपूर्ण विषय पर चिंता करते हुए आकलन किया गया कि अभी भी ग्रामीण क्षेत्रों में लगभग 193 अरब आबादी गरीबी के तले है, जिसके लिए गरीबी उन्मूलन कार्यक्रमों के ढाँचे के पुनर्निर्माण के लिए समीक्षा की गई। स्वर्ण जयंती ग्राम स्वरोजगार योजना व ढाँचे का पुनर्गठन इसी ताजा समीक्षा का नतीजा है। *स्वर्ण जयंती ग्राम स्वरोजगार योजना* पहले के कार्यक्रमों की रणनीति के सपने सजोने से अलग है, जिसे स्वरोजगार योजना, स्वयं सहायता समूहों के ग्रामीण संगठनों, और उनके क्षमता निर्माण, प्रशिक्षण, स्लम बस्तियों के क्रियाकलापों की योजना, ढाँचे का निर्माण, टेक्नोलोजी और बिक्री कला के सहयोग के एक समग्र कार्यक्रम के रूप में देखा गया।

भारत के पुनरुत्थान और राष्ट्रीय नवनिर्माण के लिए लाभकारी रोजगार, खाद्य सुरक्षा और ग्रामीण क्षेत्रों में आधारभूत ढाँचे को प्रभावशाली होना चाहिए। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए 25 सितंबर, 2001 को संपूर्ण ग्रामीण रोजगार योजना शुरू की गई। इस योजना को संजोने के लिए वार्षिक खर्च 10,000 करोड़ रुपये रखा गया। इस योजना के अंतर्गत पंचायतों द्वारा दिए

गए रोजगार के तहत तो लोग स्थायी परिसंपत्तियों का निर्माण करेंगे, उन्हें नकद तथा अनाज के रूप में भुगतान किया जाएगा। इसके लिए केंद्र द्वारा 50 लाख टन अनाज हर वर्ष राज्यों के लिए निर्धारित किया गया है, जिसकी कीमत 5,000 करोड़ रुपये है। केन्द्र सरकार की सभी रोजगार संबंधी योजनाओं का विलय कर दिया जाएगा। इस योजना से 100 करोड़ श्रम दिवसों के बराबर रोजगार के अवसर उपलब्ध होने की उम्मीद है।

राज्य सरकार व केंद्र सरकार द्वारा किए गए विभिन्न कार्यक्रमों के प्रयासों पर न डटे रहने के कारण आज भी लगभग 40 प्रतिशत निवासी सड़कों के जुड़ने से दूर हैं, जबकि ग्रामीण योजक और उत्पादन का व्यापार, शिक्षा, रोजगार और स्वास्थ्य क्षेत्र में गहरा नाता है। दिसम्बर 2000 से प्रत्येक गाँव को सड़कों से जोड़ने के लिए **प्रधानमंत्री ग्राम सड़क योजना** शुरू की गई।

ग्रामीण आबादी को पेयजल मुहैया कराने में विचारणीय सफलता प्राप्त की गई। जलापूर्ति स्कंध में अभी तक 34,000 करोड़ रुपये से भी अधिक निवेश कर 88.01 प्रतिशत निवासियों को पूरी तरह पेयजल मुहैया कराया गया, जबकि 10.71 प्रतिशत निवासियों को आंशिक रूप से जल मुहैया कराया गया। भारत सरकार ने ग्रामीण जलापूर्ति कार्यक्रम का पुनर्शोधन किया है, जो अन्य बातों के साथ-साथ समुदाय-आधारित ग्रामीण जलापूर्ति व्यवस्था को संस्थागत रूप देने व जनता की भागेदारी सुनिश्चित करने के आधारभूत सिंद्धातों पर आधारित है।

ग्रामीण क्षेत्रों में आवास की भारी कमी है। वर्ष 1991 की गणना के अनुसार ग्रामीण क्षेत्रों में 13.72 अरब आवासों की कमी थी, जिसमें 3.41 अरब निवासी बिना घरों के और 10.31 अरब कच्चे घरों वाले शामिल थे। यह भी आकलन किया गया कि जनसंख्या वृद्धि के साथ 1991-2002 तक 10.75 अरब और घरों की जरूरत होगी। ग्रामीण क्षेत्रों में आवास की कमी दूर करने के लिए समग्र आवास योजना शुरू की गई, जिसके अंतर्गत प्रति वर्ष ग्रामीण क्षेत्रों में 25 लाख मकानों का निर्माण व कच्चे घरों की मरम्मत का लक्ष्य रखा गया।

राष्ट्रीय स्रोत के प्राकृतिक संसाधनों में भूमि, ग्रामीण क्षेत्र के विकास और आर्थिक बढ़ोत्तरी के लिए पक्ष प्रबंधन का बेहद महत्त्व है। देश के भौगोलिक क्षेत्र में लगभग 20 प्रतिशत (63.85 अरब हेक्टेयर) मरुभूमि में 37 अरब हेक्टेयर बंजर भूमि है और 89 अरब हेक्टेयर वर्षा वाले क्षेत्र में है व 14 अरब हेक्टेयर भूमि अधोगति जंगल क्षेत्र में है। इस मुश्किल भूमि के प्रबंधन की चुनौतियों और जरूरत के मद्देनजर अप्रैल 1999 में ग्रामीण विकास मंत्रालय में अलग से भूमि संसाधन विभाग बना। सभी भूमि और क्षेत्र विकास कार्यक्रम को अप्रैल 1995 से जलविभाजक विकास पहुँच के जरिए लागू करने का निर्देश हनुमंत राव कमेटी की सिफारिशों से हुआ।

विकास को शामिल करने और उसके अंतिम लक्ष्य में ग्रामीण समुदाय की सशक्तता के लिए चार-सूत्री रणनीति चलाई गई, जिसमें योजनाओं के प्रति जागृति बढ़ाने, कार्यक्रम लागू करने में पारदर्शिता लाने, लोगों की हिस्सेदारी बढ़ाने और मंत्रालय द्वारा सामाजिक निरीक्षण का

उत्तरदायित्व निश्चित करने को शामिल किया गया।

प्रधानमंत्री ग्राम सड़क योजना

सौ प्रतिशत केंद्र द्वारा प्रायोजित प्रधानमंत्री ग्राम सड़क योजना दिसंबर 2000 को शुरू की गई। इस योजना का उद्‌देश्य 1,000 से अधिक जनसंख्या वाले प्रत्येक गाँव को 2003 तक तथा 500 से अधिक जनसंख्या वाले गाँवों को दसवीं योजना के अंत तक, यानी 2007 तक अच्छी बारहमासी सड़कों से जोड़ना है। पहाड़ी राज्यों की बाबत (उत्तर-पूर्व, सिक्किम, हिमाचल प्रदेश, जम्मू-कश्मीर, उत्तरांचल) और रेगिस्तानी क्षेत्रों में 250 के लगभग आबादी वाले गाँवों को सड़कों से जोड़ने का लक्ष्य है।

एक अप्रैल 2000 के मुताबिक देश के 8.25 लाख निवासियों में 3.30 लाख निवासी किसी भी मौसमी सड़कों से नहीं जुड़े थे। प्रधानमंत्री ग्राम सड़क योजना ने इसमें 1.60 लाख लोगों को सड़कों से जोड़ा। इसके अलावा, पहले से बनी सड़कों की मरम्मत के लिए दसवीं योजना तक 60,000 करोड़ के बजट का आकलन किया। वर्ष 2000-01 और 2001-02 में सड़क कार्यों के लिए विभिन्न स्तर पर 7,553.28 करोड़ रुपये खर्च किए गए। जून 2002 तक एकत्रित खर्च में 1,887.23 करोड़ रुपये प्राप्त किए गए।

ग्रामीण जलापूर्ति कार्यक्रम

ग्रामीण निवास-स्थानों में पेजयल सुविधाएँ राज्य स्कंध न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम के तहत प्रदान की जाती हैं। केन्द्र द्वारा प्रायोजित त्वरित ग्रामीण जलापूर्ति कार्यक्रम के तहत सहायता प्रदान कर केंन्द्र सरकार राज्य सरकारों के प्रयासों में बल प्रदान करती है, साथ ही, राज्यों को जलापूर्ति योजनाओं के नियोजन तथा क्रियान्वयन के लिए अधिकार दिए गए।

केंद्र सरकार के प्रशासन हेतु राष्ट्रीय एजेंडा में अगले पाँच वर्षों में सभी के लिए सुरक्षित पेयजल के प्रावधान की घोषणा की गई है। इस उद्देश्य को प्राप्त करने हेतु बनाई गई रणनीति में निम्न मुद्दे शामिल हैं: बचे हुए ग्रामीण क्षेत्रों तथा ऐसे क्षेत्रों को सुरिक्षत पेयजल व्यवस्था शीघ्र प्रदान करना, जहाँ केवल कुछ लोगों को पेयजल की व्यवस्था उपलब्ध है; प्रभावित निवास स्थानों में जल की गुणवत्ता संबंधी समस्याओं से लड़ना तथा जल गुणवत्ता प्रबंधन व निगरानी व्यवस्थाओं को संस्थागत करना; तंत्र एवं स्रोत, दोनों की निरंतरता को बढ़ाना तथा पेयजल सुविधा-संपन्न ग्रामीण क्षेत्रों में सुरक्षित पेयजल की निरंतर आपूर्ति को सुनिश्चित करना है।

जलापूर्ति स्कंध में अभी तक 39,000 करोड़ रुपये का निवेश किया जा चुका है। एक अगस्त 2002 तक राज्यों से ग्रामीण विकास स्थानों को शामिल करने की स्थिति इस प्रकार है: (i) पेयजल सुविधा में अंशतः 1,29,482, और (ii) पेयजल सुविधा से वंचित आबादी 15, 848 है। निन्यानबे प्रतिशत ग्रामीण निवास स्थानों में पेयजल सुविधाएँ उपलब्ध हैं। हैंड-पंप तथा पाइप द्वारा जलापूर्ति योजनाओं की संख्या क्रमशः 38 लाख तथा 11 लाख है।

भारत सरकार ने ग्रामीण जलापूर्ति कार्यक्रम का पुनर्शोधन किया है, जो अन्य बातों के साथ-साथ समुदाय-आधारित ग्रामीण जलापूर्ति व्यवस्था को संस्थागत रूप देने के लिए जनता की भागेदारी सुनिश्चित करने के लिए आधारभूत सिद्धांतों के समावेश की घोषणा करता है:-

(i) योजना की रूपरेखा तैयार करना, वित्त मंत्रालय तथा प्रबंधन की तैयारी में निर्णय लेने की क्षमता के जरिए परियोजना में ग्रामीणों की पूर्ण भागेदारी को सुनिश्चित करने हेतु उन्हें शक्ति-संपन्न बनाने के आधार पर मांग-प्रेरित उत्तरदायी तथा योग्य दृष्टिकोण को अपनाना, (ii) शासन की सीधे सेवा प्रदाय की भूमिका के बजाय सुविधा प्रदाता की भूमिका अपनाना तथा (iii) नकद या सहायता के रूप में अथवा दोनों में आंशिक लागत सहभागिता और उपयोगकर्ताओं द्वारा क्रियान्वयन तथा रख-रखाव का संपूर्ण दायित्व लेना। प्रायोगिक कार्य-योजना के आधार पर उपक्रम सुधार परियोजनाओं के क्रियान्वयन के लिए देश-भर से 63 जिलों को चुना गया है।

केंद्र द्वारा प्रायोजित ग्रामीण स्वच्छता कार्यक्रम

ग्रामीण स्वच्छता राज्य का विषय होने के कारण ग्रामीण स्वच्छता कार्यक्रम राज्य-क्षेत्र के न्यूनतम आवश्यक कार्यक्रम के तहत राज्य सरकारों द्वारा क्रियान्वित किया जाता है। केन्द्र द्वारा प्रायोजित ग्रामीण स्वच्छता कार्यक्रम के जरिए वित्तीय तथा तकनीकी सहायता प्रदान केन्द्र सरकार, राज्य सरकारों के प्रयासों को मजबूत करती है।

केंद्र सरकार, राज्य सरकार, स्वैच्छिक संगठनों व अन्य क्रियान्वयन एजेंसियों के अनुभव और जुलाई 1998 को राष्ट्रीय ग्रामीण स्वच्छता पर आयोजित द्वितीय सेमिनार की सिफारिशों को ध्यान में रखते हुए नौवीं योजना को संशोधित करने के बाद पहली अप्रैल 1999 को इस कार्यक्रम की पुनर्संरचना की गई। पुनर्गठित केंद्र द्वारा प्रायोजित ग्रामीण स्वच्छता कार्यक्रम को चरणबद्ध क्रम में गरीब निर्धारक तथ्य पर मुख्यतः आधारित प्रदेशवार निधियों के आवंटन के सिद्धांत से हटाकर 'मांग-प्रेरित' पहल की ओर केंन्द्रित किया जा रहा है। पुनर्गठित कार्यक्रम 31 मार्च, 2002 के फेज में समुदाय-निर्देशित तथा व्यक्ति-केंन्द्रित था।

कार्यक्रम में उच्च सब्सिडी के स्थान पर निम्न सब्सिडी की तरफ झुकाव रहेगा। संपूर्ण स्वच्छता अभियान जागरूकता पैदा करने पर तथा वैकल्पिक वितरण व्यवस्था द्वारा मांग की पूर्ति पर बल देता है। स्कूल स्वच्छता के एक मुख्य अंग के रूप में ग्रामीण लोगों के मध्य स्वच्छता को व्यापक स्वीकृति पाने के लिए एक प्रवेश बिंदु के रूप में शुरू किया गया है। राज्य सरकार व केंद्रशासित प्रदेश को संपूर्ण स्वच्छता अभियान के तहत सरकारी सहायता का दावा करते हुए योजना प्रस्ताव लागू करना आवश्यक है।

इस कार्यक्रम के अंतर्गत संपूर्ण स्वच्छता अभियान में अग्रणी जिलों की पहचान कर 27 राज्यों, केंद्रशासित प्रदेशों में 179 परियोजना प्रस्तावों को स्वीकृति दी गई, जिसकी लागत 1,952 करोड़ रुपये है। इस परियोजना की लागत में केंद्र का हिस्सा 1,180 करोड़ रुपये, राज्यों का हिस्सा 408 करोड़ रुपये, और पंचायत लाभार्थियों का हिस्सा 364 करोड़ रुपये है। पहली और

दूसरी किस्त के रूप में 302 करोड़ की धनराशि जारी की गई है। इस कार्यक्रम के अंतर्गत 179 परियोजनाओं में स्वीकृत घटक हैं- (1) गरीबी-रेखा से नीचे रहने वाले परिवारों के लिए निजी 165 लाख शौचालयों का निर्माण, (2) प्राइमरी व उच्चतर स्कूलों के लिए 1.64 लाख शौचालयों का निर्माण, (3) महिलाओं हेतु 20,000 स्वच्छता परिसरों का निर्माण, (4) आँगनवाड़ी व बालवाड़ी के लिए 8,024 शौचालयों का निर्माण, और (5) 1,549 ग्रामीण स्वच्छता बाजार तथा उत्पादन केंद्रों की स्थापना।

वर्ष 2001-02 तक 9,86,580 शौचालयों का निर्माण किया गया।

योजना आयोग द्वारा कार्यकारी समूह गठित करके ग्रामीण स्वच्छता के लिए पाँचवी योजना में 3,663 करोड़ रुपये के बजट के लिए सिफारिश की गई। वर्ष 2002-03 में कार्यक्रमों के लिए 165 करोड़ रुपये मुहैया कराए गए, जिसमें उत्तर-पूर्वी राज्यों के लिए 16.50 करोड़ रुपये निर्धारित किए गए।

ग्रामीण आवास

इंदिरा आवास योजना

गाँवों में रहने वालों की आवास संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मई 1985 में जवाहर रोजगार योजना की उप-योजना के रूप में इंदिरा आवास योजना शुरू की गई। पहली जनवरी 1996 से यह एक स्वंतत्र योजना के रूप में लागू है। इस योजना का लक्ष्य गरीबी रेखा से नीचे रहने वाले अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजातियों, मुक्त बँधुवा मजदूर और गैर-अनुसूचित जाति/अनुसूचित जातियों की श्रेणियों में आने वाले ग्रामीण गरीबों को आवासीय इकाइयों के निर्माण और मौजूदा अनुपयोगी कच्चे मकानों को सुधारने में मदद करना है, जिसके लिए उन्हें सहायता अनुदान दिया जाता है। वर्ष 1995-96 में इंदिरा आवास योजना के लाभ युद्ध में शहीद हुए सैनिकों की विधवाओं या निकटतम संबंधी को भी दिए जाने लगे हैं। योजना के दायरे में सैनिकों तथा अर्द्ध-सैनिक बलों के सेवानिवृत्त सदस्यों को भी शामिल कर लिया गया है, बशर्ते कि वे इस योजना की सामान्य शर्तों को पूरा करते हों। योजना की तीन प्रतिशत राशि ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाले विकलांग व्यक्तियों के लिए आरक्षित की गई है।

इस योजना के अंतर्गत मकान का आवंटन परिवार की महिला सदस्य के नाम या पति-पत्नी के संयुक्त नाम पर किया जाता है। कम से कम 60 प्रतिशत धनराशि का उपयोग अनुसूचित जातियों/अनुसूचित जनजातियों के लोगों के लिए करना होगा। स्वच्छ शौचालय और धुंआ-रहित चूल्हा, योजना के अन्तर्गत आने वाले मकान का अभिन्न हिस्सा होते हैं। योजना के अंतर्गत लाभार्थियों का चयन ग्रामसभा करती है। निर्माण प्रौद्योगिकी, सामग्री और डिजाइन का फैसला पूरी तरह से लाभार्थियों पर छोड़ दिया जाता है। मैदानी तथा पहाड़ी/कठिन स्थानों में नए आवासों के निर्माण के लिए सहायता क्रमशः 20,000 रुपये और 22,000 रुपये प्रति इकाई की दर से दी जाती है। वर्ष 1999-2000 से बेकार पड़े कच्चे मकानों की मरम्मत के लिए

10,000 रुपये प्रति इकाई का प्रावधान शुरू किया गया है। इस शीर्ष योजना की 20 प्रतिशत राशि आवंटित की जाती है।

इस योजना के तहत वर्ष 1985-86 से जून 2002 तक 84 लाख मकान 14,327.38 करोड़ रुपये की लागत से बनाए गए हैं।

योजना के तहत वर्ष 2001-02 के लिए 1,725 करोड़ रुपये का केंद्रीय आवंटन किया गया है, जिसमें से इंदिरा आवास योजना के लिए 1,618 करोड़ रुपये आवंटित किए गए हैं। इसमें लगभग 12.94 लाख मकानों का लक्ष्य रखा गया है। इसमें 8.63 लाख नए मकानों के लिए 1,295 करोड़ रुपये और 4.31 लाख बेकार कच्चे मकानों को पक्के/अर्द्ध-पक्के मकानों में बदलने के लिए 323 करोड़ रुपये रखे गए हैं। वर्ष 2001-02 के दौरान 9,70,845 मकानों के निर्माण और मरम्मत के लिए 1,869 करोड़ रुपये जारी किए गए।

ग्रामीण आवास के लिए वर्ष 2002-03 में 1,725 करोड़ रुपये का प्रावधान किया गया। वर्ष 2002-03 के दौरान संयुक्त ग्रामीण आवास योजना के अंतर्गत 13,14,429 मकानों के निर्माण और अर्द्ध-पक्के मकानों के बदलाव के लिए 1,656.40 करोड़ रुपये रखे गए। इस योजना के तहत केंद्रीय मदद के लिए 570.13 करोड़ रुपये जारी किए गए।

प्रधानमंत्री ग्रामोदय योजना (ग्रामीण विकास)

प्रधानमंत्री ग्रामोदय योजना : ग्रामीण आवास योजना, 4 अप्रैल 2000 को शुरू की गई। इस योजना के तहत इंदिरा आवास योजना समूचे देश में लागू की गई। इस योजना के तहत वित्त मंत्रालय ने सीधे राज्य सरकारों को धनराशि जारी की। वर्ष 2001-02 के दौरान ग्रामोदय योजना के लिए 406.85 करोड़ रुपये का प्रावधान किया गया, जिसमें से 291.51 करोड़ रुपये वित्त मंत्रालय द्वारा जारी किए गए। इसके बाद भी प्रधानमंत्री ग्रामोदय योजना की योजना आयोग द्वारा पुनः समीक्षा की गई है। इस पुनः समीक्षा के क्रियाकलापों को आगे बढ़ाने व उससे प्रतिसूचना लेकर राज्यों व योजना आयोग ने आधारभूत न्यूनतम सेवा कार्यक्रम के अंतर्गत वर्ष 2002-03 में सीधे व्यवस्था करने का फैसला किया।

समग्र आवास योजना

पहली अप्रैल 1999 से समग्र आवास योजना की शुरुआत की गई है। यह एक व्यापक आवास योजना है, जिसके उद्देश्य आवास, स्वच्छता और पेयजल की समग्र व्यवस्था करना है। समग्र आवास योजना का मुख्य उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्रों के संपूर्ण पर्यावरण के साथ-साथ लोगों के जीवन की गुणवत्ता में सुधार लाना है। विभिन्न ग्रामीण विकास गतिविधियों, जैसे- आवास निर्माण, स्वच्छता सुविधाएँ तथा पेयजल योजनाओं का अभिसरण तथा उपयुक्त और प्रौद्योगिकी के निरंतर प्रवेश तथा अभिनव विचारों द्वारा इनका क्रियान्वयन इस योजना का विशिष्ट उद्देश्य है। प्रथम चरण में इस योजना को 24 राज्यों में 25 जिलों के प्रत्येक विकास खंड तथा एक केंद्रशासित प्रदेश

में लागू किया जाएगा। इस योजना के अंतर्गत इच्छित लाभार्थी ग्रामीण गरीब हैं, जो विशेषकर गरीबी-रेखा से नीचे हैं। वर्ष 1999-2000, 2000-2001 और 2002-2003 के दौरान इस कार्यक्रम के क्रियान्वयन के लिए क्रमशः 2.67 करोड़ रुपये और 0.32 करोड़ रुपये जारी किए गए।

ग्रामीण विकास और पर्यावरण का अभिनव कार्यक्रम

किफायती, पर्यावरण-अनुकूल, वैज्ञानिक रूप से परीक्षित और प्रभावी स्वदेशी व आधुनिक डिजाइनों में प्रौद्योगिकियों और सामग्रियों के उपयोग को बढ़ावा देने के उद्देश्य से एक अप्रैल 1999 से ग्रामीण आवास और पर्यावरण विकास का अभिनव कार्यक्रम शुरू किया गया है। इस योजना का उद्देश्य ग्रामीण इलाकों में नवीन व प्रमाणित आवास प्रौद्योगिकियों, डिजाइनों और सामग्रियों को बढ़ावा देना/प्रचारित करना है। वर्ष 1999-2000 के दौरान 10 करोड़ रुपये का आंवटन किया गया था, जिसमें से 2.41 करोड़ रुपये जारी किए गए थे। वर्ष 2000-01 में 10 करोड़ रुपये का प्रावधान किया गया था, जिसमें से 8.65 करोड़ रुपये की धनराशि जारी की गई। वर्ष 2001-2002 के दौरान 10 करोड़ रुपये का प्रावधान रखा गया था, जिसमें से 9.64 करोड़ रुपये जारी किए गए। वर्ष 2002-2003 के दौरान 10 करोड़ रुपये का प्रावधान रखा गया है, जिसमें से 0.32 करोड़ रुपये विभिन्न परियोजनाओं पर जारी किए गए हैं।

ग्रामीण निर्माण केंद्र

ग्रामीण निर्माण केंद्र आंदोलन, जो निर्मित आंदोलन के नाम से जाना जाता है, की शुरुआत केरल में 1985 में हुई थी। इसका उद्देश्य प्रशिक्षण तथा किफायती व पर्यावरण-अनुकूल निर्माण सामग्री के उत्पादन के जरिए प्रौद्योगिकी हस्तांतरण को बढ़ावा देना, सूचना प्रसार तथा कुशलता बढ़ाना है। ग्रामीण निर्माण केंद्रों को प्रयोगशाला से जमीन तक प्रौद्योगिकी हस्तांतरण में शमिल किया जा रहा है। ग्रामीण निर्माण केंद्र की स्थापना हेतु एकमुश्त 15 लाख रुपये की सहायता प्रदान की जाती है। वर्ष 2000-2001 के दौरान तीन करोड़ रुपये का प्रावधान किया गया था, जिसमें से 1.56 करोड़ रुपये की धनराशि जारी की गई। वर्ष 2001-02 के दौरान भी तीन करोड़ रुपये का प्रावधान किया गया था, जिसमें से 0.78 करोड़ रुपये की धनराशि जारी की गई। वर्ष 2002-2003 के दौरान तीन करोड़ रुपये का प्रावधान किया गया है।

आवास और शहरी विकास कार्पोरेशन लिमिटेड को न्यायसंगत सहायता

ग्रामीण विकास मंत्रालय, ग्रामीण क्षेत्रों में आर्थिक रूप से पिछड़े और कम आय वाले समूहों के लिए तथा ग्रामीण क्षेत्रों में आवास वित्त पहुँचाने में सुधार के लिए हुडको को न्यायसंगत सहायता भी प्रदान करता है। नवीं योजना में हुडको की पूंजीगत सहायता पाँच करोड़ रुपये से बढ़ाकर 355 करोड़ रुपये करने का फैसला किया गया था। और हुडको को समूची राशि जारी

कर दी गई। वर्ष 2002-2003 के दौरान हुडको को न्यायसंगत सहायता के लिए 50 करोड़ रुपये का प्रावधान किया गया है।

राष्ट्रीय आवास और पर्यावरण के लिए राष्ट्रीय मिशन

राष्ट्रीय आवास और पंचायत के लिए राष्ट्रीय मिशन की स्थापना 4 अप्रैल 1999 को ग्रामीण आवास के क्षेत्र में विज्ञान और प्रौद्योगिकी के इस्तेमाल को बढ़ावा देने के लिए की गई थी। ग्रामीण विकास मंत्री की अध्यक्षता में एक कार्यकारिणी परिषद् और ग्रामीण विकास मंत्रालय में सचिव की अध्यक्षता में एक अधिकार-संपन्न समिति गठित की गई है।

वर्ष 2002-2003 से सभी मौजूदा आवास योजनाओं को ग्रामीण विकास मंत्रालय द्वारा समग्र रूप से लागू करने का फैसला किया गया है। समग्र ग्रामीण आवास योजना के लिए वर्ष 2002-2003 में 1,725 करोड़ रुपये का प्रावधान किया गया है।

पंचायती राज

इतिहास के प्रारंम्भ से ही पंचायतें भारतीय गाँवों की आधारशिला रही हैं। प्रत्येक गाँव को एक लोकतंत्र बनाने का जो स्वप्न गांधीजी ने देखा था, उसे ग्रामीण पुनर्निर्माण में जन-सामान्य को भागीदार बनाने की त्रि-स्तरीय पंचातयी राज प्रणाली की शुरुआत के साथ ही साकार कर दिया गया है। भारत में पंचायती राज के इतिहास में 24 अप्रैल 1993 एक स्वर्णिम दिन कहा जा सकता है। इस दिन **संविधान (73वाँ संशोधन) अधिनियम, 1992** लागू हुआ, जिसमें पंचायती राज संस्थानों को संवैधानिक दर्जा मिला। इस अधिनियम की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं: (i) 20 लाख से अधिक की जनसंख्या वाले राज्यों में त्रिस्तरीय पंचायती राज प्रणाली की व्यवस्था करना, (ii) हर पांच-वर्षों में नियमित रूप में पंचायत चुनाव करना, (iii) अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और महिलाओं के लिए कम से कम 33 प्रतिशत सीटों का आरक्षण, (iv) पंचायतों के वित्तीय अधिकारों के बारे में सिफारिश करने के लिए राज्य वित्त आयोग नियुक्त करना, और (v) संपूर्ण जिले की विकास योजना का मसौदा तैयार करने के लिए जिला नियोजन समिति का गठन।

संविधान के अनुसार पंचायतों को स्वायत्तशासी संस्थान के रूप में कार्य करने की शक्तियाँ व दायित्व इस प्रकार हैं: (क) आर्थिक विकास और सामाजिक न्याय के लिए योजना बनाना, (ख) संविधान की 11वीं अनुसूची में उल्लिखित 29 विषयों के बारे में आर्थिक विकास और सामाजिक न्याय की योजनाओं पर अमल, तथा (ग) कर, शुल्क उपकर व फीस लगाना, वसूलना और उन्हें वितरित करना।

पंचायत (अधिसूचित क्षेत्रों तक विस्तार) अधिनियम 1996 के प्रावधानों से आंध्र प्रदेश, बिहार, गुजरात, हिमाचल प्रदेश, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, उड़ीसा और राजस्थान के आठ राज्यों के जनजातीय इलाकों में पंचायतों की पहुँच हो गई है। यह 24 दिसंबर 1996 से लागू हो गया है।

सभी राज्यों में 1996 के इस 40वें अधिनियम के प्रावधानों की पहुँच हो गई है। यह 24 दिसंबर 1996 से लागू हो गया है। सभी राज्यों ने 1996 के इस 40 वें अधिनियम के प्रावधानों को लागू करने वाले कानून पारित कर दिए हैं।

तिहत्तरवाँ संविधान संशोधन अधिनियम, ग्रामसभा को संवैधानिक दर्जा देता है। ग्रामसभा से तात्पर्य उस निकाय से है, जिसमें पंचायत-क्षेत्र के किसी गाँव से संबंधित मतदाता सूची में पंजीकृत व्यक्ति शामिल हों। ग्रामसभा, राज्य के विधान द्वारा प्रदत्त शक्तियों का उपयोग तथा कार्यों का निष्पादन गाँव-स्तर पर कर सकती है। इस प्रकार 18 वर्ष से अधिक उम्र के प्रत्येक ग्रामवासी को अपना भविष्य सुनिश्चित करने का एक सहज अधिकार मिला है। ग्रामसभा वह मंच है, जहाँ गरीबी-रेखा से नीचे रहने वाले गरीब भी अपने जीवन को प्रभावित करने वाले निर्णयों में अपना योगदान कर सकते हैं।

ग्राम पंचायतों के कार्यों में पारदर्शिता लाने, लाभों के समान वितरण को सुनिश्चित करने, सामुदायिक निधियों (जहाँ इनकी आवश्यकता हो) की रचना तथा सामाजिक मेल-जोल बढ़ाने में ग्रामसभा की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। यह अंतर्निहित किया गया है कि ग्रामसभा गाँव में किए जाने वाले विकास कार्यों की योजना बनाएगी तथा उनकी प्राथमिकताएँ तय करेगी; ग्राम पंचायत की वार्षिक योजना को अनुमोदित करेगी: महिलाओं, अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों की सक्रिय भागीदारी को बढ़ाएगी, ग्राम पंचायत के क्रियाकलापों में पारदर्शिता को सुनिश्चित करेगी, ग्राम पंचायत के खातों की जांच करेगी, राज्य सरकारों तथा केंद्र सरकार की विभिन्न योजनाओं के लिए लाभार्थियों का चुनाव करेगी, ग्रामीण विकास के विभिन्न कार्यों का अनुमोदन करेगी तथा गाँव के प्राकृतिक संसाधनों के प्रबंधन पर पूर्ण नियंत्रण प्राप्त करने हेतु कार्य करेगी।

मंत्रालय योजना के सदस्यों और कार्यकर्ताओं के प्रशिक्षण और उन्हें जागरूक बनाने के लिए राज्यों को सीमित वित्तीय सहायता उपलब्ध कराता है। मंत्रालय पंचायती राज संबंधी प्रशिक्षण और जागरूकता उत्पन्न करने वाले कार्यक्रम चलाने के लिए जन-कार्यों और ग्रामीण प्रौद्योगिकी की उन्नति के लिए परिषद् के जरिए गैर-सरकारी संगठनों को वित्तीय सहायता प्रदान कर रहा है।

अखिल भारतीय पंचायत अध्यक्ष सम्मेलन 5 व 6 अप्रैल 2002 को नई दिल्ली में हुआ, जिसमें पंचायत के अधिकारों और कार्यों का विक्रेंदीकरण, ग्रामसभा के कार्य, निचले स्तर पर विकास की योजना, सामाजिक लेखा परीक्षण, पंचायत द्वारा संसाधनों का संग्रह और ग्रामीण विकास कार्यक्रमों व क्षमता निर्माण के लिए जागृति पैदा करने संबंधी विषयों पर विचार किया गया।

सम्मेलन में चर्चा और विचार-विमर्श के बाद सर्वसम्मति से पंचायती राज व्यवस्था को मजबूत करने के लिए 'राष्ट्रीय घोषणा' की गई। यह संकल्प लिया गया कि दिसंबर 2002 तक राज्य सरकारें 73वें संविधान संशोधन अधिनियम, 1992 और पंचायत (सूचीबद्ध क्षेत्रों के विस्तार) अधिनियम, 1996 के प्रावधानों को सच्ची आत्मा से सुनिश्चित करेंगी। सम्मेलन में

प्रतिनिधियों ने सर्वसम्मति से संविधान में उचित संशोधन कर पंचायती राज की प्रशासनिक शक्तियों और प्रभावी ढंग से वित्तीय उत्तराधिकार पर तेजी से कार्य करने का अनुरोध सरकार से किया।

स्वर्ण जयंती ग्राम स्वरोजगार योजना

एक समग्र स्वरोजगार योजना, स्वर्ण जयंती के नाम से पहली अप्रैल 1999 को शुरू हुई। योजना का उद्देश्य गरीबों की पारिवारिक आय को बढ़ाना तथा आधारभूत स्तर पर लोगों की स्थानीय जरूरतों व संसाधनों को सुगमता से प्रदान करना है।

योजना का बुनियादी मकसद गरीबी रेखा से नीचे के हर स्वरोजगारी को आय पैदा करने के लिए सहायता देता है। यह सहायता बैंक कर्ज और सरकारी सब्सिडी के जरिए हो सकती है।

योजना केंद्र का मकसद ग्रामीण क्षेत्रों में भारी संख्या में उद्यमों की स्थापना करना, जिसमें गरीबों की काबलियत, हर क्षेत्र की क्षमता शक्ति भू-आधारित अन्य तरीकों से सूक्ष्म उद्यमों के विकास में निरंतर आय का सृजन कर कार्यक्रम को अधिक प्रभावशाली बनाना है। ऐसा करके विभिन्न घटकों में, मसलन गरीबों में क्षमता का विकास, कुशलता विकास, कर्ज, प्रशिक्षण, टेक्नोलोजी बाजार-कला और तंत्र में प्रभावी नाता स्थापित किया गया है।

योजना के अंतर्गत सब्सिडी परियोजना लागत के 30 प्रतिशत की एक समान दर पर होगी, लेकिन इसकी अधिकतम सीमा 7,500 रुपये होगी। अनुसूचित जातियों/अनुसूचित जनजातियों के लिए यह सीमा 50 प्रतिशत या 10,000 रुपये होगी। स्वरोजगारियों (आत्मनिर्भर समूहों) के लिए सब्सिडी परियोजना लागत की 50 प्रतिशत होगी, लेकिन इसकी अधिकतम सीमा 1.25 लाख रुपये है। सिंचाई परियोजनाओं के लिए सब्सिडी की अधिकतम सीमा नहीं होगी। योजना में ग्रामीण अनुसूचित जातियों/जनजातियों, 40 प्रतिशत महिलाओं और तीन प्रतिशत विकलांगों को योजना का लक्ष्य बनाया जाएगा।

गरीबी-रेखा से नीचे के स्वरोजगारी को आय पैदा करने के लिए बैंक कर्ज व सरकारी छूट, दोनों की मदद दी जाएगी। योजना के तहत एक बार कर्जा देने की बजाय तमाम तरीकों से उन्नति के रास्ते खोजने की नीति बनाई है।

यह योजना समूह सोच पर बल देती है, जिसमें सहायता प्राप्त परिवार स्वरोजगारी 'व्यक्ति या समूह' स्वयं सहायता समूह हो सकते हैं। इस योजना का उद्देश्य प्रत्येक सहायता प्राप्त परिवार को धन उपलब्ध होने पर खास प्रक्रिया के माध्यम से गरीबी-रेखा से ऊपर उठाना है। स्वयं सहायता समूह 10 से 20 सदस्यों द्वारा मिलकर गठित हो सकता है। अल्प सिंचाई, अपंग व्यक्ति और कठिन क्षेत्रों- जैसे पहाड़ी इलाकों, रेगिस्तान, छितराई आबादी वाले क्षेत्रों के मामले में यह संख्या न्यूनतम पांच हो सकती है। यह समूह ग्रामसभा की स्वीकृत गरीबी-रेखा से नीचे की सूची से होने चाहिए। स्वयं सहायता समूह व्यापकता से तीन स्तर पर समूह रचना, फंड आवर्ती के माध्यम से पूंजी रचना और कुशलता विकास और आय उत्पादन से अर्थ क्रियाकलाप स्तर पर कार्य करता है।

चार-पांच मुख्य क्रियाकलापों का चयन स्थानीय संसाधन, लोगों की व्यावसायिक योजना, बाजार की उपलब्धता पर होता है, ताकि स्वरोजगारी अपने पूंजी निवेश से समुचित आय प्राप्त कर सके। यह योजना बस्तियों में ब्लॉक स्तर पर मुख्य क्रियाकलापों पर बल देती है, जिसमें वह सब पक्ष हों जिसमें स्वरोजगारी अपने निवेशों में स्थायी आय प्राप्त कर सके। यह योजना प्रशिक्षण कोर्स और हर स्वरोजगारी की जरूरत के मद्देनजर उसके विकास पर बल देती है।

यह योजना जिला ग्रामीण विकास एजेंसियों, पंचायती राज संस्थाओं के सक्रिय योगदान, बैंक और स्वैच्छिक संगठनों द्वारा क्रियान्वित की गई है। योजना में दी जाने वाली धनराशि केंद्र और राज्य सरकारों में 75:25 के अनुपात में बांटी गई है। इस योजना के क्रियान्वयन के तहत 8.86 लाख से अधिक स्वयं सहायता समूहों का गठन किया गया है। इस दौरान 28.70 लाख स्वरोजगारियों को (10.40 लाख स्वयं सहायता समूह सदस्यों को और निजी स्वरोजगारी में 18.30 लाख लोगों को) कुल मिलाकर 5,636. 86 करोड़ रुपये की सहायता दी गई। इन कुल स्वरोजगारियों में 44.75 प्रतिशत अनुसूचित जाति व अनुसूचित जनजाति और 42.30 प्रतिशत महिलाएँ थीं।

जिला ग्रामीण विकास एजेंसी प्रशासन

पहली अप्रैल 1999 से केंद्र द्वारा प्रायोजित योजना 'जिला ग्रामीण विकास एजेंसी प्रशासन' शुरू की गई। योजना का उद्देश्य जिला ग्रामीण विकास एजेंसियों को सशक्त बनाना तथा इन्हें इनके क्रियान्वयन के लिए अधिक व्यावसायिक बनाना है। जिला ग्रामीण विकास एजेंसी प्रशासन के लिए राशि का आवंटन केंद्र व राज्यों के बीच 75:25 के आधार पर होता है। वर्ष 2002-2003 के दौरान जिला ग्रामीण विकास एजेंसी प्रशासन के लिए 229 करोड़ रुपये का बजट प्रावधान किया गया है।

संपूर्ण ग्रामीण रोजगार योजना- दूसरा चरण

सुनिश्चित रोजगार योजना और जवाहर ग्राम समृद्धि योजना, दोनों को मिलाकर 25 सितंबर 2001 को संपूर्ण ग्रामीण रोजगार योजना में विलय कर दिया गया। योजना का उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार के अवसर बढ़ाने के लिए स्थायी परिसंपत्तियों सहित मांग-प्रेरित बुनियादी ढाँचे का निर्माण तथा ग्रामीण क्षेत्रों में गरीब बेरोजगार/अल्प रोजगार वाले लोगों पर योजना के लक्ष्य समूह हैं। समाज के कमजोर वर्गों, विशेषकर महिलाओं, अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति व खतरनाक व्यवसायों से हटाए गये बच्चों के माता-पिता को विशेष सुरक्षा दी गई है। इसे दो तरह से कार्यान्वित किया गया है। रोजगार आश्वासन योजना से बदलकर पहले प्रवाह जो जिला और मध्यवर्ती पंचायत स्तर पर लागू किया गया है। संपूर्ण ग्रामीण रोजगार योजना का 50 प्रतिशत किसी निश्चित प्रयोजन के लिए उपलब्ध है, जिसे परिषद् में 20 प्रतिशत और 30 प्रतिशत पंचायत व पंचायत समितियों में बांटा गया है। दूसरे प्रवाह में जवाहर ग्राम समृद्धि योजना बदलकर ग्राम पंचायत स्तर पर लागू की गई है। इस योजना का 50 प्रतिशत निश्चित प्रयोजन के लिए है। जिला ग्रामीण विकास एजेंसी/जिला परिषद् द्वारा गाँव पंचायत को धन प्रदान किया जाता है।

297 जिलों में लागू किया गया है, जिसका कुल परिव्यय 1,868.58 करोड़ रुपये 37.22 लाख हेक्टेयर के कुल परियोजना क्षेत्र में विभिन्न चरणों के लिए रखा गया। वर्ष 1995 से 2001-02 तक परियोजना क्रियान्वयन के लिए 495.40 करोड़ रुपये जारी किए गए। यह परियोजनाएँ विभिन्न चरणों में क्रियान्वित हो रही हैं।

निवेश संवर्द्धन योजना

गैर-वन बंजर भूमि के विकास के लिए पंचायतों को एकत्र करने में निगमित क्षेत्र तथा वित्तीय संस्थानों की भागीदारी को बढ़ावा देने के लिए वर्ष 1994-95 में निवेश संवर्द्धन योजना शुरू की गई थी। इस योजना के प्रमुख उद्देश्य : (i) केंद्र व राज्य सरकारों, पंचायतों, ग्रामीण समुदायों तथा निजी कृषकों से संबंधित गैर-वन क्षेत्रों की बंजर भूमि के विकास के लिए वित्तीय संस्थानों, बैंकों, निगमित तथा लोगों से संसाधनों को उपलब्ध/आकर्षित/माध्यमीकृत/जुटाव करना, तथा (ii) विभिन्न प्रकार के उद्योगों और बागवानी/व्यावसायिक वृक्षारोपण में कच्चे पदार्थों के रूप में प्रयुक्त कृषि वानिकी उत्पादों-सहित अतिरिक्त जैव-संहति (बायोमास) के उत्पादन तथा आपूर्ति को उपलब्ध कराना है।

इस योजना के तहत सामान्य वर्ग (व्यक्ति/समूह) के लिए केंद्रीय संवर्द्धन/अंशदान/सब्सिडी 25 लाख रुपये या कृषि आधारित विकास गतिविधियों की परियोजना लागत का 25 प्रतिशत, जो भी कम हो सके सीमित है, बशर्ते कि परियोजना में संवर्द्धक का अंशदान परियोजना लागत के 25 प्रतिशत से कम न हो। लघु कृषकों के लिए सब्सिडी की सीमा 30 प्रतिशत है तथा सीमांत कृषकों व अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति कृषकों के लिए यह कृषि-आधारित विकास गतिविधियों की परियोजना को मंजूरी दी गई है, जिनमें 955 हेक्टेयर बंजर भूमि क्षेत्र तथा 70.43 लाख रुपये की सब्सिडी शामिल है।

सूखा संभावित क्षेत्र कार्यक्रम

सूखा संभावित क्षेत्र कार्यक्रम 1977-78 में रेगिस्तानी व ठंडे, दोनों क्षेत्रों में, गर्म रेगिस्तान क्षेत्रों के राजस्थान, गुजरात और हरियाणा तथा ठंडे रेगिस्तानों के ग्रामीण क्षेत्र जम्मू-कश्मीर और हिमाचल प्रदेश में शुरू हुआ था। वर्ष 1995-96 से इस योजना का विस्तार आंध्र प्रदेश और कर्नाटक के कुछ और जिलों में हुआ। वर्तमान में इस कार्यक्रम में सात राज्यों के 40 जिलों के 234 खंड शामिल हैं। वर्ष 1995-96 तक विभिन्न कार्यक्रमों के अंतर्गत राज्यों में 6,712 जलसंभर परियोजनाओं को स्वीकृत किया गया है। इनमें से पूरी परियोजना की कीमत 1,215 परियोजनाओं के लिए जारी की गई है। शेष 5,479 परियोजनाएँ क्रियान्वयन के विभिन्न चरणों में हैं। 6,712 परियोजनाओं द्वारा लगभग 33.56 लाख हेक्टेयर भूमि को सही किया जाएगा।

भूमि सुधार कार्यक्रम

स्वतंत्रता के बाद से अपनाई गई भूमि सुधार नीति का लक्ष्य समाजवादी सामाजिक ढाँचे

प्रशिक्षण

प्रशिक्षण, अधिकारियों के ज्ञान और कुशलता को बढ़ाकर उनकी भूमिका में सुधार का जांचा-परखा उद्देश्यों में से एक समान है। प्रशिक्षण, अनुसंधान और विकास आपस में पेचीदगी से जुड़कर नीति-निर्धारकों और कार्यक्रम को क्रियान्वित करने वाले क्षेत्रों को शिक्षित कर रहा है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए राष्ट्रीय स्तर पर राष्ट्रीय ग्रामीण विकास संस्थान की घोषणा की गई और राज्य स्तर पर भी 27 राज्य ग्रामीण विकास संस्थान और 88 विस्तार प्रशिक्षण केंद्र जिला/उप-क्षेत्रीय स्तर पर ग्रामीण विकास कार्यक्रम की मशीनरी और पंचायती राज प्रतिनिधियों की प्रशिक्षण की जरूरतों को पूरा करने के लिए खोले गए हैं। मंत्रालय इन संस्थानों को धन उपलब्ध कराता है।

जन-सहयोग और ग्रामीण प्रौद्योगिकी उत्कर्ष परिषद (कपार्ट)

ग्रामीण विकास में स्वैच्छिक क्रियाकलापों के प्रोत्साहन, प्रवर्तन और सफलता के उद्देश्य से तथा ग्रामीण समृद्धि में वृद्धि के लिए नई प्रौद्योगिकियों के इस्तेमाल पर ध्यान केंद्रित करने के लिए सरकार ने जन-सहयोग और ग्रामीण प्रौद्योगिकी उत्कर्ष परिषद् (कपार्ट) की स्थापना की। यह ग्रामीण विकास विभाग के तहत एक पंजीकृत संस्था है।

कपार्ट की नौ प्रादेशिक समितियाँ/प्रादेशिक केंद्र हैं, जो जयपुर, लखनऊ, अहमदाबाद, भुवनेश्वर, पटना, चंडीगढ़, हैदराबाद, गुवाहाटी और धारवाड़ में स्थित हैं। प्रादेशिक समितियों को अपने-अपने प्रदेशों में स्वयंसेवी संस्थाओं की 20 लाख रुपये तक के परिव्यय वाली परियोजनाओं को मंजूरी देने की शक्तियाँ प्राप्त हैं। कपार्ट अपनी स्थापना से लेकर, 2002 तक 625.77 करोड़ रुपये की लागत से 20,464 परियोजनाओं को मंजूरी दे चुका है और 485.60 करोड़ रुपये जारी किए जा चुके हैं।

एकीकृत बंजर भूमि विकास कार्यक्रम

एकीकृत बंजर भूमि विकास कार्यक्रम वर्ष 1989-90 से चलाया जा रहा है। पहली अप्रैल 1995 से यह कार्यक्रम जलसंभर आधार पर जलसंभर विकास के सामान्य दिशा-निर्देशों के तहत चलाया जा रहा है। एक अप्रैल 2000 से यह पूर्णतया केंद्र द्वारा प्रायोजित कार्यक्रम है। योजना में संसाधनों का बंटवारा केंद्र और राज्य में 92:8 के अनुपात में है। इस कार्यक्रम से बंजर भूमि विकास कार्यक्रमों में लोगों की भागेदारी बढ़ाने के साथ-साथ, ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार उत्पन्न करने में भी मदद मिलती है।

इस कार्यक्रम का मुख्य उद्देश्य ग्राम/सूक्ष्म जलसंभर योजनाओं पर आधारित एकीकृत बंजर भूमि विकास का क्रियान्वयन करना है। भूमि क्षमता, स्थल परिस्थितियों तथा स्थानीय जरूरतों को ध्यान में रखकर भागीदार इन योजनाओं को बनाते हैं।

मार्च 2002 तक 423 एकीकृत बंजर भूमि विकास परियोजनाओं को 28 राज्यों के

इस योजना का वार्षिक बजट पाँच करोड़ रुपये के खाद्य अनाज घटक समेत 10 करोड़ रुपये का है।

इस योजना में प्रति वर्ष 100 करोड़ रुपये मजदूरी रोजगार के लिए शामिल है। योजना में खर्च की जाने वाली राशि केंद्र व राज्य सरकारों में 75:25 के अनुपात में बांटी गई है। केंदशासित प्रदेशों के मामले में संपूर्ण खर्च केंद्र उठाएगा। इस योजना में केंद्रशासित प्रदेश व राज्य को खाद्यान्न मुफ्त मुहैया कराने का प्रावधान किया गया है। लेकिन खाद्यान्न को लाने-ले-जाने, गोदामों में काम करने व वितरण की जिम्मेदारी राज्य व केंद्रशासित सरकार की है। ग्रामसभा की मंजूरी से जरूरत के अनुसार धन लेने और वार्षिक कार्य-योजना तैयार करने और उसे लागू करने का पूरा अधिकार ग्राम पंचायत को है। ग्राम पंचायत की 50 प्रतिशत बजट राशि अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति की अलग लाभार्थी योजनाओं के लिए निर्धारित की गई है। इसमें किसी ठेके को मंजूरी नहीं दी गई है। कोई भी बिचौलिया और मध्यवर्ती एजेंसी को इस योजना के कार्यान्वयन में लगाने की स्वीकृति नहीं है। इन कार्यक्रमों की देखरेख जिला परिषद् के द्वारा किए जाने का प्रावधान है। कार्यक्रम की पूरी देखरेख ग्रामीण विकास द्वारा की जाएगी।

कार्यक्रम का मूल्याकंन केंद्र व राज्य सरकार द्वारा सम्मानीय संस्थानों व संगठनों द्वारा कराया जाएगा।

राष्ट्रीय सामाजिक सहायता कार्यक्रम व अन्नपूर्णा

राष्ट्रीय सामाजिक सहायता कार्यक्रम 15 अगस्त 1995 को अस्तित्व में आया था। यह केंद्र द्वारा प्रायोजित कार्यक्रम राष्ट्रीय वृद्धावस्था पेंशन योजना और राष्ट्रीय पारिवारिक लाभ योजना से मिलकर बनाया गया, जिसका मकसद वृद्धों को सामाजिक सुरक्षा देना और घर के मुखिया की मौत के मामले में सहायता करना था। राष्ट्रीय वृद्धावस्था पेंशन योजना में 65 वर्षीय उपेक्षित वृद्ध को प्रतिमाह 75 रुपये की सहायता देने का प्रावधान किया गया था और राष्ट्रीय पारिवारिक लाभ योजना घर के पालनकर्ता की मौत पर घर वालों को कुल 10 हजार रुपये लाभ पहुँचाने का लक्ष्य रखा गया।

इस योजना के तहत वे वरिष्ठ नागरिक (65 वर्ष या अधिक उम्र के), जो योग्यता के बावजूद राष्ट्रीय वृद्धावस्था पेंशन योजना में शामिल नहीं किए जा सके, को भोजन की सुरक्षा प्रदान करने हेतु पहली अप्रैल 2000 को अन्नपूर्णा योजना शुरू की गई है। इस योजना के तहत प्रत्येक लाभार्थी को प्रतिमाह 10 किलो अनाज मुफ्त में दिया जाता है।

योजना आयोग द्वारा केंद्र द्वारा प्रायोजित इस योजना की पुनः समीक्षा के बाद राष्ट्रीय सामाजिक सुरक्षा कार्यक्रम और अन्नपूर्णा योजना वर्ष 2002-2003 से राज्य योजना में स्थानांतरित कर दिया गया है। स्थानांतरित योजना के तहत बजट राशि वित्त मंत्रालय द्वारा जारी होगी। अतिरिक्त केंद्रीय सहायता और राज्य के मामले में योजना लागू करने के लिए आवश्यकतानुसार लचीलापन होगा।

की व्यवस्था के लिए कृषि संबंधों का पुनर्गठन, भूमि संबंधों में शोषण समाप्त करना, किसान को जमीन प्रदान करने का सदियों पुराना लक्ष्य प्राप्त करना, ग्रामीण गरीबों के भूमि धारणा आधार को बढ़ाना, कृषि उत्पादन को बढ़ाना तथा कृषि अर्थव्यवस्था का विविधकरण करना है। भूमि सुधार की रणनीति के मुख्य अंग ज़मींदारी प्रथा तथा मध्यवर्ती पट्टेदारी को खत्म करना, काश्तकारी सुधार, कृषि भूमि पर उच्चतम सीमा निर्धारण, जोत की चकबंदी, भूमिहीन ग्रामीणों को भूदान-सहित सरकारी बंजर भूमि का वितरण, भू-अभिलेख व्यवस्था का आधुनिकीकरण व अद्यतन, उपेक्षित जनजातीय भूमि की पुनर्स्थापना तथा उपेक्षा को रोकने के लिए विशेष कदम उठाना, भूमि तक विस्तृत पहुँच बनाने के लिए महिलाओं का सशक्तिकरण और लिंग भेदभाव को समाप्त करना है।

प्रारंभ से सिंतबर 2001 तक देश में 73.66 लाख एकड़ भूमि घोषित की गई, जिसमें से लगभग 64.95 एकड़ भूमि को अधिग्रहीत किया गया और 53.79 एकड़ भूमि 55.84 लाख लाभार्थियों में वितरित की गई, जिनमें से 36 प्रतिशत लोग अनुसूचित जातियों से संबंधित थे व 15 प्रतिशत अनुसूचित जनजाति से थे। अब तक 147.47 लाख एकड़ बंजर भूमि, भूमिहीन ग्रामीण गरीबों में वितरित की जा चुकी है। देश के अनेक राज्यों में काश्तकारों के स्वामित्व अधिकारों को प्रदान करने या काश्तकारों द्वारा मुआवजा भरने पर स्वामित्व अधिकारों को प्राप्त करने संबंधी वैधानिक प्रावधान किए गए हैं। अभी तक 156.30 लाख एकड़ क्षेत्र पर 124.22 लाख काश्तकारों के अधिकारों को सुनिश्चित किया गया है। अब तक 3.75 लाख जनजातीय भूमि उपेक्षा के मामले पंजीकृत किए गए हैं, जो 8.55 एकड़ क्षेत्र से संबंधित हैं, जिनमें से 1.62 मामले जनजातियों के पक्ष में सुलझाए गए हैं, तथा ये मामले कुल 4.47 लाख एकड़ भूमि से संबंधित हैं।

वर्ष 1988-1999 में भू-अभिलेखों के कम्प्यूरीकरण के लिए केंद्र द्वारा प्रायोजित एक योजना शुरू की गई थी। वर्तमान में यह योजना देश के 582 जिलों में लागू की गई है। अनेक राज्यों में, उपयोगकर्ताओं तथा आम जनता के लिए अधिकारों के अभिलेखों की कंम्प्यूटरीकृत प्रतियाँ उपलब्ध कराई गई हैं। 31 मार्च, 2002 तक 2,787 तहसीलों/तालुकों में यह योजना लागू की जा चुकी है।

निगरानी और आकलन

मंत्रालय विभिन्न राज्यों में चलाए जा रहे ग्रामीण आधारभूत संरचना विकास कार्यक्रमों की सामान्य तौर पर गरीबी हटाने तथा रोजगार उत्पन्न करने वाली योजनाओं पर विशेष तौर पर निगरानी रखने और उनका आकलन करने को राज्य और केंद्रशासित प्रदेश में लागू करने के लिए बहुत महत्त्व देता है। मंत्रालय कुछ चुनिंदा कार्यक्रमों का शीघ्रता से समकालीन मूल्यांकन कराता है। कार्यक्रमों के क्रियान्वयन की निगरानी के लिए राज्य/जिला/विकास खंड पर सतर्कता एवं निगरानी समितियाँ सभी राज्यों व केंद्रशासित प्रदेशों में गठित की गई हैं।

हाल ही में कार्यक्रम क्रियान्वयन की गुणवत्ता और देखरेख को मजबूत करने के लिए कुछ चुनिंदा जिलों में जिला स्तर पर निगरानी के प्रयोगात्मक कार्यक्रम पेश करके और बाहरी एजेंसी द्वारा पूरे साल उसकी निगरानी करके शुरुआत की गई है। इस योजना के तहत तमाम कार्यक्रमों के अंतर्गत पैदा की गई संपत्ति का व्यवहारिक सत्यापन और मासिक कार्य ढाँचे व वित्त की भूमिका, जिला स्तर पर नीति के क्रियान्वयन परिवेश की रिपोर्टिंग शामिल हैं।

- (साभारः भारत 2003, भारत सरकार)

❑

अध्याय 10

ग्रामीण भारत में सामाजिक परिवर्तन
(Social Change in Village India)

आजादी के बाद से ग्रामीण भारत के समाज में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। ए.आर.देसाई ने इस ग्रामीण रूपान्तरण के लिए चार प्रवृत्तियों को चिन्हित किया है:

(i) कृषिक समाज का एक पारम्परिक, जीवननिर्वाह आधारित समाज से बाजार आधारित लाभोन्मुख समाज में रूपान्तरण।

(ii) बिखरी हुई, ढीलीढाली अर्धविकसित कृषि व्यवस्था को आधुनिक नगरीय प्रौद्योगिकी के प्रयोग से राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में सकल रूप से जोड़ने का प्रयास।

(iii) कृषिक समाज के कुछ विशेष वर्गों को अपंग करने या उनके उन्मूलन का प्रयास, तथा

(iv) नगरी प्रभावों से प्रभावित व उनसे नज़दीकी रिश्ते रखने वाली विभिन्न समितियों व संस्थाओं का कृषिक समाजों में उदय।

यदि हम पूरी स्थिति का समग्र अवलोकन करें तो पायेंगे कि ग्रामीण भारत महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों व किण्वन (ferment) के दौरे से गुजर रहा है। इसका प्रौद्योगिक आधार, आर्थिक संरचनायें, सामाजिक-संस्थागत ढाँचा जो जाति व्यवस्था व संयुक्त परिवार पर आधारित रहा है, उसका राजनीतिक संगठन तथा वैचारिक उन्मुखता (ideological orientation) व मूल्य व्यवस्था का गुणात्मक रूपान्तरण हो रहा है। ग्रामीण सामाजिक जीवन में बदलाव लाने में जिन कारकों ने सबसे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है उनमें 'राज्य' का केन्द्रीय स्थान रहा है। ऐसे ही कुछ महत्त्वपूर्ण कारकों की गणना निम्नलिखित आधार पर की जा सकती है:

(i) परिवर्तित भूधारण या पट्टेदारी (land tenure) व्यवस्था, भूमि सुधार व ग्रामीण विकास कार्यक्रम

(ii) ग्रामीण-नगरीय सततता (rural-urban continuum) के साथ नगरीयकरण व प्रौद्योगिक परिवर्तन का प्रभाव

(iii) बाजार अर्थव्यवस्था का प्रभाव

(iv) जनसंचार माध्यमों का प्रभाव

हरित क्रान्ति के सामाजिक परिणाम व भूमि सुधार इन परिवर्तनों के इतने महत्त्वपूर्ण पहलू

हैं कि इनका अध्ययन अलग से होना चाहिये। ग्रामीण भारत में सामाजिक परिवर्तन के अध्ययन में जहाँ एक ओर सम्पन्नता के दीप नज़र आते हैं तो दूसरी ओर फैली हुई ग़रीबी और छोटे किसानों व खेतिहर मज़दूरों की कंगाली है। इनके साथ-साथ नये उभरते कृषक वर्गों के बदलते आर्थिक व राजनीतिक समीकरण भी दिखाई देते हैं जिनके महत्त्वपूर्ण सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक निहितार्थ भी हैं।

एक सामान्य व्यक्ति भी ग्रामीण भारत के विकासशील परिवर्तन में राज्य की महत्त्वपूर्ण भूमिका का आकलन कर सकता है। राज्य द्वारा उठाया गया सबसे महत्त्वपूर्ण कदम 'वयस्क मताधिकार' है। इस अकेले कारक ने परिवर्तन की एक लहर पैदा की तथा सामाजिक और राजनीतिक रूप से ग्रामीण भारत को प्रभावशाली बनाया। सरकार द्वारा उठाये गये अन्य कदमों में आर्थिक व्यवस्था में सुधार के कदम, भूमि सुधार, उन्नतशील बीज, सिंचाई के महत्त्वपूर्ण प्रोजेक्ट, रासायनिक खादों की उपलब्धता, व्यक्तिगत धन उधारी व्यवस्था को नियमबद्ध करना, संस्थागत वित्त साधन उपलब्ध कराना, ब्लाकों का विकास, सहकारी संस्थाओं का गठन, लघु और कुटीर उद्योगों के विकास के लिए उठाए गए कदम, पंचायती राज इत्यादि भी महत्त्वपूर्ण हैं। इसके अतिरिक्त शिक्षा के प्रसार, अनुसूचित जातियों, जनजातियों और अन्य पिछड़ी जातियों के लिए विशेष योजनाएँ, समाज के शोषित वर्गों, खासकर महिलाओं के लिए विशेष सशक्तिकरण के कदम उठाकर राज्य ने ग्रामीण भारत की सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन की लहर ला दी।

शिक्षा व विस्तृत जनसंचार का प्रभाव (Impact of Education and Mass Media)

शिक्षा और जनसंचार के माध्यमों ने ग्रामीण भारत की सामाजिक व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन लाकर उसे आधुनिकीकरण के रास्ते पर आगे बढ़ाया। सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन लाने में 'शिक्षा' की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। इससे एक शिक्षित वर्ग विकसित हुआ जो कि सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन के लिए बेहद उत्सुक था। इस एक परिवर्तन ने परम्परागत समाज के बंधन तोड़कर उसे आधुनिकीकरण की दौड़ में शामिल किया। शिक्षा के चलते समाज के गरीब कमजोर तबकों में भी अपने अधिकारों के प्रति जागरूकता बढ़ी। अधिकांश अशिक्षित ग्रामीण समाज के बीच रेडियो, टी.वी. और फिल्मों ने परिवर्तन व सशक्तिकरण के उपकरण के रूप में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है तथा किताबों के बिना भी जानकारी और शिक्षा का एक माध्यम रचा है।

फैली हुई निरक्षरता के माहौल में लोकगीत, लोकनृत्य, कठपुतली इत्यादि ही शिक्षा और जानकारी देने के माध्यम के रूप में इस्तेमाल होते रहे किन्तु तकनीकी परिवर्तनों के दौर के आने के बाद सूचना, संचार, मनोरंजन और विचारों के आदान-प्रदान व प्रसार के लिए कई नये माध्यम सामने आये। रेडियो की पहुँच लगभग 99% ग्रामीण भारत तक और टी.वी. लगभग 60% जनता तक पहुँच चुका है। दोनों ही क्षेत्रीय भाषाओं में भी लोगों तक पहुँच रहे हैं। अधिकांश ग्रामीण क्षेत्रों में चाय की दुकानें चर्चाओं का केन्द्रस्थल हैं जहाँ लोग मिल बैठकर रेडियो और टी.वी. से मिली

सूचनाओं का आदान-प्रदान और बहस करते हैं। यहाँ बीज, खाद, कीटनाशकों व खेती की उपज से लेकर नयी-नयी तकनीक और रहन-सहन सभी पर विस्तृत चर्चा होती है। आधुनिकता इन माध्यमों से दूरदराज के गाँवों तक पहुँच रही है। खासकर टी.वी., स्कूली शिक्षा और खेती में उन्नत तकनीक के प्रयोग के लिए विशेष सहायक सिद्ध हो रहा है। जहाँ एक ओर इन आधुनिक संसाधनों के प्रयोग से विकास का रास्ता खुला है वहीं अंधधार्मिक विश्वासों और पौराणिकता से धर्मान्धता व अन्य विकार भी जन्म ले रहे हैं। वेशभूषा, भाषा-शैली, रहन-सहन, सामाजिक मूल्यों सभी में परिवर्तन दिखाई दे रहा है। चलते-फिरते सिनेमाघर, वीडियो इत्यादि अब अधिकांश गाँवों में दिखाई देने लगे हैं। आज इस बात की कल्पना की जा सकती है कि वास्तव में छोटे-बड़े प्रौद्योगिक परिवर्तनों ने नये दौर में किस प्रकार सामाजिक क्रान्ति को जन्म दिया है।

हरित क्रान्ति और इसके सामाजिक परिणाम (Green Revolution and its Social Consequences)

आजादी के बाद देश की प्रगति के जो महत्त्वपूर्ण मानक तय हुए उस पैमाने पर प्रमुख थी कृषि-क्रान्ति या हरित क्रान्ति। कभी स्वयं भुखमरी और अन्न की कमी के शिकार देश ने जब 1984 में सब-सहारा अफ्रीका के सूखा-प्रभावित क्षेत्रों में भुखमरी के शिकार लोगों को राहत पहुँचाने के उद्देश्य से एक लाख टन अनाज भेजने की घोषणा की तो यह भारत के लिए गर्व के क्षण थे। पूरे विश्व ने इसे प्रशंसात्मक दृष्टि से सराहा। यह महत्त्वपूर्ण इसलिए भी रहा क्योंकि थोड़े समय पूर्व भारत की स्थिति कमोबेश अन्न उत्पादन के क्षेत्र में हाथ फैलाने की थी। यह सब संभव हो सका सरकार की सकारात्मक सोच और नीतियों से, देश के मेहनतकश किसानों से, दिनरात देश को विकास की राह में अग्रसर करने में प्रयत्नशील कृषि वैज्ञानिकों से, विकास में लगे कामगारों और मजदूरों से। और, सबसे महत्त्वपूर्ण देश की उस संकल्प-शक्ति से जिसने देश को अन्न की कमी वाले आयातक देश से भरपूर अन्न पैदावार वाले निर्यातक देश का दर्जा दिलवाने की ताकत पैदा की।

यद्यपि यह लक्ष्य प्राप्ति महत्त्वपूर्ण थी, किन्तु इसके साथ-साथ देश को भोजन, वसा, शक्कर, सब्जी व अन्य भोज्य पदार्थों के उपभोग में भी विकसित देशों के समकक्ष खड़ा करने का भी उद्देश्य सामने रहा।

हरित क्रान्ति ने कृषि-सम्बन्धों में नये युग का सूत्रपात किया। जहाँ एक ओर बड़ी-बड़ी कृषि जोतों पर उत्पादन बढ़ा वहीं दूसरी ओर छोटी जोतों वाले किसानों, कृषि मजदूरों और बड़े किसानों के बीच आर्थिक असमानता भी बढ़ी। देश के बहुत से क्षेत्रों में 'कृषक सर्वहारा' की संख्या में बढ़ोत्तरी हुई। भूमिहीन संगठित होने लगे और इसके जवाब में भूमिधारों ने भी अपने को संगठित किया। उसके चलते बड़े स्तर पर भूमिहीन किसानों व मजदूरों का भूमि सम्पन्न और अधिक उत्पादकता वाले क्षेत्रों की ओर पलायन भी प्रारम्भ हुआ। बिहार और पूर्वी उत्तर-प्रदेश आदि के कृषि मजदूरों का पंजाब और हरियाणा की ओर पलायन इसी श्रेणी के अन्तर्गत रक्खा जा सकता है।

हरित-क्रान्ति के फलस्वरूप काफी बड़े पैमाने पर कुछ नयी प्रभु जातियाँ अस्तित्व में आईं। ऐसा मध्य स्तर की 'पिछड़ी जातियों' में खासकर हुआ। उन्नत कृषि से वे अब स्थानीय जाति व्यवस्था में अपनी सम्पन्नता के चलते काफी ऊपर आ गयीं। समाजशास्त्रियों और सामाजिक मानवशास्त्रियों का मानना है कि हरित क्रान्ति के फलस्वरूप बदलते माहौल में सामाजिक रूप से पिछड़ी जातियाँ भूमि-सुधारों से ज्यादा लाभान्वित हुईं। परम्परागत भूमिहीन, अनुसूचित जातियाँ इससे ज्यादा लाभ नहीं ले सकीं। यह पिछड़ी जातियाँ ज्यादा होशियार व सशक्त कृषक थे, इसलिए जब भूमि सुधारों और वैज्ञानिक तकनीकी के प्रयोग से उपज बढ़ाने की बारी आयी तो उन्होंने इस अवसर का भरपूर लाभ उठाया। संख्यात्मक दृष्टि से वे पहले ही शक्तिशाली थे, सिर्फ कमी थी तो सामाजिक व्यवस्था में ऊँची जातियों के बराबर हैसियत की जिसे धीरे-धीरे संस्कृतिकरण के माध्यम से वे बेहतर बना रहे थे। पंजाब, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश के जाट, उत्तर प्रदेश, बिहार और मध्य प्रदेश के अहीर, कुर्मी और गुज्जर, महाराष्ट्र के मराठा, गुजरात के पटेल और पाटीदार, आंध्र प्रदेश के कम्मा व रेड्डी, कर्नाटक के लिंगायत और वोक्कलिगा और कुछ अन्य कृषक जातियाँ इस श्रेणी का उदाहरण हैं। श्रेणीकरण में उच्चता की ओर जाती ये जातियाँ हरित क्रान्ति का लाभ उठाने में पूर्ण रूप से सफल रहीं। नकदी फसलों (Cash Crops) और व्यावसायिक खेती के माध्यम से न केवल इन समूहों ने ग्रामीण क्षेत्रों में चल-अचल सम्पत्ति अर्जित की बल्कि आसपास के शहरी इलाकों में भी खासी बढ़त सम्पत्ति के मामले में हासिल की। देश के विभिन्न भागों में बदलते सामाजिक परिवेश में हरित क्रान्ति ने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। हरित क्रान्ति का एक अन्य महत्त्वपूर्ण पक्ष यह भी रहा है कि वैज्ञानिक कृषि तकनीक व अन्य संसाधनों के चलते सत्ता केन्द्र पुरानी पीढ़ी के बजाय नयी पीढ़ी को स्थानान्तरित हो गए। हरित क्रान्ति के अन्तर्गत नयी तकनीकी, आर्थिक आदान-प्रदान, संस्थागत वित्त, उन्नत बीज और पौधों का प्रयोग, थोड़ा-बहुत अंग्रेजी ज्ञान, एक आधुनिक सोच इत्यादि अनेक ऐसे कारण रहे जिसने पुरानी पीढ़ी को थोड़ा पीछे खिसका दिया। इसके चलते निर्णय-क्षमता व प्रक्रिया में नयी पीढ़ी की नयी सोच और बेहतर और मजबूत भागेदारी सामने आयी।

हरित क्रान्ति के चलते नकदी फसलों की बिकवाली के लिए नई बाजारी शक्तियाँ सामने आईं जिसके कारण पुरानी जजमानी व्यवस्था काफी प्रभावित हुई। परम्परागत जजमान और कामगार वर्ग के सम्बन्धों में काफी परिवर्तन आया। जिनके पास भूमि थी वे भूमि की उपज को बाँटने के बजाय अब जमीन पर काम करने के लिए नकद भुगतान करने में ज्यादा रुचि ले रहे थे। फलस्वरूप हरित क्रान्ति में परम्परागत अनाज देने के बजाय मजदूरी देने का प्रचलन बढ़ा। अब जाति-सम्बन्ध भी परम्परागत नहीं रह गये थे।

भूमि सुधार और उसके सामाजिक परिणाम (Land Reforms and their Social Consequences)

'भूमि सुधार' का तात्पर्य 'अतिरिक्त भूमि' (surplus land) के पुनर्वितरण से लिया जाता है। खेती की जोतों पर अधिकतम सीमा (ceiling) का निर्णय छोटे किसानों और भूमिहीन

मजदूरों के मद्देनजर लिया गया था। विस्तृत दृष्टिकोण से देखें तो भूमि-सुधार का तात्पर्य सिर्फ भूमि का पुनर्वितरण नहीं बल्कि भूमि-सुधार और खेती से सम्बन्धित संस्थाओं का विकास भी था। इसके अन्तर्गत किरायेदारी, खेती के लिए ऋण, सहकारी संस्थाएँ, खेती से सम्बन्धित शिक्षा, मार्केटिंग और सुझाव सेवाएँ (advisory services) भी शामिल थीं।

गुन्नार मिर्डाल ने अपनी पुस्तक '**Asian Drama**' में कहा है : "....भूमि सुधार व्यक्ति और भूमि के बीच एक नियोजित और संस्थागत पुनर्गठन है। भूमि पर मालिकाना हक और किरायेदारी के लिए कोई भी पुनर्गठन तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक इसके लिए नियोजित पॉलिसी न बनायी जाये।" भूमि-सुधार को सामाजिक और आर्थिक सन्दर्भों में देखें तो उसमें मशीनीकरण की भी आवश्यकता है। चूंकि आजादी के बाद कांग्रेस सरकार खेती के क्षेत्र में ढाँचागत परिवर्तन लाने के लिए प्रतिबद्ध थी इसलिए पं. जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में एक समिति बनायी गयी जिसकी संस्तुतियों को कृषि के क्षेत्र में सुधार कार्यक्रमों में लागू किया गया। कुछ मुख्य संस्तुतियाँ इस प्रकार थीं-

(1) राज्य और खेतिहर के बीच से सारे बिचौलियों को हटाया जाये। सारे दलालों और बिचौलियों को हटाकर उनके स्थान पर सहकारिता की अवधारणा हो जिसके अपने कोई हित बीच में न हों।

(2) भूमि को रोजगार के संसाधन के रूप में विकसित किया जाये। भूमि पर जो भूमिस्वामी खेती नहीं कर रहे हैं उस पर खेती का अधिकार सहकारिता के माध्यम से हो इस शर्त के साथ कि जब वे स्वयं खेती करना चाहेंगे तो उन्हें या उनके उत्तराधिकारियों को भूमि पर खेती का अधिकार वापस मिल जायेगा।

(3) जोतों का अधिकतम आकार निर्धारित होना चाहिए। इस अधिकतम सीमा से अधिक भूमि को गाँव सहकारी संस्थाओं के माध्यम से अधिग्रहण कर लिया जाना चाहिए।

(4) छोटी जोतों को बढ़ाया जाना चाहिए, साथ ही उनका और अधिक छोटा होना (बँटवारा) रोका जाना चाहिए।

जब **योजना आयोग** के सुझावों के मुताबिक नियोजित कार्यक्रम चलाये गये तो आयोग द्वारा विभिन्न राज्यों को कई सुझाव दिये गये। यह इस प्रकार से हैं :

1. भूपट्टेदारी (land tenure) में सुधार 2. भूमि प्रतिबन्ध (ceiling) 3. बिचौलियों का समापन 4. जोतों की चकबंदी (consolidation) 5. भूमि का व्यवस्थित रिकार्ड रखना।

भूमि सुधार से सम्बन्धित अपने महत्त्वपूर्ण अध्ययन में पी.सी. जोशी ने कहा, "कि खेतिहर किसानों के हित के बजाय भूमि सुधार कार्यक्रम प्रायः बड़े दबाव समूहों के हितों के लिए काम कर रहे हैं। भूमि सुधारों के फलस्वरूप गाँवों में ऐसे समूह इस प्रकार से हैं :

1. बड़े भूमि स्वामी (big landowners)

सबसे ऊपर उन ज़मींदारों के हित हैं जिन्होंने भूमि को अपने फार्म (home farm) या 'व्यक्तिगत खेती' के अन्तर्गत समूहित किया है। अपनी जमीनों से किरायेदारों को हटा दिया है। यह भिन्न-भिन्न राज्यों में अलग-अलग तरीकों से हुआ है।

2. अमीर किसान (rich peasants)

जिन किरायेदारों के पास वस्तुतः बड़ी जोते हैं और आर्थिक रूप से भी वे सम्पन्न हैं। नये भूमि कानूनों के अन्तर्गत उन्होंने अपनी स्थिति और मजबूत कर ली है। किरायेदारी नियमों में सुधार के चलते यह वर्ग सर्वाधिक लाभान्वित हुआ है।

3. छोटे किरायेदार (inferior tenants)

यह छोटी जोतों वाले सर्वाधिक पीड़ित किसानों का समूह है। भूमि सुधारों के बावजूद इनकी स्थिति में कोई विशेष फर्क नहीं आया है। भूमि पर किरायेदारी के हक में और इस पर मुनाफे में उनकी स्थिति में कोई फर्क नहीं आया है। अन्तर इतना है कि पहले उनका सरोकार सीधे ज़मींदार से था, अब राज्य से है।

4. स्वेच्छया किरायेदारी (tenants at will), खेती में बँटवारे वाले लोग और खेतिहर मजदूर।

इस श्रेणी में सबसे नीचे स्वेच्छया किरायेदार, खेतिहर मजदूर, खेती की उपज में हिस्साधारक लोग हैं जिनका भूमि पर कोई हक नहीं है जबकि भूमि पर वास्तव में खेती वही करते हैं। जहाँ जनसंख्या घनत्व ज्यादा है वे अपनी छोटी जोतों के साथ-साथ दूसरों की जमीनों पर भी कार्य करते हैं लेकिन बिना किसी लाभ या सुरक्षा के।

योगेन्द्र सिंह ने भूमि सुधार और पंचायती राज कार्यक्रमों के बाद पूर्वी उत्तर प्रदेश के कुछ क्षेत्रों में अध्ययन के बाद वर्तमान ग्रामीण शक्ति-समीकरण के कुछ पहलुओं को इस प्रकार रखा है:

(1) ऊँची जातियाँ (जैसे ठाकुर, ब्राह्मण, भूमिहार), पूर्व ज़मींदार और साहूकारों का वर्ग आज भी शक्ति सम्पन्न है। कहीं यह अधिकार सम्पन्नता सीधी-सीधी और स्पष्ट है और कहीं कुछ छिपे रूप में है।

(2) सत्ता के संघर्ष ने निम्न जातियों और समूहों को भी संगठित करना प्रारम्भ कर दिया है। जाति के स्तर पर अब यह समूह भी सत्ता में प्रतिभागी होने लगे हैं।

(3) ग्राम राजनीतिक व्यवस्था आज भी पूरी तरह आर्थिक तंगी और विभिन्न जाति समूहों की सम्पन्नता से प्रभावित है। गाँव में जो समूह आर्थिक रूप से मजबूत हैं सत्ता-समीकरण का शक्ति संतुलन उसी के पक्ष में होता दिखता है।

के.एल. शर्मा (1980) ने राजस्थान के 6 गाँवों के अपने अध्ययन में सामाजिक गतिशीलता की दो दिशाओं को प्रस्तुत किया है। न सिर्फ खेतिहर-मजदूर बल्कि कुछ पुराने ज़मींदार भी वर्ग-हैसियत में नीचे आये हैं। नया उभरा अमीर कृषक वर्ग पुराने ज़मींदारों के स्थान पर अब बुर्जुआ वर्ग के रूप में सामने आ रहा है।

कोटोवस्की (1964) ने भी गाँव के किसानों में बढ़ती हुये सर्वहाराकरण (proletarianisation) की ओर ध्यान दिलाया है। यह 1961-81 के बीच के एक अध्ययन से भी स्पष्ट है। किसानों का भाग 52.3% से घटकर 41.5% हो गया वहीं खेतिहर मजदूरों का प्रतिशत 17.2% से बढ़कर 25.2% हो गया। हरित क्रान्ति और भूमि सुधार के चलते नये प्रभुत्व

वर्ग (जातिगत) का उदय भी हुआ है।

नई प्रभु जातियों का उदय (Emergence of New Dominant Castes)

भारतीय खेतिहर समाज में सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को समझने के लिए यह जरूरी है कि ग्रामीण भारत में भू-स्वामियों की प्रभुत्व सम्पन्न जातियों के बारे में भी समझ लिया जाय। तीव्र औद्योगीकरण के बावजूद यहाँ अब भी सम्पत्ति, प्रतिष्ठा और राजनीतिक शक्ति का आधार भूमि का स्वामित्व है। '*अमेरिकन ऐनथ्रोलोजिस्ट*' के 1959 के अंक में प्रकाशित लेख '*डॉमिनेन्ट कास्ट का रामपुरा*' में श्रीनिवास ने सर्वप्रथम प्रभुत्व सम्पन्न जाति की अवधारणा का उल्लेख किया। लीक से हटकर लिखे गए इस शोध प्रबंध ने भारतीय समाज में होने वाले परिवर्तनों की प्रक्रिया के बारे में एक नई अंतर्दृष्टि प्रस्तुत की। इसके बाद से अनेक समाजशास्त्रियों और सामाजिक मानवशस्त्रियों ने ग्रामीण भारत में प्रभुत्व सम्पन्नता के विभिन्न पक्षों का अध्ययन करने का काम अपनाया है।

श्रीनिवास ने बताया है कि प्रभुता सम्पन्न होने के लिए किसी भी जाति में निम्नलिखित बातों का होना जरूरी है:

1. उसके स्वामित्व में काफी मात्रा में कृषि योग्य भूमि हो।
2. उस जाति के लोगों की संख्या अच्छी खासी हो।
3. वह स्थानीय जातियों में कुछ ऊँची और प्रतिष्ठा प्राप्त हो।

भूमि का स्वामित्व परम्परागत रूप से कुछ थोड़ी सी जातियों तक सीमित रहा है। इन भू-स्वामी जातियों तथा भूमिहीन खेतिहर मजदूरों तथा अन्य पेशेवर कारीगर जातियों का साथ रहा है। भूमि सुधार के पांच दशक बाद भी एक तिहाई अनुसूचित जातियाँ भूमिहीन हैं और अन्य जातियों के पास छोटी-छोटी जोते हैं। इसके अलावा 'हरित क्राति' ने भी कृषि योग्य भूमि के महत्त्व को काफी बढ़ा दिया है जिसके परिणामस्वरूप कुछ पारम्परिक व्यापारिक जातियों का ध्यान भूमि के स्वामित्व की ओर भी आकृष्ट हुआ और वे अधिक से अधिक भूमि के स्वामी बनने के लिए भूमि खरीदने लगे।

इन सब बातों के अतिरिक्त यह भी सही है कि कोई भी जाति मात्र भूमि का स्वामित्व होने, सदस्यों की संख्या अधिक होने अथवा प्रतिष्ठित होने से ही प्रभुतासम्पन्न नहीं हो जाती। उसके लिए कुछ नये तत्त्वों का होना भी जरूरी है जैसे पश्चिमी शिक्षा, स्थानीय प्रशासन में उस जाति के लोगों की नियुक्तियाँ और राजनीतिक 'पउवा' आदि। यही कारण है कि कुछ जातियाँ जो पहले प्रभुता सम्पन्न थीं अब वैसी नहीं रहीं। वयस्क मताधिकार और सत्ता के लोकतंत्रीय विकेन्द्रीकरण (पंचायती राज्य) ने कुछ मध्यवर्गीय एवं निम्न जातियों को भी आगे बढ़ाया। राज्य और केन्द्रीय विधान मंडलों में आरक्षण की व्यवस्था से अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों का स्तर भी पहले से ऊँचा हुआ। इन दलित वर्गों के लोगों में शिक्षा के प्रसार से भी प्रभुता सम्पन्न होने के मापदण्ड में कुछ परिवर्तन आए।

संचार और यातायात के अत्यधिक विस्तार के कारण ग्राम-स्तर की प्रभुता किसी जाति को प्रभुता सम्पन्न बनाने के लिए पर्याप्त नहीं है। इसके बजाय प्रभुता सम्पन्न होने के लिए क्षेत्रीय प्रभुता का होना अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस सामाजिक परिस्थिति को एक अन्य प्रकार से भी समझा जा सकता है। एक जाति विशेष अपने गाँव में सदस्यों की संख्या, आर्थिक हैसियत और राजनीतिक प्रभाव के मामले में हावी हो सकती है लेकिन यदि वह गाँवों में चारों ओर से विरोधी और रुष्ट जातियों से घिरा हुआ है तो उस जाति की गाँव के स्तर की प्रभुता सम्पन्नता का कोई खास प्रभाव नहीं रहेगा। इसलिए सम्बद्ध और अपेक्षाकृत बड़े क्षेत्र पर प्रभुत्व अधिक कारगर होता है।

यह भी एक महत्त्वपूर्ण बात है कि निम्न जातियों के लिए सांस्कृतीकरण का आदर्श सदैव ब्राह्मण ही नहीं होता है। बहुत से क्षेत्रों में दूसरी जातियाँ भी इसका आधार बनती हैं। उदाहरणार्थ, यदि किसी क्षेत्र में क्षत्रियों की प्रभुता है तो वहाँ सांस्कृतीकरण का आदर्श क्षत्रिय जाति होती है। यही बात ब्राह्मणों और वैश्यों के मामले में भी लागू होती है। यह प्रभुसम्पन्नता इतनी परिव्याप्त होती है कि जहाँ क्षत्रिय हावी हैं वहाँ अन्य जातियों के साथ ब्राह्मण भी हेय दृष्टि से देखे जाते हैं और उनके साथ भी अक्सर अपमानजनक व्यवहार किया जाता है। उदाहरण के लिए पूर्वी उत्तर प्रदेश में, जहाँ ठाकुरों का बोलबाला है, ठाकुर ज़मींदार अपने कुलगुरु के अतिरिक्त किसी भी ब्राह्मण को भोजन बनाने के लिए नौकर रख सकते हैं। इसी प्रकार पंजाब के गाँवों में अक्सर जाट ज़मींदार ब्राह्मणों को अपने नौकर जैसा समझते हैं।

जो जाति प्रभुता-सम्पन्न होती है वह अपने गाँव या क्षेत्र की दूसरी जातियों के साथ थोड़ फासला रखती है। वह जाति वहाँ अपने आप को स्थानीय संस्कृति का रक्षक और प्रहरी मानतं है; उसके द्वारा औरों के लिए आचरण के प्रतिमान भी कायम किये जाते हैं जिनका उल्लंघन कर पर सख्ती भी बरती जाती है। उस क्षेत्र विशेष के सभी मूल्य और मान्यताओं पर उस प्रभुतासम्पन्न जाति की छाप होती है। चूंकि सांस्कृतीकरण की प्रक्रिया द्वारा स्थानीय जातिक्रम में निम्न जातिय ऊपर की ओर उठने का प्रयास करती हैं और प्रभुता के दूसरे लक्षणों को हासिल करके भविष में प्रभु जाति बन सकती हैं, इसलिये इस पहलू से देखा जाये तो सांस्कृतीकरण प्रभु जाति व अवधारणा पर एक हमला माना जा सकता है। शायद इसीलिये आज भी अनेक क्षेत्रों में प्रभु सम्पन्न जातियों द्वारा अपेक्षाकृत निम्न जातियों के सांस्कृतीकरण के प्रयासों को अच्छी नज़र नहीं देखा जाता। इस 'सामाजिक रस्साकशी' में प्रभुत्व सम्पन्न जातियाँ नई राजनीति अपनाती रह हैं जिसमें प्रभुत्व के आधार निम्न जातियों की पहुँच से बाहर रहे। निम्न जातियाँ भी निरन्तर य प्रयास करती रहती हैं कि वह किस प्रकार 'खुलते' हुए भारतीय समाज में नये-नये अवसरों लाभ उठाकर अपनी स्थिति को मजबूत कर सकें। यहाँ पर एक उदाहरण शायद इस चर्चा सार आप तक पहुँचा सके।

कर्मकाण्डीय दृष्टिकोण से दूषित बहुत से व्यवसायों जैसे चमड़े का काम, शराब बन व बेचना आदि से उच्च जातियाँ सदा से बचती रही हैं। आजादी के बाद अनुसूचित जातियों मिलने वाली बहुत सी सुविधाओं से, विशेषकर बड़े बैंकों के राष्ट्रीयकरण से, 'सामाजिक बैंवि

के नये आयाम सामने आये हैं। अनेकों सरकारी व गैर-सरकारी योजनाओं का लाभ उठाते हुए बहुत सी अपेक्षाकृत निम्न जातियों ने ये पेशे बड़े पैमाने पर अपनाए और काफी कम समय में काफी धन व सम्पत्ति एकत्र कर ली जिससे उनकी राजनैतिक शक्ति में भी वृद्धि हुई। आगरा के जाटव समुदाय का उदाहरण यहाँ पर दिया जा सकता है जिनका अमेरिकी मानव विज्ञानी ओवेन लिंच ने भी एक बड़ा अच्छा अध्ययन अपनी पुस्तक **'The Politics of Untouchability'** (1969) में किया है। यह दूसरी बात है कि परम्परा से कर्मकाण्डीय दृष्टिकोण से दूषित व्यवसाय अब बहुत सी उच्च जातियों की पहुँच से बाहर नहीं रह गये हैं और पिछले 4-5 दशकों में हुए सामाजिक उदारतावाद व बाज़ार-मण्डी की शक्तियों के कारण (जो काफी हद तक पाश्चात्यीकरण की देन हैं) उच्च जातियों ने भी ऐसे पेशों में लगकर आर्थिक प्रतिस्पर्धा को तेज़ कर दिया है। जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है कि शिक्षा के क्षेत्र में दिये गये प्रोत्साहन और नौकरियों में आरक्षण ने भी बहुत सी निम्न जातियों की सामाजिक-आर्थिक- राजनैतिक स्थिति पहले से अधिक मजबूत की है और इस प्रकार प्रभुसम्पन्नता के नये आधार बनते जा रहे हैं।

प्रभु जाति परम्परागत गाँव या जातीय समिति द्वारा विवादों के निपटारे तथा समझौते में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। प्रभु जाति के प्रभावशाली सदस्य केवल भिन्न-भिन्न जातियों के सदस्यों के बीच पनपने वाले विवादों को ही नहीं सुलझाते बल्कि प्रायः एक जाति के लोग भी स्वयं इनसे मिलकर अपने अंतःजातीय विवादों का निपटारा कराने के लिए भी इनकी ओर देखते हैं।

एस0सी0दूबे और पीटर गार्डनर ने प्रभुजाति की मूल अवधारणा के संदर्भ में कुछ गम्भीर आपत्तियाँ उठायी हैं। उक्त स्थिति के अनुकूल पक्ष पर प्रकाश डालते हुए एस0 सी0 दूबे टिप्पणी रते हैं कि प्रभुजाति के विषय में बात करना केवल उस दशा में अर्थपूर्ण होगा जब पूरे समूह ं शक्ति संचरित हो और उसका क्रियान्वयन पूरे समूह के हित में किया जाये या कम से कम मूह के एक उल्लेखनीय भाग के हित में तो किया ही जाये। किन्तु जब प्रभु जाति के बारे में ह कहा जाता है कि तथाकथित प्रभुजाति में विभिन्न व्यक्तियों के बीच वैभव, प्रतिष्ठा और शक्ति ो असमानता रहती है और प्रभुजाति का व्यक्ति गैर-प्रभुजाति के लोगों की भाँति अपनी जाति ; भी कमजोर लोगों का शोषण करता है, तो शायद उसे 'प्रभुजाति' कहना अनुचित होगा। इसलिए ोनिवास द्वारा निर्दिष्ट आधार पर किसी जाति में प्रभुता स्थापित करने से पहले हमें एकता और ाति के हित में सद्भावपूर्ण कार्य करने के सूत्र को अवश्य अपनाना चाहिए। यह तथ्य कि क्तिपूर्ण स्थिति प्राप्त किये हुए प्रभु लोग एक विशिष्ट जाति से सम्बद्ध हैं उस जाति को प्रभुजाति रूप में लक्षित करने के लिए पर्याप्त नहीं है। इसके अलावा अन्तःजातीय एकता (intra-caste ity) और शक्ति के सम्बन्ध में सभी को जोड़ने की प्रवृत्ति प्रभुजाति के रूप में स्थापित होने लिए अनिवार्य है। जहाँ ये स्थितियाँ होती हैं वहाँ कोई जाति प्रभुजाति बन सकती है। इनकी ुपस्थिति में, केवल प्रभु व्यक्तियों, प्रभु दलों तथा उनके पक्षधरों के संदर्भ में सामुदायिक शक्ति ढाँचे को ही बेहतर तरीके से समझा जा सकता है। श्रीनिवास अपने प्रत्युत्तर में कहते हैं कि पि दूबे प्रभु लोगों और प्रभु दलों का अस्तित्व स्वीकार करते हैं किन्तु इसके बावजूद यह

प्रभुजाति से सम्बद्ध सम्पूर्ण वक्रता से गुजरने में और प्रभुजाति का अस्तित्व स्वीकार करने में संकोच करते हैं। यहाँ श्रीनिवास का मूलभूत बिन्दु यह है कि प्रभुलोग और प्रभुगुट दोनों अपनी प्रभुता इस तथ्य में रखते हैं कि वे प्रभुजाति के ही भाग हैं। यहाँ एक बात यह देखी जा सकती है कि यदि प्रभुदल के सारे नेता न सही तो भी अधिकांश नेता प्रभुजाति से ही होते हैं। उन क्षेत्रों को छोड़कर जहाँ दो प्रतिद्वन्द्वी जातियाँ आमने-सामने हों और उनमें से प्रत्येक अपनी प्रभुता स्थापित करने के लिए प्रयात्नशील हो, सारे तथाकथित प्रभुता सम्पन्न लोग प्रभुजाति से ही आते हैं। प्रभुजाति की प्रभुत्ता स्थानीय स्तर तक ही सीमित नहीं होती है। जैसा कि इस परिचर्चा में यह बात पहले ही बतायी जा चुकी है कि किसी जाति की ग्राम्य स्तर पर प्रभुता अत्यधिक महत्त्व नहीं रखती। प्रभुता तभी पूर्ण मानी जायेगी जब वह पूरे क्षेत्र में व्याप्त हो। यदि ऐसा होता है तो गाँव में एक या दो परिवार भी जो प्रभुजाति से सम्बद्ध होते हैं, वे स्थानीय स्तर पर प्रभावशाली रूप में जाने जाते हैं क्योंकि उनके साथ प्रभु सम्बंधों के अंतर्गत एक निश्चित कार्यप्रणाली का पारस्परिक अनुबंध रहता है। ऐसी स्थितियों में उस गाँव में दूसरे लोग भी उक्त अनुबन्ध या कार्यप्रणाली से सुपरिचित होते हैं और इस प्रकार ऐसे गाँव में मामले भी उसी अनुरूप निपटाये जाते हैं। निहित स्वार्थों की विभिन्नता सम्बन्धी सम्भावनाओं के बावजूद प्रभुजाति के पक्ष में संगठित मोर्चा रखने की बात करते हुए घनश्याम शाह जातीय समितियों के निर्माण के बारे में संकेत करते हैं। जातीय ढाँचे के अंतर्गत भिन्न-भिन्न आर्थिक स्तर वाले लोगों के बीच सद्भाव कायम करने के प्रभुजाति के प्रभु समूह द्वारा एक महत्त्वपूर्ण नवीनीकृत प्रारूप विकसित किया गया। इस प्रकार यह प्रभु समूह अपने वर्ग के स्वार्थों की रक्षा भी करता है तथा अपना नेतृत्व भी कायम रखता है। जातीय समितियों का इतिहास उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध तक जाता है, यद्यपि स्वतंत्रता के बाद उनकी संख्या बढ़ी है। उत्तर प्रदेश और बिहार की सरदार कुर्मी क्षत्रिय सभा, तमिलनाडु का नादर महाजन संगम और गुजरात की गुजरात क्षत्रिय सभा शक्तिशाली जाति समितियों में से कुछ के उदाहरण हैं। इन जाति समितियों ने प्रभु समूहों के आर्थिक हितों को जातीय हितों के रूप में उछाला। सम्बद्ध जातियों के अपेक्षाकृत गरीब स्तर का समर्थन जीतने के लिए ये समितियाँ सामान्यतया दो प्रकार की कार्यप्रणाली या रणनीतियाँ अपनाती हैं। प्रथमतया, इन समितियों के नेतागण पवित्रता (शुद्धता) और प्रदूषण की अवधारण पर आधारित जातीय सिद्धांतों के प्रति लोगों का ध्यान आकृष्ट करते हैं। जातीय सदस्यों को अपनी जाति के स्तर को बरकरार रखने या उसमें सुधार लाने की प्रेरणा दी जाती है। अतीत को महिमा-मण्डित रूप में प्रस्तुत करने वाली कथाओं की रचना की गयी, जातीय सदस्यों के चारों तरफ अलंकारिक शब्दों यथा- "आर्थिक पिछड़ापन", "आर्थिक विकास" आदि का जाल बुनकर उन्हें छलावे में रखा गया। दूसरे, सजातीय सदस्यों के परस्पर संगठन के लिए जातीय समितियों ने अवसर पर सरकार के खिलाफ ऐसे प्रस्ताव पारित किये जिनमें जाति के शोषण का आरोप लगाया गया।

जब कोई जाति के विषय में सैद्धान्तिक (theoretically) या प्रायोगिक (empirically) रूप में विचार करता है तो यह पाता है कि श्रीनिवास ने ऐसा दावा कभी नहीं किया कि ग्रामीण

भारत में शक्ति की अवधारणा को प्रभुजाति की अवधारणा पूर्णरूपेण व्याख्यापित करती है। अधिकांशतया जातीय एकता और विशेष रूप से प्रभुजाति की एकता अपरिवर्तनशील या स्थिर नहीं होती बल्कि विशद संदर्भों में प्रत्यास्थ (contextual) और गतिशील (dynamic) होती है। यह एकता विशेष रूप से अन्य जातियों के विपक्ष के रूप में लक्षित की जा सकती है। जैसा कि दिन-प्रतिदिन लोकतान्त्रिक संस्थाओं के माध्यम से लोक कल्याण योजनाओं और आर्थिक सुधार योजनाओं को लोकप्रिय बनाने तथा उनमें अधिकांश लोगों की भागीदारी सुनिश्चित करते हुए उनके क्रियान्वयन पर जोर डाला जा रहा है, प्रभु जातियों का महत्त्व दिन प्रतिदिन बढ़ता गया है। इसका कारण है कि ये जातियाँ उक्त संस्थाओं को नियन्त्रित करने की क्षमता व योग्यता रखती हैं। आर्थिक एवं राजनीतिक स्रोतों व संसाधनों को नियन्त्रित करने की भयावह प्रतियोगिता में प्रभु जातियों के सभी सदस्य व्यक्तिगत रूप से प्रत्यक्षरूपेण शक्ति नहीं पाते किन्तु सामूहिक रूप से वे निश्चित रूपेण "शक्ति" पा जाते हैं, और उसका क्रियान्वयन व इस्तेमाल भी करते हैं।

इस प्रकार राजनीतिक प्रक्रिया और आर्थिक विकास अतिसूक्ष्म (micro) व माध्यमिक सूक्ष्म (meso) दोनों स्तरों पर निश्चित रूपेण अपने ऊपर सम्बद्ध प्रभु जाति की मुहर लगाये हुए नज़र आते हैं। विकास तथा कानून-व्यवस्था से सम्बद्ध नौकरशाही-अफ़सरशाही पर स्थानीय प्रभुजाति के प्रभाव को दिन प्रतिदिन के आम जीवन में जमीनी वास्तविकता के रूप में देखा जा सकता है।

❑

खण्ड-तीन

भारत में सामाजिक स्तरीकरण
(Social Stratification In India)

अध्याय 11

सामाजिक स्तरीकरण : जाति गतिकी

(Social Stratification : Caste Dynamics)

अध्ययन एवं शोध के एक क्षेत्र के रूप में सामाजिक स्तरीकरण की समाजशास्त्र, मानवशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र एवं मनोविज्ञान आदि में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका है। साथ ही आदर्श व्यवस्थाओं की कल्पनाओं (utopias) में सबसे महत्त्वपूर्ण (पूर्ण) समानता का विचार है। अतः विभिन्न समाज विज्ञानों में सामाजिक स्तरीकरण का अध्ययन एक अत्यन्त रोचक विषय रहा है और आज भी माना जाता है।

स्तरीकरण (stratification) शब्द भूविज्ञान से ग्रहण किया गया है तथा यह समाज में व्यक्तियों के विभिन्न स्तरों में वर्गीकरण की ओर संकेत करता है जिसके सम्बन्ध में माना जाता है कि समाज में स्तर की यह व्यवस्था ठीक उसी तरह लम्बवत् रूप में होती है जैसे धरती की परतें/तहें एक-दूसरे के ऊपर अथवा नीचे लम्बवत् रूप में व्यवस्थित रहती हैं। किन्तु इस भू-वैज्ञानिक रूपक की अपनी सीमाएँ भी हैं। जैसा कि आन्द्रे बीते (1985) कहते हैं, "समाज में व्यक्तियों को व्यवस्था धरती पर परतों/तहों की व्यवस्था से कहीं अधिक जटिल है तथा सामाजिक परतों को नंगी आँखों से उस प्रकार नहीं देखा जा सकता जैसे कि हम भूमि की परतों को देख सकते हैं।" जब हम सामाजिक स्तरीकरण की बात करते हैं तो एक प्रकार से समाज में व्याप्त असमानताओं पर ध्यान केन्द्रित कर रहे होते हैं। विस्तृत अर्थों में सामाजिक स्तरीकरण समाज के विभिन्न स्तरों में वर्गीकरण की बात करता है। ये स्तरव्यवस्था पदानुक्रम के आधार पर व्यवस्थित वर्गों की ओर संकेत करती है। इन वर्गों में अनेक ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक विविधतायें व विषमताएँ पाई जाती हैं जिनमें जातियाँ, सत्ता वर्ग (estate) एवं वर्ग सबसे महत्त्वपूर्ण हैं। सन् 1960 ई. के बाद से नृजातीय (ethnic) एवं लैंगिक (gender) स्तरीकरण की ओर भी ध्यान केन्द्रित किया जा रहा है।

यद्यपि इस सम्बन्ध में मतैक्य नहीं है, समाजशास्त्रियों एवं सामाजिक-मानवशास्त्रियों में अधिकांश सामाजिक स्तरीकरण की सार्वभौमिकता पर विश्वास करते हैं, किन्तु फिर भी एक काल से दूसरे काल एवं एक समाज से दूसरे समाज में असमानता के आधार बदलते रहते हैं। डेविड जेरी एवं जूलिया जेरी **'डिक्शनरी आफ सोशियोलोजी'** (1991) में लिखते हैं– "चूँकि ऐसे अनेक आधार हैं जिन पर मानवीय असमानता को समझा जा सकता है तथा जिन पर शोषण एवं दमनकारी प्रवृत्तियों को जन्म दिया जा सकता है, अतः यह समझना अनिवार्य है कि ये परिवर्तनशील कारक परस्पर विशिष्ट कारक नहीं हैं; औद्योगीकरण से पूर्व के विश्व में धर्म एवं सैनिक स्तर, लैंगिग

व नृजातीय स्तरों के साथ-साथ सहयोगपूर्वक रहते थे। सरल शब्दों में यह कहा जा सकता है कि जब समाज में व्यक्तियों को आय, सम्पत्ति, शक्ति, प्रतिष्ठा, आयु, नृजातीयता अथवा किसी अन्य प्रकार की असमानता के आधार पर पदानुक्रम में रखा जाता है तब यही सामाजिक असमानताएँ सामाजिक स्तरीकरण का रूप ले लेती हैं।

सामाजिक स्तरीकरण की क्रिया-प्रणाली व गतिकी की व्याख्या करते हुए आन्द्रे बीते कहते हैं कि सामाजिक स्तरीकरण को सुचारु बनाये रखने में एवं उसके पुनः निर्माण में शक्ति की अत्यधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। सर्वप्रथम, राज्य-तंत्र की उच्चतम एवं निम्नतम वर्गों को विशेष सुविधाएँ एवं अक्षमताएँ प्रदान करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है, जैसा कि दक्षिण अफ्रीका में अभी कुछ समय पहले तक देखा गया है। किन्तु इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए राज्य के ढाँचे से बाहर हिंसा का भी प्रयोग किया जा सकता है, उदाहरण के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका में श्वेत वर्ग द्वारा अश्वेतों पर किया जाने वाला शोषण एवं भारत में 'उच्च जातियों' द्वारा अस्पृश्यों पर किया जाने वाला अत्याचार। यद्यपि राज्य में लागू व्यवस्था को बनाए रखने के लिए शक्ति का प्रयोग अनिवार्य है, किन्तु उच्च वर्ग के लाभ के लिए निम्न वर्ग का शोषण करने में प्रयुक्त शक्ति देश एवं काल के अनुसार बदलती रहती है।

प्रमुख विशेषताएँ

(1) यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्तियों एवं समूहों को स्तर-पदानुक्रम में स्थान प्रदान किया जाता है।

(2) इसके अन्तर्गत एक ऐसा पदानुक्रम पाया जाता है जो यह सिद्ध करता है कि असमानताओं को समाज द्वारा वैध रूप प्रदान किया गया है।

(3) स्तरीकृत समाज एक सार्वभौमिक अवधारणा माने गए हैं तथा आज भी माने जाते हैं।

(4) असमानता के आधार एक समाज से दूसरे समाज में बदलते रहते हैं।

(5) स्तरीकरण की प्रकृति सामाजिक है तथा इसके अन्तर्गत जैविक कारणों से उत्पन्न असमानताएँ नहीं आतीं।

(6) स्तरीकरण सरल एवं जटिल दोनों ही प्रकार के समाजों में पाया जाता है। सरल, आदिम समाज में यह आयु, लिंग एवं शारीरिक शक्ति पर आधारित था।

(7) स्तरीकरण के विभिन्न चरणों का निर्माण करने वाले विभिन्न स्तरों के सदस्यों में पदानुक्रम व्यवस्था के कारण जीवन शैली आदि के स्तर पर ऐसी समानताएँ या असमानताएँ दिखाई पड़ती हैं जिनके कारण उन्हें एक सामुदायिक पहचान प्राप्त होती है तथा यही विशेषताएँ उन्हें अलग पहचान भी देती हैं।

(8) समाजशास्त्रियों के अनुसार आम तौर पर स्तरीकरण के मुख्यतः तीन रूप होते हैं : जाति (caste) सत्ता वर्ग (estate), एवं वर्ग।

(9) स्तरीकरण का प्रकार्यात्मक सिद्धान्त इस विचार पर आधारित है कि सभी समाजों में कुछ

ऐसी श्रेणियाँ होती हैं जिनका प्रकार्यात्मक महत्त्व अन्य श्रेणियों की अपेक्षा कहीं अधिक होता है तथा यदि उनको सुचारु रूप से क्रियाशील रखना है तो इसके लिए विशेष दक्षता की आवश्यकता होती है। अतः उपयुक्त व्यक्तियों को ऐसी दक्षता विकसित करने के लिए प्रोत्साहित करने हेतु उचित पुरस्कारों की व्यवस्था होनी चाहिए। इन प्रोत्साहनों अथवा पुरस्कारों के अन्तर्गत धन सम्बन्धी पुरस्कार अथवा उच्च सामाजिक स्तर अथवा हैसियत का प्रलोभन आ सकते हैं।

वर्ग (Class)

वर्ग, जिसे सामान्यतः सामाजिक वर्ग के रूप में जाना जाता है, सत्ता वर्ग (estate) एवं जाति के साथ-साथ सामाजिक स्तरीकरण का एक प्रमुख रूप है। उन्नीसवीं सदी के आरम्भिक तीन दशकों में वर्ग शब्द ने धीरे-धीरे सत्ता वर्ग (estate), कोटि (rank) एवं व्यवस्था (order) जैसे शब्दों की जगह ले ली तथा इन शब्दों के स्थान पर 'वर्ग' (class) शब्द का प्रयोग किया जाने लगा, जो समाज के अन्तर्गत होने वाले वर्गीकरण की ओर संकेत करता है। *'दि सोशल साइन्स इनसाइक्लोपीडिया'* में जिगमंट ब्यूमैन (1984) एक महत्त्वपूर्ण विश्लेषण करते हुए कहते हैं– "शब्द का यह परिवर्तन सामाजिक स्तर के निर्धारण में कोटि व प्रदत्त प्रस्थिति समूहों (ascribed status groups) के दिन-प्रतिदिन कम होते एवं सम्पत्ति एवं आय के बढ़ते महत्त्व की ओर संकेत करता है। अब वर्ग शब्द का प्रयोग जनसंख्या की बड़ी श्रेणियों की ओर संकेत करने के लिए किया जाता है जो (1) अन्य श्रेणियों से धन-सम्पत्ति एवं सामाजिक स्थिति के सम्बन्ध में भिन्न हों। (2) जो उत्पादन में स्वयं को प्राप्त स्थान एवं सामाजिक सम्पत्ति के बँटवारे द्वारा अपनी विशिष्ट स्थिति प्राप्त करते हों (3) विशिष्ट हितों का उपभोग अन्य समूहों के हितों का विरोध करते हुए अथवा उनमें पूरक भूमिका निभाते हुए करता हो (4) एक समूह के प्रति विशिष्ट राजनैतिक, सांस्कृतिक, सामाजिक व्यवहार का प्रदर्शन करता हो।

सरल शब्दों में वर्ग ऐसे लोगों का समूह है जिन्हें समाज में एक निश्चित प्रस्थिति प्राप्त है तथा जो अन्य समूहों के साथ उनका सम्बन्ध निर्धारित करती है। सामाजिक मापक्रम में वर्ग की सापेक्ष स्थिति उसे प्राप्त हैसियत/प्रतिष्ठा से उत्पन्न होती है। वर्ग प्रस्थिति (class status), व्यक्ति की जायदाद, उपलब्धियों एवं उसके सामर्थ्य द्वारा निर्धारित होता है।

वर्ग-विश्लेषण के अन्तर्गत प्रमुख सैद्धान्तिक परम्परा का प्रादुर्भाव उन्नीसवीं सदी में औद्योगिक पूँजीवाद के अन्तर्गत नवोदित वर्ग-संरचना पर कार्लमार्क्स एवं मैक्स वेबर के द्वारा किए गए कार्यों से हुआ। मार्क्स ने वर्ग का विश्लेषण पूँजी के स्वामित्व एवं उत्पादन के साधनों के सन्दर्भ में किया। वर्ग का निर्माण उत्पादन तन्त्र में समान भूमिका निभाने वाले व्यक्तियों के कुल योग से होता है। मार्क्स ने समस्त मानव जनसंख्या को दो भागों में बाँटा– पहला वर्ग जिसे सम्पत्ति अथवा उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व प्राप्त है व दूसरे को नहीं है। पहला वर्ग **पूँजीवादी वर्ग** कहलाया तथा दूसरा **श्रमिक सर्वहारा वर्ग।** मार्क्स ने वर्गों को प्रत्यक्ष रूप से दृष्टिगोचर होने वाली सामूहिकता एवं वास्तविक सामाजिक शक्ति के रूप में देखा, जिनमें मार्क्स के अनुसार इतनी ताकत

होती है कि वे समाज को परिवर्तित भी कर सकती हैं। पूँजीवादी वर्ग की लाभ कमाने की कभी न शान्त होने वाली भूख सर्वहारा के शोषण को जन्म देती है। अतः मार्क्स मानते हैं कि यही सर्वहारा वर्ग के दरिद्रीकरण का कारण है। इन परिस्थितियों में श्रमिकों के अन्दर वर्ग-सचेतनता उत्पन्न हो जाएगी तथा श्रमिक वर्ग अपने आप में एक ऐसा वर्ग होने से, जिसे आर्थिक आधार पर उस वर्ग-विशेष का नाम दिया गया है तथा जिसमें स्वयं के प्रति कोई जागरूकता नहीं पायी जाती है, एक ऐसा वर्ग बन जाएगा जो अपन सदस्यों के हितों के प्रति संकल्पित होगा तथा जिसमें वर्ग चेतना रखने वाले श्रमिक होंगे, जो पूँजीपति वर्ग के विरुद्ध अपने हितों के लिए संघर्ष करेंगे। अतः मार्क्स ने वर्गों को उत्पादन व्यवस्था (productire system) में उनके स्थान के आधार पर विश्लेषित किया।

जहाँ मार्क्स वर्ग का विश्लेषण उत्पादन के सन्दर्भ में करते हैं वहीं वेबर वर्ग-विश्लेषण करते समय बाजार, वितरण एवं उपभोग के विचार पर विशेष बल देते हैं। वेबर के विश्लेषण के अनुसार समान आर्थिक हित एवं समान रूप से आर्थिक शक्ति-सम्पन्न सभी लोग एक वर्ग के अन्तर्गत आते हैं। आर्थिक कारकों के अन्तर्गत वेबर केवल उत्पादन सम्बन्धों को ही नहीं बल्कि उन सम्बन्धों को भी गिनते हैं जो बाजार में विकसित होते हैं। वेबर बाजार सामर्थ्य की आर्थिक असमानताओं के अनुसार जनसंख्या को वर्गों में बाँटते हैं, जो उनके विचार से जीवन की विभिन्न दशाओं को जन्म देती है। पूँजी बाजार सामर्थ्य का एक स्रोत है तो कौशल एवं शिक्षा अन्य स्रोत। जहाँ सम्पत्ति धारक एवं उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व प्राप्त लोग एक वर्ग-विशेष के अन्तर्गत माने जाते थे, जैसा कि मार्क्स ने भी शक्तिशाली रूप में कहा है, वहीं ऐसे लोग भी अपने आप में एक बड़ा वर्ग विशेष थे जिन्हें विशिष्ट कौशल प्राप्त होता है तथा जो अत्यधिक ऊँचे वेतनमान पर काम करते थे। इस प्रकार वेबर ने चार वर्ग माने हैं– (1) सम्पत्ति प्राप्त वर्ग (2) बौद्धिक, प्रशासनिक एवं प्रबन्धक वर्ग (3) पारम्परिक बुर्जुआ वर्ग जिसके अन्तर्गत छोटे व्यापारी, दुकानदार आदि आते थे एवं (4) श्रमिक वर्ग। अतः वेबर के वर्ग-विश्लेषण का उद्‌गम बिन्दु भेदक शक्ति (differential power) है न कि आर्थिक शोषण।

जाति (Caste)

'कास्ट' सामाजिक विज्ञान से जुड़ी एक अवधारणा है। जिस अवधारणा को आज हम **'कास्ट'** के नाम से जानते हैं, उसका नामकरण भारत पर नजर डालने वाले पश्चिमियों ने औपनिवेशिक काल के प्रारम्भिक दौर में किया था। भारतीय जीवन एवं विचारधारा के अन्य पक्षों की तुलना में जाति की अवधारणा ने सबसे अधिक विवाद को जन्म दिया है। कुछ विद्वान् भारतीय जाति व्यवस्था को 'भारतीय संस्कृति' को परिभाषित करने वाला एक मुख्य कारक मानते हैं। जाति एक ऐसी जटिल अवधारणा है जिसकी परिभाषा करना अत्यधिक कठिन है तथा इसकी उपलब्ध परिभाषाएँ अनेक समस्याओं को जन्म देती हैं। फिर भी, व्यावहारिक प्रयोग को ध्यान में रखते हुए निम्नलिखित परिभाषाओं की सहायता ली जा सकती है–

"जाति ऐसे परिवारों का समुच्चय है, जिनके नाम एक से हों, जो एक ही वंश से सम्बन्ध

रखते हों, जिनके मिथकीय/ काल्पनिक पूर्वज, चाहे वे मानवीय हों या आलौकिक, एक ही हों, जो एक ही पदानुक्रम व्यवस्था का पालन करते हों तथा जिसका अनुपालन ऐसे लोग करते हों जो एक जातीय समुदाय का निर्माण कर सकने में सक्षम हों।''

–हरबर्ट रिज़ले

''जब एक वर्ग विशेष मुख्य रूप से वंशागत पदानुक्रम व्यवस्था पर आधारित हो तो हम उसे जाति का नाम दे सकते हैं।''

–सी.एच.कूले

''जब प्रस्थिति (status) पूर्वनिश्चित तथा लोगों को इसमें सुधार की कोई सम्भावना नजर न आए, तब वर्ग जाति का रूप धारण कर लेता है।

–मैकाइवर एवं पेज

"जाति एक बन्द वर्ग (closed class) है"

– डी.एन.मजूमदार

''जाति व्यवस्था सामाजिक स्तरीकरण का एक रूप है जिसमें जातियों की व्यवस्था पदानुक्रम के अनुसार की जाती है तथा उन्हें एक दूसरे से कर्मकांडीय शुद्धता (ritual purity) के नियमों के आधार पर अलग अलग संगठित किया जाये।

– पेंगुइन डिक्शनरी ऑफ सोशियोलोजी

इन एवं इन जैसी दर्जनों अन्य परिभाषाओं के आधार पर जाति को सामाजिक स्तरीकरण के एक रूप की तरह समझा एवं समझाया जा सकता है जिसके अन्तर्गत निम्न लक्षण आते हैं:–

1. पदानुक्रम व्यवस्था के अनुसार स्तर निर्धारण
2. बन्द व्यवस्था
3. अंतर्विवाह पद्धति वाली व्यवस्था।
4. प्रदत्त प्रस्थिति (ascribed status) पर आधारित सदस्यता।
5. विभिन्न जातियों के बीच प्रतिबंधित या सीमित सम्पर्क।
6. सैद्धान्तिक रूप से जातीय गतिशीलता असम्भव होना।

यद्यपि, "व्यवसाय आदि के आधार पर यह आर्थिक असमानता प्रतिबिम्बित करती है फिर भी जातीय स्तरीकरण मुख्य रूप से गैर-आर्थिक कारकों पर आधारित है। अपने शुद्धतम् रूप में, हिन्दू भारत में जाति का सिद्धान्त धार्मिक है। जातियों का निर्धारण इसके सदस्यों की धार्मिक/ कर्मकाण्डीय पवित्रता एवं उनके क्रिया-कलापों के आधार पर किया जाता है (डेविड जेरी एवं जूलिया जेरी, 1991)।"

ऐतिहासिक रूप से जाति-स्तरीकरण का सबसे विकसित एवं कुछ लोगों के अनुसार एकमात्र सच्चा रूप भारत में हिन्दुवाद के साथ देखने को मिलता है। इस व्यवस्था का प्रादुर्भाव

अत्यन्त अस्पष्ट सा है। सम्भवतः इसकी जड़ें नृजातीयता (ethnicity) एवं व्यावसायिक दक्षता में निहित हैं। ब्राह्मणों द्वारा निर्मित यह व्यवस्था पाँच मुख्य विभाजनों- चार जाति समूहों (वर्ण), एवं एक अछूत वर्ग (पंचम वर्ण) जिसे अस्पृश्य वर्ग कहा जाता है, पर आधारित है। चार जाति समूहों के अन्तर्गत **ब्राह्मण,** जो धार्मिक अधिकार प्राप्त पुरोहितों का वर्ग था, **क्षत्रिय** जो इहलौकिक (secular) एवं सैनिक शासकों एवं भूस्वामियों का वर्ग था, वैश्य, जो व्यापारियों का मध्यम वर्ग था एवं **शूद्र,** जो सेवकों एवं दासों का वर्ग था, आते थे। अछूत लोग सबसे 'निकृष्ट' एवं अनुष्ठानिक रूप से अपवित्र माने जाने वाले कार्य करते थे।

जाति की व्याख्या भारत की एक मौलिक सामाजिक संस्था के रूप में की गई है। आन्द्रे बीते (1996) के अनुसार, "कभी-कभी इस शब्द का प्रयोग एक रूपक के रूप में कठोर सामाजिक भेदभाव अथवा अत्यधिक सामाजिक अनन्यता (exclusiveness) को इंगित करने के लिए किया जाता है। किन्तु भारत में हिन्दुओं के बीच हमें यह व्यवस्था पूर्णतः विकसित अवस्था में दिखाई देती है। जाति व्यवस्था के समान व्यवस्थाएँ मुसलमानों, ईसाईयों, सिक्खों एवं दक्षिण एशिया के अन्य धार्मिक समुदायों के बीच भी पाई जाती हैं।"

जाति व्यवस्था के प्रकार्य (Functions of Caste)

जाति व्यवस्था के निम्नलिखित प्रकार्य पाए जा सकते हैं–

1. विभिन्न जाति समुदायों के व्यवसाय का निर्धारण करके यह आर्थिक प्रतिस्पर्धा को कम करती है।
2. जीवनसाथी के चयन की सीमाओं एवं सम्भावनाओं को सीमित करते हुए यह अपने सदस्यों को जीवन साथी ढूँढने में किए जाने वाले प्रयासों में सहायक सिद्ध होती है। पारम्परिक रूप से अंतर्विवाह पद्धति के नियम अत्यधिक कठोर हैं तथा इन्हें भंग करना एक अत्यधिक गम्भीर एवं दण्डनीय अपराध माना जाता है।
3. जाति व्यवस्था का आर्थिक आधार **जजमानी** व्यवस्था है। यह श्रम विभाजन की एक वृहद व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत उत्पादों एवं सेवाओं का सुचारु रूप से आदान-प्रदान किया जाता है। भूस्वामी उच्च जातियाँ तथा व्यावसायिक दक्षता प्राप्त निम्न जातियाँ अथवा 'सेवक जातियाँ' पारम्परिक रूप से जजमानी व्यवस्था से बँधी हुई हैं। जजमान अथवा भूमि पर अधिकार प्राप्त उच्च जातियाँ अन्य जातियों से सेवाएँ प्राप्त करने के बदले में भूउत्पाद प्रदान करती हैं।
4. जाति की व्याख्या उसके सदस्यों के लिए सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक संसाधन के रूप में भी की जा सकती है। पारस्परिक एकता एवं समान सचेतनता के कारण एक जाति के लोग एक दूसरे की सहायता करते देखे जा सकते हैं।

कर्मकांडीय या सांस्कारिक पक्ष अथवा शुद्ध/अशुद्ध के बीच द्वेधपूर्ण विभेदः (Ritual Aspect or Binary Opposition Between Pure and Impure)

1. लुई ड्यूमो के अनुसार शुद्ध एवं अशुद्ध के बीच का विरोध हिन्दू जाति व्यवस्था का मौलिक सिद्धान्त है।

2. यह सिद्धान्त जाति व्यवस्था के तीन प्रमुख लक्षणों में अन्तर्निहित है जिनका विस्तृत विवेचन बोगले ने किया तथा बाद में ड्यूमो ने उसका समर्थन किया। बोगले के अनुसार जाति व्यवस्था के अन्तर्गत वंशागत समूहों (सामाजिक रूप से प्रासंगिक जातियाँ) की एक शृंखला निहित होती है जिनकी मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं- (i) पदानुक्रम अथवा धार्मिक कर्मकाण्डों अथवा रीति रिवाजों के आधार पर स्तरीकरण; (ii) 'पारस्परिक प्रतिकर्षण' जिसके अंतर्गत, अलगाव आदि से सम्बन्धित नियम अन्तर्निहित होते हैं तथा (iii) श्रम का विभाजन तथा परिणामस्वरूप विभिन्न जातियों में अन्योन्याश्रितता का पाया जाना।

3. ड्यूमो के अनुसार शुद्ध एवं अशुद्ध के बीच का विरोध तीनों लक्षणों में पाया जाता है। पदानुक्रम में यह इसलिए पाया जाता है क्योंकि शुद्ध एवं अशुद्ध को एक दूसरे से अलग रखा जाना चाहिए तथा श्रम विभाजन में इसके पाये जाने का कारण यह है कि शुद्ध एवं अशुद्ध व्यवसायों को भी एक-दूसरे से पृथक् रखने की आवश्यकता है।

4. अतः इस विवेचन के अनुसार जाति व्यवस्था को विस्तृत अर्थों में एक समग्रता (whole) माना गया है जिसका मूलभूत आधार दो विरोधी तत्त्वों (शुद्ध एवं अशुद्ध) में पाये जाने वाला अनिवार्य एवं पदानुक्रम सम्बन्धी सहअस्तित्व का भाव है। जाति सम्बन्धी इन विचारों के अनुसार शुद्ध एवं अशुद्ध दोनों ही प्रकार की जातियों को समाज में यथोचित स्थान प्राप्त है तथा दोनों को ही व्यवस्थानुसार निश्चित सुविधाएँ प्राप्त हैं तथा वे मिल-जुलकर एक साथ रहती हैं।

5. शुद्धता एवं अशुद्धता के आधार पर जातियों को श्रेणियों में वर्गीकृत करने का एक उपाय उनके लक्षणों का अध्ययन करना तथा उसी के अनुसार एक-दूसरे के सम्बन्ध में उन्हें श्रेणियों में वर्गीकृत करना है। शुद्धता के सापेक्ष लक्षणों के अन्तर्गत जनेऊ पहनना, गौ-पूजा, शाकाहारी होना, मद्यपान न करना तथा विधवा पुनर्विवाह का निषेध आदि आते हैं। अशुद्धता का सम्बन्ध मानव उत्सर्जन, मृत्यु, गाय के निरादर, मांसाहार एवं मद्यपान आदि से है।

6. शुद्धता एवं अशुद्धता के उपरोक्त लक्षणों के आधार पर पदानुक्रम व्यवस्था के दो सिरों- ब्राह्मणों एवं अछूतों-की पहचान की जा सकती है। किन्तु ब्राह्मणों एवं अछूतों में उच्चतम एवं निम्नतम का बिल्कुल सही-सही निर्धारण अशुद्धता के विचार की स्थानीय लोगों द्वारा की गयी व्याख्या से प्रभावित होता है। अतः जहाँ मलमूत्र साफ करने एवं गाय का मांस खाने से एक जाति लगभग हर जगह अछूत बन जाती है, वहीं व्यवहार के स्तर पर कुछ निश्चित विशेषताओं के कारण यह किसी अन्य जाति अथवा समूह से अग्रणी मानी जा सकती है। यह तथ्य कि अशुद्धता की अवधारणा के अनुभवजन्य सन्दर्भों (empirical referents) को स्थानीय स्तर पर व्याख्यायित किया जाता है, इस बात पर प्रकाश-डालता है कि जाति पदानुक्रम को यदि एक विशिष्ट अवधारणा के रूप में देखा जाए तो यह एक क्षेत्र विशेष तक सीमित हो जाती है। अतः जाति पदानुक्रम क्षेत्रीय विविधताओं को प्रकट करता है।

7. वह प्रवृत्ति, जिसके फलस्वरूप एक क्षेत्र विशेष में जातियों को पदानुक्रम के आधार पर श्रेणीबद्ध किया जाता है, कई बार एक ही जाति के अन्दर में भी दोहरायी जाती है तथा इसके फलस्वरूप उस स्थानीय समुदाय एवं विस्तृत क्षेत्र में भी विभिन्न समूहों का स्तर निश्चित किया जाता है।

8. अशुद्धता के विचार का स्थानीय विश्लेषण का क्रियान्वयन जातियों के मूल्यांकन एवं स्तर-निर्धारण में पाये जाने वाले विभिन्न क्षेत्रीय भेदों को स्पष्ट करता है। एक क्षेत्र विशेष में भी लक्षणों की विविधता एवं बहुलता तथा उन्हें एक-दूसरे के संदर्भ में मूल्यांकित करने की आवश्यकता सभी जातियों को एक निश्चित पदानुक्रम व्यवस्था में स्तर के अनुसार वर्गीकृत करने के काम को कठिन बनाती है।

9. ड्यूमो गह स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं कि किस प्रकार ये लक्षण उच्च एवं निम्न जातियों के बीच भेद स्पष्ट करने वाली एक शृंखला प्रस्तुत कर सकते हैं, जिसमें प्रत्येक भेद दूसरे भेद से कहीं अधिक उपयुक्त एवं सटीक हो। उदाहरण के लिए शाकाहारी जातियों को मांसाहारी जातियों से उच्च माना जा सकता है। शाकाहारियों में भी वे जातियाँ जो विधवा पुनर्विवाह को वर्जित मानती हैं, उन जातियों से श्रेष्ठ मानी जायेंगी जो इसकी अनुमति देती हैं। इसी प्रकार मांसाहारियों में भी गाय का मांस खाने वालों एवं गाय का मांस न खाने वालों के बीच भेद किया जा सकता है तथा मांस खाने वाले को भी आगे उन लोगों में वर्गीकृत किया जा सकता है जो केवल बकरे अथवा पक्षियों का मांस खाते हैं तथा वे जो निम्न जातियों द्वारा पाले जाने वाले कूड़ा-करकट खाने वाले सुअरों का मांस खाते हैं। ड्यूमो कहते हैं कि ऐसे भेद जो शुद्धता एवं अशुद्धता के बीच अन्तर प्रदर्शित करते हैं, निश्चित रूप से पदानुक्रम सिद्धान्त के महत्त्व की पुष्टि करते हैं।

10. वहीं यह स्पष्ट करना कठिन है कि किसी भी गाँव विशेष की पदानुक्रम व्यवस्था केवल लाक्षणिक तथ्यों (attributional critera) पर ही आधारित होती है। कुछ जगहों पर एक शाकाहारी जाति मांसाहारी जाति से निम्न मानी जा सकती है। यह भी स्पष्ट नहीं है कि अशुद्धता के विभिन्न लक्षण किस प्रकार एक साथ मिलकर मूल्यों की एक असंदिग्ध पदानुक्रम व्यवस्था का निर्माण करते हैं। उदाहरण के लिए क्या भोजन सम्बन्धी लक्षण व्यवसाय के लक्षणों से अधिक महत्त्वपूर्ण हैं ? बकरे काटने, बाल काटने एवं ताड़ी बनाने के व्यवसायों में से सबसे छोटा एवं नीचा व्यवसाय कौन-सा है ?

11. इन कठिनाइयों ने मिककिम मैरिअट को जाति स्तरीकरण का एक अन्तरक्रियात्मक सिद्धान्त बनाने को प्रेरित किया। यह जाति स्तरीकरण/वर्गीकरण अन्तरजातीय सम्बन्धों पर आधारित है जिसका प्रत्यक्षीकरण भोजन के परोसने एवं ग्रहण करने के कर्मकाण्डों एवं रीतिरिवाज सम्बन्धी कार्यों का निर्वाह करने एवं उन्हें ग्रहण करने में होता है। उनके अनुसार भोजन परोसने एवं ग्रहण करने की विशेषता की जाति-स्तरीकरण/वर्गीकरण में अधिक निर्णायक भूमिका होती है बजाय कि धार्मिक कर्मकाण्डों के निर्वाह एवं ग्रहण की। किन्तु दोनों ही एक-

दूसरे से जुड़े हैं क्योंकि धार्मिक कर्मकाण्डों का निर्वाह भोजन परोसने व ग्रहण करने में किया जाता है।

12. भोजन का वितरण भी जाति के स्तर निर्धारण में महत्त्वपूर्ण अर्थ रखता है, क्योंकि एक जाति यदि अपने द्वारा अन्य जातियों को दिये जाने वाले भोजन की तुलना में अधिक अच्छा एवं शुद्ध भोजन प्राप्त करती है, तो माना जाता है कि अन्य जातियों की तुलना में कर्मकाण्डों एवं रीतिरिवाजों की दृष्टि से उसे अधिक सम्मान प्राप्त है। इसी सिद्धान्त के अनुसार यदि एक जाति अपने द्वारा दूसरी जातियों के लिए किये गये अनुष्ठानिक कार्यों की तुलना में अन्य जातियों से अपने लिए अधिक अनुष्ठानिक सेवाएँ प्राप्त करती है, तो वह अपेक्षाकृत उच्च मानी जाती है; यदि अनुष्ठानिक सेवाएँ प्राप्त करने की तुलना में वह प्रदान अधिक करती है, अथवा नीची जातियों को अनुष्ठानिक सेवाएँ प्रदान करती है तो वह निम्न मानी जाती है।

जाति व्यवस्था पर समकालीन सामाजिक मानवशास्त्रियों के विचार (Caste System as Viewed by Contemporary Social Anthropologists)

1940 के दशक के बाद से कई अंग्रेजी एवं अमेरिकी समाजविज्ञानियों ने भारतीय जाति व्यवस्था को एक नई दृष्टि से देखना प्रारम्भ कर दिया। इस दृष्टि से जाति व्यवस्था पर किये जाने वाले अध्ययनों की प्रमुख विशेषताएँ समकालीन सामाजिक मानवविज्ञान से प्रेरित हैं। भारतीय समाज का सूक्ष्म अध्ययन करने वाली पोलीन कोलेन्डा (1984) ने एक महत्त्वपूर्ण विश्लेषण में इस नवीन उपागम के प्रमुख अभिलक्षणों को इंगित करने की कोशिश की है। उनके अनुसार इस उपागम का सबसे प्रमुख अभिलक्षण है एक गाँव विशेष में रहकर वहाँ के समाज का सूक्ष्मतापूर्वक अध्ययन करते हुए जाति व्यवस्था के विषय में सूचना एकत्रित करना। उनके अनुसार-

1. एक व्यवस्था के रूप में जाति की अवधारणा एक सीमित क्षेत्र में ही कार्य करती है। जैसे- एक गाँव विशेष अथवा एक-दूसरे से जुड़े कुछ गाँवों के समूह तक।
2. एक गाँव अथवा स्थानीय जनसमूह का निर्माण पारस्परिक रूप से विशिष्ट जातियों की शृंखला द्वारा होता है जिनकी संख्या कहीं-कहीं मुट्ठी भर तो कहीं कुछ ज्यादा होती है।
3. एक प्रभुतासम्पन्न जाति, समाज में प्रभावशाली स्थिति प्राप्त परिवार, अथवा परिवारों का समूह समाज के अन्य सदस्यों से कहीं अधिक राजनैतिक एवं आर्थिक शक्ति का उपभोग करता है। कृषि योग्य भूमि पर एकाधिकार एवं शारीरिक शक्ति के अन्तर्गत प्रभुत्व अन्तर्निहित है।
4. प्रत्येक जाति की अपनी व्यावसायिक विशेषता होती है तथा अपनी इस विशेषता का आदान-प्रदान वह अन्य जातियों के साथ भोजन, उत्पादों एवं सेवाओं के बदले करती है। इनमें से सबसे महत्त्वपूर्ण है भूस्वामी प्रभुतासम्पन्न जातियों द्वारा भूमिहीन सेवकों, कारीगरों एवं निर्धन जातियों को उपलब्ध कराया जाने वाला खाद्यान्न। भोज्य पदार्थों, सामान एवं सेवाओं का यह आदान-प्रदान एक पारम्परिक व्यवस्था है जिसका सम्बन्ध पवित्रता/शुद्धता एवं अपवित्रता/

अशुद्धता के विचार से है। साथ ही यह एक आर्थिक व्यवस्था भी है। इसे जजमानी व्यवस्था भी कहा जाता है जिसका मुख्य ध्येय यह होता है कि उच्च जातियाँ पवित्र/शुद्ध बनी रहें और निम्न जातियाँ उनकी ख़ातिर अशुद्धता को ग्रहण करें और स्वयं अशुद्ध रहें।

5. स्थानीय जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत आने वाली जातियों को इस पारम्परिक व्यवस्था में उनकी अपनी-अपनी अशुद्धता के आधार पर एक-दूसरे से तुलना करते हुए समाज में स्तर प्रदान किया जाता है।

6. इस स्थानीय जाति पदानुक्रम में जातिस्तर सुधारने के प्रयास मध्यम एवं निम्न जातियों द्वारा किये जाते हैं। इसके लिए वे अशुद्ध बनाने वाली प्रथाओं को पूरी तरह से खण्डित करते हुए उन्हें तिलांजलि दे देती हैं तथा उच्च एवं शुद्ध जातियों के आचरण एवं प्रथाओं का अनुकरण करते हुए उनसे बराबरी करने का प्रयास करती हैं।

7. राजनैतिक शक्ति पर किसी प्रभुतासम्पन्न जाति, परिवार अथवा परिवारों या कभी-कभी एक समान शक्ति सम्पन्न दो जातियों को एकाधिकार प्राप्त होता है। प्रभुताविहीन जातियाँ अपने आश्रयदाताओं को समर्थन एवं सहयोग देती हैं। यदि शक्ति प्राप्त करने के लिए समाज में गुटबंदी हो जाये तो ऐसे में प्रभुताविहीन जातियों द्वारा प्राप्त होने वाला यह समर्थन बहुत महत्त्वपूर्ण साबित होता है।

8. आपस में होने वाले झगड़ों एवं मतभेदों का निपटारा या तो जाति विशेष की पंचायत द्वारा किया जाता है अथवा प्रभुतासम्पन्न जाति अथवा परिवार के एक अथवा एक से अधिक सदस्यों द्वारा।

9. कोई जाति समूह अपने आप में एक अन्तःविवाही वंशक्रम समूह (endogamous descent group) होता है। स्थानीय स्तर पर एक जाति समूह के अन्तर्गत सगे-सम्बन्धी, रिश्तेदार आदि आते हैं जो विचारधारा, मान्यताओं के स्तर पर तो एक-दूसरे से मिलते-जुलते हैं ही साथ ही साथ वंशानुक्रम की दृष्टि से भी एक-दूसरे से सम्बन्धित होते हैं पितृ-वंशानुक्रम के अन्तर्गत एक ही परिवार के पिता-पुत्र सम्बन्धों पर आधारित पुरुष-शृंखला आती है जिन सबका सम्बन्ध एक ही पूर्वज से होता है। मातृ-वंशानुक्रम के अन्तर्गत एक ही परिवार के माता-पुत्र, पुत्री सम्बन्धों पर आधारित स्त्री-शृंखला आती है तथा इन सबका सम्बन्ध भी समान पूर्वजों से होता है। समस्रोतीय वंशानुक्रम (cognatic descent) के अन्तर्गत पुरुष अथवा स्त्री शृंखला आती है तथा इसका सम्बन्ध भी समान पूर्वजों से होता है।

10. प्रत्येक जाति-समूह अपने-अपने क्षेत्र में रहता है। सभी क्षेत्रों में अस्पृश्य माने जाने वाले लोग (अपवित्र/अशुद्ध), शुद्ध जातियों से बिल्कुल अलग या तो पृथक् गाँवों अथवा गाँव के बाहरी इलाकों में रहते हैं।

जाति : सांस्कृतिक एवं संरचनात्मक दृष्टिकोण (Caste : Cultural and Structural View)

जाति स्तरीकरण की व्यवस्था है। अधिक स्पष्ट एवं सटीक शब्दों में कहा जा सकता है कि

जाति भारतीय समाज में सामाजिक स्तरीकरण करने वाली व्यवस्था है। यह पारम्परिक भारतीय समाज में सामाजिक स्तरीकरण के मूल विचार, अवधारणा अथवा विचारधारा को अभिव्यक्त करती है। जाति के सम्बन्ध में समाज वैज्ञानिकों के मत परस्पर भिन्न हैं। इनमें से सबसे प्रचलित मत हैं- (1) सांस्कृतिक मत (Cultural View) (2) संरचनात्मक मत (Structural View)। इन मतों में मूल विचार के धरातल पर अन्तर नहीं है, बल्कि यह अन्तर उनके विश्लेषण के स्तर को लेकर है।

जाति के सांस्कृतिक मत से सहमत होने वाले लोग इसे विचारों एवं मूल्यों की व्यवस्था के रूप में लेते हैं। इसके अन्तर्गत सिद्धान्त एवं प्रतिमान/मानक भी आ सकते हैं। इस मत के अनुसार पदानुक्रम सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व है जो व्यक्तियों एवं समूहों की स्थिति अथवा स्तर निश्चित करने का आधार है। इस मत के समर्थकों एवं अग्रणी विचारकों में सबसे महत्त्वपूर्ण लुई ड्यूमो, जी.एस. घुरिये, एडमण्ड लीच एवं एम.एन. श्रीनिवास हैं। ये विचारक जाति को भारतीय समाज और विशेष रूप से हिन्दू समाज से सम्बन्धित सामाजिक एवं सांस्कृतिक अवधारणा के रूप में लेते हैं, क्योंकि गैर हिन्दू समुदायों के सन्दर्भ में इस तथ्य के बावजूद भी कि उन्होंने भी 'जाति जैसी' स्तरीकरण व्यवस्था विकसित कर ली है, यह किसी धार्मिक विचारधारा का सृजन नहीं करती। जाति को सामाजिक स्तरीकरण के सामान्य सिद्धान्त के अन्तर्गत एक सांस्कृतिक अवधारणा के रूप में लेते हुए वे वंशागत समूहों के पदानुक्रम को इसके आधार के रूप में प्रस्तुत करते हैं। ये वंशागत समूह अन्तर्विवाह, खान पान (भोजन एवं जल का आदान-प्रदान) एवं शारीरिक संपर्कों के आधार पर एक-दूसरे से अलग किये जाते हैं। किन्तु इस अलगाव एवं विशिष्टता के बावजूद भी श्रम के पारस्परिक विभाजन के कारण उनका अपना स्वतंत्र अस्तित्व है। इस व्यवस्था का मूल सिद्धान्त शुद्ध एवं अशुद्ध के परस्पर विरोध (binary opposition) पर आधारित है।

योगेन्द्र सिंह इस व्यवस्था का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं। वे सार्वभौमिक तथा विशिष्ट श्रेणियों (Universalistic and Particularistic Categories) की बात करते हैं। पहले का तात्पर्य है कि जाति व्यवस्था सामाजिक स्तरीकरण की सार्वभौमिक अवधारणा का ही एक रूप है जबकि दूसरे के अनुसार जाति व्यवस्था को स्तरीकरण की ऐसी व्यवस्था के रूप में देखा जा सकता है जो विशेष रूप से भारतीय/हिन्दू समाज पर लागू होती है।

जाति के संरचनात्मक दृष्टिकोण से सहमति रखने वाले जाति को एक उच्चकोटि के अमूर्त विचार अर्थात् 'सामाजिक संरचना' के रूप में लेते हैं। अतः उनके लिए जाति एक संरचनात्मक यथार्थ है। इस मत के समर्थकों के अन्तर्गत मार्क्सवादी एवं प्रकार्यवादी समाजशास्त्री आते हैं। ऐसे समाजशस्त्रियों में ए.आर. देसाई, जो कि एक मार्क्सवादी समाजशास्त्री हैं, इस मत को प्रस्तुत करते हैं। 'संरचनावादियों' के अनुसार एक सामाजिक संरचना के रूप में जाति की अन्तर्सांस्कृतिक तुलना की जा सकती है। योगेन्द्र सिंह इस मत के समर्थकों को आगे दो अन्य वर्गों में बाँटते हैं : (1) संरचनात्मक सार्वभौमिकता के समर्थक (2) संरचनात्मक विशिष्टता के समर्थक। संरचनावादियों के अनुसार जाति व्यवस्था जाति की सम्पूर्ण अवधारणा के अन्तर्गत वर्गीय सम्बन्धों को प्रतिबिम्बित करने वाली व्यवस्था है। मार्क्सवादियों के अनुसार जाति की अवधारणा को धार्मिक धरातल पर प्राप्त पुष्टि उत्पादन की पद्धति को बनाए रखने के लिए तर्कसंगत, वैध विचारधारा के रूप में

प्रयुक्त की जा सकती है। चूँकि भूस्वामी जातियों में अधिकांशतः उच्च जाति के लोग हैं जिनको उत्पादन के साधनों पर नियन्त्रण प्राप्त है तथा जो 'निम्न' एवं भूमिहीन छोटी जातियों का शोषण करते हैं, अतः गौरतलब बात यह है कि यहाँ वर्ग का विश्लेषण मार्क्सवादी दृष्टिकोण के आधार पर किया जा सकता है। भारतीय समाज का अध्ययन करने वाले अधिकांश समाजशास्त्री, जाति के 'संरचनात्मक विशिष्ट' (Structural Partiauleristic) मत से सहमत दिखाई पड़ते हैं। वे जाति को पदानुक्रम के अनुसार स्तरीकृत वंशागत समूहों में परस्पर विवाह, व्यवसाय, श्रम के आर्थिक विभाजन, जाति पंचायतों अथवा अन्य संगठनों द्वारा लागू किये जाने वाले सांस्कृतिक प्रतिमानों एवं मूल्यों आदि के सम्बन्ध में विचार-विनिमय सम्भव बनाने वाली एक संस्थागत व्यवस्था के रूप में लेते हैं। जाति के संरचनात्मक विश्लेषण के अनुसार यह संस्थागत असमानता की व्यवस्था है। अतः जाति को असमानता के संरचनात्मक आधार (structural basis of inequality) के रूप में भी देखा जा सकता है।

जाति गतिशीलता (Caste Mobility)

सोरोकिन, जिनका सामाजिक गतिशीलता पर लिखा गया ग्रन्थ आज भी उत्कृष्ट माना जाता है, कहते हैं कि आज तक ऐसा कोई समाज नहीं हुआ है जिसके विभिन्न स्तर बिल्कुल बन्द हों अथवा जिसमें लम्बवत् गतिशीतता अपने आर्थिक, राजनैतिक एवं व्यावसायिक रूपों में न पाई जाती हो। इसी के साथ आज तक ऐसा कोई समाज नहीं हुआ है जिसमें लम्बवत् सामाजिक गतिशीलता बिल्कुल खुले रूप में पाई जाती हो तथा एक सामाजिक स्तर से दूसरे सामाजिक स्तर में स्थानान्तरण बिना किसी रुकावट अथवा अवरोध के सम्भव हो सका हो। प्रचलित 'पुस्तकीय परिद्रष्य' (Book View) के ठीक विपरीत स्तरीकरण की व्यवस्था के रूप में जाति सामाजिक एवं व्यावसायिक गतिशीलता को सम्भव बनाती है।

एम.एन. श्रीनिवास ने जाति की जड़ प्रकृति के मिथक को तोड़ा है। वे जाति सम्बन्धी गतिशील दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं तथा कहते हैं- "जाति व्यवस्था अन्य कठोर व्यवस्थाओं से भिन्न है जिनमें प्रत्येक घटक का स्थान सदैव के लिए निश्चित होता है। इसमें गतिशीलता की सदैव सम्भावना रही है....''। वे आगे कहते हैं कि सामाजिक गतिशीलता के विरोधी प्रतिमान जितने शक्तिशाली होंगे उतनी ही सामाजिक गतिशीलता का अनुसरण करने की इच्छा बढ़ेगी। गतिशीलता की दिन प्रतिदिन बढ़ती इच्छा का सबसे बड़ा स्रोत जनगणना प्रक्रिया रही है। उन्नीसवीं और बीसवीं सदी के प्रारम्भिक वर्षों की भारतीय जनगणना रिपोर्ट इस गतिशीलता का स्पष्ट उदाहरण है।

जाति व्यवस्था ने एक व्यक्ति के जीवन काल में एक जाति के दूसरी जाति में गतिशीलता को असम्भव बनाने का प्रयत्न किया। अतः गतिशीलता ने उपजातियों के सामूहिक विखण्डन/बिखराव अथवा हटन के शब्दों में "भारतीय जातियों की अस्थिर प्रवृत्तियों" के रूप में स्वयं को अभिव्यक्त किया। यदि हम गतिशीलता के प्रारूपों को ठीक से व्याख्यायित करते हुए उनके बीच के अन्तर को स्पष्ट कर सकें तो गतिशीलता की प्रक्रिया और भी स्पष्ट हो जाती है। यद्यपि इस प्रकार दो प्रसंगार्थ (referents) हो सकते हैं- द्विज (उच्च जाति) एवं आधुनिक व सुशिक्षित अभिजात्य या

संभ्रांत वर्ग के लोग। जाति के सन्दर्भ में सभ्रांत वर्ग की प्रसंगार्थ अथवा संदर्भ वर्ग के रूप में सांस्कृतिक प्रतिस्पर्धा जाति गतिशीलता की प्रक्रिया में अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है किन्तु फिर भी आधुनिक अभिजात्य वर्ग को भी संकेतित माना जाता है। किन्तु अधिकांशतः दोनों ही अनुभव आधारित यथार्थ (empirical realities) के अनुसार जाति गतिशीलता की अवधारणा से जुड़े हैं।

अपने महत्त्वपूर्ण ग्रंथ '**Religion and Society among the Coorgs**' (1952) में एम.एन. श्रीनिवास स्थानीय निम्न जातियों द्वारा ब्राह्मणों का सांस्कृतिक अनुसरण करने के सन्दर्भ में जाति गतिशीलता का वर्णन करते हैं। उसके पश्चात् वे '**Social Change in Modern India**' में संस्कृतिकरण की परिभाषा को विस्तार देते हुए कहते हैं कि

"यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा एक निम्न हिन्दू जाति अथवा जनजाति या अन्य समूह किसी उच्च एवं द्विज जाति का अनुकरण करते हुए अपने रीति-रिवाजों, कर्मकाण्डों, आचरण, विचारधारा एवं जीवन पद्धति में परिवर्तन करते हैं। इस प्रकार के परिवर्तन द्वारा वे आगे चलकर जाति पदानुक्रम व्यवस्था में अपेक्षाकृत उच्च स्तर प्राप्त करने की कोशिश करते हैं, जो पारम्परिक रूप से स्थानीय समुदाय द्वारा उन्हें प्रदान किये गये सामाजिक स्तर से निश्चित रूप से सम्माननीय अर्थ रखता हो।"

संस्कृतिकरण के सन्दर्भ में क्षत्रिय वर्ण सबसे अधिक लोकप्रिय रहा है। अपने शोध के आधार पर सुरजीत सिन्हा इसे **क्षत्रियकरण** कहने के बजाय **राजपूतीकरण** कहना अधिक उचित समझते हैं। क्षत्रिय प्रारूप की लोकप्रियता का उदाहरण इस बात से मिलता है कि स्वतंत्रता पूर्व जनगणना कार्यालयों में निम्न जातियों की आने वाली याचिकाओं में से अधिकांश यह माँग करती थीं कि उनके नाम एवं पदानुक्रम में इस तरह का परिवर्तन कर दिया जाए कि उन्हें समाज में एक क्षत्रिय के रूप में पहचान मिल सके। संस्कृतिकरण का ब्राह्मणवादी प्रारूप अपेक्षाकृत सबसे अधिक जटिल है, क्योंकि अधिकांशतः शूद्र जातियों को ब्राह्मण रूप में पहचान प्राप्त करना अधिक जटिल लगता है। पूर्वी उत्तर प्रदेश के सेनापुर गाँव में नोनिया जाति का विलियम रोज द्वारा किया गया अध्ययन यह प्रदर्शित करता है कि किस प्रकार आर्थिक सम्पन्नता प्राप्त करके एक मध्यम स्तर की जाति संस्कृतिकरण के माध्यम से उच्च जाति की ओर सफलतापूर्वक गतिशील हो जाती है। यह उदाहरण डेविड मैन्डलबॉम के इस कथन की पुष्टि करता है कि एक निम्न जाति को उच्च जाति अंगीकार करने के लिए संस्कृतिकरण को माध्यम रूप में अपनाने से पहले धन-सम्पत्ति अर्जित करके सम्पन्न जरूर बन जाना चाहिए। इसी तरह पोकॉक गुजरात की पारम्परिक मध्यम वर्गीय कृषक जाति कुनबी के एक नई एवं अपेक्षाकृत अधिक सम्मानित जाति, जिसे पट्टीदार कहा जाता है, में परिवर्तन के उदाहरण द्वारा एक अन्य सफल ऊर्ध्वमुख गतिशीतता का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। यह बात सामान्य रूप से स्वीकारी जा चुकी है कि अस्पृश्यता एक ऐसा बड़ा अवरोध है जिसने ऊर्ध्वमुख गतिशीलता के मार्ग में एक बहुत बड़ी बाधा उत्पन्न की है। उड़ीसा में बिसीपारा के अपने अध्ययन के द्वारा एफ.जी. बेली एक ऐसा उदाहरण प्रस्तुत करते हैं जो संस्कृतिकरण के माध्यम से अछूतों की उच्च स्तर प्राप्त करने में सफलता बयान करता है। भूमि प्राप्त करने एवं स्वयं को क्षत्रिय स्तर का घोषित करने के बाद उनका स्तर ताड़ी बनाने वालों से, जिसे एक अपवित्र एवं गंदा

काम माना जाता था, निश्चित रूप से ऊपर उठा। इन अछूतों द्वारा स्वयं को क्षत्रिय स्तर का घोषित किया जाना स्थानीय ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों को पसंद नहीं आया किन्तु फिर भी उन्हें अनिच्छापूर्वक इसे स्वीकार करना पड़ा।

अंतःजातीय (intra caste) गतिशीलता के संदर्भ में शिक्षा एवं व्यवसाय ऊर्ध्वमुखी (upward) गतिशीलता के सबसे प्रमुख कारक रहे हैं। शिक्षा एवं व्यवसाय के सेक्युलरीकरण के दिन-प्रतिदिन बढ़ते हुए रास्तों के साथ-साथ कई व्यक्ति एवं समूह ऊर्ध्वमुखी गतिशीलता प्राप्त करते हैं। अतः प्रत्येक जाति में एक संभ्रात उपवर्ग (elite sub-class) उत्पन्न हो जाता है। यहाँ तक कि हम अनुसूचित जातियों, पिछड़ी जातियों एवं जनजातीय समुदायों में भी यह प्रवृत्ति पाते हैं।

जाति व्यवस्था एवं उसका रूपान्तरण (Caste System and it's Transformation)

पुस्तकीय परिद्रष्य (Book view/Textual view) एवं प्रचलित प्रत्यक्षीकरण के विपरीत जाति कभी भी स्थिर या जड़ नहीं रही है। इसमें प्राचीन काल से लेकर वर्तमान समय तक अनेक परिवर्तन होते आए हैं। जाति व्यवस्था में सदैव अनुकूलन योग्य परिवर्तन (adaptive changes) होते आए हैं। यद्यपि, स्वतन्त्रता के बाद के काल में परिवर्तन की गति अत्यधिक तेज हुई है, और जाति के कर्मकाण्डीय एवं आर्थिक पक्षों में बहुत तेजी से अन्तर आया है। ब्रिटिश काल से जाति व्यवस्था में परिवर्तन लाने वाले कारकों में सबसे महत्त्वपूर्ण घटक इस प्रकार है–

1. औद्योगीकरण एवं नगरीकरण
2. पश्चिमीकरण
3. सामाजिक एवं धार्मिक सुधार आन्दोलन
4. दलित एवं पिछड़े वर्गों का आन्दोलन
5. राज्य की भूमिका

अंग्रेजी शासन काल में औद्योगीकरण एवं नगरीकरण की प्रक्रिया ने बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। औद्योगीकरण की प्रक्रिया सामाजिक प्रस्थिति के अनुष्ठानिक निर्धारकों के बजाय सामाजिक प्रस्थिति के भौतिक एवं इहलौकिक (secular) निर्धारकों को अत्यधिक महत्त्व प्रदान करती है। इहलौकिककरण के भाव के साथ-साथ नगरीकरण की प्रक्रिया ने विभिन्न जातियों के बीच घटती भौतिक शारीरिक दूरियों व अनुष्ठानिक विभेदों को कम किया। नगरों में बस्तियाँ बसाने या व्यवस्थापन के ऐसे प्रतिमान स्थापित हुये जिनमें विभिन्न जातियों के बीच पृथक्करण (segregation) समाप्त हो जाता है।

इहलौकिककरण की प्रक्रिया ने नवीन सामाजिक दर्शन एवं सामाजिक समानता की ओर उन्मुख मूल्य व्यवस्था का प्रारम्भ किया तथा बौद्धिक तर्कवाद (rationalism)पर बल दिया। इसने लैंगिक अधिकार एवं लैंगिक न्याय पर भी बल दिया। भारतीय समाज के पश्चिमीकृत वर्गों ने हिन्दुवाद की पुनर्व्याख्या की तथा जाति-व्यवस्था पर नवीन दृष्टि डाली। उन्होंने जाति व्यवस्था के

सहभोज सम्बन्धी पारम्परिक एवं रूढ़िगत नियमों का खण्डन किया तथा उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया कि उन्हें गैर-पारम्परिक व्यवसाय अपनाने में कोई हिचक नहीं है। साथ ही उन्हें अपनी जाति से बाहर की किसी अन्य जाति में विवाह करने से भी कोई परहेज नहीं था। विस्तृत अर्थों में पश्चिमीकरण की प्रक्रिया ने भारतीय समाज के सांस्कृतिक आधुनिकीकरण का रास्ता खोला।

अनेक धार्मिक एवं सामाजिक सुधार आन्दोलनों की भूमिका भी महत्त्वपूर्ण रही है। भक्ति आन्दोलन एवं सूफी आन्दोलन ने मानव जाति की एकता पर बल दिया तथा कहा कि असमानता का विचार 'मानव निर्मित' है, न कि 'ईश्वर-निर्मित'। यद्यपि वे जाति-व्यवस्था का उन्मूलन नहीं कर सके, फिर भी उन्होंने जाति सम्बन्धी कठोर नियमों, रूढ़ियों आदि को पर्याप्त मात्रा में सरल बनाने व ढीला करने का प्रयास किया। अनेक समाज सुधार आन्दोलनों में जैसे– आर्य समाज आन्दोलन, ब्रह्म समाज आन्दोलन आदि ने जाति व्यवस्था, और मुख्य रूप से इसके शुद्धता एवं अशुद्धता सम्बन्धी कर्मकाण्डीय पक्षों एवं असमानता के भाव पर कठोर प्रहार किया। पिछड़ी जातियों के आन्दोलनों ने भी असमानता के विचार पर सीधा आक्रमण किया तथा समतावाद पर बल दिया।

उपरोक्त सभी कारकों में 'राज्य' की भूमिका सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण रही है, और स्वतन्त्रता के बाद तो इस कारक का महत्त्व और भी अधिक बढ़ गया है। जब भारत के संविधान ने समानता की घोषणा की, तो इसने एक ही प्रहार में जातीय असमानताओं एवं जातीय उच्चता के भाव को पूर्णतः खण्डित कर दिया। अस्पृश्यता, जो जाति व्यवस्था का एक अभिन्न अंग रही है, को व्यवहार में लाना दण्डनीय अपराध घोषित कर दिया गया। प्रजातन्त्र एवं वयस्क मताधिकार, सामाजिक न्याय, समानता एवं भारतीय समाज के सुविधावंचित वर्गों को सबल बनाने हेतु उल्लेखनीय कदम उठाये गये। राज्य द्वारा प्रस्तावित परिवर्तन जिसकी योजना, निर्देशन एवं क्रियान्वयन राज्य द्वारा ही किया जाता है, ने जाति व्यवस्था में निहित असमानता एवं अन्याय के आधार पर तीखा प्रहार किया। राज्य द्वारा सभी के लिए समान कानून-व्यवस्था एवं कानून के समक्ष सभी से समान रूप से व्यवहार करने की व्यवस्था की गई।

जाति व्यवस्था के कर्मकाण्डीय एवं आर्थिक पक्षों में परिवर्तन (Changes in the Ritual and Economic Aspects of Caste)

शुद्धता एवं अशुद्धता के अनुसार व्यक्ति के सामाजिक स्तर निर्धारण के सन्दर्भ में जातीय पदानुक्रम कर्मकाण्डीय पदानुक्रम के रूप में माना गया है। प्रस्थिति निर्धारण के इहलौकिक (secular) अथवा भौतिक निर्धारक स्वभावतः गौण माने जाते थे। ऐसे सेक्युलर लक्षण धन, सम्पत्ति अथवा भूस्वामित्व, राजनैतिक शक्ति आदि के रूप में थे। यद्यपि परिवर्तन की कुछ प्रक्रियाएँ, जिनका प्रारम्भ अंगेजी शासन काल के दौरान हो गया था किन्तु जिन्हें पहचान स्वतन्त्रता के बाद प्राप्त हुई, भी जातियों के स्तर निर्धारण में परिवर्तन लाने के लिये उत्तरदायी हैं। नगरीकरण की प्रक्रिया ने जाति व्यवस्था के कर्मकाण्डीय पक्ष पर तीखा प्रहार किया।

अन्तरजातीय एवं अन्तरवैयक्तिक सम्बन्धों के इहलौकिककरण में अनेक प्रकार से वृद्धि के साथ-साथ विभिन्न जातियों के बीच कर्मकाण्डीय एवं सामाजिक दूरियाँ कम हो गईं। लोगों में जीवन

की गुणवत्ता बढ़ाने के प्रति बढ़ती चेतना ने उपभोग के स्तर में बढ़ोत्तरी की। यह जाति-व्यवस्था में समृद्धि एवं सामाजिक-आर्थिक उच्चता के सेक्युलर संकेतकों के सरलतम् प्रवेश में सहायक सिद्ध हुआ। बढ़ते हुए आर्थिक विकास, विशेष रूप से कृषि एवं औद्योगीकरण के पूँजीवादी रूप के विकास ने ऐसे व्यवसायिक अवसर उपलब्ध कराए जिन्हें 'कर्मकाण्डीय रूप से तटस्थ' (ritually neutral) माना जाता था। इन व्यवसायों में प्रवेश का आधार आधुनिक शिक्षा व्यवस्था द्वारा प्रदत्त तकनीकि कौशल था। साथ ही आय वृद्धि एवं सम्पत्ति अर्जित करने के अन्य साधन भी सामने आए। इस प्रकार प्रस्थिति निर्धारण (status determinants) के इन नए कारकों ने कर्मकाण्डीय निर्धारकों को लगभग निष्क्रिय सा बना दिया। अन्तरजातीय एवं अन्तरवैयक्तिक क्षेत्र में भिन्न-भिन्न जातियों एवं कर्मकाण्डीय स्तरों वाले लोग आधुनिक व्यावसायिक क्षेत्रों में एक दूसरे के निकट आए तथा उन्होंने आपस में निकट सम्बन्ध स्थापित करते हुए जाति-व्यवस्था के कर्मकाण्डीय पक्ष को करारा झटका दिया। धर्मनिरपेक्षता के स्तर पर गैर-ब्राह्मण जातियों ने अपनी भौतिक समृद्धि के कारण अधिक प्रमुख स्थान प्राप्त किया। इस स्तरों पर ब्राह्मण केवल तभी उच्च स्थान पाते जब वे भौतिक दृष्टि से अधिक समृद्ध होते थे। शक्ति के प्रजातांत्रिक विकेन्द्रीकरण ने राजनैतिक प्रक्रियाओं में भागीदारी को बढ़ावा दिया तथा आर्थिक सफलता के साथ-साथ राजनैतिक भागीदारी विकास का एक अन्य साधन बन गया है।

जाति के आर्थिक पक्ष में परिवर्तन (Changes in the Economic Aspects of Caste)

पारम्परिक भारतीय समाज पर दृष्टि डालने पर हमें पता चलता है कि जाति व्यवस्था ग्रामीण अर्थव्यवस्था का आधार बनी तथा जजमानी व्यवस्था जाति व्यवस्था का आर्थिक आधार थी। प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में बढ़ते नवीनीकरण, बाजार अर्थव्यवस्था एवं पिछड़े व दलित वर्गों की लामबन्दी के कारण जजमानी व्यवस्था का पतन हो गया, जो मुख्य रूप से उत्पादन व वस्तुओं एवं सेवाओं के आदान-प्रदान का साधन थी। इस प्रकार भारत के अधिकांश गाँवों में एक व्यवस्था के रूप में जाति का विघटन हो गया, जबकि सामाजिक समूहों के रूप में विभिन्न जातियों का अस्तित्व उनकी जातीय सचेतनता के साथ विद्यमान रहा। नगरीय क्षेत्रों में नवीन व्यावसायिक संरचना के कारण 'व्यवसाय मुक्त जातीय संरचना' का उदय हुआ। जाति का व्यवसाय से सम्बन्ध कमजोर हो गया क्योंकि नए व्यवसायों में भर्ती तकनीकी कौशल के आधार पर होती थी, जिसे आधुनिक औपचारिक शिक्षा के द्वारा प्राप्त किया जा सकता था। मिट्टी के बर्तन बनाने की कला का ही उदाहरण लें। इस कला को सीखने के लिए आवश्यक नहीं है कि व्यक्ति कुम्हार जाति का ही हो। इसी प्रकार आभूषण बनाने की कला वह व्यक्ति भी सीख सकता है जो जाति से सुनार न हो। किन्तु इस सम्बन्ध में लॉयड रूडोल्फ के विचार भिन्न हैं। उनका कहना है कि भारतीय जीवन एवं समाज में आधुनिकता प्रवेश कर गई है, किन्तु ऐसा संयोजन एवं आत्मसात् करने की प्रवृत्ति के कारण हुआ है न कि स्थानान्तरण की प्रवृत्ति के कारण। वहीं दीपांकर गुप्ता (2002) इसे 'झूठी आधुनिकता' 'mistaken modernity' कहकर पुकारते हैं जिसका कोई ठोस आधार नहीं है। साथ ही आगे चलकर एक नई अवधारणा देखने को मिलती है। कई जाति-समूहों ने अपने-अपने वर्ग-

हितों की रक्षा करने के उद्देश्य से एक दूसरे का साथ देना प्रारम्भ कर दिया है। उत्तर प्रदेश में *भारतीय किसान यूनियन* व महाराष्ट्र का *क्षेत्रकारी संगठन* इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण देते हैं कि जाति के आर्थिक प्रकार्य अब रूपान्तरित हो चुके हैं, किन्तु सामाजिक संगठन की एक इकाई के रूप में जाति की अवधारणा अपनी अनुकूलनीय सामर्थ्य (adaptive capatility) के कारण आज भी जीवित है।

जाति एवं अहिन्दू समुदाय (Caste and Non-Hindus)

यद्यपि जाति-व्यवस्था मुख्यतः हिन्दू संकल्पना है तथापि अनेक गैर-हिन्दू समुदायों में भारतीय हिन्दुओं की जाति-व्यवस्था के कुछ विशिष्ट लक्षण देखने को मिलते हैं। अधिकांश समाजशास्त्री जाति-व्यवस्था को हिन्दू समाज के एक विशिष्ट लक्षण के रूप में स्वीकारते हैं, किन्तु कुछ समाजशास्त्रियों एवं सामाजिक मानवशास्त्रियों का मानना है कि गैर-हिन्दू समाजों में भी जाति सरीखी संस्था पायी जाती है। इतना ही नहीं उनके अनुसार पाकिस्तान, श्रीलंका, बांग्लादेश, भूटान एवं कुछ दक्षिण-पूर्वी एशियाई समाजों में भी जाति-व्यवस्था से मिलते-जुलते अभिलक्षण पाये जाते हैं। ये सभी कालक्रम में कभी न कभी हिन्दू सभ्यता के केन्द्रों के सन्निकट थे। भले ही ये समाज हिन्दू धर्म में स्वीकृत जाति सम्बन्धी विचारधारा अर्जित नहीं कर पाये हों किन्तु फिर भी सांस्कृतिक सम्पर्क एवं हिन्दूकरण की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप उन्होंने जाति-व्यवस्था से मिलते-जुलते अभिलक्षण तो अर्जित ही कर लिए थे।

गैर-हिन्दू समुदायों पर जाति व्यवस्था के प्रभाव से सम्बन्धित अध्ययन इस बात का स्पष्ट उद्घाटन करते हैं कि इन समाजों की जीवन पद्धति हिन्दुओं की सामाजिक व्यवस्था से किस सीमा तक प्रभावित थी। मुस्लिम, सिख एवं ईसाई समाजों पर दृष्टि डालने पर हमें ज्ञात होता है कि इस्लाम, सिक्ख धर्म एवं ईसाई धर्म की समानतावादी विचारधाराओं ने हिन्दू समाज के स्तरीकरण के साथ स्वयं को सामाजिक रूप से अनुकूलित कर लिया। यह तथ्य हमें जे.एच. हटन (1936) के कथन की याद दिलाता है। वे कहते हैं– "जब मुस्लिम एवं ईसाई धर्म भारत में आए उस समय जाति का विचार समाज की रग-रग में समाया था और ये समानतावादी धर्म भी जाति-व्यवस्था के इस प्रभाव से बच न सके।" यह भी सत्य है कि समस्त गैर-हिन्दू समाजों में से मुस्लिम समाज पर जाति-व्यवस्था का प्रभाव सब से अधिक स्पष्ट रूप से नज़र आता है।

मुस्लिम समाज में जाति व्यवस्था

यह प्रश्न प्रायः उठाया जाता है कि क्या एक ऐसे समुदाय की सामाजिक स्तरीकरण व्यवस्था के अन्तर्गत जाति की अवधारणा को शामिल किया जा सकता है जो हिन्दूवाद के अतिरिक्त किसी अन्य धर्म के अधीन हो। यद्यपि यह सत्य है कि इस्लाम की समानतावादी सामाजिक व्यवस्था जाति सम्बन्धी विचारधारा के बिल्कुल प्रतिकूल है, तथापि 'भारतीय मुस्लिम विचारधारा' एवं 'हिन्दू जाति व्यवस्था' एक दूसरे के प्रति पर्याप्त रूप से अनुकूलित रहे हैं तथा उनमें अच्छा तादात्म्य रहा है। इतना ही नहीं भारतीय मुस्लिम जनसंख्या के अधिकांश लोग निम्न हिन्दू जातियों के हैं, जो जाति-व्यवस्था के कारण उत्पन्न सामाजिक उत्पीड़न एवं दमनकारी सामाजिक-आर्थिक स्थितियों से

बचने के लिए इस्लाम की शरण में आते रहे हैं। हालाँकि समाज में समानता प्राप्त करने की उनकी अभिलाषा एक मृगतृष्णा ही रही। तथापि उनकी सामाजिक स्थिति में कुछ सुधार तो अवश्य हुआ किन्तु सामाजिक समानता का ध्येय उनके लिए मात्र एक छलावा बनकर रह गया। इस्लाम धर्म अंगीकार करने वाले अधिकांश लोगों ने जाति का परित्याग नहीं किया था तथा वे उसे नवीन सामाजिक-धार्मिक परिदृश्य में भी ले आए। अतः यह कहना उचित होगा कि भले ही इस्लाम में जाति-व्यवस्था अथवा जाति जैसे समूह न हों, किन्तु भारतीय मुस्लिम समाज में अवश्य हैं। जाति के सन्दर्भ में विचारधारा एवं सामाजिक संरचना को रूबरू रखते हुए यदि चर्चा की जाए तो निश्चित रूप से ऐसे अकादमिक मुद्दे उभरकर सामने आयेंगे जिन पर विचार-विमर्श की आवश्यकता होगी। हिन्दू जाति व्यवस्था के विस्तृत ढाँचे के अन्तर्गत मुस्लिम समाज में भी जाति जैसे समूहों के अन्तर्गत क्षेत्रीय विभिन्नताएँ पायी जाती हैं।

उत्तर भारतीय मुस्लिम समाज में जाति व्यवस्था एवं सामाजिक स्तरीकरण से सम्बन्धित अपने अग्रणी अध्ययन में ग़ौस अन्सारी (1960) मुस्लिम जातियों को तीन वर्गों में रखते हैं :

(i) ***अश्रफ़*** (ii) ***अजलफ़*** (iii) ***अरज़ल***

अश्रफ़ वर्ग के अन्तर्गत अभिजात्य मुस्लिम वर्ग के लोग आते हैं, जिनका दावा है कि वे प्रारम्भिक प्रवासी (अन्य देशों से आकर भारत में बसने वाले) मुसलमानों जैसे– सैय्यद, शेख, मुगल अथवा पठानों के वंशज हैं। साथ ही इस वर्ग के अन्तर्गत उच्च हिन्दू जातियों के वंशज भी आते हैं जो इस्लाम ग्रहण कर चुके थे। 'मुस्लिम राजपूत' इसका उदाहरण हैं। इस वर्ग में भी सामाजिक स्तर की दृष्टि से सैय्यद सबसे ऊपर होते हैं। अजलफ़ वर्ग (निम्न अथवा साधारण वर्ग) के अन्तर्गत स्वच्छ पेशेवर जातियाँ सम्मिलित हैं। जैसे– **जुलाहा, दर्जी, कस्साब** (मांस बेचने वाले), **हज्जाम** (नाई), **कन्जड़** (सब्जी बेचने वाले), **मिरासी** (गायक, संगीतकार), **मनिहार** (चूड़ी बेचने वाले), **धुनिया** (रुई धुनने वाले), **गद्दी** (चरवाहे, दूधवाले) आदि। इसी प्रकार **अरज़ल** वर्ग में (जो सब से नीचा माना जाता है) अशुद्ध अथवा अनुष्ठानिक रूप से प्रदूषित जातियाँ आती हैं जैसे– भंगी अथवा मेहतर या लालबेगी।

अपने-अपने मानकों एवं विशिष्ट व्यवहार के द्वारा इन सभी जातियों अथवा जाति सदृश समूहों ने जाति व्यवस्था के क्रमिक सोपान में अपना-अपना स्थान सुनिश्चित कर लिया है। प्रायः इन सभी समूहों अथवा जातियों में अंतर्विवाह (endogamy) की पद्धति प्रचलित है तथा सभी निम्न जातियों के लोग उच्च जाति के तौर तरीकों एवं जीवन शैली का अनुकरण करके सामाजिक पदसोपान में ऊपर उठने का प्रयत्न करते हैं। इससे इस्लामीकरण, हिन्दूकरण एवं आधुनिकीकरण के सम्मिश्रण की एक अजीबोगरीब स्थिति नज़र आती है।

सिक्खों में जाति व्यवस्था

सिक्ख अथवा सिक्ख धर्म के अनुयायी 16वीं शताब्दी में उभरकर सामने आये। इसे हिन्दूवाद का संशोधित पंथ एवं धार्मिक कर्मकाण्डों, मूर्ति-पूजा एवं जाति व्यवस्था के क्षेत्र में हिन्दू

धर्म में प्रचलित अंधविश्वासों एवं रूढ़ियों के विरुद्ध एक आन्दोलन माना जाता है। इस्लाम से गहराई से प्रभावित होते हुए इसने समानतावादी विचारधारा अंगीकृत की। अतः सिद्धान्ततः इस्लाम की तरह ही सिक्ख धर्म भी जाति-व्यवस्था में विश्वास नहीं रखता, फिर भी इस्लाम की तरह सिक्ख समाज में भी जातियाँ पायी जाती हैं।

सिक्ख समाज को उच्च और निम्न जाति-समूहों में विस्तृत रूप में वर्गीकृत किया गया है। सिक्ख समाज से सम्बन्धित अपने अध्ययन में आई.पी. सिंह कहते हैं कि उच्च एवं निम्न जातियाँ एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न हैं तथा उनमें एक भी ऐसा मामला नहीं है जहाँ किसी अन्य जाति में विवाह होता हो। वे ऐसे साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं जिनसे स्पष्ट रूप से पता चलता है कि सिक्ख हिन्दुओं से पर्याप्त रूप से भिन्न हैं तथा खान पान आदि के आदान-प्रदान तथा सामाजिक व्यवहार आदि के सन्दर्भ में उच्च जाति के सिक्खों के तौर-तरीके निम्न जाति के सिक्खों से पर्याप्त रूप से भिन्न हैं तथा वे इन जातियों के मौलिक अन्तर को स्पष्ट रूप से उजागर करते हैं। अतः जाति के कर्मकाण्ड अथवा संस्कारों से सम्बन्धित आयाम सामाजिक व्यवस्था के पदक्रम सम्बन्धी आयामों पर आधारित हैं। विस्तृत रूप से सिक्खों को चार अंतर्विवाही समूहों में बाँटा गया है जो पारम्परिक रूप से पेशेवर कारीगर वर्ग हैं तथा उन्हें अपने अपने सामाजिक स्तर के अनुसार सामाजिक पदानुक्रम में स्थान प्राप्त है। ये चार अंतर्विवाही समूह इस प्रकार हैं :

(1) **जाट**– ये मुख्यतः कृषि से सम्बन्ध रखने वाले होते हैं तथा सामाजिक पदानुक्रम में सबसे उच्च स्तर के माने जाते हैं।

(2) इसके पश्चात् व्यापारिक जातियाँ आती हैं।

(3) **रामगढ़ही**– ये मिस्त्री या कारीगर हैं तथा स्वच्छ या शुद्ध व्यावसायिक जातियों से सम्बन्धित होते हैं। इन्हें समाज में अपेक्षाकृत निम्न स्थान प्राप्त है।

(4) **मज़हबी**– ये अछूत हिन्दू जातियों से धर्म परिवर्तन के बाद सिक्ख हुए हैं।

ये समस्त समूह अंतर्विवाह (endogamy) की पद्धति का अनुसरण करते हैं किन्तु अन्य जातियों के लोगों के साथ खानपान इनके अनुसार वर्जित नहीं है। केवल मजहबी सिक्ख इसका अपवाद हैं, जिनके साथ ये समूह खान पान के संबंध नहीं रखते। अधिकांश मजहबी अनुसूचित सिक्ख जाति के होते हैं तथा भारतीय समाज के अन्य दलित वर्गों की तरह उन्होंने भी दलित सचेतनता जाग्रत कर ली है। जून 2003 में जालन्धर के तलहन नामक गाँव में ऐसी हिंसा भड़की जिसने पूरे देश का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर लिया। पंजाब के दलितों के सीने में अरसे से उबलती हुई असंतोष की भावना अचानक फूट पड़ी। इस घटना का पूर्वानुमान समाजशास्त्रियों ने बहुत पहले ही लगा लिया था तथा वे लगातार इसकी चेतावनी देते आ रहे थे। तलहन में हिंसा भड़कने के बाद राजनेताओं एवं मीडिया की नींद टूटी। तलहन की 70% जनसंख्या दलित है तथा ये दलित स्थानीय गुरुद्वारे की प्रबन्ध व्यवस्था में अपनी भूमिका की माँग कर रहे थे, जिसके परिणामस्वरूप दलित सिक्खों एवं जाट सिक्खों के बीच संघर्ष छिड़ गया। इस घटना ने यह स्पष्ट कर दिया कि धार्मिक संस्थाओं ने किस प्रकार से सिक्ख धर्म की जातिरहित अवधारणा, जो सिक्ख

धर्म का मूल मानी जाती है, को पराजित कर दिया है। ध्यान देने योग्य एक अन्य महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि पंजाब में जाति की अवधारणा को प्रचलित ब्राह्मणवाद की अवधारणा के सहारे नहीं बल्कि 'कृषिवाद' (agrarianism) के ढाँचे के सहारे समझा जा सकता है। सन् 1901 के **पंजाब भूमि हस्तांतरण अधिनियम** के द्वारा सिक्ख एवं हिन्दू दलितों को अकृषक जातियों के साथ मिला दिया गया जिन्हें वैधानिक रूप से भूस्वामित्व प्राप्त नहीं था। यद्यपि विभाजन के बाद इस अधिनियम को समाप्त कर दिया गया किन्तु आज भी दलितों की भूमिहीनता पर इसका प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। एक ऐसे राज्य में, जहाँ जाटों के पास समस्त अधिकार एवं शक्तियाँ हैं तथा जहाँ कुल जनसंख्या के 30% अनुसूचित जाति के लोग रहते हैं– जो कि देश का सबसे बड़ा अनुपात है, ऐसी स्थिति विस्फोटक सिद्ध हो रही है। अतः हम देखते हैं कि सिक्ख धर्म पर भी जातिवाद ने पर्याप्त प्रभाव डाला है।

ईसाइयों की जाति व्यवस्था

मुसलमानों के बाद ईसाई दूसरा सबसे बड़ा गैर हिन्दू समुदाय है। भारत में ईसाई जनसंख्या में से अधिकांश लोग निम्न हिन्दू जातियों, विशेषकर अछूत जातियों, से आते हैं। तमिलनाडु एवं केरल, जहाँ ईसाई जनसंख्या का प्रतिशत तुलनात्मक रूप में अधिक है, पर किए गए अध्ययन स्थानीय ईसाई समाज में जाति-तत्त्व विद्यमान होने का उद्घाटन करते हैं। केरल में उच्च जातियों के धर्म परिवर्तित करने वालों को 'सीरियन ईसाइयों' के मुख्य समूह में सम्मिलित कर लिया गया है तथा पलयन जाति के ईसाइयों (अछूत जातियों के धर्म परिवर्तित करने वाले लोग) एवं सीरियन ईसाइयों की सामाजिक स्थिति के अन्तर को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। यह भी पाया गया है कि बंगाली ईसाई धर्म परिवर्तन से पहले के जाति सूचक नामों का प्रयोग करते रहते हैं तथा इस प्रकार से वे अपनी धर्म परिवर्तित करने से पहले की जातीय पृष्ठभूमि प्रदर्शित करते हैं, जिसके प्रति सामाजिक व्यवहार एवं विवाह के संदर्भ में वे अत्यन्त जागरूक रहते हैं। साथ ही यह भी पाया गया है कि दक्षिण भारत के अनेक गिरिजाघरों में निम्न जातियों से धर्म परिवर्तित करने वालों को सम्मान नहीं दिया जाता तथा धार्मिक क्रियाकलापों में उन्हें सबसे पीछे रखा जाता है। अतः समानतावादी ईसाई धर्म भी जाति एवं जाति सचेतनता की दीवारें तोड़ नहीं सका है।

जाति एवं राजनीति (Caste and Politics)

राजनीति के क्षेत्र में जाति की भूमिका समझने के लिए हमें अंग्रेजी औपनिवेशिक काल में जाना पड़ेगा। उन्नीसवीं सदी के पहले 50 वर्षों में जहाँ एक ओर अंग्रेजी शासकों ने ईसाई धर्म प्रचारकों को उत्साहित एवं प्रेरित किया, जिन्होंने ईसाई धर्म के धार्मिक उपदेशों का प्रचार-प्रसार करने के साथ-साथ इसे धर्म-सुधार आन्दोलन घोषित करना भी प्रारम्भ कर दिया, वहीं दूसरी ओर उन्होंने सती, कन्या-शिशु वध, नर-बलि आदि सामाजिक कुप्रथाओं एवं कुरीतियों को रोकने के उद्देश्य से उनके विरुद्ध कई कानून भी बनाये। अंग्रेजों के इन प्रयासों को सुधारवादी प्रवृत्ति वाले पश्चिमी रंग में रंगे उच्चवर्गीय भारतीयों द्वारा पूरा सहयोग एवं समर्थन प्राप्त हुआ। इन प्रयासों के परिणामों को जाति व्यवस्था, जाति सम्बन्धी प्रतिमानों व मानकों एवं हिन्दू संस्कृति के आचार तत्त्वों

पर सीधा प्रहार माना गया। इसकी वजह से जाति की अवधारणा में विश्वास रखने वालों को बाह्य प्रभावों से 'अलग' रखने की प्रवृत्ति पैदा हुई। यहीं से भारतीय समाज की राजनीतिक प्रक्रिया में जाति की भूमिका का अभ्युदय माना जा सकता है।

यातायात के आधुनिक साधनों के आविष्कार ने न केवल देशिक (spatial) गतिशीलता को उत्साहित किया बल्कि सामाजिक गतिशीलता को भी प्रेरित किया। नई छापेखाने की तकनीकि द्वारा सहयोग एवं सहारा प्राप्त करने के कारण जाति के प्रति निष्ठा एवं जाति-सचेतनता की भावना विभिन्न गाँवों, जिलों एवं प्रान्तों से बाहर निकल कर फैल गयी। प्रतिनिधि शिक्षण एवं विधि/कानून संस्थानों की स्थापना एवं शक्ति एवं सामाजिक हैसियत प्राप्त करने के नये अवसरों की उत्पत्ति ने जाति की अवधारणा के साथ कुछ नये प्रकार्य (functions) जोड़ दिये। ब्राह्मणों, कायस्थों एवं वैश्यों ने तुरन्त ही इन अवसरों का लाभ उठाया क्योंकि वे नवीन सामाजिक-राजनैतिक व्यवस्था का पूरा लाभ उठाने की स्थिति में थे। इस पृष्ठभूमि ने उन्हें राष्ट्रवादी आन्दोलनों में नेताओं के रूप में उभरने में सहायता की। यही कारण है कि हम देखते हैं कि सम्पूर्ण भारत में राष्ट्रवादी आन्दोलनों एवं भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का नेतृत्व संभ्रात हिन्दू जातियों के लोगों के हाथों में था। ठीक यही स्थिति मुस्लिम जातियों की भी थी, जहाँ सैय्यद, शेख एवं पठान जातियों का शिक्षा एवं राजनीति के क्षेत्र में एकाधिकार था।

अपने उल्लेखनीय ग्रंथ, The Politics of India Since Independence (1990) में पॉल ब्रास कहते हैं कि उच्च एवं मध्यम, दोनों ही प्रकार की जातियों में जाति-उत्तराधिकार की प्रक्रिया स्वतन्त्रता से पूर्व ही प्रारम्भ हो गयी थी तथा बाद में वयस्क मताधिकार का नियम लागू होने के बाद यह प्रक्रिया तेज होती चली गयी। वयस्क मताधिकार के नियम न होने के कारण पूर्व में प्रतिनिधित्व प्राप्त न होने वाली अथवा बहुत कम प्रतिनिधित्व प्राप्त होने वाली जातियों के नये-नये नेता चुनाव-दर-चुनाव सामने आने लगे तथा जातीय लामबंदी पाई जाने लगी। मध्यवर्ती जातियों की मताधिकार की शक्ति वयस्क मताधिकार के कारण बढ़ गई तथा ज़मींदारी प्रथा समाप्त होने के कारण आर्थिक संसाधनयुक्त मध्यवर्ती जातियाँ केवल राजनैतिक शक्ति प्राप्त करने की ही नहीं बल्कि अपने बच्चों के लिए शैक्षिक लाभ एवं नगरों में नौकरी प्राप्त करने की भी कोशिश करने लगीं। इन अवसरों का लाभ उठाने के साथ ही उन्हें उच्च जातियों से संघर्ष की स्थिति में पड़ना पड़ा जिनका बहुत बड़ा प्रतिनिधित्व शैक्षिक एवं राजनैतिक संस्थानों में था तथा जिन्हें वहाँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था।

जाति व्यवस्था में सबसे उच्च स्थान प्राप्त होने के कारण ब्राह्मण शिक्षा एवं राजनीति के क्षेत्र में भी शिखर पर विद्यमान थे। इन क्षेत्रों में ब्राह्मणों के एकाधिकार के विरुद्ध उठने वाली गैर-ब्राह्मण जातियों की आवाज ने सबसे प्रारंभिक सामाजिक आन्दोलनों को गति प्रदान की। उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग में महाराष्ट्र में सर्वप्रथम ब्राह्मणों के विरुद्ध आन्दोलन छिड़ा। बीसवीं सदी के प्रारम्भ के साथ ही इस तरह के आन्दोलन दक्षिण भारत के विशेषकर उन क्षेत्रों में बड़ी तेजी से छेड़े जाने लगे जो आज तमिलनाडु, केरल एवं कर्नाटक राज्यों के अन्तर्गत आते हैं। अतः दक्षिण भारत में गैर-ब्राह्मणवादी आन्दोलनों को उच्च जातीय आधिपत्य के विरुद्ध दलित निम्न जातियों के संघर्ष

के रूप में देखा जा सकता है। पश्चिमी उदार-तर्कवादी विचारों ने नवीन मुक्तिवादी विचारधारा को ठोस आधार प्रदान किया। सर्वप्रथम पूना के ज्योतिबा फुले ने गैर-ब्राह्मण जातियों को उनके धार्मिक संस्कारों में ब्राह्मण पंडितों को न शामिल करने के लिए प्रेरित किया। कोल्हापुर के छत्रपति शाहूजी ने भी गैर-ब्राह्मण जातियों के कल्याण के लिए कार्य किया। जल्दी ही बीसवीं सदी के प्रारम्भिक 25 वर्षों में मद्रास में भी एक गैर-ब्राह्मणवादी आन्दोलन 'द्रविड़ आन्दोलन' के रूप में उभर कर सामने आया। पेरियार रामास्वामि नायकर के नेतृत्व में **जस्टिस पार्टी** का गठन सन् 1916 ई. में हुआ, **'आत्मसम्मान आन्दोलन'** (Self Respect Movement) का प्रारम्भ सन् 1925 में किया गया तथा **द्रविड़ कज़घम** (द्रविड़ संघ) का गठन सन् 1944 ई. में हुआ। इसने एक पृथक् द्रविड़ राज्य की माँग की जो जाति रहित एवं समानतावादी विचारधारा पर आधारित हो। जस्टिस पार्टी के सदस्यों की ही तरह द्रविड़ कज़घम के अनेक सदस्य एवं समर्थक नास्तिक थे। उन्होंने अनेक ऐसी हिन्दू अवधारणाओं व प्रथाओं का विरोध किया जो समाज को अवनति के मार्ग पर ले जाती थीं।

वर्तमान आन्ध्र प्रदेश के अन्तर्गत आने वाले क्षेत्रों में रेड्डी एवं खम्मा जातियों ने अत्यधिक शक्ति अर्जित कर ली तथा ब्राह्मण जाति के आधिपत्य को चुनौती देते हुए उन्हें शक्तिविहीन कर दिया। कर्नाटक में वोकलिग्गा एवं लिंगायत जाति नई प्रभु जातियों के रूप में उभर कर सामने आयीं। उत्तर भारत की स्थिति दक्षिण भारत से भिन्न थी। अधिकांश इतिहासकारों एवं समाजशास्त्रियों का मानना है कि मद्रास राज्य में संभवतः 'शुद्ध' रूप से क्षत्रिय एवं वैश्य जातियाँ थी ही नहीं। वहाँ ब्राह्मण एवं शूद्र जातियों के बीच भयानक संघर्ष की स्थिति थी। उत्तर भारत में स्थिति भिन्न थी क्योंकि वहाँ ब्राह्मण एवं शूद्र जातियों के बीच अनेक ऐसी जातियाँ पाई जाती थीं जो धार्मिक-राजनैतिक पदानुक्रम में 'मध्यवर्ती' भूमिका अदा करती थीं। साथ ही वहाँ सदैव ही मध्यम क्रम की एवं निम्न जातियों में संस्कृतिकरण के माध्यम से उच्च जातियों की ओर गतिशील होने की प्रवृत्ति थी। सम्भवतः इसी कारण उत्तर भारत में निम्न जातियों की गतिशीलता ने बहुत बाद में (सन् 1960 ई. के बाद) तेजी पकड़ी।

स्वतंत्रता के बाद से ही भारत एक प्रभावशाली प्रजातंत्र के रूप में उभर कर सामने आया है। अपने कुछ समय पूर्व प्रकाशित ग्रन्थ 'Interrogating Caste' (2000) में दीपांकर गुप्ता कहते हैं- "जातीय राजनीति के विश्लेषण में संख्या का अनुमान लगाना एक अत्यन्त सामान्य सी बात है। इस तथ्य पर प्रायः वाद-विवाद किया जाता है कि राजनीतिक परिणामों को काफी हद तक मतदाता/चुनाव सम्बन्धी निर्वाचन क्षेत्रों के जातीय संगठनों द्वारा निर्धारित किया जा सकता है। यह विचार इस तथ्य से बहुत कुछ मिलता-जुलता है कि जब हिन्दू अपनी जातीय-निष्ठाओं से बँधे हुए हैं तो फिर राजनीति उससे भिन्न क्यों हो? इतिहास में ऐसा भी समय रहा है जब जाति ने राजनीति पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया हो किन्तु कई काल ऐसे रहे हैं जब जाति की भूमिका समाज में उतनी प्रबल नहीं रही है।" अतः शक्ति एवं प्रभाव के बिन्दु अनुष्ठानिक रूप से उच्च (किन्तु संख्यात्मक दृष्टि से छोटी) जातियों से विस्थापित होकर संख्यात्मक दृष्टि से विशाल एवं राजनैतिक रूप से गतिशील मध्यमवर्गीय एवं पिछड़ी जातियों की ओर उन्मुख हो गये। भारत के कई क्षेत्रों में आज मध्य एवं निम्नस्तरीय जातियाँ, शक्ति का आनन्द उठा रही हैं। केरल की नायर एवं इज़हावा,

तमिलनाडु की वनियार, कर्नाटक की वोकलिग्गा एवं लिंगायत, आन्ध्रप्रदेश की रेड्डी एवं खम्मा, गुजरात की पट्टीदार एवं क्षत्रिय, हरियाणा एवं राजस्थान की जाट, बिहार एवं उत्तर प्रदेश की यादव एवं कुर्मी एवं सम्पूर्ण उत्तर भारत की चमार जातियाँ राजनैतिक क्षेत्र में आये इस परिवर्तन का उदाहरण हैं।

अपने उल्लेखनीय ग्रंथ 'Caste and Politics in India' (1969) में रजनी कोठारी ने जाति एवं राजनीति के अन्तर्सम्बन्ध का बहुत अच्छा विश्लेषण किया है। भारत में राजनीति को एक 'व्यवसाय' की संज्ञा देते हुए वे राजनेताओं को उद्यमियों का दर्जा देते हैं। एक बुद्धिमान एवं कुशल उद्यमी की तरह राजनीतिज्ञ अपने संसाधनों एवं उन्हें सफलतापूर्वक एवं प्रभावशाली ढंग से प्रयोग करने की कला जानते हैं। वे भली प्रकार जानते हैं कि भारत की विशाल जनसंख्या अपनी-अपनी जातियों के साथ जीवन जीती है, वह अपनी जातियों के प्रति आस्था का भाव रखती है तथा उसमें जातीय चेतना प्रमुख रूप से देखी जा सकती है, अतः जाति के नाम पर उन्हें आसानी से संगठित किया जा सकता है। जाति एवं राजनीति के इस गहरे सम्बन्ध ने दोनों का रूप बदल दिया है। वे इसे 'जाति का राजनीतिकरण' कहते हैं। यद्यपि पारम्परिक रूप से सुख-सुविधाओं से वंचित जातियों के लिए यह उनके अधिकारों की प्रजातांत्रिक माँग की अभिव्यक्ति का नाम है। अतः यह तथ्य इस बहस को जन्म भी देता है कि क्या 'जाति अपील' जातिवाद है?

किसी क्षेत्र विशेष में जाति एवं राजनीति के सम्बन्ध में रजनी कोठारी ने तीन चरण निर्धारित किये हैं।

चरण-1 : इसमें शक्तिपूर्ण सम्भ्रान्त (उच्च) जाति का राजनीतिकरण शामिल है। प्रायः वह सम्भ्रान्त वर्ग जिसने पश्चिमी शिक्षा के अवसर के प्रति सबसे पहले अपनी रुचि दिखायी। महाराष्ट्र व तमिलनाडु में यह जाति ब्राह्मण थी और बिहार में कायस्थ। संस्थापित जातियों के पक्ष में कुछ राजनीतिक सफलता आ जाने से दूसरी सवर्ण जातियों के सदस्यों की प्रतिक्रिया रोषपूर्ण होगी। उनमें अपेक्षित रूप से पदच्युति की भावना और सम्भवतया प्रतिरोध की भावना पैदा हो जाएगी। तब से जातियाँ संस्थापित जातियों को चुनौती देती हैं, जिन्हें कोठारी उदीयमान या आरोही जाति (Ascendant Caste) कहते हैं। काठोरी के कार्य में दिये गये तीन उदाहरणों में उदीयमान (आरोही) जाति उन सम्माननीय खेतिहारों में से एक होती है जो पाश्चात्य शिक्षा को स्वीकार करने में संस्थापित जातियों की अपेक्षा पीछे थे। राजस्थान में राजपूत संस्थापित जातियों में थे और खेतिहर जाट लोग उदीयमान (आरोही) जातियों के अन्तर्गत माने जाते हैं। तमिलनाडु में ब्राह्मण संस्थापित जाति के थे और गैर ब्राह्मण, शूद्र उदीयमान (आरोही) और महाराष्ट्र में ब्राह्मण संस्थापित जाति के थे जबकि मराठा आरोही जाति के थे।

चरण- 2: प्रतिस्पर्द्धा करती हुयी जातियों में दलबन्दी और विघटन पैदा हो जाता है और बहुजातीय तृथा बहुदलीय संरेखण (पंक्तिबन्धन) विकसित होता है। प्रायः निम्न जातियों को सवर्ण जातियों के नेताओं को समर्थन देने के लिए और एक गुट मजबूत करने के लिए उपयोग में लाया जाता है।

चरण- 3: शिक्षा में प्रगति, नगरीकरण, व्यक्तिगत उपलब्धियों के प्रति दिगृविन्यास (स्थिति-निर्धारण या अनुकूलन) और आधुनिक प्रतिष्ठागत प्रतीकों के साथ-साथ जातिगत पहचान विलुप्त होती जा रही है। व्यक्ति ऐसे तन्त्रों में भाग लेता है जिनमें बहुत-सी जातियों के व्यक्ति शामिल रहते हैं। कोठारी के शब्दों में- अब विशेषाधिकारवाद (विशिष्टता) के प्रति आस्थाओं के ढाँचे के ऊपर तिर्यक स्वामिभक्ति वाली आधुनिक सामाजिक और राजनीतिक सहभागिता की व्यवस्था खड़ी हो गयी है। संस्थागत विभेदीकरण (विशिष्टीकरण) और विशेषता में उन्नति हुयी है, इसलिए आर्थिक, राजनीतिक और शैक्षिक संस्थायें स्पष्टतः भिन्न हैं। वर्तमान राजनीतिक वास्तविकतायें यह बताती हैं कि भारतीय समाज न तो द्वितीय सोपान पर और न ही तृतीय सोपान पर स्थिर है। द्वितीय सोपान के परे यह कुछ इस प्रकार उन लोगों के साथ है जो परम्परागत दलित है और बहुत से स्तरों पर समाज के प्रभुत्व की ओर बढ़े रहे हैं।

जाति के अन्य विद्वानों के लिए जातीय संगठनों की भूमिका भी एक अन्य महत्त्वपूर्ण तथ्य है। एक स्वैच्छिक संगठन के रूप में एक जातीय संगठन के अन्तर्गत एक ही जाति के सदस्य आते हैं। यह एक राजनैतिक साधन की महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। जातीय संगठन एक क्षेत्र विशेष के अन्तर्गत जाति विशेष के सदस्यों को एक-दूसरे से जोड़ते हैं तथा राजनैतिक प्रक्रियाओं, विशेषकर चुनावी राजनीति, को अत्यधिक प्रभावित करते हैं। जातीय संगठनों के साथ-साथ मूल स्तर पर कार्य करने वाला प्रजातंत्र जिसे 'गाँव स्तर का प्रजातंत्र' कहते हैं, भी जाति की महत्त्वपूर्ण भूमिका स्पष्ट करता है।

राष्ट्रीय स्तर पर वर्ण गतिशीलता, अर्थात् एक वर्ण विशेष की सभी जातियों की लामबंदी, एक नयी अवधारणा है। उदाहरण के लिए कान्यकुब्ज ब्राह्मणों का संगठन कान्यकुब्ज सभा एक पुराना संगठन है किन्तु ब्राह्मणों का **अखिल भारतीय ब्राह्मण महासभा** के रूप में संगठित होना एक नई बात है। यही हाल **क्षत्रिय महासभा** का भी है। इसी तरह **अखिल भारतीय कुर्मी महासभा** जैसी एक जाति की सर्वभारतीय लामबंदी भी एक ताजा उदाहरण है। इस तरह के उदाहरण राष्ट्र स्तर पर जातियों की राजनैतिक लामबंदी को राष्ट्र स्तर पर दबाव समूह (Pressure group) के रूप में प्रयुक्त करने के अंग प्रतीत होते हैं।

पारम्परिक रूप से परस्पर विरोधी जातियों का भी राजनैतिक धरातल पर संगठित हो जाना समकालीन राजनैतिक परिदृश्य के एक महत्त्वपूर्ण अंग के रूप में उभर कर सामने आया है।

दलित-पहचान एवं चेतना (Dalit Identity and Consciousness)

भारत में सदियों से दलित सामाजिक एवं आर्थिक रूप से शोषित, सांस्कृतिक तथा राजनैतिक रूप से दासतापूर्ण, हाशिए पर जीवन बिताते आए हैं। अब उन्होंने न केवल अपने लिए समानता की माँग करते हुए, बल्कि सामाजिक व्यवस्था में क्रान्तिकारी परिवर्तन के प्रयास करते हुये उसे समानता एवं स्वतंत्रता पर आधारित करने हेतु भरपूर प्रयास करते हुए अपने अस्तित्व व पहचान को सिद्ध करने की कोशिश प्रारम्भ कर दी है। इस प्रकार दलित-पहचान दलितों की एक

नई सामाजिक व्यवस्था के प्रति उत्कण्ठा एवं अभिलाषा को व्यक्त करती है। "यह अनिवार्यतः एक राजनैतिक एजेण्डा है, क्योंकि वे विभिन्न मुद्दों पर संघर्ष छेड़ते हैं तथा चुनावी राजनीति में भाग लेते हैं। उनका रास्ता कठिन एवं परिश्रमसाध्य है" (घनश्याम शाह, 2001)।

'दलित' शब्द का इतिहास बहुत पुराना नहीं है। संस्कृत के एक शब्द से व्युत्पन्न इस शब्द का तात्पर्य है शोषित अथवा दबाया हुआ। यद्यपि सामान्य अर्थों में इस शब्द से आशय भारतीय समाज के सभी शोषित एवं सुविधाहीन वर्गों से है जैसे– अनुसूचित जातियाँ, जनजातीय समुदाय एवं पिछड़ी जातियाँ, आजकल इस शब्द का प्रयोग पूर्व में अस्पृश्य कहलाई जाने वाली अनुसूचित जातियों को सम्बोधित करने के लिए किया जाता है। आज हम समाजशास्त्रीय साहित्य में भी इसी सामान्य प्रयोग का अनुकरण करते हैं। वर्तमान समय में दलित शब्द के प्रयोग का श्रेय दो मराठी नेताओं महात्मा ज्योतिराव फूले एवं बी.आर. अम्बेडकर को जाता है। उन्होंने इस शब्द का प्रयोग पूर्व अस्पृश्य कहलाई जाने वाली जातियों के हिन्दू उच्च जातियों के प्रभुत्व वाले समाज में दरिद्रतापूर्ण एवं शोषित स्थिति को इंगित करने के लिए किया है। "दलित शब्द, जिसका प्रयोग सर्वप्रथम सन् 1931 के आस-पास पत्रकारिता सम्बन्धी लेखों में अस्पृश्य जातियों के लिए किया गया, को सन् 1970 तक, जबकि महाराष्ट्र में **दलित पैंथर आन्दोलन** छिड़ा, मानकीकृत नहीं हुआ था। आज इस शब्द का प्रयोग सुविधाओं एवं मूल अधिकारों से वंचित स्थिति एवं निम्न कुल में जन्म लेने के कारण शोषण के शिकार लोगों को सम्बोधित करने के लिए किया जाता है" (एस. एम. माइकल, 1999)।

महाराष्ट्र में सन् 1970 एवं सन् 1980 के दशकों के बीच साहित्य में उच्च जातियों द्वारा दलितों के शोषण का चित्रण लोगों के बीच अत्यधिक लोकप्रिय हुआ, किन्तु बाद में कुछ उग्र स्वभाव के लोगों ने यह आवाज उठाई कि दलितों की शोषित एवं दयनीय स्थिति का वास्तविक वर्णन केवल दलित लेखक ही कर सकते हैं तथा फलस्वरूप **दलित साहित्य** दो वर्गों में बँट गया जिसमें से एक वर्ग ने उन गैर दलित लेखकों को अपने से अलग कर दिया जिन्होंने दलितों के कष्टों एवं समस्याओं को व्यक्तिगत तौर पर नहीं झेला था।

आजकल दलित वर्ग के लोग अपनी लोक कलाओं के माध्यम से अपनी सांस्कृतिक पहचान सिद्ध करने की कोशिश कर रहे हैं तथा संस्कृतवादी सांस्कृतिक पैमानों को महत्त्व नहीं दे रहे हैं। शोषित वर्गों की दयनीय स्थिति को देखते हुए उन्हें सही अर्थों में दलित नाम से सम्बोधित किया गया तथा उन्हें भी यह नाम अच्छा लगा। "दलित शब्द कोई अपमानजनक शब्द नहीं बल्कि शोषित वर्गों की पहचान का एक सकारात्मक प्रतीक है तथा यह शब्द उनके उद्भव, जड़ों व इतिहास की समस्याओं का समाधान करता है" (सैमुअल जयकुमार, 1999)। गरीबों एवं निर्बलों की सचेतनता की ही तरह दलित सचेतनता एक वैचारिक भाव है। दलित सचेतनता वास्तव में दलित पहचान एवं दलित इतिहास के प्रश्नों को अपने में समेटे है। दलित सचेतनता मुख्यतः आर्यवाद एवं ब्राह्मणवाद विरोधी है।

किन्तु पश्चिमी एवं दक्षिण भारत के ठीक विपरीत, जहाँ जाति व्यवस्था की संरचनाओं में व्याप्त शोषण की भक्ति आन्दोलन द्वारा कटु अलोचना की गई, संयुक्त प्रान्तों में जाति-विरोधी,

सांस्कृतिक एवं सामाजिक सुधार सम्बन्धी ऐसे कोई आन्दोलन नहीं छिड़े जो, हिन्दू समाज में व्याप्त असमानता को चुनौती देते हों। इस अभाव ने दलितों में उनकी अस्मिता की चेतना के प्रति जागरूकता पैदा करने में अपेक्षाकृत अधिक समय लगा दिया" (सुधा पाई, 2002)। इसके अतिरिक्त दक्षिण भारत में जातीय लामबंदी ने 'नृजातीयकरण' (ethnicization) का रूप भी धारण कर लिया जिसका आशय एक वैकल्पिक द्रविड़ पहचान (alternative dravidian identity) से था।

अनेक दलित विद्वानों की दृष्टि में दलित विश्व दृष्टि (world view) मुख्यतः भौतिकवादी दर्शन पर आधारित है जो अनिवार्यतः ब्रह्मणवादी दर्शन से भिन्न है। "वे भौतिकवादी थे, जिन्होंने कर्म, पुनर्जन्म एवं मोक्ष की अवधारणा को पूर्णतः नकार दिया। जाति व्यवस्था की विचारधारा को सामान्य जनता को छलपूर्वक सुविधाओं से वंचित करने के ब्राह्मणों के एक तरीके के रूप में लेते हुए उन्होंने जाति-व्यवस्था पर आक्रमण किया" (सरदेसाई, १९८६)। अपने ग्रन्थ Dalitism versus Brahminism: The Epistomological Conflict in History (2002) में कांचा इलाइया कहते हैं– "जाति–विरोधी विचारधारा का विकास करते हुए आधुनिक दलित- बहुजन आन्दोलन द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (dialectical materialism) की विचारधारा पर आश्रित हो गए जो सिन्धु आधारित **लोकायत** अथवा **चार्वक** सहित आद्य भौतिकवादी (proto-materialist) रूप में प्रारम्भ हुआ तथा पूरे इतिहास कार्यशील रहा।" ब्राह्मणों की तरह दलितों में जाति पदानुक्रम मानने के लिए कोई भौतिक-रुचि नहीं होती है। यदि उनमें जाति पदानुक्रम प्रचलित है तो केवल सांस्कृतिक अधिरोपण के रूप में; वे स्वयं इसे प्राथमिकता नहीं देते।

समान सचेतनता के संदर्भ में दलित भले ही एक समूह या वर्ग में गिने जाते हों किन्तु संयुक्त दलित 'समुदाय' भाषाओं, व्यवसायों, संस्कारों एवं परम्पराओं में विविधता के कारण सजातीय (homogenous) नहीं माना जा सकता। फिर भी दलित एकता का मुद्दा दलित एजेण्डे का मुख्य मुद्दा है। ज्योतिराव फुले, पेरियार रामास्वामि नाईकर एवं नारायण गुरु से लेकर भीमराव अम्बेडकर तक न जाने कितने लोग लगातार दलितों में उनके अधिकारों, स्वाभिमान एवं वैयक्तिकता के प्रति सामाजिक चेतना जाग्रत करने का प्रयास करते रहे हैं। पिछले कुछ दशकों में कई संगठनों ने दलितों को उनके जातीय विभेदों पर ध्यान न देते हुए संगठित करने की कोशिश की है। ऐसे कुछ संगठन हैं– *अखिल भारतीय अनुसूचित जाति एवं जनजाति संघ, दलित छात्र संगठन, संयुक्त दलित छात्र संघ* आदि। संक्षिप्त अथवा विस्तृत अर्थों में *बहुजन समाज पार्टी* को भी इस प्रकार की लामबंदी के एक उदाहरण के रूप में देखा जा सकता है। "ब्राह्मणों (एवं अन्य उच्च जातियों) के ठीक विपरीत, जिन्होंने पूरे भारत में उपजातियों एवं भाषायी विभेदों को ध्यान में न रखते हुए आर.एस.एस. के छत्र तले स्वयं को संगठित किया, दलित संगठन एवं उनकी पहचान का सूर्य अब क्षितिज की ओर अग्रसर हो रहा है। गैर ब्राह्मण जातियों (देखें-दलित) द्वारा अपनी सामाजिक-आर्थिक प्रस्थिति बेहतर बनाने के प्रयास के परिणामस्वरूप ब्राह्मण एवं अन्य उच्च जातियों के समक्ष अपनी सर्वोपरि सामाजिक प्रस्थिति की रक्षा का प्रश्न उठ खड़ा हुआ तथा इसी भय के कारण उन्होंने आपस में संगठित होना शुरू किया है जबकि दलित मात्र अपने कष्टों एवं

शोचनीय स्थिति से मुक्त होने के लिए आपस में संगठित हो रहे हैं" (अविनाश खण्डारे, 1999)। धीरे-धीरे दलित अपने स्वयं के आन्तरिक विरोधाभासों से बाहर निकल रहे हैं किन्तु आज भी दलित-पहचान अपनी नवजात/प्रारम्भिक अवस्था में ही है।

दलितों की जनतांत्रिक आग्रहिता एवं दलित राजनीति (Democratic Assertion of Dalits and Dalit Politics)

आज दलितों का लोकतांत्रिक किन्तु उग्रवादी स्वर भारतीय समाज का एक सामाजिक--राजनैतिक यथार्थ बन गया है। भारतीय समाज में यह एक 'नवीन क्रान्ति' के रूप में उभर कर सामने आया है। जाति के विचार से बुरी तरह से ग्रस्त भारतीय समाज अपनी स्वभावगत असमानता, पदानुक्रम एवं विशिष्ट वर्गों को सुविधाओं से वंचित रखने वाले अपने व्यवहार में अब धीरे-धीरे परिवर्तन कर रहा है। पारम्परिक रूप से सुविधाहीन वर्ग अब विकास करते हुए अपने अधिकारों की जनतांत्रिक अभिव्यक्ति के माध्यम से अपनी उपस्थिति का अहसास करा रहे हैं। निश्चित रूप से इसके परिणामस्वरूप शक्ति का विकेन्द्रीकरण एवं भारतीय समाज का अधिक से अधिक जनतांत्रिकरण होगा।

यद्यपि बुद्ध से लेकर अम्बेडकर तक सामाजिक असमानताओं के विरुद्ध संघर्ष का एक लम्बा इतिहास रहा है किन्तु जनतांत्रिक ढाँचे ने सुविधाहीन एवं कम सुविधा प्राप्त वर्गों को इस असमानता को समाप्त करने के अपेक्षाकृत अधिक प्रभावकारी अवसर प्रदान किए हैं। उन्नीसवीं सदी में होने वाले दलित एवं पिछड़े वर्गों के आन्दोलन इस संघर्ष में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन लाने में सक्षम हुए हैं। पेरियार रामास्वामि के नेतृत्व में तमिलनाडु में छेड़े जाने वाले 'स्वाभिमान आन्दोलन' (Self Respect Movement) ने वैदिक धर्मशास्त्रों, जातिव्यवस्था, ब्राह्मणवादी सामाजिक व्यवस्था एवं ईश्वर की अवधारणा पर सीधा आक्रमण किया। इसी तरह बी0 आर0 आम्बेडकर ने जाति-व्यवस्था के विरुद्ध खुलकर संघर्ष किया तथा जब उन्हें यह अनुभव हो गया कि स्थिति अत्यधिक शोचनीय है तो उन्होंने हिन्दू धर्म त्याग कर बौद्ध धर्म, अंगीकर करते हुए इसे ही दलितों के लिए मुक्ति का रास्ता घोषित किया। गेल ओमवेट (1995) कहती हैं- "बौद्ध धर्म अंगीकार करना अम्बेडकर के लिए सामाजिक पुनर्जन्म, नवीन पहचान की प्राप्ति तथा भारत के पुनर्निर्माण हेतु छेड़े गए एक आन्दोलन में दलितों के मात्र भाग लेने की नहीं बल्कि उनके नेतृत्व की स्थिति का परिचायक था।" फुले-नायकर-अम्बेडकर परम्परा आज भी समाप्त नहीं हुई है। अपने अधिकारों की जनतांत्रिक अभिव्यक्ति हेतु दलितों एवं पिछड़ी जातियों में बढ़ती चेतना इस तथ्य की गवाह है।

जनतांत्रिक अभिव्यक्ति की प्रक्रिया में भारत की राजनीति भी 'जाति के विचार से ग्रस्त' हो गई है। अतः भारत में बढ़ता 'जातिवाद' बहस का एक महत्त्वपूर्ण मुद्दा बन गया है। क्या जातीय अपील का आशय 'जातिवाद' है अथवा यह सुविधावंचित वर्गों की जनतांत्रिक अभिव्यक्ति का एक रूप है? राजनीति में जाति की बढ़ती भूमिका अधिकांश आधुनिकतावादियों को पंसद नहीं होगी किन्तु जैसा कि रजनी कोठारी (1995) कहते हैं, "राजनीति एक प्रतियोगितावादी क्षेत्र है, इसका

उद्देश्य है- निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए शक्ति अर्जित करना तथा इसकी प्रक्रिया के अन्तर्गत स्थितियों/पदों को गतिमान एवं सुदृढ़ करने के लिए विद्यमान एवं उदित होती हुई निष्ठाओं को पहचानते हुए उनमें परिवर्तन करना समाहित होता है।.... "जहाँ जातीय संरचना मुख्य संगठनात्मक समूह प्रस्तुत करता हो जिसके साथ-साथ विशाल जनसंख्या जीवन यापन करती है, राजनीति का इस प्रकार की संरचना या ढाँचे द्वारा संगठित होना अपेक्षित है।" यह राजनैतिक अभिव्यक्ति व आग्रहिता सामाजिक रूपान्तरण के विकासशील एजेण्डा को एक नया अर्थ प्रदान करती है। "हाशिए पर जीवन यापन करने वालों के स्वर में इतनी शक्ति दिखाई देती है कि वह हिन्दुवाद को अपनी बुराइयों की ओर देखने को मजबूर कर दे। चूँकि हिन्दुवाद की कल्पना इसकी असमानताओं एवं पदानुक्रमों के अभाव में नहीं की जा सकती, अतः नई राजनीति द्वारा हिन्दुवाद पर बढ़ते आक्रमण सुधारवादी हिन्दुवाद से कहीं अधिक प्रासंगिक एवं तीक्ष्ण हैं" (अविजीत पाठक, 1998)।

दलित राजनीति पर नज़र डालने पर हम पाते हैं कि सन् 1942 से पहले दलितों का अपना कोई राजनैतिक दल नहीं था। इसका एक कारण यह था कि गांधी एवं काँग्रेस पार्टी यह नहीं चाहती थी कि दलितों का अपना स्वतंत्र राजनैतिक दल व स्वतंत्र पहचान हो। अतः सन् 1942 ई. में बी. आर. अम्बेडकर द्वारा **अखिल भारतीय अनुसूचित जाति संघ** की स्थापना को इस दिशा में प्रथम प्रयास माना जाता है। इस संघ के मुख्य उद्देश्य थे- "अनुसूचित जातियों द्वारा भारत के राष्ट्रीय जीवन में एक अलग एवं विशिष्ट तत्त्व के रूप में प्रस्थिति प्राप्त करना तथा अपने लिए राजनैतिक, आर्थिक एवं सामाजिक अधिकार प्राप्त करना, जिसका उन्हें अपनी आवश्यकताओं, जनसंख्या एवं महत्त्व की दृष्टि से पूरा अधिकार है।" सन् 1956 में अम्बेडकर ने इस संघ को बन्द करने का निर्णय ले लिया क्योंकि इसकी सदस्यता केवल अनुसूचित जातियों तक ही समिति थी। इसके स्थान पर उन्होंने **रिपब्लिकन पार्टी ऑफ इण्डिया** (आर.पी.आई.) के नाम से एक नया दल स्थापित किया। इस दल को सन् 1957 में उनकी मृत्यु के बाद निश्चित आकार प्राप्त हुआ तथा इसका उद्देश्य था- दलितों, आदिवासियों अथवा जनजातीय लोगों, पिछड़े वर्गों, कृषकों एवं भूमिहीन खेतिहर मजदूरों के हितों का संरक्षण करना। अनेक वर्षों तक इस दल के समर्थकों में अधिकांश उनकी अपनी ही जाति के लोग अर्थात् महाराष्ट्र के महार ही थे। "रिपब्लिकन पार्टी का इतिहास अनुसूचित जातीय राजनीति की जिम्मेदारियों, विरोधाभासों एवं सामर्थ्य को प्रकट करता है" (माईकल महार, 1998)। सन् 1962 के चुनावों में आर.पी.ई. ने 68 संसदीय सीटों के लिए चुनाव लड़ा तथा कुल तीन सीटें जीतीं जो उत्तर प्रदेश की थीं। इसने 301 विधान सभा सीटों के लिए चुनाव लड़ा तथा कुल 11 सीटें जीतीं जिनमें से 3 महाराष्ट्र की तथा 8 उ.प्र. की थीं। दोनों ही राज्य दो बिल्कुल भिन्न चुनावी प्रयासों के उदाहरण हैं, जिनमें से एक असफल हुआ तथा दूसरा सफलता का अग्रदूत बना।

रिपब्लिकन पार्टी ऑफ इण्डिया का चुनावी इतिहास राजनैतिक जीवन के उन कठोर तथ्यों को प्रस्तुत करता है जो अपने नेतृत्व में शक्ति अर्जित करने की इच्छा रखने वाले किसी

भी अनुसूचित जातीय वर्ग को झेलने पड़ेंगे। उन्हें जीतने के लिए उच्च हिन्दू जातियों के वोट अर्जित करने पड़ेंगे, समान वर्ग हितों पर आधारित अन्तरजातीय सम्बन्ध स्थापित करने होंगे तथा मुसलमामनों के भी समान जाति समूहों का विश्वास जीतना होगा। यह तथ्य कि गैर-अनुसूचित जातीय वोट आरक्षित विधानसभा क्षेत्रों में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं, निश्चित रूप से ध्यान में रखना होगा। सन् 1970 ई. तक **रिपब्लिक पार्टी ऑफ इण्डिया** हाशिए पर आ गई और आज इसकी उपस्थिति केवल दो-तीन राज्यों में ही है।

यदि हम शूद्र राजनीति पर नज़र डालें, और वह भी विशेष रूप से उत्तर भारत में, तो हम पाते हैं कि राम मनोहर लोहिया के नेतृत्व में छेड़ा गया समाजवादी आन्दोलन गैर-काँग्रेसी दलों की विजय का महत्त्वपूर्ण कारक था तथा इसने शूद्र जन समुदाय की चेतना एवं आकांक्षों को अत्यधिक बढ़ाया। उत्तर प्रदेश के सन् 1993 के विधान सभा चुनावों ने शूद्र एकता का एक नया नमूना प्रस्तुत किया। इसे **पिछड़ी-दलित एकता** अथवा **शूद्र-अतिशूद्र एकता** के नाम से जाना गया। डी. एम. के. के. सी. एम. अन्नादुरई की राजनैतिक सफलता का सामाजिक आधार भी यही था। भविष्य में यह गठबंधन काम न कर सका, जिसका मुख्य कारण जनसंख्या के इन दो वर्गों के हितों में संघर्ष एवं मुलायम सिंह यादव एवं कांशीराम के बीच में पाया जाने वाला विरोध था। साथ ही वे एक दृढ़ विचारधारा वाला आधार भी नहीं बन सके।

बहुजन समाज पार्टी (बी.एस.पी.) जो कि एक दलित पार्टी है, का उदय उत्तर प्रदेश के राजनैतिक एवं सामाजिक परिदृश्य में एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है। यह दलितों के मध्य इस बात के प्रति बढ़ती चेतना का परिणाम है कि जाति पदानुक्रम वाली पारम्परिक हिन्दू सामाजिक-व्यवस्था उन्हें सामाजिक न्याय नहीं दिला पाएगी। बी.एस.पी. की जड़ें सन् 1976 में कांशीराम द्वारा स्थापित 'बाम सेफ' अर्थात् सरकारी कर्मचारियों के निम्न मध्यम जातीय कर्मचारी संघ में थी। कांशीराम ने सन् 1960 के दशक के अन्तिम वर्षों में कुछ समय के लिए **'रिपब्लिकन पार्टी ऑफ इण्डिया'** की सदस्यता ली थी किन्तु बाद में जब उन्हें लगा कि यह पार्टी काँग्रेस की 'पिट्ठू' है तो उन्होंने यह पार्टी छोड़ दी। बाद में डी एस- 4 के निर्माण के साथ ही इसका आधार विस्तृत हुआ। दोनों ही बहुजन समाज पार्टी का सन् 1984 में गठन करने के लिए आगे आए। "बी.एस. पी. दावा करती है कि लामबंदी सम्बन्धी विचारधाराएँ एवं रणनीतियाँ अम्बेडकर के लेखन एवं वक्तव्यों पर आधारित हैं किन्तु वास्तविकता में ये मुख्य रूप से कांशीराम तथा कुछ अंशों में मायावती से प्रभावित हैं। दोनों ने मिलकर उत्तर? अम्बेडकर नेतृत्व प्रस्तुत किया है जिसने अम्बेडकरवाद को उत्तर भारतीय राजनैतिक स्थिति में परिवर्तित करने की कोशिश की है। सन् 1990 ई. के दौरान, जब वे सत्ता में थे, उन्होंने न केवल ज्योतिबा फुले बल्कि पेरियार की सांस्कृतिक विरासत का लाभ पेरियार मेलों द्वारा उठाने की कोशिश की। आरम्भ में पार्टी ने गांधी एवं कांग्रेस की आलोचना द्वारा वैचारिक दृढ़ता प्राप्त करने की कोशिश की, जिसके बिना यह दलितों को संगठित न कर पाती तथा न ही स्वयं को वास्तविक दलित प्रतिनिधि के रूप में स्थापित कर पाती" (सुधा पाई, 1998)। बी.एस.पी. की विचारधारा दक्षिण भारतीय ब्राह्मण

विरोधी आन्दोलनों के समान है। यद्यपि एक मौलिक अन्तर है कि इसका ब्राह्मण विरोध राजनैतिक अधिक है तथा सांस्कृतिक कम।

आज बी.एस.पी. नेतृत्व के समक्ष एक कठिन प्रश्न है- क्या यह क्रान्तिकारी सामाजिक परिवर्तन लाने हेतु प्रतिबद्ध एक आन्दोलन है अथवा यह एकमात्र राजनैतिक दल है जिसका एक मात्र उद्देश्य शक्ति अर्जित करना है।" परिणामस्वरूप यह एक ऐसी स्थिति में पहुँच गयी है जहाँ से दोनों का ही आगे विकास कठिन दिखता है" (सुधा पाई)। सन् 1996 ई. के विधान सभा चुनावों में पार्टी द्वारा काँग्रेस से सम्बन्ध जोड़ने के निर्णय तथा बी. जे. पी. के साथ दो बार साझा सरकार बनाने के फैसले की कठोर शब्दों में आलोचना हुई। इन कारणों से बी.एस.पी. को 'विशिष्ट दलित पार्टी' नहीं कहा जा सकता क्योंकि राजनैतिक स्वार्थों के कारण यह दलित हितों से समझौता करने में कतई नहीं चूकती।

अम्बेडकर एवं अन्य लोगों के प्रयोगों के बावजूद भी दलित आन्दोलन अधिकांशतः जाति आधारित ही रहा है। परिणामस्वरूप, यह समस्त सुविधा-वंचित वर्गों को एकीकृत करके यथार्थ में दलित पहचान प्रदान करने में असफल रहा है। दलित नेतृत्व पर एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ में विवेक कुमार (2002) कहते हैं- "आन्दोलन की सफलता एवं असफलता का निर्धारण करने वाला सबसे महत्त्वपूर्ण कारक उसके नेतृत्व का स्वभाव, गतिकी एवं कर्मठता है। रिपब्लिकन पार्टी ऑफ इण्डिया, दलित पैंथर्स, पिछड़े एवं अल्पसंख्यक वर्गों, कर्मचारी संघों (बामसेफ) एवं बहुजन समाज पार्टी के नेतृत्व इस तथ्य के उल्लेखनीय उदाहरण हैं....... सभी जानते हैं कि आज तक राज्य में दलित नेतृत्व को उच्चतम सरकारी पदों की प्राप्ति का बहुत कम अवसर प्राप्त हुआ है, किन्तु यदि एक बार इसे राज्य में लम्बे समय तक शासन करने का अधिकार प्राप्त हो जाय, तो समाज के ढाँचे में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो सकते हैं तथा दलितों के सशक्तिकरण द्वारा उन्हें भारतीय समाज का महत्त्वपूर्ण अंग बनाया जा सकता है।" उनके अध्ययन के अन्तर्गत दलित नेतृत्व की अवधारणा, दलित नेतृत्व की प्रकृति एवं कर्मठता, दलित नेतृत्व की राजनैतिक पहचान तथा दलितों और विशेष रूप से दलित महिलाओं के बीच अधिक प्रभावकारी एवं मजबूत दलित नेतृत्व का अभाव, आदि आते हैं। किन्तु एक बात जो हम बिल्कुल नहीं भूल सकते हैं वह यह है कि यदि मात्र चुनावी राजनीति के द्वारा जातिगत ढाँचे को तोड़ना सम्भव होता तो आज यह इतना अधिक निरुत्साहित करने वाला नहीं होता, जितना कि है।

पिछड़े वर्गों की राजनीति, जाति आरक्षण एवं 'मण्डलीकरण' (Backward Politics, Caste Reservations and 'Mandalization')

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के लिए क्षतिपूरक (compensatory) लाभों के प्रावधान अनिवार्य घोषित कर दिए गए थे जबकि अन्य पिछड़ी जातियों के लिए ऐसे क्षतिपूरक लाभ प्रदान करने के सम्बन्ध में केन्द्र एवं राज्य सरकारों को अपने विवेक एवं सुविधा का ध्यान रखते हुए ऐसा करने के निर्देश दिए गए थे। अपने अप्रकाशित लेख **'The OBC Identity and Treatment of the OBCs by the Mainstream Ruling**

Political Parties in India' में एच. एस. वर्मा इस विवाद को आगे बढ़ाते हुए कहते हैं- "दूसरी बड़ी चाल थी संविधान में अन्य पिछड़ी जातियों की पहचान एवं उनके अनुसूचित करने को अव्याख्यायित छोड़ देना। इसके अतिरिक्त ऐसे राज्यों ने, जिनमें अन्य पिछड़े वर्गों के प्रति ऐतिहासिक परम्परानुसार सकारात्मक रवैया (affirmative action) अपनाया जाता रहा है, इन वर्गों के साथ एक अन्य चाल खेली। उन्होंने अन्य पिछड़े वर्गों की एक लम्बी सूची तैयार कर ली और इस प्रकार अपनी कुल जनसंख्या का तीन चौथाई हिस्सा इस वर्ग के अन्तर्गत ले आए। विभिन्न राज्यों एवं केन्द्र शासित प्रदेशों में तैयार की गई इन अन्य पिछड़े वर्गों की सूचियों का गहराई से पुनर्निरीक्षण करने पर यह चौंकाने वाला तथ्य उभरकर सामने आता है कि इनके अन्तर्गत न केवल किसानों, कारीगरों व कारीगरी सेवाओं, मिस्त्रियों आदि के समुदायों को शामिल किया गया है, बल्कि अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों एवं यायावरों (nomadic) व अर्ध यायावरों (semi-nomadic) की जातियों का भी समावेश किया गया है। इनमें कुछ राज्यों में विमुक्त जातियाँ (denotified communities) भी शामिल हैं।"

जनतंत्रीकरण के इतिहास पर नज़र डालने पर हम पाते हैं कि जनतंत्र लागू करने वाले लगभग सभी समाज ऐसा केवल भूमि पर स्वामित्व प्राप्त वर्गों को पराजित करके ही कर पाए हैं। किन्तु दुर्भाग्यवश जानते बूझते या अनजाने में मण्डल आयोग की सिफारिशों ने भूमियुक्त पिछड़ी जातियों को सबल बनाया है। सम्भवतः आयोग को इसके परिणामों का आभास हो गया था क्योंकि यह कहता है, "निस्संदेह यह सत्य है कि अन्य पिछड़ी जातियों के लिए मुख्य लाभों एवं आरक्षण का फायदा मुख्य रूप से पिछड़ी जातियों के अपेक्षाकृत अधिक उन्नतिशील वर्गों द्वारा ही उठाया जाएगा। सुधार सम्बन्धी समस्त प्रयासों का फल धीरे-धीरे नज़र आएगा.. पल भर में सामाजिक सुधार हो जाने की कल्पना नहीं की जा सकती। साथ ही मानव स्वभाव के अनुसार वर्गहीन समाजों में भी नए वर्ग स्वतः उत्पन्न हो जाते हैं।" इसके अतिरिक्त आरक्षण की मुख्य विशेषता यह नहीं है कि इसके माध्यम से अन्य पिछड़े वर्गों के बीच समतावाद पनपेगा, जबकि शेष भारतीय समाज असमानता के पाश में जकड़ा हुआ है। इसके विपरीत आरक्षण नौकरियों में उच्च जातियों के एकाधिकार को समाप्त करेगा। किन्तु चन्द्रभान प्रसाद 'मंडल प्रोजेक्ट' की अपनी समीक्षा में कहते हैं कि "सम्पूर्ण प्रोजेक्ट छलपूर्ण तरीके से बनाया गया जिसमें अन्य पिछड़े वर्गों व नव-कुलकों (neo-kulaks) ने प्रजातंत्रीकरण की प्रक्रिया को पलटने की कोशिश की है।" मंडल आयोग की पाँच सदस्यीय समिति के एकमात्र दलित प्रतिनिधि एल.के. नाइक ने रिपोर्ट पर हस्ताक्षर करने से इंकार कर दिया तथा उसके बजाय विरोध स्वरूप एक पत्र प्रस्तुत किया। अन्य पिछड़े वर्गों के लिए संवैधानिक रूप से वैध 27% कोटे की माँग करते हुए उन्होंने अन्य पिछड़े वर्गों को दो प्रकार के पिछड़े वर्गों में बाँटने की बात की तथा उसके बाद उन्होंने 27% कोटे को इन वर्गों में बाँटने की माँग उठायी। नाईक की इस माँग के प्रति समिति के अधिकांश सदस्यों ने असहमति व्यक्त की।

दक्षिण भारत और विशेष रूप से कर्नाटक एवं तमिलनाडु पर दृष्टि डालने पर हम पाते हैं कि 'मंडलीकरण' शब्द की उत्पत्ति से भी पहले इन राज्यों के लोग 'मंडलीकृत' हो चुके थे।

पाणिनी (1996) के अनुसार मण्डलीकरण 'बुर्जुआकरण' (Bourgeosification) का भी परिणाम है। मध्यम वर्ग का बड़ी सीमा में विस्तार अन्य पिछड़े वर्गों के स्तर में ऊपर की ओर उठने के साथ जुड़ा हुआ है। "यह वर्ग अपनी भौतिक समृद्धि में वृद्धि के कारगर उपाय के रूप में आर्थिक उदारीकरण का समर्थन करता है। मध्यम वर्ग के नवीन सदस्य तत्त्ववादी (fundamentalist) धार्मिक आन्दोलनों की ओर आकर्षित होते नज़र आते हैं। यह तथ्य 'हिन्दू राष्ट्रवादी' भारतीय जनता पार्टी को नगरीय मध्यम वर्ग द्वारा प्राप्त अत्यधिक समर्थन को प्रदर्शित करने वाले चुनावी आँकड़ों की दृष्टि से संगत है।"

भावी ग्रामीण भारत में भूमियुक्त समृद्ध पिछड़े वर्गों की भूमिका हमारी दृष्टि खोलती है। स्वतन्त्रता-पूर्व भारत में उच्च जातियों को उत्पादन के साधनों पर एकाधिकार प्राप्त था। इस एकाधिकार पर राज्य द्वारा प्रायोजित अनेक प्रयासों– जैसे ज़मींदारी उन्मूलन, ग्रामीण विकास कार्यक्रम आदि द्वारा प्रहार किया गया। भूमि एवं उत्पादन के अन्य साधनों के पुनर्वितरण की नवीन योजना में सबसे अधिक लाभ दलितों को नहीं बल्कि अन्य पिछड़े वर्गों को प्राप्त हुआ। सन् 1960 के बाद की 'हरित क्रान्ति' ने अन्य पिछड़े वर्गों को और भी अधिक सबल बनाया, जिन्होंने संस्कृतिकरण के माध्यम से जाति पदानुक्रम में ऊँचा स्थान प्राप्त कर लिया तथा देश के अनेक भागों में प्रभुतासम्पन्न जातियों (dominant castes) के रूप में उभरकर सामने आये। इसके विपरीत हिन्दू एवं मुस्लिम उच्च जातियों ने धीरे-धीरे नगरीय क्षेत्रों की ओर जाना प्रारम्भ कर दिया ताकि वे ऐसे गौण व्यवसायों में प्रवेश कर सकें जिनसे वे अपेक्षाकृत अधिक धन कमा सकते हों तथा साथ ही शहरी जीवन की सुविधायें व मजा भी उठा सकें। जैसा कि जनसंख्या सम्बन्धी (demographic) तथ्य प्रकट करते हैं, यदि यह प्रक्रिया यूँ ही चलती रही तो 2020 तक ग्रामीण भारत एवं उसका कृषि-समाज उच्च जातियों को पूरी तरह से खो देगा तथा पूर्व में हुए क्रान्तिकारी भूमि सुधार आन्दोलनों के सदृश आन्दोलनों के अभाव में समस्त उत्पादन/कृषि साधनों एवं संस्थाओं पर भूमियुक्त समृद्ध पिछड़े वर्गों का अधिकार हो जाएगा जिन्हें कई विद्वान् नव-कुलक (neo-kulak) अर्थात् 'समृद्ध शोषक' कहकर भी सम्बोधित करते हैं। बदले हुये भूमि-श्रम समीकरणों में दलित एवं अति पिछड़ी जातियाँ/वर्ग (अन्य पिछड़े वर्गों से सम्बन्धित) इस समृद्ध पिछड़े वर्ग के शोषण का आसानी से शिकार हो जायेंगे। यह एक चौंकाने वाला तथ्य है। भूमियुक्त समृद्ध पिछड़े वर्गों की प्रभुजातियों की यह नई भूमिका आज भी पूर्वानुमानी सामाजीकरण (anticipatory socialization) के एक उदाहरण के रूप में कुछ क्षेत्रों में देखी जा सकती है, जहाँ दलितों का शोषण अक्सर ब्राह्मण या क्षत्रिय नहीं, बल्कि प्रभुतासम्पन्न ये नए समृद्ध पिछड़े वर्ग कर रहे हैं। सर्वाधिक पिछड़ी जातियों की स्थिति दलितों के बाद सबसे अधिक शोचनीय है। दलितों के बाद वे ही सबसे अधिक दरिद्र हैं तथा हाशिये पर जीवन बिता रहे हैं।

'मण्डलीकृत' राजनीति के मुद्दे पर समाजशास्त्रियों एवं बौद्धिक वर्ग के मत एक दूसरे से भिन्न हैं। "राजनीति में वामपंथी समूह (leftist groups) समानता को एक नीति के रूप में सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करता है तथा मण्डल आयोग के माध्यम से आरक्षण में वृद्धि का समर्थन करता है जबकि दूसरा दक्षिणपंथी वर्ग (rightists) एक अधिकार के रूप में समानता का पक्ष लेता

है तथा आरक्षण में किसी भी प्रकार की वृद्धि का विरोध करता है। मण्डल अयोग के समर्थन एवं विरोध सम्बन्धी बहस कई बार बहुत गर्म रूप ले चुकी है किन्तु यह मुद्दा इतना अधिक जटिल है कि किसी सहमति पर पहुँचना अत्यधिक कठिन है, क्योंकि दोनों ही पक्ष अपने समर्थन में अनेक दलीलें दे सकते हैं" (क्रिस्टोफर जे. फुलर, 2003)। यह मुद्दा इतना अधिक संवेदनशील हो गया कि एम.एन. श्रीनिवास जैसे जानेमाने समाजशास्त्री व विशाल व्यक्तित्व के व्यक्ति पर भी उच्च जातियों के समर्थन का पक्षपातपूर्ण रवैया अपनाने का आरोप लग गया।

भारतीय जनसंख्या के पिछड़े/कमजोर वर्ग, रक्षात्मक एवं क्षतिपूरक विभेद, सामाजिक न्याय, समान अवसर एवं विशिष्ट अवसर (Backward Segments/Weaker Sections of Indian Population: Protective and Compensatory Discrimination, Social Justice, Equal Opportunity and Special Opportunities)

पारम्परिक भारतीय समाज में चारों ओर अत्यन्त पीड़ा कारक असमानता व्याप्त रही है तथा उसके चिन्ह आज के भारतीय समाज में भी देखे जा सकते हैं। साथ ही अब हमारे समक्ष हमारे देश का संविधान है, जो अपने नागरिकों के प्रति समानता का व्यवहार करने का वचन देता हैं। "आदर्श एवं वास्तविक स्थिति के बीच यह विरोधाभास हमारे सामाजिक एवं राजनैतिक जीवन का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अभिलक्षण बन गया है, जिसमें समानता का चारों ओर व्याप्त असमानता के साथ-साथ अपना अस्तित्व प्रदर्शित करता है" (आन्द्रे बीते, 2000)। श्रेणीबद्ध व्यवस्था की विचारधारा श्रेष्ठता के विचार का समर्थन करती है। अतः जातियों की श्रेणीकृत असमानता ने जीवन के प्रति विभेदी नजरिया उत्पन्न किया।

सदियों से चले आ रहे भारतीय समाज की सामाजिक श्रेणीबद्ध व्यवस्था ने शूद्र वर्ग की जातियों पर अनेक सामाजिक-आर्थिक प्रतिबन्ध लगा दिये थे तथा उनकी स्थिति शोचनीय बना दी थी। इस असमानतापूर्ण व्यवहार के फलस्वरूप आज की पिछड़ी एवं अनुसूचित जातियाँ सामाजिक, शैक्षिक एवं आर्थिक रूप से अत्यधिक पिछड़ गईं। आदिवासी समुदाय, जो प्रायः जाति व्यवस्था से बाहर रहे, मुख्यतः भौगोलिक रूप से अलग-थलग पड़ जाने के कारण पिछड़े रहे। अतः उनके पिछड़ेपन की समस्या मुख्यतः प्रौद्योगिक एवं आर्थिक पिछड़ेपन से सम्बन्धित थी, न कि सामाजिक पिछड़ेपन से।

सामान्य एवं प्रचलित मत (समाज के शिक्षित वर्गों का भी) के ठीक विपरीत संविधान में उल्लिखित पिछड़े वर्ग (Backward Classes) के अन्तर्गत केवल पिछड़ी जातियाँ ही नहीं अनुसूचित जातियों (अस्पृश्यों) तथा अनुसूचित जनजातियों की संवैधानिक श्रेणियाँ भी होती हैं। उनके लिए मुख्य रूप से निम्न क्षतिपूरक प्रावधान रखे गए हैं-

1. लोकसभा में अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों को उनके अनुपात के अनुसार आरक्षण (अनुच्छेद 330), तथा इसी प्रकार प्रत्येक राज्य की विधान सभा में भी इन वर्गों को आरक्षण। (अनुच्छेद 332)

2. प्रशासनिक कार्य को सुचारु रूप से चलाने एवं संघ अथवा किसी राज्य के सरकारी पदों पर नियुक्तियों के संदर्भ में अनुरूपता के सम्बन्ध में अनुसूचित जातियों एव जनजातियों के लोगों के पक्ष में किए जाने वाले वादों पर पर्याप्त विचार। (अनुच्छेद 335)
3. नागरिकों के किसी सामाजिक एवं शैक्षिक रूप से पिछड़े वर्ग अथवा अनुसूचित जातियों व जनजातियों के लोगों के उत्थान के लिए किसी भी प्रकार के विशेष प्रावधान बनाना। (अनुच्छेद 15-4)
4. नागरिकों के किसी ऐसे पिछड़े वर्ग को सरकारी पदों पर आरक्षण प्रदान करना, जिन्हें राज्य ऐसा वर्ग मानता है जिसे राज्य के सरकारी पदों पर पर्याप्त प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं है। (अनुच्छेद 16-4)

चूँकि अनुसूचित जातियाँ एवं अनुसूचित जनजातियाँ सबसे अधिक पिछड़ी हुई हैं, अतः प्रमुख क्षतिपूरक उपाय उनके लिए अनिवार्य रूप से किए जाते हैं। "किन्तु चूँकि पिछड़े वर्ग अवशिष्ट श्रेणी (residual category) के अन्तर्गत आते हैं, अतः उनके हितों के लिए उठाये जाने वाले कदम राज्य-आधारित होते हैं। यह श्रेणी सबसे अधिक विवादास्पद है। इसके कई कारण हैं। जैसे- इसकी अद्भुत विषमजातीयता (heterogeneity), विशाल संख्या, तथा पहचान सम्बन्धी संदिग्धता, पिछड़ी एवं सवर्ण जातियों के बीच अपने-अपने हितों को लेकर होने वाला संघर्ष, तथा क्षतिपूरक लाभों का फायदा उठाने के लिए विभिन्न जातियों के बीच बढ़ती वैमनस्यता। भारत की 'वोट बैंक' की राजनीति के लिए भी यह मुद्दा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।" (पी. राधाकृष्णनन्, 2003)

इसके अतिरिक्त मार्क गैलेन्टर अपने महत्त्वपूर्ण ग्रंथ **Competing Equalities : Law and the Backward Classes in India** (1991) में कहते हैं- "कुछ विशेष वर्गों को वरीयता देने के माध्यम से समानता स्थापित करने के प्रयासों की संवधैानिक संदर्भों में देखने की आवश्यकता है। संविधान में क्षतिपूर्णता का विचार आपैचारिक समानता के विचार के समकक्ष प्रतीत होता है। क्षतिपूर्ति के रूप में प्राथमिकता दिए जाने के प्रावधान उन बलपूर्वक लागू किए जा-सकने वाले मौलिक अधिकारों के ढाँचे के अन्तर्गत अपवाद सदृश प्रतीत होते हैं,जो कुछ विशेष समूहों के महत्त्व को कम करते हुए सभी को समानता की दृष्टि से देखने का प्रयत्न करता है।" किन्तु सार्वजनिक एवं व्यक्तिगत क्षेत्रों में लोगों के बीच किए जाने वाले भेदभाव पर संविधान द्वारा किया जाने वाला आक्रमण समानता का वातावरण निर्मित करने के लिए पूर्ण संविधान का मात्र एक भाग ही है। संविधान सरकार को इस बात का निर्देश भी देता है कि वह पिछड़ी जातियों की उन्नति के लिए विशेष प्रयास करे। इन वर्गों के लिए सरकारी नौकरियों एवं विधानमण्डल में प्रतिनिधित्व का प्रावधान रखने के साथ-साथ संविधान 'राज्य नीति के नीति निर्देशक सिद्धान्त' की भी घोषणा करता है।

"राज्य को समाज के कमजोर वर्गों और विशेष रूप से अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के शैक्षिक एवं आर्थिक हितों का सवंर्धन करना चाहिए, तथा उन्हें सामाजिक अन्याय एवं सभी प्रकार के शोषण से बचाना चाहिए (अनुच्छेद 46)"

'सामाजिक न्याय' बनाम 'अवसरों की समानता' का मुद्दा अनेक समस्याओं से घिरा है जिनका निराकरण अपेक्षित है। साधारण एवं विस्तृत अर्थों में सामाजिक न्याय का तात्पर्य समाज के कमजोर वर्गों यथा- वृद्धों, अभावग्रस्तों, गरीबों, स्त्रियों एवं बच्चों तथा सुविधाहीन वर्गों के अधिकारों से है। राज्य से अपेक्षा की जाती है कि वह इन वर्गों की जीवन के हृदयहीन प्रतियोगात्मक परिस्थितियों से रक्षा करे तथा उनकी इस प्रकार सहायता करे कि वे समाज के उन्नत एवं सबल वर्गों के साथ-साथ समान अवसरों का लाभ उठा सकें। जैसा कि आन्द्रे बीते कहते हैं- "अवसरों की औपचारिक (formal) एवं वास्तविक (substantive) समानता में भी अन्तर है। अवसर की औपचारिक समानता यह माँग करती है कि हम जाति, समुदाय एवं लिंग आदि के आधार पर लोगों में किसी प्रकार का भेदभाव न करें किन्तु अवसर की वास्तविक समानता प्राप्त करने की दृष्टि से हमने इस प्रकार के भेदभाव एक नए सिरे से पुनः स्थापित करने प्रारम्भ कर दिये हैं।" समानता एवं सामाजिक न्याय आधुनिक विश्व में एक ऐसी अवधारणा के रूप में उभरक सामने आए हैं, जिनसे विश्व के सभी लोग समान रूप से सम्बन्ध रखते हैं। ऐसा कहा जाता है कि इन अवधारणाओं के प्रति भारतीयों ने अपना सम्बन्ध प्रदर्शित करना तब प्रारम्भ किया जब वे बाह्य विश्व, विशेष रूप से पश्चिमी देशों से जुड़े।

रक्षात्मक भेदभाव की नीति सामाजिक विकास का आधार है। मार्क गैलेन्टर कहते हैं- "आरक्षण पिछड़ी जातियों को असमानता से छुटकारा पाने के लिए एक प्रकार की रक्षात्मक ढाल प्रदान करता है। अतः समानता की घोषणा न्यायविहीन हो जायेगी जब तक कि उसे रक्षात्मक व क्षतिपूरक विभेद के साथ नहीं रखा जाता।"

❑

खण्ड-चार

धर्म तथा समाज
(Religion and Society)

अध्याय 12

भारत में धर्म तथा धार्मिक समुदाय
(Religions and Religious Communities in India)

भारत की संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता यहाँ का धार्मिक वैविध्य रहा है। एक लम्बे समय तक भारत में एक साथ विश्व के कई बड़े धर्म फले-फूले हैं जैसे- ईसाई धर्म, हिन्दू धर्म, इस्लाम, सिक्ख धर्म, बौद्ध धर्म, जैन धर्म, जोरोस्टर (पारसी) धर्म, यहूदी एवं बहाई धर्म। हिन्दू धर्म एवं उपरोक्त अन्य सभी धर्म एक ही सांस्कृतिक परिवेश में एक साथ एक लम्बे समय तक मिल-जुलकर फले-फूले हैं। इन धार्मिक व्यवस्थाओं को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है :

1. भारतीय अथवा देशी (Indic or Indiginous)
2. भारतीय धार्मिक व्यवस्था से इतर अन्य धार्मिक व्यवस्थाएँ (Extra-Indic)

भारतीय धर्मों का अभ्युदय एवं विकास भारत में हुआ। हिन्दू धर्म, बौद्ध धर्म, जैन धर्म एवं सिक्ख धर्म को भारतीय धर्मों की कोटि में रखा जा सकता है- बौद्ध, जैन एवं सिक्ख धर्म प्राचीन हिन्दू धर्म से ही उद्भूत हुए हैं जिसमें देश के विभिन्न भागों में पायी जाने वाली सांस्कृतिक, नृजातीय-भाषिक एवं पर्यावरणीय/परिस्थितिकीय विविधताओं के प्रति प्रतिक्रियास्वरूप एवं धार्मिक कर्मकाण्डों व रीति-रिवाजों की दृष्टि से अनेक परिवर्तन होते चले आए हैं। इन धर्मों को हिन्दू धर्म के अन्तर्गत होने वाले विरोध आन्दोलनों (protest movements) के रूप में देखा जा सकता है जिनके कारण हिन्दू धर्म में अनेक सुधार हुए। भारत के बाहर उदित होने वाले धर्म एवं मत जैसे- ईसाई धर्म, यहूदी धर्म, इस्लाम, पारसी धर्म एवं बहाई धर्म दूसरे वर्ग के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं। जहाँ यहूदी, ईसाई धर्म एवं इस्लाम का उदय पश्चिम एशिया में हुआ, वहीं पारसी धर्म एवं बहाई धर्म का अभ्युदय ईरान में हुआ।

यद्यपि धर्म मुख्यतः व्यक्तिगत श्रद्धा एवं विश्वास पर आधारित होता है किन्तु भारत में किसी व्यक्ति की धार्मिक पहचान को सामाजिक स्तर पर अभिव्यक्त किया जाता है। जन उत्सवों एवं धार्मिक अनुष्ठानों आदि में व्यक्ति की धार्मिक पहचान मुखर होकर सामने आती है। विभिन्न धर्मों के अनुयायी भी एक प्रकार की सामुदायिक भावना (community feeling) प्रदर्शित करते हैं जिसके परिणामस्वरूप उनकी आपसी एकता की सचेतन अथवा अचेतन रूप से झलक दिखाई देती है। साथ ही किसी धर्म से सम्बन्धित सामाजिक आचार-व्यवहार का समान रूप भी किसी विशेष धार्मिक पहचान की जन

अभिव्यक्ति का माध्यम है, जैसे– वेशभूषा, कुछ विशेष खाद्य पदार्थों का सेवन न करने की प्रवृत्ति एवं कुछ निश्चित क्षेत्रीय विविधतायें प्रकट करने वाले ऐसे कुछ अन्य लक्षण।

हिन्दूवाद एवं हिन्दू

भारत में धार्मिक बहुलवाद की अवधारणा कई बार इस तथ्य के कारण कमजोर एवं संदिग्ध प्रतीत होने लगती है कि यहाँ हिन्दू धर्म को जनसंख्या के आधार पर प्रभुत्व सम्पन्न माना जाता है तथा साथ ही इसे सांस्कृतिक स्तर पर भी अन्य धर्मों से श्रेष्ठ स्थान प्राप्त है। यह कोई काल्पनिक तथ्य नहीं बल्कि यथार्थ है। प्रत्येक पाँच भारतीयों में से चार हिन्दू होते हैं। "सांस्कृतिक दृष्टि से अनेक मानवशास्त्रियों एवं समाजशास्त्रियों ने तथाकथित गैर-हिन्दू समुदायों की संस्कृति के प्रमुख तत्त्वों एवं सामाजिक ढाँचे के स्वरूप के विषय में विस्तृत जानकारी प्रस्तुत की है, जो या तो हिन्दुओं से ग्रहण किए गए हैं अथवा धर्म परिवर्तन के पूर्व के अपरिवर्तित अवशेष हैं" (टी.एन. मदन, 2003)। अन्य धर्मों से पर्याप्त रूप से भिन्न हिन्दू धर्म अनेक मतों का एक संघ है न कि केवल एक सजातीय (homogenous) धर्म। वास्तविकता तो यह है कि हिन्दू धर्म का विकास अनेक युगों से होता चला आया है। इसके अन्तर्गत शैव, वैष्णव आदि अनेक मत एवं सम्प्रदाय निहित हैं।

जनसंख्या की दृष्टि से हिन्दू प्रत्येक स्थान पर सबसे अधिक हैं। सम्पूर्ण जनसंख्या के 82% में केवल हिन्दू जनता ही आती है हालाँकि कुछ सीमावर्ती क्षेत्रों में मुसलमानों की संख्या हिन्दुओं से अधिक है (उदाहरण के लिए जम्मू कश्मीर एवं लक्ष्यद्वीप में)। इसी प्रकार पंजाब में सिक्खों का अधिक प्रभुत्व है, मिजोरम एवं नागालैण्ड में ईसाई जनसंख्या का भाग हिन्दुओं से कहीं अधिक है तथा अरुणाचल प्रदेश में हिन्दुओं की अपेक्षा बौद्ध अधिक मिलते हैं। भारत के कुछ भागों जैसे– उड़ीसा के कुछ भाग, मध्य प्रदेश एवं आन्ध्र प्रदेश में कुल जनसंख्या के 97% लोग हिन्दू हैं। इसी प्रकार उत्तर प्रदेश एवं हिमाचल प्रदेश के उप-हिमालयी क्षेत्रों में हिन्दू जनसंख्या का अनुपात 95% से अधिक है। पूर्वी मध्य प्रदेश, पूर्वी गुजरात, दक्षिण कर्नाटक, तमिलनाडु एवं तटीय आन्ध्र प्रदेश की 90% से अधिक जनसंख्या हिन्दू है। इसके विपरीत पश्चिमी तट के कुछ इलाकों में हिन्दुओं का घनत्व 70% से भी कम है। इसी तरह मेघालय, नागालैण्ड एवं मिजोरम के आदिवासी क्षेत्रों में हिन्दुओं का अनुपात 20% से भी कम है और कहीं कहीं यह अनुपात गिरकर 5% तक हो गया है।

जनसंख्या के ग्रामीण भागों में हिन्दुओं का अनुपात अत्यधिक ऊँचा है– कुल राष्ट्रीय अनुपात 84% का है- इस प्रकार यह तथ्य हिन्दू जनसंख्या का ग्रामीण रूप प्रस्तुत करता है। इसके विपरीत नगरीय क्षेत्रों में हिन्दू जनसंख्या का अनुपात 76% के आस-पास है। हिन्दू जनसंख्या का 2/5 भाग हिन्दी-भाषी उत्तरी राज्यों में रहता है (जैसे– हरियाणा, दिल्ली, उत्तर प्रदेश, बिहार, राजस्थान एवं मध्य प्रदेश)। केवल उत्तर प्रदेश एवं बिहार में ही देश की कुल हिन्दू जनसंख्या का 27% भाग रहता है। इसी प्रकार चार दक्षिणी राज्यों में कुल हिन्दू जनसंख्या का एक चौथाई हिस्सा रहता है।

बौद्ध धर्म के अनुयायी

यह एशिया का सबसे अधिक फैलाव रखने वाला धर्म है किन्तु भारत, जिसमें इस धर्म का

अभ्युदय हुआ, में यह अल्पसंख्यक माना जाने वाला धर्म है। देश की कुल जनसंख्या का 0.76% भाग बौद्ध धर्म के अनुयायियों का है। पारम्परिक रूप से बौद्ध लोग मुख्यतः लद्दाख, हिमाचल प्रदेश, सिक्किम, मिजोरम, अरुणाचल प्रदेश एवं त्रिपुरा में रहते हैं। आज सबसे अधिक बौद्ध महाराष्ट्र में रहते हैं (कुल बौद्ध जनसंख्या का 79%)। ये नये बौद्ध अनुयायी मूलतः निम्न हिन्दू जातियों से धर्म परिवर्तन करने वाले लोग हैं जिन्हें डॉ. बी.आर. अम्बेडकर ने बौद्ध धर्म अंगीकार करने की प्रेरणा दी थी। महाराष्ट्र के कई जिलों में कुल जनसंख्या के 5 से 7 प्रतिशत तक लोग बौद्ध हैं। "दलाई लामा की उपस्थिति एवं सन् 1959 में तिब्बत से निष्कासित होने के बाद भारत में बौद्ध शरणार्थियों के आ बसने से भारत में बौद्ध धर्म के नये रूप के विषय में सामान्य जागरूकता काफी बढ़ी है। निम्न हिन्दू जातियाँ जो अपने आपको **दलित** (शोषित) कहते हैं तथा जिन्हें बी.आर. अम्बेडकर के अद्भुत नेतृत्व के अन्तर्गत नव-बौद्धों (Neo-Buddhists) की संज्ञा दी गई है, द्वारा बड़ी संख्या में धर्म परिवर्तन ने भी इस प्रक्रिया में बहुत बड़ा योगदान दिया है। यद्यपि इस वजह से बौद्ध पहचान का अत्यधिक राजनीतिकरण हो गया है (टी.एन. मदन)।

जैन धर्म के अनुयायी

प्राचीन हिन्दू धर्म से उपजा एक अन्य धर्म जैन धर्म है जिसके अनुयायी जैन कहलाते हैं। देश की कुल जनसंख्या के 0.40% लोग जैन धर्म के अनुयायी हैं। देश के लगभग 40 लाख जैनियों में से लगभग 60% जैन राजस्थान, गुजरात एवं महाराष्ट्र में रहते हैं। ज्यादातर जैन इन तीनों राज्यों के नगरीय इलाकों तथा मध्य प्रदेश एवं उत्तर प्रदेश के पड़ोसी राज्यों में निवास करते हैं। चूँकि मुख्यतः वे एक व्यापारी समुदाय के रूप में जाने जाते हैं अतः यही एक मुख्य कारण है कि अधिकांश जैन नगरों में ही बसते हैं। यहाँ तक कि उपरोक्त तीन राज्यों, जहाँ सबसे अधिक जैन बसते हैं, में भी उनका अनुपात राज्य की कुल जनसंख्या में बहुत कम है। राजस्थान की कुल जनसंख्या का केवल 1.28%, महाराष्ट्र की जनसंख्या का 1.22% तथा गुजरात की कुल जनसंख्या का 1.19% भाग ही जैन धर्म के अनुयायियों का है। इसके विपरीत इन्हीं राज्यों की नगरीय जनसंख्या में उनका अनुपात तुलनात्मक रूप से अधिक ऊँचा है– राजस्थान में 3.4%, महाराष्ट्र में 3.5% तथा गुजरात में 2.6%। "जैन धर्म के अनुयायी ज्यादातर राजस्थान एवं गुजरात के सूखे क्षेत्रों में रहते हैं। नगरीय जनसंख्या के हिसाब से जिन दो जिलों में उनकी संख्या सबसे अधिक है वे हैं– बाड़मेर (13.4%) एवं जालौर (10.5%)"(ऐजाजुद्दीन अहमद, 1999)। भारत के अन्य क्षेत्रों में उनकी उपस्थिति लगभग न के बराबर है।

विचारधारा के रूप में धार्मिक बहुलवाद (Religious Pluralism as Ideology)

भारत में धार्मिक बहुलवाद की अवधारणा न केवल सांस्कृतिक विविधता एवं बहुलवाद को अभिव्यक्त करती है, बल्कि यह एक विचारधारा के रूप में भी देखी जाती है। टी.एन. मदन (2003) एक अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण लेख में कहते हैं कि धर्मनिरपेक्षता की समकालीन विचारधारायें अक्सर यह दावा करती हैं कि बहुलवाद लगभग उतना ही प्राचीन है जितना कि पहला वेद। याद

रहे कि ऋग्वेद कहता है कि "सर्वशक्तिमान केवल एक है, यद्यपि साधु-सन्तों ने इसे अनेक भिन्न नाम दिये हैं।" हिन्दू धर्म इस भिन्नता को कभी आत्मसात् करते हुए और कभी श्रेणीबद्ध करते हुए स्वीकारता है। बौद्ध, जैन एवं सिक्ख धर्मों को हिन्दू धर्म का अपेक्षाकृत निम्न या अवर रूप माना जाता है यद्यपि इन सबके बीच आपसी संघर्ष भी विद्यमान रहता है। आधुनिक काल में बंगाली सन्त रामकृष्ण (1836-86) एवं उनके प्रसिद्ध शिष्य विवेकानन्द (1863-1902) को धार्मिक बहुलवाद की विचारधारा का प्रचार-प्रसार करने का श्रेय प्रदान किया जाता है, यद्यपि कभी-कभी वे बौद्ध एवं ईसाई धर्म की आलोचना भी कर दिया करते थे। बीसवीं शताब्दी में महात्मा गांधी (1869-1948) ने धार्मिक बहुलवाद की अवधारणा का पूरी ताकत से समर्थन किया तथा उन्होंने घोषणा की कि "एकीकृत रूप में विश्व का कभी भी कोई एक निश्चित धर्म नहीं होगा, और न ही ऐसा होना चाहिए। ईसाई धर्म एवं इस्लाम के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा कि अन्य धर्मों द्वारा खोजे गए कुछ सत्यों को अपने में समाहित करते हुए हिन्दू धर्म अपने आपको समृद्ध कर सकता है। "इस्लाम का पवित्र ग्रन्थ ध्यानपूर्वक पढ़ने पर हमें ऐसे अनेक अवतरण/पंक्तियाँ प्राप्त होती हैं जिन पर धार्मिक बहुलवाद की विचारधारा आधारित की जा सकती है। उदाहरण के लिए **'तुम्हारे लिए तुम्हारा धर्म और मेरे लिए मेरा'** (टी.एन. मदन)"। बीसवीं शताब्दी में कुरान के आधार पर धार्मिक बहुलवाद के विषय में तर्क प्रस्तुत करने का सबसे उल्लेखनीय कार्य मौलाना अबुल कलाम आज़ाद ने किया जो धार्मिक विषयों के एक बहुत बड़े विद्वान् एवं प्रसिद्ध नेता थे। भारतीय धर्मों के आधार पर धार्मिक बहुलवाद की एक ठोस विचारधारा विकसित करने हेतु गम्भीर एवं सार्थक प्रयासों की आवश्यकता है। इस सम्बन्ध में विचारणीय तथ्य राज्य द्वारा प्रश्रय प्रदान किया जाने वाला धार्मिक बहुलवाद है जिसे एक पंक्ति में **'सर्वधर्म समभाव'** (सभी धर्मों के प्रति समान आदर का भाव) द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त भारतीय धर्म-निरपेक्षता (पश्चिमी धर्मनिरपेक्षता से विपरीत) भी ध्यान देने योग्य एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है। "अनेक आधुनिक विचारकों के मत के ठीक विपरीत कि धार्मिक विश्वास अटूट एवं विशिष्ट होता है तथा इसके परिणामस्वरूप साम्प्रदायिक संघर्ष की स्थिति पैदा होती है, ऐसे अनेक ठोस ऐतिहासिक एवं नृजातिवर्णनीय (ethnographical) प्रमाण मिलते हैं जो यह सिद्ध करते हैं कि भारत की सामान्य जनता अपनी व्यक्तिगत धार्मिक पहचान के होते हुए भी धार्मिक बहुलवाद की स्थिति में अपने को अधिक सहज अनुभव करती है... यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि दो प्रमुख बहुलवाद– जन बहुलवाद एवं बौद्धिक वर्गों का बहुलवाद अनेक स्तरों पर एक दूसरे से भिन्न है। उदाहरण के लिए पहला पूर्णतः सहज एवं स्वाभाविक तथा सामाजिक यथार्थ है तो दूसरा वैचारिक, स्वचेतन अथवा संरचित है।" फिर भी धर्म, नागरिक समाज (civil society) एवं राज्य का पारस्परिक सम्बन्ध आधुनिक यथार्थ के तीन रूपों को प्रस्तुत करता है।

भारत में धर्म एवं धार्मिक समुदायों पर किए गए अध्ययनों में धार्मिक विचारधारा के रूप में सबसे कम जाने जाने वाले धर्म इस्लाम, ईसाई धर्म एवं सिक्ख धर्म हैं तथा धार्मिक समुदायों के रूप में सबसे कम विश्लेषित किए गए एवं अल्प ज्ञात समुदायों में इन्हीं धर्मों के अनुयायी आते हैं। अतः इन धर्मों एवं इनके अनुयायियों का विस्तृत अध्ययन 'धार्मिक अल्पसंख्यक' नामक अध्याय में किया गया है। यूहदियों की बहुत ही छोटी संख्या अब भारत में रह गई है, पारसी व बहाई

समुदाय भी जनसंख्या के दृष्टिकोण से बहुत कम हैं तथा इन पर अध्ययन भी शायद ही किये गये हैं इसलिये इन समुदायों को इस अध्याय में भी स्थान नहीं दिया जा सका है।

अन्तर-धार्मिक अंतःक्रिया व उसकी अभिव्यक्ति (Inter-religious Interaction and it's Manifestation)

विभिन्न धार्मिक समुदायों के बीच सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्तर पर गहन अंतःक्रिया इन समुदायों में एक-दूसरे के धर्मों के बीच परस्पर समन्वय होने के कारण ही सम्भव हो सकी। इसके अभाव में ऐसी कल्पना भी नहीं की जा सकती थी।

विभिन्न धर्मों के बीच परस्पर समन्वय एवं उसकी अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में सामाजिक यथार्थों पर अनेक मत रहे हैं। विचारों का एक समूह एक ऐसी स्थिति का प्रत्यक्षीकरण करता है जिसमें विभिन्न धर्मों के बीच होने वाले संघर्ष ने भारत की सामाजिक व्यवस्था को अत्यधिक हानि पहुँचाई है तथा इससे इस पूरी सामाजिक व्यवस्था को उलट-पुलट का खतरा भी पैदा हो गया है। उसकी इस स्थिति की अभिव्यक्ति बढ़ते हुए साम्प्रदायिक संघर्ष एवं हिंसा के रूप में होती है। विचारकों का एक अन्य वर्ग इससे भिन्न मत रखता है। वे इस अवधारणा को मुख्यतः 'नगरीय संभ्रान्त वर्ग' से सम्बन्धित मानते हैं तथा यह मुख्य रूप से नगरीय जनता से सम्बन्धित है क्योंकि साम्प्रदायिक संघर्ष मुख्यतः एक नगरीय अवधारणा है। नगरों में भी आम जनता इन संघर्षों में सक्रिय रूप से भाग नहीं ले रही है। सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक स्तर पर वे पर्याप्त रूप से अन्य समुदायों के साथ सहयोगपूर्वक रहते हैं। सम्भवतः इसीलिए कहा जाता है कि भारत में साम्प्रदायिकता की समस्या मुख्यतः 'शिक्षित मध्यम वर्गीय नगरीय जनता' से सम्बन्धित है। शहरी मलिन बस्तियों में रहने वाले एवं करोड़ों ग्रामीण लोग सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक स्तर पर एक दूसरे के साथ सौहार्द्र व परस्पर आश्रित रूप से रहते हैं। हाशिए पर रहने वाले ये लोग मानवीय शोषण की व्यथा का समान रूप से अनुभव करते हैं। "यह एक बिल्कुल अलग राजनैतिक मुद्दा है कि साम्प्रदायिक दंगों के दौरान ये लोग साम्प्रदायिक हिंसा के केन्द्र बन जाते हैं– ये हिंसा धार्मिक विभिन्नता के कारण उत्पन्न नहीं होती बल्कि इसका कारण तो यथार्थ में राजनैतिक एवं आर्थिक स्थितियाँ होती हैं" (जे.जे.रॉय बर्मन, 2002)।

विभिन्न धर्मों के बीच परस्पर अंतःक्रिया व समज्जन (syncretism) का एक सबसे महत्त्वपूर्ण प्रकटीकरण 'मिश्रिकरण' की अवधारणा के माध्यम से समझा जा सकता है। यह एक अत्यन्त प्राचीन सामाजिक अवधारणा है। दुर्भाग्यवश समाजशास्त्र एवं मानवशास्त्र में इस अवधारणा पर गम्भीरतापूर्वक विचार नहीं किया गया है। समज्जन या समन्वयवाद का आशय दो या दो से अधिक सांस्कृतिक परम्पराओं के सम्मिश्रण अथवा अन्तर्मिलन से है। मानवशास्त्र समज्जन की अवधारणा पर तुलनात्मक धर्म (comparative religions) के विचारकों के सन्दर्भ में प्रकाश डालता है, जिन्होंने इस शब्द का प्रयोग सन् 1600 ई. के प्रारम्भिक वर्षों में ही शुरू कर दिया था (प्रायः वे इस शब्द का प्रयोग शुद्ध ईसाई धर्म में होने वाली मिलावट की निन्दा करने हेतु करते थे। धर्मशास्त्रज्ञ (theologians) आज भी इस शब्द का प्रयोग धार्मिक व्यवस्थाओं के संदर्भ में करते

हैं'' (लेमॉन्ट लिंडर्स्टाम, 1996)। धार्मिक एवं सांस्कृतिक व्यवस्थाएँ जिन अन्य परम्पराओं के सम्पर्क में आती हैं उनके तत्त्वों को पुनर्विश्लेषित करते हुए वे आत्मसात् कर लेती हैं। मिश्रिकरण समय के साथ-साथ इन्हीं धार्मिक एवं सांस्कृतिक व्यवस्थाओं के विकास का एक सामान्य अभिलक्षण है। हालाँकि यह शब्द मुख्यतः सांस्कृतिक सम्पर्क द्वारा प्रजनित परिस्थितियों के संदर्भ में प्रयुक्त होता है, जो ऐसी धार्मिक व्यवस्थाओं को जन्म देती हैं, जो दो या दो से अधिक मतों अथवा परम्पराओं के मिश्रण से बनी हों। इसे किसी मत अथवा विश्वास की विभिन्न व्यवस्थाओं के पुनर्मिलन के रूप में भी परिभाषित किया जा सकता है। यहाँ सारग्राही या ग्रहणशील (eclectic) धर्म की अवधारणा का उल्लेख भी किया जा सकता है, जिसका विभिन्न धर्मों के सम्मिश्रण के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले नए धर्मों से है। यह केवल तभी सम्भव है जब दो धर्मों के अनुयायी एक दूसरे के धर्मों के तत्त्वों को आपसी समझपूर्वक ग्रहण करें।

विभिन्न धर्मों के बीच अंतःक्रिया एवं उसके प्रकटीकरण पर लघु एवं वृहद् परम्पराओं (Little and Great Traditions) के सन्दर्भ में भी विचार किया जा सकता है। किसी धर्म विशेष की वृहद् परम्परा, जो मुख्यतः पाठाश्रित (textual) होती है तथा उस धर्म के पवित्र ग्रंथों एवं महाकाव्यों द्वारा अभिव्यक्त होती है, जनसाधारण के प्रति अधिक प्रभावपूर्ण नहीं भी हो सकती है, किन्तु लघु परम्परा, जो स्थानीय स्वरूप की होती है, का आदान-प्रदान समाजशास्त्र एवं मानवशास्त्र के अध्येताओं के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। विशाल जनसमूह, मुख्यतः ग्रामीण क्षेत्रों की जनता अपनी लघु परम्पराओं पर ही आश्रित रहती है।

यदि हम विभिन्न धर्मों के बीच अंतःक्रिया पर ध्यानपूर्वक दृष्टि डालें, तो धार्मिक समूहों पर किया जाने वाला अध्ययन व्यक्तियों की स्वयं की पहचानों के क्षेत्रीय स्तर पर सम्मिश्रण के सन्दर्भ में देखा जा सकता है। ये क्षेत्र एक महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक सम्मिश्रण का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, जिसमें विभिन्न धर्मों, जातियों एवं मतों के लोगों को एक समान सांस्कृतिक परम्परा के सूत्र में बाँधकर एकीकृत किया गया है। ''यही सांस्कृतिक परम्परा इन व्यक्तियों को एक विशिष्ट पहचान प्रदान करती है। हिन्दुओं, मुसलमानों, ईसाइयों एवं सिक्खों की विशाल जनसंख्या एक क्षेत्रीय ढाँचे में ढल चुकी है। क्षेत्र की प्रकृति में उनकी जड़ें निहित हैं तथा वे इसके अभिन्न अंग हैं। उन्हें मात्र जनसंख्या सम्बंधी घटकों (demographic composition) के रूप में देखना सामाजिक यथार्थ के साथ खिलवाड़ होगा'' (ऐजाजुद्दीन अहमद, 1999)। हाल ही में *एन्थ्रोपॉलोजिकल सर्वे आफ इण्डिया* द्वारा किया गया एक महत्त्वपूर्ण सर्वेक्षण *'पीपुल्स ऑफ इण्डिया प्रोजेक्ट'* इस तथ्य का उद्घाटन करता है कि जाति एवं धर्म भिन्न होने के बावजूद भी एक क्षेत्र विशेष के लोगों में समान सांस्कृतिक परम्पराओं के 88 प्रतिशत तत्त्व समान रूप से पाए जाते हैं।

इतिहास पर दृष्टि डालने पर हम पाते हैं कि भक्ति आन्दोलन एवं सूफीवाद ने ऐसी सांस्कृतिक धाराओं को प्रस्फुटित किया, जिसने हजारों-लाखों हिन्दुओं एवं मुसलमानों को एक सूत्र में बाँधा। सूफियों की मजार हिन्दुओं एवं मुसलमानों, दोनों के ही लिए श्रद्धा का एक पवित्र स्थल है। अपने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ, Hindu-Muslim Syncretic Shrines and Communities (2002) में जे.जे. रॉय बर्मन महाराष्ट्र के सन्दर्भ में एक महत्त्वपूर्ण तथ्य का उद्घाटन करते हैं। **शास्त्रीय**

संगीत में मुस्लिम संगीतज्ञों की बड़ी उपस्थिति एक अन्य महत्त्वपूर्ण विचारणीय तथ्य है। हमारा शास्त्रीय संगीत, जो शास्त्रों एवं सरस्वती-उपासना से प्रेरणा ग्रहण करता है, अपने धर्म के प्रति पूर्णरूपेण श्रद्धान्वित मुसलमान संगीतज्ञों के जीवन का एक अभिन्न अंग रहा है। हिन्दू एवं मुस्लिम कृषक वर्ग की समान लघु परम्पराओं के अन्तर्गत क्षेत्रीय/आंचलिक देवी-देवताओं के प्रति श्रद्धा-भाव भी आता है। उदाहरण के लिए पूर्वी-उत्तर प्रदेश में **डिठवन** नामक एक आंचलिक त्यौहार मनाने से पूर्व गन्ना नहीं तोड़ा जा सकता। यह त्यौहार फसल को सर्वप्रथम स्थानीय देवी-देवताओं को अर्पित करने के लिए किया जाता है। मुसलमान कृषक भी इन देवी-देवताओं के प्रति समान श्रद्धा-भाव रखते हैं। उत्तर-भारत के अनेक भागों में बड़े-बड़े मन्दिरों में मुसलमान लोग फूलों की आपूर्ति करते हैं। इन मन्दिरों के देवी-देवता उनके लिये श्रद्धेय हैं। अयोध्या में खड़ाऊँ बनाने वाले अधिकांश कारीगर मुसलमान हैं। 'राम खड़ाऊँ' अयोध्या आने वाले तीर्थयात्रियों के लिए एक महत्त्वपूर्ण स्मृति-चिन्ह है तथा इन खड़ाऊँओं का निर्माण करके ये मुसलमान कारीगर श्रीराम के नाम का प्रसार करते हैं।

आमतौर पर हम देख सकते हैं कि एक हिन्दू श्रद्धालु मंगलवार को हनुमान मन्दिर से बाहर निकल कर रास्ते के किसी सूफी सन्त की मजार पर श्रद्धापूर्वक सिर झुकाना नहीं भूलता, इससे उसके **हिन्दुत्व** पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता। मुहर्रम के अवसर पर विशाल जनसमूह द्वारा किए जाने वाले मातम, ताजिए उठाने आदि में हिन्दू समुदाय के लोगों के सम्मिलित होने से यह तथ्य सामने आता है कि हिन्दू जनसमुदाय ने इमाम हुसैन को भी अपने एक सन्त के रूप में स्वीकार कर लिया है। साथ ही प्रकृति की विषमताओं व विपदाओं एवं विविध जीवन-परिस्थितियों से निपटने के लिए विभिन्न धर्मों के लोग एक दूसरे से हाथ मिलाकर साथ-साथ चलते हैं तथा उनके धर्मशास्त्रों में वर्णित नियम, विश्वास एवं संस्कार उन्हें ऐसा करने से रोक पाने में असमर्थ हो जाते हैं।

धर्म परिवर्तन (Religious Conversions)

भारत में धर्म परिवर्तन का मुद्दा सदैव से एक अत्यधिक भावोत्पादक व संवेदनशील मुद्दे के रूप में देखा गया है। साधारण शब्दों में 'धर्म परिवर्तन' को एक ऐसी प्रक्रिया के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिसके अन्तर्गत अपने धर्म से भिन्न कोई अन्य धर्म अंगीकार करने का व्यक्तिगत निर्णय समाहित होता है। यह व्यक्तिगत निर्णय व्यक्ति अकेले भी ले सकता है अथवा किसी समूह के सदस्य के रूप में भी। धर्म परिवर्तन का ऐतिहासिक, सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टि से हमेशा विरोध किया गया है। धर्म परिवर्तन के उत्तरदायी कारकों में से प्रमुख हैं– सामाजिक-राजनीतिक उथल-पुथल तथा दुःख, उपद्रव, निराशा, संघर्ष, अपराधबोध एवं आत्मबोध के लिए उत्तरदायी मनोवैज्ञानिक कारक आदि। भारतीय संदर्भ में धर्म परिवर्तन मुख्यतः हिन्दू धर्म से इस्लाम, ईसाई धर्म, बौद्ध धर्म, सिक्ख धर्म आदि के बीच में तथा हिन्दू धर्म के अन्तर्गत भी एक हिन्दू सम्प्रदाय से दूसरे हिन्दू सम्प्रदाय के बीच हुआ है। जहाँ तक हिन्दू धर्म से इस्लाम, ईसाई अथवा बौद्ध धर्म में परिवर्तन का सम्बन्ध है तो यह मुख्यतः निम्न हिन्दू जातियों (विशेषकर दलित जातियाँ) के लोग करते रहे हैं। स्पष्टतः यह अत्यधिक दमनात्मक एवं शोषक जाति व्यवस्था का

परिणाम था तथा निम्न हिन्दू जातियों ने धर्म परिवर्तन को स्वयं को दासता से मुक्त कराने वाले एक आन्दोलन के रूप में देखा। साथ ही दलितों द्वारा धर्म परिवर्तन करने से उन्हें सामाजिक, राजनैतिक एवं वैचारिक रूप से शक्ति भी प्राप्त हुई।

ईसाई मिशनों ने धर्म परिवर्तन के विचार को आधार प्रदान करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई किन्तु धर्म परिवर्तन की उनकी अपील मुख्यतः दलितों के लिए थी। "यद्यपि ऐसा सोचना गलत होगा कि भारत आने वाले ईसाई धर्म प्रचारक सामाजिक न्याय एवं समानता की भावना से ओतप्रोत थे। इसके ठीक विपरीत उन्होंने तुरन्त यह बात भाँप ली कि यदि वे निम्न जातियों की ओर अधिक रुचि प्रकट करेंगे तो वे इन्हीं जातियों तक सीमित होकर रह जायेंगे तथा जनसंख्या के एक बड़े भाग से पूरी तरह अलग-थलग हो जायेंगे। इसीलिए प्रारम्भिक धर्म प्रचारकों ने उच्च जातियों की ओर अधिक ध्यान दिया" (राबर्ट डिलीज, 1999)। किन्तु उच्च जातियों के लोगों ने इन प्रचारकों की बातों पर विशेष ध्यान नहीं दिया तथा उन्होंने धर्म परिवर्तन करने में अरुचि प्रकट की। अन्त में इन धर्म प्रचारकों को निम्न जातियों से सकारात्मक प्रतिक्रिया प्राप्त हुई तथा पूरे भारत में बड़ी संख्या में अछूत जातियों ने ईसाई धर्म अंगीकार किया। धर्म परिवर्तित करने वाले दलितों की प्रतिक्रिया के विषय में बात करते हुए डिलीज कहते हैं कि यद्यपि दक्षिण भारत के वेल्लरों को कैथोलिक चर्च द्वारा कैथोलिक धर्म की पुरोहित जाति का स्तर प्रदान किया गया किन्तु जाति बन्धन एक बार पुनः सक्रिय हो गए तथा ईसाई धर्म अंगीकार करने वाले अछूतों ने स्वयं को हाशिए पर पाया। उदाहरण के लिए नादर, पेरियारों को अपने चर्च में प्रवेश नहीं करने देते थे। अतः कैथोलिक अछूतों ने अपने को अत्यन्त शोचनीय स्थिति में पाया। उन्होंने अधिकांश अधिकारियों द्वारा किए जाने वाले उनके तिरस्कार पर जोर देते हुए कहा कि ईसाई बनने से उन्हें कोई लाभ नहीं हुआ। धर्म के सम्बन्ध में उनका ज्ञान भी अत्यन्त सीमित है। इसलिए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि इनमें से कुछ पुनः धर्म परिवर्तन करके हिन्दू धर्म की ओर लौट आते हैं ताकि उन्हें पुनः अनुसूचित जातियों के वर्ग में डाल दिया जाए। उनके बहुसंख्यक वर्ग के जीवन में उनका धर्म इतनी गहराई से जुड़ा है कि वे धर्म परिवर्तन करने की सोच भी नहीं सकते। प्रोटेस्टेन्ट चर्च विशेष रूप से पंजाब में सक्रिय था। पंजाब की सबसे बड़ी अछूत जाति चूढ़ा ईसाई धर्म की ओर सबसे अधिक आकर्षित थी किन्तु धर्म परिवर्तन ने इन दलितों के भौतिक जीवन एवं सामाजिक स्तर पर कोई खास प्रभाव नहीं डाला जबकि उन्हीं की प्रतिरूप अनुसूचित जातियों ने अपनी सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति में बहुत सुधार कर लिया।

धर्म परिवर्तन के बावजूद भी समाज में असमानता की व्याप्ति कई लोगों के लिए उत्सुकता का विषय है। जैसा कि रोवीना रॉबिन्सन (2001) कहती हैं, "सामान्य समझ के ठीक विपरीत, जो यह समझने में समर्थ नहीं है कि एक समानतावादी विचारधारा किस प्रकार असमानताओं को अनदेखा कर देती है, यह कहा जा सकता है कि ईसाई धर्म प्रचारकों ने हमेशा और हर जगह ही जाति एवं इसके विविध रूपों का विरोध नहीं किया.... धर्म परिवर्तित करने वालों ने ही प्रायः धर्म प्रचारकों द्वारा समानतावादी सम्बन्धों की स्थापना करने के प्रयासों का विरोध किया; 'उच्च जातियों ने इस बात पर पूरा जोर दिया कि उनकी 'सामाजिक प्रतिष्ठा' पर किसी प्रकार की आँच न आए

तथा उनकी उच्च स्थिति ज्यों की त्यों बनी रहे। जन आन्दोलनों के रूप में धर्म परिवर्तित करने वाले समुदायों ने सोचा होगा कि ऐसा करके वे जाति व्यवस्था के दमनात्मक ढाँचे से स्वयं को मुक्त करा सकेंगे किन्तु या तो धर्म प्रचारकों द्वारा गम्भीर प्रयास न करने अथवा समुदाय विशेष के अन्तर्गत परिवर्तित उच्च जातियों द्वारा विरोध करने के कारण उनकी यह आशा पूरी न हो सकी।'' केरल में पुलाया तथा पराया जैसी अस्पृश्य जातियों से धर्म परिवर्तित करने वाले अधिकांशतः भूमिहीन मजदूर होते हैं तथा वे सीरियन ईसाइयों एवं अन्य भूस्वामी जातियों के लिए काम करते हैं। सीरियन ईसाइयों एवं धर्म परिवर्तित करने वाली अस्पृश्य जातियों के बीच सहभोज अथवा विवाह का तो प्रश्न ही नहीं उठता। कई जगह तो ये अस्पृश्य लोग अपने अलग गिरिजाघरों में पूजा करते हैं। तमिलनाडु के ग्रामीण क्षेत्रों में धर्म परिवर्तित करने वाले अछूत उच्च जातियों से पूर्णतः पृथक् माने जाते हैं। शुद्धता एवं अशुद्धता की भावना वहाँ विद्यमान रहती है।

दलितों द्वारा इस्लाम धर्म अंगीकार करना एक पुरानी बात हो चुकी है। इतिहास पर दृष्टि डालने पर हमें पता चलता है कि ज्यादातर दलितों ने इस्लाम धर्म मध्यकाल एवं औपनिवेशिक काल में अपनाया और इसी कारण हम देखते हैं कि भारत में मुस्लिम जनसंख्या का अधिकांश भाग धर्म परिवर्तित करने वाली निम्न हिन्दू एवं अस्पृश्य जातियों का है। इस्लाम धर्म अंगीकार करने से न केवल उन्हें अनेक सामाजिक एवं आर्थिक समस्याओं से मुक्ति मिली बल्कि इसने उन्हें राजनीतिक रूप से भी सुदृढ़ स्थिति प्रदान की। विचारणीय तथ्य यह है कि मुसलमान शासकों ने निम्न जातियों से धर्म परिवर्तित कराने में अधिक रुचि नहीं ली तथा भारतीय इस्लाम की ईसाई धर्म की तरह धर्म प्रचारक संस्थाएँ भी नहीं थीं जो सुनियोजित ढंग से जनता को धर्म परिवर्तित करने की प्रेरणा प्रदान करें, फिर भी मुस्लिम समाज का एक बड़ा भाग धर्म परिवर्तित करने वाली निम्न हिन्दू जातियों का हो गया, जिन्हें सामाजिक एवं राजनैतिक रूप से इस्लाम एक उद्धारक विचारधारा (emancipatory ideology) प्रतीत हुआ। ईसाई धर्म की ही तरह इस्लाम भी या तो जाति/सामाजिक श्रेणीकरण सम्बन्धी भेदभाव मिटा न सका या इसने ऐसा करने का ज़ोरदार प्रयास ही नहीं किया। स्वतन्त्रता के बाद धर्म परिवर्तन के पहले मामले सन् 1980 के दशक में तमिलनाडु के रामनन्द एवं तिरुनलवेली जिलों में दिखाई दिए। थेवर तथा पल्लर जातियों के बीच स्थानीय स्तर पर होने वाले जातीय संघर्षों ने इन धर्म परिवर्तनों में बहुत बड़ी भूमिका अदा की तथा मीनाक्षीपुरम विवाद का केन्द्रबिन्दु बन गया। अपनी प्रकृति से यह घटना अत्यधिक राजनैतिक थी तथा इसे स्थानीय प्रभुतासम्पन्न जाति के अत्याचारों के विरुद्ध स्थानीय अछूतों द्वारा छेड़े जाने वाले एक 'विद्रोह' के रूप में देखा जा सकता है। धर्म परिवर्तन करके इस्लाम धर्म अंगीकार करने की इन घटनाओं ने बहुत से हिन्दुओं के बीच भय एवं असन्तोष पैदा कर दिया। कई मंत्रियों, राजनेताओं, गुरुओं एवं समाज के विभिन्न तबकों से अनेक लोगों को इस प्रवृति पर रोक लगाने एवं 'भटके हुए लोगों' को सही राह दिखाने के लिए भेजा गया। अतः हिन्दुओं के बीच धर्म परिवर्तन करके इस्लाम धर्म अंगीकार करना एक अत्यधिक भावोत्तेजक व संवेदनशील मुद्दा बन गया। ऐसा प्रतीत होता है कि स्थानीय मुस्लिम समुदाय ने धर्म परिवर्तन करने वाले लोगों को स्वीकार कर लिया है किन्तु पल्लरों पर धर्म परिवर्तन के प्रभाव का मूल्यांकन इतनी जल्दी नहीं किया जा सकता। स्वतंत्रता बाद

के भारत की वर्तमान सामाजिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों में दलित वर्गों द्वारा इस्लाम धर्म अंगीकार करने की विस्तृत संभावनाएँ नहीं दिखती हैं तथा मीनाक्षीपुरम की घटना एक बिलकुल अलग किस्म की घटना प्रतीत होती है। मीनाक्षीपुरम मुख्यतः दलितों की समानता एवं मुक्ति पाने की इच्छा का प्रतीक है न कि मुसलमानों द्वारा 'हिन्दू भारत' को दी जाने वाली किसी चुनौती का। सदियों से हिन्दू धर्म या हिन्दूवाद ने पुनर्जनन या पुनरुज्जीवन (regeneration) करने की अद्वितीय क्षमता का प्रदर्शन किया है तथा आज भी यह विचार करने को तो प्रश्न ही नहीं उठता कि इस बार वह ऐसा नहीं कर पाएगा। हिन्दू समाज में सुधार आन्दोलन छिड़ने ही चाहिए तथा दलितों को सामाजिक एवं राजनैतिक क्षेत्रों में बेहतर स्थिति प्राप्त होनी चाहिए। भारतीय जनता के जीवन में धर्म को इतना अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है कि इसे छोटे-मोटे एवं कमजोर कारणों से परिवर्तित नहीं किया जा सकता।

यदि हम वर्तमान भारतीय समाज पर ध्यानपूर्वक दृष्टि डालें तो हम पाते हैं कि इसमें कोई गम्भीर समाजशास्त्रीय समस्याएँ विद्यमान नहीं हैं। आधुनिकीकरण एवं धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रक्रियाएँ संरचनात्मक एवं सांस्कृतिक स्तर पर भारतीय समाज पर प्रभाव डाल रही हैं। इसके अतिरिक्त पिछड़े वर्गों जैसे– अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों एवं अन्य पिछड़ी जातियों के निमित्त 'सुरक्षात्मक भेदभाव' (protective discrimination) की नीति अंगीकार करने के कारण सामाजिक गतिशीलता को प्रेरणा प्रदान करने वाले माध्यम के रूप में धर्म परिवर्तन अपना प्रभाव खो चुका है। आज धर्म परिवर्तित करके बौद्ध धर्म स्वीकारने के मामले सबसे अधिक प्रकाश में आते हैं किन्तु इससे सामाजिक सौहार्द्र को कोई खतरा पैदा नहीं होता। धर्म परिवर्तित करके बौद्ध धर्म स्वीकार करने वाले नव-बौद्ध तथा नव-सिक्ख उन समस्त सुविधाओं का लाभ उठाते रहते हैं जो अनुसूचित जातियों को प्रदान की जाती हैं। इससे दलितों द्वारा धर्म परिवर्तित करके ईसाई धर्म अथवा इस्लाम धर्म अंगीकार करने की संभावनाएँ भी लगभग समाप्त हो जाती हैं। फिर भी यदि कुछ एक दलित लोग इन धर्मों को अंगीकार करते हैं, तो इसे उनकी व्यक्तिगत श्रद्धा/विश्वास एवं अंतरात्मा की उस स्वतंत्रता की अभिव्यक्ति माना जा सकता है, जो उन्हें संविधान द्वारा प्राप्त है।

❑

अध्याय 13

व्यक्तिगत कानून/नियम एवं समान नागरिक संहिता के मुद्दे

(Issues in Personal Laws and Uniform Civil Code)

भारत को 'समान नागरिक संहिता' अंगीकार करनी चाहिए अथवा नहीं– यह वस्तुतः एक कानूनी प्रश्न है। संविधान का अनुच्छेद 44 कहता है– "राज्य को सम्पूर्ण भारतवर्ष में समस्त नागरिकों के लिए एक समान नागरिक संहिता बनाने का प्रयास करना चाहिए।" किन्तु इस सम्बन्ध में अनेक सामाजिक-राजनैतिक एवं सांस्कृतिक अड़चने हैं तथा यही कारण है कि इस मुद्दे का लाभ अनेक निहित स्वार्थ रखने वाले तत्त्व राजनैतिकरण करके उठाते रहे हैं।

व्यक्तिगत कानून बनाम समान नागरिक संहिता का मुद्दा विशेष रूप से मुसलमानों एवं ईसाइयों का तथा सामान्य संदर्भ में सम्पूर्ण देश का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करता रहा है। और ऐसा होना स्वाभाविक भी है क्योंकि यह मुद्दा करोड़ों लोगों के सामाजिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक हितों से जुड़ा है। यह मात्र एक बहस का मुद्दा नहीं बल्कि एक व्यावहारिक समस्या है जिसका समाधान तथा उस समाधान तक पहुँचने के तरीकों के, विशेषरूप से धार्मिक अल्पसंख्यकों के लिए, दूरगामी परिणाम होंगे। सिद्धान्ततः विभिन्न धार्मिक अल्पसंख्यक वर्गों के व्यक्तिगत कानूनों में यह प्रावधान है कि कानून लागू करने वाले न्यायालय विभिन्न धर्मों के सिद्धान्तों व नियमों के अनुसार ही निर्णय करेंगे किन्तु वास्तविकता यह है कि यह स्वतंत्रता केवल विवाह, विवाह-विच्छेद, उत्तराधिकार, दान-निधि एवं सम्बन्धित मामलों तक ही सीमित है। ऐसा अंग्रेजी शासन काल से होता चला आ रहा है। विवाह, विवाह-विच्छेद, उत्तराधिकार, संरक्षा (wardship) आदि के नियम जो विभिन्न धार्मिक व्यवस्थाओं के महत्त्वपूर्ण अंग माने जाते हैं, अनिवार्य रूप से मानव जीवन के सामाजिक पक्षों से सम्बन्धित हैं।

भारत के समस्त नागरिकों पर समान नागरिक संहिता लागू करने का विषय एक विवादास्पद मुद्दा रहा है जिसको अब राजनैतिक रंग दे दिया गया है। अतः इस समस्या को अच्छी तरह से समझने के लिए इसका तटस्थ व वस्तुनिष्ठ (objective) विश्लेषण आवश्यक है। इस मुद्दे ने जनमत को दो भागों में बांट दिया है। एक वर्ग के लोग कहते हैं कि भारतीय संविधान समस्त नागरिकों को सांस्कृतिक एवं धार्मिक स्वतंत्रता प्रदान करने हेतु प्रतिबद्ध है अतः धार्मिक अल्प-संख्यक वर्गों को समान नागरिक संहिता के नाम पर इस स्वतंत्रता से वंचित नहीं करना

चाहिए। साथ ही भारत जैसे बहु-धार्मिक समाज में विवाह, विवाह विच्छेद, उत्तराधिकार (धार्मिक नियमों द्वारा परिचालित) आदि के सम्बन्ध में एक ही सामाजिक संहिता न तो लागू की जा सकती है और न ही की जानी चाहिए। दूसरा वर्ग यह कहता है कि राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता के लिए समान नागरिक संहिता अनिवार्य रूप से आवश्यक है क्योंकि राष्ट्रीय अखण्डता बनाए रखने के लिए ऐसे मामलों में समानता होना अपेक्षित है, साथ ही धार्मिक समुदायों (या यूँ कहें कि धार्मिक अल्पसंख्यक वर्गों) के अधिकार सामान्य मानव अधिकारों से किस प्रकार भिन्न हो सकते हैं?

संविधान के अनुसार चूंकि नागरिकों को धार्मिक स्वतंत्रता संविधान द्वारा प्रदान की गई है इसलिये किसी भी प्रकार के धार्मिक कार्य से या गतिविधि से सम्बन्धित किसी धर्मनिरपेक्ष कार्यवाही (secular activity) पर नियन्त्रण लगाने का अधिकार भी राज्य के पास सुरक्षित है। तो क्या लोक व्यवस्था, नैतिकता एवं सामाजिक स्वास्थ्य को बनाए रखने के लिए धार्मिक स्वतंत्रता पर नियन्त्रण रखने की राज्य की शक्ति नहीं होना चाहिये ? अनिवार्य एवं गैर-जरूरी वैकल्पिक धार्मिक क्रियाकलापों के बीच अन्तर बनाए रखाते हुए न्यायालय समय-समय पर निर्णय लेते आए हैं।

सन् 1950 ई. में हिन्दू संहिता विधेयक पारित होने के बाद से मुस्लिम व्यक्तिगत कानून, ईसाई व्यक्तिगत कानून एवं कुछ अंशों में पारसी व्यक्तिगत कानून विवादास्पद मुद्दे रहे हैं। ऐतिहासिक रूप से भारत में इस्लाम मुख्य रूप से एक राजनैतिक सत्ता के रूप में क्रियाशील रहा न कि कानूनी व्यवस्था के रूप में। तथाकथित 'मुस्लिम शासन' के अन्तर्गत कभी भी शरीयत बलपूर्वक लागू नहीं की गई। मुस्लिम व्यक्तिगत कानून मूल रूप से लॉर्ड मैकाले की प्रेरणा पर किया गया कुछ **उलेमाओं** (धर्म विद्वानों) का संकलन मात्र है, यह कई पहलुओं से औरंगजेब के शासन काल में न्यायिक निर्णयों से सम्बन्धित **फतूहात-ए-आलमगीरी** पर आधारित है। बाद में इसमें कुछ नवीन तथ्य अन्तर्निहित हो गये तथा यह मोहम्मदी कानून (Mohammadan Law) के नाम से जाना जाता है। इसमें अंग्रेजी शासन काल के दौरान प्रिवी-काउंसिल द्वारा लिये गये निर्णयों एवं विभाजन पूर्व की केन्द्रीय सभा के मुसलमान सदस्यों द्वारा प्रस्तावित कानून निर्माण सम्बन्धी नियमों द्वारा पर्याप्त रूप से परिवर्तन हुएं हैं।

हिन्दू धर्म से ईसाई धर्म अंगीकार करने वाले लोगों के विवाह-विच्छेद के लिए जब अंग्रेज-ईसाई शासकों ने सन् 1866 ई० में Converts Marriage Dissolution Act लागू किया, तभी से उन्होंने अपने हितों के लिए भी विशेष कानूनों का लागू करना प्रारम्भ कर दिया। तत्पश्चात्, उन्होंने **ईसाई विवाह अधिनियम 1872** लागू किया। हालाँकि भारतीय ईसाइयों पर समान रूप से कोई एक नागरिक कानून लागू नहीं होते हैं। मिजोरम, नागालैण्ड, मेघालय के तथा गोवा, केरल, मणिपुर आदि में भी बड़ी संख्या में रहने वाले ईसाई तथा शेष भारत में छोटे-छोटे समूहों में दिखने वाले ईसाइयों के समाज में केन्द्रीय एवं क्षेत्रीय वैधानिक नियमों के साथ अनेक अन्य धार्मिक नियम व प्रथायें लागू होती हैं। सन् 1994 ई. में कुछ सुधारों हेतु पारित प्रस्ताव, जिसका प्रमुख ईसाई संस्थाओं ने पूरा समर्थन किया था, आज भी विचाराधीन हैं।

पारसी क़ानून का संहिताकरण (codification) सर्वप्रथम सन् 1865 ई. में किया गया,

जब पारसी धर्म विद्वानों के विचार एवं उनकी सहमति पर सरकार ने **पारसी उत्तराधिकार अधिनियम** व **पारसी विवाह एवं विवाह-विच्छेद अधिनियम** बनाया।

सर्वविदित है कि मुस्लिम, ईसाई एवं पारसी व्यक्तिगत क़ानूनों में से **मुस्लिम व्यक्तिगत कानून** ही समान नागरिक संहिता के समर्थकों का मुख्य निशाना रहा है। अतः इसकी कुछ विस्तृत व्याख्या करने की आवश्यकता है। इकबाल ए. अन्सारी (1994) **मुस्लिम व्यक्तिगत कानून** में कुछ सुधार खोजने का प्रयत्न करते हैं। वे इस ओर संकेत करते हैं कि किस प्रकार मुलसमान **उलेमा** समानता, न्याय, स्वतंत्रता एवं सम्मान की दिशा में सामाजिक विकास की प्रक्रिया की ओर उपयुक्त रूप से ध्यान नहीं दे पाते, जो किसी भी प्रकार के सुधार का विरोध करने हेतु उत्तरदायी कारक हैं। समानता एवं न्याय इस्लाम एवं आधुनिक मानवतावाद के समान रूप से संजोए गये मूल्य हैं। तो फिर कोई भी मुस्लिम कानून, और वो भी विशेष रूप से बहुविवाह, आसान विवाह-विच्छेद, तलाकशुदा पत्नी के रखरखाव एवं पैतृक सम्पत्ति में पुत्रियों के अधिकार से सम्बन्धित कानून इसके विरुद्ध कैसे जा सकता है? एक समय में एक से अधिक पत्नियाँ रखने की अनुमति एक 'सीमित स्वतन्त्रता' ही है। यह तथ्य अरब के इस्लाम में प्रादुर्भाव एवं विकास के परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है। केवल तीन बार **तलाक,... तलाक,.... तलाक** कहकर पल भर में तलाक दे देने की प्रथा को कई मुस्लिम विद्वानों ने इस्लाम की मूल आत्मा के सख्त विरुद्ध माना है तथा उनका मत है कि इस पर शीघ्रातिशीघ्र रोक लगाई जानी चाहिए। जायदाद में भाइयों एवं बहनों के असमान बँटवारे के पीछे सामान्यतः यह तर्क दिया जाता है कि पुरुषों पर परिवार के पालन-पोषण का वैधानिक दायित्व होता है जबकि धनवान होने पर भी स्त्रियों पर इस तरह की कोई जिम्मेदारी नहीं होती। इस तरह के विषयों पर मुस्लिम कानून में किसी तरह के सुधार की प्रबल माँग नहीं की जाती है। "इनका सम्बन्ध अधिकांशतः सम्पत्तियुक्त एवं शिक्षित स्त्रियों से माना जाता है। वस्तुतः तलाकशुदा स्त्री के वैवाहिक सम्पत्ति (matrimonial property) में अधिकार को वैधानिक संरक्षण प्राप्त होने की आवश्यकता है जिसका धार्मिक आधार पर मुलसमानों द्वारा विरोध नहीं किया जा सकता है। कुछ मुस्लिम देशों में तो स्त्रियों को **निकाहनामें** (वैवाहिक करार) के द्वारा यह अधिकार प्रदान किया भी गया है" (इकबाल अन्सारी)। इस्लाम के प्रगतिशील विश्लेषण एवं आधुनिकता विरोधी विचारों की अधिकांश मुसलमानों में पाई जाने वाली प्रवृत्ति के मूल कारण निम्न हैं:-

1. भारत में **उलेमा** (धार्मिक विद्वान्) राजनैतिक रूप से साम्राज्य विरोधी एवं अंग्रेज-विरोधी थे। वे पश्चिम की ओर सन्देह एवं विद्वेष की नज़र से देखते थे तथा वर्तमान में भी यह बात काफी हद तक सही है।
2. भारतीय प्रायद्वीप में मुसलमानों में व्याप्त 'घिरा होने की मानसिकता' (siege mentality) जो उसके विरुद्ध साम्प्रदायिक द्वेष की भावना से और भी अधिक प्रज्ज्वलित होती है।
3. भारत में मुसलमानों की सदियों से चली आ रही सामाजिक-आर्थिक एवं शैक्षिक पिछड़ेपन की स्थिति।

राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग के पूर्व अध्यक्ष एवं प्रख्यात कानून विशेषज्ञ ताहिर महमूद (1995) संविधान के अनुच्छेद 44 एवं उसके विश्लेषण के विषय में कुछ महत्त्वपूर्ण बिन्दु उठाते हैं। वह कहते हैं कि संविधान का अनुच्छेद 44 ऐसे किसी भी कानून निर्मात्री निकाय की बात नहीं करता जिसे समान नागरिक संहिता बनाने का अधिकार प्राप्त हो। यह केवल इतना कहता है कि राज्य को सम्पूर्ण भारतवर्ष में समस्त नागरिकों के लिए समान नागरिक संहिता बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। इस अनुच्छेद में अत्यन्त सावधानीपूर्वक किये गये शब्दों के प्रयोग अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इसके प्रत्येक शब्द पर गहन रूप से ध्यान देने की आवश्यकता है। इस सम्बन्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाए सकते हैं। जैसे-

1. संहिता बनाने का 'प्रयास' (endevouring) करना क्या कानून 'निर्माण' के समान है?
2. नागरिक संहिता का अर्थ एवं महत्त्व क्या है? समान (uniform) शब्द के माध्यम से क्या अभिव्यक्त किया जा रहा है?
3. 'Uniform' (एकसार, एकरूप) तथा 'Common' (सामान्य, समान) शब्दों का प्रयोग क्या एक दूसरे के स्थान पर (Interchangeably) किया जा सकता है?
4. संविधान के अनुच्छेद 44 में प्रयुक्त खंड throughout the territory of India (भारत के सर्वत्र क्षेत्रों में) से क्या तात्पर्य है तथा इसका क्या महत्त्व है?
5. समान नागरिक संहिता क्या अनिवार्य रूप से भारत के समस्त नागरिकों पर लागू होनी चाहिए?

'संहिता' (Code) शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया गया है। इसका तात्पर्य एक विस्तृत संविधि/अधिनियम से हो सकता है (उदाहरण के लिए भारतीय दण्ड संहिता), किन्तु इसका आशय एक ही विषय से सम्बन्धित विभिन्न संविधियों के निकाय से भी हो सकता है। क्या संविधान पारिवारिक नियमों के सम्बन्ध में कठोर एकरूपता के विषय में बात करता है? क्या ऐसी एकरूपता यथार्थ में सम्भव है? निकट भविष्य में अनुच्छेद 44 के सहजता, शान्ति एवं सौहार्द्रपूर्वक कार्यान्वयन के लिए इन सब प्रश्नों पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना आवश्यक है। क्या संविधान **समान नागरिक संहिता** को अपने आप में एक लक्ष्य का दर्जा देता है? अथवा इसका तात्पर्य एक उद्देश्य विशेष की प्राप्ति के लिए प्रयुक्त होने वाले साधनों से है? एकरूपता उद्देश्यविहीन लक्ष्य नहीं हो सकता। अतः अनुच्छेद 44 को लागू करने के मानक इसके लक्ष्यों एवं उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए निर्धारित किए जाने चाहिए। इसके अतिरिक्त कुछ लोगों ने वैकल्पिक (optional) नागरिक संहिता का मुद्दा भी उठाया है।

समान नागरिक संहिता लागू किए जाने की माँग के राजनैतिक पक्ष पर दृष्टि डालने पर हमें कई समस्या उत्पन्न करने वाले कारक दिखाई देते हैं। जब एक ऐसा राजनैतिक दल, जो **हिन्दुत्व** को राष्ट्रवाद का पर्याय मानता है, यह दावा करता है कि **समान नागरिक संहिता** का आशय हिन्दू नियम-कानूनों से नहीं है, तो भला इस दावे पर कौन विश्वास करेगा। इस अनुच्छेद विशेष को चुनाव का मुद्दा क्यों बनाया गया? संविधान के अन्य **नीति निर्देशक तत्त्वों,** जैसे- "सभी

बच्चों के लिए अनिवार्य मुफ्त शिक्षा" (अनुच्छेद 45) आदि, किसी राजनैतिक दल के चुनाव का मुद्दा क्यों नहीं बनते? वह राजनैतिक दल, जो समान नागरिक संहिता का सबसे बड़ा समर्थक है, आखिर पचास वर्षों में आज तक राष्ट्रीय बहस के लिए ऐसी संहिता का कोई निश्चित प्रारूप (model uniform civil code) क्यों नहीं बना पाया?

समान नागरिक संहिता से सम्बन्धित इन सभी विवादों एवं प्रतिविवादों को अलग रख दें, तब भी वास्तविकता यह है कि कोई भी कानून या नियम अपरिवर्तनीय नहीं माना जाना चाहिए तथा उसे आधुनिक समय की तेजी से परिवर्तित होती हुई स्थितियों के प्रति रचनात्मक प्रतिक्रिया व्यक्त करनी चाहिए। **कुरान** के सिद्धान्त न्याय की अवधारणा पर विशेष बल देते हैं तथा यदि नियम व कानून अपरिवर्तनीय हो जाएँ, तो यह अपनी न्याय की प्रवृत्ति खो देते हैं। धार्मिक समुदायों के व्यक्तिगत कानूनों में सुधार धार्मिक स्वतंत्रता की भावना में हस्तक्षेप नहीं करता। आधुनिकीकरण की प्रक्रिया द्वारा उत्पन्न चुनौतियों के प्रतिक्रियात्मक रूप में टर्की, ईरान, मिस्र, ट्यूनीशिया, जॉर्डन, मोरक्को, सीरिया एवं अन्य अनेक मुस्लिम देशों ने महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किए हैं। यह सत्य है कि एक संरक्षित एवं सुरक्षित अल्पसंख्यक वर्ग ही सुधारों का स्वागत करता है, किन्तु ऐसे सुधार केवल समुदाय विशेष के लिए ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण देश के हित में होते हैं। जब ऐसे सुधारों की माँग ऐसे लोगों द्वारा की जाती है, जो उनकी समस्याओं के प्रति सहानुभूति रखते हैं, तब तो इन माँगों पर पर्याप्त ध्यान दिया जाता है किन्तु जब ऐसी माँग ऐसे असहिष्णु तत्त्वों द्वारा की जाती हैं, जो अल्पसंख्यक वर्गों के विद्वेष का मजा उठाते हैं, तो या तो इन माँगों पर कोई विचार नहीं किया जाता अथवा पूर्णतः अस्वीकार कर दिया जाता है। इन तथ्यों को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता।

❑

अध्याय 14

धर्मनिरपेक्षवाद (इहलौकिकवाद), साम्प्रदायिकता एवं मूलतत्त्ववाद (Secularism, Communalism and Fundamentalism)

वर्तमान युग में भारत जैसे पारंपरिक देश में ऊपर दिये तीनों विषयों को अलग-अलग भी देखा जा सकता है तथा अन्तर्संबंधित रूप में भी।

धर्मनिरपेक्षता एवं धर्मनिरपेक्षीकरण (Secularism and Secularization)

शुद्ध समाजशास्त्रीय अर्थों में धर्मनिरपेक्षीकरण (इहलौकिककरण) का तात्पर्य एक विशिष्ट विचारधारा से है तथा यह शब्द ठोस रूप से विचारधारात्मक निहितार्थ की ओर संकेत करता है किन्तु भारत में यह शब्द आम तौर पर विचारधारा के सन्दर्भ में प्रयुक्त नहीं होता। सर्वप्रथम हम शुद्ध समाजशास्त्रीय अर्थों में इस शब्द के विचारधारात्मक पक्ष पर दृष्टि डालते हैं। सैद्धान्तिक पटल पर, जैसा कि एमिल दुर्खीम कहते हैं, संसार की सभी चीजें जैसे– मान्यताएँ, मिथक, सिद्धान्त, क्रियाएँ एवं मनुष्य-या तो पवित्र (sacred) हैं अथवा इहलौकिक-भौतिक (secular)। धर्म से सम्बन्धित सभी बातें 'पवित्र' मानी जाती हैं तथा इस विचार के अनुसार सभी पारम्परिक समाज मूलरूप से 'पवित्र समाज' (Sacred Societies) हैं क्योंकि उनका सामाजिक जीवन धर्म-सम्बन्धी नियम व परम्पराओं से संचालित होता है। इन समाजों के सदस्यों के क्रियाकलापों पर नियन्त्रण रखने वाली शक्ति धर्म है। धर्मनिरपेक्षता (सेक्युलरवाद) की मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं–

1. 'चर्च' एवं 'राज्य' के बीच अधिकारों का विभाजन
2. 'अन्य लोक' (आलोक) के बजाय 'इस लोक' (इहलोक) पर बल
3. बौद्धिक तर्कवाद (rationalism) एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण।

धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा इस विचार पर आधारित है कि राज्य पर चर्च, अर्थात् धर्म अधिकारियों– जैसे- पादरी, पण्डित, मुल्ला अथवा खलीफा का नियन्त्रण नहीं होगा। सामाजिक जड़ता जैसे– भाग्यवाद एवं दैवीय प्रतिशोध आदि का प्रतिपादन करने वाले सिद्धान्तों की धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा में कोई जगह नहीं है। धर्मनिरपेक्षता की सबसे प्रमुख पहचान बुद्धिवाद है। धर्मनिरपेक्ष (आधुनिक) समाज धर्म के विरुद्ध नहीं है किन्तु यह अंधविश्वास, असहिष्णुता,

धर्मान्धता एवं प्रगति-विरोध का कट्टर विरोधी है। किसी समाज का जन्म धर्मनिरपेक्ष (सेक्युलर) समाज के रूप में नहीं होता। वस्तुतः आज जो समाज धर्मनिरपेक्ष माने जाते हैं, वे कभी पारम्परिक (धार्मिक/ पवित्र) समाज थे तथा बाद में परिवर्तित होकर वे ही धर्मनिरपेक्ष समाज बन गए। इस रूपान्तरण/ परिवर्तन में धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रक्रिया क्रियाशील होती है। अतः धर्मनिरपेक्षीकरण (secularization) सामाजिक परिवर्तन की वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा धर्म एवं धार्मिक विचारों का जन प्रभाव घटता है तथा उसकी जगह वास्तविकता/सत्य की व्याख्या करने के अन्य माध्यम एवं सामाजिक जीवन नियंत्रित करने के अन्य उपाय ले लेते हैं। अनेक पश्चिमी समाज इस अवधारणा के स्पष्ट उदाहरण हैं, जहाँ आज भी धर्म जीवित है किन्तु यह अधिकांशतः व्यक्तियों की निजी जिंदगी (Private domain) तक ही सीमित है।

हमारे संविधान की प्रस्तावना में धर्मनिरपेक्षता (secularism) का उल्लेख जनतंत्र के उल्लेख के साथ-साथ किया गया है। किन्तु साथ ही साथ धर्मनिरपेक्षता की दो अवधारणाएँ भी क्रियाशील रही हैं। पहली है– धर्म एवं राजनीति, विशेषतः धर्म एवं राज्य के पृथक्करण की 'पश्चिमी' अवधारणा, जो यथार्थतः धर्म को निजी जीवन तक सीमित करती है तथा दूसरी अवधारणा है– *सर्वधर्म समभाव* (सभी धर्मों के प्रति समान आदर का भाव) की। ये दोनों अवधारणाएँ एक साथ क्रियाशील होती हैं। 'सच्चा हिन्दूवाद' सभी को समान दृष्टि से देखने का विश्वास दिलाता है तथा यह सभी धर्मों को समान आदर प्रदान करता है किन्तु राजनैतिक **हिन्दुत्व** इसके ठीक विपरीत सोचता एवं काम करता है। अतः विचारधारा के स्तर पर भारत में धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा साम्प्रदायिकता के ठीक विपरीत है। इसकी प्रमुख विशेषताएँ हैं– धर्म के स्तर पर किसी भी प्रकार का भेद-भाव न करना तथा सभी नागरिकों को, चाहे वे आस्तिक हों या नास्तिक, समान स्वतंत्रता प्रदान करना। एक धर्मनिरपेक्ष सरकार वह है जिसमें राज्य अपने नागरिकों में धर्म के आधार पर किसी भी प्रकार का भेदभाव नहीं करता। यह सभी को समान नागरिक अधिकार प्रदान करता है, सभी की धार्मिक-स्वतंत्रता का सम्मान करता है तथा ऐसे लोगों की स्वतंत्रता की भी रक्षा करता है जो किसी भी धर्म में विश्वास नहीं रखते।

आज समस्त संसार में धर्मनिरपेक्षता संकट में है। जैसा कि गुरुप्रीत महाजन (2003) कहती हैं, भारत में धर्मनिरपेक्षता के समीक्षक दो बिन्दुओं पर प्रकाश डालते हैं: (क) धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा अथवा धर्म एवं राजनीति का पृथक्करण भारतीय समाज एवं जीवन के प्रतिकूल है, अतः भारतीय संदर्भ में इस रूप में धर्मनिरपेक्षता की कोई जगह नहीं, (ख) धर्म के राजनीति से पृथक्करण का विचार प्रोटेस्टेन्ट आचार नीति (Protestant ethics) से उद्भूत हुआ है– यह 'ईसाइयत का उपहार' है तथा इसका प्रयोग एक सीमित दायरे में ही किया जा सकता है। धर्मनिरपेक्षता के समर्थक इस बात पर दुख व्यक्त करते हैं कि भारत पूर्णरूपेण धर्मनिरपेक्ष नहीं है क्योंकि इसमें सार्वजनिक क्षेत्र में धर्म का हस्तक्षेप है। धर्मनिरपेक्षता के आलोचक इसके ठीक विपरीत यह मत रखते हैं, कि धर्मनिरपेक्षता का भारतीय समाज में कोई स्थान नहीं है क्योंकि भारत में धर्म को राजनीति से अलग नहीं किया जा सकता। किन्तु धर्म एवं राजनीति का सम्मिश्रण देश की शान्ति एवं समृद्धि पर कितना प्रतिकूल प्रभाव डाल सकता है, यह तथ्य **हिन्दुत्व** की राजनीति से स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है, जो अयोध्या मुद्दे को राजनैतिक

शक्ति हासिल करने के एक हथियार के रूप में प्रयुक्त कर रही है। हमारे पड़ोसी देश पाकिस्तान की वर्तमान परिस्थितियों से हमें सबक लेना चाहिए।

भारत में धर्मनिरपेक्षता को साम्प्रदायिकता की विरोधी अवधारणा के रूप में लेना चाहिए। यह अवधारणा अल्पसंख्यकों की बहुसंख्यकों के प्रभुत्व से रक्षा करने के लिए भी प्रतिबद्ध है। प्रारम्भ से ही भारतीय समाज ऐसी परम्पराएँ विकसित करने में समर्थ रहा है जिनके अन्तर्गत एक बहुधार्मिक, बहुजातीय एवं बहुभाषिक ढाँचे के अन्दर एक समेकित सामाजिक, सांस्कृतिक एव राजनैतिक जीवन की सम्भावना हो। अपने सांस्कृतिक एवं धार्मिक विचारों एवं प्रतीकों को दूसरों पर थोपना हिन्दू परम्परा एवं सच्चे हिन्दुत्व के विरुद्ध रहा है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण इसके विशद व्याख्याता स्वामी विवेकानन्द द्वारा प्रस्तुत किया गया है।

विस्तृत अर्थों में, धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रक्रिया तीन कारकों के द्वारा कार्य करती है–

1. शिक्षा
2. विधि-निर्माण
3. सामाजिक सुधार

वैज्ञानिक एवं तार्किक आधार पर प्रदान की जाने वाली शिक्षा चिन्तन प्रक्रिया में तार्किकता को जन्म देती है। यदि हम भारत का उदाहरण लें तो, भारत में शिक्षा धार्मिक संस्थाओं, जैसे– पाठशाला, मदरसा एवं मन्दिरों से सम्बन्धित संस्थाओं यथा-मठों, मस्जिदों एवं गिरिजाघरों द्वारा प्रदान की जाती थी। औपचारिक शिक्षा ग्रहण करने के क्षेत्र में विस्तार होने एवं धर्मनिरपेक्ष शैक्षिक संस्थाओं के खुलने से इस स्थिति में बहुत बड़ा अन्तर आया। शिक्षा की विषय-वस्तु एवं पढ़ाने के माध्यम में परिवर्तन इस अन्तर के मुख्य उत्तरदायी कारक रहे। यही कारण है कि सामाजिक परिवर्तन में औपचारिक शिक्षा की भूमिका का महत्त्व घटाया नहीं जा सकता। कानून-निर्माण सम्बन्धी कारक भी धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रक्रिया में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। किन्तु पर्याप्त प्रेरणा एवं उपयुक्त सामाजिक पर्यावरण के अभाव में मात्र- विधि सम्बन्धी कदम ही अपेक्षित प्रभाव उत्पन्न नहीं कर सकते। इसके उदाहरण के रूप में हम कई विकासशील देशों को ले सकते हैं। भारत का ही उदाहरण लें। हमारे देश को विधि द्वारा सेक्युलर तो बना दिया गया किन्तु इसके लिए एक उपयुक्त अधिकारिक संरचना (Infra structure) तय्यार नहीं था कि यह सच्चे रूप में एक सेक्युलर राज्य बन सके। हमारे देश की धर्मनिरपेक्षता एवं राष्ट्रीय एकता के पर्दे के पीछे ऐसी अनुदार, संकीर्ण, प्रगति विरोधी एवं अवैज्ञानिक प्रवृत्तियाँ भी विद्यमान हैं जो हमारे देश के धर्मनिरपेक्ष ढाँचे को छिन्न-भिन्न कर सकती हैं। जातिवाद, जनजातीयवाद, भाषिकता एवं धार्मिक साम्प्रदायिकता हमारे दिन-प्रतिदिन के जीवन के कुछ दर्दनाक सत्य हैं। तथाकथित 'परहितकारियों, 'ईश-पुरुषों' एवं धर्मान्धों की संख्या में दिन-दूनी रात चौगुनी वृद्धि हो रही है। इन तथ्यों के कारण धर्मनिरपेक्षता का विचार मात्र एक कल्पना बन कर रह गया है। सच तो यह है कि धर्मनिरपेक्षता जीवन पद्धति का एक भाग होनी चाहिए। यह मात्र एक नारा नहीं बल्कि विश्वास की बात है। सामाजिक सुधार के लिए सामाजिक आन्दोलन धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रक्रिया के विकास के लिए

एक कारगर माध्यम हो सकते हैं। ये लोगों के मस्तिष्क को सकारात्मक रूप से ढालने में मददगार साबित होते हैं। ये हमें सामाजिक परिवर्तन स्वीकार करने हेतु तैयार करते हैं। आज तक हमारे समाज ने जितना भी धर्मनिरपेक्षता की भावना को ग्रहण अथवा आत्मसात किया है, उसका अधिकांश श्रेय समय-समय पर होने वाले सुधार-आन्दोलनों को जाता है।

धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रक्रिया के दो गौण कारण नगरीकरण एवं औद्योगीकरण हैं। ये दोनों ही कारण प्रौद्योगिक अन्वेषणों (technological innovations) से प्रभावित हैं। यह देखा गया है कि जैसे-जैसे वैज्ञानिक ज्ञान एवं प्रौद्योगिकी का क्षेत्र बढ़ता जाता है वैसे-वैसे धर्म का दायरा संकुचित होता जाता है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि धर्म एवं विज्ञान एक दूसरे के असंगत हैं। जैसा कि श्यामा चरण दुबे कहते हैं– "उच्च आध्यात्मिक एवं नैतिक पटल पर धर्म अनिवार्यतः विज्ञान एवं प्रगति की अवधारणा के प्रतिकूल नहीं है। साथ ही नगरीकरण एवं औद्योगीकरण अंत:समूह की भावनाओं (ingroup feeling) को कम करते हैं तथा मनुष्य के समक्ष नए विकल्प प्रस्तुत करते हैं। साथ ही ये तार्किक कार्य-कारण सम्बन्ध को विकसित करते हैं तथा फलस्वरूप जीवन के विभिन्न पक्षों पर धर्म का नियन्त्रण घटता है, हालाँकि एक अवधारणा के रूप में धर्म में रुचि विद्यमान रहती है- यह अपने सामूहिक एवं साम्प्रदायिक अर्थों को छोड़ देता है तथा मुख्यतः एक व्यक्तिगत मामला बन जाता है।

भारतीय गणराज्य धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रक्रिया का निम्न माध्यमों से क्रियान्वित करने का लक्ष्य करता है–

1. धार्मिक असमानता की प्रतीक-प्रथाओं जैसे– अस्पृश्यता आदि का उन्मूलन, जिनका आचरण करना एक दण्डनीय अपराध माना जाता है।
2. समाज के सभी वर्गों एवं जातियों के लोगों को सभी धार्मिक्र स्थलों एवं संस्थाओं में प्रवेश का अधिकार प्रदान करना।
3. हिन्दू व्यक्तिगत कानूनों में सुधार द्वारा देश के सभी समुदायों के लिए एक सामान्य संहिता विकसित करने का प्रयास करना।
4. दुकानों, जन भोजनालयों, होटलों एवं जन-मनोरंजन के स्थानों में राज्य के किसी भी नागरिक के साथ भेदभाव पर रोक लगाने का प्रयास करना।
5. समस्त समुदायों के सदस्यों के लिए सभी शैक्षिक संस्थानों में प्रवेश की सुविधा उपलब्ध कराना।
6. पाठ्य पुस्तकों में ऐसी सामग्री जोड़कर, जो वैज्ञानिक एवं तार्किक दृष्टिकोण विकसित करने में सहायक हो तथा ऐसी सामग्री हटाकर जो युवाओं के दिमाग में जहर घोले तथा पारम्परिकता, प्रगति-विरोध एवं धार्मिक रूढ़िवाद से ओत-प्रोत हो, उन्हें धर्मनिरपेक्ष बनाना।
7. एक ठोस आर्थिक आधार विकसित करना ताकि गरीबी का उन्मूलन हो सके एवं समाज के सभी लोगों के बीच सम्पत्ति का समान रूप से बँटवारा हो सके।

आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में धर्मनिरपेक्षता एक मौलिक तत्त्व है। अतः यदि हमारे समाज

को विश्व भर में हो रहे परिवर्तनों से निपटने के लिए आधुनिक बनना है तो हमारे समक्ष केवल एक ही विकल्प है–धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रक्रिया को तेज करते हुए धर्मनिरपेक्षता का आचरण व्यवहार में लाना।

साम्प्रदायिकता, मूलतत्त्ववाद एवं साम्प्रदायिक हिंसा (Communalism, Fundamentalism and Communal Violence)

नवीन आर्थिक नीति एवं वैश्वीकरण की छाया में साम्प्रदायिकता का 'विस्फोट' भारत के वर्तमान सामाजिक-राजनैतिक परिदृश्य का एक महत्त्वपूर्ण अभिलक्षण है। यह भारतीय समाज के लिए एक बहुत बड़े खतरे के रूप में उभर कर सामने आया है।

बहुलवादी भारतीय समाज में साम्प्रदायिकता एक अत्यन्त जटिल अवधारणा के रूप में सामने आती है। समाज-विज्ञानों के विभिन्न विषय क्षेत्रों से सम्बन्धित विद्वानों ने इसकी विभिन्न परिभाषाएँ दी हैं– जिनमें से कुछ अस्पष्ट एवं संदिग्ध हैं, कुछ पूर्वाग्रहों से ग्रसित हैं और अन्य सदैव परिवर्तनशील सामाजिक-राजनैतिक परिदृश्य पर आधारित हैं। इनमें से कुछ परिभाषाओं में साम्प्रदायिकता को मुख्य रूप से एक 'विचारधारा' माना गया है, कुछ में इसे 'मिथ्या सचेतनता' (false concsiouness), अल्प मात्रा में उपलब्ध संसाधनों की प्राप्ति हेतु किया जाने वाला संघर्ष, 'नौकरी/कार्य पाने के लिए होने वाली स्पर्धा', अथवा 'शासक वर्ग की राजनीति का एक अत्यधिक असह्य एवं प्रजातंत्र के विरुद्ध मानी जाने वाली अवधारणा है। अतः इसे फासीवाद (fascism) का अग्रगामी भी माना जाता है। परिभाषाओं के इस पुंज में डब्लू.सी. स्मिथ (1979) की परिभाषा एक सामान्यीकृत एवं अधिकांश लोगों द्वारा स्वीकृत परिदृश्य प्रस्तुत करती है :

"साम्प्रदायिकता एक ऐसी विचारधारा है जो सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक इकाई के रूप में प्रत्येक धर्म के अनुयायियों पर मुख्य रूप से केन्द्रित है तथा इन धर्मों अथवा समूहों के बीच पायी जाने वाली भिन्नताओं एवं परस्पर विरोध की सक्रिय स्थिति पर बल देती है।"

यद्यपि इस परिभाषा का सरलीकृत रूप देना साम्प्रदायिकता जैसी जटिल अवधारणा को अति से अधिक सहज बनाना माना जा सकता है किन्तु फिर भी इसको पुनर्परिभाषित करते हुए कहा जा सकता है कि **"साम्प्रदायिकता वह विचारधारा है जो इस धारणा पर आधारित है कि सम्पूर्ण समाज धार्मिक समुदायों में बँटा हुआ है, जिनके हित एक-दूसरे से भिन्न हैं और इस प्रकार वे एक दूसरे के विरोधी हैं तथा प्रकृति से एक-दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी हैं।"** स्मिथ की परिभाषा का यह पुनर्व्याख्यायित रूप धार्मिक साम्प्रदायिकता के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक रूप के संदर्भ में भारतीय अनुभवों को अधिक स्पष्ट एवं सुग्राह्य बनाता है। चूँकि धर्म एवं 'धार्मिक पहचान' (अथवा साम्प्रदायिक पहचान) साम्प्रदायिकता की अवधारणा के केन्द्रबिन्दु हैं तथा भारत के पारम्परिक समाज में धर्म को सर्वोपरि स्थान प्रदान किया गया है, अतः धर्म एवं धार्मिक पहचान की भूमिका के विषय में चर्चा किए बिना साम्प्रदायिकता की अवधारणा पर विचार नहीं किया जा सकता है। इस सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि धार्मिक सम्बद्धता का भाव, जो कि व्यक्ति की पहचान का महत्त्वपूर्ण अंग माना जाता है, सामान्यतः सामाजीकरण (socialization)

की प्रक्रिया के अन्तर्गत बचपन में ही ग्रहण कर लिया जाता है।

आइये अब एक बार पुनः साम्प्रदायिक विचारधारा की ओर दृष्टि डालें, जिसके अनुसार 'सम्पूर्ण समाज धार्मिक समुदायों में बँटा है जिनके हित एक दूसरे से भिन्न हैं तथा इस प्रकार वे एक दूसरे के विरोधी माने जाते हैं,' और उन अनुभवाधारित एवं तार्किक (empirical and logical) भ्रान्तियों पर नज़र डालें जिन पर सम्प्रदायवादियों को गर्व है तथा साथ ही उनके द्वारा किए गए इतिहास के गलत विश्लेषण पर ध्यान दें। क्या गरीबी, बेरोजगारी, शिक्षा के अभाव एवं स्वास्थ्य की समस्याएँ समान रूप से सभी धार्मिक समुदायों को परेशान नहीं करती हैं? क्या इन समस्याओं के सन्दर्भ में उनके हित एक दूसरे से भिन्न व विरोधी हैं ?

भारत में साम्प्रदायिकता का इतिहास सौ वर्ष से भी अधिक पुराना है तथा इस पूरी अवधि में इसने विभिन्न रूपों में भारत के सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक जीवन को अत्यधिक प्रभावित किया है। कभी कभी अन्दर से अत्यधिक विस्फोटक होने के बाद भी यह एकदम सुप्त (dormant) अवस्था में पायी गयी। साम्प्रदायिकता पर अपने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ में बिपिन चन्द्र (1987) तर्क प्रस्तुत करते हुए कहते हैं– ''साम्प्रदायिकता पिछले डेढ़ सौ वर्षों की ऐतिहासिक प्रक्रियाओं की मिथ्या सचेतनता के अतिरिक्त कुछ अन्य नहीं है क्योंकि वास्तविकता तो यह है कि हिन्दुओं एवं मुसलमानों के हितों में कोई संघर्ष था ही नहीं।'' यह इतिहास का झूठा प्रस्तुतीकरण है। वे आगे कहते हैं– ''साम्प्रदायिकता आर्थिक मंदी के शिकार किसी समाज में, जिसमें समाज को परिवर्तित करने के लिए शक्तिशाली संघर्ष करने की सामर्थ्य न हो, मध्यम वर्ग के हितों, आकांक्षाओं, विचारों, व्यवहार, मनोदशाओं एवं मतों को अभिव्यक्ति प्रदान करती है तथा मध्यमवर्गीय जीवन से गहन रूप से जुड़ी है– "साम्प्रदायिकता का प्रश्न निसंदेह निम्न बुर्जुआ (petty bourgeoisie) वर्ग की चिंता है।" के.एन. पाणिक्कर (1991) कहते हैं– ''साम्प्रदायिकता सचेतनता की अवस्था है... जो एक ही धर्म के विभिन्न सदस्यों की विशिष्ट सांस्कृतिक पहचान हेतु निश्चित धारणाओं पर प्रकाश डालती है।'' ज्ञानेन्द्र पाण्डेय (1990) का कहना है कि ''साम्प्रदायिकता औपनिवेशिक ज्ञान (colonialist knowledge) का एक रूप है, भारतीय अर्थों में जिसका तात्पर्य विभिन्न धार्मिक समुदायों के सदस्यों के बीच व्याप्त संदेह, भय एवं वैमनस्य की स्थिति से है।'' ये सभी परिभाषाएँ दो मुख्य धार्मिक समुदायों जैसे– हिन्दू-मुस्लिम, हिन्दू-ईसाई, हिन्दू-सिख अथवा मुस्लिम-सिख के बीच पाए जाने वाले विरोधपूर्ण सम्बन्ध पर प्रकाश डालती है। ये वैमनस्यपूर्ण सम्बन्ध काल्पनिक भी हो सकते हैं और कभी-कभी यथार्थ भी।

आज भारत को 'हिन्दू-राष्ट्र' में परिवर्तित करने की माँग के रूप में साम्प्रदायिकता की भावना मुखर होकर सामने आई है। बी.डी. सावरकर, श्यामाप्रसाद मुखर्जी एवं एम.एस. गोलवलकर इस विचारधारा के प्रमुख विचारक माने जाते हैं। 'हिन्दू-राष्ट्र' की अपनी अवधारणा को स्पष्ट करते हुए सावरकर 'हिन्दुत्व' को माध्यम के रूप में प्रयोग करते हैं तथा तर्क प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि 'हिन्दुत्व' हिन्दूवाद से भिन्न अवधारणा है। "लगभग चालीस शताब्दियों से इस शब्द को एक नवीन आयाम देने का प्रयास किया जा रहा है.... हिन्दुत्व सम्पूर्ण हिन्दू जाति के विचारों एवं क्रियाकलापों में दिन-प्रतिदिन होने वाले विकास को अपने में समेटे हुए है" (सावरकर, 1989 संस्करण)। जहाँ

सावरकर 'हिन्दू राष्ट्र' के विचार को आदर्श रूप प्रदान करना चाहते हैं, जिसमें हिन्दू वर्ग शासक वर्ग होगा तथा अन्य लोग उसके अधीनस्थ वहीं एम.एस. गोलवलकर गैर-हिन्दू समूहों को कोई स्थान प्रदान नहीं करते हैं। वे सभी गैर-हिन्दुओं को 'विदेशियों' की तरह देखते हैं। वे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं– "विदेशी तत्त्वों के लिए केवल दो मार्ग शेष हैं– या तो वे राष्ट्रीय धर्म/प्रजाति को ग्रहण कर लें अथवा राष्ट्रीय धर्म/प्रजाति की दया पर वे तब तक इस देश में रह लें जब तक कि राष्ट्रीय धर्म/प्रजाति उन्हें इसकी अनुमति दे तथा यदि वह न चाहें तो वे तुरन्त इस देश को छोड़कर चले जाएँ।" गोलवलकर अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि यदि अल्पसंख्यक वर्ग (गैर हिन्दू समूह) राष्ट्रीय प्रजाति (हिन्दू) के धर्म एवं संस्कृति को अंगीकार नहीं करते हैं तो उन्हें इस देश में केवल अपयश, कलंक एवं बदनामी ही मिलेगी। "हिन्दुस्तान में विदेशी जातियाँ रह सकती हैं, किन्तु वे पूरी तरह से हिन्दू राष्ट्र की अधीनस्थ होंगी, किसी चीज पर दावा करने का अधिकार उन्हें नहीं प्राप्त होगा, न ही उन्हें कोई सुविधा प्रदान की जाएगी, और न किसी काम में वरीयता प्रदान की जाएगी.... यहाँ तक कि वे नागरिकता के अधिकार से भी वंचित रहेंगे" (1939)।

जमात-ए-इस्लामी, जिसे मुस्लिम साम्प्रदायिकता एवं मूलतत्त्ववाद का कट्टर प्रतिनिधि माना जाता है, भारत एवं अन्य देशों को मुस्लिम राष्ट्र के रूप में देखता है। जमात-ए-इस्लामी के प्रमुख विचारक मौलाना मौदूदी के अनुसार मुस्लिम राष्ट्र में गैर-हिन्दू जातियाँ, *प्रजा (ज़िम्मी)* के रूप में रह सकती हैं, उन्हें कुछ निश्चित अधिकार एवं सुविधाएँ प्रदान की जाएँगी किन्तु राष्ट्र की नीति में हस्तक्षेप करने अथवा उसे प्रभावित करने का अधिकार उन्हें कदाचित प्राप्त नहीं होगा। सन् 1953 में पाकिस्तान में हुए अहमदिया विरोधी साम्प्रदायिक दंगों में उन्हें गिरफ्तार किया गया था। इन दंगों की जाँच के लिए नियुक्त किए गए जस्टिस मुनीर आयोग ने जब उनसे यह प्रश्न किया कि यदि 'हिन्दू भारत' को हिन्दू-धर्म शासित राष्ट्र (theocratic nation) घोषित कर दिया जाए तथा उसमें मुसलमानों पर अत्याचार होने का खतरा पैदा हो जाए, जैसा कि वे स्वयं धार्मिक रूप से उनसे भिन्न अहमदिया मुसलमानों के साथ करना चाहते हैं, तो उनकी क्या प्रतिक्रिया होगी। इस प्रश्न के उत्तर में मौदूदी ने जो कहा वह उनकी धर्मान्धता का स्पष्ट संकेत देता है। उन्होंने खुले शब्दों में कहा कि यदि भारत में रहने वाले मुसलमानों से शूद्रों अथवा म्लेच्छों जैसा व्यवहार किया जाए तथा उन्हें राज्य में भागीदारी लेने तथा नागरिक अधिकारों का उपभोग करने से वंचित कर दिया जाए, तो उन्हें इस पर जरा भी आपत्ति नहीं होगी। सम्भवतः इसी कारण से जमात-ए-इस्लामी जिन्नाह एवं उनकी आधुनिक पाकिस्तान की कल्पना की सख्त विरोधी थी। जमात-ए-इस्लामी, जमात-ए-उलेमा एवं भारतीय राष्ट्रवाद पर आधारित देवबन्द विचारधारा एवं मुस्लिमों को मिले जुले भारतीय राष्ट्रवाद (Composite Indian Nation) का एक अंग मानने के विचार के भी विरुद्ध थी। इस प्रकार गोलवलकर के राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ एवं जमात-ए-इस्लामी के बीच एक अनोखी समानता देखी जा सकती है। ये दोनों ही संगठन किसी उदार, धर्मनिरपेक्ष एवं जनतांत्रिक राज्य में विश्वास नहीं रखते जो अपने नागरिकों के बीच जाति, रंग, धर्म आदि का भेदभाव न करते हुए उन्हें समान अधिकार प्रदान करता हो। रोचक तथ्य यह है कि विभाजन के बाद मौलाना मौदूदी जिन्नाह पाकिस्तान चले गए। इसकी भारतीय शाखा जमात-ए-इस्लामी-हिन्द भारत में ही रही। यद्यपि यह

भी एक इस्लामी राष्ट्र की समर्थक है किन्तु इसमें अपनी इस अभिलाषा को व्यक्त करने का साहस नहीं है तथा यह सुरक्षात्मक रवैया अपनाये हुए है। विचार एवं राजनीति की प्रत्येक फासीवादी व्यवस्था अनिवार्यतः किसी 'शत्रु' की तलाश करती है अथवा जानबूझकर पैदा कर लेती है जैसे– गोलवलकर ने मुसलमानों को शत्रु के रूप में उभारा तथा हिटलर की नाज़ीवादी व्यवस्था ने यहूदियों को यह दर्जा दिया।

साम्प्रदायिकता के वर्ग-चरित्र पर ध्यान केन्द्रित करने पर हमें ज्ञात होता है कि औपनिवेशिक काल में बुर्जुआ वर्ग समेत ज़मीदार, नौकरशाह एवं व्यापारी वर्ग ने साम्प्रदायिकता के लिए आधार प्रदान किया। हिन्दू महासभा, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, जमात-ए-इस्लामी एवं मुस्लिम लीग इसी वर्ग का सहारा लेकर फले-फूले। "उत्तर-औपनिवेशिक एवं आज़ादी के बाद के काल में बुर्जुआ वर्ग को छोड़कर आज साम्प्रदायिकता को किसी एक वर्ग विशेष से संबद्ध करना कठिन हो गया है। सन् 1947 के बाद से साम्प्रदायिकता का सामाजिक वर्ग चरित्र, प्रकृति एवं आधार अत्यधिक परिवर्तित हो गया है" (बिपिन चन्द्र)। क्या राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के राजनैतिक मोर्चे भारतीय जनता-पार्टी को किसी विशेष सामाजिक वर्ग से जोड़ना सरल है ?

न तो साम्प्रदायिकता की अवधारणा धर्म से प्रभावित है और न ही धर्म साम्प्रदायिक राजनीति का कोई उपकरण है। फिर भी साम्प्रदायिकता के समर्थक अपनी राजनीति को धार्मिक विभिन्नताओं पर आधारित करते हैं, धार्मिक पहचान को एक संगठित करने वाले सिद्धान्त के रूप में प्रयुक्त करते हैं तथा साम्प्रदायिकता को हवा देते हुए देश की जनता को सक्रिय एवं प्रभावित करने के लिए धर्म का सहारा लेते हैं। अपने हिंसक रूप में साम्प्रदायिकता नगरों में रहने वाले गरीब एवं श्रमिक वर्ग को भी प्रभावित करती है, जिनकी संख्या असंतुलित आर्थिक विकास एवं बड़ी संख्या में लोगों के शहरों में आकर बसने के कारण अत्यधिक बढ़ गई है। आज करोड़ों लोग ऐसे हैं जो अपनी जड़ों से अलग होकर शहरों में दरिद्रता एवं कंगाली का जीवन व्यतीत कर रहे हैं। उनकी चिड़चिड़ाहट एवं सामाजिक रुष्टता कई बार हिंसा, लूट-मार आदि के रूप में उभर कर सामने आती है। साम्प्रदायिक दंगे दोनों ही चीजों का अवसर प्रदान करते हैं।

साम्प्रदायिकता : भारतीय राजनीति का नया चेहरा (Communalism: The New Face of Indian Politics)

भारत राज्य का निर्माण धर्मनिरपेक्ष एवं गैर-साम्प्रदायिक ढंग से किया गया था। धर्मनिरपेक्ष एवं प्रजातांत्रिक भारत में राजनीति एवं राजनैतिक पार्टियों को महत्वपूर्ण भूमिका प्रदान की गई थी। दुर्भाग्यवश स्वतंत्र भारत में चुनाव अपने आप में ही एक लक्ष्य बनकर रह गए एवं राष्ट्रीय हितों के बजाए सीमित राजनैतिक हित अधिक महत्त्वपूर्ण माने जाने लगे। इस परिदृश्य में एक बहुलवादी समाज में आँकड़ों के खेल का साम्प्रदायिक उलसाव स्पष्ट रूप से उभरकर सामने आया। अधिकांश राजनैतिक पार्टियाँ धर्म एवं जाति के सम्बन्ध में अपने हितों तक ही सीमित रह जाती हैं। "आँकड़ों के खेल के इस नृजातीय पूर्वाभिमुखीकरण/स्थिति निर्धारण (ethnic orientation) के दो प्रमुख लक्षण हैं। पहला है नवीन राजनैतिक संगठनों का अभ्युदय जो कभी-कभी साम्प्रदायिक सिद्ध होते

हैं और कभी नहीं भी। यह क्षेत्रीय स्तर पर उदित होते हैं तथा धीरे-धीरे आगे बढ़ते हैं" (रजनी कोठारी 1998)। शिवसेना को वे इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण मानते हैं किन्तु ऐसे अनेक अन्य उदाहरण भी हैं। राजनैतिक दलों पर सांस्कृतिक एवं कट्टर साम्प्रदायिक संगठनों का प्रभुत्व भी ध्यान देने योग्य विषय है। गैर-राजनैतिक संगठनों के रूप में उदित होने वाले संगठन आगे चलकर राजनैतिक भूमिका अदा करने लगते हैं। इसके उदाहरण के रूप में रजनी कोठारी आर.एस.एस. और जमात-ए-इस्लामी की बात करते हैं। ये संगठन दावा करते हैं कि उन्हें राजनीति से कोई लेना-देना नहीं है किन्तु वे दूसरी ओर राजनीति में पूरा हस्तक्षेप भी रखते हैं। अतः कालान्तर में पार्टियों, व्यापार-संघों (trade unions) जैसे राजनैतिक संगठन एवं छात्रों, शिक्षकों आदि के व्यावसायिक संगठन और यहाँ तक कि महिला संगठन भी साम्प्रदायिक एवं कट्टर धर्मान्ध संगठनों पर अत्यधिक निर्भर हो जाते हैं, जिन्हें सिद्धान्ततः राजनैतिक नहीं होना चाहिए।

राजनीति का 'लम्पटीकरण' (lumpenization) भी साम्प्रदायिकता से सम्बन्धित है। किन्तु साम्प्रदायिक राजनीति में मध्यम वर्ग की भूमिका चौंकाने वाली है। मध्यम वर्ग के सम्भ्रान्त एवं समृद्ध लोग साम्प्रदायिकता के अग्रगामी समर्थक बन जाते हैं तथा साम्प्रदायिक राजनीति में सहयोग देते हुए उसमें अत्यधिक सक्रिय भूमिका निभाते हैं। रजनी कोठारी का कहना है कि हिन्दू-मध्यम वर्ग एक लम्बे समय तक यह मानता आया है कि अल्पसंख्यक वर्ग (धार्मिक एवं सामाजिक– जैसे दलित एवं जनजातीय/आदिवासी) उसको घेरे हुये हैं। उनका सोचना रहा है– 'हम ही सदा उनके प्रति प्रेम एवं दुलार का भाव क्यों रखें ? हमारे लिए सरकार/राज्य ने किया ही क्या है ? उन्हें आरक्षण प्राप्त है। वे अधिक से अधिक समृद्धि प्राप्त कर रहे हैं, और उनके लिए यह सब सरकार/राज्य ने किया है; केवल हम ही सब सुविधाओं से वंचित रह गए हैं।' इस प्रकार बहुसंख्यक वर्ग के बहुत से लोगों में चोटिल होने की भावना (sense of hurt) पनपी तथा उन में हाल के दशकों मे कांग्रेस पार्टी की नीतियों के विरुद्ध रोष पनपा तथा यह विचार उनके मन में गहरे बैठ गया है कि उनके साथ भेदभाव किया जा रहा है। इसी बीच 'मसीहा' के रूप में उग्रवादी प्रवृत्ति के 'सांस्कृतिक' हिन्दू संगठनों का अभ्युदय हो गया है जिनका उद्देश्य हिन्दुओं में यह भावना पैदा करना है कि वे सभी एक ही सजातीय एवं केन्द्रीयकृत सत्ता (homogenous and centralized entity) से सम्बन्धित हैं। इनमें **विश्व हिन्दू परिषद, हिन्दू एकता मंच, हिन्दू रक्षा समिति** एवं **आर.एस.एस.** जैसा पुराना संगठन भी सम्मिलित है जो पहले तो राजनैतिक स्तर पर महत्त्वहीन था किन्तु बाद में इसे पुनः सक्रियता प्रदान की गई। यहाँ तक कि मूल रूप से धर्मनिरपेक्ष मानी जाने वाली कांग्रेस पार्टी भी अप्रत्यक्ष रूप से 'नरम हिन्दुत्व' का समर्थन करती दिखाई पड़ती है तथा ऐसा करने के पीछे उद्देश्य है, अन्य साम्प्रदायिक पार्टियों को पीछे छोड़ना। इस परिदृश्य में वामपंथी दल इस प्रचलन पर अपने सीमित प्रभाव के कारण रोक लगाने में असमर्थ रहे हैं। नये उदित होते 'विरोधी दल' अथवा नयी शक्ति पाने वाले पुराने दल जैसे– **इत्तिहाद-उल-मुसलमीन** (हैदराबाद) एवं **भाजपा** और भी अधिक साम्प्रदायिक रंग ग्रहण कर रहे हैं।

साम्प्रदायिक हिंसा (Communal Violence)

दंगों, नरसंहार एवं आतंकवाद के रूप में विभिन्न धार्मिक समुदायों के बीच में पाई जाने

वाली हिंसा अत्यन्त नाटकीय रूप से हमारा ध्यान अपनी ओर आकर्षित करती है किन्तु इस हिंसा का मूल एवं दीर्घकालिक कारण बढ़ती हुई साम्प्रदायिकता है। जैसा कि बिपिन चन्द्र कहते हैं कि यद्यपि साम्प्रदायिक दंगे साधारण जनता के बीच मूलभूत साम्प्रदायिक विचारधारा सम्बन्धी नियमों को विश्वसनीयता प्रदान करते हैं तथा साम्प्रदायिक राजनीति को बढ़ावा देते हैं, यह सामान्य परिस्थितियों में साम्प्रदायिक राजनेताओं एवं विचारकों द्वारा प्रतिपादित की जाने वाली साम्प्रदायिक विचारधारा एवं राजनीति ही है जो साम्प्रदायिक तनाव एवं हिंसा के आधार के रूप में कार्य करती है। अन्य शब्दों में, साम्प्रदायिक विचारधारा एवं राजनीति एक रोग के समान है तो साम्प्रदायिक हिंसा मात्र उसका बाह्य लक्षण। "साम्प्रदायिक दंगे एवं साम्प्रदायिक हिंसा के अन्य रूप समाज एवं राजनीति के साम्प्रदायीकरण के संयोगवश होने वाले प्रकटीकरण के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। साम्प्रदायिक विचारधारा धार्मिक दायरे के अन्तर्गत साम्प्रदायिक राजनीति एवं मनोवैज्ञानिक भिन्नताओं, दूरी एवं प्रतिस्पर्धा को जन्म देती है" (बिपिन चन्द्र)।

साम्प्रदायिकता एवं साम्प्रदायिक हिंसा समाज की सम्पूर्ण सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों का परिणाम हैं। मुख्यतः साम्प्रदायिक हिंसा एक नगरीय अवधारणा है जिसमें सुविधा-वंचित एवं गरीब लोग शामिल होते हैं। किन्तु धर्म से अधिक साम्प्रदायिक दुष्प्रचार, अफवाहें एवं साम्प्रदायिक लामबंदी इसके लिए उत्तरदायी हैं। किसी भी प्रकार की हिंसा अथवा कानून विहीनता की स्थिति असामाजिक तत्त्वों को आर्थिक लाभ प्राप्त करने के लिए लूटमार करने का मौका प्रदान करती है। किन्तु गुजरात में सन् 2002 में घटित साम्प्रदायिक हिंसा ने सभी समझदार, न्यायप्रिय, प्रजातांत्रिक एवं धर्मनिरपेक्ष लोगों को हिलाकर रख दिया है। साम्प्रदायिक हिंसा में किसी सरकार/राज्य का ऐसा भयानक एवं नंगा चेहरा आज तक नहीं दिखा। वास्तविकता तो यह है कि यह एक पूर्व नियोजित एवं राज्य का आश्रय प्राप्त नरसंहार था, जो मुख्यतः राज्य के अल्पसंख्यक वर्गों के विरुद्ध किया गया था। जो जानकारी विभिन्न स्वतंत्र नागरिक संगठनों एवं फोरमों ने दी है इसमें से कुछ संगठनों की रिपोर्टें तो यहाँ तक कहती हैं कि यह राज्य के नेतृत्व में एक समुदाय विशेष का राज्य से सफाया करने (ethnic cleansing) के उद्देश्य से किया जाने वाला नरसंहार था। ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि हिंसा के इस घिनौने कृत्य को कुछ दलित एवं पिछड़ी जाति के साम्प्रदायिक विचारधारा एवं उग्रवादी प्रवृत्ति वाले युवाओं द्वारा भी अंजाम दिया गया। ऐसा पारम्परिक रूप से सुविधा वंचित वर्ग का ध्यान उनकी समस्याओं से हटाकर किसी अन्य दिशा में लगाने के लिए साम्प्रदायिक नेताओं द्वारा किसी रणनीति के तहत किया गया होगा। ऐसा करने का एक अन्य उद्देश्य समाज के सुविधा-वंचित वर्ग को राज्य के उस शासन-शक्ति के ढाँचे से दूर रखना भी हो सकता है जिस पर आज तक समाज के उच्च वर्ग का ही प्रभुत्व रहा है। किन्तु गुजरात हिंसा में उच्च वर्ग की ओर गतिशील समृद्ध मध्यम वर्ग का हिंसा एवं लूटमार में शामिल होना एक विचारणीय तथ्य है तथा समाजशास्त्रियों द्वारा इसके शीघ्रातिशीघ्र विश्लेषण की आवश्यकता है।

साम्प्रदायिकता के विरुद्ध संघर्ष (Fight against Communalism)

साम्प्रदायिकता की भावना पर लम्बे समय तक रोक लगाने एवं उसके विरुद्ध संघर्ष करने के लिए, प्रत्येक स्तर पर लोगों के मन से साम्प्रदायिकता की भावना एवं विचारों को निकालने का

भरसक प्रयत्न करना होगा। तात्पर्य यह है कि साम्प्रदायिकता के विरुद्ध गहन, गम्भीर एवं निरन्तर चलने वाला वैचारिक एवं राजनैतिक संघर्ष छेड़ना होगा। यदि साम्प्रदायिकता मूलतः एक विचारधारा है तो इसे बलपूर्वक दबाया नहीं जा सकता। किसी विचारधारा के विरुद्ध विचारों के स्तर पर ही लड़ा जाता है। समाज के सदस्यों को साम्प्रदायिकता के खतरों से अवगत कराने के लिए एक ईमानदार शैक्षिक एवं सांस्कृतिक नीति (educational and cultural policy) एवं मीडिया का सहयोग अपेक्षित है। यही कारण है कि जब भी साम्प्रदायिक राजनैतिक दलों को जहाँ भी सरकार चलाने में भागीदारी प्राप्त होती है तो उनके एजेण्डे में शिक्षा, गृह एवं सूचना विभाग पर नियंत्रण रखना महत्त्वपूर्ण होता है।

कभी-कभी विकास के सकारात्मक कारकों जैसे साक्षरता आदि का प्रयोग भी विचारधाराओं एवं उसके समर्थकों द्वारा किया जाता है। ''पारम्परिक/लोक संस्कृति व निरक्षरता ने भारतीय जनता को घृणा की विचारधाराओं के प्रभाव से दूर रखा था। साक्षरता के कारण उन पर साम्प्रदायिकता का प्रभाव अधिक बढ़ा है। समाचार पत्रों, पोस्टरों, पत्रिकाओं और यहाँ तक कि बच्चों की पुस्तकों के माध्यम से प्रसारित किये जाने वाले प्रगति विरोधी एवं तर्कहीन विचार, भारतीय इतिहास, विशेषकर प्राचीन एवं मध्यकालीन इतिहास का साम्प्रदायिक विश्लेषण आदि भारत में साम्प्रदायिकता की भावना को हवा देने वाले प्रमुख कारक हैं" (बिपिन चन्द्र)।

कानून लागू करने वाली एजेन्सियों का साम्प्रदायीकरण आज भारत में एक बड़ी समस्या के रूप में उभरकर सामने आया है। उत्तर प्रदेश कैडर के वरिष्ठ आई.पी.एस. अफसर व साहित्यकार वी.एन. राय अपने एक महत्त्वपूर्ण अध्ययन *'परसेप्शन आफ पुलिस न्यूटैलिटी इन कम्युनल राएट्स'* में विभिन्न साम्प्रदायिक दंगों में पुलिस कर्मियों और विशेष रूप से निचले दर्जे के पुलिसकर्मियों की साम्प्रदायिक, भयावह एवं विध्वंसात्मक भूमिका पर प्रकाश डालते हैं। साम्प्रदायिक हिंसा के दौरान मीडिया की भूमिका अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती है। नफरत की इस आग को बुझाने एवं समाज से साम्प्रदायिकता जैसी बीमारी को दूर करने में मीडिया महत्त्वपूर्ण योगदान दे सकती है। साम्प्रदायिकता के विरुद्ध लड़ाई का आरम्भ परिवार में बच्चों के सामाजीकरण की प्रक्रिया से किया जाना चाहिए और इसमें माता-पिता की भूमिका अत्यधिक महत्त्वपूर्ण होगी।

मूलतत्त्ववाद, साम्प्रदायिकता एवं भूमंडलीकरण (Fundamentalism, Communalism and Globalization)

मूलतत्त्ववाद को प्रायः साम्प्रदायिकता के साथ में ही परिभाषित किया जाता है। किन्तु मूलतत्त्ववाद धार्मिक कट्टरता एवं धर्मान्धता के विचार से अधिक सम्बन्धित है। इसे किसी धार्मिक परम्परा के 'मूल सिद्धान्तों' की ओर जाने के प्रयास के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। ''इसे किसी भी मत, विशेष रूप से धार्मिक मत की अपराजेयता पर होने वाले अटूट विश्वास तथा इसकी रक्षा एवं संवर्धन के लिए होने वाली तत्परता के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। इस शब्द का प्रयोग आधुनिक समय में आम तौर पर इस्लाम धर्म के सम्बन्ध में किया जाता है। ठीक उसी प्रकार की असह्य प्रवृत्ति वाले हिन्दू उग्रवाद के उदय ने वर्तमान समय में हिन्दू मूलतत्त्ववाद को भी जन्म दिया है।'' (टी.पी.जी. जॉर्ज, 1998)

मूलतत्त्ववाद को एक ऐसे धार्मिक आन्दोलन के रूप में देखा जा सकता है जो किसी धर्म या मत के अनिवार्य अथवा 'मौलिक' पक्ष के 'सत्य' पर बल डालता है। मूलतत्त्ववाद न केवल धर्मों में अपने विशिष्ट स्थान की वजह से बल्कि इस वजह से भी कि यह आसानी से राजनीतिक क्षेत्र में भी अपना विस्तार कर लेता है, समाजशास्त्रीय रूप से अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है। मूलतत्त्ववादी आधुनिक विचारों के सख्त विरुद्ध होते हैं तथा वे प्रत्येक प्रकार के बौद्धिक तर्कों को खण्डित करते हुए उन्हें नजरअन्दाज कर देते हैं। यद्यपि सीधे तरीके से मूलतत्त्ववाद 'ईश्वरीय पुस्तकों' (divine books) वाले धर्मों जैसे यहूदी धर्म, ईसाई धर्म व इस्लाम से ही जुड़ता है फिर भी आज हिन्दूवाद को भी कुछ मूल धर्मग्रन्थों जैसे वेद, उपनिषद्, गीता आदि तथा कुछ 'संगठित' करने वाले मिथकों जैसे– राम के 'युद्धप्रिय सैनिक रूप' तक सीमित करते हुए इसे भी मूलतत्त्ववादी बनाने का प्रयास किया जा रहा है" (गैबरियल डायटरिच, 1995)।

ध्यान से देखने पर हम पाते हैं कि मूलतत्त्ववाद राजनैतिक रूढ़िवादिता एवं पुरुष-प्रधानता के मूल्यों से सम्बद्ध है। "साथ ही यह पूँजीवाद के उग्ररूप से भी सम्बद्ध है जिसके उदाहरण के रूप में संयुक्त राज्य अमेरिका में ईसाई मूलतत्त्ववाद के अन्तर्गत 'इलेक्ट्रानिक चर्च' को ले सकते हैं" (डयटरिच)। मूलतत्त्ववाद साम्प्रदायिकता की बजाय धर्म से अधिक घनिष्ठता से सम्बद्ध है। जहाँ आज साम्प्रदायिकता यह दावा करती है कि वह धर्मनिरपेक्षता एवं राष्ट्रवाद की भाषा बोलती है, वहीं मूलतत्त्ववाद धार्मिक रूढ़ियों की बात करता है। अतः कभी-कभी यह विभिन्न धर्मों के बीच बहस पैदा कर सकता है। हालाँकि यह धर्मों के बीच किसी भी प्रकार के वाद-संवाद (dialogus) करने की स्थिति से घबराता है। साम्प्रदायिक राजनीति के दबाव में, जो 'हिन्दूवाद', 'इस्लाम', ईसाई धर्म आदि के खतरे में होने का भाव पैदा करती है, सभी धार्मिक समुदायों में साम्प्रदायिक ताकतें जड़ पकड़ रही हैं।'' कभी-कभी मूलतत्त्ववाद पूँजीवादी विकास के बढ़ते प्रभाव के प्रति एक प्रतिक्रिया के रूप में भी देखा जा सकता है जो 'उखड़े होने' (uprooting effect) का बोध कराता है जैसे– सिक्ख मूलतत्त्ववाद के वर्तमान रूप भिन्डरवाला के 'समाज-सुधार' सम्बन्धी आरम्भिक कार्य। जमात-ए-इस्लामी भारत में मुस्लिम मूलतत्त्ववाद का प्रतिनिधि माना जाता है क्योंकि यह अपनी मूल विचारधारा के रूप में कुछ इस्लामी रूढ़ियों पर आवश्यकता से अधिक जोर देता रहता है, जो वर्तमान समय में तर्कसंगत प्रतीत नहीं होतीं। पाकिस्तान के रूढ़िवादी तत्त्व एवं अफगानिस्तान के **तालिबान** मुस्लिम मूलतत्त्ववाद के सबसे भयानक उदाहरण हैं जो अपने समाज को मध्यकालीन अथवा प्राचीनकालीन समाज में भी परिवर्तित कर सकते हैं।

भूमंडलीकरण के प्रति राजनैतिक प्रतिक्रिया के रूप में नृजातीयता (ethnicity) का अभ्युदय भी साम्प्रदायिकता एवं मूलतत्त्ववाद का एक प्रमुख अभिलक्षण है। तीसरी दुनिया के देशों पर भूमंडलीकरण के बुरे प्रभाव पर प्रकाश डालते हुए समीर अमीन अपने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ (1997) में कहते हैं– "निस्संदेह वर्तमान युग सामूहिक पहचान से युक्त जागरण अथवा पुनर्जागरण का युग है... क्षेत्रवाद, भाषिक एवं सांस्कृतिक पहचान, जनजातीय अथवा नृजातीय निष्ठा, धर्मविशेष के प्रति समर्पण, स्थानीय समुदाय से लगाव आदि इस पुनर्जागरण के कुछ प्रमुख रूप हैं।

भारत में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ द्वारा प्रारम्भ किया जाने वाले 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' के साम्प्रदायिक रूप को साम्राज्यवाद विरोधी राष्ट्रवाद या जनमुखी (People-centric) राष्ट्रवाद को अपनाने के प्रति अनिच्छा के रूप में देखा जा सकता है। "उनकी नज़र में भारत के समक्ष खतरा आज के साम्राज्यवादी आक्रमण से नहीं बल्कि मध्यकालीन मुस्लिम आक्रमणों से है, विदेशी पूँजी नहीं बल्कि 'विदेशी धर्म' एवं मस्जिदों के खण्डन को 'राष्ट्रीय सम्मान' की पुनर्प्राप्ति के रूप में देखा जा रहा है, और खासकर एक ऐसे समय पर जब देश की उस सम्पत्ति (एवं संसाधनों) को विदेशी पूँजीनिवेशकों एवं स्वदेशी पूँजीनिवेशकों को बेचा जा रहा हो जिस पर देश की जनता का अधिकार एवं स्वामित्व होना चाहिये" (ऐज़ाज अहमद, 2002)। नागरिक समाज (Civil Society) एवं राज्य को 'साम्प्रदायिक' एवं मूलतत्त्ववादी बनाने का प्रयास भारतीय सभ्यता एवं आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के एकदम विरुद्ध है तथा इसका पूरी ताकत के साथ सामना किया जाना चाहिए।

धर्म का व्यवसायीकरण (Commercialization of Religion)

बाजार एवं बाजार की शक्तियों में होने वाले तेज विस्तार ने भी भारतीय समाज में बढ़ती साम्प्रदायिकता में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। बाजार की शक्तियों ने धर्म से आध्यात्मिकता (spirituality) के तत्त्व को निकाल फेंका है तथा वे इसे एक बिकाऊ वस्तु में परिवर्तित करने की पुरजोर कोशिश में लगी हैं। विभिन्न क्षेत्रों में मनाये जाने वाले धार्मिक त्योहार भी दिन-प्रतिदिन परिवर्तित हो रहे हैं। उन्हें स्थानीय या क्षेत्रीय ढंग से मनाया जाता था। स्थानीय रीति-रिवाज, आंचलिक/स्थानीय देवी-देवता आदि इन त्योहारों के प्रमुख अंग होते थे तथा इन्हें शान्तिपूर्वक साधारण व सरल ढंग से मनाया जाता था। आज हम देख रहे हैं कि न केवल इन त्योहारों की अवधि बढ़ती जा रही है बल्कि इनकी प्रकृति में भी अत्यधिक परिवर्तन हो गया है। आज गणेश चतुर्थी किसी एक निश्चित दिन नहीं मनाई जाती है, बल्कि आज यह *गणेश महोत्सव* का रूप ले चुकी है जो दस-बारह और कभी-कभी पन्द्रह दिन तक मनाया जाता है। दुर्गा-पूजा हमेशा कुछ अवधि के लिए मनाई जाती थी किन्तु आज विभिन्न व्यावसायिक हितों का ध्यान रखते हुए इसकी अवधि बढ़ा दी गई है। हर गली के हर कोने पर तेज आवाज में लाउडस्पीकरों की आवाज सुनाई देती है और उग्र भाषण देते हुए वक्ताओं को हर जगह देखा जा सकता है। आज एक त्योहार तो कल कोई दूसरा.... स्थानीय देवी-देवताओं और और स्थानीय रीति-रिवाजों की जगह 'सार्वभौमिक हिन्दूवाद' (Universalised Hinduism) ले रहा है। इस प्रकार गणेश और दुर्गा प्रतिमाएँ पहले (nationalised) 'राष्ट्रीकृत' की जाती हैं और उसके बाद उन्हें स्थानीय त्योहारों में स्थानीय देवी-देवताओं के रूप में देखा जाता है" (रजनी कोठारी)। इसके एक अन्य उदाहरण के रूप में हम गुजरात में होने वाले नवरात्र उत्सव को ले सकते हैं जिसमें गरभा पण्डालों की जगह हाईटेक पॉप व्यावसायिक केन्द्रों ने ले ली है जिसका प्रवेश शुल्क सैकड़ों-हजारों रुपये होता है। शोक के रूप में मनाया जाने वाला मुहर्रम जैसा साधारण त्योहार भी व्यावसायिकता का चोला ओढ़ रहा है तथा इसमें उच्च तकनीकि उपकरण जैसे– आडियो-विजुअल कैसेट्स, वी.सी.डी. एवं डी.वी.डी. का जमकर प्रयोग हो रहा है।

❑

अध्याय 15

धार्मिक अल्पसंख्यक

(Religious Minorities)

भारत समस्त विश्व में प्रजातियों व संस्कृतियों के संगम के रूप में जाना जाता है। आश्चर्यजनक सांस्कृतिक बहुलता वाली इस धरती पर सैकड़ों भाषायें और बोलियाँ बोलने वाले लोग और विश्व के सभी प्रमुख धर्मों के अनुयायी रहते हैं। साथ में यह भी सच है कि भारत में प्रमुख धर्मों के अनुयायी समुदायों की सामाजिक-आर्थिक और जनसांख्यिकीय रूपरेखा (demographic profiles) में काफी भिन्नतायें दिखाई देती हैं। इसके महत्त्वपूर्ण सामाजिक-सांस्कृतिक, ऐतिहासिक व पारिस्थितिकीय (ecological) कारण हैं।

भारत के संविधान में 'Minority' (अल्पसंख्यक) शब्द का प्रयोग तो किया गया है मगर उसे कहीं परिभाषित नहीं किया गया। इसलिये 'अल्पसंख्यक' शब्द को समझने के लिए समाजविज्ञानियों के अध्ययनों व व्याख्याओं तथा न्यायिक निर्णयों का सहारा लेना पड़ता है। 'Minority' शब्द (अल्पसंख्यक) दरअसल लैटिन भाषा के शब्द **'Minor'** और उसके प्रत्यय **'ity'** का समास है जिसका अन्य बातों के साथ मतलब है, 'मिलकर एक संपूर्ण प्रणाली बनाने वाले दो समूहों में से संख्या में कम।' **वेब्सटर शब्दकोश** में इसे इस प्रकार परिभाषित किया गया है- "अलग पहचान की भावना और प्रस्थिति की जागरूकता रखने वाला समूह, आम तौर पर वृहद समूह से अलग जिसका यह अंश होता है या माना जाता है।" **ऑक्सफोर्ड शब्दकोश** में अल्पसंख्यक को यूँ परिभाषित किया गया है- "छोटे होने की स्थिति या तथ्य या ऐसी संख्या जो पूरी संख्या की आधी से कम है।" ऊपर उल्लिखित अर्थ तथा परिभाषाओं का एक ही मानक सब से स्पष्ट है, जिसे सांख्यिकीय आधार कहा जा सकता है। "लेकिन सांख्यिकीय आधार के अलावा अल्पसंख्यक शब्द को उसमें शामिल सदस्यों के निश्चित सामूहिक गुणों के आधार पर भी परिभाषित किया जा सकता है। इस संदर्भ में कुछ समान लक्षणों के आधार पर संगठित लोगों का समूह, जिन्हें लगता है कि वे एक सांझी इकाई के सदस्य हैं, भी अल्पसंख्यक की श्रेणी में आता है। ऐसे समूह समान वंश, शारीरिक लक्षण, परंपराओं, धार्मिक आस्था या इन सबके तालमेल के कारण आपस में जुड़े हो सकते हैं" (जी.एस. शर्मा, 1973)। समूह के भीतर अपनेपन की भावना तथा बहुसंख्यकों से अलग अस्तित्व की चेतना विभिन्न राजनैतिक व अन्य प्रकार के दावों का आधार बनते हैं।

ऐसे भी मामले हो सकते हैं जब भिन्न व्यवहार ही एकमात्र ऐसा संकेतक हो जाये जिसके आधार पर अल्पसंख्यकीय प्रस्थिति (minority status) निर्धारित हो। ऐसा भेदभावपूर्ण व्यवहार इस (अल्पसंख्यक) समूह के प्रति कोई समूह (विशेषकर बहुसख्यक) कर सकता है या फिर अल्पसंख्यक काल्पनिक तौर पर ही सही ऐसी सचेतनता रखते हों।

सुमंत बैनर्जी (1999) ने अल्पसंख्यक के अर्थ और उसकी व्याख्या में एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण आयाम जोड़ते हुए लिखा है कि "आज मानव अधिकारों के संदर्भ में अल्पसंख्यक शब्द केवल संख्या पर आधारित समूह के अर्थ में नहीं प्रयोग होता बल्कि इसका अर्थ अब किसी राज्य या समाज में प्रभुताविहीन और वंचित समूह (non-dominant and disadvanatged group) भी हो सकता है- भले ही वह नृजातीय/सजातीय (ethnic), धार्मिक या भाषाई समूह हो। उदाहरण के लिये भारतीय मुसलमान एक असुविधायुक्त (disadvantaged) अल्पसंख्यक समूह है।" इस प्रकार राज्य व समाज की शक्ति संरचना (Power structure) व सत्तात्मक ढाँचे में किसी जनसमूह का स्थान व भूमिका उसे 'अल्पसंख्यक' बनाने में महत्त्वपूर्ण तथ्य मानी जा सकती है।

भारत के संविधान में हालाँकि 'अल्पसंख्यक' को परिभाषित नहीं किया गया है, इसके बावजूद उसमें दो प्रकार के अल्पसंख्यकों को मान्यता दी गई है। इसीलिए हम **धार्मिक** और **भाषायी** अल्पसंख्यकों की बात करते हैं। संविधान में 'अल्पसंख्यक/अल्पसंख्यकों' का उल्लेख निम्न अनुच्छेदों में किया गया है। ये अनुच्छेद हैं:- अनुच्छेद 29 (1), 30, 350-ए, और 350 बी।

अनुच्छेद 29 (1) : (अ) भारत के किसी भी क्षेत्र और उसके किसी भी भाग में रहने वाले नागरिकों के किसी भी वर्ग को अपनी अलग भाषा, लिपि अथवा संस्कृति संरक्षण का पूरा अधिकार देता है।

(ब) धर्म, प्रजाति, जाति, भाषा या उनमें से किसी भी आधार पर सरकार द्वारा चलाए जाने वाले या सरकारी कोष से सहायता पाने वाले शैक्षिक संस्थानों में किसी भी नागरिक को दाखिल करने से इंकार नहीं किया जाएगा।

अनुच्छेद 30: (अ) सभी अल्पसंख्यक, भले ही वह धर्म या भाषा पर आधारित हों, उन्हें अपनी इच्छा के शिक्षा संस्थानों की स्थापना एवं उनके संचालन का अधिकार देता है।

(ब) सरकार शैक्षिक संस्थानों को आर्थिक सहायता देने में किसी भी शिक्षण संस्था के विरुद्ध इस आधार पर भेदभाव नहीं करेगी कि वह संस्था अल्पसंख्यकों द्वारा प्रबंधित है भले ही वे धर्म आधारित हों या भाषा आधारित।

अच्छेद 350-एः प्रत्येक राज्य और राज्य के भीतर स्थित प्रत्येक स्थानीय प्राधिकरण का प्रयास रहेगा कि भाषाई अल्पसंख्यक समूहों के बच्चों को प्राथमिक चरण की शिक्षा मातृभाषा में देने के समुचित प्रबंध किए जाएँ और आवश्यक अथवा समुचित समझे जाने पर राष्ट्रपति किसी भी राज्य को निर्देश जारी कर सकते हैं कि संविधान के प्रावधान का पालन किया जाए।

350 (बी) : (1) भाषाई अल्पसंख्यकों के लिए एक विशेष अधिकारी होगा, जिसकी नियुक्ति राष्ट्रपति करेंगे।

(2) विशेष अधिकारी का दायित्व होगा कि वह इस संविधान के अंतर्गत उल्लिखित भाषाई अल्पसंख्यकों के लिए सुरक्षा के उपायों से संबंधित सभी मामलों की जांच करे और राष्ट्रपति के निर्देशानुसार समय-समय पर राष्ट्रपति को रिपोर्ट दे। राष्ट्रपति सभी ऐसी रिपोर्ट संसद के हरेक सदन के पटल पर रखे जाने तथा संबद्ध राज्यों की सरकारों को भेजे जाने का प्रबंध करेंगे।

इस प्रकार कोई औपचारिक या निश्चित परिभाषा न होने के बावजूद हम प्रायः समय-समय पर की जाने वाली न्यायिक घोषणाओं का अनुसरण करते हैं। लेकिन एक बात पूरी तरह स्पष्ट है कि अल्पसंख्यकों के बारे में सभी अंतर्राष्ट्रीय मान्यता प्राप्त प्रामाणिक सिद्धांत भारत के संविधान में निहित हैं। व्यावहारिक स्तर पर भारत में 'अल्पसंख्यक' शब्द बार-बार धार्मिक संप्रदायों-मुसलमान, ईसाई, सिख, पारसी (जोरस्त्रियाई) और यहूदियों के संदर्भ में प्रयोग में लाया जाता है। इनमें बौद्ध और जैन भी शामिल हैं जिससे स्पष्ट है कि सभी अहिंदू संप्रदाय अल्पसंख्यक श्रेणी में आते हैं। धार्मिक अल्पसंख्यकों के सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक स्तर का विवरण और महत्त्वपूर्ण तथ्य तथा आँकड़े निम्नलिखित हैं।

धार्मिक समुदाय	कुल जनसंख्या का %	लिंग अनुपात (प्रति 1000 पुरुषों पर महिलायें)
हिन्दू	82.0	925
मुसलमान	12.12	930
ईसाई	2.23	994
सिख	1.94	888
बौद्ध	0.76	952
जैन	0.40	946

मुसलमान

भारत में मुसलमान सबसे बड़ा और महत्त्वपूर्ण धार्मिक अल्पसंख्यक समुदाय है। हालाँकि आँकड़ों की दृष्टि से ये अल्पसंख्यक हैं, मगर इनकी संख्या बहुत बड़ी है। इंडोनेशिया के बाद दुनिया में मुसलमानों की जनसंख्या भारत में सबसे अधिक है। भारत की कुल जनसंख्या में मुसलमानों की 12 प्रतिशत से ऊपर संख्या है और सामाजिक ताने-बाने में इनका अहम हिस्सा है। ये देश भर में फैले हुए हैं और देश के हर इलाके, राज्य और संघ शासित क्षेत्रों में अलग-अलग संख्या में रहते हैं। जम्मू और कश्मीर तथा लक्षद्वीप में मुसलमान बहुसंख्यक हैं और कई अन्य राज्यों में महत्त्वपूर्ण अल्पसंख्यक हैं:

- असम, केरल और पश्चिम बंगाल में कुल 20% से अधिक।
- उत्तर-प्रदेश, बिहार और कर्नाटक में 10-20 प्रतिशत।
- आंध्र प्रदेश, मध्य प्रदेश, हरियाणा, राजस्थान और गुजरात में 5 से 10%।
- आँकड़ों की दृष्टि से उनकी सबसे ज्यादा संख्या उत्तर प्रदेश और बिहार में है।

- शेष अन्य क्षेत्रों में वे 1-5% तक की संख्या में हैं।
- सिक्किम, मिजोरम, मेघालय और नागालैंड में मुस्लिम 1 प्रतिशत से भी कम हैं।
- यह एक विशेष तथ्य है कि जिन राज्यों में मुसलमानों का प्रतिशत अधिक है, वहाँ मुसलमानों की जनसंख्या अधिक नहीं है।

मुसलमानों के बारे में एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि इनकी शहरी जनसंख्या दूसरों की तुलना में काफी अधिक है। करीब 35 प्रतिशत या उससे भी अधिक मुसलमान शहरी क्षेत्रों में रहते हैं और उनकी आर्थिक स्थिति एवं स्वास्थ्य देखभाल तथा शैक्षिक सुविधाओं पर इसकी गहरी छाप है।

आर्थिक परिदृश्यः- सभी उपलब्ध अध्ययनों, सर्वेक्षणों और रिपोर्टों के अनुसार मुसलमान शैक्षिक और आर्थिक तौर पर पिछड़ा समुदाय है। मुसलमानों की जनसंख्या का बड़ा हिस्सा घोर गरीबी में जी रहा है। गरीबी की रेखा के नीचे जीने वाले मुसलमानों की संख्या 43 प्रतिशत है जो राष्ट्रीय औसत से कहीं ज्यादा है। ग्रामीण इलाकों में वे ज्यादातर भूमिहीन हैं और रोजगार के अवसरों तक उनकी पहुँच दूसरों की तुलना में कम है। मुसलमानों की आबादी का बड़ा हिस्सा, 54 प्रतिशत, स्वरोजगाररत है और अपनी रोजी रोटी छोटे मोटे व्यवसायों, लघु उद्योगों तथा कम मजदूरी वाले कामों से चलाता है। ग्रामीण क्षेत्रों में ज्यादातर मुसलमान खेतिहर मजदूर और दस्तकार हैं। शहरी क्षेत्रों में वे अपनी आजीविका दस्तकारी और उद्योगों में काम करके चलाते हैं। अन्य समुदायों की तुलना में इनमें कामकाज में महिलाओं की भूमिका काफी कम है। वे परिवार की अर्थव्यवस्था में आम तौर पर घर की चहारदीवारी के अंदर होने वाले कामों के द्वारा ही सहयोग करती हैं। विशेष तौर पर शहरी इलाकों में वे बीड़ी बनाने, लखनऊ में चिकनकारी और ऐसे ही अन्य कामों में लिप्त हैं।

मुसलमान दस्तकारी में निपुण होते हैं; इसे लेकर दो राय नहीं हैं। सदियों से वे विभिन्न प्रकार की दस्तकारी में लगे हुए हैं। यही बात उनके लिए अभिशाप भी साबित हो रही है। मशीनीकरण और औद्योगीकरण की चुनौतियों, बाजार की नई शक्तियों के बीच वित्तीय संस्थाओं से पर्याप्त मदद न मिलने के कारण वे अब केवल दिहाड़ी श्रमिक बनकर रह गए हैं। ज्यादातर मामलों में ऐसी इकाइयों पर उनका स्वामित्व भी समाप्त हो चुका है लेकिन फिर भी निम्नलिखित उद्योगों में उनका हिस्सा ठीकठाक है:-

चूड़ी, कांच उद्योग	फीरोजाबाद (उ.प्र.)
ऊनीवस्त्र, लकड़ी उद्योग	सहारनपुर (उ.प्र.)
गलीचे	भदोही, मिर्जापुर (उ.प्र.)
पीतल के बर्तन	मुरादाबाद (उ.प्र.)
लुंगी	चेन्नई, (तमिलनाडु)
ऊनी शाल, गलीचे	जम्मू-कश्मीर
चिकनकारी	लखनऊ (उ.प्र.)

ताले	अलीगढ़ (उ.प्र.)
जूते	कानपुर (उ.प्र.)
चमड़ा	कोलकाता, चेन्नई
कैंची	मेरठ (उ.प्र.)
रेशम	रामनगरम् (कर्नाटक)

सर्वेक्षण रिपोर्टों के अनुसार इन्हीं में से कुछ उद्योगों में उनका दबदबा अच्छा खासा है, ज्यादातर अन्य उद्योगों में वे मजदूरी करते हैं।

राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण (National Sample Survey Organization) रिपोर्ट 1988, रिज़र्व बैंक ऑफ इंडिया की रिपोर्ट 1992, अल्पसंख्यकों संबंधी **गोपाल सिंह समिति** की रिपोर्ट और कई अन्य अध्ययन भारत में मुस्लिम सामाजिक-आर्थिक परिदृश्य की तस्वीर पेश करते हैं।

- 52.3 प्रतिशत मुसलमान गरीबी की रेखा से नीचे 160 रुपए प्रतिमाह या उससे भी कम आमदनी में जीवनयापन करते हैं।
- 50.5 प्रतिशत मुसलमान निरक्षर हैं।
- भारत में हाई स्कूल तक शिक्षा पाने वाले लोगों में सिर्फ चार प्रतिशत मुसलमान हैं।
- भारत के स्नातकों में सिर्फ 1.6 प्रतिशत स्नातक मुसलमान हैं।
- सरकारी नौकरियों में सिर्फ 4.4 प्रतिशत मुसलमान हैं।
- व्यवसाय शुरू करने के लिए सरकार से वित्तीय सहायता पाने वाले भारतीयों में से सिर्फ 3.7 प्रतिशत मुसलमान हैं।
- सरकारी बैंकों से औद्योगिक ऋण प्राप्त करने वाले भारतीयों में सिर्फ 5 प्रतिशत मुसलमान हैं।
- सरकार से ऋण पाने वाले भारतीयों में सिर्फ 2 प्रतिशत मुसलमान हैं।

इस बात का ध्यान रखा जाना चाहिए कि ऊपर उल्लिखित अधिकतर आँकड़े सार्वजनिक क्षेत्र से हैं, जहाँ सांप्रदायिक पक्षपात ज्यादा कठिन है और रोजगार से संबंधित आँकड़े अपेक्षाकृत आसानी से उपलब्ध हो जाते हैं, तथा जिन्हें छुपाना मुश्किल है। ताकतवर और विशाल निजी क्षेत्र ऐसा कहीं बड़े पैमाने पर, अधिक प्रभावी तरीके से तथा खुलेआम करता है। यह बात दुर्भाग्यपूर्ण है कि ऊपर उल्लिखित आँकड़े और तथ्य जमा किए जाने के एक दशक से भी अधिक समय बीत जाने के बावजूद भारतीय मुसलमानों और अन्य समुदायों के बीच की खाई उतनी ही चौड़ी है, जितनी पहले थी। **राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संगठन** (NSSO) द्वारा किए गए ताजा देशव्यापी 55वें सर्वेक्षण (2001-2002) में भी निराशाजनक तथ्य ही हाथ लगे हैं।

यह सरकारी **राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संगठन** का वही सर्वेक्षण है, जिसमें उपभोग, व्यय, रोजगार तथा सरकार द्वारा नीति निर्धारण के दैनंदिन उपयोग में आने वाले अन्य उपादानों में प्रायः भरोसेमंद अनुमान होते हैं। इसी सर्वेक्षण के कुछ प्रमुख परिणाम निम्नलिखित हैं।

- सर्वेक्षण के अनुमानों से पता चलता है कि अन्य समुदायों के मुकाबले मुसलमानों का उपभोग स्तर नीचा है। सबसे सही त्वरित आर्थिक मानक यह माना जाता है कि कोई व्यक्ति खाने, कपड़े, मनोरंजन और उपभोग की अन्य वस्तुओं पर कितना खर्च करता है। परिवार के हर सदस्य द्वारा औसत उपभोग खर्च, ग्रामीण मुसलमानों में 29 प्रतिशत के यहाँ 300 रु0 मासिक से भी कम था, जबकि ग्रामीण हिंदुओं में यह अनुपात 26 प्रतिशत था। शहरों और कस्बों में यह अंतर और भी अधिक है।
- ग्रामीण भारत में यदि भूमि को जोतने-बोने को अब भी वहाँ की जनसंख्या के आर्थिक स्तर का द्योतक माना जाए तो मुसलमान वंचित दिखाई देते हैं। भूस्वामी मुसलमान परिवारों में से 51 प्रतिशत के पास तो बहुत मामूली जमीन है और या फिर वे भूमिहीन हैं, जबकि अन्य समुदायों में ऐसे परिवारों की संख्या सिर्फ 40 प्रतिशत है।
- ग्रामीण क्षेत्रों में मुसलमानों में बेरोजगारी भी अधिक है, मगर यह अपेक्षाकृत कस्बों में कुछ ही ज्यादा है।
- मुसलमानों के बीच निरक्षरता की दर भी अधिक है, ग्रामीण क्षेत्रों में सात वर्ष से अधिक उम्र के 48 प्रतिशत मुसलमान पढ़ लिख नहीं सकते जबकि शहरी क्षेत्रों में उनमें से 30 प्रतिशत ही इस श्रेणी में आते हैं।
- यदि 1999-2000 में भारतीय मुसलमान (ताजा जानकारी के अनुसार) उपभोग, शिक्षा, रोजगार और भूमि के स्वामित्व के मामले में ज्यादा पिछड़े हुए थे तो भी समय के साथ आये परिवर्तन यह नहीं जताते कि दोनों भारतीय धार्मिक समुदायों के बीच यह फासला घट रहा है।
- **भारतीय नमूना सर्वेक्षण संगठन** के सर्वेक्षणों से पता चलता है कि 1990 के दशक में यह फासला या तो स्थिर था या फिर और बढ़ रहा था।
- उसी सर्वेक्षण के अनुमानों से पता चलता है कि भारत के गरीबों में से 90 प्रतिशत अनुसूचित जाति और जनजाति, अन्य पिछड़ी जाति तथा मुसलमान समुदायों के सदस्य हैं।
- प्रशासनिक सेवाओं में भी मुसलमानों की संख्या बहुत कम है। भारतीय प्रशासनिक सेवा (IAS) में उनकी संख्या सिर्फ 2.68 प्रतिशत, भारतीय पुलिस सेवा (IPS) में 2 प्रतिशत, ए ग्रुप की सेवाओं में 3.04 प्रतिशत और बैंकों तथा अन्य सार्वजनिक क्षेत्रों के प्रतिष्ठानों में 2 प्रतिशत है। इसी तरह मेडिकल और इंजीनियरिंग कालेजों में भी उनकी संख्या बहुत कम है।

भारतीय मुसलमानों का अपेक्षाकृत काफी कम विकास मुसलमानों और भारत दोनों की ही समस्या है। **योजना आयोग** द्वारा अल्पसंख्यकों पर बनाए गए उपसमूह की रिपोर्ट से भी यही पता चलता है कि इसमें कोई उल्लेखनीय सुधार नहीं हो रहा है। इसके बावजूद यह हर्ष का विषय है कि भारतीय अर्थव्यवस्था में अपेक्षाकृत हाशिए पर होने के बावजूद कुछ भारतीय मुसलमान

अर्थव्यवस्था के महत्त्वपूर्ण दायरों में उपस्थिति दर्ज करवा रहे हैं। अजीम प्रेमजी और उनकी कंपनी विप्रो, सिपला एवं ऐसी ही कुछ दूसरी कंपनियों की सफलता की कहानियाँ सबसे सटीक उदाहरण जो हैं यह दर्शाती हैं कि भारतीय मुसलमानों में भी, बहुत छोटा ही सही, एक संपन्न अभिजात वर्ग का उदय हो चुका है।

शिक्षा

ऊपर उल्लिखित तथ्यों के अनुसार साक्षरता और शिक्षा के क्षेत्र में मुसलमानों की स्थिति राष्ट्रीय औसत से कम है। कुछ लोगों के अनुसार इसका कारण उनका आर्थिक पिछड़ापन है, जबकि कुछ का यह मानना है कि ऐसा उनकी धार्मिक मान्यताओं के कारण है। आम तौर पर यह भी माना जाता है कि इस्लाम में इहलौकिक (secular) शिक्षा की मनाही है और सिर्फ धार्मिक शिक्षा पर जोर दिया जाता है और इसीलिए उनके द्वारा इतने सारे **मदरसे** और बहुत कम विद्यालय और कॉलेज चलाए जाते हैं। यदि आधुनिक-सेक्युलर शिक्षा की राह में धर्म आड़े आता है तो ईरान जैसे धार्मिक देशों में जहाँ मुल्लाओं का शासन है, विज्ञान और प्रौद्योगिकी की शिक्षा पर इतना अधिक जोर क्यों दिया जा रहा है या दुनिया में सबसे अधिक मुसलमान जनसंख्या वाले देश इंडोनेशिया में सेक्युलर शिक्षा पर इतना अधिक निवेश क्यों किया जा रहा है।

मुसलमानों के शैक्षिक स्तर पर वर्ष 1974 में देश में बंटवारे का भारी असर हुआ। आधुनिक, शिक्षित, मध्य और उच्च वर्ग के मुसलमान पाकिस्तान पलायन कर गए खासकर उत्तर और पश्चिमी भारत में, और यहाँ बचे मुसलमान अधिकतर गरीब तथा अशिक्षित थे। यहाँ रह जाने वाले मुसलमानों में मध्यवर्गीय मुसलमानों की संख्या बहुत कम थी और अधिक तादाद कारीगरों, छोटे-मोटे व्यापारियों, कुली, रिक्शा चालक, तांगा वाले तथा शहरी क्षेत्रों में लम्पट तत्त्व और ग्रामीण क्षेत्रों में छोटे किसान, भूमिहीन खेतिहर मजदूर तथा अन्य की बहुतायत थी। इतने पिछड़े आर्थिक स्तर के कारण उन्हें आधुनिक सेक्युलर शिक्षा में सीखने से कोई खास लाभ नहीं दिखाई दिया। शैक्षिक पिछड़ेपन के कुछ अन्य कारण भी हैं: पहला तो यह कि शहरी क्षेत्रों में अधिकतर मुसलमान कारीगर और छीपी, बुनकर और मनिहार हैं। बच्चों को स्कूल भेजने को वे अपनी हैसियत से बाहर ही नहीं समय की बर्बादी मानते हैं, क्योंकि उनके बच्चे पुश्तैनी या माँ-बाप के काम में हाथ बँटाते हैं। इसके बावजूद बच्चों को **मदरसा** तो सुबह और रात को भी भेजा जा सकता है। इसके अलावा मुसलमानों की कमजोर आर्थिक स्थिति और माँ-बाप की इस मान्यता कि उनके बच्चों को तो पढ़ने पर भी नौकरी नहीं मिलेगी- (भले ही यह हमेशा सही न हो) के कारण भी वे अपने बच्चों को विद्यालय या महाविद्यालय भेजने से कतरा जाते हैं। अपना जीवन स्तर सुधारने के लिए महत्वाकांक्षा या अवसरों की कमी भी उनकी इस कतराहट का कारण है। माँ-बाप की गरीबी के कारण अधिकतर बच्चे पढ़ाई भी अधूरी छोड़ देते हैं। प्राथमिक स्तर के बाद ऐसे बच्चों की संख्या 60 प्रतिशत से भी अधिक है और इसलिए उनकी आबादी 12 प्रतिशत से अधिक होने के बावजूद भारतीय स्नातकों में उनका प्रतिशत बमुश्किल 4 प्रतिशत है।

बुरी तरह बदनाम और आलोचना के शिकार मदरसों ने मुसलमानों को शिक्षित करने में

महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है, विशेषकर मुसलमानों में साक्षरता के प्रसार में। मदरसों में दी जाने वाली शिक्षा में हालाँकि पारंपरिक रूप से इस्लाम के धर्मशास्त्र, तर्क, दर्शन तथा इतिहास का ही ज्ञान दिया जाता है मगर आधुनिक और सेक्युलर जानकारियाँ भी अब पाठ्यक्रम में जोड़ी जा रही हैं। इस प्रकार वर्तमान **मकतबों** और **मदरसों** में सुधार की आवश्यकता है ताकि उनमें मजहबी तालीम के साथ-साथ आधुनिक शिक्षा शुरू कराने की संभावनाएँ बनाई जा सकें। कर्नाटक, केरल और आंध्र प्रदेश जैसे राज्यों तथा उत्तर प्रदेश एवं बिहार के भी कुछ मदरसों में विज्ञान, गणित, भूगोल और कम्प्यूटर शिक्षण को मदरसों के पाठ्यक्रम में शामिल कर लिया गया है। केंद्र सरकार और कई राज्यों की सरकारें **राज्य मदरसा शिक्षा परिषद्** का गठन करके मदरसा शिक्षा के आधुनिकीकरण में सहायता कर रही हैं। मकतबों और मदरसों के प्रचलित होने का एक कारण यह भी है कि सरकार ने छोटे कस्बों तथा ग्रामीण क्षेत्रों में आधुनिक शिक्षा के लिए समुचित उपाय नहीं किए हैं। इसलिए गरीब मुसलमान परिवारों के बच्चों को मजहबी तालीमघरों व मदरसों तथा हिंदुओं के बच्चों को पाठशालाओं का ही रुख करना पड़ता है।

हाल के दिनों में कुछ सांप्रदायिक-राजनीतिक निहित स्वार्थों वाली शक्तियों ने मदरसों को लेकर घोर दुष्प्रचार किया है। यह 'राष्ट्रविरोधी' गतिविधियों के केन्द्रों के रूप में प्रचारित किये गये हैं। हो सकता है कि कुछ लोग व्यक्तिगत रूप से राष्ट्रविरोधी गतिविधियों में लिप्त रहे हों लेकिन सारे मदरसों पर यह इल्जाम लगाना गैरजिम्मेदाराना हरकत है। अपने रूढ़िवादी तौर तरीकों व गैर आधुनिक शिक्षा प्रणाली व पाठ्यक्रम को लेकर मदरसों की आलोचना की जा सकती है लेकिन इस प्रकार का प्रचार एक पूरे समुदाय के साथ अन्याय होगा। यह बात सही है कि मुसलमानों के लिए शिक्षा एक चुनौती भी हैं और अधिकतर समस्याओं का समाधान भी।

सामाजिक परिस्थितियाँ

भारतीय मुसलमान एक 'सांस्कृतिक समुदाय' (cultural community) नहीं हैं, क्योंकि उनकी न तो समान भाषा है और न ही वे एक समान जीवन पद्धति का पालन करते हैं। वे देश के किसी एक हिस्से में भी सीमित नही हैं और इस प्रकार वे 'क्षेत्रीय समुदाय' भी नहीं हैं। "वे भारत में विभिन्न भागों में पैदा होते, जीते और मरते हैं और विविध भाषाएँ बोलते हैं। उनमें एक ही साझी विशेषता है कि वे सभी एक ही धर्म के अनुयायी हैं जिसमें वे दुनियाभर के मुसलमानों के साथ भागीदार हैं। इसलिए धर्म को उनकी अस्मिता का प्रतीक माना जाना गलत और अतार्किक है" (टी.के. ऊमेन, १९९८)। लेकिन विडंबना यह है कि धार्मिक अल्पसंख्यकों को चिन्हित करने के लिए धर्म पर आधारित सामाजिक-सांस्कृतिक विशेषताओं को बढ़ा-चढ़ाकर उनके खिलाफ इस्तेमाल किया जाता है।

कई लोग यह मानते हैं कि भारत के बँटवारे के लिए वे ही जिम्मेदार हैं। लेकिन यहाँ पर तीन महत्त्वपूर्ण तथ्यों की अनदेखी नहीं की जानी चाहिए। पहली यह कि बँटवारे के लिए मुसलमानों को दोषी ठहराए जाने का आरोप उत्तर भारत, विशेषकर उत्तर प्रदेश के अभिजात मुसलमानों पर ही लागू हो सकता है। दूसरा यह कि मुसलमानों में भी भारी संख्या में लोग उपनिवेश

विरोधी स्वतंत्रता आंदोलन में शामिल थे। तीसरा यह कि बँटवारे के समय भारत के लिए निर्धारित सीमा से बहुत ही कम संख्या में मुसलमानों ने पाकिस्तान पलायन किया था; भारी संख्या में उन लोगों ने यहीं रहना पंसद किया था।

भारतीय मुसलमान, हिंदुओं और अन्य समुदायों की तरह, इस्लाम की विचारधारा के विपरीत जातीय सामाजिक भेद में फँसे हुए हैं। उनके बीच भी उच्च और निम्न जातीय समूह हैं- सैय्यद और शेख जैसी उच्च जातियों के लिए अशरफ का उल्लेख किया जाता है और निम्न जातियों के लिए अजलफ का उल्लेख किया जाता है। वे अधिकतर विशिष्ट व्यवसायों से जुड़े जातीय और कारीगर समूह हैं जैसे- **जुलाहे** (बुनकर), **कसाई** (मांस बेचने वाले), **रईन** (सब्जी बेचने वाले), **मनिहार** (चूड़ी पहनाने वाले), **बढ़ई** (लकड़ी का काम करने वाले) आदि। इसके साथ ही उनके बीच भी पिछड़ी जातियों का मजबूत आंदोलन चल रहा है, जिससे **अशरफ** जातियाँ हाशिये पर आ रही हैं।

सैद्धांतिक विविधता (doctrinal variety), सामाजिक सोपानिकी तथा आर्थिक स्तरीकरण मुसलमानों के साथ भी काफी गहराई तक जुड़े हुए हैं- हालाँकि वे हिंदुओं की तरह इतने सार्वजनिक, खुले, प्रत्यक्ष तथा प्रचारित नहीं हैं। **शिया, सुन्नी** और **वहाबी** या **ख़ोजा, बोहरा** और **आग़ाखानी** धार्मिक व अर्द्धधार्मिक मान्यताओं व प्रथाओं पर आधारित कई प्रकार के भेदों के कुछ चुनिंदा उदाहरण हैं।

महिलाओं की स्थिति, बहुविवाह प्रथा, परिवार नियोजन तथा समान नागरिक संहिता बनाम **शरीयत** कानून ऐसे मुद्दे हैं जो आमतौर पर सापेक्ष पूर्वाग्रहों, पूर्व निर्धारित मान्यताओं और निरर्थक अफवाहों पर आधारित हैं। उनकी सामाजिक स्थिति को ठीक से समझने के लिए इन मुद्दों का सही परिप्रेक्ष्य व तार्किक समझ आवश्यक है। मुसलमानों में महिलाओं की स्थिति पर जब हम गौर करते हैं तो हमें यह ईमानदारी से स्वीकार करना चाहिए कि पश्चिमी समाज के मुकाबले भारत में महिलाओं का स्तर आम तौर पर नीचा ही है। यदि मुसलमानों में महिलाओं की स्थिति का आकलन सिर्फ एक आधार पर जैसे-तलाक में आसानी अथवा 'तीन तलाक' पर किया जाए तो फिर हिंदुओं में व्यापक दहेज समस्या, महिलाओं का उत्पीड़न और बहुओं को जलाने के हादसों के बारे में क्या कहा जाए? कई मुसलमान देशों में जहाँ महिलाएँ अधिक सशक्त हैं और उनका सामाजिक दर्जा भी ऊँचा है, इस बात की ओर इंगित करते हैं कि मुलसमान औरतों के सामाजिक उत्थान में धर्म बहुत अधिक आड़े नहीं आता। इस तर्क में धार्मिक सत्ता शासित वर्तमान ईरान, मिस्र, इंडोनेशिया, तुर्की आदि का उदाहरण दिया जा सकता है। भारतीय मुस्लिम महिलाओं के शैक्षिक रूप से पिछड़े होने पर ध्यान दें तो पता चलेगा कि पारंपरिक समाज में हमेशा उन्हें अशिक्षित रखने का प्रयास किया गया या फिर सिर्फ बुनियादी मजहबी तालीम ही दी गयी ताकि वे अपने धार्मिक कर्तव्य पूरे कर सकें और इससे ज्यादा कुछ नहीं। लेकिन यह धार्मिक या विचारधारात्मक समस्या के बजाय एक सामाजिक समस्या है।

हमारा रुख धार्मिक या विचारधारा के कारणों की तरह ही सामाजिक कारणों से भी तय

होता है। कई बार सामाजिक पहलू धार्मिक या विचारधारात्मक पहलुओं पर भी हावी हो जाते हैं। यदि उनके बीच शिक्षा का स्तर अपेक्षाकृत नीचा है तो इसका कारण धार्मिक से ज्यादा सामाजिक-आर्थिक है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि शिक्षा और सामाजिक-आर्थिक स्तर एक-दूसरे से गहरे रूप से जुड़े हुए हैं। लेकिन इनके पीछे किसी समाज में प्रचलित मूल्यों का भी बड़ा हाथ होता है। सच यह है कि इस्लाम से उन्हें जो भी मिला उसे पुरुषों के आधिपत्य वाले समाज में छीन लिया गया। लेकिन परिस्थितियाँ तेजी से बदल रही हैं। आधुनिकता का मुसलमानों पर भी असर हो रहा है। मुसलमान लड़कियाँ आधुनिक शिक्षा ग्रहण कर रही हैं, जीवन के हर क्षेत्र में वे भागीदार हैं, पारिवारिक स्तर पर निर्णय प्रक्रिया में उनकी भागीदारी पहले से कहीं अधिक है और उनमें से कई अब 'धार्मिक धमकियों' को चुनौती भी देने लगी हैं।

भारत में राजनैतिक हित साधने के लिए मिथ्या प्रचार बड़ी गहराई से किया जाता है। इसका एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण है बहुपत्नीवाद और जनसंख्या में बढ़ोत्तरी के बारे में चल रहा सांप्रदायिक प्रचार। इसका सच जानने के लिए प्रत्यक्ष आँकड़ों का तार्किक और वस्तुनिष्ठ परीक्षण आवश्यक है। धार्मिक परम्पराओं और कानून के अनुसार कोई भी मुसलमान पुरुष एक से अधिक पत्नी रखा सकता है। लेकिन क्या यह व्यवहारिक रूप से सच है? वर्ष 1991 की जनगणना के आँकड़ों के अनुसार भारतीय मुसलमानों में 1,000 पुरुषों के मुकाबले महिलाओं की संख्या 930 है। ऐसी स्थिति में क्या बड़े पैमाने पर बहुपत्नीवाद संभव है? वैज्ञानिक विश्लेषण के आधार पर कोई भी जनसंख्या विशेषज्ञ इस दावे को खारिज कर देगा। **भारत में महिलाओं की स्थिति पर राष्ट्रीय समिति** *(1971-74)* की रिपोर्ट से निम्नलिखित 'आश्चर्यजनक' जानकारियाँ उजागर हुईं तो इससे कई लोक अचंभित हो गये।

भारत में बहुविवाह प्रथा की स्थिति

1. आदिवासी समुदाय- 15.2 प्रतिशत
2. बौद्ध- 7.8 प्रतिशत
3. जैन- 6.7 प्रतिशत
4. हिंदू- 5.8 प्रतिशत
5. मुसलमान- 5.7 प्रतिशत

इन आँकड़ों की पुष्टि भारत के महापंजीकरण और जनगणना आयुक्त के कार्यालयों में भी उपलब्ध है तथा '*भारत में बहुपत्नी विवाह- एक सर्वेक्षण*' इसका उदाहरण है। इस रिपोर्ट में उल्लिखित तथ्यों के अनुसार बहुविवाह के लिए सांस्कृतिक कारणों के अतिरिक्त पत्नी का बांझपन, बेटा पैदा न हो पाना, भाई की विधवा से शादी की प्रथा आदि के अतिरिक्त ऐसे समुदायों में एक से ज्यादा पत्नी रखने का कारण आर्थिक भी है, जिनमें महिलाएँ परिवार की आमदनी में भारी योगदान करती हैं। मुसलमान और हिंदू दोनों में ही कुछ कारीगर समूहों में यह प्रथा है कि एक अतिरिक्त आदमी रखने के बजाय एक अतिरिक्त पत्नी को रख लिया जाय तो वे सस्ती पड़ेंगी।

इस प्रकार बहुविवाह प्रथा का अपने समाजों में महिलाओं की स्थिति और भूमिका से सीधा संबंध है। जहाँ तक जनसंख्या वृद्धि का प्रश्न है तो यह सच है कि मुसलमानों में जन्मदर मामूली रूप से दूसरों से अधिक है। परिवार नियोजन के उपायों की स्वीकार्यता और जन्मदर कई कारणों पर निर्भर है। इनमें प्रमुख हैं व्यवसाय, आमदनी, नई प्रौद्योगिकियों में पहुँच, शिशुओं के जीवित बचने की दर, शिक्षा एवं कौशल, बच्चों का आर्थिक महत्त्व और बुढ़ापे की सुरक्षा (*योजना आयोग की जनसंख्या नीति पर गठित कार्य समूह की रिपोर्ट*)।

इन तथा अन्य कारणों से इस संभावना की पुष्टि होती है कि मुसलमानों में जन्मदर मामूली रूप से अधिक होने के कारण सभी क्षेत्रों में उनका अपेक्षाकृत अधिक वंचित होना है। यदि तथ्यों का बिना पूर्वाग्रह के परीक्षण किया जाय तो यह स्वाभाविक निष्कर्ष निकलेगा कि जनसंख्या वृद्धि में धर्म कोई बुनियादी या निर्णायक कारण नहीं है। इसी पृष्ठभूमि में ऐसे तथ्य भी महत्त्वपूर्ण हैं कि केरल के मालाबार क्षेत्र में जन्म दर उत्तर प्रदेश की तुलना में बहुत कम है जबकि मुलसमानों की आबादी वहाँ 40 प्रतिशत और उत्तर प्रदेश में उनकी आबादी सिर्फ 17 प्रतिशत है। इसी तरह कैथोलिक ईसाइयों की बड़ी आबादी के बावजूद गोवा में जन्मदर पूरे देश के मुकाबले काफी कम है। ऐसे में यदि धार्मिक कारण इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है तो फिर ऊपर उल्लिखित कारणों के अतिरिक्त भारतीय मुसमलानों की आबादी में बढ़ोत्तरी की दर लगातार अधिक रहने का क्या कारण है? स्वामीनाथन एस. अंकलेसरिया अय्यर (2001) निम्नलिखित कारण भी गिनाते हैं:

- पारंपरिक हिंदू विधवा विवाह नहीं होने देते, जबकि मुसलमान इसे बढ़ावा देते हैं।
- प्रवासी श्रमिकों में हिंदुओं की संख्या बहुत अधिक है और पुरुषों के घर से लंबे समय तक बाहर रहने के कारण महिलाएँ कम बच्चे पैदा कर पाती हैं।
- मुसलमानों में साक्षरता दर कम है, विशेषकर मुसलमान औरतों में; और दुनियाभर में यह माना जाता है कि महिलाओं के निरक्षर होने पर संख्यादर कम नहीं होती।
- सरकार की असफलता दुनियाभर में लोगों को गर्भनिरोधक इस्तेमाल करने के लिए प्रवृत्त करने में सरकारी प्रयासों का विशेष महत्त्व रहा है। ईरान, लीबिया, मिस्र तथा अन्य कई देशों में सरकारें मुसलमानों को गर्भनिरोधक अपनाने के लिए मनाने में सफल रही हैं। लेकिन भारत में मुसलमानों को सरकार इस बारे में अपेक्षित रूप से नहीं मना पाई है। इसलिए इस सिलसिले में मुसलमानों की संस्कृति और धर्म पर दोष नहीं मढ़ा जाना चाहिए।

समान नागरिक संहिता बनाम **शरीयत** कानून की बहस भी विवादास्पद मुद्दा रहा है और इसका आधार भ्रांति, समाजशास्त्रीय विरूपण और पूर्वनिर्धारित मान्यताएँ रही हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो भारत में इस्लाम विधिक प्रणाली के बजाय राजनैतिक सत्ता के रूप में प्रचलित रहा। मुसलमानों द्वारा सदियों राज किए जाने के बावजूद **शरीयत** कभी पूरी तरह लागू नहीं की जा सकी। धार्मिक के बजाय, सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक कारण अधिक महत्त्वपूर्ण रहे। रफीक जकरिया (1994) ने यह ठीक कहा है कि मुस्लिम पर्सनल लॉ, लॉर्ड मैकाले के उकसावे पर कुछ

मौलवियों द्वारा तैयार किया गया दस्तावेज है। कई मामलों में यह *फुतूहात-ए-आलमगीरी यानी* मुगल बादशाह औरंगजेब के राज में सुनाए गए न्यायिक फतवों पर आधारित है। यह नवीनताओं (innovations) से भरपूर है और इसे मोहम्मदिया कानून (Mohammadan Law) भी कहा जाता है जो कि अपने आप में भ्रामक है। इसे अंग्रेजों के राज में **प्रिवी काउंसिल** के फैसलों और बँटवारे से पहले की **सेंट्रल एसेंबली** के मुसलमान सदस्यों द्वारा पेश किए विधायी उपायों के सहयोग से काफी हद तक सुधारा गया था। इसके साथ ही कुछ वर्ग प्रथागत कानूनों (customary laws) से शासित होते रहे। इसी प्रकार शरीयत द्वारा प्रतिबंधित सूदखोरी पठानों और प्रवासी अरबों जैसे रूढ़िवादी मुसलमानों द्वारा बड़े पैमाने पर अपनाई गयी। ऐसी इस्लाम विरोधी प्रथाओं की निंदा न करने में, व्यवहारिक मजबूरियों के कारण धर्मशास्त्रियों की मिलीभगत थी।

यदि हम भारतीय समाज के धर्मनिरपेक्ष वर्गों द्वारा अक्सर मुस्लिम पर्सनल लॉ को सुधारने के लिए की जाने वाली माँग पर ध्यान दें तो पाएँगे कि उसमें इसे पूरी तरह बदल देने की कोशिश निहित नहीं, जबकि मुसलमानों की पहचान की विरोधी **हिंदुत्ववादी** ताकतों द्वारा की जाने वाली माँग इसके ठीक विपरीत है। प्रगतिशील और धर्मनिरपेक्ष ताकतों द्वारा मुस्लिम पर्सनल लॉ में कुछ वांछित परिवर्तनों को लागू करने की माँग इस्लाम की भावना की विरोधी प्रतीत नहीं होती। बहुविवाह प्रथा और तलाक के मुद्दों को लेकर जो भी विवाद खड़ा किया गया है, उसके परिप्रेक्ष्य में यही कहा जा सकता है,कि इस्लाम में कुछ निश्चित मर्यादाओं के भीतर बहुविवाह की अनुमति दी जरूर गई है लेकिन इसकी हरेक को अनुमति नहीं है। अधिकतर मुसलमान देशों में भी इस अधिकार पर कड़ी बंदिशें लागू हैं और यदि भारतीय संसद चाहे तो मुसलमानों तथा गैर मुसलमानों के लिए बहुविवाह को पूरी तरह प्रतिबंधित न करने का कोई कारण दिखाई नहीं देता। यह पूर्णतया इस्लाम की भावना के अनुकूल होगा। जहाँ तक तलाक का प्रश्न है, व्यवहार में मुसलमान महिलाओं के मुकाबले पुरुष फायदे में हैं हालाँकि महिलाओं द्वारा तलाक माँगने की अनुमति इस्लामी ग्रंथों में शुरू से ही है। इस सिलसिले में समान विवाह संविदा को अनिवार्य करके समानता आसानी से स्थापित की सकती है और इसमें सुरक्षात्मक उपायों का प्रावधान करके दोनों पक्षों को आर्थिक परेशानियों से भी बचाया जा सकता है।

जैसा सी.एम.नईम (1999) द्वारा बताया गया है कि मुसलमान समुदाय के अनेकों नेताओं (अधिकतर स्वयंभू) द्वारा यह दावा किया जाना कि राष्ट्रीय संसद यह परिवर्तन करने में सक्षम नहीं है, दुखदायी और खतरनाक है। उन्हें यह डर है कि यदि किसी एक मामले में संशोधन करने दिए गए तो अन्य क्षेत्रों में और परिवर्तनों का तांता लग जाएगा और मुस्लिम पर्सनल लॉ को वर्तमान हिंदू कोड में बदल दिया जाएगा। यह डर निराधार है। घोर मजहबी मुसलमानों द्वारा भी हरेक परिवर्तन का तब तक विरोध नहीं किया जाना चाहिए, जब तक उससे उनकी धार्मिक भावना का उल्लंघन न हो। इस्लाम द्वारा महिलाओं और समाज के कमजोर वर्गों को दिए गए अधिकारों को पुरुषों के आधिपत्य वाले समाज द्वारा छीनने की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए। क्या अल्पसंख्यकों के अधिकार मानवाधिकारों से अलग हैं?

राजनैतिक स्थिति

भारतीय मुसलमानों को भी भारत के सभी दूसरे नागरिकों के लिए संविधान में निहित सभी नागरिक और राजनैतिक अधिकार प्राप्त हैं। वे भी भारतीय समाज के सामाजिक-राजनैतिक तानेबाने का अटूट हिस्सा हैं। उनका चुनावी व्यवहार राजनीति विज्ञानियों के लिए गहन रुचि का विषय रहा है। यह देखकर खुशी होती है कि मुसलमानों ने आम तौर पर गैरसांप्रदायिक राजनीतिक दलों का साथ दिया है और केरल के अतिरिक्त (जहाँ **मुस्लिम लीग** का ढाँचा और चरित्र दोनों ही अलग हैं) आजादी के बाद उन्होंने मुसलमान बहुल निर्वाचन क्षेत्रों में भी किसी सांप्रदायिक मुसलमान राजनैतिक दल का आमतौर पर कभी समर्थन नहीं किया। अन्य धार्मिक समुदायों के साथ-साथ मुसलमान भी लोकतांत्रिक प्रक्रिया में सक्रिय रूप से भागीदार रहे हैं लेकिन विशेषकर 1960 के दशक के बाद बड़े पैमाने पर हो रहे सांप्रदायिक दंगों के कारण मुसलमानों में असुरक्षा का भाव आया है और उन्हें कभी-कभी सांप्रदायिकता का संकीर्ण आवरण ओढ़ने पर विवश होना पड़ता है। फरवरी-मई- 2002 के दौरान गोधरा कांड (गुजरात) के कथित विरोध में गुजरात में राज्य सरकार द्वारा प्रायोजित मुसलमान विरोधी हिंसा से न सिर्फ भारतीय मुसलमानों के विश्वास की जड़ें हिली हैं, बल्कि सभी सुधी नागरिकों को ठेस लगी है। ऐसी घटनाएँ अब अतीत के गर्त में दफन हो जानी चाहिए और भारतीय राज्यंतत्र को ऐसी घटनाओं की पुनरावृत्ति नहीं होने देना चाहिए अन्यथा सरकार अपना विधायी अधिकार खो देगी। आशुतोष वार्ष्णेय ने अपनी अप्रतिम और विद्वत्तापरक पुस्तक *एथनिक वायलेंस एंड सिविल लाइफ : हिंदुज एवं मुस्लिम इन इण्डिया (2002)* में लिखा है कि "भारत में हिंदू-मुसलमान संबंधों के मामले में सरकार वैधानिक रूप से सही आचरण की बजाय राजनैतिक रूप से रणनीतिक आचरण करती दिखाई देती है।' गुजरात में सरकार ने बुनियादी तौर पर रणनीतिक अंदाज में कार्य किया न कि वैधानिक रूप से सही तरीके से .....भारत में नागरिक कार्रवाई (citizen's action) को दो रूपों में काम करना होगा।

(अ) अपने वैधानिक दायित्व में कोताही बरतने के लिए सरकार पर दबाव जारी रखने के साथ ही, उन्हें

(ब) एकीकृत नागरिक संस्थाओं (integrated civil structures) के निर्माण पर ध्यान देना चाहिए। भारत में अभी तक नागरिक कार्रवाई के लिए यह बुनियादी रणनीति रही है। ऐसी कार्रवाई आवश्यक तो है, मगर अपर्याप्त है। नागरिक पहल (citizen's initiative) इन दोनों ही सुझावों को मिलाकर द्विपक्षीय रणनीति के हिसाब से होना चाहिए वरना सरकार सांप्रदायिक दंगों के दौरान अपने दुराचरण और मानव जीवन के प्रति सरासर अनादर के बावजूद लगातार साफ बचती रहेगी।

राजनैतिक एकीकरण का अर्थ राजनैतिक अधीनस्थता नहीं है। इसका अर्थ है भारत जैसे देश और बहुलतावादी समाज में राजनैतिक उद्देश्य के लिए घनिष्ठ एकता। स्वस्थ क्षेत्रवाद, सांस्कृतिक स्वायत्तता, भाषाओं का निर्विवाद विकास, सामाजिक संगठनों की आजादी, संघात्मक लोकतांत्रिक शासन तंत्र का मूल आधार हैं। यह अल्पसंख्यकों से ज्यादा बहुसंख्यकों-सामुदायिक

तथा राजनैतिक-को याद रखना ज्यादा जरूरी है। जाने माने राजनैतिक विज्ञानी रशीदुद्दीन खां ने अपनी महत्त्वपूर्ण राय जताते हुए कहा है कि संवैधानिक संभावनाओं और लोकतंत्र एवं परिवर्तन की प्रक्रिया के ढाँचे का फायदा उठाते हुए मुसलमान नेतृत्व को सभी स्तरों पर अपने सहधर्मियों को उनकी अलगाववादी प्रवृत्तियों से बाज आने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए तथा प्रतियोगी शासन तंत्र और उसकी एकीकृत समस्याओं के क्षेत्र में प्रवेश करना चाहिए, ताकि आधुनिकीकरण की गति तेज की जा सके। समाज की दुखती रग को पकड़ते हुए मशहूर मानवागोलविद् मूनिस रजा (1994) कहते हैं कि 'भारतीयता' और 'मुसलमानियत' दोनों ही भारतीय मुसलमानों की बुनियादी विशेषताएँ हैं और परिस्थिति के तर्कसंगत तथा वैज्ञानिक मूल्यांकन के लिए इनमें से न तो किसी की उपेक्षा की जा सकती है और न ही अनदेखी। इस प्रकार भारतीय मुसलमान, मुसलमान भारतीय भी हैं।

अतीत में मुसलमान या तो शासक रहे या फिर शासित। आज, भारत में वे सहशासक भी हैं, तथा राष्ट्रीय संप्रभुता के संयुक्त साझीदार भी। रशीदुद्दीन खां (यथावत) ने यह ठीक ही कहा है कि बहुसंख्यक समुदाय को किसी लोकतांत्रिक समाज में राष्ट्रवाद का पहला लाभ मिलता है। इसलिए अपनी अस्मिता को बनाए रखने के लिए अल्पसंख्यकों को सिर्फ राष्ट्रवाद के संवर्द्धन पर ही निर्भर न रहकर उसके साथ ही उपराष्ट्रीयता विकसित करने पर भी बाध्य होना पड़ता है। कांचा इलैय्या (2003) ने अपने चिरपरिचित, बेबाक और कठोर मगर ईमानदार विश्लेषण में कहा है कि, 'भारतीय राष्ट्रवाद सिर्फ हिंदुओं की जागीर नहीं है। यह मुसलमानों, ईसाइयों, बौद्धों तथा सिखों की भी संपत्ति है।' इस प्रकार धार्मिक अल्पसंख्यक भी किसी धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र के स्वाभाविक संरक्षक हैं।

ईसाई

भारत में ईसाई दूसरा सबसे बड़ा अल्पसंख्यक समूह है और देश की कुल आबादी में उनकी संख्या 2.34 प्रतिशत है। आम समझ के अनुसार भारत में ईसाईयत और ईसाइयों का प्रादुर्भाव अंग्रेजों के औपनिवेशिक शासन के साथ ही माना जाता है, लेकिन सुस्थापित परंपराएँ और ऐतिहासिक साक्ष्य यह बताते हैं कि ईसाई, केरल राज्य में ईसा की पहली शताब्दी से ही मौजूद रहे हैं। इसलिए ईसाइयों को सिर्फ सबसे पुराने धार्मिक अल्पसंख्यक ही नहीं बल्कि ईसाईयत को भारत के प्राचीनतम धर्मों में भी शामिल माना जाना चाहिए। इस प्रकार दो करोड़ से अधिक ईसाइयों की आबादी भारत का अटूट अंग है।

मुसलमानों की तरह ही ये देशभर में व्यापक रूप से बसे हुए हैं। कुछ राज्यों और केंद्रशासित प्रदेशों की आबादी में उनकी अच्छी जनसंख्या है। ईसाइयों के बारे में कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्य एवं आँकड़े निम्नलिखित हैं:

- ईसाइयों की सबसे अधिक आबादी देश के चार दक्षिणी राज्यों- केरल, तमिलनाडु, आंध्र प्रदेश और कर्नाटक में है।

- देश में ईसाइयों की आबादी का लगभग 56 प्रतिशत इन्हीं चार दक्षिणी राज्यों में बसा हुआ है।
- देश में ईसाइयों की कुल आबादी में से लगभग एक-तिहाई आबादी केरल में और लगभग 1/6 जनसंख्या तमिलनाडु में है।
- इसके बाद ईसाइयों की सबसे अधिक संख्या देश के पूर्वोत्तर राज्यों में है। इन राज्यों में देश की कुल ईसाई आबादी में से 22 प्रतिशत जनसंख्या उन्हीं की है तथा वह जनजातीय समुदाय है।
- देश की कुल जनसंख्या में ईसाइयों की संख्या लगभग 2.5 प्रतिशत है, परन्तु देश के तीन राज्यों में वे बहुसंख्यक हैं। इनमें से नागालैंड में उनकी जनसंख्या 88 प्रतिशत, मिजोरम में 86 प्रतिशत और मेघालय में 65 प्रतिशत है। कुछ अन्य राज्यों में ईसाइयों की संख्या अच्छी खासी है। इनमें मणिपुर में 34 प्रतिशत, गोवा में 30 प्रतिशत, केरल में 19 प्रतिशत, अरुणाचल प्रदेश में 10 प्रतिशत और तमिलनाडु में 6 प्रतिशत है। असम और सिक्किम में राज्य की कुल जनसंख्या में इनकी संख्या कुल 3 प्रतिशत है। बाकी राज्यों में ईसाइयों की संख्या 0.4 प्रतिशत से 2 प्रतिशत तक है। केंद्रशासित प्रदेशों में सबसे अधिक संख्या में (24 प्रतिशत) ईसाई अंडमान निकोबार द्वीप समूह में हैं। पांडिचेरी में भी इनकी आबादी 7 प्रतिशत है। बाकी केंद्रशासित प्रदेशों में उनकी संख्या 1 प्रतिशत से 3 प्रतिशत तक है।
- भारत के सभी धार्मिक समुदायों में से पुरुषों की तुलना में महिलाओं की सबसे अधिक संख्या ईसाइयों में ही है। इनमें 1,000 पुरुषों की तुलना में महिलाओं की संख्या 994 है। शायद इसी कारण से वे घर के बाहर अधिक दिखाई देती हैं और रोजगाररत भी हैं।
- आम मान्यता के विपरीत भारतीय ईसाई भी अधिकतर ग्रामीण हैं। भारत के कुल ईसाइयों में से 71 प्रतिशत ग्रामीण हैं। इसमें एक और दिलचस्प तथ्य यह है कि दक्षिण और पूर्वोत्तर भारत में ईसाई जहाँ अधिकतर ग्रामीण हैं वहीं उत्तर भारत में ये अधिकतर शहरी हैं।
- भारत के सभी धार्मिक अल्पसंख्यक समुदायों में से सबसे अधिक साक्षर ईसाई ही हैं। इसका प्रमुख कारण मिशनरियों के अनथक प्रयास हैं।

भारतीय मुसलमानों की तरह ही भारतीय ईसाई भी कोई 'सांस्कृतिक समुदाय' नहीं हैं। वे विभिन्न भाषाएँ बोलते हैं, उनकी जीवनशैली भिन्न है और वे किसी एक क्षेत्र में सीमित नहीं हैं। धर्म के मामले में भी मुसलमानों की तरह ही वे विभिन्न धार्मिक पंथों में बँटे हुए हैं। लेकिन भारत में सिर्फ 5 मुख्य समूह ही दिखाई देते हैं, जिनमें से विभिन्न शाखाएँ उभरी हैं। ये हैं- सीरियन क्रिश्चियन या सेंटथॉमस क्रिश्चियन, लैटिन या रोमन कैथोलिक, प्रोटेस्टेंट, आदिवासी और दलित। आदिवासियों और दलितों को एक ही श्रेणी में माना जाता है क्योंकि उनकी कई समस्याएँ समान

हैं। इसके बावजूद उनके हितों के मद्देनजर दोनों को अलग-अलग समूह ही मानना चाहिए। भारतीय ईसाई समुदाय में सबसे अधिक संख्या रोमन कैथोलिक अनुयायियों की है इसलिए गिरिजाघर, विद्यालय, महाविद्यालय एवं अस्पताल जैसी कैथोलिक संस्थाएँ भी अधिक संख्या में हैं। भारत में कैथोलिक चर्च की विभिन्न भागों में उपस्थिति ईसाइयत के यहाँ लंबे इतिहास का परिणाम लगता है। इसके साथ ही ईसाई मिशनरियों द्वारा शिक्षा और स्वास्थ्य सेवा के प्रसार के लिए समर्पित भाव से किये गए सामाजिक कार्य ने भी ईसाइयत के प्रसार में योगदान किया है।

ईसाईयत के आंदोलन के दो पूर्णतया देसी संस्करण, **आदिवासी** और **दलित ईसाई** हैं। बोनिता अलीयाज (2002) ने बताया है कि 'आदिवासी ईसाई' भारत में अलग-अलग क्षेत्रों में फैले हुए हैं। इसके बावजूद उनके बड़े समूहों में से केवल दो समूहों का किसी एक स्थान पर जमावड़ा ही दिखाई पड़ता है जो देश के आदिवासी ईसाइयों का ८० प्रतिशत से अधिक है। यह पूर्वोत्तर भारत के और संथाल आदिवासी हैं जो कि बिहार, पश्चिमी बंगाल, उड़ीसा समाजों में कल्याण और आधुनिकता के प्रसार में ईसाइयों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। इससे उनकी कई प्रथाओं और रिवाजों में भी बेहतर परिवर्तन आए हैं। जनजातीय समाजों पर विभिन्न धर्मों का प्रभाव विस्तारपूर्वक वर्णन लेकर लिखी गई एक दूसरी पुस्तक *जनजातीय भारत* में देखा जा सकता है।

भारत में सभी ईसाइयों में से आजकल सबसे मुखर दलित ईसाई हैं। उनमें से अधिकतर, हिंदू अछूत जातियों के हैं जिन्हें जातीय प्रथा के भूत से ईसाईयत अपनाने पर सुखद राहत मिली है। सी.बी. वेब्सटर (1994) ने काफी सूझबूझ के साथ दलित ईसाई आंदोलन की शुरुआत और उसके धीरे-धीरे हुए प्रसार को कलमबद्ध किया है। उन्होंने बताया है कि 1881 की जनगणना के आधार पर दलितों को मुख्य तौर पर चार समूहों में बाँटा जा सकता है- ये हैं पंजाब के **चूड़े**, उत्तर भारत के **चमार**, मध्य और पश्चिमी भारत के **महार** और दक्षिणी भारत के **परियार**। हालाँकि इन समूहों का आपस में कोई संबंध नहीं था, लेकिन कुछ समान विशेषताएँ इनमें चीन्हित जा सकती हैं। यह विशेषताएँ थीं इनका मुख्या धंधा खेतिहर मजदूरी, गरीबी, जन्म, विवाह और मृत्यु से संबंधित समान रीति-रिवाज और अंत में अन्य सामाजिक और जातीय समूहों में उनसे संबंधित सरोकारों के प्रति सहानुभूति या समर्थन का अभाव। इसके साथ ही वे सभी अछूत थे और भूमि से वंचना के अलावा नाई, धोबी, पुजारी जैसी जातियाँ भी उनको अपनी सेवायें नहीं देती थीं, बंधुआगिरी, शिक्षा से वांचित्य आदि आदि। 1920 से 30 के दशकों में दलितों ने अचानक बड़े पैमाने पर ईसाइयत के प्रति रुझान जताया। आर्थिक स्वतंत्रता और शिक्षा के जरिए अपना जीवन स्तर उठाने के लिए दलितों ने ईसाइयत की शरण ली। फलस्वरूप उनसे भेदभाव में काफी कमी तो आई मगर यह पूरी तरह नहीं मिट पाया क्योंकि ईसाइयत ग्रहण करने वाले ऊँची जाति के भारतीयों का जातीय पूर्वाग्रह जारी रहा और वे उन्हें हेय मानते रहे। कभी-कभी तो चर्च भी भेदभाव करता था। बोनिता अलियाज (वही) ने बताया है कि आज भी चर्च, जातिगत पूर्वाग्रह से पूरी तरह मुक्त नहीं हैं लेकिन उत्तर में चर्च समुदाय के भीतर जाति की जगह प्रायः

वर्ग ने ले ली है। लेकिन दलित ईसाइयों का अन्य समुदायों से संबंध आज भी जातीय सरोकारों से जुड़ा है। दक्षिण में ईसाई समुदाय में जातियों में आपसी सहयोग और जुड़ाव का पक्ष हावी है।

ग्रामीण क्षेत्रों में अधिकतर ईसाई निवासी निम्न हिंदू जातियों से धर्म परिवर्तन करके ईसाई बने हैं और उन्होंने अपने पुराने व्यवसायों को ही अपना रखा है। रोवीन राबिंसन (2001) ने इस बारे में गहन टिप्पणी की है। ईसाई समूहों में जातीय विभेदों का प्रचलन काफी हद तक ऐतिहासिक एवं सामाजिक रुचि का क्षेत्र है। जहाँ भी सामूहिक धर्म परिवर्तन हुआ वहाँ परिवर्तित धर्म अपनाने वाले लोगों ने अपना धर्म भले ही छोड़ दिया हो मगर अपनी जातीय पहचान बरकरार रखी। बहुत से लोग यह स्वीकार नहीं कर पाते कि एक समतामूलक धर्म में असमानता कैसे बर्दाश्त की जा रही है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि ईसाई मिशनरियों ने हमेशा और हर जगह बिना झिझके जाति या उसके अंतरनिहित भेदों का विरोध नहीं किया है। परिवर्तित धर्म अपनाने वालों ने अक्सर खुद ही सामाजिक समता के संबंध स्थापित करने की मिशनरियों की कोशिशों का विरोध किया है। केरल में अछूत समूहों से परिवर्तित धर्म अपनाने वाले पुलाया तथा पुराया जैसे समूह अधिकतर भूमिहीन मजदूरों के हैं तथा ईसाइयों तथा अन्य ज़मींदार ऊँची जातियों के लोगों के लिए काम करते हैं। सीरियाई और परिवर्तित धर्म अपनाने वाले अछूतों के बीच रोटी-बेटी का रिश्ता नहीं है। कई जगह अछूतों से ईसाई बने लोगों के अलग गिरजाघर तक हैं। तमिलनाडु में ग्रामीण क्षेत्रों में अछूत ईसाइयों की बस्तियाँ ऊँची जातियों के लोगों से अलग हैं। अब भी शुद्धता और अशुद्धता की मान्यता बरकरार है।

शहरी मध्यवर्गीय ईसाइयों की छोटी सी संख्या है। ईसाइयों का यह एक छोटा सा वर्ग है जो कि मिशनरियों द्वारा उपलब्ध कराई गई सुविधाओं से शिक्षित होकर बेहतर आर्थिक स्थिति में है। उनकी राजनैतिक हैसियत के बारे में टी.के. ऊमन (2000) कहते हैं, 'भारत में ईसाई किसी राजनीतिक दल के रूप में संगठित नहीं हैं और इसके दो कारण हैं: पहला जातीय स्तर और भाषा पर आधारित उनका सामाजिक-सांस्कृति ा बिखराव, जिसकी हम पहले ही चर्चा कर चुके हैं; और, दूसरा शुरू में ही विशिष्ट मतदाता (seperate electorate) बनने की प्रवृत्ति को जानबूझकर ठुकराया जाना एवं उसके बाद राजनैतिक मामलों में उनके द्वारा अपनाई गई गैर-सांप्रदायिक प्रवृत्ति। आधुनिक पश्चिम की ताजा पंरपराओं पर चलते हुए भारत में ईसाई चर्च एवं राज्य को दो अलग-अलग संस्थाएँ मानते हैं। यह भी अखिल भारतीय स्तर पर उनके राजनैतिक-धार्मिक मंच पर संगठित होने में आड़े आता है। इसके साथ ही उनकी कम संख्या और बिखरी हुई संख्या के कारण भी वे कुछ क्षेत्रीय परिस्थितियों- जैसे केरल अथवा पूर्वोत्तर के अलावा कहीं भी अपना निर्णायक राजनैतिक अस्तित्व स्थापित करने की स्थिति में नहीं हैं। 'अपनी कम संख्या और आर्थिक असमर्थता के बावजूद एक क्षेत्र ऐसा है जिसमें भारत में ईसाइयों का वर्चस्व है और यह क्षेत्र हैं परमार्थी संस्थाएँ, विशेषकर शिक्षा और स्वास्थ्य के क्षेत्र में।

1990 के दशक में गुजरात, उड़ीसा और कई अन्य राज्यों में गिरजाघरों और ईसाइयों पर बड़े पैमाने पर हमले हुए। इन अत्याचारों का प्रमुख कारण कथित 'जबर्दस्ती और धोखाधड़ी'

से बड़े पैमाने पर धर्म परिवर्तन बताया गया था। बिहार, कर्नाटक और महाराष्ट्र में 10 लाख से अधिक ईसाई हैं, लेकिन आश्चर्य यह है कि इस कट्टरपंथी हमले के लिए जिन राज्यों को चुना गया वे हैं गुजरात और उड़ीसा जहाँ ईसाइयों की आबादी क्रमशः 0.44 प्रतिशत और 2.1 प्रतिशत ही है। दलितों और आदिवासियों द्वारा धर्म परिवर्तन हमेशा ही किया जाता रहा है, मगर इस मुद्दे को बढ़ा-चढ़ा कर उछाला गया और ईसाइयों तथा मुसलमानों के खिलाफ घृणा फैलाने के अभियान का एक प्रमुख राजनैतिक दल और उसके विभिन्न सहयोगी संगठन राजनैतिक औजार के रूप में इस्तेमाल कर रहे हैं। बी. के. रॉयबर्मन (1999) धर्म परिवर्तन के तथ्यों का विश्लेषण करते हुए बताते हैं कि गुजरात में आदिवासियों की कुल संख्या 1981 में 0.40 प्रतिशत ही थी। वर्ष 1991 की जनगणना के अनुसार ईसाइयों का प्रतिशत घट गया है। यहाँ प्रश्न यह है कि यदि ईसाई मिशनरियाँ हमेशा धर्म परिवर्तन कराने में जुटी रहती हैं तो राज्य में ईसाइयों की संख्या क्यों घटी यदि कोई व्यक्ति अपना धर्म स्वयं बदलता है तो वह उसकी अपनी इच्छा है और ऐसे निजी फैसलों का दुनियाभर में सम्मान किया जाता है। इसके बावजूद भारत जैसे बहुधर्मी समाज में, जो कंट्टरपथी देशों से घिरा हुआ है, छोटे मोटे धर्म परिवर्तन से भी डर, आशंका, असुरक्षा और दुर्भावना पैदा हो जाती है। ऐसी परिस्थितियों में अल्संख्यकों को ऐसी गतिविधियों से अपने हित में स्वयं ही दूर रहना चाहिए।

सिख

भारत में धार्मिक अल्पसंख्यकों में सिख तीसरे प्रमुख स्थान पर हैं। पंजाब से शुरू होकर इस मत के लोग अब अपने पंजाबी संस्कृति के जिंदादिल तत्त्व लिए पूरे भारत में फैले हुए हैं।

भारत की कुल जनसंख्या में सिखों की संख्या लगभग 2 प्रतिशत है। सिखों की अधिकतर आबादी आज भी पंजाब में ही बसी हुई है। उनकी कुल आबादी में से 78.5 प्रतिशत पंजाब में, 6 प्रतिशत हरियाणा में तथा बाकी हिमाचल प्रदेश, राजस्थान, दिल्ली, चंडीगढ़ तथा जम्मू एवं कश्मीर में बसी हुई है। पंजाब से लगे इन विभिन्न राज्यों के अधिकतर क्षेत्र पहले वृहत् पंजाब में ही शामिल थे।

सिखों के इतिहास में वर्ष 1947 में देश का बँटवारा महत्त्वपूर्ण घटना थी। पश्चिमी पंजाब से सिख लगभग पूरी तरह भारत में भाग आए थे और उन्हें सीमा के इस तरफ बसा दिया गया था। देश के सामाजिक भूगोल का विश्लेषण करते हुए एजाजुद्दीन अहमद (1999) बताते हैं कि, 'बँटवारे के कारण सिखों का पंजाब के पड़ोसी क्षेत्रों हरियाणा और राजस्थान में सिंचित क्षेत्रों में पुनर्वास किया गया था जैसे गंगानगर व कुरुक्षेत्र जिले। सिखों को उत्तर प्रदेश के तराई क्षेत्रों में भी बसाया गया, जहाँ उन्होंने मलेरिया फैलाने वाले मच्छरों से भरे दलदली क्षेत्रों को उत्तर भारत के खलिहान में बदल दिया। यह परिवर्तन सिख किसानों की कड़ी मेहनत से हो पाया। वे हालाँकि उस क्षेत्र के लिए अजनबी थे मगर फिर भी जमीन से जुड़े रहे।' सिख जाट सिंचाई आधारित खेती के प्रतीक और पंजाब में नहरों के निर्माण से आई कृषि क्रांति के सबसे सक्रिय कर्ता भी

बने।

सिख एकांकी (monolithic) समुदाय नहीं है। उनके कई पंथ हैं जैसे नामधारी, निहंग, उदासी, निरंकारी, निरंजनी, नानकपंथी आदि। सिख गुरुद्वारा सिर्फ पूजा का पवित्र धार्मिक स्थान नहीं है। यह समुदाय का धार्मिक-सांस्कृतिक केंद्र है, जहाँ जन्म, नामकरण, विवाह तथा मृत्यु से संबंधित कई रस्म-रिवाज पूरे किए जाते हैं। यह **संगत** का सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान है, जिसे चुनावी राजनीति जैसी सेक्युलर गतिविधियों के लिए भी इस्तेमाल किया जाता है। आस्थावान सिख हालाँकि लगभग रोज ही गाँव अथवा शहर के गुरुद्वारे में जाते हैं लेकिन वैशाखी पर उनकी सबसे महत्त्वपूर्ण संगत होती है। इसी दिन **खालसा पंथ** की स्थापना हुई थी। इसके अलावा दो **गुरु पर्वों** (गुरुनानक तथा गुरु गोविंद सिंह के जन्मदिवस) पर वे बड़े उत्साह से एकत्रित होते हैं।

सिखों की आर्थिक स्थिति हमेशा दूसरों के लिये ईर्ष्याजनक रही है। गाँव में वे जहाँ कहीं भी रहते हैं, खेती बाड़ी में उनकी महारत झलकती है और उनमें से काफी संख्या अमीर किसानों की है। पहले भी यह बात कही जा चुकी है कि जाट सिखों ने देश की 'हरित क्रान्ति' में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। शहरी क्षेत्रों में उनमें से अधिकतर लोग अपनी आजीविका व्यापार और व्यवसाय से कमाते हैं। परिवहन, वाहनों, कलपुर्जों तथा परिवहन से संबंधित सेवा क्षेत्र अर्थात् गैराज आदि धंधों में सिख बड़ी तादाद में हैं। वे सेना में भी हमेशा भारी संख्या में रहे हैं। अपनी जनसंख्या में अनुपात में सेना में उनकी हिस्सेदारी कहीं अधिक रही है।

मुसलमानों और ईसाइयों की तरह सिखों में भी आंतरिक भेद हैं। वे भी जातियों, वर्गों तथा शहरी-ग्रामीण घटकों में बँटे हुए हैं। जैसे एक तरफ-शहरी व्यापारी वर्ग, जिसे आमतौर पर **भापा** (खतरी, अरोड़ा आदि) कहते हैं और दूसरी तरफ अक्सर नीची जातियों के दिहाड़ी मजदूर सिख हैं। इसके साथ कारीगरों के बीच में जाति-वर्ग आधारित भेद हैं जैसे बढ़ई (रामगढ़िया) और लुहार हैं। यह भेद शहरों से लेकर कस्बों और गाँवों तक प्रचलित है। इसके अलावा **मजहबी सिख** हैं जो कि अनुसूचित जाति के हैं।

बँटवारे में पाँव उखड़ने के बाद सिख समुदाय को इंदिरा गांधी की हत्या के बाद छिड़े सिख विरोधी दंगों ने झकझोर कर रख दिया था। दिल्ली, कानपुर, बोकारो तथा अन्य क्षेत्रों में सैकड़ों सिखों को पकड़कर मौत के घाट उतार दिया गया था, लेकिन मेहनतकश और जिंदादिल समुदाय होने के नाते वे इस सदमे से भी उबर गए। अपनी सांस्कृतिक पहचान के बावजूद सिख आज भी अपनी पहचान भारत से ही मानते हैं और मुट्ठी भर लोगों के अलावा उनमें अलगाववाद के प्रति कोई रुझान नहीं है।

अल्पसंख्यकों का कल्याण एवं वक़्फ प्रशासन

(सामाजिक न्याय व सशक्तिकरण मंत्रालय, 2002-03)

पाँच धार्मिक समुदायों जैसे मुस्लिमों, ईसाई, सिख, बौद्ध तथा पारसी को राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग अधिनियम, 1992 के प्रावधानों के अनुसार अल्पसंख्यकों के रूप में अधिसूचित किया गया है। ये पाँचों समुदाय देश की जनसंख्या का लगभग 18% हैं। समाज के इस वर्ग का शैक्षिक

और आर्थिक विकास तथा उनका मुख्यधारा के साथ जोड़ा जाना प्रमुख राष्ट्रीय लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए महत्त्वपूर्ण है। इसे सुसाध्य बनाने के लिए उन स्थितियों को उत्पन्न करना आवश्यक है जिनमें अल्पसंख्यकों को इस बाबत आश्वस्त किया जा सके कि उनके संवैधानिक तथा कानूनी अधिकार सुरक्षित हैं। शैक्षिक तथा आर्थिक रूप से वे मुख्यधारा के समकक्ष हैं।

अल्पसंख्यकों के लिए संवैधानिक रक्षोपाय

5.2 भारत के संविधान के अंतर्गत, धार्मिक तथा भाषायी अल्पसंख्यकों को कतिपय सुरक्षा प्रदान की गई है। कुछ महत्त्वपूर्ण प्रावधान निम्नलिखित हैं :–

1. अनुच्छेद 29 के अन्तर्गत भाषा, लिपि और संस्कृति के संरक्षण का अधिकार,
2. धारा 30 के तहत शैक्षिक संस्थाओं की स्थापना करना तथा देख-रेख करना,
3. अनुच्छेद 347 में भाषा की मान्यता के लिए राष्ट्रपति के निर्देश का प्रावधान है,
4. अनुच्छेद 350 में किसी व्यथा के निवारण के लिए सरकार के किसी प्राधिकारी को राज्यों/संघ राज्य क्षेत्रों में प्रयोग होने वाली किसी भाषा में अभ्यावेदन देने का अधिकार,
5. अनुच्छेद 350-क शिक्षा के प्राथमिक स्तर पर मातृभाषा में शिक्षा देने का प्रावधान करता है, और
6. संविधान के अनुच्छेद-350 ख के अन्तर्गत अल्पसंख्यकों को प्रदान किए गए रक्षोपायों से संबंधित सभी मामलों की जाँच के लिए एक विशेष अधिकारी का प्रावधान है।

राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग

5.2.1 तत्कालीन अल्पसंख्यक आयोग को सांविधिक दर्जा प्रदान करते हुए राष्ट्रीय **अल्पसंख्यक आयोग अधिनियम, 1992** अधिनियमित किया गया और इस प्रकार इसे अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा के लिए एक अधिक प्रभावी निकाय बनाया गया। अल्पसंख्यकों के हितों के संरक्षणार्थ संविधान के तहत प्रदत्त रक्षोपायों के प्रभावी कार्यान्वयन के उद्देश्य से अनेक कार्यों का निष्पादन करने और इस संबंध में केन्द्र सरकार को अथवा राज्य सरकार को सिफारिश करने के लिए स्थापित किया गया।

5.2.1.2 आयोग ने अब तक 7 वार्षिक रिपोर्टें प्रस्तुत की हैं। आयोग की पहली, दूसरी तथा तीसरी वार्षिक रिपोर्ट की गई कार्रवाई ज्ञापन के साथ संसद के शीतकालीन सत्र, 2002 के दौरान प्रस्तुत की गई। चौथी, पाँचवी तथा छठी वार्षिक रिपोर्ट में निहित आयोग की सिफारिशें संबंधित मंत्रालय/विभागों में उनकी टिप्पणियों/की गई कार्रवाई रिपोर्ट के लिए परिचालित की गई।

5.2.1.3 1.4.2002 से 31.12.2002 की अवधि के दौरान आयोग को 2650 से अधिक संदर्भ प्राप्त हुए। आयोग ने कार्यालय में प्राप्त सभी प्रतिवेदनों/शिकायतों की जानकारी ली। तथापि, शिकायतों/प्रतिवेदनों पर प्रथम दृष्टया कार्रवाई आरंभ की गई। आयोग में प्राप्त शिकायतें विस्तृत रूप से पुलिस द्वारा अत्याचार, सेवा मामले, धार्मिक स्थानों से जुड़े विवाद तथा अल्पसंख्यक द्वारा संचालित संस्थानों से जुड़ी शिकायतें शामिल हैं। आयोग ने शिकायतों का निपटारा करने के लिए अपनी कार्यविधि तैयार की है। शिकायतों का संज्ञान लेने तथा आयोग के आदेश प्राप्त करने के पश्चात् रिपोर्टें मंगाई गईं और इसके प्राप्त होने पर आयोग ने संबंधित

प्राधिकारियों को उचित सिफारिशें की हैं। अल्पसंख्यकों से संबंधित समस्याओं की समीक्षा करने तथा अल्पसंख्यकों के कल्याण के लिए 15 सूत्री कार्यक्रम के समग्र कार्यान्वयन का जायजा लेने के लिए आयोग के अध्यक्ष, उपाध्यक्ष तथा सदस्यों ने इस अवधि के दौरान राज्यों/ संघ राज्य क्षेत्रों का दौरा किया। आयोग देश में समुदायों के बीच बढ़ती दूरी के प्रति गंभीर रूप से चिन्तित है तथा धार्मिक समुदायों के बीच बेहतर समझबूझ लाने के अपने प्रयासों की दिशा में, आयोग ने 24.8.2001 तथा 15.7.2002 को विभिन्न धर्मों की पारस्परिक बैठक बुलाई।

5.2.1.4 आयोग ने मान्यता, सम्बद्धता, सहायता अनुदान आदि के संबंध में अल्पसंख्यक शैक्षिक संस्थानों द्वारा सामना की जा रही समस्याओं की अलग से जाँच करने के लिए अल्पसंख्यक शिक्षा प्रकोष्ठ का भी गठन किया है।

भाषायी अल्पसंख्यकों के लिए विशेष अधिकारी

5.2.2 संविधान के अनुच्छेद 350-ख के उपबंध के अनुसरण में भाषाई अल्पसंख्यक विशेष अधिकारी (जिसे सामान्यतः **भाषाई अल्पसंख्यक आयुक्त** के नाम से जाना जाता है) के कार्यालय का सृजन जुलाई, 1957 में किया गया जो **संविधान (सातवां संशोधन) अधिनियम, 1956** के परिणामस्वरूप अस्तित्व में आया। इस अनुच्छेद के अन्तर्गत भाषाई अल्पसंख्यक आयुक्त का संविधान के अन्तर्गत भाषाई अल्पसंख्यकों को प्रदान किये गए रक्षोपायों से संबंधित सभी मामलों की जाँच करना एवं इन मामलों के संबंध में ऐसे समय अंतरालों पर रिपोर्ट देना होगा, जैसा कि राष्ट्रपति निर्देश दें। ऐसी सभी रिपोर्टें संसद के प्रत्येक सदन में पेश की जायेंगी और संबंधित राज्यों की सरकार को भेजी जायेंगी।

5.2.2.2 भारत के भाषाई अल्पसंख्यकों के आयुक्त का मुख्यालय इलाहाबाद में है तथा इसके तीन क्षेत्रीय कार्यालय कोलकाता, बेलगाम तथा चेन्नई में हैं। आयुक्त, भाषाई अल्पसंख्यकों को प्रदान किए गए सुरक्षापायों की संवैधानिक रूप से और राष्ट्रीय रूप से सहमत योजना के कार्यान्वयन नहीं होने से उत्पन्न शिकायतों से संबंधित सभी मामलों को देखता है, जब इसकी जानकारी मिलती है अथवा भाषाई अल्पसंख्यक समूहों के व्यक्तियों, परिसंघों या राज्य सरकारों तथा संघ राज्य क्षेत्र प्रशासनों के शीर्षस्थ राजनीतिक और प्रशासनिक स्तरों के संगठनों द्वारा उसे जानकारी दी जाती है तथा की जाने वाली उपचारी कार्रवाई की सिफारिश करता है। भाषाई अल्पसंख्यकों के आयुक्त ने अब तक राष्ट्रपति को 37 वार्षिक रिपोर्टें प्रस्तुत की हैं। ये सभी रिपोर्टें संसद में प्रस्तुत कर दी गई हैं तथा अनुवर्ती कार्रवाई हेतु केंद्र सरकार तथा विभिन्न राज्यों/ संघ राज्य क्षेत्र सरकारों के संबंधित मंत्रालयों/ विभागों को भेज दी गई है। इस वर्ष के लिए बजट में इस कार्यालय हेतु 85 लाख रु. प्रदान किए गए हैं।

शैक्षणिक विकास संबंधी योजनाएँ

मौलाना आजाद शिक्षा प्रतिष्ठान

5.3.1 मौलाना आजाद शिक्षा प्रतिष्ठान की स्थापना एक स्वायत्त संगठन के रूप में हुई जिसका उद्देश्य समाज के पिछड़े वर्गों विशेष रूप से अल्पसंख्यकों में शिक्षा के विकास को बढ़ावा देना है। भारत सरकार ने प्रतिष्ठान के कारपस कोष में 70 करोड़ रु. का योगदान दिया है। देशभर

से प्रतिष्ठान की शैक्षिक योजनाओं के प्रति जबरदस्त रुचि को ध्यान में रखते हुए सरकार की कारपस निधि को समुचित रूप से बढ़ाने की योजना है।

5.3.1.2 मुख्य रूप से लड़कियों के लिए स्कूलों/ आवासीय स्कूलों/ कालेजों/पालिटेकनिकों/ होस्टलों के निर्माण/ विस्तार तथा आई टी आई/ वी टी सी की प्रयोगशालाओं और कार्यशालाओं के लिए मशीनरी/उपकरणों की खरीद करने के लिए अपनी स्थापना से तथा 30 नवंबर, 2002 तक इस प्रतिष्ठान ने 21 राज्यों/ संघ राज्य क्षेत्रों में स्थित 424 गैर-सरकारी संगठनों को 59.19 करोड़ रु. सहायतानुदान की स्वीकृति प्रदान की है।

5.3.1.3 11 नवंबर, 2002 में प्रतिष्ठान द्वारा मौलाना अबुल कलाम आजाद की 114वीं वर्षगांठ सप्ताह भर के कार्यक्रम के माध्यम से मनाई गई। इस अवसर पर माननीय सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्री/ अध्यक्ष, एम.ए.ई.एफ. ने 11 नवंबर, 2002 को मौलाना की मजार पर चादर चढ़ाई। मौलाना आजाद के आदर्शों और स्वतंत्रता संग्राम में एवं भारत सरकार के मंत्री के रूप में उनके योगदान को याद करने के लिए कांस्टीट्यूशन क्लब में एक समारोह का आयोजन किया गया। डा. सत्यनाराणण जटिया, माननीय सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्री और अध्यक्ष, मौलाना आजाद शिक्षा प्रतिष्ठान, डा. नजमा हेपतुल्ला, माननीय उपाध्यक्ष, राज्यसभा, श्री सैयद शाहनवाज हुसैन, माननीय नागर विमानन मंत्री ने अन्य गणमान्य व्यक्तियों के साथ भाग लिया। इसके अतिरिक्त, प्रतिष्ठान के सहयोग से विभिन्न स्कूलों में मौलाना आजाद सप्ताह मनाया गया। वर्ष के दौरान, प्रतिष्ठान ने जामिया मिलिया इस्लामिया में 3 जून से 28 जून तक प्रतिष्ठान द्वारा सहायता संस्थानों के शिक्षकों के लिए प्रशिक्षण कार्यक्रम का भी आयोजन किया गया।

परीक्षा-पूर्व कोचिंग के लिए सहायता

5.3.2 यह मंत्रालय अल्पसंख्यकों और अन्य पिछड़े वर्गों में आर्थिक मानदंडों पर आधारित कमजोर वर्गों के लिए एक परीक्षा-पूर्व कोचिंग योजना कार्यान्वित कर रहा है ताकि उन्हें विभिन्न सेवाओं और व्यावसायिक/ तकनीकी संस्थानों में नामांकन के लिए प्रतियोगी परीक्षाओं में अन्य उम्मीदवारों के साथ बराबरी के आधार पर प्रतिस्पर्धा करने में समर्थ बनाया जा सके। वर्ष 1992-93 में योजना के आरम्भ से 31.12.2002 तक 567 प्रशिक्षण संस्थानों को प्रदान की गई वित्तीय सहायता के माध्यम से 45700 उम्मीदवार लाभान्वित हुए हैं।

5.3.2.2 अब इस योजना को मंत्रालय की अन्य समान दो योजनाओं के साथ विलयित कर दिया गया है तथा अनुसूचित जातियों, अन्य पिछड़े वर्गों तथा अल्पसंख्यकों सहित कमजोर वर्गों के लिए और कोचिंग और सम्बद्ध सहायता की नई केन्द्र प्रायोजित योजना तैयार की गई है। यह योजना वर्तमान वर्ष से कार्यान्वित की जा रही है। इस योजना का उद्देश्य (क) संस्थानों में नामांकन, तकनीकी, व्यावसायिक पाठ्यक्रमों जैसे इन्जीनियरिंग, चिकित्सा, कृषि, प्रबंधन, सूचना प्रौद्योगिकी तथा सार्वजनिक और निजी क्षेत्रों में सेवा से संबंधित पाठ्यक्रमों और (ख) सेवाओं, केन्द्र तथा राज्य सरकारों के तहत समूह 'क' और 'ख' सेवाओं, सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों बैंकों तथा निजी क्षेत्रों में भर्ती के लिए विशेष कोचिंग के जरिए कमजोर वर्गों, अनुसूचित जातियों, अन्य

पिछड़े वर्गों तथा अल्पसंख्यकों के छात्रों को सहायता प्रदान करता है। कोचिंग कार्यक्रमों को चलाने वाले गैर-सरकारी संगठनों और विश्वविद्यालयों को सहायता 90:10 के आधार पर वहन किया जाता है। राज्य सरकारों द्वारा संस्थानों को 50:50 के आधार पर सहायता दी जाती है। संघ राज्य क्षेत्रों को शत-प्रतिशत सहायता दी जाती है। योजना के अन्तर्गत, अनुसूचित जातियों, अन्य पिछड़े वर्गों तथा अल्पसंख्यकों के छात्रों को परीक्षा-पूर्व कोचिंग प्रदान करने के लिए गैर-सरकारी संगठनों को 0.90 करोड़ रु. (20.2.2003 तक) की राशि निर्मुक्त की गई है।

मानव संसाधन विकास मंत्रालय द्वारा कार्यान्वित योजनाएँ

5.3.3 मंत्रालय द्वारा 1980 में डा. गोपाल सिंह की अध्यक्षता में नियुक्त एक उच्च अधिकार प्राप्त पैनल ने राष्ट्रीय स्तर पर शैक्षिक रूप से पिछड़े मुस्लिमों और नव-बौद्धों की पहचान की है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 (1992 में अद्यतन बनाई गई) के अन्तर्गत समानता तथा सामाजिक न्याय के हितों में शैक्षिक रूप से पिछड़े अल्पसंख्यकों की शिक्षा पर अधिक ध्यान देने की परिकल्पना की गई है। माध्यमिक तथा उच्चतर माध्यमिक शिक्षा विभाग, मानव संसाधन विकास मंत्रालय ने अल्पसंख्यक बहुल क्षेत्रों में अल्पसंख्यकों के शैक्षिक विकास के कार्यक्रम शुरू किये हैं।

5.3.3.2 आधारभूत शैक्षिक अवसंरचना तथा सुविधाएँ प्रदान करने के उद्देश्य से शैक्षिक रूप से पिछड़े अल्पसंख्यकों के लिए एक सघन क्षेत्र कार्यक्रम कार्यान्वित किया जा रहा है जिसके अन्तर्गत असम के 325 ब्लाक (13 राज्य और 3 संघ राज्य क्षेत्र) तथा असम के 4 जिले शामिल हैं। यह विभाग मदरसा शिक्षा के आधुनिकीकरण की भी एक योजना को कार्यान्वित कर रहा है जिसके अन्तर्गत परम्परागत शिक्षण संस्थाओं (मदरसों/ मकतबों) में स्वैच्छिक आधार पर विज्ञान, गणित, समाज अध्ययन और भाषाओं की पढ़ाई के लिए वित्तीय सहायता प्रदान की जाती है। अल्पंसख्यकों में सुधार लाने के उद्देश्य से उन्हें प्रदान की जा रही शिक्षा की गुणवत्ता का मूल्यांकन करने के लिए अल्पसंख्यकों द्वारा संचालित शिक्षण संस्थानों का अध्ययन नहीं कराया गया है।

5.3.3.3 मदरसा शिक्षा प्रणाली को आधुनिक बनाने के लिए कार्यनीति का विकास करने के लिए दो स्थिति अध्ययन कराए गए। एक स्थिति अध्ययन में आँकड़े एकत्रित करने के लिए दो साधनों 1) माता-पिता/ समुदाय सदस्यों तथा मदरसों के शिक्षकों के लिए साक्षात्कार अनुसूची (2) शिक्षण/ अध्ययन प्रक्रिया को देखने के लिए दृष्टिकोण अनुसूची का उपयोग किया जा रहा है। दूसरे स्थिति अध्ययन में अलाभान्वित समूहों (पिछड़े अल्पसंख्यकों सहित) के बच्चों से संबंधित विशिष्ट पाठ्यक्रम संबंधी मुद्दों और समस्याओं से संबंधित संसाधन व्यक्तियों के अभिमुखीकरण के लिए माड्यूलों की तैयारी प्रगति पर है।

5.3.3.4 शैक्षिक रूप से पिछड़े अल्पसंख्यकों के लिए कोचिंग की योजना के अन्तर्गत, वर्तमान वित्त वर्ष में (सितंबर, 2002 तक) 59 विश्वविद्यालयों/ कालेजों को 1.46 करोड़ रु. का अनुदान निर्मुक्त किया गया है।

राष्ट्रीय अल्पसंख्यक विकास एवं वित्त निगम

5.4.4 अल्पसंख्यकों में कमजोर वर्गों के लिए आर्थिक और विकास कार्यकलापों को बढ़ावा देने के उद्देश्य से 30 सितंबर, 1994 को **राष्ट्रीय अल्पसंख्यक विकास एवं वित्त**

निगम (एन एम डी एफ सी) को अधिनिगमित किया गया। एन एम डी एफ सी गरीबी की रेखा के दोगुना से नीचे की पारिवारिक आय वाले अल्पसंख्यक समुदायों के पात्र लाभार्थियों को स्वरोजगार कार्यकलापों के लिए रियायती वित्त प्रदान करता है।

5.4.1.2 अपने कार्यक्रमों को कार्यान्वित करने के लिए एन एम डी एफ सी की 500 करोड़ रु. की प्राधिकृत अंश पूंजी है। एन एम डी एफ सी की प्रदत्त अंश पूंजी 279 करोड़ रु. है। इसमें से, एन एम डी एफ सी की इक्विटी में भारत सरकार का अंशदान 237 करोड़ रु. है जिसमें 2002-03 में दिया गया 20 करोड़ रु. शामिल है। राज्य सरकारों ने 42 करोड़ रु. दिए हैं।

5.4.1.3 एन एम डी. एफ सी के (1) संबंधित राज्य सरकारों/ संघ राज्य क्षेत्र प्रशासनों द्वारा नामित राज्य माध्यम एजेंसियों तथा (2) गैर सरकारी संगठनों के जरिए लाभार्थियों तक पहुँचने के माध्यम हैं। विशेष केन्द्रीय सहायता कार्यक्रम के अन्तर्गत 5 लाख रु. लागत की परियोजनाएँ प्रत्येक लाभार्थियों के लिए वित्तपोषित की जाती हैं। इस प्रयोजन के लिए निधियाँ राज्य माध्यम एजेंसियों को 3% ब्याज दर पर तथा लाभार्थियों को 6% ब्याज दर पर प्रदान करने के लिए प्रदान की जाती हैं। एन.एम.डी.एफ.सी. ने अप्रैल, 1998 से लघु वित्तपोषण का एक समानान्तर माध्यम आरम्भ किया है। इस योजना का उद्देश्य लक्ष्य समूह विशेष तौर पर सुदूर गाँवों और शहरी क्षेत्रों में फैले अल्पसंख्यकों की महिलाओं तक पहुँचाना है जो बैंकों से ऋण सुविधाएँ प्राप्त करने में सक्षम नहीं हैं।

5.4.1.4 लघु ऋण कार्यक्रम के अन्तर्गत, गैर-सरकारी संगठनों और स्व-सहायता समूहों के नेटवर्क के माध्यम से 10000/- रु. प्रति लाभार्थी तक छोटे ऋण प्रदान किए जाते हैं। स्व-सहायता समूहों के प्रोत्साहन एवं स्थायीकरण के लिए ब्याज मुक्त ऋण (अनुदान के रूप में समायोज्य) का भी प्रावधान है। ऋण कार्यकलाप के अतिरिक्त, एन एम डी एफ सी कौशल उन्नयन के लिए प्रशिक्षण के माध्यम से लाभार्थियों की सहायता करता है तथा विपणन सहायता भी प्रदान करता है।

5.4.1.5 एन एम डी एफ़ सी ने हाल में शिक्षा ऋण योजना आरम्भ की है। निगम तकनीकी/व्यावसायिक शिक्षा कार्यक्रम में पढ़ रहे अल्पसंख्यकों के पात्र उम्मीदवारों को 3% प्रति वर्ष रियायती ब्याज दर पर 75000/- रु. तक ऋण प्रदान करेगा।

5.4.1.6 राज्य माध्यम एजेंसियों के जरिए, एन एम डी एफ सी ने 31 दिसंबर, 2002 तक 435.53 करोड़ रु. के संचयी संवितरण के साथ 1,19,119 लाभार्थियों को वित्तीय सहायता दी। इस वर्ष 10,465 लाभार्थियों को 46.88 करोड़ रु. की राशि संवितरित की गई है। इसमें से 6.18 करोड़ रु. की राशि 976 लाभार्थियों को शामिल करते हुए देश के पूर्वोत्तर क्षेत्र के राज्य माध्यम एजेंसियों को दी गई है।

5.4.1.7 लघु वित्तपोषण योजना के अन्तर्गत मार्च, 2002 तक 46,587 लाभार्थियों को शामिल करते हुए 673.31 लाख रु. का संवितरण किया गया है। इसमें 17796 लाभार्थियों को 314.15 लाख रु. का लघु ऋण तथा 28781 लाभार्थियों को शामिल करते हुए स्व-सहायता समूहों को प्रायोजित करने के लिए गैर सरकारी संगठनों को 59.10 लाख रु. का ब्याज मुक्त ऋण शामिल है। वर्तमान वित्त वर्ष 2002-03 (31 दिसंबर, 2002 तक) में 2734

लाभार्थियों को शामिल करते हुए गैर-सरकारी संगठनों को 166.75 लाख रु. का माइक्रो क्रेडिट ऋण संवितरित किया गया है जबकि 2,490 लाभार्थियों को शामिल करते हुए स्व- सहायता समूहों के प्रोत्साहन एवं स्थायीकरण हेतु गैर-सरकारी संगठनों को 4.97 लाख रु. संवितरित किए गए हैं। लघु वित्तपोषण कार्यक्रमों के अन्तर्गत, वर्तमान वर्ष में 310 लाभार्थियों को शामिल करते हुए देश के पूर्वोत्तर क्षेत्र के स्व-सहायता समूहों को 2.81 लाख रु. की राशि प्रदान की गई है।

अल्पसंख्यकों के कल्याण के लिए 15-सूत्री कार्यक्रम

5.5 अल्पसंख्यकों के लिए 15-सूत्री कार्यक्रम मई, 1983 में आरंभ किया गया। यह कार्यक्रम राज्यों/ संघ राज्य क्षेत्रों के लिए दिशानिर्देश के रूप में है और इसका उद्देश्य सुरक्षा की भावना पैदा करना है और अल्पसंख्यक समुदायों का तेजी से सामाजिक-आर्थिक विकास सुनिश्चित करना है 15-सूत्री कार्यक्रम त्रिआयामी दृष्टिकोण पर आधारित है। इसमें साम्प्रदायिक दंगों से उत्पन्न परिस्थितियों से निपटना तथा केन्द्र और राज्य सरकारों तथा सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों के अन्तर्गत रोजगार में अल्पसंख्यक समुदायों का पर्याप्त प्रतिनिधित्व सुनिश्चित करना शामिल है। इसमें शामिल अन्य उपायों में विकास, विभिन्न कार्यक्रमों के अन्तर्गत अल्पसंख्यक समुदायों को लाभ का प्रवाह, धार्मिक स्थानों और वक्फ संपत्तियों का निपटान है।

5.5.2 राज्य सरकार/संघ राज्य क्षेत्र प्रशासन और भारत सरकार के संबंधित मंत्रालय/ विभाग कार्यक्रम का कार्यान्वयन करते हैं तथा सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय को छमाही रिपोर्टें भेजते हैं, जो राष्ट्रीय स्तर पर 15-सूत्री कार्यक्रम के कार्यान्वयन की प्रगति की मानीटरिंग कर रहा है। मंत्रालय मद-1 से 8 के संबंध में रिपोर्टें प्राप्त करता है। मद-11 से 14 तक से संबंधित छमाही रिपोर्टें राज्य सरकारों/विभागों से प्राप्त की जाती हैं। संबंधित एजेंसियों से प्राप्त सूचना का संकलन, विश्लेषण किया जाता है और समीक्षा की जाती है तथा कार्यक्रम के कार्यान्वयन में पाई गई कमियों को उपचारी कार्रवाई हेतु इसे संबंधित प्राधिकारी की जानकारी में लाया जाता है। राज्य स्तर पर, कार्यक्रम के तहत प्रगति को मुख्यमंत्री तथा मुख्य सचिव के स्तर पर मानीटर किया जाता है। जिला स्तर पर कार्यक्रम को उपायुक्त/जिला मजिस्ट्रेट द्वारा मानीटर किया जाता है।

वक्फ प्रशासन

5.6 वक्फ शब्द किसी चल या अचल संपत्ति के लिए लागू है और मुस्लिम कानून द्वारा धार्मिक, पवित्र या धर्मार्थ के रूप में मान्यता प्राप्त प्रयोजनों के लिए समर्पित है। वक्फ सामाजिक/ आर्थिक पुनरुत्थान का साधन भी है। वक्फ से जरूरतमंद लोगों को उनके सामाजिक/आर्थिक, सांस्कृतिक तथा शैक्षिक विकास के लाभ मिलते हैं। भारत में लाखों वक्फ हैं। इनकी संख्या तथा कीमत को ध्यान में रखते हुए यदि वक्फ का प्रशासन समुचित ढंग से किया जाता है तो ये न केवल धार्मिक तथा धर्मार्थ संस्थानों का संरक्षण करने के लिए बल्कि देश के शैक्षिक और आर्थिक विकास के लिए भी सशक्त साधन बन सकते हैं। वक्फ इसलिए बहुमूल्य राष्ट्रीय सम्पत्ति हैं क्योंकि इनमें से कई स्कूलों, कॉलेजों, तकनीकी संस्थाओं, पुस्तकालयों, अध्ययन कक्षों, चैरिटेबल डिस्पेंसरियों, मुसाफिरखानों आदि को सहायता प्रदान करते हैं जिससे आम लोगों को उनकी जाति और नस्ल का ध्यान रखे बिना सहायता दी जाती है।

5.6.2 वक्फ से संबंधित विषय (धर्मार्थ तथा धार्मिक दान) संविधान की सातवीं अनुसूची की समवर्ती सूची के क्र.सं. 28 पर है। इसलिए वक्फ के प्रशासन पर देखरेख की जिम्मेदारी केंद्र तथा राज्य सरकार दोनों की है।

मंत्रालय की भूमिका

5.6.2.1 वक्फ अधिनियम 1995, दरगाह ख्वाजा साहेब अधिनियम, 1955 को लागू करने और निष्क्रांत संपत्ति प्रबंध अधिनियम, 1950 के अन्तर्गत वक्फ संपत्तियों के स्थानांतरण से संबंधित कार्य करना मंत्रालय का दायित्व है। मंत्रालय देश में वक्फों के हितों के संवर्धन से संबंधित सामान्य महत्त्व के मामलों को उठाता रहा है। यह वक्फ कानूनों की प्रभावशीलता को सुदृढ़ करने के लिए विधान, राज्य सरकारों द्वारा वक्फ संपत्तियों के सर्वेक्षण को शीघ्र पूरा किया जाना सुनिश्चित करना, अतिक्रमण से वक्फ संपत्तियों के संरक्षण के लिए उपाय करना और वक्फ बोर्डों तथा वक्फ संस्थाओं के संसाधनों की वृद्धि के लिए उपाय करना आदि से संबंधित है।

राज्य सरकारों द्वारा वक्फ अधिनियम, 1995 का कार्यान्वयन

5.6.3 यह मंत्रालय वक्फ अधिनियम, 1995 के प्रावधानों को अपनाने के लिए सभी राज्य सरकारों/ संघ राज्य क्षेत्रों (जम्मू एवं कश्मीर को छोड़कर) से आग्रह करता रहा है जो 1 जनवरी, 1996 से लागू हुआ है। 18 राज्यों अर्थात् आंध्र प्रदेश, असम, बिहार, गुजरात, कर्नाटक, केरल, मध्य प्रदेश, मणिपुर, महाराष्ट्र, मेघालय, राजस्थान, राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र दिल्ली, उड़ीसा, तमिलनाडु, त्रिपुरा, उत्तरांचल, उत्तर प्रदेश और पश्चिम बंगाल तथा दादर और नगर हवेली, लक्षद्वीप, पांडिचेरी और अंडमान निकोबार द्वीप समूह संघ राज्य क्षेत्रों ने नए अधिनियम के तहत वक्फ बोर्डों का गठन किया है।

5.6.3.2 इसके अतिरिक्त, राज्य सरकारों/ संघ राज्य क्षेत्रों से वक्फ संपत्तियों का सर्वेक्षण करने और वक्फ संपत्तियों के समुचित रख-रखाव को सुनिश्चित करने का अनुरोध किया गया है। 22 राज्यों/संघ राज्य क्षेत्रों नामतः आंध्र प्रदेश, असम, गोवा, गुजरात, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, कर्नाटक, केरल, मध्य प्रदेश, पश्चिम बंगाल तथा राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र दिल्ली, अंडमान तथा निकोबार द्वीप समूह, दादर और नगर हवेली तथा लक्षद्वीप हैं। राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र दिल्ली और पांडिचेरी ने अपने-अपने राज्यों/ संघ राज्य क्षेत्रों में सर्वेक्षण आयुक्तों की नियुक्ति की है।

केन्द्रीय वक़्फ परिषद

6.4 केन्द्रीय वक्फ परिषद एक सांविधिक निकाय है जिसकी स्थापना केन्द्र सरकार द्वारा देश में वक्फ बोर्डों के कार्यकारण तथा वक्फ के समुचित प्रशासन संबंधी मामलों पर इसे सलाह देने के प्रयोजन से वक्फ अधिनियम, 1954 की धारा 8 क (अब वक्फ अधिनियम, 1995 की धारा 9 की उपधारा (1) के रूप में पठित) के तहत की गई है। वक्फों के प्रभारी, केन्द्रीय मंत्रिपरिषद के अधिनियम में यथा निर्धारित केन्द्र सरकार द्वारा नियुक्ति की जाय। इन सदस्यों का कार्यकाल 5 वर्षों के लिए होगा।

5.6.4.2. केन्द्रीय वक्फ परिषद को वक्फों से संबंधित मामलों पर केन्द्र सरकार को परामर्श देने के अतिरिक्त शहरी वक्फ संपत्तियों का विकास एवं समदाय के शिक्षा विकास कार्यक्रमों

का कार्य भी सौंपा गया है।

1) शहरी वक्फ संपत्तियों के विकास की योजना

अतिक्रमण करने वालों से वक्फ की खाली भूमि की सुरक्षा करने तथा कल्याणकारी कार्यकलापों के लिए संसाधन आधार को व्यापक बनाने के लिए अधिक आय सृजित करने हेतु वाणिज्यिक आधार पर इसे विकसित करने के उद्देश्य से, केंद्रीय वक्फ परिषद केन्द्र सरकार के वार्षिक सहायता अनुदान से यह योजना वर्ष 1974-75 से कार्यान्वित कर रही है। योजना के अन्तर्गत, वक्फ भूमि पर आर्थिक रूप से व्यवहार्य परियोजनाओं जैसे वाणिज्यिक परिसरों, विवाहघरों, अस्पतालों, कोल्ड स्टोरेज आदि का विकास, को आरंभ करने के लिए देश में वक्फ संस्थानों को ऋण प्रदान किया जाता है। वर्ष 1974 से, केन्द्र सरकार ने केन्द्रीय वक्फ परिषद को 22.24 करोड़ रु. सहायता अनुदान निर्मुक्त किया है जिसने 106 परियोजनाओं को ऋण प्रदान किए हैं। 60 परियोजनाएँ सभी तरह से पूरी हो गई हैं और आय सृजन कर रही हैं। वर्तमान वित्त वर्ष के दौरान, मंत्रालय की योजना के तहत सहायता अनुदान के रूप में 1.76 करोड़ रु. निर्मुक्त करने का प्रस्ताव है।

परिषद वक्फ संपत्तियों से संबंधित परियोजनाओं के लिए अपने-अपने रिवाल्विंग कोष से 20 लाख रु. तक ऋण भी देती है। ऋण के मूलधन की भुगतान वापसी से रिवाल्विंग कोष तैयार किया जाता है। इस योजना के अन्तर्गत, परिषद ने अब तक 84 परियोजनाओं के लिए 4.35 करोड़ रु. निर्मुक्त किए हैं। 51 परियोजनाएँ पूरी हो गई हैं।

2) शिक्षा

केन्द्रीय वक्फ परिषद द्वारा प्राप्त सहायता अनुदान वक्फ संस्थान को शहरी वक्फ संपत्तियों के विकास के लिए ब्याज मुक्त ऋण के रूप में प्रदान किया जाता है। केन्द्रीय वक्फ परिषद की शैक्षिक योजना के लिए ऋण प्राप्तकर्ताओं को शिक्षा कोष के बकाये ऋण के लिए 6% अंशदान करना पड़ता है। ऋण चुकाने के पश्चात्, उन्हें तकनीकी शिक्षा पर विशेष बल देते हुए मुस्लिमों की शिक्षा पर अपनी बढ़ी हुई आय से 40% व्यय करना आवश्यक है।

केन्द्रीय वक्फ परिषद ने समीक्षाधीन वर्ष के दौरान निम्नलिखित कार्यक्रमों के लिए संवितरण किए हैं :–

		संवितरित राशि (रु. लाख में)
1.	व्यावसायिक / तकनीकी डिग्री पाठ्यक्रमों में अध्ययन कर रहे 610 छात्रों को छात्रवृत्ति	36.17
2.	सामान्य डिग्री पाठ्यक्रमों के 187 छात्रों को तदर्थ अनुदान	5.57
3.	6 आई.टी.आई. को अनुदान	45.03
4.	एक व्यावसायिक प्रशिक्षण केन्द्र को वित्तीय सहायता	3.78
5.	14 पुस्तकालयों/ पुस्तक बैंकों को वित्तीय सहायता	2.6

पंजाब वक्फ बोर्ड

5.6.5 पंजाब वक्फ बोर्ड इस क्षेत्र में एक प्रमुख धर्मार्थ संगठन है, जिसका मुख्यालय अम्बाला कैंट में है। यह 3 राज्यों नामतः पंजाब, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश और संघ राज्य क्षेत्र चंडीगढ़ में वक्फ संपत्तियों का प्रबंधन करता है। क्षेत्र में अवैध कब्जे और मुकदमेबाजी में फँसी वक्फ संपत्तियों सहित लगभग 36,000 वक्फ सम्पत्तियाँ हैं। बोर्ड इन सम्पत्तियों पर किराया तथा पट्टे की राशि एकत्र करता है जो किराएदारी पर है तथा बोर्ड की आय के लिए यही मात्र एक स्रोत है। मंत्रालय प्रशासक के माध्यम से पंजाब वक्फ बोर्ड के कार्यकलापों की देखरेख कर रहा है। वर्ष के दौरान बोर्ड के मुख्य कार्यकलाप निम्नलिखित हैं :-

- 2001-2002 के दौरान बोर्ड की 2000-01 में अर्जित आय 15.05 करोड़ रु. से बढ़कर 16.14 करोड़ रु. हो गई।
- 129 पात्र छात्रों को योग्यता एवं साधन छात्रवृत्ति प्रदान की गई।
- 2000 विधवाएँ तथा वयोवृद्ध व्यक्ति तथा अनाथ इस बोर्ड से मासिक पेंशन प्राप्त कर रहे हैं।
- अल्पसंख्यक समुदाय तथा पिछड़े वर्गों के लाभार्थ पंजाब के मलेरकोटला तथा हरियाणा के पानीपत में एक धार्मार्थ औषधालय की स्थापना की गई। मलेर कोटला में 2.00 करोड़ रु. की अनुमानित लागत से महिला अस्पताल की भी स्थापना की जा रही है।
- बोर्ड ने प्रसिद्ध उर्दू कवि मौलाना हुसैन हाली की याद में पानीपत में उनके मजार के नजदीक हाली ओरिएन्टल लाइब्रेरी की स्थापना की है। अनेक वक्फ संपत्तियों की मरम्मत/नवीनीकरण संबंधी कार्य किए गए हैं।

दरगाह-ख़्वाजा साहेब, अजमेर

5.7 अजमेर, राजस्थान में ख्वाजा मोइनुद्दीन चिश्ती (आर.ए.) की दरगाह एक अंतर्राष्ट्रीय ख्याति का वक्फ है। यह दरगाह ख्वाजा साहेब अधिनियम, 1955 के अधीन शासित किया जा रहा है। इस धर्मस्व का प्रबंध, प्रशासन की देखरेख करने, दरगाह धर्मस्व को बनाए रखने तथा अनुरक्षण करने के लिए दरगाह समिति द्वारा किया जाता है। नाजिम इस समिति की सहायता करता है जिसकी नियुक्ति केन्द्र सरकार करती है। दरगाह समिति के निर्देश के तहत नाजिम दरगाह धर्मस्व के नियंत्रण, पर्यवेक्षण और प्रबंधन के अधिकार का प्रयोग करता है। सितम्बर, 2000 तक दरगाह अतिथि गृह से दान, अंशदान तथा किराये के जरिए 1.48 करोड़ रु. की राशि प्राप्त हुई। वर्ष 2000-2001 के दौरान दरगाह शरीफ के रखरखाव और अनुरक्षण पर व्यय के लिए दरगाह समिति ने 2.18 करोड़ रु. का बजट मंजूर किया।

5.7.2 हजरत ख्वाजा मोइनुद्दीन चिश्ती का 789वां वार्षिक उर्स मनाया गया और लाखों श्रद्धालु व्यक्तियों ने जमा होकर श्रद्धाजंलि अर्पित की। दरगाह समिति ने श्रद्धालुओं के लिए 165 कमरों के तिमंजिले अतिथि गृह का निर्माण किया है।

5.7.3 दरगाह समिति गरीब तीर्थयात्रियों को निःशुल्क भोजन का प्रबंध, विधवाओं को वृत्तिका, जरूरतमंद बाच्चों को सहायता, निःशुल्क चिकित्सा सहायता, दावा नहीं किये गये शवों का अंतिम संस्कार, ग्रामीण क्षेत्रों में 11 स्कूलों को चलाने, कम्प्यूटर केन्द्र और प्रतियोगी परीक्षाओं के लिए कोचिंग कक्षाएँ जैसे कल्याणकारी उपायों का कार्यान्वयन किया है।

❑

खण्ड-पाँच

भारत में कमज़ोर वर्ग : अनुसूचित जातियाँ, अनुसूचित जनजातियाँ व अन्य पिछड़े वर्ग

(Weaker Sections in India : Scheduled Castes, Scheduled Tribes and Other Backward Classes)

अध्याय 16

अनुसूचित जनजातियाँ : अवधारणा, समस्यायें व विकास

(Scheduled Tribes : Concept, Problems and Development)

जनजाति क्या है? किसी मानव समूह को एक जनजाति मानने के लिए यथार्थ रूप से कौन-सी कसौटियाँ हैं? जनजातीय जीवन की क्या विलक्षणता है ?

यह रोचक किन्तु दुःखद है कि मानवशास्त्री, समाजशास्त्री, सामाजिक कार्यकर्ता, प्रशासक तथा ऐसे ही दूसरे लोग जो जनजातियों तथा उनकी समस्याओं से सैद्धान्तिक स्तर अथवा व्यावहारिक आधार पर जुड़े रहे हैं, विषय वस्तु की अपनी अवधारणा एवं परिभाषा के विषय में एकमत नहीं हैं। आर्थर विल्के इत्यादि (1979) समस्या को उचित परिप्रेक्ष्य में यह कहकर प्रस्तुत करते हैं कि वर्षों तक भारत में जनजातीय लोगों के आधिकारिक आलेख व चित्रण को संदिग्धता ने जकड़ रखा था। उदाहरणार्थ सन् 1917 से 1931 की जनगणना तक जनजातियों के नामकरण सन्दर्भों में उत्तरोत्तर संशोधन होते रहे, जैसे आदिवासी अथवा 'दलित वर्ग'। सन् 1941 की जनगणना तक इन विशिष्ट विशेषणों को त्याग दिया गया। स्वतंत्रता के पश्चात् 'अनुसूचित जनजातियों' तथा 'आदिवासी' (जैसा उन्हें सामान्यतः पुकारा जाता है) का अभिप्राय ग्रहण करने की प्रथा चलती रही। इस प्रकार का प्रमाणीकरण भी संदिग्धता को पूर्णतया समाप्त नहीं कर पाया।

निस्सन्देह समय बीतने के साथ 'जनजाति' की अवधारणा तथा परिभाषा सम्बन्धी मतभेद कुछ हद तक निश्चित रूप से कम हो गये, किन्तु इस समस्या को उचित परिप्रेक्ष्य में समझने के लिए सैद्धान्तिक विचार-विमर्श आवश्यक है।

वर्तमान अध्याय में विचार-विमर्श के आधार स्वरूप यहाँ जनजाति की कुछ परिभाषाएँ दी जा रही हैं :-

'जनजाति' समान नाम धारण करने वाले परिवारों का एक संकलन है, जो समान बोली बोलते हों, एक ही भूखण्ड पर अधिकार करने का दावा करते हों अथवा दखल रखते हों तथा जो साधारणतया अन्तर्विवाही न हों यद्यपि मूल रूप में चाहे वैसे रह रहे हों।

– इम्पीरियल गजेटियर आफ इण्डिया

'जनजाति' विकास के आदिम अथवा बर्बर आचरण में लोगों का एक समूह है

जो एक मुखिया की सत्ता स्वीकारते हों तथा साधारणतया अपना एक समान पूर्वज मानते हों।

— आक्सफोर्ड शब्दकोश

सरलतम रूप में 'जनजाति' ऐसी टोलियों का समूह है जिसका एक सान्निध्य वाले भूखण्ड अथवा भूखंडों पर अधिकार हो और जिनमें एकता की भावना संस्कृति में गहन समानता, निरन्तर सम्पर्क तथा कतिपय सामुदायिक हितों में समानता से उत्पन्न हुई हो।

— राल्फ लिंटन

'जनजाति' समान संस्कृति वाली जनसंख्या का एक स्वतन्त्र राजनीतिक विभाजन है।

— लूसी मेयर

'जनजाति' समान नाम के तले एकत्रित एक जनसमूह है जिसमें कि समूह के सदस्य इस बात पर गर्व महसूस करते हैं कि वे समान भाषी, समान भूखण्ड स्वामी हैं तथा जो लोग उनके नाम के अंशधर नहीं हैं वे बाहरी ही नहीं बल्कि शत्रु हैं।

— जी.डब्ल्यू.बी. हाण्टिगफोर्ड

'जनजाति' क्षेत्रीय सम्बन्ध युक्त तथा अंतर्विवाही सामाजिक समूह है जिसके कार्यों में कोई विशेषज्ञता नहीं होती, जो जनजातीय अधिकारियों द्वारा शासित, वंशानुक्रम अथवा अन्य बोली से जुड़े हुये, अन्य जनजातियों अथवा जातियों से सामाजिक दूरी को मान्यता देने वाले, अपने प्रति किसी प्रकार की सामाजिक असमानताओं को नहीं जोड़ते (जैसा कि जाति संरचना में होता है), जो जनजातीय परम्पराओं में विश्वास रखते हैं तथा प्रथाओं का पालन करते हैं, विदेशी स्रोतों के विचारों के प्राकृतिकीकरण में अनुदारता तथा सबसे अधिक सजातीयता और क्षेत्रीय अखण्डता में विश्वास करते हैं।

—डी. एन. मजूमदार

आदर्श रूप में, जनजातीय समाज आकार में छोटे, अपने सामाजिक, विधिक तथा राजनीतिक सम्बन्धों की स्थानिक एवं कालिक परास (**temporal range**) में प्रतिबन्धित होते हैं तथा नैतिकता, धर्म तथा तद्नुरूप आयामों की विश्व-दृष्टि रखते हैं। अभिलाक्षणिकता की दृष्टि से भी जनजातीय भाषायें अलिखित होती हैं, अस्तु संचार की सीमा काल और दोनों ही दृष्टियों से अवश्यम्भावी रूप से संकीर्ण हैं। इसके बावजूद जनजातीय समाज आलेखों में मितव्ययिता प्रदर्शित करते हैं तथा अपने में एक ऐसी अभिसंकुचन एवं आत्मनिर्भरता रखते हैं जिसका आधुनिक समाज में अभाव है।

— एल.एम. लेविस

मजूमदार (1967) ठीक ही कहते हैं, कि जब कोई विभिन्न मानवशास्त्रियों द्वारा दी गई परिभाषाओं को देखता है तो उसका जनजाति के संघटक तत्त्वों सम्बन्धी विचारों की असमानता से प्रभावित न होना असम्भव है। नातेदारी व्यवस्था, समान भूखण्ड, समभाषा, संयुक्त स्वामित्व, एक राजनैतिक संगठन, आंतरिक संघर्ष की अनुपस्थिति आदि सभी का वर्णन एक जनजाति की मुख्य विशेषताओं के रूप में किया गया है। कुछ मानवशास्त्रियों ने न केवल कुछ उपरोक्त विशेषताओं को स्वीकार किया है अपितु उनमें से कुछ को एक जनजाति की विशेषताओं के रूप में स्वीकार करने का भी दृढ़ता से विरोध किया है। इस प्रकार रिवर्स ने एक समान भूखण्ड में निवास करने को जनजातीय संगठन के महत्त्वपूर्ण लक्षण के रूप में वर्णित नहीं किया है, यद्यपि पेरी जैसे अन्य विद्वानों ने यह कहकर इस पर जोर दिया है कि यहाँ तक कि यायावर (घुमक्कड़) जनजातियाँ भी एक निश्चित क्षेत्र में ही विचरण करती हैं। रैड क्लिफ ब्राउन ने अपने आस्ट्रेलियायी आँकड़ों से जनजाति की एक टुकड़ी के दूसरे से लड़ने का उदाहरण प्रस्तुत किया है। इस प्रकार के विद्वत् विचारों की विभिन्नता से कोई व्यक्ति केवल यह निष्कर्ष निकाल सकता है कि प्रत्येक मानवशास्त्री के जनजाति सम्बन्धी विचार उस प्रकार के आँकड़ों से उत्पन्न होते हैं, जिनसे वह सर्वाधिक सुपरिचित होता है। इसलिये कोई व्यक्ति विश्वव्यापी (व्यापक) विशेषताओं वाली एक सूची तैयार कर सकता है, जिनमें से कुछ किसी भी स्थान की जनजाति को परिभाषित कर सकती है। इस प्रकार पूर्ववर्ती पृष्ठ पर दी गई अपनी परिभाषा की विश्वव्यापी प्रयोज्यता का दावा मजूमदार करते हैं।

जनजाति की परिभाषा करने में एक सबसे बड़ी बाधा कृषक वर्ग (Peasantry) से जनजाति का विभेद करने की समस्या है। आन्द्रे बीते (1973) का कहना है कि जनजाति तथा कृषक नामकरण का प्रयोग इस प्रकार के सामाजिक संगठन के लिए करना तथा एक दूसरे से वैषम्य करके चरित्रांकन करना निस्सन्देह सम्भव है। किन्तु जनजातीय समाजों के अध्ययन में मानवशास्त्रियों द्वारा निवेशित समस्त प्रयासों के बावजूद एक जनजातीय समाज को परिभाषित करने का वास्तव में कोई मार्ग नहीं है। भारतीय सन्दर्भ में इसका अर्थ यह होता है कि मानवशात्रियों ने कुछ अस्पष्ट प्रकार से एक से अन्य के वैषम्य का प्रयास किया है जो स्वयं भी उतना ही अस्पष्ट है। प्रारम्भिक मानवशास्त्रियों ने जनजातीय समाज की परिभाषा की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया बल्कि खामोशी से मान लिया कि आस्ट्रेलिया, मेलानेशिया व अफ्रीका में जो उनके द्वारा अध्ययन किए जा रहे हैं वह ही जनजातीय समाज के विविध रूप हैं। जनजाति को कुछ अस्पष्ट रूप से समान सरकार, समान बोली व समान संस्कृति रखने वाला कमोबेश समजातीय समाज मान लिया गया। यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति आन्द्रे बीते की मान्यता से सहमत नहीं होगा लेकिन उसका यह कथन इस समस्या का निकटता से दृढ़ अध्ययन करने वाले अनेक विचार समुदायों में से एक के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

उपरोक्त परिचर्चा से यह प्रदर्शित होता है कि जनजाति अथवा जनजातीय समाज की निष्कर्षात्मक परिभाषा करना सहज नहीं है तथा इस सम्बन्ध में किसी प्रकार का मानकीकरण प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। इसलिये जनजाति की अवधारणा के क्षेत्रीय गुणार्थ को दृष्टि में रखते हुये अन्तर्राष्ट्रीय अथवा विश्वव्यापी स्तर से हट जाना अधिक अच्छा होगा तथा अपनी समस्याओं के समाधान हेतु भारतीय परिप्रेक्ष्य के अन्तर्गत ही मानकीकरण प्रस्तुत करने की ओर ध्यान केन्द्रित

करना ठीक होगा। ऐसा करना इस परिस्थिति में कदापि उचित लगता है क्योंकि विश्वव्यापी प्रयोज्यता वाली परिभाषायें या तो बहुत विस्तृत तथा पोली हैं अथवा अत्यन्त संकीर्ण तथा सीमित हैं। इस सन्दर्भ में आंद्रे बीते (वही) की टिप्पणी उचित है कि बेली सम्भवतः भारतीय क्षेत्र में कार्य करने वाला एकमात्र मानवशास्त्री है जिसने खण्डीय सिद्धान्तों के आधार पर जनजातियों का चरित्रांकन किया है किन्तु जिस वैषम्य में वह रुचि रखता था वह जनजाति तथा कृषक वर्ग के मध्य का वैषम्य नहीं वरन् ''जनजाति'' तथा ''जाति'' के बीच का वैषम्य है। इसके आगे बेली को छोड़कर अधिकांश भारतीय मानवशास्त्रियों ने जनजातीय समाज की एक सी परिभाषा का सृजन करने की समस्या की ओर गम्भीर चिन्तन नहीं किया जो भारतीय सन्दर्भों में उपयुक्त होता है।

अब हम इस समस्या का परीक्षण विशिष्ट रूप से भारतीय सन्दर्भों में करें।

टी.बी. नायक (1960) ने जनजातीय जीवन की कसौटियों तथा सूचकांकों की बात विशिष्ट रूप से भारतीय सन्दर्भ में करके इस समस्या को सही परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया है, जनजातीय जीवन की क्या कसौटियाँ तथा सूचकांक होने चाहिये। वनों में रहना? सूरत के डुबला तथा बहुत से अन्य जनजातीय लोग वनों में नहीं रहते, वे उर्वरक मैदानों में रहते हैं, तथापि वे अनुसूची में सम्मिलित किये गए हैं। आदिम धर्म? किन्तु आप नहीं जानते हैं कि भारत में आदिम धर्म क्या है। क्योंकि यहाँ भारत के अधिकांश उन्नत समुदायों के धर्मों में अत्यन्त गूढ़ दर्शन से लेकर जनजातीय देवताओं तथा अन्धविश्वास से परिपूर्ण विश्वासों में एक निरन्तरता पाई जाती है। इस सूचना के भ्रामक तथा यथातथ्य न होने के कारण पर्याप्त नहीं हैं। भौगोलिक निस्संगता व अलगाव से सैकड़ों जनजातीय समूह पृथक् जीवन नहीं जी रहे हैं। अनेक कृषक समूह समान आदिम (जनजातीय) आर्थिक प्रणाली द्वारा जीवनयापन कर रहे हैं। इस प्रकार नायक जनजाति के लिये स्वयं अपनी कसौटियाँ प्रस्तुत करते हैं। ये कसौटियाँ निम्नलिखित हैं–

1. किसी जनजाति को जनजाति होने के लिए समुदाय के भीतर न्यूनतम प्रकार्यात्मक पारस्परिक निर्भरता होनी चाहिये। (हिन्दू जाति व्यवस्था परस्पर निर्भरता का एक उदाहरण है)
2. उसे आर्थिक दृष्टि से पिछड़ा होना चाहिये जिसका अर्थ है कि–

(क) उसके सदस्यों को मुद्रा व सिक्कों वाले अर्थशास्त्र के सम्पूर्ण महत्त्व का ज्ञान नहीं होना चाहिए।

(ख) प्राकृतिक साधनों के समउपायोजन के लिए आदिम साधनों का प्रयोग किया जाना चाहिए।

(ग) जनजाति की अर्थव्यवस्था अल्प विकसित चरण पर होनी चाहिए।

(घ) उसको अनेक प्रकार की आर्थिक क्रियाओं का अनुसरण करना चाहिए।

3. उसकी अन्य लोगों से तुलनात्मक भौगोलिक पृथकता होनी चाहिए।
4. सांस्कृतिक दृष्टि से एक जनजाति के सदस्यों की एक बोली होनी चाहिए जिसमें क्षेत्रीय विभिन्नता पाई जा सकती है।
5. एक जनजाति को राजनैतिक दृष्टि से संगठित होना चाहिये तथा उसकी सामुदायिक पंचायत को एक प्रभावशाली संस्था होना चाहिये।

6. जनजाति के सदस्यों में परिवर्तन की न्यूनतम अभिलाषा होनी चाहिए। उनमें एक प्रकार की मनोवैज्ञानिक रूढ़िवादिता होनी चाहिए जो उन्हें उनकी प्राचीन प्रथाओं से चिपकाये रखे।
7. एक जनजाति में परम्परागत नियम होने चाहिए तथा उसके सदस्यों को इन कानूनों के कारण न्यायालय में हानि उठानी पड़ सकती है।

नायक अपने दृष्टिकोण की और अधिक व्याख्या करते हुए कहते हैं कि किसी भी समुदाय को जनजाति होने के लिए इन सभी उपरोक्त गुणों का होना आवश्यक है। उसमें पर संस्कृति (एकलचुरेशन) हो सकता है किन्तु पर संस्कृतिग्रहण के प्रभाव का निर्धारण उसकी रूढ़ियों, देवताओं, भाषा आदि के सन्दर्भ में होना चाहिए। बहुत अधिक मात्रा में उत्संस्करण स्वतः ही उसे एक जनजाति होने से वर्जित कर देगा।

एहरेनफेल्स यह कहकर कुछ पूर्व चर्चित बिन्दुओं की व्याख्या करते हैं कि–

1. एक समुदाय, चाहे वह कितना ही छोटा क्यों न हो, एक भौगोलिक क्षेत्र में अन्य समुदायों से पृथक् रह सकता है। यह एक जाति तथा एक जनजाति दोनों पर लागू होता है। एक "वास्तविक" जनजाति के सदस्य सामान्यतः पारस्परिक हिन्दू जाति के अधिक्रम में सम्मिलित नहीं किये जाते तथा बारम्बार एक समान बोली बोलते हैं, समान विश्वासों को ग्रहण करते हैं, समान व्यावसायिक तरीकों का पालन करते हैं तथा (सबसे महत्त्वपूर्ण) अपने को एक छोटे किन्तु अर्द्धराष्ट्रीय एकार्द्ध का सदस्य मानते हैं।
2. मैं उपरोक्त परिभाषा से "अधिक पिछड़ापन", 'आदिम साधन' व "अल्पविकसित चरण" जैसे शब्दों को निकाल दूँगा तथा उनके स्थान पर "आत्मनिर्भर " (खासी, गोंड, भील, अगरिया तथा अन्य जो अंशतः आर्थिक दृष्टि से अपने गैर जनजातीय पड़ोसियों की अपेक्षाकृत अधिक विशेषीकृत हैं) शब्द रखूँगा। यद्यपि किसी जनजाति का प्रत्येक व्यक्ति अपने पारिवारिक समूह के लिए कार्य कर सकता है और अन्य जनजातीय सदस्यों से प्रकार्यात्मक रूप से स्वतन्त्र रह सकता है, फिर भी यह देखना होगा कि किस सीमा तक प्रत्येक व्यक्ति समग्र रूप से अपनी जनजाति के साथ अपेक्षाकृत जनजातीय हिन्दुओं के जातीय वंशक्रम में सहभागीदार के रूप में एकात्मकता में रहता है।
3. मैं भौगोलिक पृथकता की परिभाषा से सहमत हूँ, यद्यपि प्रत्येक जनजाति लोगों की पृथक्कीकरण इकाई नहीं है। (उदाहरणार्थ– भील, संथाल, इरुला इत्यादि) किन्तु यदि जनजाति की अपनी अर्थ प्रणाली है तो इसकी एकात्मकता निस्संदेह अधिक स्थाई होगी।
4. असम तथा मध्य क्षेत्रों में समान बोलियाँ अथवा भाषाएँ वहाँ की जनजातियों की विशेषता है किन्तु भारत के दक्षिणी तथा पश्चिमी राज्यों में यह बात लागू नहीं होती। यह बात लागू नहीं होती। किन्तु जनजातीय चेतना का निर्माण करने के लिए यह आवश्यक नहीं है। पूर्व परसंस्कृतिग्रहण (pre-acculturation) के दिनों में अधिकांश जनजातियों की मौलिक धार्मिक अवधारणाएँ उनके हिन्दू, बौद्ध, मुसलमान अथवा ईसाई पड़ोसियों से भिन्न थीं, किन्तु अब ऐसा होना ज़रुरी नहीं है।

5. एक जनजाति को न तो सदैव राजनैतिक दृष्टि से संगठित होना आवश्यक है न ही सामुदायिक पंचायत का रखना। वह एक अकेला मुखिया रख भी सकती है और नहीं भी, अथवा कुछ बुजुर्गों जिनका समुदाय में कमाबेश प्रभाव व शक्ति हो, रख सकती है।
6. मैं उपरोक्त प्रासंगिक अनुच्छेद को निकाल दूँगा तथा उसके स्थान पर यह कहूँगा कि "एक जनजाति के सदस्य एक समूह से सम्बन्धित होने की भावना रखते हैं जिसका अस्तित्व मूल्यवान् है।"
7. लगभग सभी जनजातियों के रूढ़िगत कानून एवं व्यवहार होते हैं जो कमोबेश अपने जनजातीय पड़ोसियों से भिन्न होते हैं। प्रायः उन्हें इस कारण ही न्यायालयों तथा अंतर्जातीय लोगों के साथ सम्पर्क स्थितियों में हानि उठानी पड़ती है।

टाटा समाज विज्ञान संस्थान ने भारतीय जनजातियों पर अपनी रिपोर्ट में उन्हें भी सम्मिलित कर लिया है जो इस समस्या के सम्बन्ध में मानवशास्त्रियों के दृष्टिकोण की आलोचना करते रहे हैं। इसका कहना है कि मानवशास्त्रीय कसौटियाँ आदर्श जनजातीय समुदायों पर लागू होती हैं जैसाकि मानवशास्त्रियों ने सैद्धान्तिक प्रयोजन के लिए इसकी कल्पना की है। परिणामस्वरूप हम देखते हैं कि अनुसूचित जनजाति श्रेणी में पायी जाने वाली बहुत-सी जनजातियाँ वास्तविक रूप में जनजाति नहीं कहलाई जा सकतीं। इसका तार्किक निहितार्थ यह लगता है कि जो समुदाय उपरोक्त कसौटियों को सन्तुष्ट नहीं करते उन्हें "जनजाति" नहीं माना जाना चाहिये यद्यपि उन्हें अनुसूचित जनजातियों की सूची में सम्मिलित किया गया है, आर्थर विल्के इत्यादि (1979) का अन्य लोगों के समान मत है कि मानवशास्त्र के अध्ययन के बौद्धिक स्वरूप में यदि बहुत नहीं तो कुछ सीमा तक कठिनाई अंतर्निहित है। अयप्पन इस प्रकार के विवरणों से उत्तेजित होकर अपेक्षाकृत संशयात्मक रूप से टिप्पणी करते हैं तथा हमें टेटरिंगन द्वारा दी गई जनजातियों (स्पेशीज) की जानी-मानी परिभाषा की याद दिलाते हैं। इस परिभाषा को स्वीकार करते हुये उन्होंने (अयप्पन) कहा कि जनजाति एक ऐसा मानव समूह है जिसे एक समर्थ (अक्षय) मानवशास्त्री "जनजाति" माने। यदि प्रशासक एक स्पष्ट परिभाषा चाहता है जिसका वह आँख बन्द करके प्रयोग कर सके तथा उससे भली प्रकार काम चला सके तो हमें उसे बताना चाहिये कि वह हमारे पास नहीं है, ठीक उसी प्रकार जैसे एक जीव विज्ञानी ऐसी स्थिति में नहीं है कि वह जन्तु जातियों की सर्वप्रयोगार्थ स्पष्ट परिभाषा दे सके।

"जनजाति" की परिभाषा की समस्या पर इस प्रकार के अलंकारिक एवं शैक्षिक अथवा शास्त्रीय वाद-विवाद के बावजूद इस कार्य में पर्याप्त मात्रा में मानकीकरण करने में सफलता प्राप्त हो चुकी है कि कौन-से लोग विशिष्ट सुरक्षा व सुविधायें पाने के अधिकारी हैं अथवा कौन-से लोग नहीं। यह उन्हीं मानवशास्त्रियों के प्रबल शैक्षिक प्रयासों से ही सम्भव हुआ है, जो चारों ओर से प्रताड़ित किये गये थे।

मजूमदार (1967) इस नये मूड की व्याख्या निम्नलिखित तथ्यों द्वारा करते हैं :

1. जनजातीय भारत में "जनजाति" निश्चित रूप से एक क्षेत्रीय समूह है। एक जनजाति का पारम्परिक भूखण्ड होता है तथा उत्प्रवासी सदैव उसे अपना घर मानते हैं। असम के चाय बागानों में काम करने वाले संथाल, बिहार अथवा बंगाल के विशिष्ट क्षेत्रों का अपने घर के

रूप में आज भी हवाला देते हैं।

2. एक जनजाति के सभी सदस्य एक-दूसरे के नातेदार नहीं होते हैं, किन्तु प्रत्येक भारतीय जनजाति के अन्तर्गत नातेदारी एक सुदृढ़, सहचारी, नियामक तथा एकीकरण सिद्धान्त के रूप में कार्य करती है। इसका परिणाम जनजातीय अन्तर्विवाह तथा एक जनजाति का गोत्रों एवं उपगोत्रों में विभाजन के रूप में सामने आया है। यह गोत्र नातेदारी समूह होने के कारण बहिर्विवाही होते हैं।

3. एक भारतीय जनजाति के सदस्य एक समान भाषा बोलते हैं, स्वयं उनकी अपनी अथवा अपने पड़ोसियों की। सामूहिक पैमाने पर अन्तर्जातीय संघर्ष भारतीय जनजातियों के लक्षण नहीं हैं। सम्पत्ति का संयुक्त स्वामित्व जहाँ भी है, उदाहरणार्थ होत लोगों में, अपवर्जित नहीं है। राजनैतिक दृष्टि से, भारतीय जनजातियाँ राज्य सरकारों के नियन्त्रण में हैं किन्तु एक जनजाति के भीतर एक ग्राम अथवा आसन्न ग्रामों की संघटक जनसंख्या की प्रजातीय तथा सांस्कृतिक विषमजातीयता के अनुरूप, अनेक पंचायतें हो सकती हैं।

भारतीय जनजातियों के अन्य बहुत से दूसरे विशिष्ट लक्षण हैं। इस प्रकार उनके युवागृह, बालकों एवं बालिकाओं में संस्थागत शिक्षा की अनुपस्थिति, जन्म विवाह तथा मृत्यु के सम्बन्ध में विशिष्ट प्रथायें, हिन्दुओं तथा मुसलमानों से भिन्न नैतिक संहिता, धार्मिक विश्वासों की विशिष्टतायें जनजातियों को निम्न जातीय हिन्दुओं से भी भिन्न करती हैं।

इस चर्चा को समाप्त करते हुये आर्थर विल्के (वही) का सन्दर्भ नितान्त उचित लगता है जिनका मत है कि नौकरशाही के निर्णय लेने की बाध्यता तथा प्रशासन के सर्वोच्च होने के कारण मानव समाज की रंगारंगी में विविधताओं की अनदेखा करने की प्रवृत्ति सदा मौजूद रही है। शासन की अपनी मजबूरियाँ जिसमें राजनैतिक कारक भी शामिल हैं, तथा सम्पूर्ण जनजातीय भारत में घटने वाले सामाजिक, सांस्कृतिक परिवर्तनों ने "जनजाति" के किसी आदर्श प्रतिमान के अस्तित्व को असम्भव बना दिया है।

भारत में जनजातियाँ : वर्गीकरण
(Tribes in India : Classification)

कारकों की बहुलता तथा समस्या की जटिलता के कारण भारतीय जनजातियों का विभिन्न समूहों में वर्गीकरण करना बहुत सरल नहीं है। फिर भी अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजातियों के आयुक्त ने इस कार्य को प्रारम्भ किया तथा वर्गीकरण की कसौटियों को स्वीकार करने की सम्भावना की जाँच की। इस उद्देश्य को दृष्टि में रखकर राज्य सरकारों से उन विशेषताओं व लक्षणों का सुझाव देने को कहा गया जो उन्हें सर्वाधिक उपयुक्त प्रतीत होती हैं जिनके आधार पर तथाकथित "आदिम" समूहों तथा जनसंख्या में भेद किया जा सके।

असम सरकार ने मंगोल प्रजाति समूहों, तिब्बत-बर्मा भाषाई समूह तथा ग्रामीण गोत्र प्रकार के सामाजिक संगठन को विशेष महत्त्व दिया। पूर्ववर्ती बम्बई सरकार ने वनीय क्षेत्रीय स्थानों में निवास को आधारभूत कसौटी माना जबकि मध्य प्रदेश सरकार के लिये जनजातीय मूल,

जनजातीय भाषा का बोलना तथा वनीय क्षेत्रों में निवास महत्त्वपूर्ण कसौटियाँ थीं। इसी प्रकार मद्रास, उड़ीसा, मैसूर तथा ट्रावनकोर आदि सरकारों ने विविध भाषागत, भौगोलिक, आर्थिक तथा सामाजिक कारकों को संकेतक के रूप में मानने का सुझाव दिया।

उपरोक्त वर्णित विशेषताओं पर विचार करते हुए भारत की जनजातियों को निम्नलिखित आधारों पर वर्गीकृत किया जा सकता है –

(अ) भूखण्डीय वितरण

(ब) व्यवसाय अथवा अर्थव्यवस्था

(स) सांस्कृतिक सम्पर्क

(द) धार्मिक विश्वास

भौगोलिक वर्गीकरण (Geographical Classification)

भारत के भौतिक मानचित्र को देखते हुए तथा जनजातीय जनसंख्या के वितरण के अनुसार हम पाते हैं कि भूगोल तथा जनजातीय जनसांख्यिकी भी क्षेत्रीय समूहीकरण तथा मण्डलीय वर्गीकरण की अनुमति देते हैं। बी.एस. गुहा ने भारतीय जनजातियों को तीन मण्डलों में वर्गीकृत किया है।

1. उत्तर-पूर्वी तथा उत्तरी मण्डल
2. केन्द्रीय अथवा मध्य मण्डल
3. दक्षिणी मण्डल

1. उत्तरी तथा उत्तर पूर्वी मण्डल

इसमें हिमालय के नीचे का क्षेत्र तथा भारत की पूर्वी सीमाओं की पहाड़ी घाटियाँ सम्मिलित हैं। असम, मणिपुर तथा त्रिपुरा के जनजातीय लोगों को इस भौगोलिक मण्डल के पूर्वी भाग में सम्मिलित किया जा सकता है, जबकि उत्तरी भारत में पूर्वी कश्मीर, पूर्वी पंजाब, हिमाचल प्रदेश तथा उत्तर प्रदेश की जनजातियों को सम्मिलित किया जा सकता है।

असम तथा तिब्बत के मध्य रहने वाली कुछ महत्त्वपूर्ण जनजातियाँ अका, डफ़ला मीरी, गुरुंग व अपातानी सुबानसिरी नदी के पश्चिम में बसती हैं। "मिश्मी" जनजाति देवांग तथा लोहित नदियों के बीच उच्च क्षेत्रों में बसती है। इसके पूर्व में खामती तथा सिंहको जनजाति पाई जाती है। नागा पर्वतों के दक्षिण में मणिपुर, त्रिपुरा राज्य के मध्य होकर तथा चिरागम पहाड़ियों की शृंखला में कुकी, लुशाई, खासी तथा गारों (अब नवगठित मेघालय राज्य के निवासी) जनजातियाँ रहती हैं। सिक्किम के हिमालय के निचले क्षेत्र में तथा दार्जिलिंग के उत्तरी भाग में अनेक जनजातियाँ हैं, उनमें लेप्चा सबसे अधिक प्रसिद्ध है। उत्तर प्रदेश, हिमालय क्षेत्र में थारू, भोकसा, जौनसारी (खासा), मोठिया, राजी जैसी महत्त्वपूर्ण जनजातियाँ पाई जाती हैं।

सम्पूर्ण भौगोलिक मण्डल में सघन जनसंख्या नहीं पाई जाती है। (यद्यपि यह क्षेत्र पर्याप्त बड़ा है।) भौगोलिक समानता के फलस्वरूप इस मण्डल की अधिकांश जनजातियाँ या तो सोपान कृषि (टेरेस खेती) करती हैं जिसे स्थानीय भाषा में झूम खेती भी कहते हैं। ये जनजातियाँ

अधिकांशतया अत्यन्त निर्धन व आर्थिक दृष्टि से पिछड़ी हुई हैं।

2. केन्द्रीय अथवा मध्य मण्डल

इस मण्डल में उत्तर में भारत का गंगा मैदान तथा मोटे तौर पर दक्षिण में कृष्णा नदी के मध्य पठारों तथा पहाड़ी पट्टी सम्मिलित है तथा यह उत्तरी पूर्वी मण्डल से गारो पहाड़ियों तथा राजमहल पहाड़ियों के लुप्तांश द्वारा पृथक् हो जाती है। इस मण्डल में हम मध्य प्रदेश की जनजातीय जनसंख्या का एक जबरदस्त जमाव पाते हैं जिसका विस्तार उत्तर प्रदेश, मध्य भारत, दक्षिणी राजस्थान, उत्तरी महाराष्ट्र, बिहार तथा उड़ीसा तक है। उत्तरी राजस्थान, दक्षिणी महाराष्ट्र तथा बस्तर इस मण्डल की परिधि का निर्धारण करते हैं। इस मण्डल में बसने वाली महत्त्वपूर्ण जनजातियाँ सवारा, गदवा, गंजम जनपद की वोरिडो, जवांग, खारिया, खोंड़, भूमजी तथा उड़ीसा की पहाड़ियों की भुइयाँ हैं। छोटा नागपुर के पठार में मुण्डा, सन्थाल, ओराँव, हो व बिरहोर जनजातियाँ बसती हैं इसके और पश्चिम में विन्ध्य शृंखला के साथ कटकारी, कोल तथा भील जनजातियाँ रहती हैं। गोंड सबसे बड़े समूह की संरचना करते हैं तथा ''गोंडवान प्रदेश'' के नाम से पुकारे जाने वाले क्षेत्र में रहते हैं। सतपुड़ा के दोनों ओर तथा मैकाल पहाड़ियों के चारों ओर इसी प्रकार की जनजातियाँ पाई जाती हैं जैसे कोराकू, अगारिया, परधान तथा वैगा। बस्तर की पहाड़ियों में कुछ सबसे रंगारंग जनजातियाँ रहती हैं जैसे मुरिया अभुजमेर पहाड़ियों के पहाड़ी मुरिया तथा इन्द्रावती घाटी की गौर के सीमा वाली, मारिया जनजातियाँ। इस मण्डल की अधिकांश जनजातियाँ अस्थायी कृषि (शिफटिंग खेती) के द्वारा अपना जीवनयापन करती हैं, किन्तु ओराँव, संथाल, मुण्डा तथा गोंड जनजातियों ने पड़ोसी ग्रामीण लोगों से सांस्कृतिक सम्पर्क के फलस्वरूप हल से कृषि करना सीख लिया है।

3. दक्षिणी मण्डल

इस मण्डल में दक्षिणी भारत का वह भाग आता है जो कृष्णा नदी के दक्षिण में है तथा जो वाइनाड से केप केमोरिन तक फैला हुआ है। आन्ध्र प्रदेश, कर्नाटक, कुर्ग, ट्रावनकोर, कोचीन, तमिलनाडु आदि इस मण्डल में सम्मिलित हैं। इस मण्डल के उत्तर पूर्व से प्रारम्भ करके चेंचू कृष्णा के उस पार नल्लाइ मल्लाइ पहाड़ियों के क्षेत्र तथा पूर्ववर्ती हैदराबाद राज्य में बसे हैं। दक्षिण कनारा के लोरागा से पश्चिमी घाटों के साथ-साथ युरुवा और टोडा कूर्म पहाड़ियों के निचले ढलान पर रहते हैं। जबकि इरुला, पलियन तथा कुरुम्बा वाइनाड क्षेत्र में बसते हैं। भारतीय जनजातियों में सबसे आदिम जैसे-कडार, कानिक्कर, मालवादन, मलाकुखन आदि कोचीन तथा ट्रावनकोर के घने जंगलों में बसते हैं। वे विश्व के आर्थिक दृष्टि से सबसे अधिक पिछड़े लोगों में सम्मिलित हैं किन्तु उपरोक्त कथन के कुछ अपवाद भी हैं जैसे टोडा, बदागा तथा कोटा जो नीलगिरि पहाड़ियों में रहते हैं। इस क्षेत्र के अधिकांश जनसमूह अपने भोजन संग्रह के लिये आखेट तथा मछली पकड़ने पर निर्भर रहते हैं।

यद्यपि गुहा ने अण्डमान तथा निकोबार द्वीपों के निवासियों को इन मण्डलों में भी सम्मिलित नहीं किया है तथापि इन जनजातीय लोगों को, चतुर्थ मण्डल की संरचना करने वाला कहा जाता है। इस मण्डल में रहने वाली मुख्य जनजातियाँ-जरवा, ओंगे, उत्तरी सेण्टी नलीज,

अण्डमानी, शाम्पेन तथा निकोबारी हैं। यद्यपि ये भारतीय जनजातियों की मुख्य धारा से अलग हैं फिर भी दक्षिण भारतीय जनजातियों से सजातीय दृष्टि से अधिक निकट हैं।

भाषायी वर्गीकरण (Linguistic Classification)

वर्तमान समय में भारत के लोगों को चार विभिन्न भाषाई परिवारों में विभाजित किया जा सकता है। इनके नाम हैं भारतीय-यूरोपीय (आर्य) द्रविड़, आस्ट्रिक (कोलोर मुण्डा) तथा तिब्बत-चीनी (चीनी तिब्बती)। डी.एन. मजूमदार (1955) का मत है कि "जहाँ तक जनजातीय लोगों का सम्बन्ध है आर्य भाषा केवल सांस्कृतिक सम्पर्क के फलस्वरूप सामने आती है क्योंकि हमारे लगभग सभी जनजातीय लोगों का सम्बन्ध पूर्व आर्य अथवा अनार्य प्रजातियों तथा उद्भव से है"। अतः अधिकांश विद्वान् इस दृष्टि से सोचते हैं कि भारत के जनजातीय लोग मुख्यतः तीन भाषा परिवारों में वगीकृत किये जा सकते हैं– 1. द्रविड़ 2. आस्ट्रिक 3. तिब्बती-चीनी।

द्रविड़ भाषागत परिवार के अन्तर्गत आने वाली भाषाओं को बोलने वाले जनजातीय लोग मध्य तथा दक्षिणी भारत में बसते हैं। द्रविड़ परिवार की सर्वाधिक विकसित भाषायें तमिल, तेलुगू, कन्नड़ तथा मलयालम हैं। गोंड द्रविड़ परिवार में बोली जाने वाली जनजातीय बोलियों में प्रमुख स्थान रखती है तथा यह गोंड जनजातीय द्वारा, जो मध्य प्रदेश से आन्ध्र प्रदेश तक फैली है, विस्तार के साथ बोली जाती है। इसका कोई साहित्य नहीं है, किन्तु इसके बोलने वालों की संख्या शक्ति को ध्यान में रखते हुये इसे जनजातीय भाषाओं के क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है। इस समूह की एक अन्य महत्त्वपूर्ण भाषा "कोई" है जो उड़ीसा के कांध, छोटा नागपुर की ओराँव तथा राजमहल पहाड़ियों की माल्टो द्वारा बोली जाती है। टोडा, पलियन, चेन्चू, इरुला तथा कादार भी द्रविड़ परिवार में सम्मिलित किये जाते हैं।

आस्ट्रिक परिवार की बोलियाँ मुण्डा भाषा परिवार के रूप में भी जानी जाती हैं। मैक्समूलर प्रथम विद्वान् थे जिन्होंने उसे द्रविड़ भाषा परिवार से अलग किया तथा उन्होंने ही इस समूह को मुण्डा बोली परिवार का नाम प्रदान किया। इस परिवार की बोलियाँ मुख्यतः छोटानागपुर क्षेत्र की जनजातियों द्वारा बोली जाती हैं किन्तु उनका प्रचलन, कुछ कम सीमा तक मध्य प्रदेश, उड़ीसा, पश्चिम बंगाल, मद्रास तथा बिहार से शिमला की पहाड़ियों तक फैलकर हिमालय के तराई क्षेत्रों में भी है। बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा की संथाली बोली तथा बिहारी क्षेत्र की मुण्डारी, हो, खरिया, भूमिज व कुछ अन्य बोलियाँ भी इस परिवार में सम्मिलित हैं।

तिब्बती-चीनी बोलियाँ मंगोल प्रजाति समूह की अधिकांश जनजातियों द्वारा बोली जाती हैं। यह परिवार दो शाखाओं में विभाजित किया जाता है- 1. तिब्बत-बर्मी 2 सियामी-चीनी। असम, मेघालय तथा उत्तर-पूर्वी भारत के अन्य भागों की जनजातियाँ इस परिवार की एक न एक बोली बोलती हैं।

प्रजातीय वर्गीकरण (Racial Classification)

डी. एन. मजूमदार (1955) ने प्रजातीय लक्षणों के आधार पर भारत की जनजातीय जनसंख्या का वर्गीकरण करने की समस्या को जटिल बताया है। वह कहते हैं कि भारत की जनजातीय समुदायों के प्रजातीय मूल अथवा सादृश्यों को निश्चित करना अत्यन्त जटिल प्रश्नों में से

एक है, जिसका सामना भारतीय मानवशास्त्रियों को करना पड़ेगा। उन सजातीय समूहों के सम्बन्ध का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है जो प्रागैतिहासिक काल में भारत के विभिन्न भागों में वास करते थे। ऐतिहासिक काल में भारत के प्रजातीय संगठन के विषय में प्राप्त ज्ञान कम है। अतः भारत के प्रजातीय इतिहास के सम्बन्ध में समस्त ऐतिहासिक पुनर्रचना को काफी हद तक अटकलों पर निर्भर रहना पड़ेगा।

भारत में होने वाला प्रथम प्रजातीय वर्गीकरण का प्रयास सर हरबर्ट रिज्ले द्वारा किया गया था। उन्होंने अपनी खोजों को "पीपुल्स आफ इण्डिया" नामक पुस्तक में 1916 में प्रकाशित कराया। वह समस्त भारतीय जनसंख्या को सात प्रजातीय प्रकारों में वर्गीकृत करते हैं–

1. टर्को- ईरानी (Turko-Iranian)
2. भारतीय- आर्य (Indo-Aryan)
3. स्कीथो-द्रविड़ (Scytho-Dravidian)
4. आर्य-द्रविड़ (Aryo-Dravidian)
5. मंगोल-द्रविड़ (Mongolo-Dravidian)
6. मंगोली (Mongoloid)
7. द्रविड़ (Dravidian)

इन सातों प्रकारों को तीन आधारभूत प्रकारों– द्रविड़, मंगोल तथा भारतीय आर्य- में सरलीकृत किया जा सकता है। उल्लेखनीय है कि उन्होंने भारत के आदिवासियों (जनजातियों) के लिए कोई पृथक् वर्गीकरण योजना नहीं प्रदान की। हट्टन, गुहा तथा मजूमदार द्वारा सुझाये गए वर्गीकरण भारतीय लोगों के प्रजातीय वर्गीकरण के क्षेत्र में नवीनतम हैं। गुहा 6 प्रमुख प्रजातियों की सूची प्रस्तुत करते हैं जिसमें 9 उप प्रकार हैं–

1. नीग्रीटो (The Negrito)
2. आद्य- आस्ट्रेलायड (The Proto- Australoid)
3. मंगोल (The Mongoloid)
   (अ) पुरामंगोल (Palaeo-Mongoloid)
   (ब) लम्बे सिर वाले (Long-headed)
   (स) चौड़े सिर वाले Broad-headed)
4. मध्य भूसागरीय (The Mediterranean)
   (अ) पुरा भूमध्य सागरी (Palaeo-mediterranean)
   (ब) मध्य सागरीय (Mediterranean)
   (स) प्राच्य प्रकार (Oriental type)
5. पाश्चात्य चौड़े सिर वाले The Western Brachycephals)

(अ) एल्पीनायड (Alpinoid)

(ब) डिनारिक (Dinaric)

(स) आरमीनायड (Armenoid)

6. नार्डिक (The Nordic)

भारत की जनजातीय जनसंख्या की वंशक्रमिका मुख्यतः प्रथम तीन प्रकारों में ढूँढ़ी जाती है :

कोचीन और ट्रावनकोर की पहाड़ियों की जनजातियाँ जैसे– कादार, इरुला, पलियन आदि, असम के अंगमी नाग तथा पूर्वी बिहार की राजमहल पहाड़ियों की जनजातियाँ नीग्रीटो प्रजातीय प्रकार में सम्मिलित हैं, जिनका आकार छोटा होता है, त्वचा का रंग काला, काले सख्त बाल, पतले होंठ तथा नाक चौड़ी होती है।

आद्य-आस्ट्रेलायड प्रजातीय प्रकार के लोगों का छोटे से मध्यम आकार, लम्बा तथा ऊँचा सिर, चौड़ा तथा छोटा चेहरा तथा छोटी चपटी नाक होती है। मध्य अथवा केन्द्रीय भारत की अधिकांश जनजातियाँ इस प्रजातीय प्रकार में आती हैं, किन्तु कुछ दक्षिण भारतीय जनजातियाँ जैसे चेंचू, भील आदि भी इस प्रकार की प्रजातीय विशेषताओं को प्रदर्शित करते हैं।

जहाँ तक मंगोल प्रजातीय समूह का सम्बन्ध है, उत्तर पूर्वी भारत की अधिकांश जनजातियाँ इस प्रजातीय प्रकार में सम्मिलित हैं तथा पीले रंग की त्वचा वाली होती हैं, उनके बाल सीधे तथा काले, चपटी नाक, उन्नत गाल की हड्डियाँ तथा शिखरा मोड़ (एपिकैन्थिक) सहित बादाम के आकार वाली आँखें होती हैं। नागा, चकमा, लपेचा आदि इस प्रजातीय समूह की कुछ महत्त्वपूर्ण जनजातियाँ हैं।

प्रजातियों का पुँज होने के कारण, प्रजातीय वर्गीकरण की उपरोक्त योजना के बावजूद प्रजातीय दृष्टि से भारत की जनजातियाँ किसी एक विशिष्ट प्रकार अथवा क्षेत्र के अन्तर्गत नहीं रखी जा सकती हैं। ऊपर सन्दर्भित सामान्यीकृत प्रकार सभी प्रकार की जनजातियों का पूर्ण विवरण प्रस्तुत नहीं करते। इस प्रकार नीलगिरि पहाड़ियों के टोडा, एक उदाहरण के रूप में अब तक बिना किसी प्रजातीय नामपत्र के हैं। सीरम तथा भाषागत शोध किए जा रहे हैं किन्तु इनके द्वारा जनजातीय भारत की प्रजातीय संरचना के किसी नये पक्ष का प्रकट होना शेष है।

आर्थिक वर्गीकरण (Economic Classification)

एडम स्मिथ का शास्त्रीय वर्गीकरण तथा थर्नवाल्ड एवं हर्सकाविट्स के अभिनव वर्गीकरण को, जनजातियों को आर्थिक तौर पर वर्गीकृत करने के लिए सारे विश्व में प्रयोग किया गया है। थर्नवाल्ड द्वारा प्रस्तुत योजना को भारतीय सन्दर्भ में सर्वाधिक स्वीकार्य माना जाता है तथा वह निम्न प्रकार है:

1. पुरुषों के सजातीय शिकारी समुदाय तथा जाल डालने वाले, महिलायें, संग्रहकर्ता के रूप में। चेन्चू, खरिया तथा कोरवा, कुछ भारतीय जनजातियाँ इस श्रेणी में आती हैं।
2. शिकारियों, जाल डालने वालों तथा कृषकों के सजातीय समुदाय कामार, बैंगा तथा विरहोर भारत के कुछ उदाहरण हैं।

3. शिकारियों, जाल डालने वाले कृषकों और शिल्पियों के श्रेणीकृत समाज-अधिकांश भारतीय जनजातियाँ इस श्रेणी में आती हैं। चेरों तथा अगारिया तमाम ऐसी जनजातियाँ शिल्पी के रूप में प्रसिद्ध हैं।
4. पशुपालक-टोडा तथा वृहद् भीलों की कुछ उपजातियाँ भारत में ऐसी श्रेणी का शास्त्रीय उदाहरण प्रस्तुत करती हैं।
5. सजातीय शिकारी तथा पशुपालक -इस श्रेणी का भारतीय जनजातियों में प्रतिनिधित्व नहीं है। टोडा शिकार नहीं करते और न तो वे मछली या चिड़ियाँ पकड़ते हैं।
6. नृजातीय दृष्टि से स्तरीकृत पशुओं का प्रजनन एवं व्यापार करने वाले उत्तर प्रदेश के निचले हिमालय क्षेत्र के भोटिया याक का प्रजनन करवाते हैं तथा घूमने वाले व्यापारी हैं।
7. सामाजिक दृष्टि से श्रेणीबद्ध पशुपालक-शिकारी (कृषक तथा शिल्पी जनसंख्या सहित)।

मजूमदार का मत है कि इस प्रकार का वर्गीकरण यद्यपि लाभप्रद है, तथापि अधिक सहायक नहीं है क्योंकि वर्गीकरण करने के प्रयास का प्रयोजन मुख्यतः जनजातीय समुदायों द्वारा अनुभूत आर्थिक कठिनाइयों के स्वरूप की ओर संकेत करता है। मुख्यतः प्रौद्योगिक उपलब्धियों का अनुचिन्तन करते हुये आर्थिक जीवन दशा के आधार पर एक अधिक बेहतर तथा स्पष्ट वर्गीकरण करने का प्रयास किया जा सकता है।

1. वनों में शिकार (आखेट) करने वाली जनजातियाँ
2. पहाड़ी कृषि (झूम, कर्तन तथा दहन कृषि प्रणाली) में संलग्न जनजातियाँ
3. समतल भूमि पर कृषि करने वाली जनजातियाँ
4. सरल कारीगर (शिल्पी) जनजातियाँ
5. पशुचारण जनजातियाँ
6. लोक कलाकारों के रूप में जीवन व्यतीत करने वाली जनजातियाँ
7. कृषि तथा दूसरे प्रकार के श्रम में लगी जनजातियाँ
8. नौकरी तथा व्यापार में संलग्न जनजातियाँ

जो जनजातियाँ वनों में आखेट करके अपना जीवन व्यतीत करती हैं, वे अपनी जीविका निर्वाह खाद्य जड़ों तथा फलों के संग्रह, शिकार तथा मछली पकड़ने द्वारा करती हैं। जनजातियों का यह वर्ग अधिकतर दक्षिण भारत में पाया जाता है। आन्ध्र प्रदेश की चेंचू और चांडी, केरल के कादार, मालापन्त्रम व कुरुम्बा तथा तमिलनाडु के पलियन, अण्डमान तथा निकोबार द्वीप समूहों के ओंगे, जरवा सेण्टनेलिज तथा निकोबारीज, दक्षिण भारत में रहने वाली कुछ महत्त्वपूर्ण जनजातियाँ हैं। उत्तर प्रदेश की राजी, मेघालय के हिलगारों, छोटा नागापुर की विरहोर, कोरवा तथा पहाड़ी खरिया तथा उड़ीसा की जुवांग भी इस वर्ग के कुछ उल्लेखनीय उदाहरण हैं। यद्यपि इन जनजातियों के कुछ समूह शनैः शनैः कृषि सीख रहे हैं फिर भी उनका सांस्कृतिक लोकाचार अब भी आखेट-संग्रह प्रकार का है।

भारतीय जनजातियों का एक बहुत बड़ा टुकड़ा उत्तरी, पूर्वी तथा मध्य अथवा केन्द्रीय भारत के पहाड़ी पथ पर झूम-कृषि में आबद्ध है। कृषि का यह तरीका पारम्परिक स्थाई कृषि से भिन्न है। इस प्रणाली के अन्तर्गत झाड़ियाँ तथा वृक्ष काट कर जला दिये जाते हैं। इसके पश्चात् राख पर बीज छिड़क दिया जाता है तथा शेष प्रकृति पर छोड़ दिया जाता है।

असम, मेघालय, अरुणाचल प्रदेश, मिजोरम और त्रिपुरा की लगभग सभी जनजातियाँ इसी प्रकार की कृषि द्वारा फसल उत्पादन करती हैं। उड़ीसा की कुछ जनजातियाँ तथा मध्य प्रदेश के गोंड व वैगा जनजातियाँ भी इसी प्रकार की कृषि में आबद्ध हैं।

सभ्य समूहों से करीबी सम्बन्ध व सम्पर्क के कारण अधिकतर भारतीय जनजातियों ने स्थाई कृषि को अपने जीवन-यापन का साधन चुन लिया है। उनकी कृषि प्रविधियाँ तथा तरीके अन्य कृषक समूहों के समान हैं तथा वे बैलों, हल तथा अन्य कृषि उपकरणों का प्रयोग भी करते हैं, किन्तु उनकी अधिकांश भूमि असिंचित है, अतः वे प्रकृति की अनिश्चितता का शिकार होते हैं। वर्षा पर पूर्णरूपेण निर्भरता के अतिरिक्त कृषि के अन्य कारक जैसे-उर्वरक, उच्च पैदावार वाले अनाजों, कीटाणुनाशक आदि के अभाव में उन्हें निम्न एवं कम उपज से संतुष्ट रह जाना पड़ता है। संख्या की दृष्टि से बड़ी जनजातियों में ओराँव, मुण्डा, हो तथा संथाल सफल कृषक हैं।

कुछ भारतीय जनजातियाँ कुटीर उद्योगों द्वारा अपना जीवन यापन करती हैं। वे टोकरी तथा चटाई बनाने वाले, कपड़ा बुनने तथा लोहारी के कार्य में आबद्ध हैं तथा अपने जनजातीय तथा अजनजातीय पड़ोसी समाजों की आवश्यकताओं का अनुरूपण करती हैं। कश्मीर के गुज्जर, हिमालय प्रदेश के किन्नौर लकड़ी का काम करते हैं, बिहार के असुर तथा मध्य प्रदेश के अगरिया लोहे को गलाने में दक्ष हैं, महाराष्ट्र के कोलाम पारम्परिक चटाई बुनने वाले हैं तथा तमिलनाडु के हरुला बाँस की सुन्दर चटाइयाँ तथा टोकरियाँ बनाते हैं।

जनसंख्या की दृष्टि से पूर्णरूपेण पशुचारण जनजातियाँ बहुत कम हैं, किन्तु नीलगिरि पहाड़ियों के टोडा, हिमाचल प्रदेश के गद्दी तथा बकरावल, मध्य प्रदेश की नगेशिया, गुजरात की मल्धान तथा उत्तरी व दक्षिणी भारत की कुछ अन्य जनजातियाँ इस वर्ग की जनजातियों के उल्लेखनीय उदाहरण हैं। यह भी उल्लेखनीय है कि सभी पशुचारण जनजातियाँ दुग्ध व्यापार नहीं करती हैं, उनमें से कुछ भेंड़ तथा बकरी जैसे पशुओं को बाजार के लिए पालते हैं।

जनजातियों का एक अन्य वर्ग नृत्य करके, कलाबाजी दिखाकर तथा साँप नचाने आदि द्वारा अपनी आजीविका का निर्वाह करता है, इसलिए उन्हें लोक कलाकार कहा जा सकता है। उत्तर प्रदेश के नट तथा सँपेरे इस श्रेणी के अच्छे उदाहरण हैं। उड़ीसा के मुण्डप्पटू कुशल नट हैं, तमिलनाडु के कोटा सँपेरे हैं, मध्य प्रदेश के गोंडों के कुछ समूह गोदना गोदने वाले तथा नर्तक हैं तथा पूर्वी भारत और दक्षिण भारत की कुछ अन्य जनजातियाँ भी इस श्रेणी में रखी जा सकती हैं।

कृषि मजदूरी में आबद्ध जनजातियों में वे हैं जो पारम्परिक दृष्टि से कृषक हैं किन्तु अपनी भूमिहीनता के कारण कृषि मजदूरों के रूप में दूसरों की भूमि पर कार्य करते हैं। एक अनुदार अनुमान के अनुसार सम्पूर्ण जनजातीय जनसंख्या का पाँचवा भाग कृषि में श्रमजीवी के रूप में आबद्ध है। अकृषक जनजातीय श्रमबल में वे जनजातियाँ सम्मिलित हैं जो बिहार, उड़ीसा तथा

बंगाल के स्थानीय कारखानों तथा खानों में तथा असम व पड़ोसी क्षेत्रों के चाय बागानों में काम करते हैं।

संवैधानिक प्राविधानों के प्रयोग के फलस्वरूप अपेक्षाकृत छोटी संख्या में जनजातीय लोग सरकारी तथा अर्द्ध-सरकारी पदों पर भी कार्यरत हैं। इस प्रकार की जनजातियों में मेघालय, मिज़ोरम तथा नगालैण्ड (देश के उत्तरपूर्वी सीमावर्ती क्षेत्र) और मुख्यतः छोटा नागपुर की ईसाई जनजातियाँ सम्मिलित हैं।

सांस्कृतिक सम्पर्क पर आधारित वर्गीकरण (Classification based on Culture Contacts)

भारतीय जनजातियों को उनकी ग्रामीण व नगरीय समूहों में सांस्कृतिक दूरी के अनुसार भी वर्गीकृत किया जा सकता है। मजूमदार (1976) यह मत व्यक्त करते हैं कि यह तुलनात्मक दृष्टिकोण पुनर्वास योजना के मूल्यांकन के लिए सर्वाधिक उपयोगी है क्योंकि यह हमारा ध्यान जनजातीय भारत की उन समस्याओं की ओर केन्द्रित करता है जो ग्रामीण-नगरीय समूहों से अल्प व्यवस्थित सम्पर्क अथवा उनसे पृथक् रहने का परिणाम है।

वर्तमान शताब्दी के पाँचवें दशक में वेरियर एल्विन ने एक सुसीमांकित वर्गीकरण का प्रयास किया। उन्होंने चार प्रकार के आदिवासियों का वर्णन किया है :

(1) जो सर्वाधिक आदिम हैं तथा एक संयुक्त सामुदायिक जीवन व्यतीत करते हैं तथा कुल्हाड़े से कृषि करते हैं।

(2) वे जो, यद्यपि अपने एकाकीपन तथा पुरातन परम्पराओं से समान रूप से जुड़े हुए हैं, अपेक्षाकृत अधिक वैयक्तिक हैं, कुल्हाड़े से कम ही कृषि करते हैं, बाह्य जीवन में अधिक अभ्यस्त हैं तथा सामान्यतः प्रथम वर्णित श्रेणी की अपेक्षा कम सरल तथा ईमानदार हैं।

(3) वे जो, संख्या की दृष्टि से सर्वाधिक हैं, जो बाह्य प्रभाव के कारण अपनी जनजातीय संस्कृति, धर्म तथा सामाजिक संगठनों की क्षति के कारण अपनी पहचान खो रहे हैं।

(4) भील व नागा जैसी जनजातियाँ जो देश की प्राचीन कुलीनता की प्रतिनिधि कही जाती हैं, जो अपने मूल जनजातीय जीवन को बचाये हुए हैं तथा जिन्होंने संस्कृति सम्पर्क की लड़ाई को जीत लिया है।

मजूमदार ने एल्विन के वर्गीकरण को "धर्मयुद्धकर्ता के घोषणा-पत्र" (crusaders manifesto) की संज्ञा उचित ही दी है। वह आगे कहते हैं कि यद्यपि एल्विन का वर्गीकरण जनजातीय भारत में संस्कृति संकट के समकालीन चित्र की प्रस्तुति में सहायता करता है किन्तु पुनर्वास के कार्यक्रम के लिए एक आधार के रूप में यह स्वीकार्य नहीं है। वह वर्गीकरण की अपनी निजी योजना प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार जनजातीय संस्कृतियाँ तीन समूहों में आती हैं।

(1) जो ग्रामीण-नगरीय समूहों से सांस्कृतिक दृष्टि से सबसे अधिक दूर हैं, अर्थात् कमोबेश सम्पर्क से बाहर हैं।

(3) जो ग्रामीण-नगरीय समूहों की संस्कृति के प्रभाव में हैं तथा जिन्हें परिणामस्वरूप परेशानियों

तथा समस्याओं का सामना करना पड़ा।

(3) वे जो, यद्यपि ग्रामीण-नगरीय समूहों के सम्पर्क में हैं, जिन्होंने ग्रामीण-नगरीय संस्कृति में परसंस्कृतिग्रहण हो जाने के कारण, किसी प्रकार का संकट नहीं उठाया, अथवा उन्होंने वस्तुस्थिति को पलट दिया और अब कोई संकट नहीं उठाते। भले ही उन्हें अतीत में ऐसा करना पड़ा हो।

मजूमदार, एल्विन की इस बात से सहमत नहीं हैं कि सभ्य संसार से प्रत्येक सम्पर्क जनजातियों के लिए कष्ट लाता है। वह यह आधार लेते हैं कि हमारा लक्ष्य जनजातीय समुदायों के इन सभी तीन प्रकारों को आगे ले जाना, होना चाहिए तथा नियोजित (योजनाबद्ध) दशाओं के अन्तर्गत ग्रामीण-नगरीय समूहों तथा उनके मध्य स्वस्थ एवं सृजनात्मक सम्पर्क स्थापित करना चाहिए।

भारतीय समाज कार्य अधिवेशन (1952) के पश्चात् एक जनजातीय कल्याण समिति गठित की गई जिसने निम्नलिखित वर्गीकरण का सुझाव दिया था :–

(1) जनजातीय समुदाय

(2) अर्द्ध-जनजातीय समुदाय

(3) परसंस्कृतिकृत जनजातीय समुदाय

(4) पूर्णरूपेण आत्मसात्कृत जनजातियाँ

धार्मिक विश्वासों पर आधारित वर्गीकरण (Classification based on Religious Beliefs)

भारत के मुख्य धर्मों ने विभिन्न जनजातीय धर्मों तथा देवकुलों को विविध रूप से प्रभावित किया है तथा केवल वे जनजातीय समुदाय ही अब भी अपने मूल धार्मिक विश्वासों को शुद्धता से कायम रखे हैं जो घने बसे वनों में नितान्त एकाकी सामाजिक अस्तित्व का जीवन व्यतीत कर रहे हैं। 1961 तथा 1971 की जनगणना के आँकड़ों के आधार पर जनजातियों को निम्नलिखित धर्मों में वर्गीकृत किया जा सकता है–

(1) हिन्दूवाद

(2) ईसाई धर्म

(3) बौद्ध धर्म

(4) इस्लाम

(5) जैन धर्म

(6) अन्य धर्म

उपरोक्त वर्णित धर्मों में सभी जनजातियों पर हिन्दू धर्म का प्रभाव बहुत अधिक है तथा लगभग 90 जनजातियाँ किसी न किसी रूप में हिन्दू धर्म का अनुसरण करती हैं। जिन्होंने ईसाई धर्म ग्रहण कर लिया है उनकी संख्या भी पर्याप्त है तथा लगभग 6 प्रतिशत लोग "क्रास की

छाया" में हैं। किन्तु जो बौद्ध धर्म, इस्लाम अथवा जैन धर्म का अनुसरण करते हैं उनकी संख्या अत्यन्त कम है। इस सन्दर्भ में एक महत्त्वपूर्ण बिन्दु जिसे मस्तिष्क में रखना है, वह यह है कि यहाँ तक वे जनजातियाँ जिन्होंने उपरोक्त वर्णित मुख्य धर्मों में से किसी को अंगीकार कर लिया है, उनके लिए यह आवश्यक नहीं कि उन्होंने अपने जनजातीय विश्वास छोड़ दिये हों, बल्कि उनमें से अनेक अपने पारम्परिक विश्वास का भी व्यवहार करती पायी जाती हैं।

जब हम भौगोलिक परिप्रेक्ष्य में स्थिति को देखते हैं तो हम पाते हैं कि बंगाल की खाड़ी तथा अरब सागर के अन्तर्गत आने वाले द्वीपों में बसने वाली जनजातियों को छोड़कर पश्चिमी भारत तथा मध्य भारत के साथ दक्षिणी भारत की जनजातियों में अधिकतर कमोबेश हिन्दू धर्म में विश्वास वाली हैं। उत्तरी-पूर्वी भारत की अधिकांश जनजातियों में ईसाई धर्म ने बहुत अधिक सफलता प्राप्त की है तथा नागालैण्ड तथा मिजोरम की ९० प्रतिशत जनसंख्या ईसाई धर्म का अनुसरण करती है। मध्य भारत में छोटा नागपुर की कुछ मुख्य जनजातियाँ भी ईसाई धर्म को मानती हैं और इसमें से ओराँव, मुण्डा तथा हो उल्लेखनीय हैं। इस्लाम का अनुसरण करने वाली जनजातियाँ अधिकतर लक्षद्वीप, हिमाचल प्रदेश, पश्चिम बंगाल, महाराष्ट्र और जम्मू तथा कश्मीर में तितर-बितर फैली हैं। इस प्रकार की जनजातियों में लक्षद्वीप, मिनीकाय व अमीनदिवि द्वीप समूहों की मूल जनसंख्या का लगभग ९० प्रतिशत इस्लाम के मानने वाले हैं। भारतीय जनजातियों में अरुणाचल प्रदेश के कुछ जनजातीय समूह बौद्ध धर्म के अनुयायी हैं।

सामाजिक संस्थायें
(Social Institutions)

विवाह (Marriage)

'जनजातीय वैवाहिक पद्धतियाँ' एक ऐसा विषय है जिस पर सम्पूर्ण विश्व ने इन लोगों के प्रति तीव्र दुर्भावना व्यक्त की है। उनके ऊपर घिनौने व निराधार आरोप लगाये गये। काल्पनिक संस्थाएँ निरूपित की गईं। कुछ बेईमान 'अर्द्धविद्वानों' ने अपनी कल्पना के घोड़े बेलगाम छोड़ दिये व पाठकों के एक वर्ग में रातोंरात लोकप्रियता हासिल करने के लिए उनके विवाह तथा यौन सम्बन्धी कहानियों को खूब मसाला मिलाकर पेश किया। यौन सम्बन्धों में ढीलेपन को स्वच्छन्द अथवा स्वतंत्र यौन मान लिया गया और "यौन साम्यवाद" जैसे मुहावरे प्रयोग किये गये। वास्तविकता यह है कि संसार के किसी भाग में संग्रहीत नृजातीय आँकड़े इस परिकल्पना का समर्थन नहीं करते। भारत में भी ज्ञात सरलतम तथा अपरिष्कृत जनजातीय संस्कृतियाँ भी, उदाहरणार्थ अण्डामनी, कादार, पलियन, चेंचू, विरहौर आदि, ऐसी रस्म व रिवाजों का प्रमाण प्रस्तुत नहीं करतीं।

संसार के अन्य भागों के समान ही भारतीय जनजातियाँ भी अनेक प्रकार के विवाह अपनी सुविधानुसार अपने सामाजिक पर्यनुकूलन एवं अपनी सांस्कृतिक पारिस्थितिकी के अनुसार करती आई हैं।

एकविवाह (Monogamy)

एकविवाह, विवाह का वह स्वरूप है जिसमें एक पुरुष किसी एक समय में एक स्त्री से अधिक से विवाह नहीं कर सकता। भारतीय जनजातियों का बहुसंख्यक वर्ग एकविवाह का पालन करता है। इस विवाद का खंडन करने के लिए कि अधिकांश पिछड़ी तथा आदिम जनजातियों में विवाह की कोई निश्चित योजना नहीं पायी जाती है, कमार (मध्य प्रदेश) जैसी अनेक अत्यन्त पिछड़ी जनजातियों का उदाहरण प्रस्तुत किया जा सकता है। ऐसी अनेक जनजातियाँ एक विवाही हैं।

बहुविवाह (Polygamy)

बहुविवाह, अर्थात् एक से अधिक व्यक्तियों से विवाह, सम्पूर्ण संसार में पर्याप्त रूप से व्याप्त है। भारतीय जनजातियों में बहुत-सी इस प्रकार के वैवाहिक सम्बन्धों का अनुसरण करती हैं। बहुविवाह के दो पक्ष हैं– (1) बहुपत्नी विवाह (Ploygamy) तथा (2) बहुपति विवाह (Ployandry)। बहुपत्नी विवाह एक पुरुष का अनेक स्त्रियों से विवाह करना है जबकि बहुपति प्रथा का अर्थ एक स्त्री का अनेक पुरुषों से विवाह करना है। दोनों प्रकार के विवाहों की चर्चा बहुविवाह के रूप में सामान्यतः की जाती है।

बहुपत्नी विवाह नागा जनजातियों, गोंड, बैंगा, टोडा, लुशाई तथा मध्य भारत की अधिकांश आस्ट्रेलाइड जनजातियों में पाया जाता है। अधिकतर मामलों में इस प्रकार का विवाह यौन अनुपात में असन्तुलन के फलस्वरूप अस्तित्व में आता है। प्रकट रूप में एक समाज, जिसमें यौन अनुपात सामान्य है, इस प्रकार का विवाह अनेक पुरुषों को कुँआरा रहने के लिए बाध्य कर सकता है। इसलिए इस प्रकार की विवाह प्रथा उस समाज में विकसित होती है जहाँ महिलाओं की संख्या पुरुषों की तुलना में काफी ज्यादा होती है। अन्यथा सामान्य स्थिति में शक्तिशाली तथा सम्पन्न पुरुषों का एक से अधिक पत्नियाँ रखना प्रतिष्ठा तथा पद के प्रतीक के रूप में विशेषाधिकार होता है। भारतीय जनजातियों में गोंड, बैंगा तथा लुशाई जैसी जनजातियों में, इस प्रकार का विवाह अधिक उत्तम श्रम विभाजन की सुविधा हेतु किया जाता है। बहुपति प्रथा अपेक्षाकृत अधिक प्रतिबन्धित है। इस प्रकार का वैवाहिक सम्बन्ध कश्मीर से असम तक फैले हिमालय क्षेत्रों में पाया जाता है, तथा भारतीय आर्य और मंगोल जनजातियों में लोकप्रिय है। अपने शास्त्रीय रूप में यह तियान लौडा, कोटा खास (जौनसारी) तथा लद्दाखी वोटा में प्रचलित है। यह तिब्बतियों में भी लोकप्रिय है। भारतीय जनजातियों में दो प्रकार की बहुपति प्रथा प्रचलित है। जब अनेक भाई एक ही पत्नी को साझा करते हैं जैसा कि खासा और टोडा में है, इसे हम भ्रातृत्व बहुपति प्रथा कहते हैं। मजूमदार (1967) का मत है कि यह प्रथा अपने सामान्य प्रकार में जैसे नीलगिरि पहाड़ियों के टोडा लोगों में भी पायी जाती है, पतियों में निकट सम्बन्ध का होना आवश्यक नहीं है, तथा पत्नी प्रत्येक पति के साथ कुछ समय बिताने के लिए जाती है। जब तक एक स्त्री अपने पतियों में से किसी एक के पास रहती है दूसरों का उस पर कोई अधिकार नहीं होता। नायर बहुपति प्रथा इस प्रकार की थी। बहुपति प्रथा का चलन हमेशा स्त्रियों की कमी के द्वारा प्रमाणित नहीं होता है; लद्दाख में वास्तव में महिलाएँ पुरुषों की संख्या से अधिक हैं। टोडा लोगों में सम्पत्ति का विचार तथा यौन

असमानता इस संस्था की व्याख्या करते हैं। बहुपति प्रथा प्रत्येक स्त्री से कम बच्चों के जन्म, अधिक लड़कों तथा महिलाओं में बांझपन की अधिक सम्भावनाओं को प्रतिफलित करती है।

जौनसार बाबर के खासा लोगों ने बहुपति प्रथा के वैवाहिक सम्बन्धों का एक बहुत ही व्यावहारिक तरीका निकाल रखा है। उसमें, जब सबसे बड़ा भाई एक लड़की के साथ विवाह करता है, वह स्वतः ही शेष भाइयों की साझा पत्नी बन जाती है। यदि कोई भाई अवयस्क होता है तो वह प्रौढ़ होने पर अपनी आयु के अनुसार दूसरी लड़की से विवाह कर सकता है।

इस प्रकार इससे एक ऐसी स्थिति उत्पन्न होती है कि अनेक भाई एक से अधिक पत्नी रखते हैं। यह बहुपति प्रथा का शास्त्रीय रूप नहीं है। बहुपत्नी-बहुपति के मिश्रण को देखकर मजूमदार (वही) ने इस स्थिति का वर्णन करने के लिए एक दिलचस्प वाक्यांश गढ़ा जिसे उन्होंने "पोलीजिनेन्ड्री" (Ploygynandry) कहा।

कुछ समय पूर्व तक नीलगिरि पहाड़ियों के टोडा "धनुष और बाण समारोह" सामाजिक दृष्टि से अपने पितृत्व की घोषणा करने हेतु मनाते थे। इस समारोह में, सभी भाई तथा साझे की पत्नी अपने गर्भ के चौथे या पाँचवें महीने में गाँव के शेष लोगों के बीच एकत्र होते हैं तथा आमराय के फलस्वरूप भाइयों में से एक, पत्नी को धनुष और बाण की एक जोड़ी भेंट करता है। इसे एक घोषणा के रूप में स्वीकार किया जाता है कि यह विशेष भाई आने वाले बच्चे का पिता स्वीकार किया जाएगा। इस प्रकार मानव कार्यकलापों के इस दिलचस्प समागम में समाजशास्त्रीय पितृत्व (Sociological fatherhood), जैविक पितृत्व (Biological fatherhood) का आधार प्रदान कर देता है।

जनसांख्यिकीय कारकों के अतिरिक्त 'वधूमूल्य' (Bride Price) नामक एक आर्थिक कारक भी भारतीय जनजातियों में बहुपति विवाह के प्रचलन के लिए उत्तरदायी है। 'वधूमूल्य' प्रणाली के अन्तर्गत पति को एक निश्चित नकद राशि/वस्तु दुल्हन के माता-पिता को मूल्य के रूप में देना पड़ता है जो दुल्हन की सुन्दरता तथा उपयोगिता के अनुसार होता है। समय के व्यतीत होने के साथ-साथ दुल्हन का मूल्य बढ़ता गया और एक ऐसा समय आया जब अकेले वधू-मूल्य की व्यवस्था कर पाना असम्भव हो गया। इसके अलावा पहाड़ों में कृषि जोत बहुत अनार्थिक होती है तथा किसी भी व्यक्ति के लिए कृषि करना अत्यन्त कठिन होता है। अतः कृषि जोतों को और टुकड़ों में बँटने से टालने के लिए विवाह की यह रीति अस्तित्व में आयी। बहुविवाह की एक अन्य रीति, जिसे द्विविवाह प्रथा पुकारते हैं, भी प्रचलन में है। यद्यपि यह अत्यन्त प्रतिबन्धित सीमा तक है। द्विविवाह प्रथा के अन्तर्गत एक पुरुष को एक समय में दो बहनों के साथ विवाह करने की अनुमति होती है। इस प्रकार की बहुविवाह प्रथा मैसूर की होलिया और मेडास जनजातियों में पायी जाती है।

अधिमान्य विवाह तथा निषेध (Preferential Marriage and Taboos)

ऐसा देखा जाता है कि एक ओर समाज कुछ विशिष्ट नातेदारों अथवा उसी अन्तःकुल अथवा गोत्र में यौन सम्बन्धों अथवा वैवाहिक सम्बन्धों का निषेध करता है, किन्तु दूसरी ओर वह कतिपय दूसरे स्वजनों में वैवाहिक सम्बन्धों को प्रोत्साहित करता है। इन मामलों में निर्धारण अथवा

केवल वरीयता किसी एक विशेष नातेदार से विवाह करने हेतु व्यक्त की जाती है। भारतीय जनजातियों में प्रचलित अधिमानित विवाहों के कुछ लोकप्रिय प्रकार निम्नलिखित हैं–

(1) चचेरे, ममेरे, फुफेरे भाई बहिन में विवाह (cousin marriage)

(अ) भ्राता-भगिनि संतति विवाह (cross cousin marriage)

(ब) समानान्तर चचेरे-ममेरे-फुफेरे भ्राता भगिनि विवाह (Parallel cousin marriage)

(2) देवर विवाह (Levirate)

(3) साली विवाह (Sororate)

दोनों प्रकार के चचेरे भ्राता-भगिनि विवाह अर्थात् भ्राता भगिनि संतति विवाह तथा समानान्तर भ्राता-भगिनि विवाह भारतीय जनजातियों में काफी लोकप्रिय है। गोंडो, खारिया, खासी और कादार कुछ महत्त्वपूर्ण भारतीय जनजातियाँ हैं जो भ्राता-भगिनि विवाह करते हैं। मानवशास्त्र की दृष्टि से जब एक भाई के बच्चे एक बहिन के बच्चों से विवाह करते हैं तो इसे भ्राता-भगिनि संतति कहते हैं तथा जब दो भाइयों अथवा दो बहनों के बच्चे विवाह करते हैं तो उसे समानान्तर भ्राता-भगिनि विवाह कहते हैं। एक गोंड से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपने या अपनी भ्राता-भगिनि संतति से विवाह, जैसा कि मजूमदार का विचार है, का प्रयोग उच्च वधू-मूल्य के भुगतान से बचने के लिए किया जाता है तथा गृहस्थी में सम्पत्ति को सुरक्षित रखने के लिए भी मध्य प्रदेश के गोंड इस प्रकार के विवाह को दूध लौटाना पुकारते हैं। इसका निहितार्थ यह है कि 'अ' द्वारा अपनी पत्नी के लिए भुगतान किया गया मूल्य उसके परिवार को वापस कर दिया जायगा जब 'अ' की पुत्री अपनी माता के भाई के पुत्र (मामा के पुत्र) से विवाह करेगी। लेविस्ट्रास ने कहा है कि अधिमान विवाह का मुख्य प्रयोजन जनजाति के अन्तर्गत एकता को सुदृढ़ करना है।

देवर अधिकार तथा साली विवाह अधिमान विवाह के दो अन्य प्रकार हैं। इस प्रकार कुछ सम्बन्धों को अनिवार्य करके अन्ततः पारिवारिक सौहार्द्र को उन्नत करते हैं। जब एक स्त्री अपने पति के भाई के साथ विवाह करती है तो उसे देवर अधिकार कहते हैं। इसे दो प्रकारों में बाँटा जा सकता है : (अ) कनिष्ठ देवर अधिकार तथा (ब) वरिष्ठ देवर अधिकार। जब स्त्री अपने पति के छोटे भाई से विवाह करती है तो यह कनिष्ठ देवर अधिकार होता है तथा बड़े भाई से विवाह वरिष्ठ देवर अधिकार कहलाता है। जब देवर अधिकार 'अ' बहुपतिक समाज में घटित होता है, यह अत्यधिक महत्त्व का होता है क्योंकि उसके पति की मृत्यु की स्थिति में, विधवा को अभिभावक पति तथा संरक्षक मिल जाता है तथा बच्चों को पिता जो उन्हें पहले से प्यार करता रहा है। कुछ जनजातीय समूहों में एक स्त्री तथा उसके देवर में यौन सम्बन्धों के मामलों में भावी घटना की प्रस्तावना के रूप में कुछ सीमा तक शिथिलता की छूट दे दी जाती है। इस स्थिति को पूर्वा भाभी देवर अधिकार नाम दिया जा सकता है।

जब एक पुरुष अपनी पत्नी की बहन/बहनों से विवाह करता है तो उसे साली विवाह कहते हैं। ऐसा उसकी पत्नी की मृत्यु के बाद अथवा उसके जीवन काल में भी हो सकता है। पत्नी की मृत्यु की प्रतिपूर्ति एक नयी पत्नी देकर की जाती है। (आमतौर पर मृतक की छोटी बहन को देकर) देवर अधिकार तथा साली विवाह अंततः पारिवारिक उत्तरदायित्व की स्वीकृति तथा दो परिवारों के बीच के बन्धन की मान्यता पर बल देते हैं न कि केवल दो व्यक्तियों में यौन सम्बन्ध मात्र पर बल

देते हैं।

जीवन-साथी चुनने की पद्धतियाँ (Ways of acquiring mates)

भारतीय जनजातियों में साथी चुनने की नौ महत्त्वपूर्ण विधियाँ लोकप्रिय पायी गयी हैं–

1. बन्दीकरण (अपहरण) द्वारा विवाह
2. विनिमय द्वारा विवाह
3. क्रय द्वारा विवाह
4. सह-पलायन द्वारा विवाह
5. सेवा द्वारा विवाह
6. बल प्रवेश द्वारा विवाह
7. परीक्षा द्वारा विवाह
8. परस्पर स्वीकृति द्वारा विवाह
9. परिवीक्षा द्वारा विवाह

जब कोई पुरुष एक स्त्री को बलपूर्वक उसके गाँव से छीन लेता है और उससे विवाह कर लेता है तो उसे बन्दीकरण विवाह कहते हैं। बहुत से जनजातीय समाज इस प्रकार के विवाह को स्वीकृति देते हैं, जो वीरता तथा शौर्य का प्रतीक है। बन्दीकरण द्वारा विवाह उत्तरी-पूर्वी क्षेत्र की नागा जनजातियों में लोकप्रिय रहा है जहाँ एक गाँव के नागा अपने शत्रु गाँव पर आक्रमण करते थे तथा वयस्क लड़कियों को बन्दी बना लेते थे। इससे नारी शिशु-हत्या को बढ़ावा मिला। किन्तु भारतीय दंड संहिता के व्यापक प्रयोग तथा बढ़ती हुई चेतना के फलस्वरूप यह रिवाज तेजी से विस्मृति में विलुप्त होता जा रहा है। बन्दीकरण के मामलों की सूचना 'हो' जनजाति में भी प्राप्त हुई है जो इसे "ओपोरतिपी" पुकारते हैं, तथा गोंड इसे 'पोसियोथर' कहते हैं।

कुछ अन्य जनजातियों जैसे– भूमिज, खारिया, मुण्डा, संथाल आदि में इस पद्धति को दिखावटी अपहरण (mock capture) के रूप में स्थान दिया गया है जिसमें विवाह सम्बन्ध को अन्तिम रूप देने के पश्चात् लड़की के माता-पिता दूल्हे से एक निर्धारित स्थान पर आने के लिए तथा उसकी पुत्री का अपहरण करने का निवेदन करते हैं। दिखावटी रूप से लड़की (दुल्हन) भी प्रतीकात्मक प्रतिरोध प्रस्तुत करती है। 'हो' जैसी कुछ जनजातियों में दुल्हन की बहुत अधिक कीमत होने के कारण अपहरण-विवाह करने का रास्ता खुल जाता है।

मजूमदार सूचित करते हैं कि असम में एक गाँव के दूसरे गाँव पर आक्रमण करने के दौरान शारीरिक अपहरण होते हैं। मध्य भारत में यह विधि अधिक शान्तिपूर्वक है जहाँ मेले व त्योहार के दिनों में यह किया जाता है जब एक गाँव के लोग दूसरे गाँव के लोगों से मिलते हैं तथा खूब खुशियाँ मनाते हैं व मद्यपान तथा नशाखोरी करते हैं। इस प्रकार के अपहरणों को सामाजिक स्वीकृति प्रदान की जाती है जिसमें अपहरण करने वाले वीर को एक मुआवजा अदा करना पड़ता है अथवा अपने जनजातीय बन्धुओं को भोज देना पड़ता है।

विनिमय द्वारा विवाह का विकास प्रमुखतः दुल्हन के ऊँचे मूल्य से बचने के साधन के रूप में

हुआ। इस प्रकार के विवाह में दो परिवार महिलाओं का विनिमय एक दूसरे से करते हैं। इस प्रकार दुल्हन के मूल्य भुगतान से बच जाते हैं। यह पद्धति कम या अधिक रूप में पूरे भारत में पायी जाती है जिसमें एक पुरुष अपनी बहिन अथवा अपने घर की किसी अन्य स्त्री को अपनी पत्नी के बदले में देता है। दिलचस्प बात यह है कि मेघालय की जनजातियाँ इसकी अनुमति नहीं देती हैं।

क्रय द्वारा विवाह की पद्धति सम्पूर्ण जनजातीय भारत में वैवाहिक सम्बन्धों के एक लोकप्रिय तरीके के रूप में अत्यधिक प्रचलित है। वधू-मूल्य इस प्रकार के विवाह में केन्द्रीय विषय होता है। इसका भुगतान नकद अथवा किसी वस्तु के रूप में अथवा आंशिक रूप से नकद तथा आंशिक रूप से वस्तु के रूप में किया जाता है। लोवी ने इस बात पर बल दिया है कि यद्यपि इस प्रकार के लेन-देन में आर्थिक स्वरूप को कम नहीं किया जा सकता, फिर भी दुल्हन के मूल्य का भुगतान करने को विक्रय अथवा क्रय की संज्ञा देना गलत होगा। यह केवल महिलाओं की उपयोगिता का प्रतीक हो सकता है तथा उसके माता-पिता के परिवार को मुआवजे के रूप में दिया जाता है। मुख्य जनजातियों में दुल्हन का मूल्य अदा करके विवाह करने की पद्धति मुण्डा, ओराँव, 'हो', संस्थाल, रेगमा, नागा आदि जनजातियों में प्रचलित है। दुल्हन-मूल्य का खराब परिणाम सम्भवतः बिहार में छोटा नागपुर की 'हो' जनजातियों में पाया जाता है। दुल्हन की निरन्तर बढ़ती हुई कीमत ने उनकी निर्धन आर्थिक दशा का स्वरूप खराब बना दिया है। यह धन इतना अधिक होता है तथा उससे कम धन स्वीकार करना किसी के पद-स्तर एवं प्रतिष्ठा के विपरीत होने के कारण बहुत से पुरुष तथा महिलाएँ अविवाहित रह जाते हैं। ये अभागे स्त्री व पुरुष प्रायः अपहरण द्वारा विवाह करने के लिए बाध्य हो जाते हैं तथा चिर कुमारियों को प्रायः और अपमान भोगना पड़ता है जबकि उन्हें जादूगर या चुड़ैल के रूप में जाना जाने लगता है। अनेक मामलों में विवाह की उनकी स्वाभाविक अभिलाषा उन्हें साहूकारों के चंगुल में फँसा देती है जिसके फलस्वरूप वे बँधुआ बन जाते हैं।

सह-पलायन विवाह भी जनजातीय भारत में प्रचलित है। जैसा कि पूर्व विदित है, बाल विवाह जनजातीय भारत की एक नयी घटना है। उन्होंने इसे अपने पड़ोसी हिन्दुओं से संस्कृति-सम्पर्क के फलस्वरूप अपनाया है। पहले केवल प्रौढ़ व्यक्ति ही वैवाहिक सम्बन्धों में प्रवेश करते थे तथा इसीलिए लगभग सभी जनजातियों में माता-पिता के अनुमोदन के साथ, परस्पर सहमति से विवाह करना सामान्य नियम था। किन्तु समय परिवर्तन के साथ-साथ बालकों तथा बालिकाओं ने अपनी पारस्परिक विनम्रता को त्यागना प्रारम्भ कर दिया। यदि माता-पिता की सहमति नहीं प्राप्त होती है तो भाग कर विवाह करना ही सामान्यतः इसका एक रास्ता रहता है और जिद के आगे झुक जाने वाले बुजुर्ग 'प्रेमी-जोड़े' को वापस ले लेते हैं। इस प्रकार की विवाह पद्धति अक्सर बहुत ऊँचे वधू-मूल्य के कारण भी दिखाई पड़ती है। छोटा नागपुर की जनजातियाँ विभिन्न प्रकार के पलायनों के लिए प्रसिद्ध हैं। सेवा द्वारा विवाह वधू-मूल्य के पूरे भुगतान से बचने का एक दूसरा तरीका है जिसमें भावी दूल्हा, दुल्हन के घर पर सेवा करके इसे पूरा करता है। इस प्रकार यदि एक गोंड अथवा बैंगा अपने को दुल्हन का मूल्य चुका पाने की स्थिति में नहीं पाता है तो वह अपने भावी सास-ससुर के घर जाकर नौकर के रूप में कार्य करता है तथा कुछ वर्षों बाद अपनी मनचाही लड़की से विवाह करता है। मणिपुर के पुरुष इसे परम्परागत रूप से उचित एकमात्र वैवाहिक

पद्धति मानते हैं। उन्हें दुल्हन के घर पर तीन वर्ष तक कार्य करना पड़ता है तथा एक पुत्र की जिम्मेदारियों को पूरा करना पड़ता है। भोजन एवं आवास की व्यवस्था उसके रुकने की पूरी अवधि में भावी ससुराल वालों को करनी पड़ती है। विरहोर लोगों में ससुर प्रायः धन उधार देते थे जिसे दामाद किस्तों में वापस करता है। जब तक उधार अदा नहीं हो जाता दामाद को ससुर के घर में रहने के लिए बाध्य होना पड़ता है। बन्दीकरण द्वारा विवाह के विपरीत भी भारतीय जनजातियों में पाया जाता है जिसे अनधिकार प्रवेश द्वारा विवाह या घुसपैठ विवाह कहा जाता है। यह एक ऐसी लड़की का मामला होता है जो किसी अनिच्छुक युवक से विवाह करने की अभिलाषा रखती है। इस प्रकार के मामले में इच्छुक लड़की अनिच्छुक दूल्हा तथा उसके माता-पिता पर अपने को थोप देती है। वह भावी पति तथा उसके माता-पिता की सेवा करती है किन्तु उसके बदले अपमानित की जाती है तथा उसे कष्ट दिया जाता है। यदि वह अपने इरादों में जुटी रहती है तथा उसकी सहनशक्ति काफी समय तक बनी रहती है तो अन्ततः वह घर की बहू के रूप में स्वीकार कर ली जाती है। छोटा नागपुर के विरहोर तथा 'हो' कुछ प्रमुख जनजातियाँ हैं जो इसे व्यवहार में लाती हैं। 'हो' लोग इसे बिलकुल उचित ही "अनादर" पुकारते हैं जिसका अर्थ अपमान अथवा असम्मान है।

कुछ भारतीय जनजातियों में अपना जीवन-साथी प्राप्त करने की एक विधि है। व्यक्तिगत साहस तथा बहादुरी किसी नवयुवक में वांछित योग्यता के रूप में स्वीकार की जाती है। भावी दूल्हे को, इससे पहले कि वह मनचाही लड़की का हाथ माँगने का दावा करे, अपनी शक्ति को सिद्ध करना पड़ता है। यह पद्धति भील लोगों में सबसे अधिक लोकप्रिय है। होली के त्योहार के समय युवक तथा नवयुवतियाँ, एक खम्भे अथवा वृक्ष के चारों ओर जिसके एक सिरे पर एक नारियल तथा गुड़ बँधा होता है, लोकनृत्य करते हैं। सभी युवकों तथा युवतियों को इस नृत्य में भाग लेने की आजादी होती है जिसे स्थानीय तौर पर "गोल गदेदों" कहते हैं। लड़कियाँ पेड़ के चारों ओर नर्तकियों का एक आन्तरिक घेरा बना लेती हैं। जब कोई इच्छुक घेरे को तोड़ते हुए नारियल को तोड़ने का प्रयास करता है तो लड़कियाँ अपनी पूरी शक्ति से उसका प्रतिरोध करती हैं। आकांक्षी पुरुष को अनेक चोटें भी आ सकती हैं। किन्तु इसे सही नीयत से लिया जाता है। यदि इन बाधाओं के बावजूद एक साहसी पुरुष इस नाटक में कामयाब होता है तो उसे घेरा बनाने वाली लड़कियों में से किसी को भी अपनी पत्नी के रूप में माँगने का अधिकार होता है।

परस्पर सहमति द्वारा विवाह जनजातियों का हिन्दुओं के सम्पर्क का परिणाम है। यह पद्धति हिन्दू, मुसलमान, ईसाइयों सभी में प्रचलित पद्धतियों के समान है जिसमें विवाह की समस्त औपचारिकताएँ सम्बन्धित पक्षों द्वारा परस्पर परामर्श तथा सहमति से पूर्ण की जाती हैं।

परिवीक्षा (Probation) द्वारा विवाह को आधुनिक कोर्टशिप की पद्धति का आदिम रूप कहा जा सकता है। इस पद्धति के अन्तर्गत भावी पति तथा पत्नी को दुल्हन के घर में कुछ समय के लिए साथ रहने की अनुमति दी जाती है। यदि वे एक-दूसरे को पसन्द करते हैं तथा विवाह करने का निर्णय लेते हैं तो बुजुर्ग लोग उनके विवाह की व्यवस्था करते हैं। यदि दोनों एक दूसरे का स्वभाव एक दूसरे के मुताबिक नहीं पाते हैं तो वे एक दूसरे से अलग हो जाते हैं तथा पुरुष को लड़की के माता-पिता को इसका मुआवजा देना पड़ता है। इस प्रकार का प्रचलन अरुणाचल प्रदेश के कुकी लोगों में पाया जाता है। छोटा नागपुर की कुछ जनजातियाँ भी इस प्रचलन का अनुमोदन

करती हैं तथा इसे "राजी खुशी" कहती हैं।

पूर्व-वैवाहिक तथा विवाह के बाहर यौन-सम्बन्ध (Pre-marital and Extra-marital Sex relations)

जनजातीय जीवन का एक और क्षेत्र है जिसका दुरुपयोग बहुत से लेखकों तथा पत्रकारों द्वारा बड़े शर्मनाक तरीके से किया गया है। जहाँ दूसरे लोगों की कल्पना के घोड़े बेलगाम छोड़ दिये गये वहाँ मानवशास्त्रियों को श्रेय जाता है जो कुशलतापूर्वक इन दोषों से बचते हैं तथा यौन-जीवन सहित जनजातीय जीवन के सभी पक्षों का गम्भीर तथा वस्तुनिष्ठ अध्ययन करते हैं। पूर्व-वैवाहिक यौन सम्बन्धों को कम या अधिक रूप में सम्पूर्ण जनजातीय भारत में अनुमति देते देखा जाता है। जैसा कि विश्व के अन्य भागों में जनजातीय लोगों में देखा जाता है, मध्य भारत की जनजातियों में भी पूर्व-वैवाहिक यौन सम्बन्धों को कुछ हद तक नजरअन्दाज किया जाता है। जब तक उसका परिणाम गर्भ धारण न हो जो सामान्यतः लड़की के माता-पिता द्वारा बड़ा अपमानजनक माना जाता है। ऐसी स्थिति में लड़की से बच्चे के पिता का नाम बताने को कहा जाता है तथा उसे लड़की से विवाह करने को बाध्य किया जाता है। इस प्रकार के पामले में वधू-मूल्य को या तो घटा दिया जाता है अथवा पूर्ण रूप से समाप्त कर दिया जाता है। कोनयक नागाओं में विवाह के बाद भी लड़की अपने माता-पिता के घर पर ही रहती है जहाँ उसके माता-पिता तथा ग्रामवासियों द्वारा उसके तौर-तरीकों को नजरअन्दाज किया जाता है। सामान्यतः अपने पहले बच्चे के जन्म के बाद ही वह अपने पति के घर जाती है। बस्तर के गुड़िया गोंड लोगों में नवयुवक तथा नवयुवतियों को युवागृह की चारदीवारों के अन्दर पारम्परिक रूप से कुछ सीमा तक यौन सम्बन्धों की छूट दी जाती है। विवाह के पूर्व मेलजोल रखते हुए वे अपने माता-पिता के आशीर्वाद तथा अनुमोदन से विवाह कर लेते हैं। ओओ नागा लोग भी लड़कियों को तथा कौमार्य को अनुचित महत्त्व नहीं देते हैं।

विवाहित या विवाह-बन्धनों के बाहर यौन-सम्बन्ध पूर्व वैवाहिक यौन-सम्बन्धों की तरह सामान्य नहीं हैं और न ही इन्हें उतनी छूट ही दी जाती है। ऐसा कहा जाता है कि माड़िया लोगों में कत्ल तथा आत्महत्या के बहुत अधिक मामले वैवाहिक विश्वासघात के कारण ही हैं। किन्तु उत्तर प्रदेश के थारू लोग एक दिलचस्प उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। कहा जाता है कि थारू पुरुष अपनी पत्नियों के सौन्दर्य से इतना अधिक अभिभूत तथा भयभीत रहते हैं कि वे अपने को उनके समक्ष केवल अधीन स्थिति में पाते हैं। पत्नी विवाहोत्तर सम्बन्ध स्थापित कर सकती है तथा इस प्रकार के सम्बन्ध जारी रख सकती है। उत्तर प्रदेश के खासा तथा जौनसारी जनजाति ने विवाहोत्तर यौन सम्बन्धों के विषय में एक भिन्न प्रणाली को जन्म दिया है। चूँकि यहाँ अधिकांश लड़कियों का विवाह छोटी आयु में कर दिया जाता है, अतः पूर्व वैवाहिक यौन सम्बन्धों की सम्भावना मुश्किल से होती है। इसलिए उनकी मुख्य चिन्ता विवाहोत्तर सम्बन्ध होते हैं। अपने माता-पिता के घर में पत्नी को "घाँती" कहा जाता है जबकि उसके पति के घर में उसे "रयान्ति" कहा जाता है। उनकी मूल बोली के साधारण से दिखने वाले ये दो शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अर्थ रखते हैं। जब वह "घाँती" होती है तो वह सभी प्रकार की स्वतन्त्रता का आनन्द लेती है। वह एक स्वतन्त्र चिड़िया होती है। वह किसी से भी मिल सकती है या वह किसी को भी अपने साथ छूट लेने की अनुमति

दे सकती है। किन्तु वह स्त्री जंजीर से जकड़े गुलाम की तरह होती है जब वह एक "रयान्ति" होती है। अपने पति के घर में उसे खेतों पर तथा घर में कठिन परिश्रम करना पड़ता है। वह सामान्यतः कुंठाग्रस्त रहती है तथा उसकी चालढाल सदैव उसके पति/पतियों तथा अन्य सम्बन्धियों द्वारा नियन्त्रित रहती है। कुछ समय के लिए स्थानीय मेलों तथा त्योहारों के अवसरों पर वह अपने माता-पिता के घर आती है। ये महिलाएँ अनेक पुरुषों की, जो मानसिक तथा शारीरिक तौर पर एक दूसरे से भिन्न होते हैं, पत्नी होने से जो तनाव महसूस करती हैं वह अपने मायके के गाँव में स्वतन्त्र एवं स्वच्छन्द जीवन में कम से कम कुछ समय के लिए उससे मुक्त हो जाती हैं। इस प्रकार की दोहरी भूमिका ने मजूमदार (1962) तथा सक्सेना (1964) जैसे मानव शास्त्रियों को इसे "दोहरी नैतिकता" कहने के लिए प्रेरित किया जो वास्तव में एक गलतफहमी है जबकि इसे किसी बाहरी व्यक्ति द्वारा देखा जाता है जो इन लोगों के नैतिक जीवन की माप अपनी नैतिकता तथा पाखंड के मानदण्डों से करने का प्रयास करता है।

विवाह-विच्छेद (Divorce)

हिन्दुओं के विपरीत, भारत की जनजातियों में विवाह एक धार्मिक संस्कार नहीं है। अतः तलाक अथवा विवाह का विघटन केवल सम्भव ही नहीं है अपितु इसे व्यापक रूप में व्यवहार में भी लाया जाता है। इसे आसानी से प्राप्त किया जा सकता है यदि दोनों पक्ष विवाह सम्बन्ध में और अधिक नहीं रहना चाहते। किन्तु तलाक के आधार विभिन्न जनजातियों में भिन्न-भिन्न होते हैं। खासी लोग व्यभिचार, बांझपन तथा स्वभाव में असंगति के कारण तलाक की अनुमति दे देते हैं। कुछ मामलों में विघटन के इच्छुक पक्ष को दूसरे पक्ष को मुआवजा देना पड़ता है तथा ऐसे लोगों में पुनर्विवाह सम्भव नहीं होता। विवाह के समान ही विघटन भी एक सार्वजनिक कार्यवाही होती है जहाँ माता बच्चों को अपने कब्जे में लेती है। लुशाई तलाकशुदा लोगों में पुनर्विवाह की छूट देते हैं। गोंड, खारिया तथा अन्य भी वैवाहिक विश्वासघात, बाँझपन तथा काहिली के आधार पर स्वतन्त्र रूप से तलाक की छूट देते हैं। हिन्दू समाज से सम्पर्क के बावजूद विधवा पुनर्विवाह भारत की लगभग सभी जनजातियों में पाया जाता है तथा इसके समाप्त होने की कोई विशेष सम्भावना भी नहीं है। चूँकि विधवा पुनर्विवाह भारतीय जनजातियों में कोई बदनामी नहीं लाता इसलिए कम आयु की स्त्रियों के विधवा बने रहने की कष्टदायक स्थिति अपेक्षाकृत बहुत कम नज़र आती है।

परिवार तथा नातेदारी (Family and Kinship)

मनुष्य के पास उच्च विकसित मस्तिष्क जैसा एक उपहार है जो उसे प्रकृति का सामना करने तथा उसका उपयोग करने की क्षमता प्रदान करता है। इस प्रकार जो समूह अस्तित्व में आते हैं उनकी एकता में विभिन्न उद्देश्य व सिद्धान्त होते हैं। इनमें से सबसे सरल तथा सर्वाधिक स्पष्ट अन्तर्सम्बन्ध का सिद्धान्त है, जिसका आधार है विवाह एवं वंशज के आधार पर परिवार के विभिन्न सदस्यों में सम्बन्ध। यह सम्बन्ध तीन प्रकार के होते हैं– पति-पत्नी के बीच, माता-पिता तथा बच्चों के बीच तथा एक ही माता-पिता की सन्तानों के बीच।

परिवार

जनजातीय भारत परिवारों की विविधता का प्रदर्शन करता है, क्योंकि विभिन्न जनजातियों

में विभिन्न नियम तथा रिवाज पाये जाते हैं। मुख्यतया दो प्रकार के परिवारों में, परिवार के सदस्यों की संख्या के आधार पर भेद किया जा सकता है– (1) सरल अथवा केन्द्रीय (2) बड़ा अथवा संयुक्त परिवार।

प्रथम प्रकार स्त्री-पुरुष तथा उनकी सन्तानों के आधारभूत समूह का प्रतिनिधित्व करता है। इस प्रकार के परिवारों में सदस्यों की संख्या अत्यन्त सीमित होती है। अनेक भारतीय जनजातियों जैसे विरहोर, परिया, कोरवा आदि इस प्रकार का परिवार रखते हैं। यदि यह "केन्द्र" अन्य निकट सम्बन्धित नातेदारों के जुड़ने से विस्तृत हो जाता है तो इसे विस्तृत परिवार कहते हैं। यदि यह नातेदारी के सिद्धान्तों के आधार पर और आगे विस्तृत हो जाता है तो हम हिन्दुओं के संयुक्त परिवार जैसा परिवार पाते हैं। केरल के नायर इस प्रकार के परिवार का शास्त्रीय उदाहरण माने जाते हैं, तथा नायर की "थारावाड" अपने आप में एक महत्त्वपूर्ण संस्था है।

कुछ विभिन्न परिवारों में विवाह का भागीदारी की संख्या के आधार पर भेद किया जा सकता है। यद्यपि अधिकांश जनजातियाँ एक विवाह वाले परिवार रखती हैं (अर्थात् एक पति, एक पत्नी तथा बच्चों वाले परिवार), किन्तु बहुविवाह वाले परिवार भी अप्रचलित तथा असामान्य नहीं हैं। इस प्रकार के परिवार दो प्रकार के बहुविवाह– बहुपत्नी तथा बहुपति विवाह के आधार पर अस्तित्व में आते हैं। एक बहुपत्नी वाले परिवार में एक पति, दो अथवा अधिक पत्नियाँ तथा उनके बच्चे होते हैं। इस प्रकार के वैवाहिक सम्बन्धों के उदाहरण सम्पूर्ण जनजातीय भारत में सामान्य रूप से पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त बहुपति वाले परिवार होते हैं जिनमें पति एक से अधिक होते हैं। जैसे कि नीलगिरि पहाड़ियों की टोडा जनजाति तथा उत्तर प्रदेश में जौनसार बाबर के जौनसारी अथवा खासा लोगों में, जहाँ अनेक भाई एक पत्नी से विवाह करते हैं तथा किसी भी पति को संभोग सम्बन्धी विशेषाधिकार प्राप्त नहीं होते हैं। प्रारम्भ में महिलाओं की कमी, स्त्रियों की शिशु हत्या की प्रथा के कारण हुई जिसने लिंग अनुपात को पुरुषों की अधिकता में परिवर्तित कर दिया, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि यौन सम्बन्ध सर्वथा स्वच्छन्द हैं। वास्तव में सम्बन्धित पक्षों द्वारा कठोर नियमों का पालन किया जाता है तथा जब कोई बच्चा पैदा होता है तो उसका पितृत्व एक सामाजिक रस्म के माध्यम से स्थापित किया जाता है न कि जैविक विचारों के आधार पर।

परिवार के अन्य अनेक प्रकार, पिता अथवा माता के अधिकारों के आधार पर भी भारत की जनजातियों में पाये जाते हैं। परिवार में कौन अधिक महत्त्वपूर्ण है, पिता अथवा माता– यह परिवार के पितृ प्रधान अथवा मातृप्रधान स्वरूप को निर्धारित करता है। यह स्थिति और आगे दो और प्रकार की स्थितियों को जन्म देती है। पितृवंशिक तथा मातृवंशिक और पति स्थानिक/पत्नी स्थानिक। अधिकांश भारतीय जनजातियाँ, परिवार में पिता के अधिकार को अधिक मानती हैं। अतः वे पितृ सत्तात्मक परिवार रखते हैं, जहाँ वंश भी पिता द्वारा चलता है अर्थात् पितृवंशिक प्रथा तथा पत्नी विवाह के बाद अपने माता-पिता का घर त्याग देती है तथा अपने पति के घर में आकर रहती है अर्थात् पति स्थानिक किन्तु; केरल के नायर पर मेघालय के खासी मातृवंशीय, मातृसत्तात्मक तथा मातृ स्थानिक परिवार के शास्त्रीय उदाहरण हैं। खासी लोग, खासी तथा जैन्तिया पहाड़ियों में रहते हैं। वे पूरे विश्व में मातृसत्तात्मक होने के लिए सर्वश्रेष्ठ उदाहरण माने जाते हैं। वे अपना वंशज

काल्पनिक स्त्री पूर्वजों से जोड़ते हैं। उनके परिवार में माता, उसके अविवाहित बच्चे, बेटे व बेटियाँ, उसका पति, उसकी विवाहित पुत्रियाँ तथा उनके पति रहते हैं। खासी विवाह के समय मातृस्थानिक होते हैं। किन्तु बाद में जब पति अपनी पत्नी तथा बच्चों का पालन पोषण कर सकने की योग्यता का प्रमाण प्रदर्शित करता है तो अपना स्वतन्त्र घर बसा सकता है। पारम्परिक नियमों के अनुसार पुरुषों को स्वामित्व के व्यक्तिगत अधिकार नहीं होते चाहे वे पति हों अथवा पुत्र। सम्पत्ति स्त्रियों से स्त्रियों को ही प्राप्त होती है। मजूमदार का यह कहना उचित है कि खासी परिवार की विवृद्धि रक्त सम्बन्धी महिलाओं से होती है जो चारों ओर से पुरुषों– अविवाहित भाई व पुत्र, पिता व पतियों से घिरी रहती हैं और जहाँ सम्पत्ति, धर्म, आवास, सभी महिलाओं के हाथ में होते हैं। पुरुषों का भी सम्मान किया जाता है तथा वे कुछ अधिकार भी रखते हैं। सभी प्रकार से शक्तिमान खासी महिला अपने पति को अपना स्वामी मानती है। उपर्युक्त वर्णन पारम्परिक स्थिति से सम्बन्धित है तथा खासी भी समय के साथ-साथ परिवर्तित हो रहे हैं।

नातेदारी

संसार के सभी भागों तथा सभी समाजों में चाहे उनका प्रौद्योगिक स्तर कुछ भी हो विभिन्न प्रकार के बन्धनों में एक साथ बँधे रहते हैं। इन बन्धनों में से सबसे विश्वव्यापी, सबसे अधिक बुनियादी बन्धन वह है जो जनन पर आधारित है तथा जिसे नातेदारी या बन्धुत्व कहते हैं किन्तु नातेदारी के मामलों में देखा जाता है कि सामाजिक मान्यता जैविक तथ्य पर हावी हो जाती है, विशेष तौर पर, पूरे विश्व में, आदिम समाजों में।

भारत की जनजातियाँ वंशों में बँटी हैं। अधिकांश जनजातियाँ पितृपक्षीय अंशों में बँटी हैं, किन्तु मेघालय की खासी तथा गारो जनजातियाँ मातृपक्षीय वंश की हैं।

भारत के अन्य लोगों की तरह, जनजातीय लोग भी दोनों प्रकार की नातेदारी को मान्यता देते हैं जिनके नाम हैं समरक्त नातेदारी तथा वैवाहिक नातेदारी। समरक्त संगोत्रता में उन सभी को शामिल किया जाता है, जो रक्त द्वारा अथवा जैविक बन्धनों के द्वारा सम्बन्धित होते हैं। जबकि वैवाहिक संगोत्रता में वे लोग शामिल होते हैं, जिन्हें विवाह के माध्यम से मान्यता प्राप्त होती है। किन्तु एक दिलचस्प तथा उल्लेखनीय तथ्य, जैसा पहले कहा जा चुका है, यह है कि उनमें समरक्त संगोत्रता ही केवल जैविक बन्धनों को मान्यता नहीं प्रदान करती। नीलगिरि पहाड़ियों के टोडा लोगों का उदाहरण भ्राता बहुपति प्रथा को मानने वाले के रूप में दिया जा सकता है। उनमें पितृत्व का निर्धारण 'धनुष तथा बाण समारोह' नामक एक रस्म के माध्यम से किया जाता है, जिसमें एक विशेष भाई जो सामान्य पत्नी को धनुष तथा बाण अपने समूह के समक्ष प्रस्तुत करता है, बच्चे के पिता के रूप में मान्य हो जाता है तथा जब तक दूसरा भाई ऐसा उदाहरण प्रस्तुत नहीं करता, सभी भाइयों के द्वारा उस पत्नी से जन्मे सभी बच्चे उसी भाई के माने जाते हैं, जिसने पिछला समारोह किया था। नातेदारी बन्धनों का सामाजिक जीवन पर सर्वाधिक प्रभाव का अनुभव प्रत्येक समाज में पाये जाने वाले नातेदारी के व्यवहारों के माध्यम से होता है। भारत की जनजातियों में नातेदारी के व्यवहार (यूसेज) अत्यन्त दिलचस्प तथा उल्लेखनीय दृश्य विधान प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार के व्यवहार प्रतिमान, बोले जाने वाले वे मौन नातेदारी प्रणाली के जटिल पहलुओं की व्याख्या करते

हैं। अनेक जनजातियों में यह पाया गया है कि बहुत से सम्बन्धी एक दूसरे के परिहार (एवायतु) करते हैं अर्थात् दूर रहते हैं। पुत्रवधू तथा सास-ससुर के बीच परिहार अत्यन्त सामान्य बात है। इसी प्रकार यद्यपि अपेक्षाकृत कम सर्वव्यापी तथा कम कठोरतापूर्ण, दामाद तथा उसके सास-ससुर के मध्य सम्बन्धों में भी परिहार पाया जाता है क्योंकि ये सम्बन्ध बहुत से सामाजिक अवरोधों से युक्त होते हैं। अण्डमान तथा निकोबार द्वीप समूहों की जनजातियों के मध्य बड़ा भाई अपने छोटे भाई की पत्नी से बात नहीं करता है। रैड क्लिफ ब्राउन ने इसकी सर्वाधिक ठीक लगने वाली व्याख्या प्रस्तुत की है। उनका कथन है कि जब लोग एक दूसरे के सम्पर्क में आते हैं तो परस्पर सहयोग तथा संघर्ष की संभावनाएँ मौजूद रहती हैं। किन्तु नातेदारी के कुछ प्रकार ऐसे होते हैं जहाँ शत्रुता सामाजिक मानकों के विरुद्ध मानी जाती है। इस प्रकार की शत्रुता के प्रकट होने को रोकने का सबसे उत्तम तरीका सन्निकटता की वृद्धि पर प्रतिबन्ध लगाना है, इसलिए नातेदारी में परिहार प्रयोग होता है। फ्रायड की मनोविश्लेषणवादी व्याख्या यौन आकर्षण पर आधारित है। अतः उनके अनुसार विभिन्न प्रकार के सम्बन्धियों के मध्य यौन सन्निकटता पर रोक की आवश्यकता है।

नातेदारी से सम्बन्धित व्यवहार का एक और रूप, जो परिहार्य के बिल्कुल विपरीत है, परिहास (Joking relationship) सम्बन्धों के माध्यम से व्यक्त किया जाता है। इस प्रकार का मज़ाक गाली-गलौज में भी परिवर्तित हो सकता है तथा भोंडे और भद्दे यौन संदर्भों तथा उपहास का रूप ले सकता है। साली तथा बहनोई तथा पत्नी और उसके पति के भाई के बीच मज़ाकिया रिश्तों के अतिरिक्त इस प्रकार के रिश्ते दादा-दादी और पोती-पोतों के बीच उराँव तथा बैगा लोगों में पाये जाने का जिक्र मौजूद है। छोटा नागपुर की 'हो' जनजाति के लोग विभिन्न प्रकार के मज़ाकिया रिश्तों के इच्छुक प्रतीत होते हैं। मजूमदार का मत है, कि मज़ाकिया रिश्ते समानता तथा पारस्परिकता का संकेत होते हैं। वे भविष्य में स्थापित होने वाले यौन सम्बन्धों का भी द्योतक हो सकते हैं। पत्नी तथा उसके पति के भाई (देवर) में मज़ाकिया रिश्ते की व्याख्या इसी रूप से की जा सकती है। प्रत्येक दशा में दोनों संभावित संगी हो सकते हैं। जब कोई मज़ाकिया रिश्ता पारस्परिक न होकर एक तरफ़ा होता है तो वह सामाजिक नियन्त्रण की भूमिका पूर्ण करता है। यह व्यंग्य तथा हँसी उड़ाने के माध्यम से सुधार लाने का संकेत बन जाता है।

मातुलेय (Avunculate) तथा पितृश्वश्रेय (Amitate) जैसा कि मानवशास्त्रीय बोल-चाल में जाना जाता है, नातेदारी की दो अन्य रीतियों के उदाहरण हैं जो भारतीय जनजातियों में प्रचलित हैं। खासी, गारो, नायर तथा अनेक दूसरे समाजों में मामा अपने भान्जों तथा भान्जियों के जीवन तथा स्नेह में परिपाटी के रूप में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। उसकी उनके प्रति विशेष जिम्मेदारियाँ होती हैं जो उनके पिता से भी अधिक होती हैं तथा वह अपनी सम्पत्ति का हस्तान्तरण अपने भान्जे को कर देता है। इस प्रकार का चलन मातुलेय कहलाता है। स्पष्ट है कि यह मातृवंशीय भूमिका, जैसा कि मामा के विषय में वर्णित की गई है, बुआ के लिए भी है जिसे पितृश्वश्रेय कहते हैं। इसका प्रचलन पितृवंशीय जनजातियों में पाया जाता है।

खासी, टोडा, 'हो', ओराँव तथा अन्य कई जनजातियों में एक दिलचस्प प्रचलन पाये जाने की चर्चा है जिसे (कुवेद) सहप्रसविता कहा जाता है। इसका आधार ट्रोब्रियाण्ड द्वीपवासियों

की उनकी स्थानीय बोली में उसी नाम से जाना जाने वाला समान चलन है। इस प्रचलन में पति को अपनी पति के साथ एक अशक्त का जीवन व्यतीत करना पड़ता है, जब वह किसी बच्चे को जन्म देती है। वह सक्रिय जीवन से अलग रहता है, वह रोगियों का भोजन खाता है तथा कुछ निषेधों का पालन करता है। इस प्रकार एक खासी पति अपनी पत्नी के समान किसी नदी या धारा को पार नहीं कर सकता अथवा कपड़े नहीं धो सकता, जब तक बच्चों के जन्म से सम्बन्धित आत्माओं का आराधन नहीं कर दिया जाता। कभी-कभी, कुछ अन्य जनजातियों में इस प्रचलन को बेचारे पति को उसकी पत्नी की झोपड़ी के पास में जहाँ वह बच्चे को जन्म देना चाहती है, रखने तक लागू कर दिया जाता है। उसे अपनी पत्नी के समान कष्ट में चिल्लाने, कराहने के लिए मज़बूर किया जाता है तथा उसे अपनी पत्नी की क्रियाओं का अनुकरण करना पड़ता है। मैलिनोस्की का विश्वास है कि 'कुवेद' वैवाहिक जीवन को मजबूत करना है तथा पितृत्व स्नेह को प्राप्त करने हेतु यह एक सामाजिक क्रिया विधि है। अन्य मानव-शास्त्रियों ने इसकी मनोविश्लेषणवादी व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। ऐसे विद्वानों ने इस प्रचलन को आधुनिक चिकित्सा व देखभाल के अभाव में पत्नी के कष्टों को हल्का करने की पति की अभिलाषा माना है, जिसका प्रयोग वह दिखावट के माध्यम से अपने प्रदर्शित व्यवहार के द्वारा करता है। कुछ विद्वानों ने इस प्रचलन को मातृप्रधान तथा मातृवंशीय सामाजिक व्यवस्था की एक विशेषता माना है, किन्तु इस प्रचलन का कुछ पितृ प्रधान समाजों जैसे 'हो', 'ओराँव' आदि में पाया जाना इस अभिकथन को नकारता है।

आर्थिक संगठन (Economic Organization)

भारतीय जनजातियों का आर्थिक संगठन विश्व के दूसरे भागों के आदिम आर्थिक संगठनों से भिन्न है। बुनियादी तौर पर, उनकी अर्थव्यवस्था, आधारभूत जीविका निर्वाह की आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने की दृष्टि से चलायी जाती है इसलिए वह उत्पादन-उपभोग अर्थशास्त्र की विस्तृत श्रेणी में आती है। इस प्रणाली के विपरीत अधिक विकसित अर्थव्यवस्था के सम्बन्ध में मजूमदार (1967) मत व्यक्त करते हैं कि "आर्थिक अधिशेष (सरप्लस) संचयन के साथ-साथ मानव का ध्यान भोजन, यौन तथा आवास के अतिरिक्त उन विभिन्न आर्थिक आवश्यकताओं की ओर ही अधिक नहीं गया अपितु अपने आर्थिक व्यवहार को परिष्कृत करने के प्रति भी गया जिसमें रहकर वह अपनी तीन प्राथमिक आवश्यकताएँ तथा अन्य द्वितीय एवं तृतीय आवश्यकताओं की सन्तुष्टि करता है।" बाद की अर्थव्यवस्था के प्रकार उत्पादन-उपभोग-वितरण अर्थव्यवस्था के प्रकार कहलाते हैं। समकालीन आदिम अर्थव्यवस्थाओं की एक अन्य उल्लेखनीय विशेषता यह है कि आधुनिक विश्व से उनके सम्पर्क के पूर्व उनका संचालन मुद्रा तथा अन्य आधुनिक आर्थिक कारकों के अभाव में किया जाता था। आधुनिक सभ्यता से अलग एकाकी जीवन व्यतीत करने वाली आदिम जनजातियाँ अब भी मुद्रा उपकरणों के बिना ही इसकी व्यवस्था करती हैं। भारतीय जनजातियों के आर्थिक संगठनों के विषय में चर्चा करने से पूर्व यह आवश्यक प्रतीत होता है कि विभिन्न स्थितियों में संस्कृति के रूपान्तरण के फलस्वरूप मनुष्य द्वारा विकसित विभिन्न प्रकार की अर्थव्यवस्थाओं पर संक्षिप्त दृष्टि डाली जाय। एडम स्मिथ पहला विद्वान् था जिसने आर्थिक संगठन का वर्गीकरण करने का प्रयास किया। उसने शिकारियों, चरवाहों तथा कृषकों के विषय में चर्चा की

तथा बाद में इस चर्चा को और अधिक व्यापक बनाने के लिए हस्तशिल्प तथा औद्योगिकीकरण को जोड़ दिया। अर्नेस्ट ग्रोस ने विकासात्मक परिप्रेक्ष्य की सहायता से सांस्कृतिक विकास की निम्नलिखित स्थितियाँ पैदा की हैं :-

(1) संग्रहात्मक अर्थव्यवस्था

(2) यायावर संस्कृति अर्थव्यवस्था

(3) स्थायी ग्रामीण अर्थव्यवस्था

(4) नगरीय अर्थव्यवस्था

(5) महानगरीय अर्थव्यवस्था।

इसी प्रकार एहरेनफेल्स ने दक्षिण एशिया के प्रारम्भिक मानव समाजों में चार प्रकार की अर्थव्यवस्थाओं को प्रस्तुत किया है-

(1) खाद्य संग्रहक

(2) विशिष्ट आखेटक

(3) पौधों की कृषि करने वाले

(4) खानाबदोश पशुचारक।

भारत के अधिकांश जनजातीय लोग इन श्रेणियों में से प्रथम तथा तृतीय वर्ग में आते हैं। डेरिल फोर्ड (1950) आर्थिक वर्गीकरण के विचार से सहमत नहीं हैं क्योंकि वह यह विश्वास नहीं करते कि लोग आर्थिक श्रेणियों में रहते हैं तथा वह कोई एक अर्थव्यवस्था में जीते हैं। अपितु अर्थव्यवस्थाओं के सम्मिश्रण में जीते हैं। अर्थव्यवस्थाओं के सम्बन्ध में गार्डन चाइल्ड का भी लगभग यही मत है फोर्ड हर्स्कोविट (1952) द्वारा प्रस्तुत अर्थव्यवस्था के पंचखण्डीय विभाजन से सहमत हैं।

(1) संग्रह

(2) आखेट

(3) मत्स्य संग्रहण

(4) कृषि

(5) पशुपालन

दोनों विद्वान् इस बात से सहमत हैं कि किसी स्थान के लोगों को एक दूसरी अर्थव्यवस्था ग्रहण करने के लिए अपनी अर्थव्यवस्था को त्यागना आवश्यक नहीं है। थर्नवाल्ड ने विभिन्न प्रकार की अर्थव्यवस्थाओं की योजना प्रस्तुत की है जिनमें से कुछ का हमसे सीधा सरोकार है :-

1. समरूप समुदाय के पुरुष शिकारियों तथा पिथकों के रूप में तथा संग्रहकर्त्ताओं के रूप में महिलाओं के समरूप समुदाय कादमू, चेन्चू, खारिया, कोखा आदि कुछ भारतीय जनजातियाँ हैं जो इस श्रेणी में आती हैं।

2. शिकारियों, पाशिकों, कृषकों के समरूप समुदाय कामार, बैंगा तथा विरहोर इस प्रकार के कुछ उदाहरण हैं।
3. शिकारियों, पाशिकों, कृषकों तथा शिल्पकारों का श्रेणीकृत समाज– अधिकांश भारतीय जनजातियाँ इस श्रेणी के अन्तर्गत आती हैं।
4. पशुपालक टोडा तथा महान भील जनजाति के कुछ भाग भारत में इस श्रेणी के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।
5. पशुपालक तथा शिकारियों के समरूप समुदाय। इस श्रेणी का प्रतिनिधित्व करने वाली जनजातियाँ भारतीय जनजातियों में नहीं हैं। टोडा न तो शिकार करते हैं और न ही मछली तथा चिड़िया पकड़ते हैं।
6. प्रजातीय (एथनीकली) स्तरीकृत पशुपालक तथा व्यापारी। उत्तर प्रदेश के हिमालय की तराई क्षेत्र के भोटिया याक तथा जीवस (याक तथा गाय का वर्गसंकर) पालन करते हैं तथा भ्रमणशील व्यापारी हैं। वे जाड़े के दिनों में मैदानी क्षेत्र में उतर आते हैं तथा ग्रीष्मकाल में पहाड़ों के ऊपर तिब्बत तक चले जाते हैं।
7. सामाजिक दृष्टि से श्रेणी पशुपालक जिनमें शिकारी, कृषक तथा शिल्पकार लोग भी सम्मिलित हैं।

ऊपर दिये गये विश्व के विभिन्न क्षेत्रों में आर्थिक जीवन के विभिन्न पक्षों को अपने में समाविष्ट करने वाले कुछ महत्त्वपूर्ण वर्गीकरण हैं, लेकिन किसी एक प्रकार के वर्गीकरण के आधार पर भारतीय जनजातियों के आर्थिक संगठन का अध्ययन सम्भव प्रतीत नहीं होता। प्रत्येक जनजाति विविध आर्थिक क्रियाओं के माध्यम से अपना जीवन व्यतीत करती है। यह विशिष्ट प्रकार की प्रक्रिया आर्थिक संगठन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है किन्तु कुछ अन्य क्रियाएँ भी हैं जो पूरक का कार्य करती हैं फिर भी भारत की जनजातियाँ प्रबल आर्थिक क्रियाओं के आधार पर निम्नलिखित विस्तृत श्रेणियों में विभाजित की जा सकती हैं :–

1. खाद्य संकलनकर्त्ता व शिकारी
2. 'झूम' कृषक
3. कृषक
4. पशुपालक
5. शिल्पकार
6. औद्योगिक श्रमिक

खाद्य संग्रहकर्त्ता तथा शिकारी

ये जनजातियाँ तेजी से विलुप्त होने वाली श्रेणी हैं जो गहरे वनों तथा पर्वत शृंखलाओं में पाई जाती हैं। तेजी से विस्तारित होने वाले संचार साधनों के फलस्वरूप विकसित प्रौद्योगिकी रखने वाले लोगों से बढ़ते हुए सांस्कृतिक सम्पर्कों के कारण, वे अपने को कृषकों में परिवर्तित कर रहे

हैं। फिर भी कुछ जनजातियाँ हैं जो अब भी भोजन संग्रहण तथा शिकार पर निर्भर करती हैं तथा कृषि की तकनीक (प्रविधि) से अनभिज्ञ हैं।

इस श्रेणी में वे जनजातियाँ हैं जो कन्द मूलों, दूसरे फलों तथा मधु इत्यादि का संग्रहण करती हैं तथा भोजन हेतु छोटे पशुओं का आखेट करती हैं। वे मछली भी पकड़ते हैं, यदि वहाँ इसके लिए स्थान उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार की जनजातियाँ मोम, गोंद तथा सींग आदि का भी संग्रहण करती हैं जो वस्तु-विनिमय के प्रयोजन के लिए किये जाते हैं। इस प्रकार वे अपनी विशिष्ट आवश्यकताओं की पूर्ति अन्न की कृषि के अभाव में भी करने में समर्थ हो जाती हैं।

खाद्य संकलक तथा शिकारी लोगों की, प्रकृति पर इतनी अधिक निर्भरता होती है कि वे सांस्कृतिक अनुकूलनशीलता की उत्कृष्ट नीति प्रदर्शित करने वाले, प्रकृति का ही अंग प्रतीत होते हैं। इस प्रकार की अधिकांश जनजातियाँ दक्षिण भारत में पाई जाती हैं। कोचीन के कादार, तमिलनाडु के मालापत्रम, पलियन, इरुला तथा कुरुम्बा, इनमें से प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त आन्ध्र प्रदेश के अन्नामलाई पर्वत शृंखला में रहने वाले चेन्चू भी हैं। साथ ही बिहार के विरहोर तथा खडिया, मध्य प्रदेश के कमार तथा बैंगा, अभुजमरिया, आन्ध्र प्रदेश के येनादी, तमिलनाडु के कोया और कोणा, कोडा रेड्डी और महाराष्ट्र के कटकरी को भी इस श्रेणी में सम्मिलित किया जा सकता है।

अण्डमान द्वीप समूह के ओंगे, जारवा आदि भी इस श्रेणी में आते हैं। यद्यपि उपर्युक्त संदर्भित अधिकांश जनजातियाँ कुछ अन्य द्वितीयक क्रियाओं में भी व्यस्त रहती हैं तथापि इनके आर्थिक संगठन की प्रभावी विधि अब भी भोजन संग्रहण तथा आखेट हैं। आदिम आर्थिक संगठन की अधिकांश विशेषताएँ भोजन संग्रहक तथा शिकारी भारतीय जनजातियों की वर्तमान अर्थव्यवस्था में विद्यमान हैं जिनमें से सर्वप्रथम संसाधनों, औजारों तथा उपकरणों की कमी है। अधिकांशतः वे अपने ओज तथा सामर्थ्य के बल पर तकनीकी विकल्पों के अभाव के मध्य, जैसे प्रौद्योगिक विकास के इस सोपान पर बिताना स्वाभाविक है, अपना जीवन व्यतीत करते हैं। उनकी अर्थव्यवस्था में अधिशेष (सरप्लस) का अभिप्राय ही अनुपस्थित है, क्योंकि न तो वे आधिक्य को उत्पन्न करने की स्थिति में हैं और न ही वे दैनिक जीवन की अधिक वस्तुओं को सुरक्षित रखने में ही सक्षम हैं। इसके अतिरिक्त उनका यायावर अस्तित्व भी अपने में संरक्षण एवं परिरक्षण की प्रविधियाँ विकसित करने में बाधा डालता है। चूँकि उनका सम्पूर्ण शारीरिक अस्तित्व भोजन संग्रहण में व्यतीत होता है अतः जीवन के किसी अन्य क्षेत्र में तेज विकास के अवसर कम ही मिलते हैं।

झूम कृषक

आम आकलन के अनुसार भारत की कुल आबादी का ९० प्रतिशत किसी न किसी प्रकार की कृषि करता है। अधिकांश भारतीय जनजातियाँ जो कृषि पर निर्भर करती हैं, इसका अनुसरण दो प्रकार से करती हैं, कर्त्तनहदन प्रणाली का आदिम व पारम्परिक तरीका जिसे "झूम कृषि" कहते हैं तथा स्थायी अथवा "हल कृषि" जिसे विभिन्न प्रकार के कृषि औजारों एवं उपकरणों की सहायता से किया जाता है। चूँकि झूम कृषि सम्बन्धी भारतीय जनजातियों की समस्याओं की "झूम कृषि" शीर्षक के अध्याय में विस्तार से चर्चा की गई है, वर्तमान अध्याय में इसकी संक्षिप्त चर्चा पर्याप्त

होगी।

झूम कृषि भारतीय जनजातियों में एक प्राचीन संस्था है। सिद्धान्ततः इसका अर्थ एक अस्थायी समय के लिए किसी एक भूमि खण्ड पर कृषि करना तथा बाद में उसे छोड़ देना है। इसके अन्तर्गत वन के ढलान को साफ करना, गिराये हुए पेड़ों तथा घास को जलाना तथा राख से ढकी हुयी मिट्टी में बीजों का प्रसार करना सम्मिलित है। इस प्रकार किसी एक भूखण्ड पर एक या दो बार ही बीज बोये जा सकते हैं, किन्तु इससे अधिक नहीं। इसके पश्चात् मिट्टी की उर्वरता समाप्त हो जाती है। तब एक दूसरे भूखण्ड की सफाई की जाती है तथा कृषि कार्य को इसमें स्थानान्तरित कर दिया जाता है।

भारत में इस विधि की कृषि उत्तरी-पूर्वी क्षेत्र के दूर-दराज पहाड़ी क्षेत्रों, उड़ीसा तथा मध्य प्रदेश, बिहार तथा अपेक्षाकृत कम मात्रा में देश के कुछ अन्य भागों में पायी जाती है। कुछ क्षेत्रों में इसे गैरकानूनी घोषित कर दिया गया है।

झूम कृषि को भारत में विभिन्न क्षेत्रीय नामों से जाना जाता है। असम, त्रिपुरा, अरुणाचल प्रदेश तथा मिजोरम प्रदेशों की जनजातियों में इसे झूम, मध्य प्रदेश में बेवर अथवा दहिया, आंध्र प्रदेश में पोडू, उत्तरी उड़ीसा में कोमन तथा ब्रिंगल कहा जाता है। इस प्रकार की कृषि करने वाली प्रमुख जनजातियाँ उत्तरी-पूर्वी क्षेत्र की लोहता, अंगामी नागा, खासी तथा कुकी, बिहार की असुर, उड़ीसा की सओरा व जुआंग तथा मध्य प्रदेश की बैंगा, गोंड व कोखा हैं।

झूम कृषकों का दिलचस्प पहलू यह है कि वे स्वयं स्थायी गाँवों में कमोबेश स्थायी रूप से निवास करते हैं किन्तु अन्न प्राप्त करने के लिए वे कृषि भूखण्ड को निरन्तर बदलते रहते हैं।

कुछ समय पहले तक झूम कृषक अपने कृषि अनुसरण को केवल अनाज के उत्पादन तक सीमित रखते थे, अब वे अपनी युगों पुरानी कृषि विधि से चिपके रहते हुए भी नगदी फसल की खेती भी प्रारम्भ कर रहे हैं। असम, मेघालय तथा नागालैण्ड के झूम कृषक कपास की कृषि नकदी फ़सल के रूप में तथा मक्का, सब्जी आदि की कृषि घरेलू उपभोग हेतु करते हैं। उड़ीसा के जुवाँग तिलहन की कृषि नकदी फसल के रूप में तथा धान स्वयं के उपभोग के लिए करते हैं।

चूँकि अत्यन्त कम उपज के कारण इस विधि की कृषि अत्यन्त अलाभकर होती है, अधिकांश झूम कृषक अपने दिन निर्धनता तथा कष्ट में व्यतीत करते हैं। इस बात का संकेत किया गया है कि यदि झूम कृषि को रोका नहीं गया तो वह इसे व्यवहार में लाने वालों को अल्पविकसित तथा निम्न सामाजिक स्तर में जकड़ देगी। फिर भी इस बात को स्वीकार करना होगा कि झूम कृषि से स्थायी हल कृषि में परिवर्तन अचानक नहीं हो सकता क्योंकि किसी अन्य स्थान के लोगों का आर्थिक जीवन उनके जीवन के अन्य पक्षों से गाँठ की तरह बुना रहता है।

कृषक

अधिकतर भारतीय जनजातियों ने देश के शेष कृषकों के समान ही कृषि के प्रचलित तरीके अर्थात् स्थायी हल कृषि को अपना लिया है। ऐसे जनजातीय कृषकों के अपने कृषि भूखण्ड होते हैं तथा वे अपने कृषि अनुसरण में विभिन्न पशुओं तथा उपकरणों का इस्तेमाल करते हैं। इस प्रकार की कृषि को अपनाना झूम कृषि के अत्यन्त अलाभकारी तथा अनुत्पादनकारी होने अथवा पड़ोसी

कृषकों से सम्पर्क के कारण सम्भव हुआ है।

मिज़ोरम के मिज़ो तथा अरुणाचल प्रदेश की अपातानी घाटी के अपातानी झूम कृषि के दो ऐसे उदाहरण हैं जिनका उदय स्थायी कृषकों के रूप में हुआ। मिज़ो लोग विविध प्रकार के चावलों की कृषि करते हैं जो इनका प्रमुख भोजन है। अपातानी भी चावल की कृषि करने वाले कुशल कृषक हैं। पुरुष तथा स्त्रियाँ दोनों ही खेतों में लगन से कार्य करते हैं तथा आधुनिक कृषि उपकरणों में तथा उर्वरकों के ज्ञान के अभाव के बावजूद अच्छी पैदावार करते हैं। वे या तो निचले मैदानों की छिद्रों वाली भूमि अथवा पहाड़ों पर तैयार किये गये सोपानों पर फसल उगाते हैं। सोपान कृषि स्थायी हल कृषि का एक दूसरा प्रकार है तथा इन लोगों के सांस्कृतिक तथा पारिस्थितिक अनुकूलन का शास्त्रीय उदाहरण है। ऊपर के वनों से बहकर आने वाली धाराओं को इस ढंग से व्यवस्थित किया जाता है कि प्रत्येक सोपान को समुचित मात्रा में जल उपलब्ध हो, और यदि जरूरत हो तो अतिरिक्त जल को बाहर निकाला जा सके। यद्यपि इसमें अधिक श्रम लगता है, यह कृषक के अति लगाव को प्रदर्शित करती है।

भारतीय जनजातियों में जो विशेष कृषकों के रूप में उभरकर आये हैं उनमें बिहार तथा बंगाल के सन्थाल, ओराँव तथा हो, उत्तर प्रदेश के थारू तथा कोरवा, मध्य प्रदेश के भील तथा भिलाना, उड़ीसा के सओरा, तमिलनाडु के नीलगिरि पहाड़ियों के बड़ागा आदि हैं।

उत्तर प्रदेश के थारू तथा कोरवा ने स्थायी कृषि को इस सीमा तक अपना लिया है कि वे कृषि के समस्त साधनों से परिचित हैं। गोबर की खाद बड़े विस्तार से प्रयोग की जाती है तथा सिंचाई के लिए बाँधों का उपयोग किया जाता है, तथा सबसे अधिक वे रबी तथा खरीफ की फसलें उतनी ही सूक्ष्मता एवं परिशुद्धता के साथ पैदा करते हैं जैसे उनके पड़ोसी किसान समुदाय।

यह बात भी आमतौर पर देखी जाती है कि जिन जनजातियों ने ईसाई धर्म ग्रहण कर लिया है वे अन्य की तुलना में कृषि में अधिक उन्नत हैं। यह इस तथ्य के कारण हो सकता है कि इन क्षेत्रों में कार्य करने वाले मिशनरियों ने न केवल ईसाई धर्म के संदेश का प्रचार किया है, अपितु अपने अनुयायियों को जीविका के आधुनिक आर्थिक साधनों को ग्रहण करने तथा सरकारी व अन्य विकासात्मक योजनाओं का लाभ उठाने के लिए भी तैयार कर दिया। इस सम्बन्ध में मिशनरियों द्वारा संचालित शिक्षण संस्थाओं ने सम्बन्धित जनजातीय लोगों के भाग्य सँवारने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

पशुचारक

पशुचारण अर्थव्यवस्था भारतीय जनजातियों के आर्थिक संगठन का एक दूसरा पक्ष है। अधिकांश भारतीय जनजातियाँ विभिन्न प्रयोजनों से पशुपालन करती हैं, किन्तु अब लोग व्यापारिक प्रयोजन के लिए "पशुचारण एवं प्रजनन" करते हैं तथा उसे अपनी जीविका-निर्वाह का साधन बनाते हैं तो उन्हें "पशुचारण अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत अपना जीवन यापना करना कहा जाता है।" भारतीय पशुचारक सामान्यतः एक स्थायी जीवन व्यतीत करते हैं और केवल परिवर्तित मौसम के दबाव में ही घुमक्कड़ बनते हैं। पशुचारक जनजातियाँ पहाड़ी क्षेत्रों में बसती हैं तथा ग्रीष्म ऋतु के प्रारम्भ में अपने स्थायी निवास को वापस चली जाती हैं इसीलिए उन्हें कमोबेश स्थायी पशुचारक

की संज्ञा दी जा सकती है। कदाचित यह अतीत के युगों की भोजन-संग्रहण-आखेटक-यायावर जीवन से स्थायी जीवन में प्रवेश की अंतःप्रेरणा की अनुक्रिया है।

भारतीय जनजातियों में तमिलनाडु की नीलगिरि पहाड़ियों में बसने वाले प्रसिद्ध टोडा पशुचारण अर्थव्यवस्था के शास्त्रीय उदाहरण हैं। उनका सामाजिक तथा आर्थिक संगठन उनकी भैंसों के इर्द-गिर्द बना है। टोडा लोग अपनी जीविका सीधे दूध तथा उससे निर्मित वस्तुओं को बेचकर अर्जित करते हैं तथा अपने पड़ोसी लोगों से उसके बदले जीवन की अन्य वस्तुओं का विनिमय भी करते हैं। भैंसें व उनका दूध इस जनजाति के सामाजिक-धार्मिक तथा कर्मकांडी जीवन में प्रमुख भूमिका निभाते हैं। टोडा पुरुषों का दैनिक जीवन मुख्यतः अपनी भैंसों तथा डेरियों की देखभाल तथा अनुरक्षण में व्यतीत होता है।

हिमाचल प्रदेश के गुज्जर भी प्रमुख पशुचारक हैं तथा वे व्यापारिक उद्देश्य से गायें, भैंसें तथा भेड़ें पालते हैं। उत्तर प्रदेश के उत्तराखण्ड क्षेत्र में बसने वाली भोटिया जनजाति भी पशुपालक है। साथ ही वह पशु व्यापारी भी हैं। वे याक तथा जीवस (याक तथा गाय का वर्ण- संकर) पालते हैं, ऊनी स्वेटर, शाल तथा कम्बल बुनते हैं तथा मैदानी क्षेत्र के शहरों में इन्हें बेचते हैं। इस प्रकार ये घुमन्तू व्यापारी हैं जो जाड़ों में मैदानों में उतर आते हैं तथा ग्रीष्मकाल में पारम्परिक तौर पर तिब्बत की ऊँचाई पर पहाड़ों में चले जाते हैं किन्तु 1962 में चीन के साथ युद्ध छिड़ जाने के बाद तिब्बत से उनका व्यापार समाप्त हो गया है तथा अब वे दूध, गोश्त तथा ऊन के लिए भेड़ों के पालन पर ही निर्भर करते हैं। यह पशु बोझा ढोने वाले पशुओं के रूप में भी प्रयोग किये जाते हैं। तेजी से परिवर्तित होने वाले आर्थिक जीवन के बढ़ते दबाव ने कृषि को भी जीविका निर्वाह के एक साधन के रूप में ला खड़ा किया है।

शिल्पकार

विविध प्रकार के हस्तशिल्पियों का कार्य करने वाले शिल्पकार भारत के सभी जनजातीय क्षेत्रों में पाये जाते हैं किन्तु ऐसे बहुत थोड़े शिल्पकार हैं जो केवल अपने हस्तशिल्प के सहारे जीवन-यापन करते हैं। बहुत से जनजातीय समुदाय इसे अपनी आय में वृद्धि हेतु अपने अवकाश के समय में प्रायः एक सहायक व्यवसाय के रूप में अपनाते हैं। मारिया, गोंड, वन-उत्पादों से स्प्रिट तैयार करते हैं, साओरा अपने को धातुकर्म, बुनाई, बेंत का कार्य तथा बर्तन बनाने जैसे कार्यों में व्यस्त रखते हैं। कोरवा तथा अगाड़िया लोग परम्परागत तौर पर लोहा गलाने वाले हैं जो केवल स्थानीय उपभोग हेतु औजार बनाते हैं क्योंकि उनकी तकनीक अत्यन्त अपरिष्कृत है। प्यासी लोग पशुओं के तंतु से तार बनाते हैं। धारू लोग काष्ठोपकरण, घरेलू बर्तन, टोकरी, संगीत वाद्ययंत्र, हथियार, रस्सी तथा चटाई बनाते हैं। इरुला लोग बाँस की चटाई, टोकरियाँ, हल का फल और पहिये बनाते हैं। अपातानी लोग चाकू तथा तलवार बनाने में कुशल हैं तथा उनका निर्माण व्यापारिक प्रयोजन हेतु करते हैं। नीलगिरि पहाड़ियों के कोटा लोग दक्ष बढ़ई, लोहार तथा कुम्भकार होते हैं। उत्तरी-पूर्वी क्षेत्र के मिलों, रियांग, नागा तथा अपातानी तथा उड़ीसा के साओरा कुशल कपड़ा बुनकर हैं, जिसे वे पास के बाजारों में बेचते हैं। बस्तर के माड़िया तथा मुडिया अपने मिट्टी तथा धातु के खिलौनों तथा प्रतिमाओं के लिए प्रसिद्ध हैं, जिनका विपणन देश के हस्तशिल्प

इम्पोरियमों द्वारा किया जाता है, झाबुआ जनपद के भील तथा भिलाला पुराने कपड़ों तथा सूती रेशों से सुन्दर दरियाँ तथा गद्दियाँ बुनते हैं।

औद्योगिक श्रमिक

औद्योगिक श्रमिक भारतीय जनजातियों के आर्थिक संगठन में अपेक्षाकृत नयी घटना है। इसके बड़े ही गम्भीर एवं महत्त्वपूर्ण अर्थ हैं। औद्योगिक श्रमिक के रूप में जनजातियों की समस्याओं की "जनजातीय क्षेत्र में औद्योगिकीकरण पर पृथक् अध्याय में चर्चा की गई है क्योंकि यह समस्या अत्यन्त गम्भीर प्रकार की है।" भारतीय जनजातियाँ दो प्रकार से औद्योगिक जीवन के सम्पर्क में आयीं। या तो वे औद्योगिक क्षेत्रों में स्थानान्तरित हो गये अथवा जिन क्षेत्रों में वे बसते हैं वहाँ उद्योग स्थापित हो गये। बहुत बड़ी संख्या में सन्थाल, कोंड तथा गोंड असम चले गये तथा चाय बागानों में उन्होंने विविध कार्यों को अपना लिया। औद्योगिक जीवन में सम्पर्क का दूसरा तरीका उसके दूरगामी परिणामों की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है। मध्य भारत में कुछ जनजातीय क्षेत्र प्राकृतिक संसाधनों जैसे कोयला, लोहा, इस्पात में अत्यन्त सम्पन्न पाये गये हैं तथा दूसरे खनिज उद्योग भी इन क्षेत्रों में स्थापित हुए हैं। ऐसा मुख्यतः पश्चिमी बंगाल, बिहार, उड़ीसा तथा मध्य प्रदेश में हुआ है। इस प्रकार इन लोगों का औद्योगिकीकरण एक प्रकार का जनजातीय नगरीय सातत्य स्थापित करके हुआ।

उपरोक्त वर्णित स्थिति जनजातियों का दो श्रेणियों में भेद करती है। संथाल, ओराँव, मुण्डा, खरिया, गोंड तथा कुछ अन्य जनजातियों को प्रथम श्रेणी में एकत्र किया जाता है। बढ़ती हुई आर्थिक कठिनाइयों की दृष्टि से वे असम को स्थानान्तरित हो गये तथा वहीं चाय बागानों में काम करने लगे, जबकि परिवार के अन्य सदस्य दूसरे नगरों तथा कस्बों में प्रवसित हो गये तथा अकुशल श्रमिक के रूप में काम करने लगे। दूसरी श्रेणी में सन्थाल, 'हो' तथा अन्य सम्मिलित हैं जो कारखानों में कार्य करते हैं। जमशेदपुर, राँची, राउरकेला, भिलाई तथा बैलाडिला के इस्पात कारखानों में बड़ी संख्या में जनजातियों को सेवा-योजित किया जाता है।

इन क्षेत्रों में औद्योगिकीकरण ने निश्चित ही जनजातीय लोगों के लिए जीवन-निर्वाह के नये तथा स्थायी साधनों को प्रस्तुत किया, किन्तु जनजातियों को इसके लिए जो मूल्य चुकाना पड़ा वह बहुत अधिक तथा भयानक है। औद्योगिकीकरण तथा नगरीकरण ने उनके सामाजिक ताने-बाने को बहुत अधिक छिन्न-भिन्न कर दिया। उनकी पारम्परिक तथा सामाजिक संस्थाओं का ह्रास तथा विघटन प्रारम्भ हो गया है। औद्योगिक मूल्यों ने उनके अपनी मूल प्रणाली को विकृत कर दिया है। शराब खोरी, जुआ तथा वेश्यावृत्ति उनके सामाजिक संगठन की सजीवता को खाये जा रहे हैं। वे औद्योगिकीकरण का ऐसा शिकार हैं जिन्हें एक अपरिचित संसार की विपत्तियों का सामना करने हेतु तैयार किए बिना ही एक विदेशी परिवेश में ढकेल दिया गया है।

श्रम विभाजन

शरीर-क्रियात्मक कारक जैसे लिंग, शैशव तथा बुढ़ापा तथा शारीरिक अयोग्यता की अनिवार्यता पूर्वनगरीय समाजों में विशेषीकरण का एकमात्र आधार हैं। मजूमदार का मत है कि इस आधारभूत शरीर-क्रियात्मक भिन्नताओं तथा उनके प्रभाव की मान्यता, जो आदिम समाजों में श्रम-

विभाजन के क्षेत्र में परिलक्षित होती हैं, इनके अतिरिक्त भी इस आधारभूत तथ्य के प्रसार अथवा विस्तरण हुए हैं जो लैंगिग श्रम विभाजन को कम करने वाले और अनिवार्य कारकों में प्रतिफलित हुए हैं। किसी स्त्री के स्वस्थ जीवन से संबंधित शरीर-क्रियात्मक-प्रक्रियाओं की विविधता को समझने की असमर्थता जैसे मासिक-धर्म तथा बच्चे का ज़न्म, ने विचित्र मान्यताओं को जन्म दिया। अनावश्यक रूप से परितोषित तथा अच्छी प्रकार देखभाल की गई टोडा महिलाओं को उदाहरणार्थ पवित्र भैंस को स्पर्श करने तथा डेरी में कदम रखने के लिए मना किया गया है।

महिलाओं के शिशु के साथ सम्बन्ध ने उन पर नियंत्रणों को आरोपित कर दिया है, जिससे उन्हें पुरुषों के कार्यों में पूर्ण सहयोग करने से अवरोधित कर दिया है। उन्हें शिशु की देखभाल तथा भोजन पकाने का कार्य करना पड़ता है, जो सम्भवतः उन्हें अधिक समय तक घर पर रहने के लिए मजबूर करता है। टोडा जनजाति एक अपवाद है जहाँ पुरुष वह सभी भोजन बनाते हैं जिनमें दूध अथवा उससे बनी वस्तुएँ प्रयोग की जाती हैं जिसका आधार स्पष्ट रूप से कर्मकाण्ड है। महिलाएँ सामान्यतः पुरुषों द्वारा किये जाने वाले कार्यों को भी करती हैं। भारतीय जनजातियों में स्त्रियाँ भोजन-संग्रह करती हैं, कृषि कार्य करती हैं (बीज बोना व फसल काटना), मछली पकड़ती हैं, टोकरियाँ बनाती हैं तथा वस्त्र एवं बर्तन आदि का निर्माण कार्य करती हैं, किन्तु वे आखेट के लिए कभी नहीं जाती हैं, न तो पेड़ काटने जाती हैं और न ही वे लोहार अथवा बढ़ई बनती हैं।

पहाड़ी क्षेत्रों की जनजातीय स्त्रियाँ सर्वाधिक परिश्रमी होती हैं व उनका पुरुष वर्ग काहिली का उदाहरण है। उत्तर प्रदेश में जौनसार बाबर की खासा जौनसारी स्त्रियाँ इस स्थिति की उत्तम उदाहरण हैं। यहाँ स्त्रियाँ सुबह से शाम तक सभी प्रकार के कार्य करती हैं, भोजन संग्रह से लेकर ढलानों, मुहानों से पानी लाना तथा बीज बोने और फसल काटने से पशुओं की देखभाल करने तक, जबकि पुरुष वर्ग चाय की दुकानों पर चाय की चुस्कियाँ लेते हुए, बातचीत और धूम्रपान करते हुए दलीय राजनीति तथा घपलों पर चर्चा करते हुए आराम करते रहते हैं। किन्तु औद्योगिकीकरण ने पुरुषों तथा स्त्रियों दोनों को ही प्रभावित किया है। औद्योगिकीकरण द्वारा प्रभावित क्षेत्रों में पुरुष लोग लोहा तथा इस्पात के कारखानों, कोयला खानों, चाय बागानों में काम करते हैं। स्त्रियाँ अभ्रक (माईका) तथा कोयला खानों, चाय बागानों और प्रस्तरखनि स्थलों में कार्य करती हैं। जनजातीय भारत में दासोचित श्रमिकों को लगाने की बात अनजानी है। इसका अपवाद केवल उत्तर प्रदेश के जौनसारी जनजाति हैं जहाँ कोल्टा, जो पारम्परिक रूप से जनजातियों में भूमिहीन और कर्मकाण्डीय अस्पृश्य अनुभाग है, को गुलामों के रूप में रखा गया है। इन्हें अन्य जातीय राजपूत, ब्राह्मण, ज़मींदारों द्वारा सदैव बँधुआ के रूप में रखा जाता है। इस प्रकार ऐसे कुछ उदाहरणों के अतिरिक्त मालिक तथा गुलाम जैसा श्रमविभाजन जनजातीय भारत में अनजाना है।

सम्पत्ति, स्वामित्व तथा उत्तराधिकार

सम्पत्ति की अवधारणा समाज के एक स्वरूप से दूसरे स्वरूप में भिन्न-भिन्न है। इसलिए सम्पत्ति की आधुनिक अवधारणा को आदिम समाजों पर लागू नहीं किया जा सकता। भारतीय जनजातियों में सामाजिक मूल्यों द्वारा नियंत्रित तथा नियमित वस्तुओं को सम्पत्ति की संज्ञा दी गयी है। मिश्रा तथा तिवारी (1975) इस बात की भारतीय संदर्भ में व्याख्या करते हुए विचार व्यक्त

करते हैं कि यहाँ तक भोजन संग्रहण तथा आखेट करने वाली जनजातियों में भी वन तथा भोजन संग्रहण एवं आखेट के साधनों अथवा उपकरणों को सम्पत्ति माना जाता है। यद्यपि समाज के सदस्य वन-उत्पाद तथा प्राणि समूह का स्वतंत्र रूप से प्रयोग करने के लिए अधिकृत होते हैं, तथापि इनका प्रयोग कुछ सामाजिक नियमों तथा मूल्यों के अधीन होता है। पशुचारक जनजातियों में चारागाहों, पशु तथा पशुबाड़ों, घरों, **वस्त्रों** से प्राप्त वस्तुएँ आदि को सम्पत्ति के विभिन्न रूप माना जाता है। इसी प्रकार भूमि, कृषि, उपकरण, घर, **वस्त्र** आदि कृषक जनजातियों में सम्पत्ति के रूप हैं, जबकि कच्चा माल के स्रोत, औजार तथा उपकरण परिष्कृत माल, **वस्त्र** व मकान आदि शिल्पकार जनजातियों में सम्पत्ति की संज्ञा पाते हैं। भारतीय जनजातियों में दोनों प्रकार का स्वामित्व अर्थात् सामूहिक तथा वैयक्तिक, पूर्ण विदित है। जिस रूप में भी सम्पत्ति को मान्यता दी जाय, इसकी मान्यता में विरासत के कुछ नियमों के अस्तित्व का अनुराग होता है। विरासत का महत्त्व बढ़ जाता है जबकि व्यक्ति स्वयं सम्पत्ति रखते हैं। सामुदायिक विरासत में समूह का कभी भी अचानक एक व्यक्ति की तरह अस्तित्व समाप्त नहीं होता है तथा समय-समय पर नयी भर्ती द्वारा पुनः पूर्ति कर ली जाती है। यद्यपि आजकल वैयक्तिक स्वामित्व पर अधिक बल है। नागा जैसे उदाहरण हैं, जो परम्परागत रूप से गाँव की भूमि पर सामूहिक रूप से स्वामित्व रखता है। चूँकि वैयक्तिक सम्पत्ति अत्यन्त कम होती है, बहुत सी जनजातियों में यह प्रथा है कि मृत व्यक्ति के साथ ही उसकी व्यक्तिगत वस्तुओं को जला दिया जाता है।

विरासत के नियम में किसी विशिष्ट समाज की सामाजिक संरचना पर निर्भर करते हुए पितृवंशीय अथवा मातृवंशीय अथवा दोनों का किसी प्रकार का मिश्रित रूप हो सकता है। मातृवंशीय जनजातियों में पुत्री सम्पत्ति को विरासत में प्राप्त करती है जैसे मेघालय के खासी, और बड़ी संख्या में पितृवंशीय जनजातियों में पुत्र कुछ मामलों में ज्येष्ठतम पुत्री तथा पुत्र सम्पूर्ण सम्पत्ति को विरासत में प्राप्त करते हैं। नीलगिरि पहाड़ियों की टोडा जनजाति में ज्येष्ठतम तथा कनिष्ठतम पुत्रों को एक अतिरिक्त पशु प्राप्त होता है। पड़ोसी बढ़ागा लोगों में भिन्न प्रकार के नियमों का प्रचलन है। इन लोगों में ज्येष्ठतम पुत्र अपना विवाह होते ही घर त्याग देते हैं। सबसे छोटा पुत्र अपने माता-पिता के साथ घर पर रह जाता है तथा केवल वह ही अपने पिता की सम्पत्ति विरासत के रूप में प्राप्त करता है तथा वैध उत्तराधिकारी बनता है।

बाजार (हाट)

कुछ भोजन संग्रहक तथा शिकारी जनजातियों के अतिरिक्त, बाजार की संस्था, किसी न किसी रूप में भारत की सभी जनजातियों में विद्यमान है। फिर भी, नियमित बाजार अब भी उनमें दुर्लभ हैं। अधिकांश मामलों में लोग एक निर्धारित स्थान पर निश्चित समय पर एकत्र होते हैं तथा अपनी वस्तुओं का एक दूसरे से विनिमय करते हैं। इस प्रकार के बाजार साधारणतया साप्ताहिक अथवा पाक्षिक होते हैं। जनजातीय क्षेत्रों में लगने वाला बाजार सामान्यतः स्थानीय प्रयोग की वस्तुओं का व्यापार करते हैं जैसे– सब्जी, मांस, मसाला, नमक, बर्तन, कृषि उपकरण, वस्त्र तथा प्रसाधन सामग्री आदि। जनजातीय लोग भी इनमें से कुछ बाजारों में दिलचस्पी रखते हैं जिनमें वे स्थानीय उत्पाद को सस्ती दरों पर खोजने के उद्देश्य से जाते हैं। उनका सौदा अधिक सरल हो जाता है जब वे सरल जनजातीय लोगों को उत्पाद से आकृष्ट कर लेते हैं तथा बहुत ही सस्ते मूल्य

पर स्थानीय उत्पाद ले जाते हैं।

जनजातीय बाजार सामान्यतः दिन के समय कुछ घंटों के लिए लगते हैं। कुछ बाजार वर्ष में केवल एक बार लगते हैं तथा कई दिनों तक चलते हैं। मध्य प्रदेश के बस्तर क्षेत्र में इस प्रकार के बाजारों को "माराई" कहते हैं। ये बाजार सामान्यतः फसल के बाद लगते हैं तथा लोग अपने परिवार के साथ इनमें जाते हैं तथा वर्ष भर के लिए आवश्यक वस्तुओं का क्रय करते हैं। इस प्रकार वे बाजार उत्सव का दृश्य प्रस्तुत करते हैं जहाँ लोग गाते और नाचते हैं तथा समस्त प्रकार के हँसी-मजाक होते हैं। ये बहु प्रकार के प्रयोजन की पूर्ति करते हैं। दूरस्थ रिश्तेदार एक दूसरे से मिलते हैं, विवाह तय होते हैं, स्थानीय राजनीति की चर्चा होती है तथा इस प्रकार वार्षिक बाजारों का बहुत अधिक सामाजिक तथा सांस्कृतिक महत्त्व होता है। अधिक शुद्ध रूप में जनजातीय बाजार न केवल विक्रेता व क्रेता की कुछ आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं वरन् सांस्कृतिक परिवर्तन के एक अभिकर्त्ता के रूप में भी कार्य करते हैं।

राजनैतिक संगठन (Political Organization)

राजनैतिक व्यवस्था का सम्बन्ध सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था के उस पक्ष से है, जिसका सरोकार समाज के अन्तर्गत भौतिक बल प्रयोग के नियंत्रण एवं सामंजस्य तथा विभिन्न वर्गों एवं उनके सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्धों के सामंजस्य से होता है। भारत की जनजातियाँ अपनी विभिन्न औद्योगिक दशाओं व परिस्थितिकीय परिवेशों के कारण विभिन्न राजनीतिक व्यवस्थाओं को प्रदर्शित करती हैं। एक ओर हम कादार, इरुला, चेन्चू आदि दक्षिण भारत की यायावर, संग्रहक-शिकारी जनजातियाँ पाते हैं जो अब भी अत्यन्त निम्न प्रौद्योगिक स्तर पर जीवन व्यतीत कर रही हैं, जबकि दूसरी ओर मेघालय की खासी और गारो पहाड़ियों तथा अरुणाचल प्रदेश की अपातानी जैसी जनजातियाँ हैं, जो कृषि तथा उद्यान, कृषि की उच्च विकसित रीतियों की सहायता से बड़े आराम का जीवन व्यतीत कर रही हैं। इन जनजातियों में भेद उनके हिन्दुओं तथा ईसाइयों के साथ घनिष्ठता के आधार पर भी कर सकते हैं। एक ओर छोटा नागपुर क्षेत्र तथा मध्य प्रदेश की हिन्दू जनजातियाँ हैं तो दूसरी ओर मेघालय, असम, नागालैण्ड तथा मिजोरम की ईसाई जनजातियाँ हैं जो अत्यन्त उच्च एवं विकसित स्तर पर हैं। ये उदाहरण इस बात पर बल देते हैं कि भारत की जनजातियाँ अब एक अखण्ड जनसमूह नहीं हैं बल्कि विभिन्न सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों के अन्तर्गत रहने वाले विविध सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक समूहों का संग्रह है। इस आश्चर्यजनक विविधता के फलस्वरूप, इन जातियों ने राजनैतिक संगठनों का एक विस्तृत क्षेत्र विकसित कर लिया है। इस प्रकार हम एकतंत्रीय तथा केन्द्रीय सत्ता के साथ-साथ उच्च विकेन्द्रित राजनैतिक संगठनों का एक समूह पाते हैं। अब हमें तीन भौगोलिक मंडलों में विभाजित भारत की जनजातियों के राजनैतिक संगठन का परीक्षण करना चाहिए।

उत्तर-पूर्वी जनजातियों में राजनैतिक संगठन

इस भौगोलिक मण्डल में असम, अरुणाचल प्रदेश, मेघालय, नागालैण्ड, मिजोरम, मणिपुर तथा त्रिपुरा सम्मिलित हैं। खासी, गारो, लुशाई, जैन्तिया, अपातानी तथा विभिन्न नागा जनजातियाँ भारत के इस प्राकृतिक सौन्दर्य के धनी क्षेत्र में बसने वाली जनजातियाँ हैं। असम की

जनजातियों ने जनतांत्रिक राजनैतिक संगठन को संस्थापित किया है। इनमें से अधिकांश जनजातियाँ भूमि के सामूहिक स्वामित्व को मान्यता प्रदान करती हैं तथा भूमि पर वैयक्तिक अधिकार को सम्मानपूर्वक नहीं देखतीं। एक गाँव के लोग अपनी इच्छानुसार खेती करने के लिए स्वतंत्र होते हैं। यद्यपि विभिन्न परिवारों के आर्थिक स्तर भिन्न हैं फिर भी इस विविधता ने किसी प्रकार के सामाजिक भेदभाव को विकसित नहीं होने दिया।

यद्यपि अधिकांश जनजातियाँ बहिर्वैवाहिक गोत्रों में विभाजित हैं, अन्य लोग बिना गोत्र प्रणाली के ग्राम समुदायों में अपने शासक के अधीन रहते हैं जो शेष ग्रामों से स्वतंत्र हैं। खासी लोगों में मुखिया की मर्यादा ज्येष्ठतम बहिन के ज्येष्ठतम पुत्र द्वारा वंशानुगत होती है। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके ज्येष्ठतम भ्राता अथवा नाती, यदि पुरुष उत्तराधिकारियों का अभाव होता है, ज्येष्ठतम बहन (अथवा ज्येष्ठतम बहन की पुत्री) को उत्तराधिकार का हक होता है। राजनैतिक रूप से खासी क्षेत्र अतीत में, बीस खासी राज्यों में बँटा हुआ था, जो स्वतंत्र थे। यद्यपि "सियम" नामक प्रमुख, मुखियागिरी में था तथापि प्रशासन जनतांत्रिक था। खासी प्रमुख को भूमि अथवा वनों पर कोई अधिकार नहीं होता। वह कर तथा नये कानून अथवा नीति नहीं लागू कर सकता था। निर्णय सामान्य सहमति के आधार पर एक संगति में लिये जाते थे जो एक खुला अधिवेशन होता था, जिसमें राज्य के समस्त प्रौढ़ पुरुष भाग लेते थे। इस प्रकार की संगतों में उपस्थिति अनिवार्य होती थी।

इसी प्रकार यद्यपि लुशाई जनजाति का मुखिया खासी "सियम" की अपेक्षा अधिक प्रभुतासम्पन्न होता है, तथापि समान रूप से ग्राम के वरिष्ठ व्यक्तियों की राय अथवा परामर्श की अनदेखी करना उसके लिए कठिन है। यद्यपि यह पद वंशानुगत होते हैं, प्रशासन पूर्ण रूपेण जनतांत्रिक सिद्धान्तों के अनुसार चलाया जाता है। उत्तरी कछार जनपद की जनजातियों में वंशानुक्रम तथा निर्वाचन के सिद्धान्त साथ-साथ कार्य करते हैं। जनजातीय समस्याएँ एक खुले न्यायालय में ग्राम के सभी पुरुषों की उपस्थिति में तय किए जाते हैं। किसी अपराधी के सम्बन्ध में लिया गया निर्णय सभी ग्रामीणों द्वारा लिया गया सामूहिक निर्णय माना जाता है। ग्राम के बुजुर्ग एक अनौपचारिक परिषद् का गठन करते हैं तथा वे ग्राम अथवा ग्रामों के समूह के समक्ष आने वाली समस्याओं पर विचार-विमर्श करते हैं।

गारो जनजाति का राजनैतिक संगठन भी जनतांत्रिक नियमों के अनुसार संचालित होता है। वास्तव में गारो लोगों का कोई मुखिया नहीं होता है। एक मुखिया केवल नाम का प्रमुख होता है जबकि महत्त्वपूर्ण मामलों का निर्णय बुजुर्गों अथवा परिवारों के मुखियों से गठित ग्राम्य परिषद् द्वारा किया जाता है। स्टीफेन फूकस (1973) ने मिकिर लोगों के राजनैतिक संगठन का वर्णन करते हुए कहा है कि उनका ग्रामीण प्रशासन तिहरा होता है, निम्नतम पद की पूर्ति "अचोम असार" द्वारा होती है, जो सामान्यतः एक प्रभावशाली बुजुर्ग तथा मिकिर रस्म रिवाजों से भली प्रकार परिचित व्यक्ति होता है। उसकी नियुक्ति "हैब", जो उससे उच्चतम अधिकारी है, द्वारा की जाती है जो ग्राम का मुखिया होता है तथा जिसका अधिकार क्षेत्र ग्राम की सीमा के बाहर नहीं जाता। "हैब" की नियुक्ति एक "पिन्पो" द्वारा की जाती है जिसकी नियुक्ति जैन्तिया शासक द्वारा मिकिर पहाड़ियों का प्रशासन करने हेतु अपने प्रतिनिधि के रूप में की जाती थी। अब पिनिपों के भी नौ

घराने हैं तथा उनका पद वंशानुगत है। प्रत्येक "पिन्पो" का चयन उसी कुल से किया जाता है जिससे उसका पूर्वाधिकारी सम्बन्धित था।

नागा जनजातियों के राजनैतिक संगठन में अत्यधिक विविधता पाई जाती है। कुछ नागा जनजातियाँ प्रमुखों के अधीन होती हैं, जो उन पर लगभग एकतंत्रीय प्रशासन करते हैं, जबकि अन्य जनजातियाँ जनतांत्रिक ग्राम्य परिषदों का गठन करती हैं जिनमें मुखिया को नाममात्र का अधिकार होता है। अधिकांश नागा जनजातियाँ एक दूसरे से युद्ध करती हैं तथा हिंसक प्रतिरोध उनका नियम है किन्तु इसे सामाजिक-ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखा जाना चाहिए। बहुत से लोग आश्चर्य करते हैं कि ऐसी अराजकता एवं अव्यवस्था की स्थिति में स्थायी प्रशासन कैसे स्थिर रह सकता है जहाँ प्रत्येक व्यक्ति अपने आप में ही एक कानून है। किन्तु इन सीमाओं तथा ऐसी परिस्थितियों में भी लचीले प्रकार का राजनैतिक संगठन सदैव विद्यमान रहा है। कोन्याक नागा एक प्रमुख के अधीन होते हैं जो अति पवित्र तथा निषिद्ध व्यक्ति होता है तथा प्रायः अनेक ग्रामों पर पूर्ण अधिकार के साथ शासन करता है। उसे जनजातीय भाग्यगुण अथवा उसके जीवन सिद्धान्त का ज्ञाता माना जाता है। कुछ ग्रामों में वह इतना अधिक निषिद्ध होता है कि उसे भूमि स्पर्श करने की अनुमति नहीं दी जाती तथा यात्रा में उसे उठाकर ले जाया जाता है।

अंगामी नागाओं में आधारिक इकाई ग्राम नहीं है बल्कि जनसंख्या का एक उपमंडल है, जो इस प्रकार एकत्रित होकर "खेल" अथवा "टेप्फू" कहलाता है, जो बहिर्विवाहवादी होता है तथा जिसका वंश एक ही पूर्वज से माना जाता है। इन लोगों में गुटबाजी तथा हिंसात्मक लड़ाइयाँ बहुत होती हैं। नागा जनजातियों के राजनैतिक संगठन को सदैव दैवीय तथा प्राकृतिक खतरों से सुरक्षात्मक संरक्षा की आवश्यकता रही है। हीमेन डार्फ (1976) का मत है कि पवित्र प्रमुखों की संस्था, जिन्हें अति प्राकृतिक के पक्ष में उचित परिवार में जन्म लेकर काम करना पड़ता था तथा जो समाज की उत्पादक शक्तियों को आन्दोलित कर सकते थे, इन खतरों के विरुद्ध एक सुरक्षा तंत्र की तरह थी।

मध्य भारतीय जनजातियाँ

बिहार, मध्य प्रदेश तथा उड़ीसा की जनजातियाँ भारत की सबसे बड़ी जनजातीय पट्टी का निर्माण करती हैं। इन जनजातियों में कुल एकात्मकता पर आधारित राजनैतिक संगठन के कुछ गुण पाये जाते हैं। वयोवृद्धों की परिषद् की सहायता से ग्राम का प्रमुख, ग्राम का प्रशासन देखता है। इस परिषद् में आम राय अथवा बहुमत के आधार पर निर्णय लिये जाते हैं तथा प्रमुख को बहुमत के निर्णय को उलटने का अधिकार नहीं होता।

ओराँव, गोंड तथा भील संख्या की दृष्टि से इस मंडल की सबसे महत्त्वपूर्ण जनजातियाँ हैं। ओराँव लोगों ने 'परहा' संगठन का विकास किया है जो अनेक पड़ोसी ग्रामों का राज्य मंडल (संघ) होता है जिसके केन्द्रीय संगठन को 'परहा' कहा जाता है। प्रत्येक ओराँव 'परहा' में अनेक गाँव होते हैं। इनमें से एक गाँव राजा ग्राम कहलाता है, दूसरा दीवान ग्राम, तीसरा पानेर ग्राम (राजा का लिपिक), चौथा कोतवाल ग्राम आदि-आदि। वे ग्राम जिनका इस प्रकार कोई नाम नहीं होता है वे प्रजा ग्राम कहलाते हैं। "राजा ग्राम", "परहा" का प्रमुख ग्राम होता है। यद्यपि 'परहा' के प्रत्येक

कार्यकर्त्ता के पास अब कोई विशिष्ट पदचिह्न नहीं होता है, प्रत्येक परहा ग्राम का अपना विशिष्ट ध्वज तथा बिल्ले होते हैं जिसका प्रयोग किसी दूसरे ग्राम द्वारा नहीं किया जा सकता। कानून तथा व्यवस्था बनाये रखना, एक दूसरे ग्राम में झगड़ों का निपटाना भी परहा परिषद् के कार्य हैं। टी.वी. नायक (1964) हमें बताते हैं कि 'परहा' के विभिन्न ग्राम एक साथ युद्ध करते हैं, शिकार करते हैं तथा निर्धारित अवसरों पर नृत्य समारोहों, सामाजिक भोजों तथा विचारण एवं न्यायिक समितियों के अवसर पर एक दूसरे से मिलते हैं। संथालों तथा मलेरों में निम्नतम राजनैतिक प्राधिकारी ग्राम प्रमुख होता है जिसे "माझी" कहते हैं। वह तथा ग्राम के वयोवृद्ध मिलते हैं तथा ग्राम की समस्याओं के सम्बन्ध में बातें करते हैं। ग्राम प्रमुख को विवाहों तथा अन्य भोजों के अवसर पर उपहार पाने का अधिकार होता है तथा उसके पास किराया मुक्त भूमि होती है। माझी दीवानी तथा नैतिक प्राधिकारी होता है। अपने दीवानी मामलों में उप प्रमुख जिसे "परानिक" कहते हैं, द्वारा सहायता की जाती है।

मुण्डा जनजाति में ग्राम प्रमुख को उसी नाम से जाना जाता है अर्थात् मुण्डा जबकि उसके धार्मिक प्रतिस्थानी को "पाहन" कहते हैं, लगभग बीस ग्राम मिलाकर एक पट्टी अथवा "परहा" का निर्माण करते हैं तथा जो सामान्यतः ग्राम प्रमुखों के समूह में सर्वाधिक प्रभावशाली होता है। मुण्डा तथा पाहन पुश्तैनी अधिकारी होते हैं।

गोंड लोगों की आधारिक राजनैतिक इकाई ग्राम समुदाय है। ग्राम प्रमुख को "पटेल", "मण्डल" अथवा "मोई" कहा जाता है। ग्राम के मामले को तय करने में ग्राम के वयोवृद्ध उसकी सहायता करते हैं यद्यपि बस्तर के हिन्दू राजा के पास गोंडों पर कोई राजनैतिक अधिकार नहीं है, तथापि वह समस्त गोंड समूहों में परम्परागत तौर पर अपार श्रद्धा का केन्द्र रहा है। बाईसन हार्न मारिया लोगों में एक दिलचस्प राजनैतिक संगठन यह है कि धार्मिक कर्मकाण्डों तथा समारोहों के लिए उत्तरदायी पुरोहित तथा चिकित्सक ग्राम प्रमुख से अधिक प्रभावी होते हैं।

दक्षिण भारतीय जनजातियाँ

इस तथ्य की दृष्टि से यह जनजातीय मण्डल अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि यह संसार की सबसे अधिक आर्थिक तथा प्रौद्योगिक दृष्टि से पिछड़ी जनजातियों का निवास स्थान है। इस मण्डल की अधिकांश जनजातियाँ वनों अथवा कृषक के ग्रामों के सीमांत में छोटे-छोटे समूहों में रहती हैं। सामान्यतः वे अपना अलग जीवन व्यतीत करते हैं तथा वे बाहरी लोगों से सम्पर्क करने तथा उनके हस्तक्षेप से बचते हैं। वे अकेले रहना चाहते हैं।

अण्डमान तथा निकोबार की जनजातियाँ, अब भी आर्थिक विकास के संग्रहण आखेट चरण पर जीवन व्यतीत कर रही हैं। यद्यपि उनमें से अधिकांश यायावर (घुमक्कड़) समूह हैं तथापि वे एक निश्चित भौगोलिक मण्डल के अन्तर्गत भ्रमण करते हैं। प्रत्येक स्थानीय समूह में पाँच से दस परिवार होते हैं, तथा प्रत्येक समूह का अपना प्रमुख होता है। स्थानीय समूह स्वतंत्र रूप से रहते तथा कार्य करते हैं फिर भी विशिष्ट आखेट-आयोजनों अथवा कतिपय त्योहारों के अवसरों पर अस्थायी रूप से मिल जाते हैं। स्थानीय समूहों के प्रमुख अपने-अपने स्थानीय समूहों के मामलों की चिन्ता रखते हैं। कुछ अन्य यायावर जनजातियों में एक बस्ती के प्रमुख जैसी संस्था नहीं होती है।

जब कभी समस्याएँ उत्पन्न होती हैं तथा उन पर निर्णय लेना आवश्यक होता है तो एकाकी परिवारों के प्रमुख साधारणतया एकत्र होते हैं तथा समूहों के मामलों को तय करते हैं। इसी प्रकार अल्लार तथा अरन्डार जातियों के प्रमुख नहीं होते। समुदाय के मामलों की वयोवृद्धों के समूहों में चर्चा की जाती है तथा लोग इसका निर्णय मानने के लिए बाध्य होते हैं जो असहमत होते हैं वे उस समूह को त्याग देते हैं तथा दूसरे समूह में सम्मिलित हो जाते हैं। कादार लोगों में, जो भोजन संग्रहण करने वाली एक जनजाति है, प्रमुख की वंशानुगत संस्था का अस्तित्व समाप्त हो चुका है।

केरल की अदियार जनजाति में प्रमुख का पद वंशानुगत है। यदि कोई पुत्र इस पद हेतु अनुपयुक्त होता है तो भतीजा उसे विरासत में प्राप्त करता है। प्रमुख का एक विशिष्ट पदनाम होता है किन्तु वह निरंकुश शासक नहीं होता है। वह केवल वयोवृद्धों की बैठक की अध्यक्षता करता है जिसमें समुदाय के मामलों पर विचार-विमर्श होता है। फिर भी विवाह, तलाक जैसे महत्त्वपूर्ण कार्यों में उसकी स्वीकृति आवश्यक होती है तथा वह अंतिम संस्कार संबंधी समारोहों की अध्यक्षता करता है।

धार्मिक व्यवस्था (Religious System)

धर्म को किसी वस्तु अथवा शक्ति, जो अधिप्राकृतिक (अलौकिक) तथा परम संवेदनात्मक है, के भय के प्रति मानव की एक अनुक्रिया कहा गया है। इसे सभ्यता का उत्पाद माना जाता रहा है जब तक कि टायलर ने विश्वासप्रद ढंग से साबित नहीं कर दिया कि आदिम समाजों की उनकी अपनी प्रकार की धार्मिक क्रियाएँ होती हैं, जो सभ्य समाजों से बहुत अधिक भिन्न नहीं होती हैं। जब से उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में टायलर के विचार प्रकाशित हुए हैं, किसी भी नृजातिशास्त्री ने किसी भी आदिम समाज का वर्णन बिना धार्मिक विश्वासों तथा व्यवहारों के नहीं किया है।

जनजातीय भारत धार्मिक विश्वासों तथा व्यवहारों का रंगीन परिदृश्य प्रस्तुत करता है, जो उनकी सांस्कृतिक-पारिस्थितिक दशाओं के साथ उनके समायोजन की अभिव्यक्ति है। चालीस के दशक के अन्तिम वर्षों तक भारत में जनजातीय धर्मों को विभिन्न जनगणना रिपोर्टों तथा साहित्यों में 'जीववाद' की संज्ञा दी गयी है। जीववाद का अभिप्राय धर्म के अपरिष्कृत स्वरूप से था जिसमें जादू अत्यन्त प्रधान तत्त्व है। यह मनुष्य की कल्पना एक ऐसे जीवन से गुजरते हुए करता है जो भुतही संगति की शक्तियों तथा तत्त्वों से घिरा हुआ है तथा जिसका स्वरूप अधिकांशतः अवैयक्तिक प्रकार का है। इनमें से कुछ को जीवन के विविध भागों पर अधिशासी शक्तियों के रूप में माना जाता है। प्रत्येक शक्ति के प्रभाव का अपना क्षेत्र होता है। इस प्रकार एक आत्मा विभिन्न प्रकार की बीमारियों पर अधिष्ठात्री शक्ति वाली हो सकती है, चट्टानों, नदियों तथा झरनों में रहने वाली आत्माएँ इत्यादि। इनके प्रभाव से सम्बद्ध विपत्तियों से बचाव के लिए इनकी बड़ी परिश्रमपूर्वक आराधना की जाती है।

आत्माएँ प्रत्येक स्थान पर निवास करती हैं तथा मनुष्यों को रोगों से मुक्ति एवं दीर्घ जीवन हेतु उनके साथ शान्तिपूर्वक रहना पड़ता है। यदि कोई व्यक्ति रोगग्रस्त हो जाता है तो सामान्य विश्वास है कि किसी सम्बन्ध का उल्लंघन हुआ है। जादू तथा इन्द्रजाल की कला में कुशल पुरुष

तथा महिला निश्चय करते हैं कि दुःखी व्यक्ति के लिए क्या किया जाना चाहिए। अधिक परिष्कृत समाजों में कुछ स्थान यथासम्भव एक दीवार से घिरा हुआ तथा छत से ढका हुआ विशेष रूप से पवित्र अंकित कर दिया जाता है किन्तु जीववादी जनजातियों में सभी स्थान पवित्र माने जाते हैं क्योंकि उन्हें आत्मा का स्थान माना जाता है।

कोरवा लोगों में एक आत्मा फसलों, वर्षा, पशुओं की अधिष्ठात्री होती है। इसके अतिरिक्त अनेक आत्माएँ होती हैं जो कोरवा लोगों के उनके पड़ोसियों, पुरोहितों, प्रमुखों आदि के प्रति अभिवृत्ति को निर्धारित करती हैं। जीववादी, हितकारी तथा अहितकारी दोनों प्रकार की आत्माओं में विश्वास करता है जिन्हें मनुष्य के भाग्य को प्रभावित करने वाला माना जाता है। हितकारी आत्माओं की ओर कोई ध्यान नहीं देता है क्योंकि उनसे कोई भयभीत नहीं होता है। इस प्रकार उदाहरणार्थ, महान् सूर्य देवता, मुण्डा जनजाति के सिंगबोंगा की उपासना बहुत ही कम की जाती है क्योंकि वह सौम्य है तथा किसी को हानि नहीं पहुँचाता है। यह आदिम धर्मों का प्रारूप प्रमाणक चिह्न है। उनका अधिक सरोकार सारी शक्तियों, भयों तथा मन्शाओं से होता है किन्तु उन लोगों को दोष देना उचित नहीं होगा, जो निरन्तर प्रेतात्माओं एवं आत्माओं के भय से जीवन व्यतीत करते हैं। सभी लोगों की अपनी आशाएँ तथा भय होते हैं, तथा जनजातीय धर्म के इस एक तत्त्व को ही लक्षित करना तथा यह कहना कि उनका जन्म भय से होता है, उनके प्रति अन्याय करना है।

छोटा नागपुर की मुण्डा, ओराँव तथा 'हो' जैसी जनजातियाँ एक अतिप्राकृतिक (अलौकिक) शक्ति में विश्वास करती हैं, जिसे उनकी बोली में 'बोंगा' कहा जाता है। 'हो' लोगों में बोंगा को अनिश्चितता तथा अवैयक्तिकता की शक्तियों के रूप में अस्पष्ट रूप से समझा जाता है, तथा उनका कोई वस्तुनिष्ठ आभास अथवा अस्तित्व नहीं होता है। मुण्डा जीवन पर बोंगा की व्यापक श्रेष्ठता केवल मानवत्वारोपण (anthropomorphism) की सीमा प्रदर्शित करती है। अवैयक्तिक बोंगा स्वप्न को माध्यम बनाकर पूर्व कथन के लिए प्रयोग करता है। दिवास्वप्नों का प्रयोग बुरी वस्तुओं की पूर्व चेतावनी के रूप में किया जाता है। बोंगा एक अस्पष्ट अलौकिक शक्ति का प्रतीक होता है तथा सम्पूर्ण ऊर्जा का कारण होता है। अब बाइसिकिल भी एक बोंगा बन गयी। शक्तिशाली वाष्प इंजन एक बोंगा है तथा वायुयान ऊपर की अपेक्षा और भी बड़ा बोंगा है। लोगों में शक्ति प्रतिष्ठा आदि में अन्तर किसी व्यक्ति द्वारा आविष्ट बोंगा शक्ति की मात्रा के कारण माना जाता है।

भारत में शायद ही कोई ऐसी जनजाति हो जो मृतक की आत्मा का सम्भाव्य आध्यात्मिक शक्ति के रूप में परिवर्तित होने में विश्वास न करती हो। यह विश्वास किया जाता है कि ये आत्माएँ घनिष्ठ सम्बन्धियों से सम्पर्क बनाये रखती हैं। उनमें पूर्वजों की पूजा इसी विश्वास का तार्किक प्रतिफल प्रतीत होता है। नीलगिरि पहाड़ियों के टोडा तथा छोटा नागपुर के हो को अन्तिम संस्कार के पश्चात् से आत्मा की अन्तिम तथा सदा के लिये विदाई को सुनिश्चित करना होता है। टोडा लोग इस प्रकार के दूसरे समारोह से लौटते समय काँटे फैलाते आते हैं ताकि अपकारी प्रेतात्मा उनके ग्राम में प्रवेश न कर सके।

भारत की अधिकतर जनजातियाँ यह विश्वास करती हैं कि मृत्यु के पश्चात् जीवन समाप्त नहीं होता है तथा वह किसी रूप में विद्यमान बना रहता है। पूर्वजों की आत्माओं की आराधना तथा

पूजा इसी विश्वास का फल प्रतीत होता है। मध्य भारत की जनजातियाँ यह विश्वास करती हैं कि उनके पूर्वजों की आत्माएँ रोगों में अन्य दुष्टात्माओं को दूर भगाने हेतु सहायता में आती हैं। छत्तीसगढ़ की जनजातियाँ विशेष समारोहों द्वारा अपने पूर्वजों की आत्माओं का आह्वान करती हैं।

बहुत सी जनजातियों द्वारा यह विश्वास किया जाता है कि कुछ वस्तुएँ कुछ आध्यात्मिक शक्तियों से आविष्ट होती हैं। इस प्रकार किसी न किसी प्रकार उत्सव मनाना इन जातियों को मार्गदर्शन सिद्धान्त देता प्रतीत होता है। इस प्रकार की वस्तुओं की पूजा में जादू का तत्त्व विद्यमान होता है जिसका विस्तार और आगे धार्मिक जादुई प्रकार के विश्वासों एवं पद्धतियों तक होता है। उड़ीसा के बोण्डों एक विशिष्ट तलवार की पूजा इस विश्वास से करते हैं कि वह उन्हें अतीत युग के शक्तिशाली राजपूत योद्धाओं से सम्बन्धित करती है। एक विशेष अवसर पर बोण्डों लोग एक पवित्र पेड़ के निकट एकत्र होते हैं, तथा तलवार को मोटे बेलबूटों में छिपा दिया जाता है। कुछ कर्मकाण्डों को करने के पश्चात् पुरोहित पेड़ पर चढ़ता है तथा अपने दाहिने हाथ में तलवार पकड़कर उतरता है।

अब एक बकरे तथा मुर्गे की इस तलवार से बलि दी जाती है तथा भक्त इस तलवार से टपकने वाली रक्त बूँदों को प्राप्त करने के लिए एक दूसरे से स्पर्धा करते हैं जो रक्त पा जाते हैं वे उसे अपने मस्तक पर पोतते हैं। पुरोहित प्रार्थनाओं के मध्य, भक्तों के लिये आत्मा का आह्वान करते हैं। इसके पश्चात् तलवार को अगले उत्सव तक के लिए पेड़ की बेल में छुपा देते हैं। बस्तर के मुड़िया लोगों के पास गाँव का एक बड़ा नगाड़ा होता है तथा वे विश्वास करते हैं कि ये उनके प्रमुख देवता लिंगापान का निवास है, जो उनके कल्याण की चिन्ता करता है।

हिन्दूवाद, ईसाई-धर्म तथा जनजातीय देवकुल

जनजातीय धर्मों तथा विस्तृत हिन्दू धर्म में सम्बन्ध की समीक्षा करते हुए मजूमदार सही आलोचना करते हैं कि यद्यपि यह सत्य है कि भारत में जनजातीय धर्मों का जीववाद से सम्बन्ध है किन्तु यही समग्र सत्य नहीं है।

इन धर्मों को जीववाद की 'रद्दी की टोकरी' से निकालने का श्रेय हट्टन को जाता है। सम्पूर्ण भारत से प्राप्त प्रमाणों के आधार पर उन्हें हिन्दू धर्म तथा जनजातीय धर्म में तीक्ष्ण रेखा खींचना कठिन लगा। यही नहीं कि दोनों उसके द्वारा एक दूसरे से भिन्न समझे जाते थे अपितु उन्होंने पाया कि दोनों एक दूसरे में संगठित हैं तथा एक ही कोटि के हैं। वह उस प्रसिद्ध कथन के लेखक हैं कि जनजातीय धर्म एक प्रकार की फालतू सामग्री है जिसका निर्माण अब तक के हिन्दू धर्म के मन्दिर में नहीं हुआ है। वह इस सामग्री को उस सामग्री के समान पाते हैं जिसका प्रयोग उत्तर-वैदिक हिन्दू धर्म के निर्माण में हुआ है।

एल्विन ने भी अपने विभिन्न निबन्धों में जनजातीय धर्मों तथा हिन्दू धर्म में भेद करने की व्यर्थता की ओर संकेत किया है। वह आगे संकेत करते हैं कि जनजातीय लोग सदैव कुछ देवताओं की उपासना करने के इच्छुक रहते हैं यदि ऐसा करने से वे कुछ सामग्री अथवा सामाजिक सुविधाएँ अथवा लाभ प्राप्त कर सकते हों तो यह बात उनके हिन्दुओं तथा ईसाई मिशनरियों के सम्पर्क से प्रमाणित है। अजनजातीय लोगों से सम्पर्क अनेक जनजातीय समूहों के धार्मिक विश्वासों में परिवर्तन

लाने में निमित्त सिद्ध हुआ है। अनेक मामलों में इस सम्पर्क ने अनुकूलन हेतु अधिक उत्तर माध्यम प्रदान कर जनजातीय समूहों को एक नया जीवन प्रदान किया है। जैसा कि ए. के. बोस (1971) कहते हैं कि ईसाई धर्म निस्सन्देह अधिक समृद्धिशाली जीवन का सन्देश लाया है तथा परिवर्तित लोगों के लिए सम्मान की भावना तथा मित्रता का अधिक विस्तृत क्षेत्र प्रदान किया है। किन्तु यह दिलचस्प बात है कि ईसाई धर्म सदैव ही आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता के विश्वास से आकृष्ट रहा है, और ऐसा विशिष्ट रूप से ब्रिटिश शासनकाल में रहा है जब धर्मान्तरित व्यक्ति अपने देशवासियों की अपेक्षा ब्रिटिश शासकों से अधिक निकटता अनुभव करते थे। केवल स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् से ही अपनी मूल संस्कृति के प्रति इनको प्रोत्साहित किया गया है। अब इसे स्वीकृति प्राप्त हो रही है कि एक ऐसा ईसाई धर्म हो सकता है जो अपने अनुयाइयों को अपनी संस्कृति तथा सभ्यता से दूर नहीं करता। तथापि अब तक जनजातियों में पश्चिमीकरण का प्रमुख अभिकरण, जिसे प्रायः आधुनिकीकरण समझा गया, ईसाई मिशनरी उद्यम रहा है। छोटा नागपुर और उड़ीसा तथा पश्चिम बंगाल और उत्तर-पूर्वी क्षेत्र तक फैले हुए झारखंड क्षेत्र की जनजातियाँ हिन्दू धर्म तथा ईसाई धर्म से सम्पर्क के परिणाम का सर्वोत्तम उदाहरण हैं। जनजातीय लोगों का हिन्दू धर्म अथवा ईसाई धर्म से सम्बन्ध एक दूसरे से भिन्न रहा है क्योंकि हिन्दू धर्म एक धर्मान्तरणवादी धर्म नहीं रहा है तथा दूसरी बात यह है कि उत्तरी-पूर्वी क्षेत्र की जनजातियों के अतिरिक्त भारत की अधिकांश जनजातियाँ हिन्दू धर्म से बहुत अधिक प्रभावित रही हैं। यद्यपि हिन्दू धर्म जनजातीय जीवन तथा संस्कृति पर बिना अग्रसर हुए प्रभाव डालता रहा है। ईसाई धर्म ने उन्नीसवीं शताब्दी से गहन प्रभाव छोड़ना प्रारम्भ कर दिया। हिन्दुओं के साथ उनके सम्पर्क ने क्रमशः हिन्दू देवताओं, त्योहारों तथा धार्मिक विश्वासों को ग्रहण करने का मार्ग प्रशस्त कर दिया। इससे उनका अतीत में कोई उल्लेखनीय विघटन नहीं हुआ। जनजातियों ने इन्हें अपने देवताओं के त्यागे बिना ही ग्रहण किया। जैसाकि इस अध्ययन से पहले चर्चा की गयी है। जनजातियों ने स्वेच्छापूर्वक कुछ और देवताओं की पूजा करना स्वीकार कर लिया। किन्तु ईसाई धर्म के विषय में ऐसा नहीं था। इसका अर्थ अतीत से पूर्ण विच्छेद था। ईसाई पादरियों तथा मिशनरियों ने उन्हें विश्वास दिलाया कि उनके देवता धर्मनिंदात्मक तथा अश्लील थे। कभी-कभी इससे भी उनके जीवन का विघटन हुआ।

हिन्दुओं से संस्कृति सम्पर्कों के फलस्वरूप महादेव की पूजा किसी न किसी रूप में केवल ओराँव अपितु गोंड़ लोगों में भी पायी जाती है। लक्ष्मी तथा काली की पूजा अनेक जनजातियों में सामान्य है। छोटा नागपुर की जनजातियों में विष्णु भगत ताना भगत जैसे भगत सम्प्रदाय का विकास भी सीधे तौर पर हिन्दुओं के साथ संस्कृति सम्पर्क से सम्बन्धित है। यह भी दिलचस्प बात है कि बहुत सी जनजातियाँ उन पद्धतियों को लाँघना चाहती हैं अथवा कम से कम छोड़ने का दावा करती हैं जो उनके हिन्दू पड़ोसियों को स्वीकार्य नहीं है ताकि उनकी दृष्टि में इन लोगों का सम्मान हो।

किन्तु ईसाई मिशन का प्रभाव भिन्न है। उसके प्रभाव को स्वीकार करते हुए सच्चिदानन्द (1964) का कथन है कि सम्पूर्ण विश्व में गिरजाघर सामाजिक परिवर्तन का एक सबसे महत्त्वपूर्ण अभिकरण रहा है। किसी भी आदिम लोगों का धर्म अवश्यम्भावी रूप से उस समुदाय की संरचना को परिलक्षित करता है जिनमें वह विकसित होता है। यही बात भारतीय जनजातियों पर लागू होती

है तथा यहीं पर आधारभूत विरोध पाया जाता है। ईसाई धर्म एक अन्य प्रकार की सामाजिक प्रणाली को परिलक्षित करता है जिसमें वंशावली सम्बन्ध इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है। चर्च विश्व व्यापकता का आग्रह करता है तथा एक आधार प्रदान करता है जिसमें मातृत्व की अवधारणा को अधिक विस्तृत किया जाता है जिसमें न केवल रिश्तेदार तथा कुल के लोग अपितु अपरिचितों को भी साथी धार्मिकों के रूप में सम्मिलित किया जाता है। ईसाई धर्म एक नये प्रकार के नेतृत्व से परिचित कराता है तथा सामाजिक नियन्त्रण के एक नये सिद्धान्त से भी पादरी सर्वांगीण नेता बन जाता है पथदर्शक, मित्र, दार्शनिक तथा मार्गदर्शक- पारम्परिक नेता का महत्त्व एकदम समाप्त हो जाता है। पाप तथा प्रतिफल का भय सामाजिक नियंत्रण का शक्तिशाली यंत्र बन जाता है।

इसके साथ ही भौतिक संस्कृति, जीवन के प्रति दृष्टिकोण, विश्व दृष्टि आदि में भी परिवर्तन आते हैं। पोशाक, शिक्षा के प्रति बढ़ते हुए लगाव, चिकित्सा की नयी प्रणाली की स्वीकृति तथा जादू-टोना के प्रति विश्वास की कमी से भी परिवर्तन होते हैं। राजनीतिक सम्बन्ध के लिये वे पादरी की ओर मार्गदर्शक हेतु मुड़ते हैं। इस प्रकार के परिवर्तन मेघालय, मिजोरम, अरुणाचल प्रदेश तथा नागालैण्ड में देखने को मिलते हैं। यह बात भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि मिशन का प्रभाव केवल धर्मान्तरण पर ही दिखायी नहीं देता अपितु उन लोगों पर भी जो ईसाइयों के सम्पर्क में आते हैं तथा जो शिक्षा, उदाहरण आदि द्वारा उनसे प्रभावित होते हैं।

शिरोच्छेदन-आखेट (Head Hunting)

शिरोच्छेदन-आखेट (शिकार जिसमें व्यक्ति का सिर काटकर लाया जाता है) का ज़िक्र आते ही भारत में बहुतों का ध्यान उत्तर-पूर्वी क्षेत्र के निवासी नागा जनजाति के लोगों की ओर जाता है जबकि तथ्य यह है कि विश्व के अनेक देशों में शिरोच्छेदन-आखेट की प्रथा प्रचलित रही है। इस प्रथा के अंतर्गत व्यक्ति का सिर काटकर लाया जाता था और उसे विभिन्न उद्देश्यों से "स्मृति-चिह्न" के रूप में रखा जाता था। गत शताब्दी तक यह प्रथा विश्व के अनेक असभ्य समाजों की भाँति उत्तर-पूर्वी भारत की नागा जनजाति के कुछ समुदायों में भी प्रचलित थी। किन्तु, वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भ अर्थात् लगभग 50 वर्षों से भारत में शिरोच्छेदन-आखेट अतीत का आचरण बन चुका है। यदि वह कभी सामने आया भी है तो असाधारण परिस्थितियों में अपवादस्वरूप ही आया है।

शिरोच्छेदन के शिकारियों का विश्वास था कि जिसका सिर काटकर वह लाते हैं उसकी रूह और उसकी सभी ताकतें उसे प्राप्त हो जाती हैं और वह पहले से ज्यादा ताकतवर हो जाता है। इसके अतिरिक्त वह प्रतिष्ठा का द्योतक भी माना जाता था। उससे आखेटक की उसके समाज में इज्जत बढ़ती थी। यह भी माना जाता था कि शिरोच्छेदन-आखेट से सौभाग्य, अधिक सन्तानें पैदा करने की शक्ति और अच्छी फसल की प्राप्ति होती है। यह शिकारी की शारीरिक शक्ति का द्योतक तो था ही साथ ही यह भी माना जाता था कि इससे इसके शिकारी का पौरुष बढ़ता है। नागा नवयुवकों में शिरोच्छेदन करने की कला और उसकी निपुणता विवाह के लिए एक अतिरिक्त योग्यता मानी जाती थी। मेलेनेशिया की जनजातियों में किसी बूढ़ी औरत का कटा हुआ सिर गंडा-तावीज मानकर बाँस के सहारे ऊँचाई पर लटकाने की प्रथा एक आम बात थी। वे लोग उसे अच्छी पैदावार के लिए "रक्षाकवच" जैसा मानते थे। शिरोच्छेदन-आखेट करने वाले दुनिया भर के सभी

समूहों के लोग आमतौर से शत्रु-समुदाय के किसी महत्त्वपूर्ण व्यक्ति को घात लगाकर मारते या उसका सिर काटते थे। इसमें एक विशेष प्रकार की निपुणता का परिचय देना पड़ता था। शिकारियों में औरतों के सिर की लालसा अधिक रहती थी क्योंकि वे अपेक्षाकृत अधिक सुरक्षा में रखी जाती थीं। अतः औरत का शिरोच्छेदन करने वाले को ज्यादा पराक्रमी माना जाता था। जहाँ तक नागा जनजाति का सम्बन्ध है उसमें यह प्रथा अब पूरी तरह समाप्त हो गयी है। ब्रिटिश सरकार ने इस प्रथा के विरुद्ध बड़ी सख्ती बरती थी और बाद में स्वतंत्र भारत की सरकार ने भी इस कुरीति को खत्म करने के लिए अनेक प्रकार के सामाजिक व राजनैतिक और प्रशासकीय कदम उठाये थे। इन प्रयासों के परिणामस्वरूप परम असाधारण परिस्थितियों को छोड़कर, शिरोच्छेदन-आखेट अब यहाँ पूर्णतः गुजरे हुए ज़माने का किस्सा बन गया है।

शमनवाद (Shamanism)

विश्व भर के जनजातीय और गैर-जनजातीय ग्रामीण समाजों में शमनवाद अथवा शमन (ओझागिरी) व्यापक रूप से पाया जाता है। शमनवाद के अन्तर्गत अंधविश्वास और झाड़फूंक के वे दकियानूसी लटके शामिल हैं जो इस 'सिद्धांत' पर आधारित हैं कि कोई रूह या आत्मा किसी अन्य जीवित व्यक्ति के शरीर में प्रवेश करके तथा उस पर हावी होकर उससे तरह-तरह के कृत्य और अभिचार करा सकती है। इस प्रकार की क्रिया को करने वाले 'शमन' (भारतीय संदर्भ में 'ओझा') कहलाते हैं। भारत के अनेक समाजों में ओझागिरी प्रचलित है। अनुयायी लोगों के विश्वास के अनुसार 'शमन' या 'ओझा' लोगों के पास अति-मानुषी शक्तियाँ होती हैं जो शुभ और अशुभ दोनों प्रकार की होती हैं। अधिकांशतः उनका इस्तेमाल परोपकार के लिए किया जाता है।

जिन समाजों में 'शमनवाद' प्रचलित है उनमें ज्यादातर शमन या ओझा 'विश्वास-चिकित्सक' अथवा 'जनसाधारण का नीम हकीम' जैसा काम करता है। ये लोग ऐन्द्रजालिक अभिचार और जादू-टोने की क्रियाएँ भी करते हैं। "विश्वास चिकित्सक" के रूप में वे पीड़ित व्यक्तियों के लिए विभिन्न प्रकार के पूजा-अनुष्ठान करते हैं और उन्हें वनौषधियों के नुस्खे बताते हैं। जब ये सभी बातें नाकामयाब सिद्ध हो जाती हैं तो शमन या ओझा "भूत-वयार", "शय या आत्मा" आदि से 'परामर्श' करके बाधा शान्ति का उपाय बताता है। उपायों में हवन, टोना-टोटका, पशुबलि आदि कोई भी अद्भुत कृत्य हो सकता है। बिहार, मध्य प्रदेश, उड़ीसा और पश्चिमी बंगाल में ओझागिरी की मज़बूत संस्थाएँ हैं। जनजाति समाज, खासतौर से पुरातन-संस्कारों की जनजातियों के समुदाय, अपने चारों ओर की अनिश्चितताओं से आशंकित और भयभीत रहते हैं। अन्धविश्वास, महामारी, अप्रत्याशित प्राकृतिक विपत्तियाँ, भिन्न समुदायों में परस्पर युद्ध, भूत बाधा और एक दूसरे पर जादू-टोना करने-कराने का कार्य आदि बातें ओझागिरी के अस्तित्व को अब भी बनाये हुए हैं।

युवागृह (Youth Dormitory)

भारत की जनजातियों में युवागृह की संस्था को इतना रूमानी व कामुक बना कर पेश किया गया है कि मानवशास्त्र की पाठ्य पुस्तकों के अतिरिक्त उसके सम्बन्ध में सत्य बहुत कम ही सामने आता है। युवागृह जैसी संस्था आदिम समाजों में सम्पूर्ण संसार में पायी जाती है, तथा इस

प्रकार के एक शयनगृह का अत्यन्त सुन्दर वर्णन महान् अंग्रेज मानवशास्त्री मैलिनोस्की द्वारा ट्री ब्रियाण्ड द्वीप समूह के बुकूमाटूला का है।

मजूमदार (1967) जनजातीय भारत में युवागृहों का विवरण देते हुए कहते हैं कि उभयलिंगी और एकलिंगी युवागृह देश के उन सभी भागों में पाये जाते हैं जहाँ जनजातीय लोग बसते हैं। वे असम में पाये जाते हैं। कोंयाक नागा बालकों के युवागृह को 'बान' नाम से पुकारते हैं तथा बालिका युवागृह को 'यो' कहते हैं। ओओ नागा इसके 'अरीचू' तथा 'मेमिस' दो नामों का प्रयोग करते हैं। पुरुषों के युवागृह को 'इकूची' तथा महिलाओं के युवागृह को 'इलोइची' कहते हैं। अंगामी नागा इसे किचूकी पुकारते हैं। उत्तरी उत्तर प्रदेश के निचले हिमालय क्षेत्र के भोटिया लोगों में भी युवागृह पाये जाते हैं जो इसे रंगाँग कहते हैं। छोटा नागपुर की मुण्डा तथा 'हो' जनजातियाँ भी इसे रखती हैं तथा इसे 'गिटिओरा' नाम से पुकारती हैं। ओराँव लोग इसे 'जोन्करपा' अथवा 'घुमकुड़िया', मुइया उसे 'छगंरबासा' और गोंड 'गोटुल' कहते हैं। दक्षिण भारत में युवागृहों का अस्तित्व मुथुवना, मन्नाम तथा पालियन जनजातियों में पाया जाता है। कुनीकर लोग कुमार भवन रखते हैं जो कुमारों तथा आगन्तुक अतिथियों के रहने का प्रयोजन पूरा करता है। युवागृह की उत्पत्ति का विषय सदैव विवादास्पद रहा है तथा सत्य अतीत के कोहरे तथा अन्धकार में छिपा रहता है। किस प्रकार, कब तथा किन परिस्थितियों में युवागृहों की उत्पत्ति हुई, वाद-विवाद एवं विचार-विमर्श का विषय है। हड्सन का विश्वास है कि ये सामुदायिक गृहों के अवशेष हैं जो गृहों के विकास का प्रथम चरण था और जब सम्पूर्ण गाँव के लोग मिलकर एक साथ रहते थे। कुछ अन्य विद्वान् मत रखते हैं कि युवागृह का अभिकल्प अगम्यगमन (इनसेस्ट) रोकने के लिए, बच्चों को यौन सम्बन्धी दृश्य देखने से बचाने के लिये, अथवा माता-पिता को अपने को अविवाहित युवकों द्वारा देखे जाने से बचाने के लिए, जबकि वे यौन समागम में आबद्ध होते थे, किया गया था। कुछ आदिम समाजों में कृषि कार्य व्यस्तता में चीन समागम निषिद्ध है। अतः पुरुषों के निवास की पृथक् व्यवस्था की जाती है। ऐसे समयों में एकाकी स्त्रियों को एक साथ रहना पड़ता है। इसके अतिरिक्त रजस्वला स्त्रियों को प्रायः अलग कर दिया जाता है। महिला तथा मुड़िया लोगों में पति को घर के अन्दर अपनी पत्नियों के साथ सोने की अनुमति नहीं होती है जब तक नवजात शिशु की नाभिडोरी गिर नहीं जाती है। बहुत-सी जनजातियों में जब तक शिशु स्तन पान त्याग नहीं करते, पुरुषों तथा स्त्रियों में यौन सम्बन्ध की अनुमति नहीं होती। ग्रिगसन की रिपोर्ट है कि पहाड़ी परिया सामान्यतः गृह को यौन समागम के लिये उचित स्थान नहीं मानता। ऊपर वर्णित सभी या कुछ कारण दोनों लिंगों के लिये समान युवागृह की व्यवस्था के लिये उत्तरदायी हो सकते हैं।

भारत की जनजातियों में दो प्रकार के युवागृह पाये जाते हैं। इनमें से कुछ समान अर्थात् बालकों तथा बालिकाओं दोनों द्वारा प्रयोग किए जाने वाले, जैसा कि मुरियाँ गोतुल अथवा केवल एक लिंग तक सीमित हो सकते हैं जैसा कि कोन्याक मोरुंग तथा 'यो' होते हैं।

अधिकतर युवागृह ग्राम के बाहरी छोर पर बने होते हैं ताकि उनके सदस्य गोपनीयता कायम रख सकें तथा बिना किसी बाधा के अपनी क्रियाएँ सम्पन्न कर सकें। युवागृह सामान्यतः विशेष रूप से निर्मित भवन में होता है जो सादा तथा बिना रंग का होता है। जैसा कि ओराँव लोगों का घुमकुड़िया नामक युवागृह एक द्वार तथा नीची छत वाला होता है अथवा नागा लोगों के 'मोरंग'

शयनगृह जैसा नक्काशीदार लकड़ी के दरवाजों वाला होता है, यद्यपि सतही तौर पर युवागृहों के अन्दर का जीवन सुगम सहृदयी प्रतीत होता है, किन्तु जैसा मजूमदार प्रस्तुत करते हैं कि इन आवासों के अन्तर्निश्चित, गहन, सामाजिक, आर्थिक तथा शैक्षिक प्रयोजन हैं। सायंकाल युवक युवागृह में एकत्र होते हैं तथा नृत्यगान, खेल, लोककथाएँ तथा लोकवार्ता जैसे कार्यक्रमों में शामिल होते हैं तथा बाद को रात में साथ सोते हैं। इसके सदस्य वरिष्ठ तथा कनिष्ठ दो भागों में विभाजित किए जा सकते हैं। वरिष्ठ लोग जो जनजातीय संस्कृति तथा परम्परा में पारंगत होते हैं, जो वह सीख चुके हैं तथा अनुभव किया है, कनिष्ठ को स्थानान्तरित कर देते हैं। जिन अधिकारियों से युवागृह की व्यवस्था की अपेक्षा की जाती है उनका चयन वरिष्ठों में से किया जाता है। उनसे युवागृह के अन्दर की क्रियाओं का नियन्त्रण करने तथा अनुशासन बनाये रखने की अपेक्षा की जाती है।

जहाँ भी युवागृह होता है, वहाँ बालकों तथा बालिकाओं को उसका सदस्य बनना आवश्यक होता है। यद्यपि प्रवेश के समय सदस्यों की आयु विभिन्न जनजातियों में भिन्न-भिन्न होती है तथा सामान्य औसत आयु लगभग दस वर्ष होती है तथा इसकी सदस्यता सदस्य के विवाहित होने तक चलती है।

मनोरंजनात्मक क्रियाओं के अतिरिक्त इसके सदस्य अधिकारी के नेतृत्व में अनेक सामूहिक कार्यक्रमों में सहायता करते हैं जैसे विवाह में कार्य करना, गृह निर्माण अथवा फसल तैयार कराना। उसके सदस्य दिन में अपने परिवार के लोगों के साथ रहते हैं किन्तु साथ का भोजन करने के पश्चात् अपने युवागृहों की ओर चले जाते हैं।

सदस्यों से युवागृह के अन्दर की क्रियाओं के सम्बन्ध में गोपनीयता बनाये रखने की अपेक्षा की जाती है। मजूमदार का कथन है कि ऐसा मुख्यतः इस तथ्य को दृष्टि में रखकर किया जाता है कि युवागृहों के अन्दर प्रणयी क्रियाएँ स्वतन्त्रतापूर्वक की जाती हैं। यद्यपि यौन समागम की सामान्यतः उसकी चाहरदीवारी के भीतर अनुमति नहीं होती है। मुरिया गोतुल में वरिष्ठ बालिकाएँ छोटे बालकों को यौन प्रशिक्षण देती हैं तथा नेताओं से यौन समागम के लिए अनुमति लेना आवश्यक नहीं होता है। एक दिलचस्प पक्ष, किन्तु जिसका अध्ययन भली प्रकार से नहीं किया गया है, युवागृह की सदस्यता अवधि में शयनगृह के अन्दर अथवा बाहर स्थापित अनेक यौन-सम्बन्ध हैं। जन्म नियंत्रण के लयात्मक विधि (rythm method) के प्रयोग के भी प्रमाण उपलब्ध हुए हैं। जहाँ तक स्वयं मुरिया लोगों का सम्बन्ध है, वे अनेक अलौकिक व्याख्याएँ प्रस्तुत करते हैं जैसे कि 'गोतुल' की सुरक्षा, इसके संरक्षक देवता लिंगों द्वारा की जाती है। गोतुल के अन्दर होने वाले यौन सम्मेलन का प्रतिफल गर्भधारण नहीं होता क्योंकि ऐसा होने से स्वयं लिंगों का असम्मान होता है। वे गर्भ को रोकने के लिये बलि देते हैं तथा प्रार्थनाएँ करते हैं, हालाँकि इसे कोई विशेष सामाजिक लांछन नहीं माना जाता। वह केवल बच्चों की उपस्थिति के कारण विवाह के आर्थिक पक्ष को जटिल बना देता है। यद्यपि उसकी माता के उसके पिता अथवा किसी अन्य से विवाह के पश्चात् वह परिवार का पूर्ण सदस्य स्वीकार कर लिया जाता है। युवागृह में प्रदान किया जाने वाला सामाजिक तथा यौन सम्बन्धी प्रशिक्षण सदस्य के आने वाले वैवाहिक जीवन में बहुत निर्णायक सिद्ध होता है और उसे महत्त्वहीन या दूषित मानकर खारिज नहीं किया जा सकता।

दिलचस्प बात यह है, कि संसार के सर्वाधिक विकसित समाजों में भी इस प्रकार के संस्थागत प्रशिक्षण का अभाव पाया जाता है।

प्रसिद्ध नृजातिशास्त्री एस.सी.राय, जिन्होंने प्रमुख भारतीय जनजातियों में अग्रणी कार्य किया है, छोटा नागपुर के ओराँव जनजाति के युवागृह के लिये त्रिभुजीय उद्देश्य प्रस्तुत करते हैं। प्रथम, यह भोजन की खोज के प्रयोजन हेतु एक प्रभावी आर्थिक संगठन के रूप में कार्य करता है, द्वितीय, अपने सामाजिक तथा अन्य कर्तव्यों में नवयुवकों के प्रशिक्षण हेतु एक उपयोगी धर्म गोष्ठी के रूप में, तथा तृतीय आखेट में सफलता प्राप्त करके तथा नवयुवकों की सन्तति जनन शक्ति के संवर्धन हेतु जादू-धार्मिक समारोहों के सम्पन्न करने के स्थान के रूप में कार्य करता है। गोंड लोगों के विषय में चर्चा करते समय इन्दर जीत सिंह, संयुक्त आर्थिक कार्यों में सम्मिलित होने, सामाजिक तथा यौन व्यवहारों में प्रशिक्षण तथा आवास के प्रावधान में 'गोतुल' के महत्त्वपूर्ण कार्य का जिक्र करते हैं।

ह्रास (Decline)

हिन्दुओं के साथ सांस्कृतिक सम्पर्क तथा जनजातीय क्षेत्रों में ईसाई धर्म का प्रचार युवागृह संस्था के ह्रास के दो प्रमुख कारण हैं। मजूमदार का विचार है कि अजनजातीय लोगों के गहरे सम्पर्क युवागृह की संस्था के लिये घोर विपत्तिकर सिद्ध हुआ है। बारम्बार तथा शहरी जीवन पद्धति के सम्पर्क के फलस्वरूप उनमें अपनी प्रारम्भिक जीवन पद्धति के प्रति प्रेम तथा विश्वास में कमी आयी है। पड़ोसी अजनजातीय लोगों की नज़र में ऊपर उठने के प्रयास किये जाते हैं तथा इस प्रक्रिया में मूल संस्थाएँ निछावर कर दी जाती हैं।

इस प्रकार स्कूल जाने वाले बालक न केवल युवागृह में जाना त्याग रहे हैं, अपितु वास्तव में वहाँ जाना बन्द कर देते हैं। ऐसा पाया गया है कि 'हो' जनजाति शहरी अभिकरण से गहरे सम्पर्कों के कारण 'बिटोरा', जो उनकी युवागृह संस्था है, के अस्तित्व को नकारते हैं।

ईसाई धर्म के प्रचार ने भी अपनी भूमिका निभाई है। मध्य भारत तथा उत्तर पूर्वी क्षेत्र में सभी जनजातियों का, जिनका धर्मान्तरण ईसाई धर्म में हुआ है मिशनरियों द्वारा युवागृह की संस्था को नष्ट करने के लिए 'बलात' मत प्रवर्तन किया गया है। इन जनजातीय लोगों को युवागृह में जाने की अनुमति नहीं दी जाती है। इस प्रकार के संगठित एवं नियमित प्रयास का परिणाम है कि, ईसाई जनजातीय ग्रामों से युवागृह गायब हो गये हैं।

भारत की जनजातियों में एक समय ओजस्वी, रंगीन तथा उपयोगी युवागृह संस्था एक चिन्ताजनक अध्ययन है। छोटा नागपुर क्षेत्र में जनजातीय जीवन का सच्चिदानन्द द्वारा किए गये अध्ययन, युवागृह की वर्तमान दशा का स्वरूप प्रस्तुत करते हैं। छोटा नागपुर के रात मन्दर तथा चिरीजन ग्रामों का अध्ययन करते हुए वह टिप्पणी करते हैं कि 'घुमकुड़िया' की वर्तमान दशा चालीस पैंतालीस वर्ष पूर्व की स्थिति से बहुत भिन्न है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह संस्था अपनी अंतिम साँसें ले रही है। अनेक ग्रामों में 'घुमकुड़िया' के नाम पर केवल एक जीर्णशीर्ण तथा उपेक्षित घर बचा है, जो जनजातीय लोगों की इस महान् सामाजिक संस्था के स्मारक के रूप में खड़ा है।

जनजातीय समस्याओं के प्रति विभिन्न उपागम व नीतियाँ

(Approaches to Tribal Problems and Tribal Policies)

हजारों वर्षों से आदिम जनजातियाँ जंगलों और पहाड़ी इलाकों में रह रही हैं। खुले मैदानों के निवासियों और सभ्यता के केन्द्रों से उनका सम्पर्क कभीकभार से अधिक नहीं रहा। "यदा-कदा किसी सैनिक अभियान के दौरान यदि किसी सैन्य काफ़िले को अति संक्षिप्त काल के लिए जनजातियों के विस्तृत क्षेत्र में रुकना पड़ा तो वे अस्थायी रूप से राजाओं और वृत लेखकों की जानकारी में भी आये अन्यथा सच्चे अर्थों में उनके और हिन्दू समाज के बीच एक संघर्षहीन सह-अस्तित्व दीर्घकाल से चला आ रहा था" (हेमन्डॉर्फ, 1960)। परन्तु अधिकांश आदिम जनजातियों का भौगोलिक अलगाव तब समाप्त हो गया जब उन्नीसवीं सदी के अन्तिम वर्षों से लेकर बीसवीं सदी के प्रारम्भ तक सड़कों और रेल आदि के आधुनिक संचार साधनों का प्रादुर्भाव और प्रचलन हुआ और साथ ही देश की आबादी में वृद्धि हुई। इससे भूमि के भूखे मैदानी कृषकों ने मध्य और दक्षिण भारत के विरल आबादी वाले जनजाति क्षेत्रों पर धावा बोल दिया। दूसरी ओर उन क्षेत्रों में जहाँ कुछ अरसे पहले तक वस्तुतः किसी प्रकार का कोई प्रशासन नहीं था वहाँ शान्ति और व्यवस्था सम्बन्धी कानूनों के विस्तार ने व्यापारियों, सूद पर रुपया चढ़ाने वाले साहूकारों और अनेकानेक प्रशासकों एवं सामाजिक कार्यकर्त्ताओं को उनके गाँवों में घुसने और वहाँ बसने का अवसर भी प्रदान कर दिया।

मैदानी इलाकों के साहूकारों और व्यापारियों के भीषण आक्रमण ने जनजाति समाज को तबाही के गर्त में ढकेल दिया। ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं कि मैदानों से आये इन धूर्त, चालाक और पेशेवर लोगों के सम्पर्क में आने के बीस से तीस वर्षों के भीतर जनजाति के लोग अपनी आर्थिक आत्मनिर्भरता और अधिकांश भूमि खो बैठे। इन गरीब और सभी तरह से दुर्बल जनजातियों की व्यथा-कथा लगभग सौ वर्षों से समय-समय पर प्रतिध्वनित होती रही है। देश की स्वतंत्रता के बाद भी उन्हें सरकार ने और उनके अपेक्षाकृत सभ्य देशवासियों ने एक "समस्या" की संज्ञा ही दी। प्रशासकों ने, नृ-विज्ञानियों ने, ईसाई धर्म प्रचारकों और सामाजिक कार्यकर्त्ताओं ने इस "समस्या" को अलग-अलग नज़रिये से देखा और इस प्रकार अनेक एवं भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण सामने आये। अध्ययन की सुविधा के लिए इन विचारों और दृष्टिकोण को तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है। यह वर्गीकरण मुख्यतः निम्नलिखित तीन मतों को प्रस्तुत करता है जिनकी पर्यालोचना आगे की गयी है:

1. यथास्थिति/अलगाववाद (No change/ Isolationism)
2. परिपाचन अथवा आत्मसात्करणवाद (Assimilationism)
3. एकीकरणवाद (Integrationism)

अब तक जो भी लोग इनके निकट सम्पर्क में आये हैं लगभग उन सबने तथाकथित आदिवासी या जनजातियों के लोगों को सरल-सीधे, सच्चे-ईमानदार, 'रंगीले' एवं आमतौर पर खुशमिज़ाज और निर्द्वन्द्व बताया है। उनका अपना एक अनोखा और विशिष्ट संगठन था जिसे

उनमें से कुछ ने अंग्रेजों के सम्पर्क में आने के पहले तक ज्यों का त्यों सुरक्षित रखा था। "यहाँ तक कि ब्रिटिश सम्पर्क, जिसने हिन्दुओं के साथ उनके सम्पर्क को और भी तेजी प्रदान की, के बाद भी उनमें से कुछ जनजातीय समुदायों ने, विशेष रूप से उन्होंने जिनकी जीवन-शैली पुराने सामाजिक संगठन से प्रभावित थी, अपनी परम्पराओं को सुरक्षित रखा। दूसरों ने चाहे वे हिन्दुओं के प्रभाव में थे या नहीं, अपने पुराने सामाजिक संगठन को बिल्कुल तो नहीं समाप्त किया किन्तु उसमें पहले जैसी शक्ति और जीवन्तता नहीं रही" (घुर्ये, 1963)। आइए, पहले हम उनके सामाजिक एवं आर्थिक संगठन पर और फिर उनके फलस्वरूप पैदा होने वाली समस्याओं पर विचार करें।

(1) अधिकतर जनजातियाँ अनगढ़ खेती करती रही हैं। इसे "झूम-कृषि" अथवा अलग-अलग क्षेत्रीय बोलियों में अलग-अलग नामों से पुकारा जाता है। "झूम-कृषि" में बहुत कम मेहनत या देखभाल करनी पड़ी है, किसी महत्त्वपूर्ण वस्तु या बल की जरूरत भी नहीं पड़ती। इसमें वर्षा ॠतु के पहले कुदाल या कुल्हाड़ी से वन-भूमि पर लगे पेड़ व झाड़ काट डाले जाते हैं, फिर उनमें आग लगाकर उन्हें भस्म में बदल दिया जाता है। इसके बाद उस भूमि पर मनमाफिक बीजों को छितरा दिया जाता है और सब कुछ प्रकृति के जिम्मे छोड़कर फसल की प्रतीक्षा की जाती है। भोजन की कमी की पूर्ति के लिए वे लोग जंगल से सभी प्रकार के खाने योग्य कन्दमूल और फल एकत्र करते या फिर अपने प्रिय जानवरों का शिकार करते हैं।

(2) इसके अलावा ज्यादातर जनजातीय समुदाय मद्यपान के आदी हैं। पहले वे अपने स्थान पर ही चावल, महुआ के फूल तथा अन्य अनेक वस्तुओं की शराब बनाते और पीते थे। बाद में वे हर तरह की खींची हुई शराब पीने लगे। जौनसारी, भील, गोंड तथा अन्य बहुत सी जनजातियों में सामूहिक मदिरापान का चलन है। यहाँ तक कि बच्चे भी आजादी के साथ शराब का सेवन करते हैं। बहुत हद तक स्थानीय परिस्थितियाँ और परिवेश इसके लिए जिम्मेदार हैं। मदिरा उनके धार्मिक अनुष्ठानों और सामाजिक कर्मकाण्ड का भी एक आवश्यक अंश है।

(3) ईसाई धर्म प्रचारकों के सम्पर्क ने बिहार और देश के उत्तर-पूर्वी प्रदेशों की जनजातियों की पारंपरिक आध्यात्मिक दुनिया को नष्ट-भ्रष्ट करके उन्हें विभ्रम में डाल दिया। अपने देवी-देवताओं में उनकी जो आस्था थी वह डगमगा गयी, जनजातीय मान्यताओं की सभी बातों को ईश्वर-विरोधी बताया गया।

(4) विवाह और उत्तराधिकार सम्बन्धी रीति-रिवाज प्रत्येक जनजाति में उनके अपने अपने और अलग-अलग हैं। उनकी सामाजिक मान्यता प्राप्त प्रथाओं और रूढ़ियों को सही तरीके से नहीं समझा गया और उन लोगों को उन कार्यों के लिए भी दण्डित किया गया जो उनकी परम्पराओं के अनुसार उचित और सामाजिक मान्यताओं के अनुकूल थीं। नतीजा यह हुआ कि इस प्रकार के कार्यों से उनकी भावनाओं को गहरी चोट पहुँची।

(5) स्वाभाविक है कि जनजातियों के लोग निरक्षर रहे हैं। जब-जब उनके शैक्षिक उत्थान के लिए विभिन्न योजनाएँ अपनायी गयीं तब-तब उनकी अपनी मातृभाषाओं में उन्हें प्रारम्भिक शिक्षा देने का कोई खास ख्याल नहीं रखा गया।

कष्टप्रद आर्थिक स्थितियों के परिणामस्वरूप अधिकांश भारतीय आदिम जनजातियों के

जीवन-मृत्यु संघर्ष पर टिप्पणी करते हुए डी.एन. मजूमदार (1938) ने उसके ग्यारह कारण बताये थे।: (1) आबकारी कानूनों ने उन पर मर्मान्तक चोट की। (2) प्रशासन में मौजूद लोगों द्वारा जनजाति अधिकारियों के तबादलों ने जनजातीय जीवन को सभी मामलों में विघटित कर दिया। (3) 'झूम' खेती में इस्तेमाल होने वाली समस्त भूमि जनजातियों से छीन ली गयी। (4) अपने स्वामित्व की भूमि के उत्खनन पर रोक या फिर उसके लिए भारी लाइसेन्स फीस की अदायगी। (5) ज्यादातर क्षेत्रों में "झूम कृषि" को निषिद्ध कर दिया गया। विवश होकर उन्हें खेती के उस तरीके को अपनाना पड़ा जो उनके लिए बिल्कुल अनुकूल नहीं है या जिसके लिए उन्हें उन "अनुष्ठानों" या बलि देने सम्बन्धी कर्मकाण्डों की पर्याप्त जानकारी नहीं है जिससे खेती के देवता 'प्रसन्न' होकर अच्छी फसल प्रदान करते हैं। (6) भारतीय दण्ड संहिता के अंतर्गत 'अपहरण विवाह' को अपराध माना गया। यह प्रथा भारी वधू-मूल्य की अदायगी से बचने के लिए आमतौर से अपनायी गयी थी और यह विकल्प बहुत अच्छे ढंग से चल भी रहा था। इस प्रथा को दण्ड के योग्य जुर्म मानने से उनकी सामाजिक मजबूती का उन्मूलन होगा और फलस्वरूप प्रजातीय असमन्वय पैदा होगा। यह हम जानते हैं कि जनजातीय समाज में देर से या अधिक आयु में शादी करने का रिवाज है और प्रत्येक जनजाति-समुदाय में ऐसे व्यक्तियों की बड़ी संख्या है जिनमें सामान्य परिस्थितियों में विवाह करने का सामर्थ्य नहीं है। (7) मेले और साप्ताहिक बाजार, जिनकी ओर उनका समाज उत्तरोत्तर आकर्षित हुआ, जनजाति समुदाय का वित्तीय दृष्टि से विनाश कर रहे हैं। (8) शिक्षा जो उन्हें दी जा रही है, लाभ पहुँचाने के बजाय उनके लिए अपेक्षाकृत अधिक हानिप्रद सिद्ध हुई है। (9) न्यायिक आधिकारी, उन्हें सन्तोषप्रद न्याय दिलाने में असफल रहे हैं। (10) मिशनरी पादरियों के प्रयासों ने उनमें अपनी संस्कृति के लिए निराशा और उन वस्तुओं के लिए करारी लालसा पैदा कर दी है जिन्हें प्राप्त करने के लिए उनके पास कोई साधन नहीं हैं। (11) विभिन्न प्रकार के सम्पर्कों में आने के कारण जनजातीय लोगों में अनेक प्रकार के ऐसे नये रोग पैदा हो गये हैं जिनके इलाज के लिए उनका सीमित, स्थानीय एवं परम्परागत औषधि ज्ञान अपर्याप्त सिद्ध हुआ है। सरकार की ओर से प्रदत्त चिकित्सा सुविधाएँ नगण्य हैं।

ए.वी. थक्कर, जो "थक्कर बापा" के नाम से प्रसिद्ध थे और जनजातियों के कल्याण के हंगामेबाज उद्घोषक माने जाते हैं, ने एक सामाजिक कार्यकर्त्ता के तरीके से स्थिति की सीधी और दो-टूक विवेचना की। उनके अनुसार आदिवासियों की समस्या निम्नलिखित बातों में वर्गीकृत की जा सकती है– (1) गरीबी (2) निरक्षरता (3) अस्वास्थ्य (4) आदिवासी क्षेत्रों तक पहुँचने की दुर्गमता (5) प्रशासन के दोष और (6) नेतृत्व का अभाव।

एक नृविज्ञानी और एक सामाजिक कार्यकर्त्ता की प्रतिक्रियाओं को देखने के बाद अब हम हट्टन जैसे प्रशासनिक अधिकारी के दृष्टिकोण पर विचार करेंगे। हट्टन आदिवासियों के मामलों में अंग्रेजों की नीति के पक्षपोषक थे। उनके अनुसार आदिवासियों की सर्वाधिक 'नृशंस' और 'बर्बर' प्रथाएँ समाप्त कर दी गयीं, परस्पर युद्धों को रोका गया, आधुनिक चिकित्सा प्रणाली का सूत्रपात किया गया और उससे शिशु-मृत्य संख्या कम हुई। उन्हें पढ़ने-लिखने की कला से परिचित कराया गया और सड़कों, डाकघर आदि के जरिए उन्हें मिलने-जुलने और संचार की सुलभ

सुविधाएँ प्रदान की गयीं। फिर भी, जिन बुराइयों और खराबियों का शिकार आदिवासियों को होना पड़ा वे ब्रिटिश शासन के दो किंचित् भिन्न पक्षों से आईं :–

(1) ऐसी प्रशासकीय पद्धति का प्रारम्भ जो उनकी विशेष आवश्यकताओं को समझने या उन पर ध्यान देने में पूरी तरह असफल रहा।

(2) इन आदिम जनजातियों की स्थितियों में सुधार करने की सद्इच्छा से उठाए गये खरे कदम।

"तीन बड़ी खराबियाँ इन सूत्रों से आईं। (क) भूमि की हानि और आदिम जनजातियों के गाँव के स्थानीय मुखिया के स्थान पर बाहरी आदमी को बैठा देना। यह काम ख़ास तौर से मैदान से आये हिन्दुओं ने किया चाहे वह किसान थे, महाजन, व्यापारी अथवा केवल भूमि हड़पने वाले। (ख) जीवन निर्वाह के साधनों की हानि और अन्य बुराइयाँ। (ग) आदिवासी एकता एवं उनके परस्पर निर्भर सामाजिक संगठन का ह्रास"। जनजातीय समुदायों की दुर्दशा के विवेचन के बाद हम जनजाति समाज की समस्याओं से सम्बन्धित उन तीन प्रमुख दृष्टिकोणों पर पुनः विचार करते हैं जिससे उनके प्रभाव का मूल्यांकन हो सके।

पहले दृष्टिकोण के प्रवक्ताओं का मत है कि सभी बाहरी सम्बन्ध जो आधुनिक दुनिया से अनियंत्रित और अनियमित सम्पर्क के लिए जिम्मेदार हैं और जिसके परिणामस्वरूप आदिम जन समुदाय का जीवन दयनीय बन गया है, कतई खत्म कर देने चाहिए, और आदिम समुदाय को अपने आदिम परिवेश और परिस्थितियों में पुष्पित, पल्लवित और फलित होने के लिए मुक्त छोड़ देना चाहिए। इस दृष्टिकोण में वह नया विचार और शामिल है जो आज बेरियर एलविन के व्यापक रूप से **"नेशलन पार्क सिद्धान्त"** के नाम से प्रसिद्ध है। उसका सुझाव था कि पहली आवश्यकता "नेशनल पार्क" की स्थापना करने की है जहाँ न केवल "बैगा" बल्कि उनके पड़ोसी सीधे-सरल गोंड भी हजारों की संख्या में शरण ले सकें। इस कार्य के लिए अत्यधिक बड़ा और विस्तृत क्षेत्र पृथक् करके उसे सीमाबद्ध किया जाना चाहिए। यह क्षेत्र सीधे जनजाति कमिश्नर के नियन्त्रण में होना चाहिए और इस कमिश्नर को उनमें उसी प्रकार विशेषज्ञ की भूमिका अदा करनी चाहिए जैसा कि हो और संथालों के मामले में हुआ था अर्थात् उसे विभिन्न आदिवासी समूहों के मुखियाओं के जरिए काम करना चाहिए। गैर-जिम्मेदार दुस्साहसियों के शोषण से आदिवासियों के रक्षार्थ गैर-आदिवासी लोगों के लिए उस क्षेत्र में प्रवेश के लिए लाइसेन्स जारी करने की पद्धति जैसे सभी यथारीति कदम उठाये जाने चाहिए। संक्षेप में, वहाँ का प्रशासन इस ढंग का होना चाहिए कि आदिवासी अपने जीवन को यथासम्भव अधिकतम प्रसन्नता और स्वतंत्रता से जी सकें। किसी भी धर्म के प्रचारक को उस क्षेत्र में जाने और आदिवासी जीवन शैली में व्यवधान पैदा करने की इजाजत नहीं देनी चाहिए। इस दृष्टिकोण की इस आधार पर बड़ी खरी और गम्भीर आलोचना की गई है कि आदिवासियों की संस्कृति की रक्षा के नाम पर उन्हें शेष भारत से अलग-थलग नहीं किया जा सकता। वे कोई पालतू-पशु या प्राणि-उद्यान के प्रदर्श नहीं हैं। इसके विपरीत वे स्वतंत्र भारत के एक समान नागरिक हैं और इस नाते उन्हें अपने देश की प्रगति में योगदान करने तथा परिणामतः विकास एवं स्वतंत्रता के लाभों का उपयोग करने का पूरा अधिकार है। अपने अंतिम

दिनों में एल्विन ने इस विचार का परित्याग कर दिया।

दूसरे दृष्टिकोण अर्थात् परिपाचन या आत्मसातीकरण को चूँकि सामाजिक कार्यकर्त्ताओं द्वारा उसके पक्ष में काफी प्रचार किया गया था, अपेक्षाकृत अधिक समर्थन प्राप्त हुआ। परिपाचन अर्थात् आत्मसातीकरण के हिमायतियों ने यह विचार प्रस्तुत किया कि आदिम समुदाय को उनके पड़ोसी गैर-आदिवासी निवासियों की संस्कृति के साथ घुलने-मिलने की प्रक्रिया को बढ़ावा देना चाहिए। पूर्ण आत्मसात की नीति भारतीय इतिहास की प्रवृत्तियों से मेल भी नहीं खाती है। हजारों वर्षों के सांस्कृतिक सम्पर्क और परस्पर सांस्कृतिक आदान-प्रदान के बाजजूद भारतीय समाज पूर्णतः एकरूप नहीं हो पाया। यह सही है कि कुछ ऐसे सांस्कृतिक लक्षण अवश्य उभरे हैं जो सच्चे अर्थों में "राष्ट्रीय" हैं किन्तु यह भारतीय समाज के ऐतिहासिक विकास का उप-परिणाम ही कहा जायेगा। फिर भी, इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि भारतीय समाज का निर्माण संथाल, गोंड, उड़िया, तेलुगू, कश्मीरी आदि अनेक सांस्कृतिक धाराओं के मिलन से हुआ है। ऐसी स्थितियों में जनजातियों की संस्कृति के पूर्ण आत्मसात को उनकी समस्याओं का समाधान कहना अनुचित भी है और एक असम्भव प्रयास भी है। बलात आत्मसात या उसे भाग्य के साथ जोड़ने की बात में निरंकुशता की गंध भी आती है।

जवाहर लाल नेहरू ने बड़े स्पष्ट शब्दों में भिन्न परम्पराओं में पली जनजातियों की आबादी पर हिन्दू जीवन-शैली लादने की कड़ी भर्त्सना की थी। जनजातियों के प्रति अपनी तीव्र संवेदना तथा उनकी समस्याओं के प्रति अपनी गहरी दिलचस्पी के कारण जनजातीय समाज के प्रति भारत सरकार का दृष्टिकोण राष्ट्रीय एकता, समन्वय और समाकलन पर आधारित रहा है।

नृ-विज्ञानियों ने भी समानता और परस्पर सम्मान के आधार पर जनजातियों की आबादी का भारत की शेष आबादी के साथ समाकलन के दृष्टिकोण को आगे बढ़ाया है। समन्वित एकीकरण और बलात परिपाचन के बीच के अन्तर का स्पष्टीकरण किया जाना चाहिए। हमारे यहाँ अनेक भाषाई और धार्मिक समूह हैं जिनको भारतीय राष्ट्र के निर्माण के लिए समन्वित और एकीकृत किया जा रहा है। इस कार्य में कोई भी यह माँग नहीं कर रहा है कि अल्पसंख्यक अपनी संस्कृति व पहचान त्याग कर बहुसंख्यक वर्ग में आत्मसात हो जायँ। अधिक सार्थक और दीर्घजीवी एकता, कदाचित, तभी हो सकेगी जब प्रत्येक अल्पसंख्यक समुदाय अपने को सुरक्षित समझेगा, जब अनेकता के भारतीय समाज में, लोग हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई, आदि के रूप में रह सकते हैं, जब यहाँ का व्यक्ति तमिल, उड़िया, गुजराती, बंगाली या पंजाबी के रूप में अपना अस्तित्व बनाये रख सकता है तब यहाँ कोई व्यक्ति संथाल, गोंड, थारू, मीना और येनाडी कहलाता हुआ पूरे सम्मान और गौरव के साथ क्यों नहीं रह सकता? एकता का फूल अन्देशों की छाया में नहीं खिलता है। कोई भी अनेकतापूर्ण समुदाय अपने यहाँ अल्पसंख्यकों को असंतुष्ट, अशांत, विपन्न और निराश रखते हुए देश की सामंजस्यपूर्ण सर्वतोमुखी उन्नति करने की आकांक्षा नहीं कर सकता। इस प्रकार वांछित एकता के लिए आदिवासियों की भाँति गैर-आदिवासियों को भी शिक्षा की आवश्यकता है।

प्रमुख समस्याएँ (Major Problems)

(i) ऋणग्रस्तता (Indebtedness)

भारतीय जनजातियों की समस्याओं में संभवतः ऋणग्रस्तता की समस्या सबसे कठिन है, जिसके कारण जनजातीय लोग साहूकारों के शोषण का शिकार होते हैं। ठेकेदारों तथा अन्य लोगों से सीधे सम्पर्क होने के कारण उत्तरपूर्व के कुछ क्षेत्रों को छोड़कर समस्त भारतीय जनजातीय जनसंख्या ऋणों के बोझ से दबी हुई है।

इस ऋणग्रस्ता का कारण है, निर्धनता, भुखमरी तथा दुर्बल आर्थिक व्यवस्था। नृजातीय अध्ययनों तथा प्रमाणों से यह स्पष्ट पता चलता है कि ठेकेदारों तथा अन्य लोगों के द्वारा इनके क्षेत्रों में हस्तक्षेप के पूर्व ये जनजातियाँ इतनी दुर्बल, निर्धन तथा विवश नहीं थीं। ये लोग आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर थे। वन सम्पदा पर इनका अधिकार था। दुर्भाग्यवश जब आर्थिक विकास की योजनाओं के अन्तर्गत जनजातीय क्षेत्रों में विकास का झोंका आया तथा इनके क्षेत्र सभी प्रकार के लोगों के लिए खोल दिए गए तो विकास का लाभ उठाने के लिए ये जनजातियाँ तैयार नहीं थीं। प्रशासन के संगठित प्रयास की अनुपस्थिति में इन बाहरी तथा तथाकथित सभ्य लोगों ने इन जनजातियों की संवेदनशीलता का भरपूर लाभ उठाया। समय के साथ-साथ ये जनजातियाँ कठिन स्थितियों में पहुँच गयीं जिनमें आज रह रही हैं। यद्यपि हमारे पास ऋणग्रस्तता से सम्बन्धित वैज्ञानिक तरीकों से इकट्ठा किये गए आँकड़े बहुत कम हैं फिर भी यह कहा जा सकता है कि यह समस्या गम्भीर है। जनजातियों में ऋणग्रस्तता के आर्थिक पक्ष के साथ सामाजिक व मनोवैज्ञानिक पक्ष भी महत्त्वपूर्ण हैं। ये लोग समस्त प्रणाली में प्रसन्नता या शांतिपूर्ण जीवन की आशा छोड़ चुके हैं। बहुत से क्षेत्रों में ये जनजातीय लोग ऋणग्रस्तता के कारण ऋणबन्धक होने पर विवश होते हैं तथा यह बन्धन पीढ़ी दर पीढ़ी चलता है। अधिकतर जनजातियों में ऋणबंधक होना इनके जीवन का अभिन्न अंग बन चुका है। सभी जनजातीय समुदायों की ऋणग्रस्तता के कुछ मुख्य कारण हैं :–

(1) भूमि तथा वनों पर जनजातीय अधिकारों का हनन

(2) कृषि के पुराने तरीकों के कारण कम उत्पादन

(3) उपेक्षा तथा जहालत

(4) विवाह, मृत्यु, मेलों तथा उत्सवों में अपनी क्षमता से अधिक व्यय करने की प्रवृत्ति

(5) भाग्यवादी प्रवृत्ति व संकुचित विचारधारा

(6) बिरादरी से निष्कासित किये जाने के भय से जुर्मानों के सम्बन्ध में पंचायत के आदेशों का पालन।

उपरोक्त स्थितियों के कारण जनजातीय लोगों को सदैव रुपये की आवश्यकता रहती है, जिसके कारण यह लोग आसानी से साहूकारों के शोषण का शिकार हो जाते हैं। समय-समय पर लिय गए ऋण, जिनकी ब्याज दरें बहुत अधिक होती हैं मिलकर ऐसी धनराशि में परिवर्तित हो जाती हैं जिसे वापस करना इनकी सामर्थ्य से परे होता है, जिसके फलस्वरूप इनकी भूमि साहूकारों द्वारा ले ली जाती है। "आर्थिक विकास के किसी भी कार्यक्रम का जनजातीय व्यवस्था पर तब तक

कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा जब तक उन्हें साहूकारों के चंगुल से बचाने की समुचित व्यवस्था न की जाय।" (जनजातीय विकास पर अध्ययन कर रहे दल की रिपोर्ट 1969)। कुछ क्षेत्रों में धन के अतिरिक्त वस्तुयें उधार लेने का भी प्रचलन है। यह प्रचलन विशेषता त्रिपुरा तथा महाराष्ट्र में अधिक है। महाराष्ट्र में इस प्रथा को पलेमोड के नाम से जाना जाता है। इस प्रथा के अन्तर्गत ये लोग बुवाई के समय बीज उधार लेते हैं तथा फसल होने पर बीज की मात्रा का तिगुना या चौगुना अनाज वापस करते हैं। खाने के लिए लिया गया अनाज भी इसी प्रकार वापस किया जाता है। इस प्रकार फसल के समय उपज का मुख्य भाग या पूरी उपज साहूकार को मिल जाती है। इसी से मिलती-जुलती प्रथा त्रिपुरा में भी प्रचलित हैं जिसे 'ददान' कहते हैं। लेनदार पहले से ही सारी फसल बहुत कम दरों पर क्रय कर लेता है।

साहूकार की भूमिका

जनजातीय लोगों को महाजनों के चंगुल से छुड़ाने में विभिन्न सरकारी तथा अर्द्ध-सरकारी संस्थाओं द्वारा किए गए प्रयासों की असफलता के कारणों को समझने के लिए साहूकारों की भूमिका का अध्ययन करना आवश्यक है।

परम्परिक साहूकारों की कार्य पद्धति जनजातीय लोगों के लिए बहुत आसान तथा सरल है। ये साहूकार, अधिकतर इन्हीं जनजातियों के बीच ही रहते हैं। धन की आवश्यकता पड़ने पर जनजातीय लोगों को बहुत दूर नहीं जाना पड़ता तथा साहूकारों के द्वार इनके लिए सदैव खुले रहते हैं। साहूकार इन्हें बिना किसी शर्त के ऋण दे देता है क्योंकि अधिकतर इनके पास गिरवीं रखने या सुरक्षा के रूप में देने के लिए कुछ नहीं होता। अपनी आय तथा थोड़ी बहुत भूमि की सहायता से ऋण चुकाने का निश्चय इनके मन में होता है। साहूकार इस निश्चय को एक निधि के रूप में मान्यता देते हैं। परन्तु कहीं-कहीं इन्हें अपनी भूमि गिरवीं रखनी पड़ती है। मध्य प्रदेश के कुछ जनजातीय क्षेत्रों में यह प्रथा है। औपचारिकताओं तथा कागजी कार्यवाही के नाम पर इन्हें एक सादे कागज पर या किसी मसौदे पर अँगूठा लगाना रहता है, जिसे ये लोग पढ़ नहीं सकते।

राज्य सरकारों द्वारा स्थापित सहकारी ऋण समितियों की तुलना उपरोक्त ऋण प्रणाली से की जाय तो सर्वप्रथम यह बात सामने आती है कि अधिकतर समितियाँ जनजातीय बस्तियों से दूरी पर स्थित हैं। ऋण लेने वाले को तमाम उबाऊ औपचारिकताओं को पूरा करने के साथ-साथ गारण्टी लेने वाले को भी इन्हीं स्थितियों से गुजरना पड़ता है। ऋण के लिए प्रार्थना पत्र देने तथा ऋण मिलने में अक्सर दो महीने तक लग जाते हैं तथा भ्रष्ट अधिकारी रिश्वत भी माँगते हैं। इन सबके अतिरिक्त ये सहकारी समितियाँ केवल उत्पादक उद्देश्यों के लिए ही ऋण देती हैं जबकि निर्धन व परेशान हाल जनजातीय लोगों का जीवन-यापन के लिए उपभोग के लिए तथा विभिन्न सामाजिक रीतिरिवाजों को पूरा करने के लिए भी ऋण की आवश्यकता होती है। साहूकार किसी प्रकार की शर्त नहीं रखता या सभी उद्देश्यों के लिए ऋण दे देता है।

साहूकार द्वारा व्यक्तिगत सम्बन्ध बनाये रखना भी एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है। वह जनतातीय भाषा बोलता है, सम्पूर्ण परिवार के बारे में भलीभाँति जानता है, तथा इन लोगों की उन स्थितियों से अवगत रहता है जब इन्हें धन की आवश्यकता होती है।

ऋणग्रस्तता के परिणाम

अधिकतर जनजातीय जनसंख्या अशिक्षित है जिसके कारण इन्हें यह पता नहीं रहता कि साहूकार के खातों में क्या प्रविष्टियाँ की गई हैं। साहूकार की इच्छानुसार ये लोग अँगूठा लगा देते हैं जिससे हमेशा के लिए इनके भाग्य का निर्णय हो जाता है, अधिकतर इस ऋण के मामले मौखिक रूप से तय होते हैं जिनके कारण ये लोग न्यायालय में भी नहीं जा सकते। इन मामलों में भी ऋण लेने वाले ही परेशान होते हैं। जिन मामलों में लिखा-पढ़ी की गई है इन खातों में खूब बढ़-चढ़ा कर प्रविष्टियाँ की जाती हैं। ये लोग यदि ग्राम पंचायत का सहारा लें तब भी कोई लाभ नहीं होता क्योंकि ग्राम पंचायत भी साहूकारों का ही पक्ष लेती है। विभिन्न जनजातीय क्षेत्रों के अध्ययन से यह पता चलता है कि ऋणग्रस्तता के कारण बहुत से बंधुआ मजदूर बन जाते हैं तथा उनकी भूमि भी चली जाती है। ऐसी परिस्थितियों में ऋण लेने वाले निम्न परिणामों का शिकार होते हैं:–

(1) स्वतंत्रता की समाप्ति तथा उनकी श्रमशक्ति का साहूकारों द्वारा मनमाना प्रयोग।

(2) भूमि का हस्तांतरण तथा ऋणदाता द्वारा अधिग्रहण।

(3) युवतियों की विकृत वेश्यावृत्ति।

(4) यौन बीमारियाँ।

बड़े ऋणों के बोझ से दबे यह ऋणी जिन्हें साहूकारों या ज़मीदारों ने बंधुआ मजदूर बना लिया है, इस ऋणग्रस्तता से बाहर निकलने में असमर्थ हैं। उन्हें अब जीवन में किसी प्रकार की कोई आशा नहीं होती। जीवन के आर्थिक मूल्यों का उनके लिए अब कोई महत्त्व नहीं रह जाता है। जौनसार बाबर (उ.प्र.) की कोल्टा जनजाति इन स्थितियों का ज्वलंत उदाहरण है।

क़ानून तथा उपचार के प्रयास

संविधान की पाँचवीं अनुसूची राज्य के राज्यपाल को जनजातीय क्षेत्रों में साहूकारों तथा ऋणदाताओं के व्यवसाय को जनजातीय क्षेत्रों में नियमित करने का अधिकार देती है। इस प्रावधान के अन्तर्गत राज्य सरकारों ने विभिन्न नियमों, अधिनियमों की संरचना की है। ऋण से मुक्ति तथा ऋण बंधन के उन्मूलन के नियंत्रण के सम्बन्ध राज्यों द्वारा बनाये गये कुछ महत्त्वपूर्ण नियम निम्नलिखित हैं:–

(1) आन्ध्र प्रदेश जनजातीय क्षेत्र साहूकार विनियम, 1963

(2) संस्थागत ऋण बन्धन उन्मूलन 1964

(3) असम साहूकार विनियम, 1968

(4) बिहार महाजन (लेनदेन का नियमन) अधिनियम, 1939

(5) बम्बई कृषि ऋणदाता सहायता अधिनियम, 1947

(6) केरेला महाजनी अधिनियम, 1958

(7) मध्य प्रदेश अनुसूचित जनजाति ऋणी सहायता अधिनियम, 1966

(8) मद्रास ऋणग्रस्त कृषक (ऋण की वापसी) अधिनियम, 1955

(9) मैसूर अधिव्यवसायी (पॉन ब्रोकर्स) अधिनियम, 1961

(10) उड़ीसा साहूकार (निश्चित प्रावधानों का क्रियान्वयन) विनियम, 1950

(11) राजस्थान सगरी प्रथा उन्मूलन अधिनियम, 1961 (परिशिष्ट में इन नियमों, विनियमों तथा अधिनियमों की विस्तृत सूची संलग्न है)।

विभिन्न संस्थाओं के अध्ययन से यह पता चलता है कि इन अधिनियमों के बाद भी जनजातियों का शोषण लगातार हो रहा है। नियमों तथा विनियमों का उल्लंघन किया जा रहा है तथा साहूकार अपने ऊपर लगाये गये नियंत्रणों पर बहुत कम ध्यान देते हैं। अनुसूचित क्षेत्र व अनुसूचित जनजाति की रिपोर्ट के साथ-साथ योजना आयोग के अध्ययन दल की रिपोर्ट भी उपरोक्त तथ्यों की पुष्टि करती है। इन स्थितियों के कारण निम्नलिखित हैं:–

(अ) बंधुआ मजदूरी की प्रथा से जनजातियों को बचाने के लिये पाँचवीं अनुसूची में किए गए सुरक्षात्मक प्रावधानों का राज्य सरकारों ने समुचित प्रयोग नहीं किया।

(ब) साहूकारों द्वारा नियमों के उल्लघंन पर राज्य सरकार दंड प्रावधानों का प्रभावी उपयोग करने में असमर्थ रही।

(स) सुरक्षात्मक प्रावधानों के क्रियान्वयन तथा मुक्ति दिलाने की इच्छा तथा समर्पण में कमी के कारण आज भी इन साहूकारों द्वारा इन जनजातियों का शोषण हो रहा है।

जनजातीय विकास कार्यक्रमों पर योजना आयोग के अध्ययन दल की रिपोर्ट ने इन स्थितियों को स्पष्ट रूप से उजागर किया है। इसके अनुसार ऋणग्रस्तता को समाप्त करने के लिए दोहरी नीति का पालन किया जाना चाहिए। एक ओर साहूकारों के चंगुल से मुक्ति दिलाने के लिए जनजाति को दीर्घकालीन ऋण प्रदान करने चाहिए तथा दूसरी ओर उनकी आर्थिक स्थितियों में सुधार लाकर उन्हें ऋण वापस करने में सक्षम बनाना चाहिये। सहकारी ऋण संस्थाओं को इन जनजातियों के बीच में कार्य करने के साथ-साथ ऋण प्राप्त करने की औपचारिकताओं को भी सरल बनाना चाहिए। इन परविर्तनों से जनजातीय लोग सहकारी समितियों द्वारा ऋण वितरण की सुविधा से अधिक लाभान्वित हो सकेंगे। इन सबके अतिरिक्त सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष है राजनैतिक इच्छा, जो लोग जनजातीय कल्याण कार्यों में लगे हैं उनकी ईमानदारी तथा उनका समर्पण भी बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। इस गम्भीरता, ईमानदारी तथा समर्पण की कमी होने पर कोई भी नियम या प्रावधान प्रभावी नहीं हो सकता।

(ii) भूमि हस्तांतरण (Land Alienation)

नवीनतम आँकड़ों के अनुसार जनजातीय जनसंख्या का लगभग 88 प्रतिशत भाग कृषक है। जनजातियों का अपनी भूमि से बहुत भावनात्मक लगाव रहता है। जीवन-यापन के लिए कृषि ही एक ऐसा साधन है जिस पर ये लोग सदियों से निर्भर हैं। अनुसूचित क्षेत्रों व अनुसूचित जनजाति आयोग की रिपोर्ट में इन स्थितियों का वर्णन स्पष्ट रूप से किया गया है। इस रिपोर्ट के अनुसार मैदानों में रहने वालों की भाँति जनजातीय लोग भी भूमि के स्वामित्व की तीव्र इच्छा रखते हैं। झूम

व्यवस्थाओं तथा अलग-अलग जलवायु के साथ-साथ आवासों की बनावट भी एक समस्या है। अधिकतर जनजातीय लोगों को प्रकृति ने काफी सुरक्षा प्रदान कर रखी है। ये लोग अनुकूल स्थितियों में रहते हैं। छोटा नागपुर में जनजातियों के सुन्दर आवासों को देखने तथा मैदानों की गर्मी से बचने के लिए बहुत से बाहरी लोग आते रहते हैं। शिलांग के आस-पास की खासी पहाड़ियाँ तथा लुशाई या नागा पहाड़ियाँ भी सुन्दर व शीतल हैं। कम ऊँचाई पर होने के पश्चात् भी मध्य प्रदेश की मैकल पहाड़ियाँ शीतल व स्फूर्तिवर्द्धक हैं। टोडा तथा कोटा जनजातियों का आवास नीलगिरि पहाड़ियाँ पर्यटकों के आकर्षण के केन्द्र हैं परन्तु असम की ब्रह्मपुत्र घाटी ग्रीष्म ऋतु में बहुत गरम हो जाती है। यहाँ पर बहुत सी मैदानी जनजातियाँ रहती हैं। कुछ जिले जिनमें घने जंगल हैं हवा पानी रहित हैं तथा वहाँ पर धूल बहुत होती है। उ.प्र. के बाँदा व मिर्जापुर जिले जहाँ पर कोल जनजाति रहती है, सूखे, पथरीले तथा गरम इलाके हैं। इसके विपरीत हिमालय पहाड़ियों के ऊँचे स्थानों पर रहने वाली जनजातियों को बर्फ, हवाओं, तूफानों, वर्षा तथा हिमस्खलन जैसी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। असम के कुछ क्षेत्र ऐसे हैं जहाँ पर भूचाल का खतरा बना रहता है तथा इन क्षेत्रों में रहने वाली जनजातियों को भूचाल की अनिश्चितताओं का सामना करना पड़ता है परन्तु मनुष्य हर प्रकार की परिस्थिति के अनुसार रह लेता है। उसके आवास, उसके वस्त्रों की तरह आवश्यकतानुसार ही होते हैं। उत्तर-पूर्व के गर्म क्षेत्रों में बाँसों के मकान बनाए जाते हैं जिससे कि प्रचुर मात्रा में हवा आती रहे। इसी प्रकार जिन क्षेत्रों में अधिक वर्षा होती है या मिट्टी गीली रहती है वहाँ पर मकानों को ऊँचाई पर बनाया जाता है। ठंडे क्षेत्रों में अधिकतर मकान पत्थरों के या लट्ठों के बनते हैं।

जनजातियों में आवासों की उपयोगिता के साथ-साथ उनके कलात्मक पक्ष पर भी ध्यान दिया जाता है। बहुस सी जनजातियाँ अच्छे मकानों में रहने को एक गर्व का विषय मानती हैं। दूसरी ओर कुछ छोटी जनजातियाँ हैं जो आवासों के महत्त्व पर ध्यान नहीं देतीं। ये लोग छोटी-मोटी झोपड़ियों में रहते हैं जो सदैव गन्दगी से घिरी रहती हैं जबकि बिरहोर जैसी अन्य जनजातियाँ पत्तों के घरों में रहती हैं। मकान बनाने की इस कला में बिरहोर परिवार के आवास में कोई कमी पाये जाने पर उसे जुर्माना देना पड़ता है। उपयोगिता तथा कलात्मक मूल्यों के समन्वय से सुन्दर मकान बनाने के लिए उत्तर पूर्व क्षेत्र की गारो, मिशमी, नागा तथा रियांग जनजातियाँ प्रसिद्ध हैं। इनके आवास भूमि से काफी ऊँचाई पर होते हैं तथा इनमें धूप हवा आने का पूरा प्रबन्ध रहता है। ये लोग अच्छे फर्श बनाते हैं तथा अपने घरों को साफ सुथरा रखते हैं। मध्य प्रदेश के गोंड, आन्ध्र प्रदेश के कोया तथा बगटा, उड़ीसा के गडावा तथा संओरा तथा बिहार के ओराँव व संथाल भी इसी प्रकार के साफ-सुथरे व कलात्मक आवासों का निर्माण करते हैं। जनजातियों में आवासीय समस्या इतनी गम्भीर नहीं है परन्तु सभी जनजातियों को यह सुविधा आसानी से उपलब्ध नहीं है। विशेषतया मैदानों में रहने वाली जनजातियों की आवासीय समस्या गम्भीर है। इन लोगों के पास भूमि व आवास की नितान्त कमी है। इसका ज्वलन्त उदाहरण है आन्ध्र प्रदेश की येनादी जनजाति जिसे जलवायु, पुलिस तथा ज़मींदारों की कृपा पर जीना पड़ता है। आवास की सभी योजनाओं पर विशेष ध्यान देना आवश्यक है। अधिकतर ये जनजातियाँ सड़क के दोनों ओर तथा नालों के किनारे अपने अस्थायी आवास बनाकर जीवन निर्वाह करती हैं।

कारण

धन की कमी भूमि हस्तांतरण के मुख्य कारणों में से एक है। जब से ये जनजातियाँ सभ्य समाज तथा इसकी वित्त संस्थाओं के सम्पर्क में आयीं, धन की कमी के कारण उनकी भूमि का हस्तांतरण बढ़ता गया। विवाह, उत्सवों, कपड़ों, मदिरा तथा अन्य आवश्यकताओं के लिये जनजातीय लोगों को सदैव धन की आवश्यकता रहती है। कम उपज तथा दुर्बल कृषि व्यवस्था के कारण इन्हें खाद्य सामग्री भी बाजार से खरीदनी पड़ती है। इस प्रकार भूमि हस्तांतरण से साहूकारों तथा दुकानदारों के ऋण एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। साहूकार इन्हें किसी भी समय किसी भी उद्देश्य के लिये बिना शर्त व जमानत के बगैर ऋण देने को तैयार रहते हैं। इन जनजातीय लोगों को केवल एक सादे कागज या किसी मसौदे पर अँगूठा लगाना होता है जिसे ये अनपढ़ आदिवासी पढ़ नहीं सकते। मौखिक बातचीत के द्वारा भी ऋण प्राप्त हो जाता है जो बाद में हानिकारक साबित होता है। इन लोगों को अपनी भूमि गँवाने के साथ-साथ दासता का जीवन व्यतीत करना पड़ता है।

कुछ समय से इन जनजातियों ने राज्य की सहकारी ऋण समितियों से ऋण लेना प्रारम्भ किया परन्तु इन समितियों के साथ उनके अनुभव अच्छे नहीं रहे। अधिकतर सहकारी समितियाँ कम समय के लिए ऋण देती हैं तथा यह ऋण केवल उत्पादक उद्देश्यों जैसे कृषि आदि के लिए ही दिए जाते हैं। जनजातीय लोगों को अपनी अन्य आवश्यकताओं के लिए भी ऋण की आवश्यकता होती है। इसके अतिरिक्त सहकारी समिति का ऋण न चुका पाने की स्थिति में जेल जाने या उनकी सम्पत्ति जब्त कर लिए जाने की घटनाओं से भी ये लोग डरते हैं। उपरोक्त तथ्यों को ध्यान में रखते हुए ये लोग बढ़ी हुई ब्याज की दरों पर भी साहूकारों से ही ऋण लेना अधिक सुरक्षित समझते हैं।

उत्तर प्रदेश, बिहार तथा मध्य प्रदेश की स्थिति

यद्यपि जनजातियों की भूमि हस्तांतरण समस्या पूरे देश में व्याप्त है परन्तु उत्तर प्रदेश, बिहार व मध्य प्रदेश में यह अपनी चरम सीमा पर है। अतः इन प्रदेशों की पद्धति को समझने से इस सम्पूर्ण समस्या की विवेचना में सहायता मिलेगी।

मध्य प्रदेश के सरगुजा जिले की कोरवा जनजाति तथा उत्तर प्रदेश की तराई क्षेत्र की थारू तथा भोक्सा जनजातियाँ भूमि अधिग्रहण व हस्तांतरण की सबसे अधिक शिकार हुई हैं। कोरवा जनजातियों का पूरा क्षेत्र मुस्लिम साहूकारों से भरा पड़ा है जिन्हें मियाँ के नाम से जाना जाता है। ये साहूकार किसी भी समय ऋण देने को तैयार रहते हैं। इनकी केवल एक ही शर्त होती है कि ऋण लेने वाला अपनी भूमि का एक हिस्सा गिरवीं रख दे। भुखमरी व निर्धनता के कारण ये कोरवा लोग ऋण चुकाने में असमर्थ होते हैं जिसके कारण साहूकार इनकी भूमि हड़प लेते हैं। स्थानीय मदिरा की लत भी ऋण का लेने का एक महत्त्वपूर्ण कारण है। यद्यपि जनजातियों को आबकारी विभाग ने अपने प्रयोग के लिए मदिरा बनाने की छूट दे रखी है फिर भी इन लोगों को साहूकारों की गैर-कानूनी भट्टियों पर बनी मदिरा क्रय करनी पड़ती है। साहूकारों के इस मदिरा व्यवसाय में आबकारी अधिकारियों की मौन सहमति प्राप्त होती है। इस प्रकार एक बार ऋण के घेरे में आने पर कोरवा लोगों के पास अपनी भूमि गँवाने तथा दासता का जीवन व्यतीत करने के अतिरिक्त कुछ नहीं बचता।

उत्तर प्रदेश के तराई क्षेत्र के थारू तथा भोक्सा पंजाबी ज़मींदारों, साहूकारों तथा व्यवसायियों के शोषण का शिकार हैं जिन्होंने इनकी हजारों एकड़ भूमि हथिया ली है। इस क्षेत्र की जलवायु बाहर के लोगों के अनुकूल न थी। मलेरिया के फैलाव के साथ-साथ जहरीले कीड़े-मकोड़ों से यहाँ की भूमि भरी पड़ी थी। इन कारणों से बाहरी लोग इन क्षेत्रों में नहीं आते थे। इस प्रकार की जलवायु तथा वातावरण के अभ्यस्त थारू तथा भोक्सा लोगों ने जंगलों को साफ करके हजारों एकड़ भूमि को उपजाऊ बनाया। सर्वप्रथम बँटवारे के समय बड़ी संख्या में पंजाबी शरणार्थी इन क्षेत्रों में आये। मेहनती पंजाबी शरणार्थियों ने इन जनजातियों की उदासीनता तथा आर्थिक अनिश्चितताओं का लाभ उठाते हुए इनकी भूमि हथिया ली। इन नये पंजाबी साहूकारों ने भी देश के अन्य लोगों में प्रचलित, सस्ती मदिरा उपलब्ध कराने तथा बिना शर्त ऋण देने की प्रणाली को ही अपनाया।

अन्य तरीके

अनुसूचित क्षेत्र व अनुसूचित आयोग की रिपोर्ट के अनुसार अन्य बहुत से तरीके हैं, जिनके द्वारा बाहरी लोग जनजातियों की भूमि हड़प लेते हैं। इनमें सबसे प्रचलित तरीका है न्यायालय, जहाँ पर जनजातीय लोग बिल्कुल शक्तिहीन होते हैं। उनकी कोई पहुँच नहीं होती है। अपने ही विरुद्ध गवाही देने का तरीका भी प्रचलित है। इसमें साहूकार ऋण लेने वाले को प्रलोभन देकर उसी के विरुद्ध उसी से गवाही कुछ दिलवाता है। तीसरा तरीका है 'बाजदावा'। इसके अन्तर्गत ऋण लेने वाला न्यायालय द्वारा जारी की गयी डिग्री को मानने के लिए राजी कर लिया जाता है। चौथी पद्धति में ऋणी आदिवासी न्यायालय के समझ यह स्वीकार करता है कि साहूकार के पास उसकी भूमि लिए गये ऋण की सुरक्षा के रूप में है। ऋणी व्यक्ति के सरल स्वभाव तथा ईमानदार प्रवृत्ति का लाभ उठाते हुए, साहूकार इन्हें उपरोक्त स्वीकृति देने के लिए बहला-फुसलाकर न्यायालय में ले जाते हैं।

इन स्थितियों के कारण स्पष्ट हैं। सबसे महत्त्वपूर्ण कारण है प्रशासनिक उपेक्षा तथा जनजातीय क्षेत्रों की स्थितियों का विस्तृत ज्ञान होना। जानजातियाँ अधिकतर साहूकारों पर निर्भर रहती हैं। ऐसे साहूकार जो बाहर से आते हैं तथा जिन्हें जनजातियों के सामाजिक ढाँचे को बनाए रखने या उनकी आर्थिक व्यवस्था को सुधारने में कोई रुचि नहीं है। दूसरा कारण पेचीदा न्याय कानून व्यवस्था, पहले सारे मामले पंचायतों में तय हो जाते थे जिसके कारण इन लोगों को न्यायालय के चक्कर नहीं लगाने पड़ते थे। इन न्यायालयों में अधिक धन व समय दोनों ही की आवश्यकता होती है जो कि जनजातीय लोगों के लिए एक समस्या बन जाती है। इन सबके ऊपर ऋण मिलने के अन्य क्षेत्रों की कमी, जिसके कारण ये लोग सदैव साहूकारों के ऋणों तथा एहसानों से दबे रहते हैं।

मुक्ति के प्रयास/कदम

भूमि हस्तांतरण के तीन मूल कारणों– (अ) न्याय व्यवस्था में कमी (ब) जनजातीय लोगों की उपेक्षा तथा (स) पेचीदा न्याय व्यवस्था को ध्यान में रखते हुए विभिन्न राज्य सरकारें जनजातियों की सहायता के लिए प्रयास कर रही हैं परन्तु असम, मणिपुर तथा मिजोरम के पहाड़ी क्षेत्रों को

छोड़कर अन्य स्थानों पर अधिक लाभ नहीं हुआ है।

जनजातियों की भूमि की सुरक्षा के लिए उठाये गये विभिन्न वैधानिक कदमों की चर्चा से पूर्व अनुसूचित क्षेत्र व अनुसूचित जनजाति आयोग की सलाह का अध्ययन करना उचित रहेगा जिसके आधार पर विभिन्न राज्यों ने अलग-अलग नियम बनाये। इस आयोग की मुख्य सलाह थीः–

1. "जनजातीय भूमि से सम्बन्धित सभी नियमों के पुनरावलोकन की आवश्यकता है। जटिल व्यवस्थाओं, जिनके कारण जनजातियों को समुचित सहायता नहीं मिली, का भी परीक्षण होना चाहिए। सभी राज्यों तथा केन्द्र शासित प्रदेशों में लागू नियमों तथा अधिनियमों का पुनर्निरीक्षण होना चाहिए तथा जनजातीय भूमि के अजनजातीय लोगों के पक्ष में हो रहे हस्तांतरण पर कुछ समय के लिए रोक लगनी चाहिए। बहुत से वर्तमान नियमों में संशोधन की आवश्यकता है। यदि इन व्यवस्थाओं में समय लगे तो ऐसी दशा में राज्यपालों को पाँचवीं अनुसूची द्वारा दिए गये अधिकारों का प्रयोग करके तुरन्त नये विनियमों की घोषणा करनी चाहिए।
2. "हम यह भी सलाह देते हैं कि सभी प्रकार के हस्तांतरण पर निषेध होना चाहिए। किसी भी क्रय, रहन, उपहार या पट्टे या किसी समझौते के अन्तर्गत जनजातीय लोगों की सम्पत्ति का अजनजातीय लोगों के पक्ष में हस्तांतरण बिना उपायुक्त या कलेक्टर की अनुमति के मान्य नहीं होना चाहिए। जनजातीय सलाहकार समिति की सलाह से सरकार को नियम बनाने चाहिए जो प्रत्येक क्षेत्र की स्थितियों को ध्यान में रखते हुए उपायुक्त या कलेक्टर की अनुमति पर नियंत्रण रखें।
3. इस सम्बन्ध में उपायुक्त या कलेक्टर द्वारा जारी किए गए आदेशों पर किसी भी प्रकार के मुकदमे या प्रार्थना-पत्र पर रोक होनी चाहिए। न्यायालय को इस प्रकार के विक्रय, रहन, उपहार या पट्टे से सम्बन्धित मामलों पर ध्यान नहीं देना चाहिए। किसी भी प्रकार की डिग्री जारी करने से पूर्व यह सुनिश्चित कर लेना चाहिए कि उपायुक्त या कलेक्टर से ऐसे हस्तांतरण की पूर्व अनुमति ली गयी थी या नहीं।
4 उपायुक्त या कलेक्टर को शोषित जनजातीय लोगों के प्रतिनिधित्व पर 12 वर्ष के भीतर किसी भी प्रकार की जाँच करने तथा बिना किसी भुगतान के भूमि वापस दिलाने का अधिकार होना चाहिए। इस प्रावधान के अन्तर्गत सभी प्रकार के भूमि हस्तांतरण (जनजातियों की भूमि का अजनजातीय लोगों के पक्ष में हस्तांतरण) जो 26 जनवरी 1950 के बाद हुए हैं, आने चाहिए। इन नियमों के पालन तथा लागू करने के लिए समुचित व्यवस्था की जानी चाहिए।
5. अन्त में, हम यह सलाह देते हैं कि सभी प्रकार के समर्पण या स्वीकृति राज्य सरकार के समक्ष होनी चाहिए जो इनकी भूमि को ट्रस्टी की भाँति अपने पास रखे।"

उपरोक्त सलाह तथा मशवरों के समय निम्नलिखित नियम लागू थे जो कि अधिक प्रभावी तथा सुरक्षात्मक बनाए जाने के उद्देश्य से या तो संशोधित किए गए या उनमें परिवर्तन किया गयाः–

1. आन्ध्र प्रदेश अनुसूचित क्षेत्र भूमि हस्तांतरण विनियम, 1959
2. अनुसूचित क्षेत्र में सम्पत्ति (किराये में कमी-संशोधन) विनियम, 1951
3. मध्य भारत अनुसूचित जनजाति (भूमि आबंटन एवं हस्तांतरण) विनियम, 1954
4. मध्य प्रदेश भूमि राजस्व कोड, 1959
5. बम्बई काश्तकारी तथा कृषि भूमि सुधार अधिनियम, 1948
6. उड़ीसा अनुसूचित क्षेत्र अचल सम्पत्ति हस्तांतरण (अनुसूचित जनजाति) विनियम, 1956
7. राजस्थान काश्तकारी अधिनियम, 1955

उपरोक्त नियमों को दो भागों में बाँटा जा सकता है। एक तो बाहरी लोगों को जनजातीय भूमि हथियाने से रोकने तथा दूसरे, भूमि सुधार के प्रयास करने से सम्बद्ध हैं। दोनों प्रकार के नियम आवश्यकतानुसार नहीं हैं। सुराक्षात्मक कानून अधिक लाभप्रद नहीं सिद्ध हुए तथा ऋणों की वैकल्पिक सुविधाओं का समुचित प्रबन्ध नहीं हो सका। भूमि सुधार नियम भी जनजातीय लोगों की सहायता नहीं कर सके क्योंकि इनसे सहायता लेना जनजातीय लोगों को कठिन प्रतीत होता है। परन्तु इन स्थितियों के सबसे अधिक उत्तरदायी हैं प्रशासन की उपेक्षा तथा जनजातियों की स्थिति में सुधार लाने के कार्यों में प्रशासनिक ढील। जनजातियों का शोषण अब भी चल रहा है। कभी ये शोषक लोक प्रशासनिक उपेक्षा का लाभ उठाते हैं तथा कहीं पर इन्हें निम्न स्तर के अधिकारियों के बढ़ते हुए राजनैतिक सम्बन्धों तथा कृषकों के हितों की रक्षा के लिए कार्य व्यवहारिक संस्थाओं के बढ़ते हुए प्रभावों के कारण आन्दोलन की स्थितियाँ शीघ्रता से बढ़ रही हैं। नक्सलबाड़ी आन्दोलन या श्रीकाकुलम विद्रोह को केवल एक संयोग नहीं मानना चाहिए क्योंकि लम्बे समय से शोषित जनजातियों में अब असंतोष व्याप्त हो गया है तथा ये लोग धीरे-धीरे अपने अधिकारों के प्रति जागरूक होते जा रहे हैं।

(iii) अस्थायी खेती (Shifting Cultivation)

भारतीय जनजातियों में अस्थायी खेती का प्रचलन बहुत पुराना है। अस्थायी खेती का मतलब है कि कुछ समय तक एक भूमि पर खेती करना तथा फिर उसे खाली छोड़ देना। इसके अन्तर्गत जंगली ढलानों की सफाई, गिरे हुए पेड़ों तथा झाड़ियों को जलाना तथा फिर राख से ढकी भूमि पर बीज को छितराने जैसे कार्य होते हैं। इसके बाद सब कुछ प्रकृति पर निर्भर होता है। यह कार्य अधिकतर ग्रीष्म ऋतृ से पूर्व प्रारम्भ होता है जबकि पेड़ तथा झाड़ियाँ काटे जाते हैं। गर्मी के मौसम में यह पेड़ व झाड़ियाँ सूख जाते हैं। इनमें आग लगाकर इन्हें जला दिया जाता है, तथा इसी राख के ऊपर पहली बरसात के समय बीज बोये जाते हैं। इसके पश्चात् इसे प्रकृति की दया पर छोड़ दिया जाता है। एक या दो फसलों के बाद इस भूमि की उपजाऊ शक्ति नष्ट हो जाती है और इसे ऐसे ही छोड़ दिया जाता है तथा खेती के लिए दूसरा स्थान ढूँढ़ लिया जाता है।

अस्थायी खेती का इतिहास नवपाषाण काल तक जाता है, अर्थात् 8000 से 10,000 वर्ष पुराना है। इसके प्रादुर्भाव को लेकर कई विचारधारायें हैं। प्लाइस्टोसीन युग के फौरन बाद बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण अधिक खाद्यों की आवश्यकता पड़ी। अधिक खाद्य उपलब्ध कराने

के लिए तब के मानव को खेती का विचार आया होगा। विस्तृत भूमि उपलब्ध थी जिन पर अनाज, बाजरा, जौ तथा दाल के बीज फैला दिए जाते थे तथा वर्षा ऋतु के बाद उपज काट ली जाती थी। दो या तीन वर्षों के बाद जब उस भूमि पर उपज कम हो जाती थी तब भूमि के दूसरे टुकड़े पर यही कार्य किए जाते थे। इस प्रकार अस्थायी कृषि का चलन प्रारम्भ हुआ।

लीच (1949) के अनुसार अफ्रीका, एशिया तथा नयी दुनिया के उष्णकटिबन्धीय क्षेत्रों में अस्थायी खेती, कृषि का एक अभिन्न अंग रही है।

भारत में इसका प्रचलन असम के सुदूरवर्ती पहाड़ों उड़ीसा, मध्य प्रदेश व बिहार में अधिक है। कुछ अन्य भागों में भी इसका सीमित प्रचलन है। यद्यपि अधिकतर क्षेत्रों में खेती को गैर-कानूनी घोषित कर दिया गया है फिर भी इसका प्रचलन सीमित स्तर पर अब भी देखा जा सकता है। भारत में इस प्रकार की खेती के विभिन्न क्षेत्रीय नाम हैं। असम, मेघालय, त्रिपुरा, मिजोरम तथा अरुणाचल प्रदेश में इसे झूम के नाम से जाना जाता है जबकि मध्य प्रदेश में "बेबाट" या "दहया", आन्ध्र प्रदेश में "पोडू" तथा उत्तरी उड़ीसा में "कोमान" या "विंगा" के नाम से प्रचलित हैं। अस्थायी खेती की समस्या आन्ध्र प्रदेश, उत्तर-पूर्वी क्षेत्र, बिहार तथा उड़ीसा में बहुत गम्भीर है।

अस्थायी खेती उपरोक्त क्षेत्रों में बहुत प्रचलित है तथा इन क्षेत्रों में रहने वालों का जीवन इस पर निर्भर रहता है। परन्तु इसे नियमित रूप से केवल मध्य प्रदेश व उड़ीसा की बैंगा जनजातियों ने अपनाया है। इनकी पौराणिक कथाओं के अनुसार भगवान ने इन्हें इस प्रकार की खेती करने का आदेश दिया है। यह विचार धरती को माँ मानने की विचारधारा से उत्पन्न हुआ। उनके अनुसार धरती माँ पर हल चलाकर इसे कष्ट नहीं देना चाहिए। अस्थायी खेती में किसी प्रकार से भूमि जोतने की आवश्यकता नहीं होती, इसके कारण धरती माँ बैंगा जनजाति को आशीर्वाद देती है। बैंगा जनजाति में यह विश्वास है कि हल के प्रयोग से अनेकानेक समस्याएँ उत्पन्न होंगी।

दो विचार

अस्थायी खेती वन विभाग की दृष्टि में एक ऐसी बुराई है जिसके कारण वनों की बहुत हानि होती है। अनुसूचित क्षेत्र व अनुसूचित जनजाति आयोग की रिपोर्ट में उड़ीसा के भूतपूर्व वनपालक निकलसल की टिप्पणी को प्रस्तुत किया है।

"अस्थायी खेती से वनों को बहुत हानि होती है। जिन क्षेत्रों में भूमि अधिक है तथा जनसंख्या कम वहाँ पर ऐसी खेती से कम हानि होती है। वन शोध संस्थान के वनस्पति वैज्ञानिक एम.एल. बौर ने 1942 में भारतीय विज्ञान कांग्रेस को संबोधित करते हुए अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा कि "मुनष्य द्वारा जीवन-यापन के लिए अन्वेषित सभी क्रियाओं में सबसे अधिक चिंताजनक है अस्थायी खेती।" आधुनिक विचारधारा अधिक उदार है तथा अस्थायी खेती को निश्चित भूभौतिक स्थितियों के कारण उत्पन्न एक जीवन-यापन का साधन मानती है। भूतपूर्व वन महानिरीक्षक एम.डी. चतुर्वेदी के अनुसार "इस विचार को त्यागना चाहिए कि मृदा कटाव (स्वायल ऐरोजन) के लिए मुख्यतः अस्थायी खेती ही उत्तरदायी है। अस्थायी खेती निश्चित रूप से बुराई है। इस दृष्टिकोण को बदलकर इस प्रकार की खेती को जीवन-यापन के एक तरीके के रूप में मान्यता

देनी चाहिए। इसे बुराई समझ कर इसकी निंदा करने के स्थान पर इसे एक प्रकार की ऐसी कृषि प्रणाली मानना चाहिए जिसका उद्भव भूमि की भौतिक स्थितियों के कारण हुआ। बहुत समय से झूमिंग की निंदा की जाती रही है तथा इसे अच्छी दृष्टि से नहीं देखा गया। यह प्रवृत्ति एक प्रकार की हीन भावना को जन्म देती है जिसके कारण किसी भी विकास योजना के क्रियान्वयन के लिए समुचित वातावरण नहीं मिल पाता।''

एक और भूतपूर्व वन महानिरीक्षक एस.एच. हावर्ड के अनुसार इस प्रकार की खेती को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए। उनके अनुसार यदि कटाई के बीच की समयावधि बढ़ा दी जाय तो मृदा कटाव (स्वायल ऐरोजन) का खतरा कम हो जायेगा। जे.पी. मिल्सक जो लम्बे समय तक असम के जनजातीय क्षेत्रों में रह रहे हैं, अपने अनुभव के आधार पर यह मत प्रकट करते हैं कि यदि इस प्रकार की खेती को नियमित कर दिया जाय तो इससे किसी प्रकार की हानि होने का अंदेशा नहीं है तथा इसे सदैव अभ्यास में रखा जा सकता है।

वास्तविक स्थितियाँ तथा व्यवहारिक पक्ष

उपरोक्त सभी तथ्यों के पश्चात् भी इस वास्तविकता से मुँह नहीं मोड़ा जा सकता कि भारतीय जनजातीय जनसंख्या का लगभग दस प्रतिशत भाग अस्थायी खेती पर निर्भर है। किसी भी सैद्धान्तिक आधार पर उन्हें उनकी भूमि, जीवन यापन के साधन की तथा रहन-सहन के तरीकों से वंचित नहीं किया जा सकता विशेष रूप से ऐसी स्थिति में जबकि सभी विशेषज्ञ किसी एक विचारधारा से सहमत नहीं हैं।

मध्य प्रदेश तथा उत्तर-पूर्व के कुछ क्षेत्रों को छोड़कर सभी स्थानों पर अस्थायी खेती को गैर-कानूनी घोषित कर दिया गया है। उपरोक्त क्षेत्रों में यह खेती अधिकारियों की अनुमति से की जाती है। मध्य प्रदेश के बैंगा चक (मंडला जनपद) तथा अमृजमार (बस्तर) तथा कुछ और बैंगा आंतर निवासों में अस्थायी खेती की अनुमति है, यद्यपि यह अनुमति सरकार ने अपनी इच्छा के विरुद्ध दी है। रियर एल्विन तथा स्वर्गीय प्रधानमंत्री नेहरू के कठिन प्रयत्नों से उत्तर पूर्वी क्षेत्र के कुछ भागों में इसकी अनुमति मिल गई थी। अन्य स्थानों पर अस्थायी खेती काटने वालों को दण्ड देने का प्रावधान है। यदि अपराधी गिरफ्तार कर लिया जाता है तो उसे कैद के साथ-साथ जुर्माना भी देना पड़ता है, अन्यथा उस क्षेत्र के सभी लोगों को सामूहिक जुर्माना देना पड़ता है।

सभी का मत है कि इस प्रकार की खेती एक आदर्श पद्धति नहीं है। जहाँ कहीं भी सम्भव हो सीढ़ीदार खेती (ट्रेरेस खेती) व कृषि के अन्य साधनों पर अधिक बल दिया जाना चाहिए। यह जनजातियों से जुड़े कुछ और लोगों को आलसी व अकर्मण्य बनाती है।

इस प्रकार की खेती करने वाली जनजातियों का अपना तर्क है। मध्य प्रदेश की कोड़कू, बैंगा, कोरवा तथा माड़िया जनजातियों तथा असम तथा आसपास के क्षेत्रों की नागा जनजातियों के कथनानुसार अस्थायी खेती में कुदाल, फावड़ा, कुल्हाड़ी तथा हँसिया आदि यन्त्र प्रयोग होते हैं जिन्हें ये लोग आसानी से खरीद सकते हैं तथा जिनके रखरखाव में भी अधिक धन नहीं लगता। दूसरी ओर जुताई द्वारा खेती में महँगे यन्त्रों, धन तथा समर्पण की आवश्यकता होती है तथा इसमें नियमित रूप से कार्य करना पड़ता है। इन सबके साथ अस्थायी खेती इनके यायावरी जीवन के

अनुरूप भी होती है।

अस्थायी खेती की हानियों को देखते हुए भी इसे एकदम से समाप्त नहीं किया जा सकता क्योंकि इस प्रकार की खेती करने वाली जनजातियों का जीवन पीढ़ियों से इस पर निर्भर है। बहुत से स्थानों पर जहाँ पर सीढ़ीदार खेती सम्भव नहीं है इस प्रकार की खेती को रोका नहीं जा सकता। ऐसी स्थितियों में अस्थायी खेती को वैज्ञानिक विधियों से नियमित करने के सम्पूर्ण प्रयास किए जाने चाहिए जिससे कि इस खेती से होने वाली दूसरी हानियाँ न हों तथा इन खेतों की उपजाऊ शक्ति भी बनी रहे।

समस्या का हल

अनुसूचित क्षेत्र व अनुसूचित जनजाति आयोग की रिपोर्ट में कुछ महत्त्वपूर्ण सुझाव दिए गये हैं। कुछ प्रमुख सुझाव निम्नलिखित हैं:

1. इस प्रणाली को पूर्ण रूप से समाप्त करने में समय लगेगा। इस बीच इसे नियमित करने, सुधारने तथा अन्य सम्भावित विधियों का प्रयोग करने के प्रयास किए जाने चाहिए। अस्थायी खेती जनजातीय जीवन से जुड़ी है अतः यह केवल कृषि संसाधनों को सुधारने की तकनीकी समस्या ही नहीं है यह भूमि की स्थिति तथा सामाजिक रीतिरिवाजों, परम्पराओं तथा विश्वासों की मिली-जुली समस्या है। शीघ्रता से लिया गया कोई भी निर्णय स्थितियों को और भी खराब कर सकता है।
2. जहाँ भी पहाड़ी ढलानें अच्छी हैं तथा मिट्टी गहरी है वहाँ पर अस्थायी खेती को सीढ़ीदार खेती में परिवर्तित किया जा सकता है। परिवर्तनों में सुधार की अधिक संभावनाएँ हैं तथा बहुत से जनजातीय क्षेत्रों में यह कार्य पूरे उत्साह के साथ किया जा रहा है।
3. कृषि-बस्तियों की स्थापना से बहुत से जनजातीय लोगों को स्थायी खेती की ओर आकर्षित किया जा सकता है। आन्ध्र प्रदेश, पश्चिम बंगाल तथा मध्य प्रदेश के कुछ भागों में कृषि बस्तियाँ स्थापित की गई हैं। यहाँ पर प्रत्येक जनजातीय परिवार को कृषि भूमि के साथ-साथ मकान बनाने, भूमि सुधार करने, बैलों, कृषि यन्त्रों तथा बीज के लिए वित्तीय सहायता भी दी गयी थी। पीने के पानी, सिंचाई, स्वास्थ्य व संचार व्यवस्था उपलब्ध कराने की भी योजना थी। इन सबके पश्चात् भी इस योजना को अधिक सफलता नहीं मिली जिसके कारण थे कुछ तो पूरी योजना का सुचारु रूप से क्रियान्वयन न किया जाना तथा दूसरे, जनजातीय मानसिकता द्वारा समतल तथा बाहरी भूमि को अस्वीकार किया जाना।

योजना आयोग के अध्ययन दल की रिपोर्ट (1969) के अनुसार जनजातीय कृषकों को आधुनिक तकनीकों को अपनाने के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए जिससे कि कृषि उत्पादकता में वृद्धि हो। इस उद्देश्य के लिए निम्न कदम उठाए जाने चाहिए:

1. अच्छे व प्रदर्शनी-हेतु खेतों की स्थापना।
2. विकसित कृषि यंत्रों, अच्छी खादों तथा बीजों का वितरण।
3. ऋण सुविधा उपलब्ध कराना।

वितरित किये जाने वाले विकसित कृषि यंत्र जनजातियों की आवश्यकतानुसार होने चाहिए।

(iv) गरीबी (Poverty)

निःसन्देह दीर्घकालीन व्यापक गरीबी भारत के औपनिवेशिक इतिहास में शुरू से ही चली आ रही है। अपनी आर्थिक समस्याएँ हल करने और सर्वतोमुखी विकास करने के हमारे प्रयास हमारी पंचवर्षीय योजनाओं के साथ शुरू हुए। उन्होंने कई मामलों में देश का कायाकल्प भी किया, जैसे ठोस औद्योगिकीकरण, हरित क्रांति जिससे देश में आवश्यकता से अधिक खाद्यान्न पैदा होने लगा, औसत जीवनावधि में वृद्धि हुई, मध्य वर्ग की समृद्धि में तेजी से वृद्धि हुई। हमारे नियोजन का विरोधाभास यह है कि वह भारत के गरीबों के जीवन-स्तर को ऊँचा करने में असफल रहा। गरीबी नीचे स्तर की प्रति व्यक्ति आय में स्पष्ट रूप से निरन्तर दृष्टिगोचर होती रही है और देश की आबादी का एक बड़ा हिस्सा गरीबी की रेखा के नीचे ही गुजर-बसर कर रहा है। गरीबी की यह रेखा पहले 3500 रुपए के उपभोग-स्तर पर था और बाद में वह अपने संशोधित रूप में 6400 रुपए के उपभोग स्तर पर पहुँच गई।

योजना आयोग ने गरीबी की घटना का अनुमान 1983-84 में 374 प्रतिशत और 1987-88 में 29.9 प्रतिशत लगाया। यह प्रतिशत कुल आबादी का है। ग्रामीण आबादी और अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जन-जाति के मामले में तो यह प्रतिशत इससे काफी अधिक है। योजना-आयोग द्वारा संयोजित विशेषज्ञ समिति ने गरीबी की घटना को 1983-84 में 44.8 प्रतिशत और 1987-88 में 39.3 प्रतिशत आँका है। 1993-94 के एन. एस. के आँकड़े अभी जारी नहीं किए गये हैं। अतः देश के 49 करोड़ 30 लाख लोगों के लिए जो गरीबी की रेखा के नीचे रह रहे हैं विकास एक दूर का सपना है (यू.एन.डील. पी. 1993)।

गरीबी की इस स्थिति के लिए बहुत से पहलू जिम्मेदार हैं और वे सभी हमारे नियोजन के प्रतिमान और देश की सामाजिक-राजनीतिक संरचना में मौजूद हैं। हमारी योजनाओं ने औद्योगिक उन्नति, विशेषरूप से विनिर्माण और कृषि पर, आवश्यकता से अधिक बल दिया। कृषि के क्षेत्र में हमने बड़े पैमाने की सिंचाई योजनाओं और रासायनिक उर्वरकों आदि को प्रोत्साहित किया है जो वास्तविक रूप से बड़े और सम्पन्न किसानों के लिए लाभप्रद है, लेकिन छोटे और गरीब किसानों के लिए नहीं। आमतौर पर मान लिया गया कि औद्योगिक विस्तार, कृषि उत्पादन और रोजगार के अवसरों की वृद्धि से जो लाभ होंगे वे समाज के नीचे से नीचे तबके तक पहुँचेंगे। सर्वथा असमान और पुरोहितराजवाद से ग्रसित समाज में आय के वितरण जैसी छोटी चीज के आधार पर पूरे समाज में व्याप्त अंतरों को कम करने के सभी प्रयास पूर्णतः अनुपयुक्त सिद्ध हुए। विश्लेषकों ने यह भी कहा कि राज्य सरकार ने हस्तक्षेप करने की जितनी भी कार्रवाइयाँ की, जैसे भूमि सुधार, कृषिगत आय और आधिक्य का पुनः वितरण और रोजगार बढ़ाने की दृष्टि से शिक्षा सम्बन्धी बाह्य संरचनाओं (स्कूल, होस्टल आदि) का निर्माण आदि, वे सभी पूरे मन से या उत्साह के साथ नहीं की गयीं, उन सब पर उद्यमी और पूंजीवादी वर्ग ही आदि से अंत तक छाया रहा और उन्होंने धीरे-धीरे राजनीतिक और धार्मिक मामलों पर अपना पूरा कब्जा जमा लिया।

इन प्रवृत्तियों के परिणामस्वरूप चौथी योजना अवधि में और उसके बाद भी ग्रामीण इलाकों की गरीबी हटाने के लिए किसी समूह विशेष को हटा देने का लक्ष्य ही निर्धारित किया जाता रहा। इसके अतिरिक्त भूमि सुधार की जो सबसे जरूरी कार्रवाई थी उसकी 'गरीबी हटाओ' कार्यक्रम के अन्तर्गत एक आय विशेष और रोजगार पैदा करने की योजनाओं पर बल दिया गया। इनमें जो और योजनाएँ शामिल की गयीं वे थीं रोजगार के अवसर पैदा करने वाली योजनाएँ, आई.आर.डी.पी. जिन्हें ऋणों और 'मार्जिन मनी' देकर खेती और अतिरिक्त आय के जरिए पैदा करने में मदद करनी थी, रोजगार के लिए वैयक्तिक दक्षताएँ पैदा और प्रशिक्षित करने के लिए टी.आर.वाई.एम.ई.एम. के साथ ही ऐसे अनेक कार्यक्रम जिनसे ग्रामीण महिलाओं की अतिरिक्त आय बढ़ सके। 1980 के प्रारम्भिक वर्षों में आई.आर.डी.पी. का विस्तार और सर्वथा लाभहीनों तक पहुँचने के लिए उस कार्यक्रम को ज्यादा से ज्यादा पैना करने के बाद वह स्थिति पर थोड़ा बहुत प्रभाव डालने में सफल हो सका।

दूसरों की तुलना में अनुसूचित जनजातियों में गरीबी का स्तर बहुत अधिक शोचनीय है। 1983-84 में ग्रामीण जनजाति समुदाय में 58.4 प्रतिशत व्यक्ति गरीबी की रेखा से नीचे थे। स्मरण रहे लगभग 94 प्रतिशत जनजाति के लोग ग्रामीण इलाकों में ही रहते हैं। शहरी आबादी में गरीबी की रेखा के नीचे रहने वाले 39.9 प्रतिशत थे। आठवीं योजना के दौरान जनजातियों पर काम करने वाले कार्यकारी समूह के अनुमान के अनुसार 1991 में 99.24 लाख जनजाति परिवार गरीबी की रेखा के नीचे थे। आई.आर.डी.पी. की एक योजना ने आठवीं योजना अवधि में लगभग 42प्रतिशत परिवारों की सहायता की। फिर भी, ऐसा कोई अनुमान उपलब्ध नहीं है जिससे सही रूप में यह जाना जा सके कि जनजातियों के कितने परिवार गरीबी की रेखा से ऊपर आ सके हैं। आई.आर.डी.पी. के मूल्यांकन के अनुसार गरीबी की रेखा पार करने वाले परिवारों का प्रतिशत बहुत ही कम है। कार्यकारी समूह का तखमीना था कि गरीबी की रेखा पार करने के लिए प्रति परिवार 8000 रुपयों का निवेश होना जरूरी है लेकिन वास्तविक रूप से प्रति परिवार केवल 3481 रुपए का निवेश ही किया जा सका। यही नहीं अनुसूचित जनजाति के प्रति परिवार पर जो निवेश किया गया वह उन परिवारों पर जो अनुसूचित जनजाति के नहीं थे, किए गये निवेश से भी बहुत कम था। यह भी अनुभव किया गया है कि जनजाति समुदाय के ज्यादातर हिस्सों को दरिद्र बनाने और होशियार बनाने की जिम्मेदारी राष्ट्रीय विकास के बड़े पैमाने के लक्ष्यों को पूरा करने की कार्यवाहियों पर रही है। जनजातीय समुदाय धीरे-धीरे एक ऐसी प्रक्रिया का शिकार होता गया जिसमें एक ओर तो उनके साधनों के आधार और उत्पाद राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था से अस्तव्यस्त हुआ और दूसरी ओर उनके परम्परागत सामुदायिक अधिकारों और आर्थिक मूलाधारों का अपहरण राज्य सरकार और व्यापारी हितों द्वारा किया गया। अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के भूतपूर्व कमिश्नर डा. बी.डी. शर्मा के कथनानुसार मौजूदा परिस्थितियों की गहरी जाँच से स्पष्ट है कि इस जनसमाज को पाँच स्तरों पर वंचित किया गया जैसे– 1. साधनों पर जो उनके परम्परागत अधिकार थे उनको मान्यता नहीं दी गयी और उनके लिए उन साधनों के इस्तेमाल पर पाबन्दी लगाई गयी। 2. काम करने वालों को उत्पादन के साधनों से अलग किया गया 3. मजदूरों को उनकी किश्तें नहीं दी गईं। 4. उनकी स्वाधीनता का सौदा किया गया।

5. मनोवैज्ञानिक रूप से उन्हें अपने को हीन और वंचित समझने के लिए विवश होना पड़ा जिसके फलस्वरूप उनमें अपनी इज्जत और अपने आत्मसम्मान की भावना समाप्त हो गयी। दूसरे शब्दों में वन-उत्पादन जंगलों से सम्बन्धित उनके परम्परागत अधिकार पूरी तरह छिन गये। जन-जातियों की अच्छी उपजाऊ ज़मीनें उन लोगों के हाथों में चली गयीं जो उनके समाज के नहीं हैं। जनजाति के लोग दिन-प्रति-दिन गरीब होते जा रहे हैं। यही नहीं वे बड़ी संख्या में मजदूरी करने लगे हैं और इन मजदूरों को न्यूनतम मजदूरी भी नहीं मिलती। स्वयं सरकारी विभाग भी इन्हें उतनी मजदूरी नहीं देते जो सरकार द्वारा निर्धारित न्यूनतम मजदूरी है। औद्योगिक विकास और सिंचाई की बड़ी-बड़ी परियोजनाओं से जहाँ बड़े और सम्पन्न काश्तकारों को लाभ पहुँचा है वहीं जनजाति के परिवारों को अपने बड़े-बड़े मूल स्थान छोड़ने और विस्थापित होने के लिए मजबूर होना पड़ा है। हमारी कानून व्यवस्था इतनी लचर है कि न उन्हें पर्याप्त मुआवजा मिला और न उनके साथ इंसाफ हो सका है। इन विस्थापितों के पुनःस्थापन का कार्य भी जैसा होना चाहिए था वैसा नहीं हो सका है। आन्ध्र प्रदेश के 22 जिलों के अध्ययन (1990) से स्पष्ट है कि सरकारी कार्यक्रमों से अनुसूचित जातियों और पिछड़ी हुई जातियों ने तो लाभ उठाया है किन्तु जनजाति के लोग उनकी तुलना में भी घाटे में रहे हैं। गरीबी की रेखा के मामले में भी अनुसूचित जातियों और पिछड़ी हुई जातियों को लाभ हुआ है उनका एक बड़ा हिस्सा उस रेखा से ऊपर आया है किन्तु अनुसूचित जनजातियों पर 'गरीबी हटाओ' कार्यक्रम का कुछ ज्यादा प्रभाव नहीं डाल सका है। अतः अनुसूचित जनजातियों की गरीबी दूर करने के लिए एकदम नई कल्पनाशील और प्रभावपूर्ण पद्धतियाँ अपनानी होंगी। विकास के लिए विश्व भर में जो प्रगति हो रही है उससे सम्पत्ति पर अधिकार ज्यादातर बड़े और शक्ति सम्पन्न लोगों का ही हो रहा है जबकि प्रकृति और उस पर आश्रित रहने वाले मनुज-संतान उत्तरोत्तर गरीब होती जा रही है। इस प्रकार आदिवासी समाज सदा से दमनकारी बाहरी लोगों से एक ऐसा संघर्ष या युद्ध करते हैं जिससे दोनों पक्ष समान नहीं हैं और आदिवासियों को ही पराजित होना पड़ता है (बाविस्कर, 1995)।

जनजातियों को वंचित करने और दरिद्र बनाने के इस व्यापक प्रयास के संदर्भ में गरीबी हटाओ और ग्रामीण लोगों को रोजगार दिलाने के कार्यक्रमों के अलावा जनजाति क्षेत्रों में सार्वजनिक वितरण पद्धति में संशोधन या सुधार, सहकारी योजनाएँ तथा अन्य अनेक क्षेत्रों में सरकार द्वारा की जा रही इसी प्रकार की समस्त कार्रवाइयाँ अभी तक विस्तृत रूप से प्रभावशाली या परिणामकारी सिद्ध नहीं हो सकी हैं।

(v) बेरोजगारी (Unemployment)

जनजातियों की स्थिति और उससे सम्बद्ध रोजगार की समीक्षा करने के पहले हमें भारत की जनजाति आबादी के व्यावसायिक ढाँचे के बारे में थोड़ा बहुत समझ लेना चाहिए। जनजातियों का एक बहुत बड़ा बहुमत (लगभग 85 प्रतिशत) कृषि क्षेत्र में काम करता है। उसमें कुछ किसान हैं कुछ सीमांतक खेती करते हैं और शेष खेतिहर मजदूर हैं। उनका एक छोटा हिस्सा औद्योगिक क्षेत्र में है। वे कारखानों में मजदूरी करते हैं। कुछ समूह जिनमें नीलगिरि पर्वत (तमिलनाडु) के टोड़ा, उ.प्र. में हिमालयी उपक्षेत्र के भोटिया, जम्मू-कश्मीर क्षेत्र के बकरेवाले आदि आते हैं, पशुपालक हैं। कुछ दस्तकार हैं, जैसे पश्चिम बंगाल के महली, बिहार और मध्य प्रदेश के असुर

और अगेरिया लोहारी का काम करते हैं। लगभग 70 जनजातियाँ शिकार करती हैं और जंगलों से वस्तुएँ एकत्र करके अपनी उदर पूर्ति करती हैं। इनमें से ज्यादातर दक्षिणी भारत में हैं। अभी हाल में जनजातियों के काफी लोगों ने या तो प्रवासी खेतिहर मजदूरों का पेशा अपना लिया है या फिर वे ईंट के भट्ठों पर और इमारत बनाने के काम में अदक्ष मजदूरों का काम करने लगे हैं। जनजातियों की कुल आबादी के बीच कुछ बहुत कम ऐसे व्यक्ति भी हैं जो पढ़े लिखे हैं। वे या तो सरकारी नौकरियों में हैं या फिर डाक्टरी, अध्यापकी, उद्यमी आदि विभिन्न पेशों में काम कर रहे हैं। गरीबी और दरिद्रता जनजातियों की किस्मत में है। केवल उत्तर-पूर्वी भारत की जनजातियाँ खुशनसीब हैं क्योंकि उन क्षेत्रों में उनके विकास का आदर्श "शिक्षा-पहले" के सिद्धान्त पर आधारित रहा है।

इस वर्तमान परिदृश्य में राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम पर (एन.आर.ई.पी.) जिसमें केन्द्र और राज्य की सरकारों ने बराबर की पूँजी लगाई है, 1980 से काम हो रहा है। ग्रामीण भूमिहीन रोजगार गॉरन्टी कार्यक्रम (आर.एल.ई.जी.पी.) को 1983 से अमल में लाया जा रहा है। इन दोनों कार्यक्रमों का लक्ष्य ग्रामीण भूमिहीन को न्यूनतम सुनिश्चित स्तर का रोजगार दिलाना है। इन भूमिहीनों में ज्यादातर अनुसूचित जाति या अनुसूचित जन-जाति के लोग हैं। इन्हें वर्ष के उन महीनों में रोज़गार दिलाना आवश्यक है जब इनके पास कोई काम नहीं होता।

1989 से एन.आर.ई.पी. और आर.एल.ई.जी.पी. दोनों को एक राष्ट्रीय ग्रामीण रोज़गार कार्यक्रमों में, जिसे जवाहर रोजगार योजना (जे.आर.वाई.) कहते हैं, आत्मसात कर दिया गया। इस कार्यक्रम में 80 प्रतिशत धन केन्द्र सरकार और 20 प्रतिशत धन राज्य सरकार लगा रही है। जवाहर रोजगार योजना के उद्देश्य हैं: अतिरिक्त लाभकर रोजगार की व्यवस्था, उत्पादक सामुदायिक परिसम्पत्तियों का सृजन और ग्रामीण क्षेत्रों में कुल मिलाकर जीवन शैली को उन्नत करना। जवाहर रोजगार योजना में अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लोगों को रोज़गार उपलब्ध कराने की विशेष व्यवस्था है, बनजारे जनजातियों के लोगों के लिए समन्वित परियोजनाएँ चलाने तथा अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लोगों की वैयक्तिक सहायताओं के लिए जिला और गाँव पंचायत स्तर के साधनों का 15 प्रतिशत तक सुरक्षित कर दिया गया है। यही नहीं, अनुसूचित जनजाति के लाभार्थ काम की जाँच और उन्हें रोज़गार के अवसर सुनिश्चित करने के निर्देश भी दिये गये हैं। इस सबके अलावा, राष्ट्रीय अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति वित्त और विकास निगम भी इस दिशा में प्रयत्नरत हैं। उसकी स्थापना 1989 में विशेष रूप से इन दोनों अनुसूचित जातियों के व्यापार, व्यवसाय, पेशे और अन्य आर्थिक क्रियाकलाप की पहचान और उनका पता लगाकर उपलब्ध कराने के लिए की गयी थी। साथ ही उसका कार्यक्रम सहायता देनेवाली ऐसी परियोजनाएँ चलाने का भी है जिनसे इन जातियों को रोजगार मिल सके। (इस संगठन और इसके कार्यों पर जनजाति विकास वाले अध्याय में प्रकाश डाला गया है) जनजातीय विकास कार्यक्रमों और विविध प्रकार के सरकारी और गैर-सरकारी दस्तावेजों व अध्ययनों से यह जाहिर है कि जनजातीय क्षेत्रों में रोजगार की स्थिति शोषण, साधनों की चोरी, प्रतिक्रिया के अभाव, नीचे स्तर के सरकारी कर्मचारियों के निर्दय और निर्मम रुख तथा अन्य अनेक विरोधी तत्त्वों से अब भी भरी हुई हैं।

(vi) स्वास्थ्य (Health)

जनजातीय लोगों का सामान्य स्वास्थ्य बहुत बुरा नहीं है परन्तु लगातार संक्रमण से उनको अक्सर बीमारियों का सामना करना पड़ता है। मूलभूत प्रश्न यह है कि जन स्वास्थ्य की आधुनिक सुविधाओं का कितना भाग इन जनजातियों तक पहुँचता है ? इस प्रश्न पर विचार करने से पूर्व हमें जनजातियों की स्वास्थ्य समस्याओं का परीक्षण करना चाहिए। वैसे तो जनजातियाँ बहुत सी बीमारियों से ग्रस्त रहती हैं परन्तु सबसे अधिक मात्रा में जल संक्रामक रोग पाये जाते हैं जिनसे बहुत लोगों की मृत्यु हो जाती है। पीने के पानी की उपलब्धता में कमी इन रोगों का मुख्य कारण है। जिन स्थानों पर प्रचुर मात्रा में जल उपलब्ध है वहाँ पर भी जल गंदा व दूषित होता है। फलस्वरूप अधिकतर लोग पेट-आँत तथा चर्मरोगों के शिकार हो जाते हैं। कालरा, पेचिश, अतिसार, नहरुआ आदि बीमारियाँ इसी दूषित जल के प्रयोग के कारण हो जाती है।

खनिजों तथा अन्य तत्त्वों की कमी भी बीमारियों का कारण है। हिमालय क्षेत्र में घेघा जैसी गले की बीमारी अधिक है। इसका कारण है आयोडीन की कमी। हिमाचल प्रदेश के कुछ भागों की जनजातियों में यौन रोग का बहुतायत है। पोषण तत्त्वों की कमी के कारण बहुत सी जनजातियों में क्षय रोग का आधिक्य है। अधिकतर जनजाति के लोगों के शरीर में सभी प्रकार के प्रतिरक्षक का विकास नहीं हुआ है। अतः ये लोग आसानी से किसी भी नयी बीमारी का शिकार हो जाते हैं। घेबर आयोग के अनुसार एक ऐसी बीमारी है जिससे जनजातीय लोग सदा भयभीत रहते हैं। यह रोग आन्ध्र प्रदेश के एजेन्सी क्षेत्र के उत्तरी भागों, दक्षिणी उड़ीसा, महाराष्ट्र के चन्दा जिले तथा मध्य प्रदेश के बस्तर जिले में अधिक पाया जाता है। कुष्ठ रोग सम्पूर्ण भारत में व्याप्त है। अतः जनजातियाँ भी इससे अछूती नहीं रहीं। आन्ध्र प्रदेश के एजेन्सी क्षेत्रों, असम की मिकिर पहाड़ियों, पश्चिम बंगाल के बाँकुरा तथा पुरुलिया जिलों, बिहार के संथाल परगना तथा उड़ीसा में मयूरभंज से पुरी तक के क्षेत्रों में इस रोग का बाहुल्य है। जनजातियों में खुजली, चर्मरोग, चेचक तथा इनेमिया जैसे रोग भी आम हैं।

यह बात सही है कि सरकार स्वास्थ्य तथा चिकित्सा की दिशा में अधिक से अधिक सुविधायें प्रदान करने की इच्छुक है, फिर भी इस प्रकार की योजनाओं की असफलता के निम्न कारण हैं:—

(क) सही दृष्टिकोण की आवश्यकता

(ख) कार्यकर्ताओं तथा कर्मचारियों की समस्या

(ग) अपर्याप्त संचार व्यवस्था

(घ) दवाओं के वितरण से सम्बन्धित नियम।

प्रायः जनजातीय लोग सरकारी चिकित्सालयों में कम ही आते हैं। इसका कारण है इनकी अपनी चिकित्सा पद्धतियाँ। सुदूरवर्ती तथा दुर्गम क्षेत्रों में रहने वाली जनजातियों में यह विश्वास व्याप्त है कि बीमारियाँ दैवी शक्तियाँ, भूत प्रेतों के प्रकोप या किसी परंपरा या नियम के उल्लघंन के कारण होती हैं। ये लोग मानते हैं कि दैवी शक्तियों के कारण आयी बीमारियों या दुर्भाग्य का उपचार भी उसी प्रकार होना चाहिए। इसीलिए सुदूरवर्ती तथा दुर्गम क्षेत्रों में रहने वाली जनजातियों

के अपने ओझा, जादूगर तथा शामन होते हैं। सभी उपचारों से निराश होने के बाद ही यह लोग स्वास्थ्य कर्मचारियों से सम्पर्क करते हैं। डाक्टरों द्वारा ओझाओं को अपना प्रतिद्वन्द्वी समझने के कारण स्थितियाँ और भी गम्भीर हो जाती हैं। घेबर कमीशन की टिप्पणी के अनुसार "एक सरल प्रकृति का मनुष्य पुजारी तथा डाक्टर दोनों के पास जायेगा। पुजारी उसके लिए प्रार्थना करेगा, डाक्टर उसे दवा देगा। मान्यता यह है कि ईश्वर पुजारी की प्रार्थना सुनता है जिससे दवा का प्रभाव बढ़ जायेगा। डाक्टर एक ऐसा साधन है जिसके माध्यम से दैवी शक्तियाँ काम करती हैं।" आधुनिक चिकित्या पद्धति को इन जनजातियों तक पहुँचाने के उद्देश्य को पूरा करने के लिए स्थानीय विश्वासों, आस्थाओं तथा संवेदनाओं को ध्यान में रखना आवश्यक है। घेबर कमीशन ने उत्तर-पूर्वी जनजातियों का दिलचस्प उदाहरण प्रस्तुत किया है। इन क्षेत्रों में डाक्टरों तथा स्वास्थ्य कर्मचारियों से, वहाँ के स्थानीय एवं पारम्परिक चिकित्सकों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने का आग्रह किया जाता है। डाक्टरों को यह निर्देश है कि वह लोग क्षेत्रीय उपचार पद्धति का ना तो विरोध करें और न ही उसे अन्ध-विश्वास कहें। इसके स्थान पर इस प्रकार की पद्धति को उन्हें विश्व की अन्य मनोवैज्ञानिक तथा आस्था उपचार पद्धतियों की भाँति सम्मान देना चाहिए। एक बुद्धिमान डाक्टर स्थानीय ओझाओं व पुजारियों से मित्रता करके उन्हें अपने चिकित्सालयों में आमंत्रित करेगा। उन्हें प्रार्थना तथा बलि करने से नहीं रोकेगा तथा उन्हें यह समझायेगा कि आधुनिक चिकित्सा पद्धति उनकी प्रणाली की पूरक है। मनोवैज्ञानिक रूप से स्थानीय पुजारियों की भूमिका अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। यदि किसी रोगी को यह विश्वास है कि इस पर किसी भूतप्रेत का साया है तो ऐसी स्थिति में यह पुजारी ही इसके मन में बैठे डर को दूर कर इसका उपचार कर सकते हैं। चिकित्सा कर्मचारियों के लिए आवश्यक है कि यह लोग जनजातीय ओझाओं तथा दवाओं के प्रति सही दृष्टिकोण तथा व्यवहार रखें। अनुसूचित क्षेत्र व अनुसूचित जनजाति आयोग की रिपोर्ट के अनुसार "सफल चिकित्सक वह है जो स्वास्थ्य सम्बन्धी सामाजिक मान्यताओं में रुचि रखता हो। जनजातियों की स्वप्नों का स्वास्थ्य पर प्रभाव, "जैसी मान्यताओं तथा जनजातीय चिकित्सा पद्धति को सम्मान देता हो।"

स्वास्थ्य कर्मचारियों तथा प्रशिक्षित नर्सों की कमी भी भारतीय जनजातीय स्वास्थ्य की समस्या का एक महत्त्वपूर्ण पहलू है। अधिकतर स्वास्थ्य कर्मचारी (पुरुष तथा महिलाएँ) गाँवों तथा जनजातीय क्षेत्रों में जाने के इच्छुक नहीं हैं। इसका कारण है समुचित आवास, शिक्षा एवं अन्य व्यवस्थाओं की कमी के साथ-साथ मनोरंजन के साधनों की भी कमी होना। घेबर कमीशन के अनुसार बीस वर्षों के लिए एक विशेष स्वास्थ्य सेवा का गठन करके इस समस्या को हल किया जा सकता है। स्थानीय लोगों को ऐसा प्रशिक्षण दिया जाय जिससे कि बीस वर्षों के बाद यही लोग अपने चिकित्सालयों को सुचारु रूप से चला सकें। इसके साथ-साथ आयुर्वेदिक दवाओं, जड़ी-बूटियों के प्रयोग को प्रोत्साहित करना चाहिए। ये लोग इन जड़ी-बूटियों का प्रयोग पहले से ही करते आ रहे हैं अतः इन्हें इस प्रकार की चिकित्सा पद्धति स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं होगी।

जनजातीय क्षेत्रों की भौगोलिक स्थितियों तथा दुर्गमता को ध्यान में रखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि सचल दवाखाने स्थिर चिकित्सालयों से अधिक लाभप्रद सिद्ध होंगे। यह सचल दवाखाने भी छोटी-छोटी गाड़ियों में होने चाहिए जिससे कि ऊबड़-खाबड़ रास्तों पर भी आसानी से पहुँच

सकें। इस प्रकार के सचल दवाखानों के लिए एक जीप अधिक उपयोगी होगी जिसमें एक डाक्टर, कर्मचारी तथा दवायें आसानी से जा सकती हैं। कभी-कभी अच्छी किस्म की बैलगाड़ियों का भी प्रयोग किया जा सकता है। उत्तर-पूर्वी क्षेत्रों में इन स्वास्थ्य इकाइयों को दुर्गम स्थानों पर पैदल चलना पड़ता है तथा प्रतिकूल परिस्थितियों में भी शिविर लगाकर आपरेशन किए जाते हैं। इन स्थितियों में सद्भाव व समर्पण के बिना कार्य करना असम्भव है।

सुदूरवर्ती क्षेत्रों में दवाओं की माँग व पूर्ति के नियम बहुत जटिल हैं। दवाओं की मात्रा की जाँच मैदानों के मापदण्ड से की जाती है। इस प्रकार के नियम बनाते समय इस बात पर ध्यान नहीं दिया जाता कि जनजातीय क्षेत्रों में डाक्टरों को उपचार करने के साथ-साथ जलवायु की विविधता का भी सामना करना पड़ता हे तथा कभी-कभी आकस्मिक आवश्यकताओं तथा चिकित्सा के लिए विशेष प्रकार की दवाओं को भंडार में रखना पड़ता है।

जनजातीय लोगों के स्वास्थ्य से सम्बन्धित समस्याओं में नशीले पेय पादार्थों का सेवन भी एक महत्त्वपूर्ण समस्या है। बाजरा, चावल तथा अन्य अनाज के दानों को सड़ा कर मदिरा बनायी जाती है। यह पारम्परिक मदिरा घरों में बनायी जाती है, तथा समस्त परिवार इसका सेवन करता है। इसके अतिरिक्त सरकार से लाइसेंस लेकर ठेकेदार मदिरा बनाते हैं तथा बेचते हैं। सीधे-सादे जनजातीय लोगों को घर में मदिरा बनाने से रोका जाता है तथा बाहरी लोगों द्वारा बनायी गयी मदिरा क्रय करने को बाध्य किया जाता है। इस मदिरा के आदी हो जाने के बाद यह निर्धन जनजातीय लोग अपनी सम्पत्ति बेचते हैं या ऐसे समझौते करते हैं जिनमें इनका शोषण निश्चित होता है। इस समस्या का एक ही व्यावहारिक हल है। बाहरी ठेकेदारों तथा मदिरा को इन क्षेत्रों से बाहर निकाल दिया जाय जिससे यह जनजातीय लोग अपने घरों में मदिरा बनाकर अपनी परम्पराओं तथा संस्कृति का स्वतंत्रतापूर्वक निर्वाह कर सकें।

जनजातीय लोगों में अफीम तथा अन्य औषधियों की लत भी एक गम्भीर स्वास्थ्य समस्या है। अरुणाचल प्रदेश की सिंहफों जनजाति इसका ज्वलंत उदाहरण है। लगभग 150 वर्ष पूर्व इन लोगों की संख्या 40 हजार थी जो अब लगभग एक हजार रह गयी है। यद्यपि कई युद्धों, बीमारियों तथा कुपोषण ने भी अपनी भूमिका निभायी परन्तु अफीम के दुर्व्यसन ने इन्हें सबसे अधिक हानि पहुँचाई है। ऐसा विश्वास है कि अफीम के कारण इनकी जनन क्षमता भी कम हो गई, मृत्यु दर तथा भुखमरी बढ़ गई। यह सिंहफों लोग दिन भर अफीम व तम्बाकू पीते देखे जा सकते हैं। अफीम सिंहफों जीवन का एक अभिन्न अंग बन गयी है। अपने पशुओं तथा भूमि का ध्यान यह लोग नहीं रखते परन्तु अफीम अवश्य खरीदते हैं। यह लोग बुरी तरह से अफीम के आदी हो चुके हैं तथा इनके पूर्वजों को इसका सेवन करना अंग्रेजों ने सिखाया। कुछ गम्भीर सिंहफों को सुधारकों तथा अन्य स्वैच्छिक संस्थाओं ने अफीम के दासों को इससे दूर रखने का प्रयास प्रारम्भ किया है। हमें उनकी सफलता की कामना करनी चाहिए।

जनजातियों को स्वास्थ्य शिक्षा देना अति आवश्यक है। अधिकतर जनजातियाँ अशिक्षित हैं, परन्तु चलचित्रों तथा वीडियो कैसेटों की सहायता से इन्हें स्वास्थ्य तथा सफाई के मूल सिद्धान्तों से अवगत कराना चाहिए। जनजातियों के स्वास्थ्य स्तर को बेहतर बनाने के लिए राज्य सरकारों,

केन्द्र सरकार, गैर-सरकारी संस्थाओं तथा स्वास्थ्य कर्मचारियों को मिलजुल कर प्रयास करने चाहिए।

(vii) मदिरापान (Drinking)

जनजातियों में मदिरापान का अत्यधिक चलन है। अधिकतर जनजातियाँ मदिरापान के सम्बन्ध में बहुत संवेदनशील हैं तथा महुए के पेड़ को पवित्र मानती हैं। मदिरापान सदियों से उनकी सामाजिक परम्पराओं का एक भाग है। इस प्रकार के अव्यवसायिक समाज में मदिरा को भी भूमि के अन्य उत्पादों के स्तर पर ही रखा जाता है। ये जनजातियाँ अपने घरों में मदिरा बनाती हैं तथा इस प्रकार के अधिकतर पेयों में कोई विशेष नशा नहीं होता। मदिरा अधिकतर शक्तिवर्द्धक का कार्य करती है। अतः यह कहा जा सकता है कि मदिरापान इन जनजातियों के रीतिरिवाजों का एक अभिन्न अंग है तथा इनकी सामाजिक परम्पराओं में घुल-मिल गयी है।

बाजरे तथा चावल द्वारा बनायी गयी मदिरा जनजातियों में बहुत लोकप्रिय है। अलग-अलग क्षेत्रों में इसके विभिन्न नाम हैं। यह मध्य प्रदेश में "हँडिया", असम में "पोंग", उत्तर-पूर्वी क्षेत्रों में "जू", पंजाब तथा हिमाचल प्रदेश में "तुदगी", आन्ध्र प्रदेश में "काल्ही", बिहार में "पछावे" तथा देश के विभिन्न जनजातीय क्षेत्रों में अलग-अलग नामों से जानी जाती है। उत्सवों, विवाहों, मृत्यु, दाह संस्कार तथा अन्य समारोहों के समय जनजातियाँ मदिरा बनाती हैं तथा उनका सेवन करती हैं। कभी-कभी इच्छा होने पर भी जंगलों या घरों में इस प्रकार की मदिरा बनाकर मित्रों के साथ इसका सेवन किया जाता है।

उपरोक्त विवरण से जनजातियों में मदिरापान की परम्परा तथा स्थितियाँ स्पष्ट हो जाती हैं। अंग्रेजी प्रशासन के आगमन से इनकी स्वतंत्रता तथा मानसिक शांति भंग हो गयी। अंग्रेजी प्रशासन ने एक ऐसी आबकारी प्रणाली प्रारम्भ की जो जनजातीय लोगों के लिए विदेशी थी। सरकार तथा मदिरा बनाने वाले व्यवसायियों ने जनजातियों की मदिरापान परम्परा में अभिरुचि ली तथा उन्हें अधिक से अधिक मदिरा का उपयोग करने के लिए विवश किया जिससे कि राजस्व तथा बिक्री दोनों में वृद्धि हो। "पाँचवीं योजना में जनजातीय विकास कुछ मूलभूत नीतियाँ"– इस पुस्तक के डब्लू. बी. ग्रिक्सन ने कहा कि बस्तर में इस नयी तथा विदेशी प्रणाली से, जो कि स्थानीय परिस्थितियों के अनुकूल नहीं थी, ठेकेदारों का चलन प्रारम्भ हो गया जिनका उद्देश्य केवल अधिक से अधिक लाभ कमाना था। जनजातियों की पुरानी व पारम्परिक प्रणाली पर रोक लग गयी। इन स्थितियों में मदिरापान अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया जिसके कारण इन जनजातीय लोगों की बहुत दुर्गति हुई। बम्बई प्रेसीडेन्सी में 1938 के दौरान डी. सिंनिंग्टन के सर्वेक्षण के अनुसार "अंग्रेजी सरकार द्वारा मदिरा विक्रय को बढ़ाकर राजस्व कमाने की नीति ने जनजातीय लोगों पर बुरा तथा हानिकारक प्रभाव डाला है।"

अब हमें स्वतंत्रता के बाद की स्थिति पर विचार करना चाहिए। संविधान के अनुच्छेद 46 के अन्तर्गत राज्यों को यह निर्देश दिए गए हैं कि अनुसूचित जनजातियों को सभी प्रकार के सामाजिक अन्याय तथा शोषण से बचाया जाय तथा सामाजिक सुरक्षा प्रदान की जाय। अनुच्छेद 47 ने राज्य सरकारों को उनके कर्त्तव्यों से अवगत कराते हुए स्पष्ट किया है कि राज्य सरकार

अपने प्राथमिक कर्त्तव्यों के अन्तर्गत अपने क्षेत्रों में रहने वाले लोगों के जीवन-स्तर, पोषण तथा जन-स्वास्थ्य के विकास में योगदान दे तथा चिकित्सा के उद्देश्यों के अतिरिक्त सभी स्थितियों में मदिरा पान तथा अन्य नशीली दवाओं के प्रयोग पर, जो कि स्वास्थ्य के लिए हानिकारक हैं, निषेध आज्ञा जारी करेगी। विभिन्न योजनाओं में भुखमरी उन्मूलन के कार्य को प्रारम्भ करने के लिए सर्वप्रथम शोषण समाप्त करना आवश्यक है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए जनजाति विकास की सभी योजनाओं में शोषण समाप्त करने को प्राथमिकता दी गई है। दुर्भाग्यवश मदिरा विक्रय जनजातियों के शोषण का एक प्रबल माध्यम है। घेबर कमीशन द्वारा जनजातियों में मदिरापान तथा इसके प्रभाव की समस्या का अध्ययन तथा विश्लेषण करते समय आश्चर्यजनक तथ्य सामने आया कि कुछ स्थानों पर बाहरी मदिरा का चलन स्वतंत्रता के पश्चात् प्रारम्भ हुआ। कमीशन के वक्ताओं के अनुसार "हम इस प्रकार के बाहरी हस्तक्षेप के औचित्य को समाप्त नहीं कर सके। विशेषतया तब जबकि जनजातियों के पास अपनी बनायी मदिरा पर्याप्त मात्रा में है तथा इसे यह लोग सामाजिक रूप से मान्यता व सम्मान भी देते हैं"। अनुसूचित जातियों व अनुसूचित जनजातियों के भूतपूर्व आयुक्त प्रो. एम. के. बोस (1970-71) ने इन मदिरा विक्रेताओं को जनजातीय क्षेत्रों में "शोषण का माध्यम" बताया है। घेबर कमीशन ने इस प्रकार की मदिरा के विक्रय पर रोक लगाने का सुझाव दिया है।

मदिरा विक्रय की वर्तमान प्रणाली जनजातीय आर्थिक व्यवस्था के लिए अत्यधिक हानिकारक है। सरकार द्वारा लाइसेंस प्राप्त ठेकेदारों द्वारा बाहरी मदिरा के विक्रय ने जनजातियों को बहुत सी समस्याओं में उलझा दिया है। मदिरा विक्रय एक ऐसा साधन है जिसके माध्यम से तमाम बाहरी असामाजिक तत्त्व इन पिछड़े समुदायों के बीच पहुँचकर अवांछनीय तथा आपत्तिजनक कार्य करते हैं। इस प्रकार के ठेकेदार स्थानीय लोगों के बीच भय उत्पन्न करने के उद्देश्य से लठैत तथा गुंडों को संरक्षण देते हैं। यह लोग बलपूर्वक अनधिकृत रूप से आदिवासियों की झोपड़ियों में प्रवेश कर इन्हें मदिरा बनाने से रोकते हैं। लाइसेंस प्राप्त दुकानदार फेरीवालों को गाँव-गाँव में भेजते हैं जिससे कि मदिरा के विक्रय में वृद्धि हो। जनजातीय समुदायों के समक्ष इन गैर-कानूनी गतिविधियों से बचने का कोई उपाय नहीं है। प्रत्येक गाँव में इस प्रकार की गैर-कानूनी दुकानें जनजातीय युवकों के लिए आकर्षण का केन्द्र बन जाती हैं। इस प्रकार जनजातीय लोग ऋणग्रस्त होते हैं तथा उनकी भूमि के हस्तांतरण तथा अधिग्रहण तक की नौबत आ जाती है। नियमों का उल्लंघन होता है परन्तु अधिकतर सरकारी अधिकारी तो इन ठेकेदारों से मिले होते हैं जिसके कारण किसी प्रकार की कार्यवाही नहीं होती। ठेकेदार इन क्षेत्रों में अपनी मनमानी करते हैं। कुछ क्षेत्रों में तो इन ठेकेदारों ने प्रति विवाह, प्रति फसल या प्रति परिवार मदिरा की एक निश्चित मात्रा, क्रय तथा उपभोग करना आवश्यक कर दिया है। ऐसा न किए जाने पर इन जनजातीय लोगों को गैर-कानूनी ढंग से मदिरा बनाने जैसे सही या गलत मामलों में फँसाने या जेल भिजवा देने जैसी बातों से भयभीत किया जाता है। प्रभावशाली व्यवसायी आबकारी, पुलिस, राजस्व, वन तथा अन्य सम्बन्धित विभागों के अधिकारियों का प्रश्रय प्राप्त करने में सक्षम हैं। जनजातीय लोग इन बाहरी लोगों के समक्ष अपने को अकेला पाते हैं। कुछ नये अध्ययनों से पता चला है आबकारी विभाग द्वारा प्राप्त अधिक राजस्व का सीधा सम्बन्ध अधिक ऋणग्रस्तता तथा भूमि हस्तांरण से है। उपरोक्त तथ्यों से यह बात

स्पष्ट हो जाती है कि बाहरी मदिरा की लत जनजातियों की विभिन्न समस्याओं तथा दुर्दशा का एक मूलभूत कारण है। अपनी इन समस्याओं से छुटकारा पाने तथा साहूकारों के चंगुल से बाहर आने के लिए इन जनजातियों को मदिरा से दूर रखना आवश्यक है। बाहरी मदिरा के विक्रय तथा उपभोग की बुराइयों से इन जनजातियों द्वारा स्वयं बनायी गयी मदिरा का कोई सम्बन्ध नहीं है। अपने घरों में बनायी गयी मदिरा सदियों से इनके जीवन का एक अभिन्न अंग रही है तथा इस मदिरा के उपभोग से इनके सामाजिक व आर्थिक ताने-बाने पर किसी प्रकार का बुरा प्रभाव नहीं पड़ा है।

प्रशासन में बाहरी मदिरा के विक्रय के पक्षधर एक दल का तर्क है कि ठेकेदारी प्रथा समाप्त करने से मदिरा के उपभोग में वृद्धि होने का डर है। दूसरी ओर जनजातीय कल्याण में रुचि रखने वाले लोगों का मानना है कि कोई भी सामाजिक परम्परा सदैव नियंत्रित रहती है। ऐसी स्थितियों में स्थानीय समुदाय मदिरा बनाने के अवसरों को सुनिश्चित करते हैं। वही किसी भी व्यक्ति को मदिरा बनाने की अधिकतम सीमा निर्धारित करेगा। जनजाति विकास व कल्याण का समर्थक एक दल सम्पूर्ण मद्य निषेध की विचारधारा पर बल देता है तथा इनके मूल्यों तथा परम्पराओं को कोई महत्त्व नहीं देता।

ऐसे तत्त्व इस बात पर विचार नहीं करते कि घरेलू मदिरा इन जनजातियों के जीवन का एक अभिन्न अंग है। इनकी धार्मिक व पारम्परिक आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ-साथ इस मदिरा से इन्हें स्वास्थ्य लाभ भी होता है तथा उनके कठिन व परिश्रमी जीवन में कुछ आनन्द की अनुभूति भी होती है। पारम्परिक मदिरा सेवन की प्रथा को त्यागना उनकी स्वेच्छा पर निर्भर करता है। बहुत सी जनजातियाँ मदिरा पान की हानियों को भलीभाँति समझती हैं जिसके कारण अनेक जनजातीय क्षेत्रों में बाहरी मदिरा के सेवन के विरोध में आन्दोलन भी हुए हैं। बिहार का भगत आन्दोलन इसी प्रकृति का था। मदिरा पान के विरोध में कार्यरत सामाजिक संगठनों की सहायता के लिए विभिन्न शैक्षिक कार्यक्रमों को प्रारम्भ करना चाहिए। जब तक इस प्रकार के आन्दोलनों का नेतृत्व जनजातियों द्वारा स्वयं न किया जाय, उनके घरेलू मदिरा सेवन में हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए। इन्हें चावल व अन्य अनाजों के विभिन्न प्रयोगों के प्रति स्वयं जागरूक होना चाहिए ऐसा होने पर वे स्वयं ही इस परम्परा को त्यागने की दिशा में क्रियाशील हो जायेंगे। जनजातियों की परिस्थितियों के प्रति अपने उत्तरदायित्व के अन्तर्गत सर्वप्रथम प्रशासन को जनजातीय क्षेत्रों से अजनजातीय ठेकेदारों को निष्कासित करके इनका कड़ा विरोध करना चाहिए।

(viii) आवास (Housing)

जनजातियों के आवास की समस्या को निम्नलिखित दृष्टिकोणों से देखना चाहिए:

(अ) सुरक्षा/शरण

(ब) स्वच्छता

(स) अभिरुचियाँ/ सौन्दर्यबोध

(द) लागत/मूल्य।

उपरोक्त पक्षों के साथ-साथ वातावरण की भूमिका भी महत्त्वपूर्ण है। विभिन्न आर्थिक

भूस्वामी होने के और विभिन्न कारण हैं। अस्थायी कृषकों की संख्या लगातार बढ़ रही है तथा झूम का दायरा सिकुड़ रहा है तथा इसके साथ स्थायी कृषकों की भी संख्या में वृद्धि हुई है। बढ़ती जनसंख्या के कारण भूमि की माँग में वृद्धि हुई है।

हमारे देश में प्रति व्यक्ति भूमि एक एकड़ से भी कम है। जबकि यह दर अमेरिका में 7.5 एकड़ तथा रूस में 4.5 एकड़ है। कृषि पर निर्भर प्रत्येक व्यक्ति के पास औसत रूप से 1.6 एकड़ भूमि है। यह औसत विभिन्न क्षेत्रों में अलग-अलग है।

उत्तरी क्षेत्र	1.01 एकड़
पूर्वी क्षेत्र	1.25 एकड़
दक्षिणी क्षेत्र	1.17 एकड़
पश्चिमी क्षेत्र	2.29 एकड़
मध्य क्षेत्र	2.57 एकड़
उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र	2.59 एकड़

आँकड़ों की कमी के कारण प्रत्येक क्षेत्र में जनजातियों की भूमि का अलग-अलग निर्धारण सम्भव नहीं है, परन्तु विभिन्न राज्यों के कुछ उदाहरणों के द्वारा स्थितियों का अनुमान लगाया जा सकता है। अनुसूचित क्षेत्र तथा अनुसूचित जनजाति आयोग की रिपोर्ट के अनुसार गुजरात विद्यापीठ ने 1959 में गुजरात के साबरकांठा जिले के खेदब्रहम जनजातीय विकास खण्ड में एक सामाजिक-आर्थिक सर्वेक्षण किया। इस सर्वेक्षण से यह पता चला कि 459 परिवारों में केवल 12 परिवार भूमिहीन थे तथा प्रत्येक परिवार के पास औसतन 5.32 एकड़ भूमि थी।

मध्य प्रदेश सरकार ने अपने जनजातीय विकास खण्डों के कुछ गाँवों में एक आर्थिक सर्वेक्षण किया है जिससे यह पता चला कि एक परिवार के पास औसतन रूप से 15.59 एकड़ भूमि थी। राजस्थान सरकार द्वारा डूंगरपुर तथा बाँसवाड़ा जिले में किए गये आर्थिक-सामाजिक सर्वेक्षण से यह स्पष्ट हुआ कि डूंगरपुर में औसत रूप से 4.95 एकड़ भूमि है। मणिपुर में किये गये ऐसे ही सर्वेक्षण द्वारा यह पता चला है कि वहाँ औसत रूप से प्रति परिवार 2.80 एकड़ भूमि है।

उपरोक्त तथ्यों से स्पष्ट हो जाता है कि सभी जनजातीय क्षेत्रों के भूस्वामित्व में समानता नहीं है। इन जनजातियों की भूमि अधिकतर अनउपजाऊ है। यद्यपि इन लोगों की भूमि का क्षेत्र अजनजातीय कृषकों से अधिक है परन्तु इससे इनको कोई लाभ नहीं होता। इसके कारण हैं अनउपजाऊ मृदा (स्वाएल) पुरानी तथा घिसी-पिटी तकनीक तथा लगातार बढ़ती ऋणग्रस्तता।

भूमि हस्तांतरण जैसी समस्या के मूल में पहुँचने से पूर्व सामान्य स्थितियों का विवेचन करना अनुचित न होगा। संचार व्यवस्था में विस्तार होने के कारण समस्त जनजातीय क्षेत्र बाहरी लोगों के लिए खुल गये। ये बाहरी लोग इन क्षेत्रों में अपने-अपने उद्देश्यों व स्वार्थों के साथ प्रवेश कर गये। इनमें से भूमि अधिग्रहण करने वाले शक्तिशाली लोगों ने जनजातियों को सबसे अधिक परेशान किया।

जनजातीय विकास पर अध्ययन कर रहे योजना आयोग के एक दल की रिपोर्ट (1969) के अनुसार जनजातीय आवास योजनाओं को बनाते समय पहाड़ी क्षेत्रों तथा मैदानों की जनजातियों को अलग-अलग रख कर विचार होना चाहिए, तथा सभी आवास स्थानीय आवश्यकताओं, अभिरुचियों तथा परम्पराओं के अनुसार होने चाहिए।

सरकार द्वारा निर्धन जनजातियों को उपलब्ध कराए जाने वाले अधिकतर आवास इनकी आवश्कतानुसार नहीं होते हैं। इन आवासों का नक्शा अक्सर एक ऐसा वास्तुकार बनाता है जो कभी जनजातीय बस्तियों या आवश्यकताओं, परम्पराओं तथा संस्कृति से बिल्कुल अनभिज्ञ होता है। इन जनजातियों के विश्वासों, परम्पराओं तथा रीतिरिवाजों पर ध्यान दिए बगैर कोई भी आवासीय योजना सफल नहीं हो सकती। नगरीय संस्कृति पर बने आवास इन जनजातियों को स्वीकार्य नहीं होंगे। किसी भी आवास योजना को बनाने से पूर्व जनजातियों से उनकी आवश्यकताओं के सम्बन्ध में वार्तालाप किया जाना आवश्यक होना चाहिए। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि इनकी आवासीय स्थितियों में सुधार न किया जाय बल्कि इसका आशय यह है कि सुधार मकानों की संरचना के सम्बन्ध में इन जनजातीय लोगों के विचारों तथा विश्वासों को ध्यान में रखकर किया जाय। इसके साथ-साथ स्थान का चयन तथा आवासों की संरचना भी इनके रीतिरिवाजों के अनुसार ही होनी चाहिए।

जनजातियों की आवासीय समस्या को सुलझाने में वन विभाग भी बाधक है। अफसरशाही तथा संकीर्ण दृष्टिकोण के कारण वन सम्पदा के प्रयोग पर जो रोक लगा दी है उसके कारण सम्पूर्ण वन नीति जनजातीय कल्याण कार्यक्रम में एक बड़ी बाधा के रूप में सामने आई है। आवश्यक वस्तुओं का संकलन करने के लिए किसी वन अधिकारी की स्वीकृति पाना इन जनजातियों के लिए बहुत कठिन हो गया है। कड़े नियमों के चलते इन लोगों को मकान बनाने या उसमें सुधार करने के लिए लकड़ी बहुत कठिनाई से प्राप्त होती है। ऐसी स्थितियाँ न केवल जनजातियों का जीवन और कठिन बनाती हैं बल्कि उनमें असंतोष की भावना भी पैदा करती हैं जो उन्हें अलगाववादी आन्दोलन के लिए प्रेरित कर सकती है। आन्ध्र प्रदेश की येनादी, येरकुला तथा सुगाली जनजातियाँ, महाराष्ट्र की कटकारी, गुजरात की डुबला व नाईक, हिमाचल प्रदेश की गूजर, केरल की पनियान तथा कर्नाटक की कुरुवा जैसी छोटी व निर्धन जनजातियों को आवासीय योजनाओं में प्राथमिकता मिलनी चाहिए। परन्तु यह बात स्पष्ट रूप से समझनी चाहिए कि बड़े से बड़ा मकान भी जनजातीय लोगों के लिए व्यर्थ है, यदि इसकी संरचना जनजातियों की आवश्यकतानुसार नहीं की गई है।

(ix) शिक्षा (Education)

अन्य सामाजिक व आर्थिक पक्षों की भाँति शिक्षा के क्षेत्र में भी जनजातीय लोग अलग-अलग स्तरों पर हैं। जनजातीय समूहों पर औपचारिक शिक्षा का प्रभाव बहुत कम पड़ा है। भूतपूर्व प्रयासों के फलों को अधिक विस्मय से नहीं देखना चाहिए क्योंकि 1950 से पहले जनजातीय लोगों को शिक्षित करने के लिए भारत सरकार की कोई भी प्रत्यक्ष योजना नहीं थी। संविधान के प्रभावी होने के पश्चात् अनुसूचित जनजाति के लोगों के शिक्षा स्तर में वृद्धि करना केन्द्र तथा राज्य सरकारों का उत्तरदायित्व हो गया है। जनजातीय जनसंख्या में औपचारिक शिक्षा के विस्तार का

अनुमान जनगणना के आँकड़ों से लगाया जा सकता है। 1931 की जनगणना के अनुसार केवल 0.7 प्रतिशत जनजातीय लोग ही शिक्षित थे। 1991 में यह संख्या बढ़कर 29.60 प्रतिशत हो गयी जबकि पूरे देश में लगभग 50 प्रतिशत शिक्षित लोग थे। जनजातीय महिलाओं में शिक्षा की दर बहुत कम है। उत्तर-पूर्वी क्षेत्रों की खासी तथा गारो आदि जनजातियों को छोड़कर जिन्होंने ईसाई मिशनरियों से खूब लाभ उठाया, पूरे जनजातीय समाज में शिक्षा का स्तर अच्छा नहीं है। शिक्षा समान स्तर पर रहने तथा समान अवसरों को प्राप्त करने का प्रभावी मापदण्ड नहीं है। ऐसी स्थिति में जनजातीय लोग देश के अन्य लोगों से बहुत पीछे रह जाते हैं। हमें इस स्थिति का विश्लेषण करना चाहिए।

सामाजिक तथ्य

सरकार द्वारा अधिक से अधिक स्कूल खोलने तथा शिक्षा पर अधिक व्यय करने से जनजातीय लोगों की शिक्षा पर अधिक प्रभाव नहीं पड़ा है। इस प्रकार की शैक्षिक नीतियों के निर्धारण में सामाजिक पक्ष बहुत महत्त्वपूर्ण होता है। जनजातियों के लिए केवल औपचारिक शिक्षा की अधिक आवश्यकता नहीं है। इनके लिए ऐसी शिक्षा नीति लाभदायक होगी जिसके अन्तर्गत उन्हें शिक्षित करने के साथ-साथ उनके अंधविश्वासों तथा पूर्वाग्रहों को भी दूर किया जा सके।

उत्तरपूर्व की कुछ जनजातियों के अतिरिक्त अधिकतर जनजातियों में यह भावना तथा विश्वास व्याप्त है कि शिक्षा से उनके बच्चे उनसे अलग हो जाते हैं। इस प्रकार की कुछ घटनाओं ने इन्हें बाहरी शिक्षा से दूर रहने को प्रेरित किया। इसके अतिरिक्त बहुत सी जनजातियों का मानना है कि बच्चों को (स्कूल) बाहरी लोगों द्वारा चलाए जा रहे स्कूलों में भेजने से उनके देवता क्रुद्ध हो जायेंगे।

आर्थिक पक्ष

जनजातियों द्वारा शिक्षा की ओर कम ध्यान देने के आर्थिक कारण भी हैं। अधिकतर जनजातीय परिवार इतने निर्धन हैं कि वे लोग अपने बच्चों को स्कूल नहीं भेज सकते हैं। एल्विन (1963) के अनुसार "एक जनजातीय परिवार के लिए अपने बच्चों को स्कूल भेजना आवश्यक रूप से आर्थिक स्थिति पर निर्भर करता है। इससे इनके जीवन-यापन के संघर्ष तथा पारम्परिक श्रम विभाजन की योजना गड़बड़ा जाती है। बहुत से माँ-बाप ऐसी स्थिति में नहीं होते हैं कि अपने बच्चों को स्कूल भेज सकें।" एल.आर.एल. श्रीवास्तव (1968) द्वारा जनजातियों की शैक्षिक स्थिति पर किये गये सर्वेक्षण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि शिक्षा के प्रति उदासीनता का महत्त्वपूर्ण कारण है, इन जनजातियों की आर्थिक स्थिति। अधिकतर जनजातियों को खाने के लिए पर्याप्त मात्रा में भोजन नहीं मिलता। ऐसी स्थिति में ये लोग शिक्षा की बात सोच भी नहीं सकते। बच्चों को स्कूल भेजने से एक ओर तो एक कमाने वाला कम हो जाता है तथा दूसरी ओर उसकी शिक्षा पर व्यय भी होता है। वर्तमान शिक्षा प्रणाली के अन्तर्गत कोई भी बच्चा कम से कम दस साल बाद ही परिवार की आर्थिक स्थिति सुधारने में सहायक हो सकता है। इन परिवारों की विवशता है कि ये लोग इतने धैर्य का परिचय नहीं दे सकते। ऐसी शिक्षा प्रणाली इन्हें संतुष्ट कर सकती है जिससे इन्हें तत्काल लाभ होना प्रारम्भ हो जाय।

औपचारिक शिक्षा में रुचि की कमी

शर्मा (1976) के अनुसार "शिक्षा की शहरी मध्यवर्गीय प्रणाली पूरे भारत में एक ही ढाँचे व विषयवस्तु के साथ विस्तृत कर दी गयी।" अधिकतर राज्यों में जनजातीय व अजनजातीय दोनों ही प्रकार के छात्र समान पुस्तकों का अध्ययन करते हैं। इस प्रकार की पुस्तकें जनजातीय छात्रों में किसी प्रकार की रुचि उत्पन्न करने में असमर्थ रहती हैं। तकनीकी विकास, आविष्कारकों, आधुनिक भारत के निर्माताओं, भूगोल व इतिहास के स्थान पर इन्हें अपनी पृष्ठभूमि, अपने इतिहास तथा जनसांख्यिकी से अवगत कराकर इन्हें एक प्रणालीबद्ध तरीके से शिक्षित करना अधिक लाभकारी होगा। एल.आर.एन. श्रीवास्तव (1968) ने इस समस्या पर व्यवहारिक विचार प्रस्तुत करते हुए कहा कि "आधुनिक सभ्यता से दूर अलग तथा दूरवर्ती क्षेत्रों में रहने वाला जनजातीय बच्चा देश के भूगोल व इतिहास, औद्योगीकरण, तकनीकी विकास, महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों के प्रति कम रुचि रखेगा। उसे तो अपने पड़ोसी समुदायों, ग्राम्य जीवन, सामाजिक संगठनों, रीति-रिवाजों, विश्वासों तथा परम्पराओं के विषय में जानकारी दी जानी चाहिए। उसके पश्चात् उसे उसके देश की विभिन्न स्थितियों से अवगत कराना चाहिए। इस प्रणालीबद्ध तरीके से ही उसके गाँव, राज्य, देश तथा विदेशों से सम्बन्धित जानकारी उसके विकास में सहायक होगी।"

भारत में शिक्षा का प्रसार बिल्कुल अनियोजित तरीके से हुआ है तथा इसका विस्तार करते समय भविष्य की आवश्यकताओं पर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया गया है। जनजातीय शिक्षा योजना भी इसी जल्दबाजी का शिकार हुई है। एस.एन.रथ (1981) ने निम्न सुझाव देने के साथ-साथ समस्या का स्पष्ट विश्लेषण भी किया है :–

(1) पारम्परिक रूप से प्रशिक्षित एक जनजातीय बच्चा अपने वातावरण से पूर्ण रूप से अवगत होता है। वह अपने घर बनाना, खेती करना, कपड़ा बुनना आदि ऐसे सभी कार्यों से परिचित होता है जो उसे अपनी संस्कृति में ठीक-ठीक जीवन-यापन करने में सहायक होते हैं। औपचारिक शिक्षा का इस प्रकार के जीवन से कोई तारतम्य नहीं है। अतः एक ऐसे पाठ्यक्रम तथा प्रणाली की संरचना होनी चाहिए जो जनजातीय परम्पराओं, रीतिरिवाजों, स्थानीय आवश्यकताओं तथा राष्ट्रीय शिक्षा योजना में एक संतुलन स्थापित कर सके।

(2) ऐसे पाठ्यक्रम में शिल्पकलाओं को महत्त्व देने के साथ-साथ श्रम के सम्मान की भावना, सहकारिता तथा सामाजिक अनुशासन जैसे आवश्यक पक्षों पर अधिक बल दिया जाना चाहिए। खेलकूद तथा अन्य गतिविधियों के अन्तर्गत कृषि, नृत्य, शिकार, जनजातीय खेल तथा तीरंदाजी आदि को सम्मिलित किया जाना चाहिए जिससे उनमें अपनत्व की भावना जागृत हो।

(3) ऐसी योजनायें बननी चाहिए जिनकी सहायता से माता-पिता तथा स्कूल व शिक्षकों के बीच सम्बन्ध स्थापित हो सके। पढ़ने-लिखने की शिक्षा के साथ-साथ स्कूलों में प्रारम्भिक तकनीकी ज्ञान भी दिया जाना चाहिए तथा इन स्कूलों को सामाजिक परिवर्तन का एक प्रभावी केन्द्र होना चाहिए। छात्रों-शिक्षकों तथा माताओं-पिताओं के परस्पर सम्बन्धों से एक मैत्रीपूर्ण वातावरण बनना चाहिए जिससे शिक्षा के उन उद्देश्यों की पूर्ति हो सके जिनके द्वारा हम एक सामान्य नागरिक को सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक पक्षों तथा अन्य गतिविधियों से अवगत कराने का प्रयास करते हैं।

(4) इस प्रकार की आदर्श योजना की सफलता समुचित रूप से प्रशिक्षित व समर्पित शिक्षकों पर ही निर्भर करती है।

उपयुक्त शिक्षक

जनजातियों की शिक्षा के धीमे विकास का एक महत्त्वपूर्ण कारण है उपयुक्त शिक्षकों की कमी। अधिकतर गैर-जनजातीय शिक्षक जो कि जनजातीय बच्चों को पढ़ाते हैं, उनके जीवन मूल्यों तथा रहन-सहन को हेय दृष्टि से देखते हैं। उन्हें असभ्य तथा जंगली समझते हैं। अनुसूचित क्षेत्र व अनुसूचित जनजाति आयोग के अनुसार जनजातीय क्षेत्रों में शिक्षा देने वाले शिक्षकों को वहाँ के जीवन तथा संस्कृति के बारे में विस्तृत जानकारी होनी चाहिए तथा वहाँ की भाषा का ज्ञान होना चाहिए। ऐसी स्थितियों में ही शिक्षक उनसे मित्रतापूर्ण व्यवहार करने तथा सफलतापूर्वक शिक्षा देने के साथ-साथ जनजातियों के विश्वासपात्र भी बन सकते हैं। अधिकतर जनजातीय समुदायों से ही शिक्षकों का चयन करना चाहिए या शिक्षकों का एक पृथक् समूह बनाना चाहिए जो जनजातीय क्षेत्रों में जाकर उनकी शैक्षिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके।

सुविधाओं की कमी

जनजातीय शिक्षा के विकास में भाषा भी एक बड़ी बाधा है। अधिकतर जनजातीय भाषायें मौखिक हैं जिनकी कोई लिपि नहीं है। ऐसी स्थितियों के कारण शिक्षा का माध्यम एक बड़ी समस्या हो गया है। अधिकतर राज्यों में जनजातीय तथा अन्य जनसंख्या को एक ही क्षेत्रीय भाषा में शिक्षित किया जा रहा है जिसके कारण अधिकतर जनजातियों में रुचि की कमी हो गई है। इसके अतिरिक्त क्षेत्रीय भाषा में शिक्षा देने से जनजातीय संवेदनाओं को भी धक्का लगता है। अतः ऐसी प्रणाली खोजना अत्यन्त आवश्यक हो गया है जिसके द्वारा शिक्षा को अधिक रुचिकर तथा लाभदायक बनाया जा सके।

जनजातियों के निवास स्थानों के कारण भी शिक्षा का विकास धीमा रहा है। अधिकतर जनजातीय ग्राम दूर-दूर हैं तथा स्कूलों तक पहुँचने के लिए लम्बी दूरी तय करनी पड़ती है। ग्रामों के निकट तथा स्थानीय लोगों की स्वीकृति से स्कूल खोले जाने की स्थिति में ही शिक्षा योजना सफल हो सकती है।

स्कूलों के भवन भी शिक्षा विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। भ्रष्टाचार, वित्तीय कठिनाइयों, प्रबंध में ढीलेपन के कारण अधिकतर भवन स्कूल बनाये जाने के योग्य नहीं होते।

एस.एन. रथ (1981) ने स्थितियों का व्यवहारिक विवरण देते हुए कहा कि जीर्ण शीर्ण भवन जिनमें अधिकतर छत भी नहीं होती तथा जो गाँवों से दूर स्थित किसी प्रहरी का आभास देते हैं, स्कूल कहे जाते हैं।

शिक्षकों की संख्या एक और समस्या है। जनजातीय क्षेत्रों के अधिकतर प्रारम्भिक स्कूलों में एक ही शिक्षक होता है। प्रशिक्षित शिक्षकों की कमी इसका कारण हो सकती है परन्तु किसी भी शिक्षक से लगातार छह से आठ घंटे नित्य पढ़ाने की आशा करना अनुचित होगा।

स्कूलों के खुलने तथा उनकी अवधि दोनों तथ्य जनजातियों को अपने बच्चों को स्कूल

भेजने की उत्सुकता को निर्धारित करते हैं। स्कूल का समय उनकी महत्त्वपूर्ण आर्थिक व सामाजिक तथा अन्य गतिविधियों में बाधक नहीं होना चाहिए।

निष्क्रियता तथा अपव्यय

बहुत से शिक्षक यह मानते हैं कि जनजातीय क्षेत्रों में शिक्षा की समस्या अपव्यय की समस्या है। ऐसा नहीं है कि निष्क्रियता तथा अपव्यय केवल जनजातीय क्षेत्रों में ही है। परन्तु इसकी मात्रा जनजातीय क्षेत्रों में अधिक है। स्कूलों में अधिकतर छात्र अनुपस्थित रहते हैं। परीक्षाओं में सफल होने वालों की संख्या और भी कम है। मुख्य समस्या तो ऐसी आर्थिक व सामाजिक स्थितियों को बनाने की है जो शिक्षा में रुचि रखने वाले जनजातीय छात्रों की आवश्यकतानुसार हो।

(x) संचार (Communication)

सदियों से जनजातियाँ दूरवर्ती तथा अलग-अलग क्षेत्रों में रहती आयी हैं। संचार माध्यमों की कमी इसका मुख्य कारण है। जनजातीय क्षेत्रों के विकास तथा वहाँ की आर्थिक स्थितियों में सुधार करने के लिए संचार व्यवस्था का होना अत्यन्त आवश्यक है।

जनजातीय क्षेत्रों में संचार व्यवस्था की समस्या को दो प्रकार से समझा जा सकता है:

(1) जनजातियों की आवश्यकता

(2) जनजातीय क्षेत्रों का सम्पूर्ण विकास।

संचार व्यवस्थाओं के विस्तार की कुछ हानियाँ भी हैं। इन व्यवस्थाओं की सहायता से बहुत से बाहरी तत्त्वों को इन क्षेत्रों में आकर सीधे-सीधे जनजातीय लोगों को शोषित करने का अवसर मिल जाता है।

दूसरी ओर संचार व्यवस्था के विकास से होने वाले लाभों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। इन क्षेत्रों में संचार व्यवस्था का विकास करते समय जनजातियों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखना चाहिए।

जनजातीय क्षेत्रों में संचार व्यवस्था का विकास बहुत तेजी से हुआ है। एस.एन.रथ (वही) अनुसार "जितना कि हम समझते हैं कि उससे अधिक गति से विकास हुआ है, अधिकतर क्षेत्रों में इतनी तेज गति से विकास हुआ कि जनजातीय लोगों की जागरूकता व चेतना पीछे छूट गयी। अतः संतुलन बनाये रखने की आवश्यकता है जिससे कि तीव्र गति का विकास जनजातीय लोगों पर विपरीत प्रभाव न डाले। विकसित क्षेत्रों की इन जनजातियों को बाहरी तत्त्वों के शोषण से बचाना भी राज्य का उत्तरदायित्व होगा।"

अनुसूचित क्षेत्र व अनुसूचित जनजाति आयोग के अनुसार जनजातीय क्षेत्रों में संचार की समस्या पर पाँच विभिन्न पक्षों से विचार-विमर्श किया जा सकता है।

(1) राष्ट्र की आवश्यकताओं तथा सुरक्षा के लिये आवश्यक सड़कें तथा अन्य संचार व्यवस्थायें।

(2) औद्योगिक विकास के लिये आवश्यक सड़कें तथा अन्य संचार व्यवस्थायें।

(3) प्रशासन के लिये आवश्यक सड़कें तथा अन्य व्यवस्थायें।

(4) व्यवसाय तथा व्यावसायिक गतिविधियों के लिये सड़कें तथा अन्य संचार व्यवस्थायें।

(5) जनजातियों के हित में आवश्यक सड़कें तथा अन्य संचार व्यवस्थायें।

आयोग के अनुसार पहले तथा पाँचवें पक्ष को प्राथमिकता देनी चाहिये तथा दूसरे व तीसरे पक्ष पर उसके बाद विचार किया जाना चाहिए। व्यावसायिक आँकड़ों तथा जनजातीय लोगों को हो रहे लाभ का समुचित अध्ययन करने के पश्चात् ही पाँचवे पक्ष पर निर्णय होना चाहिए।

जनजातीय जनसंख्या के लिये सड़कें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण साधन हैं। तुलनात्मक विकास के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस सम्बन्ध में अभी बहुत कार्य होना शेष है। अन्य ग्रामीण व नगरीय क्षेत्रों की तुलना में जनजातीय क्षेत्रों में सड़कें बहुत कम हैं। जनजातीय क्षेत्रों की बहुत सी नदियों में आज तक पुल नहीं बने हैं। बहुत से ऐसे क्षेत्र हैं जो वर्ष के कुछ महीनों में देश के शेष भागों से बिल्कुल कट जाते हैं।

जनजातियों के लिए ऐसी सड़कें अधिक लाभप्रद होंगी जो उन्हें वनों तथा साप्ताहिक हाटों, अस्पतालों तथा स्कूलों तक पहुँचायें। ऐसे सड़कें जो साल भर प्रयोग में आ सकें तथा जिन पर जीप व बैलगाड़ी आदि चल सकें और भी उपयोगी होंगी। इस प्रकार की योजनाओं की संरचना के समय स्थानीय लोगों से परामर्श करना जनजातियों की आवश्यकता पूर्ति में सहायक सिद्ध होगा। उन्हीं क्षेत्रों में उपलब्ध सामग्री का प्रयोग निर्माण व्यय में कमी ही करेगा। सड़कें निर्माण का कार्य ऐसे समय किया जाय जब कृषि तथा अन्य कार्य नहीं होते। इससे स्थानीय लोग इन निर्माण कार्यों में लगकर धन भी कमा सकते हैं जिससे इनकी आवश्यकतायें पूरी हो सकें।

बहुत से जनजातीय लोग अच्छे कृषक होते हैं जो चावलों, अनाजों तथा फलों की विभिन्न किस्में पैदा करते हैं। निर्मित मार्गों की सहायता से यह उत्पादन दूर शहरों के बाजारों में आते हैं जिससे अधिक लाभ मिलने की संभावनायें बढ़ जाती हैं। मार्गों के न होने की स्थिति में इन कृषकों को अपना माल वहीं पर सस्ते में बेचना पड़ता है। गाँवों में सड़क, पुल तथा रास्ते बनाने के कार्य को प्राथमिकता दी जानी चाहिए।

धीरे-धीरे सुदूरवर्ती तथा दुर्गम जनजातीय क्षेत्रों में भी डाकतार व्यवस्था पहुँचती जा रही है परन्तु दुर्भाग्यवश इन क्षेत्रों में डाकिये डाकतार विभाग के नियमित कर्मचारी नहीं हैं। ये डाकिये डाक बाँटने के लिए अस्थायी रूप से नियुक्त किये जाते हैं तथा कार्य पूरा हो जाने पर उनकी सेवायें समाप्त कर दी जाती हैं।

इन क्षेत्रों के डाकखानों का प्रबन्ध अधिकतर शिक्षकों द्वारा किया जाता है। इनमें नियमित कर्मचारियों की नियुक्ति नहीं की जाती। ऐसी स्थितियों में स्थानीय लोगों को कठिनाई का सामना करना पड़ता है। इन डाकखानों में जनजातीय लोगों की नियुक्ति एक ओर तो स्थानीय लोगों को रोजगार देगी तथा दूसरी ओर अब तक उपेक्षित क्षेत्रों में डाकतार की व्यवस्था में निश्चित सुधार आयेगा।

दूरभाष तथा वायु संचार की दिशा में अभी बहुत कुछ होना शेष है। बहुत से ऐसे क्षेत्र हैं जहाँ पर दूरभाष या वायु संचार की कोई व्यवस्था नहीं है। कठिनाइयों का सामना कर रही

जनजातियों के लिए ये सुविधायें बहुत ही उपयोगी सिद्ध होंगी। बहुत से जनजातीय क्षेत्रों में सुरक्षा तथा पुलिस बलों के कारण ये सुविधायें उपलब्ध हैं। निवृत सुविधाओं की अनुपस्थिति में जनजातियों को पुलिस तथा सुरक्षा बलों की ये सुविधाएँ निःशुल्क उपलब्ध होनी चाहिए।

संचार व्यवस्थाओं का विकास जनजातियों की राष्टीय जागरूकता तथा बौद्धिक विकास में निश्चित रूप से सहायक होगा। ये संचार व्यवस्थायें जनजातीय क्षेत्रों की आर्थिक स्थितियों के सुधार में भी एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायेंगी। इतिहास साक्षी है कि जब भी जनजातीय क्षेत्रों में विकास की योजनाएँ कार्यान्वित की गयीं, स्थानीय लोग बुरी तरह से शोषित हुए। अतः योजनाओं को बनाते तथा कार्यान्वित करते समय इन जनजातीय लोगों को बाहरी तत्त्वों के शोषण से बचाने की समुचित व्यवस्था पर भी उपयुक्त बल दिया जाना चाहिए।

(xi) औद्योगिकीकरण व नगरीकरण (Industrialization and Urbanization)

भुखमरी तथा शोषण विश्वभर की जनजातियों की मूल समस्या है। भारत भी इसका अपवाद नहीं है। आश्चर्यजनक तथ्य यह है "हमारी कुछ जनजातियाँ ऐसे क्षेत्रों में रहती हैं जो वनों तथा खनिजों जैसी प्राकृतिक संपदाओं से भरे पड़े हैं।" स्वतंत्रता के बाद कच्चे माल तथा विद्युत सिंचाई की विस्तृत परियोजनाओं में इन प्राकृतिक संपदाओं का प्रयोग किया गया। राउरकेला, भिलाई, बैलाडेला तथा हीराकुण्ड परियोजनायें इसका उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

जनजातियों का आर्थिक उत्थान इन विकास योजनाओं का तर्कसंगत परिणाम होना चाहिए था परन्तु ऐसा नहीं हुआ। इन सीधे-सादे लोगों की भूमि ले ली गयी तथा इन्हें इस भूमि के बहुत कम दाम दिये गये। जो धन इन्हें भूमि के बदले मिला उसे इन लोगों ने मदिरा पान तथा अन्य जनजातीय उत्सवों में व्यय कर दिया। इस प्रक्रिया में अधिकतर परिवार भूमिरहित तथा कंगाल हो गये। इन परियोजनाओं में जिस प्रकार के प्रशिक्षित लोगों की आवश्यकता थी वैसा प्रशिक्षण जनजातीय युवाओं को नहीं दिया गया। प्रारम्भ में अवश्य इन्हें कुछ रोजगार मिला परन्तु निर्माण कार्य समाप्त हो जाने पर यह लोग बेकार हो गये। इसका कारण था इनका प्रशिक्षित न होना। ऐसी स्थितियों में बाहरी लोग इन क्षेत्रों में आ गये। तकनीकी रूप से प्रशिक्षित न होने के कारण इन जनजातियों को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। ऐसी योजनायें निश्चित रूप से देश के लिए अत्यन्त लाभकारी हैं परन्तु जनजातीय लोगों के हितों की उपेक्षा करना भी न्यायसंगत नहीं है।

भारतीय जनजातियों पर टिप्पणी करते हुये कार्ल मार्क्स ने सत्य ही कहा है कि औद्योगिकीकरण की प्रक्रिया में ये लोग अपने मौलिक वातावरण तथा स्थानों से वंचित हो जाते हैं तथा इस आधुनिकीकरण से उन्हें कोई लाभ नहीं मिलता। इसके कारण इन जनजातियों की व्यथाओं तथा कठिनाइयों में वृद्धि ही होती है।

जनजातीय क्षेत्रों में औद्योगिकीकरण के कारण उत्पन्न समस्याओं को निम्न प्रकार से विभाजित किया जा सकता है:–

विस्थापन तथा पुनर्वास

जनजातीय क्षेत्रों के औद्योगिकीकरण से जनजातीय आर्थिक व्यवस्था में सुधार होगा, यह विचार मिथ्या ही सिद्ध हुआ। जनजातीय क्षेत्रों की प्रमुख औद्योगिक योजनाओं ने न केवल उन्हें अपने घरों से बेघर कर दिया वरन् उन्हें किसी प्रकार का रोजगार भी नहीं दिया जिससे कि ये लोग अपने पारंपरिक वातावरण में जीवन यापन कर सकते। यहाँ तक कि सार्वजनिक उपक्रम के अन्तर्गत आने वाली योजनाओं के प्रशासकों ने उन्हें भूमि का दाम देकर अपना तथाकथित 'कर्त्तव्य' पूरा कर लिया। भूमि के बदले में प्राप्त धन शीघ्र ही समाप्त हो गया तथा इस औद्योगिकीकरण तथा विकास ने इन सीधे-सादे जनजातीय लोगों को उनके अपने ही क्षेत्र में निराश्रित कर दिया।

बिहार की मैथोन, कोनार तथा पचेत जैसी प्रमुख विद्युत परियोजनाएँ, उड़ीसा की मंडीरा, माथकुण्ड तथा हीराकुण्ड परियोजनाएँ उड़ीसा, पश्चिमी बंगाल, मध्य प्रदेश तथा बिहार की राउरकेला, दुर्गापुर, भिलाई, राँची तथा जमशेदपुर की स्टील परियोजनाएँ ऐसी कुछ परियोजनाएँ हैं जो जनजातियों के विस्थापन का कारण बनीं।

जनजातियों के पुनर्वास की योजना की असफलता के कुछ कारण निम्न हैं :

(अ) इन जनजातीय लोगों ने प्राप्त वैकल्पिक सुविधाओं का अधिक लाभ नहीं उठाया। जनजातीय युवक औद्योगिक रोजगार तथा आसानी से प्राप्त धन के प्रति अधिक आकर्षित हुए।

(ब) प्रशासन द्वारा प्रतिदान में दी गयी कृषि भूमि में सिंचाई की उचित व्यवस्था न होने के कारण उसकी उपज परिवारों के लिए पर्याप्त नहीं थी।

(स) प्रतिदान में मिली धनराशि को उत्पादक कार्यों में नहीं लगाया गया। इसका अधिक प्रयोग दैनिक व्ययों में होता है।

मनोवैज्ञानिक, सामाजिक व सांस्कृतिक सामंजस्य

औद्योगिकीकरण से समस्त जनजातीय क्षेत्रों में सभी प्रकार के लोगों का आगमन प्रारम्भ हो जाता है, जिसके कारण जनजातियों की शुचिता पर आघात पहुँचता है। दास व बनर्जी (1964) के अनुसार औद्योगिकीकरण से निम्न ऐसे परिवर्तन होते हैं जिनसे जनजातीय लोगों को सामंजस्य स्थापित करना पड़ता है :

(1) पीढ़ियों से कृषक प्रवृत्ति के जनजातीय लोगों ने कारखानों के दैनिक जीवन को पूर्णतया आत्मसात नहीं किया है। ये लोग केवल आर्थिक उद्देश्यों से ही इन कारखानों में काम करते हैं।

(2) सदियों से ऋतुओं के अनुसार कार्य करने वाले ये जनजातीय कृषक कारखानों के उबाऊ दैनिक कार्य को पसन्द नहीं करते जिसका प्रभाव इनकी उत्पादन क्षमता पर पड़ता है।

(3) औद्योगिकीकरण ने व्यक्तिपरक प्रवृत्तियों को बढ़ावा दिया है जिसके कारण पारस्परिक सम्बन्धों की प्रगाढ़ता में कमी आयी है। आर्थिक दुर्बलता तथा कम सुविधाएँ इस प्रकार की प्रवृत्ति के मुख्य कारण हैं।

(4) बड़ों के पारम्परिक अधिकारों तथा उनके सम्मान में कमी आयी है।

(5) युवा पीढ़ी द्वारा विवाह सम्बन्धी पारम्परिक नियमों का उल्लंघन आम बात हो गई है। कभी-कभी तो ये युवा अपने समुदाय के बाहर विवाह करते हैं। तलाक की घटनाएँ बढ़ गयी हैं।

(6) आर्थिक दुर्बलता तथा समय की कमी के कारण विवाह के पारम्परिक रीति-रिवाजों को कम कर दिया गया है।

(7) अलग-अलग क्षेत्रों के विभिन्न समुदायों से सम्पर्क स्थापित होने के कारण इन जनजातियों की विचारधारा विस्तृत हुई है तथा इनके अन्धविश्वासों व रीति-रिवाजों से संबंधित कड़ी मान्यताओं में कमी आई है। इसके अतिरिक्त दूसरे समुदायों तथा उनकी संस्कृति को समझने तथा इसे अपनाने में इन्हें सहायता मिली है।

(8) देश की अन्य जनसंख्या के साथ धीरे-धीरे घुल-मिल रहे इन जनजातीय लोगों की परम्परागत सांस्कृतिक मान्यताएँ भी धीरे-धीरे लुप्त हो रही हैं।

इस प्रकार इन सांस्कृतिक सम्पर्कों का नतीजा सकारात्मक व नकारात्मक दोनों रूपों से निकला। श्रम की इकाई तथा तरीका एक और पक्ष है जिससे ये जनजातीय लोग सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास कर रहे हैं।

इनकी पारम्परिक कृषि अर्थव्यवस्था में पूरा परिवार एक साथ मिलकर एक श्रमिक इकाई के रूप में कार्य करता था जबकि कारखानों में अलग-अलग रहकर कार्य करते हैं। मनोवैज्ञानिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक सामंजस्य की समस्या से सम्बन्धित अधिक आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं जिसके कारण इस पक्ष पर औद्योगिकीकरण के प्रभाव का सही-सही अनुमान लगाना कठिन है, परन्तु यह बिल्कुल स्पष्ट है कि एक सीमित तथा पारम्परिक समाज के लोगों को शिक्षा तथा संसाधनों के बिना ही एक सार्वभौम सभ्यता तथा वृहत् समाज के साथ सामंजस्य स्थापित करने पर विवश किया जा रहा है। ऐसी स्थितियों में ये लोग अपनी पहचान खोते जा रहे हैं तथा उसे बचाने में प्रयत्नरत हैं। नुकसान का यह अहसास उनमें केवल अलगाववाद व आक्रोश ही उत्पन्न करता है।

(xii) निर्जनीकरण/जनह्रास (Depopulation)

निर्जनीकरण/जनह्रास की समस्या जनजातीय भारत की एक दुर्भाग्यपूर्ण तस्वीर पेश करती है। निर्जनीकरण की समस्या को दो पहलुओं से समझा जा सकता है– एक पहलू सामाजिक-सांस्कृतिक है तथा दूसरा जैविक/जीव वैज्ञानिक। यदि कोई मानव समूह किन्हीं कारणवश अपना मूल निवास क्षेत्र छोड़कर कहीं और जा बसे और उसके पड़ोसी समुदायों तक को उसका अता-पता न रहे तो वह व्यावहारिक तौर पर अपने मूल निवास के लोगों, प्रशासकों या समाज विज्ञानियों के लिए जनह्रास का एक केस बन जाते हैं। शोषण, वंचन तथा उपेक्षा या प्राकृतिक विपदाओं के कारण बहुत से जनजातीय समूह इसी प्रकार निर्जनीकरण का शिकार हो चुके हैं। क्रुकस थर्सटन जैसे अंग्रेज-प्रशासकों द्वारा संकलित जिलेवार/क्षेत्रवार पुस्तिकाओं में ऐसे अनेक समुदायों की चर्चा मिलती है जो अब हमें कहीं नज़र नहीं आते परन्तु प्रस्तुत विवरण में निर्जनीकरण के जैविक पक्ष पर ही बल दिया जायेगा क्योंकि प्रवसन के फलस्वरूप जनह्रास तकनीकी तौर पर शत-प्रतिशत सही अवधारणा नहीं है।

यह एक अजीब विडम्बना है कि एक ओर बड़ी जनजातियाँ जैसे भील, गोंड, संथाल आदि (जनसंख्या तीस लाख से पैंसठ लाख के बीच) राष्ट्रीय औसत से बढ़ रही हैं तथा दूसरी ओर दर्जनों छोटी जनजातियाँ निरन्तर लप्त होने की ओर बढ़ रही हैं। इस प्रकार की जनजातियाँ

अधिकतर दक्षिणी भारत में निवास करती हैं। ये कृषिपूर्ण स्तर पर रह रही हैं अर्थात् खाद्य संकलक हैं तथा प्रशासन द्वारा "आदिम जनजातीय समुदाय" नाम से एक पृथक् श्रेणी में रख दी गयी हैं ताकि उनके लिए विशेष योजनायें कार्यान्वित की जा सकें। इस प्रकार के ८० के लगभग जनजातीय समुदाय पहचान कर अलग कर लिए गए हैं। निर्जनीकरण के ज्वलंत उदाहरणों में बिहार के चेरों, पहाड़िया, विरहोर आदि, आंध्र के चेन्चू, केरल के कादार, अण्डमान व निकोबार द्वीप समूह के ओंगे जाखा तथा दूसरी जनजातियाँ, उत्तर प्रदेश के राजी आदि शामिल किए जा सकते हैं जिनकी जनसंख्या ह्रास की ओर अग्रसर है। इसी श्रेणी में उत्तर प्रदेश के जौनसारी तथा तमिलनाडु के टोडा भी रखे जा सकते हैं जिनकी जनसंख्या वृद्धिदर बहुत कम है।

जनजातीय निर्जनीकरण के प्रमुख कारणों में परिस्थितियों में परिवर्तन, सम्मिलित किया गया। प्रकृति-मानव साम्य में विघ्न (यहाँ पर अधिकतर वनों का ह्रास होने के कारण) तथा वन नीति का अमानवीकरण गिना जा सकता है जिसके कारण आदिम समुदाय सामाजिक- आर्थिक शोषण व वंचन के ऐसे दौर से गुजर रहे हैं जिसमें जीना ही उनके लिए सजा की तरह है। पेयजल की कमी, कुपोषण तथा बीमारियाँ ऐसी जनजातियों का भाग्य बुन चुकी हैं।

यदि कल्याणकारी प्रशासन ऐसे जनजातीय समूहों के लिए वास्तव में कुछ करना चाहता है तो उसको इनके सामाजिक-आर्थिक जीवन में आकस्मिक परिवर्तनों को नहीं लाना चाहिए। वननीति के कार्यान्वयन को मानवीय बनाया जाय, स्वास्थ्य परियोजनाओं को बड़े स्तर पर लागू किया जाय जिसमें विभिन्न क्षेत्रों में व्याप्त बीमारियों से युद्धस्तर पर मुकाबला किया जाय, सामाजिक-आर्थिक न्याय दिलवाकर उनका शोषण समाप्त किया जाय तथा शिक्षा को व्याप्त अन्धविश्वासों के विरुद्ध एक हथियार के तौर पर प्रयोग किया जाय।

(xiii) प्रवसन (Migration)

विश्वभर में लगभग सभी समुदायों का, विशेष रूप से आदिम समुदायों का, अपनी जमीन व मूल निवास स्थान से गहरा भावनात्मक सम्बन्ध रहा है। इसलिए हम देखते हैं कि जनजातीय प्रवसन सामान्य परिस्थितियों में नहीं होता।

जनजातीय संदर्भ में प्रवसन की अवधारणा बहुत पुरानी नहीं है। संचार साधनों के विकसित होने के बाद प्रवसन की सम्भावनायें बढ़ीं। जनजातीय प्रवसन को दो पहलुओं से समझा जा सकता है। पहला इन कारकों के माध्यम से जो किसी जनजातीय समूह को बाहर की ओर धकेलते हैं और दूसरा, इन कारकों के माध्यम से जो किसी जनजातीय समूह को अपनी ओर खींचते हैं या उन्हें आकर्षित करके अपना मूलस्थान छोड़ने के लिए उकसाते हैं। पहली श्रेणी के कारकों में सामाजिक-आर्थिक शोषण, बीमारी व भुखमरी तथा बाढ़ व सूखे जैसी प्राकृतिक विपदाओं को शामिल किया जाता है, दूसरे प्रकार के कारकों में शहरों में रोजगार के बेहतर अवसर व अधिक मजदूरी जैसे कारक शामिल किए जा सकते हैं जिनके कारण बहुत सी जनजातियाँ प्रवासी बन जाती हैं।

जनजातीय प्रवसन कोई नई घटना नहीं है लेकिन योजनाबद्ध तरीके से तथा संगठित तौर पर बिचौलियों के माध्यम से बड़े पैमाने पर प्रेरित प्रवसन एक नयी घटना है। बिहार तथा बंगाल के ओराँव, संथाल, 'हो' तथा मुंडा जैसी जनजातियाँ उत्तरी बंगाल व असम के चाय बागानों में काम

के लिए जाती रही हैं परन्तु पिछले दस-पन्द्रह वर्षों में इन क्षेत्रों में हरियाणा व पंजाब की ओर प्रवसन एक नयी घटना है। हरित क्रान्ति व समृद्धि के ये द्वीप निर्धन तथा शोषित जनजातियों के लिए आकर्षण के केन्द्र हैं यद्यपि हाल की परिस्थितियों के कारण पंजाब की ओर प्रवसन बहुत कम हो गया है। समाचार-पत्रों व पत्रिकाओं में छपी कुछ रिपोर्टों के अनुसार प्रवासी जनजातीय खेतिहर मजदूरों को हरियाणा व पंजाब में अफीम का आदी बनाकर उनका शोषण किया जाता रहा है। असंगठित होने के कारण यह प्रवासी अपने शोषण के विरुद्ध प्रभावी आवाज नहीं उठा पाते।

बहुत से समाजविज्ञानियों का मत है कि इस प्रकार का प्रवसन एक प्राकृतिक व तर्कसंगत घटना है जिसमें श्रम में कम क्षेत्रों में बहुतायत व अधिकता वाले क्षेत्रों की ओर प्रवसन आवश्यक है। इस प्रकार जनजातीय प्रवसन स्थायी भी हो सकता है तथा अस्थायी भी।

वन, जनजातियाँ तथा वन नीति (Forest, Tribes and Forest Policy)

जनजातीय समुदायों का जीवन वनों और वन्य जीवन के साथ घनिष्ठता से जुड़ा हुआ है। परिस्थितियाँ और आर्थिक दृष्टि से जनजातियाँ वन और वन जीवन से अलग नहीं की जा सकतीं। निःसंदेह वे वन्य पर्यावरण के अविभाज्य अंग हैं। एक दूसरे पर निर्भर होकर रहना ही उनकी प्रकृति है। जंगल, जनजातियों के रहने का स्थान है, जंगल ही उनकी जीविका का साधन है। जंगलों से जनजातियों को फल-फूल, कन्द-मूल, दाना-पानी, जड़ी-बूटियाँ, शहद, घर बनाने का सामान और अन्य अनेक प्रकार की छोटी-मोटी उपयोगी वस्तुएँ मिलती हैं।

जनजातियों की परम्परागत अर्थव्यवस्था मुख्यतः जंगलों पर निर्भर है, उनका धर्म, जादू टोना और उनकी आस्थाएँ भी जंगलों से जुड़ी हैं। अनेक फूल, पौधे और पेड़ों की वे लोग उपासना करते हैं।

जनजातियों को जंगलों के इस्तेमाल के मामले में हमेशा अबाध आजादी मिली है, वे उसका मनचाहा इस्तेमाल करते रहे हैं, ठीक वैसे ही जैसे कि जंगल उनके हैं और वे जंगलों के हैं। इसलिए सरकार की ओर से जब कभी भी उनकी इस आजादी पर कोई प्रतिबन्ध लगाने का प्रयास किया गया उन्होंने उसका विरोध किया है।

19वीं शताब्दी में जंगलों, जंगली जानवरों व वस्तुओं, वनस्पति सम्पत्ति और भूमि, आर्द्रता वर्षा और पर्यावरण से उसके अन्तर्सम्बन्धों के महत्त्व को पहिचाना गया और यह निर्णय किया गया कि सत्ताधिकार को देश के उन हिस्सों तक भी फैलाया जाय जिनकी उस समय तक उपेक्षा की गयी थी।

अंग्रेजों के शासन के पहले भारत में जनता द्वारा जंगलों का इस्तेमाल मुख्यतः स्थानीय रीति रिवाजों के अनुसार होता था। 1855 में लार्ड डलहौजी जो उस समय मध्य भारत का गवर्नर था, ने एक वन-नीति घोषित की जिसके अन्तर्गत यह कहा गया कि राज्य के वन-क्षेत्र में जो भी इमारती लकड़ी के पेड़ हैं वे राज्य सरकार के हैं और उन पर किसी व्यक्ति का कोई अधिकार या

दावा नहीं है। इस नीति को अमल में लाने के लिए एक वन विभाग की स्थापना हुई जिसका सबसे बड़ा अफसर महानिरीक्षक, वन-विभाग बनाया गया। इस महानिरीक्षक का बुनियादी काम वन-प्रसाधनों की रक्षा और उनका आर्थिक विदोहन करना था। इस प्रकार जंगल के वास्तविक राजाओं को जिन्हें उस समय तक जंगल सम्बन्धी पूरी आजादी प्राप्त थी, तथाकथित सभ्य सरकार की दया का पात्र बना दिया गया।

राजकीय सत्ता का विस्तार

1865 का पहला वन-कानून

यह जंगलवासियों द्वारा जंगल की वस्तुओं को एकत्र करने की छूट को नियमित करने का पहला प्रयास था। इस प्रकार स्थानीय लोगों के सामाजिक रूप से विनियमित आचरण को कानून द्वारा प्रतिबन्धित किया गया।

1878 का वन-कानून

यह वनों के ऊपर अपनी सत्ता लागू करने वाला भारत सरकार का दूसरा कदम था जिससे जंगल में प्रवेश करने, वहाँ पशुओं को चराने आदि कई कामों पर रोक लगाई, कुछ कामों को जुर्म घोषित किया गया जिसके लिए जुर्माने और कैद की सजाएँ निश्चित की गयीं।

1894 की पहली वन-नीति

इस वन-नीति के अन्तर्गत पहली बार वन-क्षेत्र का इस्तेमाल करने वालों के लिए, पहले उन्हें चाहे कितनी ही आजादी क्यों न प्राप्त हो, उनके अधिकारों, सुविधाओं और प्रतिबन्धों की व्यवस्था की गयी और उन्हें इस तर्क पर न्यायसंगत ठहराया गया कि उनसे जनता को होने वाला लाभ बहुत ज्यादा है और आधारभूत सिद्धान्त यह है कि व्यक्ति के अधिकार सीमित होने चाहिए। 1894 में पहली बार वन-अधिकारी गम्भीरता के साथ सामने आए और उन्होंने जनजातियों के अधिकारों को नियमित और सीमित करने के लिए सत्ता का इस्तेमाल किया।

भारतीय वन अधिनियम 1927

यह अधिनियम वन-भूमि और वन उत्पादन पर जनता के अधिकारों को विनियमित करने का प्रयास था। इसके अन्तर्गत जंगलों पर राजकीय नियंत्रण बढ़ाने के उद्देश्य से विस्तृत नियम-कायदों की व्यवस्था की गयी। वन सम्बन्धी कानूनों को तोड़ना जुर्म घोषित किया गया और प्रत्येक जुर्म के लिए यथोचित दण्ड की व्यवस्था की गयी।

वन-अधिनियम के अन्तर्गत अत्यधिक शक्तिशाली और संरक्षित कार्यपालिका की व्यवस्था की गयी जिसमें भारतीय और राजकीय वन-सेवा के अधिकारी, रेन्जर्स, फारेस्टर्स और वनों के चौकीदार आदि शामिल किये गए। वन अधिनियम में प्रशासकों को ऐसे कानून बनाने का अधिकार भी दिया जो स्थायी प्रकृति के न हों। इन अफसरों को कई कानूनी अधिकार भी प्राप्त हैं।

उदाहरणार्थ, भारतीय वन अधिनियम की धारा 64 में कहा गया है कि कोई भी फारेस्ट अफसर बिना वारन्ट के किसी भी ऐसे व्यक्ति को गिरफ्तार कर सकता है जिस पर वन कानून तोड़ने के जुर्म का तर्कसंगत सन्देह हो और वह जुर्म एक महीने की या उससे ज्यादा अवधि की सजा

के लायक हो। धारा -68 जुर्म के शमन सम्बन्धी अधिकार के बारे में है। धारा-70 में बताया गया है कि 1871 का पशुओं के अतिचार सम्बन्धी कानून लागू रहेगा और वह अतिचारी पशुओं को पकड़ने और जब्त करने का अधिकार देता है।

इन कानूनी व्यवस्थाओं ने वन-विभाग के रेन्जर और चौकीदारों को, जो आमतौर से जनजाति के लोगों के सम्पर्क में आते हैं, उनके जीवन के लिए मुसीबतें खड़ी कर देने का मौका दे रखा है। ऐसे अनेक मामले होते रहते हैं जिनमें वन-विभाग के ये छोटे कर्मचारी जनजाति के लोगों को परेशान ही नहीं करते वरन् सताते भी हैं लेकिन धारा-74 की आड़ में वे सब बेदाग बच जाते हैं। धारा 74 में कहा गया है कि सरकारी नौकर पर कोई भी मुकदमा उसके उस कार्य के लिए नहीं चल सकता जो उसने सद्भावना के साथ किया हो और वन-विभाग के सभी अधिकारी सरकारी नौकर होते हैं।

1935 में भारतीय सरकार के 1933 के अधिनियम के अनुसार वन का विषय राज्यों की सूची में कर दिया गया।

राष्ट्रीय वन-नीति 1952

स्वतंत्र भारत की वन-नीति में जनजातियों को कोई भी कानूनी अधिकार नहीं दिया गया, कुछ रियायतें व सुविधाएँ जरूर दी गयीं, जैसे–

1. खेती-पाती के कामों के लिए पानी लेने का अधिकार
2. खेती के लिए कुएँ और नहरें खोदने का अधिकार
3. वनों में निःशुल्क पशु चराने की सुविधा
4. घरेलू या कृषिगत कार्यों के लिए मिट्टी और पत्थर ले जाने की सुविधा
5. घरों के निर्माण, उनकी मरम्मत और खेतिहर उपकरणों के लिए लकड़ी, बाँस, सरकंडे, बेंत आदि ले जाने की सुविधा
6. घरेलू कामों के लिए सूखी लकड़ी बीनने की सुविधा
7. पशुओं के लिए घास और झोपड़ों के लिए फूस व पतावर ले जाने की सुविधा
8. मछली पकड़ने और शिकार करने की सुविधा (संरक्षित जीव समुदाय को छोड़कर)
9. वन की भूमि पर खेती करने की सुविधा।

1952 की वन-नीति का ढेबर आयोग द्वारा मूल्यांकन

राष्ट्रपति ने संविधान के अनुच्छेद-339 के अन्तर्गत 1960 में श्री यू.एन. ढेबर की अध्यक्षता में एक आयोग नियुक्त किया था जिसका उद्देश्य वन-नीति और जनजाति वर्ग का अध्ययन करना था। आयोग ने यह महसूस किया कि जनजाति के लोगों को, जो उस समय तक अपने आपको जंगल का राजा समझते थे, वन विभाग का मातहत बना दिया गया है। जनजातियों के परम्परागत अधिकारों को अब उनके अधिकारों के रूप में नहीं माना जाता। 1894 में जो "अधिकार सुविधाएँ" थीं, 1952 में वे "अधिकार और रियायतें" बना दी गयीं और अब उन्हें केवल "रियायतों" तक ही सीमित कर दिया गया।

आयोग ने यह भी बताया है कि वन-विभाग के अधिकारी अब जंगलों की पैदावार पर जनजातियों के अधिकार से भी मुकर गये हैं।

एन.सी.ए.-1976 की संस्तुतियाँ और जनजातियों के अधिकार

आयोग ने वनों और वन-उत्पादन पर दूसरे लोगों के अधिकारों में कठोर कटौतियाँ करने की सिफारिशें कीं। यह कहा गया कि स्थानीय लोगों को वन-उत्पादों की निःशुल्क आपूर्ति, उनके अधिकारों और उन्हें दी गयी रियायतों की वजह से जंगलों को भारी क्षति पहुँची है, इसलिए इस प्रक्रिया को उलट देना चाहिए। यह भी कहा गया कि स्थानीय लोगों ने जंगलों के रख-रखाव और उससे सम्बन्धित नियम कानूनों के पालन की दिशा में कोई भी योगदान नहीं किया है।

आयोग ने संशोधित अखिल भारतीय वन अधिनियम द्वारा वन सम्बन्धी कानूनों को और भी मजबूत करने की संस्तुतियाँ की। आयोग की संस्तुतियाँ 1982 में हुए वन-मंत्री सम्मेलन में अस्वीकृत कर दी गयीं।

1976 में संविधान के 42वें संशोधन द्वारा वनों का विषय समवर्ती सूची में लाया गया जिससे उसके बारे में कानून बनाने का अधिकार केन्द्र को प्राप्त हुआ। परिणामस्वरूप 1980 के अक्टूबर में फारेस्ट कंजरवेशन आर्डीनेन्स लागू किया गया। बाद में उसे संसद में स्वीकृत होने के बाद कानून बना दिया गया।

वनों और जनजातियों के बारे में बी.के.राय बर्मन का मत

गृह मंत्रालय ने 1980 में जनजातीय अर्थव्यवस्था में सुधार के लिए वन नीति को पुनः परिष्कृत करने के उद्देश्य से सुविज्ञात नृविज्ञानी श्री बी.के.राय बर्मन की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की। समिति ने 1982 में अपनी रिपोर्ट पेश की। उसने जनजातियों के जीवन में वनों के महत्त्व पर जोर दिया। निःशुल्क ईंधन, चारा और घर बनाने के लिए लकड़ी के अलावा जनजाति के लोग अपनी आय का एक तिहाई हिस्सा जंगल की वस्तुओं से ही कमाते हैं।

समिति ने अंकित किया कि जंगलों से सम्बन्धित समस्त सरकारी कार्रवाई कुल मिलाकर राजस्व उपार्जित करने की है। वन नीति की न्यष्टि-रेखा में जनजातियों की अर्थव्यवस्था का कोई खास स्थान नहीं है, ज्यादा से ज्यादा जनजाति के लोगों से मजदूरी पर काम ले लिया जाता है। समिति ने इस बात का संकेत भी दिया कि लाभों को जनजाति के लोगों की तरफ भी जाना चाहिए। इसके लिए कल्पनाशील वेनोत्पादक कार्यक्रमों का संयोजन और जनजातियों की परम्परागत दक्षताओं के संरक्षण और उन्हें मान्यता प्रदान करने के तरीके इस्तेमाल किए जा सकते हैं। दूसरे शब्दों में जनजाति का व्यक्ति, स्थानीय जनजाति समुदाय और राष्ट्रीय हित, इन तीनों को मिलाकर एक त्रिकोणात्मक वन नीति बनाई जा सकती है। वन नीति को आवश्यकताओं के तीन वर्गों को पूरा करना है। वे हैं– (क) पारिस्थितिक सुरक्षा (ख) खाद्य, कन्द मूल फल, (ग) ईंधन, चारा और विशेष रूप से ग्रामीण तथा जनजातियों की आबादी की अन्य घरेलू आवश्यकताएँ।

समिति ने यह भी संस्तुति की कि जहाँ कहीं भी वन भूमि पर सामुदायिक अधिकार हैं उन्हें मान्यता दी जानी चाहिए, भूमि और जल प्रबन्ध की फौरी जरूरतों को पूरा करने के साथ ही भूमि के खाली टुकड़ों पर यथोचित किस्म के वृक्षों को लगवा देना चाहिए।

पिछड़े हुए क्षेत्रों के विकास के लिए राष्ट्रीय समिति (1980)

योजना आयोग ने पिछड़े हुए क्षेत्रों के विकास के लिए 1980 में एक समिति का गठन किया था। इस समिति ने कृषि सम्बन्धी राष्ट्रीय आयोग द्वारा व्यक्त किए गये दृष्टिकोण का अनुगमन किया और वन-भूमि एवं वनोत्पादन पर जनजातियों के समुदाय के अधिकारों में कटौती करने की संस्तुतियाँ कीं।

समिति का मत था कि वनों पर अधिकार तभी बनाये रखा जा सकता है जब वनों के विकास, उनके इस्तेमाल और संरक्षण के लिए एक विस्तृत और मजबूत तंत्र हो जिसमें समुदाय और व्यक्तियों द्वारा नई वन-सम्पदा पैदा करने और उसे सुरक्षित रखने की जिम्मेदारियाँ वहन की जायँ।

समिति ने आगे यह भी कहा कि वनों की लघु वस्तुओं को सरकार के लिए राजस्व का साधन न माना जाय। किन्तु उससे जनजाति के लोगों को इतना ज्यादा लाभ होना चाहिए जिससे उनमें उन वस्तुओं के लिए इतनी आर्थिक दिलचस्पी पैदा हो सके जिससे वे उस आय को बरकरार रखने के लिये वन के रख-रखाव के प्रति अपनी जिम्मेदारी महसूस कर सकें। वनों से प्राप्त होने वाली लघु-वस्तुओं को एकत्र करने और उनकी बिक्री करने के पट्टे या ठेके जनजातियों की सहकारी समितियों को ही मिलने चाहिए।

अधिकारों और रियायतों की समीक्षार्थ समिति, 1980

जनजाति के लोगों के अधिकारों और उन्हें मिलने वाली रियायतों की समीक्षा करने के लिए कृषि मंत्रालय ने 1981 में मध्य प्रदेश के भूतपूर्व प्रमुख सचिव श्री एम.एस. चौधरी की अध्यक्षता में एक समिति बनायी थी। इस समिति के सभी अन्य सदस्य भूतपूर्व वन-अधिकारी थे।

समिति ने पाया कि ईंधन, काष्ठ, चारागाह आदि की जो रियायतें या सुविधाएँ जनजातियों को दी गयी हैं वे केवल वन-क्षेत्र के भीतर या उसके आस-पास के गाँवों की परिधि तक ही सीमित हैं और आमतौर से उन्हीं जंगलों के बारे में हैं जो आरक्षित नहीं हैं। जिन क्षेत्रों में अंग्रेजों की सरकार नहीं थी वहाँ इस प्रकार के अधिकार, सुविधाएँ या रियायतें अधिकांशतः परिभाषित नहीं हैं। आयोग ने सिफारिश की कि अधिकारों और सुविधाओं का इस्तेमाल उन ग्रामीणों और जनजातियों तक ही सीमित रहना चाहिए जो मौजूदा जंगलों में 8 किलोमीटर की दूरी के भीतर रहते हैं।

समिति ने यह सिफारिश भी की कि लाभान्वित होने वाले लोग वनों के उत्पादों को लेने या एकत्र करने के लिए वनों में प्रवेश नहीं करेंगे बल्कि उन्हें वे सभी वस्तुएँ वन-विभाग द्वारा खोले गये डिपो द्वारा उपलब्ध कराई जायेंगी। ये "डिपो" जंगल के बाहर सुविधाजनक स्थलों पर खोले जायेंगे। उसने यह भी संस्तुति की कि वस्तु के बदले वस्तु का विनिमय और रियायतों के जरिये पाई गयी वस्तुओं की बिक्री रोकी जानी चाहिए। समिति ने यह भी कहा कि अधिकारों और रियायतों की कुल मात्रा वहीं तक होना चाहिए जहाँ तक वन विशेष वहन कर सके। समिति ने यह भी सिफारिश की कि वनों में पशुओं का चराना जंगल की सामर्थ्य के अनुरूप होना चाहिए, उससे अधिक पर सख्ती के साथ प्रतिबन्ध लगाना चाहिए।

नयी राष्ट्रीय वन-नीति 1988 और जनजातियों के अधिकार

इसके अनुसार वन-नीति का सर्वप्रमुख उद्देश्य पर्यावरण सम्बन्धी स्थायित्व और पारिस्थितिक एवं वातावरण सम्बन्धी संतुलन कायम रखना है जो सभी जीव स्वरूपों, मानव, पशु और वनस्पति को जीवित और कायम रखने के लिए जरूरी है। आर्थिक लाभों के विदोहन की बात प्रमुख उद्देश्य के अधीनस्थ है अर्थात् उसकी तुलना में कम महत्त्व की है।

नयी वन-नीति की सबसे ज्यादा आकर्षक बात वह है जो उसने वनों के साथ जनजातियों के सम्बन्धों के सन्दर्भ में कही है। उसने कहा है कि जनजाति के लोगों का जंगलों के साथ जो प्रतीकात्मक सम्बन्ध रहा है उसका सम्मान करते हुए वन-प्रबन्ध की सभी एजेन्सियों और वन-निगमों का बुनियादी कर्त्तव्य यह है कि वनों के संरक्षण, उनके पुनर्विकास और उनकी स्थितियों में सुधार करने के सभी कार्यों में जनजाति के लोगों को घनिष्ठता के साथ जोड़ा जाय, वन और उसके आस-पास रहने वालों को अच्छे रोजगार उपलब्ध करायें, साथ ही उन लोगों के रिवाजी अधिकारों और हितों को सुरक्षित रखा जाय। वन सम्बन्धी कार्यक्रमों में निम्नलिखित बातों पर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए।

1. गैर कानूनी कटान को कम करने तथा जंगलों का शोषण रोकने के लिए ठेकेदारों के स्थान पर वन-निगम श्रमिकों या जनजातियों की सहकारी समितियों से काम लेना चाहिए।

2. वनों के संरक्षण, पुनरुत्थान और उनसे मिलने वाली छोटी वस्तुओं के अधिकतम एकत्रीकरण के साथ ही उनकी संस्थागत बिक्री के प्रबन्ध पर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए।

3. लाभान्वित होने वाली जनजातियों के लिए पारिवारिक हितोन्मुख योजनाएँ।

4. वन क्षेत्र के भीतर और आस-पास क्षेत्रीय विकास की एकीकृत योजनाएँ।

जहाँ तक जनजातियों के अधिकारों और उन्हें मिलने वाली रियायतों का सम्बन्ध है, नयी वन-नीति में स्पष्ट कहा गया है कि जो भी अधिकार और रियायतें जनजातियों को प्राप्त हैं वे सब पूरी तरह सुरक्षित रहने चाहिए। ईंधन की लकड़ी, चारा, वन के लघु उत्पादन और घर बनाने में काम आने वाली काष्ठ आदि घरेलू जरूरत की चीजें जनजातियों को मिलती रहनी चाहिए क्योंकि ये वनवासियों की प्राथमिक आवश्यकता है और जब से वन प्रशासन का काम भारत में शुरू हुआ है तब से लगातार इसकी परम्परा को निभाया गया है।

वन-संरक्षण अधिनियम 1980 बनाम वन-नीति 1988

हाल ही में केन्द्रीय सरकार ने वन-संरक्षण अधिनियम 1980 में कुछ संशोधन किए हैं जो राष्ट्रीय वन-नीति 1988 के प्रतिकूल पड़ते हैं।

इस संशोधन के अनुसार राज्य सरकारें, केन्द्र सरकार की पूर्व अनुमति के बिना कोई वन भूमि या उसका कोई हिस्सा किसी व्यक्ति या अधिकरण, निगम, एजेन्सी या किसी भी ऐसे संगठन को, जिसका प्रबन्ध सरकार के हाथों में न हो (धारा 2ए) नहीं दे सकती। यह वन-नीति की उस व्यवस्था के प्रतिकूल है जिसमें कहा गया है कि जहाँ भी सम्भव हो अवकृष्ट भूमि को वृक्ष लगाने के लिए पट्टे पर या "वृक्ष पट्टा योजना" के अन्तर्गत दिया जाना चाहिए। संशोधन की व्यवस्था विशेष

रूप से किसी भी गैर-सरकारी एजेन्सी को केन्द्र सरकार की पूर्व अनुमति के बिना भूमि को पट्टे पर देने से रोकती है। यह संशोधन जनजातियों की सरकारी समितियों और जंगल लगाने वाले संगठनों को भी अवकृष्ट भूमि देने पर प्रतिबन्ध लगाता है।

वन-संरक्षण अधिनियम के एवं अन्य संशोधन में कहा गया है कि वन विभाग किसी व्यक्ति या संगठन को औद्योगिक या औषधीय पेड़-पौधे लगाने के लिए भी भूमि नहीं दे सकता। यह व्यवस्था समस्त वन-भूमि, जिसमें अवकृष्ट भूमि भी शामिल है, पर लागू होती है। इन व्यवस्थाओं से निश्चित रूप से जनजातियों और सरकार के बीच विरोध और तकरार की स्थितियाँ पैदा होंगी। प्रधान मंत्री ने अभी हाल में जो समिति नियुक्त की है उसे इन व्यवस्थाओं के बारे में विचार करना चाहिए जो जनजातियों और अवकृष्ट भूमि को प्रभावित करती हैं और संसद को पुनः एक ऐसा संशोधित और व्यापक वन-अधिनियम स्वीकृत करना चाहिए जो राष्ट्रीय वन-नीति के प्रस्तावों के अनुकूल हो।

वनों के पर्यावरण की क्षति और जनजातियाँ

अंग्रेजों के शासन के पहले वन सामुदायिक सम्पत्ति थे और उन पर किसी व्यक्ति विशेष का कोई दावा नहीं था। लोग अपनी जरूरत के लिए वनों में रहते व जाते थे और प्राकृतिक विरासत के रूप में उनकी रक्षा करते थे।

वनवासी जनजातियों के लिए वन उनका जीवनदाता था। वनों के साश उनके प्रतीकात्मक सम्बन्धों ने ही उनकी स्वतंत्रता या उन्मुक्तता की नींव डाली थी। वनवासी और वनों के बीच जो परस्पर निर्भरता थी वह उसकी उस एकान्तता का आधार थी जिसकी अभिव्यक्ति के रूप में वनवासी तमाम दुनिया से अलग-थलग रहकर भी स्वतंत्र जीवन यापन करते थे।

अंग्रेजों के लिए जंगल बहुमूल्य खजाने थे। प्रशासकीय कलम के द्वारा एक बार में ही औपनिवेशिक सरकार ने जनता के नाम पर देश की लम्बी चौड़ी वन-सम्पदा पर कब्जा कर लिया और वनों के तथाकथित अभिभावकों ने उसकी प्राकृतिक सम्पदा का विदोहन करना शुरू कर दिया। वनवासी अपनी ही भूमि पर परदेशी और घुसपैठिये हो गए क्योंकि वन सरकार की सम्पत्ति हो गये थे। वे खामोश थे क्योंकि उन्हें मजदूरी करने का काम मिल गया था। सस्ती मजदूरी पर उन्हीं से जंगल कटवाये जाते थे और जंगल की इमारती लकड़ी सुदूर देश की बाजारों में भेजी जाती थी।

कुछ छोटे-मोटे परिवर्तनों के साथ 1952 की वन-नीति सार रूप में लगभग वही थी जो उपनिवेशी शासनाधिकारियों ने स्थापित की थी। वन के विदोहन से मिलने वाला राजस्व वर्ष प्रतिवर्ष बढ़ता गया। सरकार के लाभ बढ़े किन्तु जनजातियों की किस्मत डूबी क्योंकि उसके लिए उसका वन से नाता भोजन, ईंधन, रेशों, चारे आदि से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण था, वह उनके जीवन का आधार था। उनकी बुनियादी जरूरतों की पूर्ति को भी आगे चलकर गैर-कानूनी और सजा के लायक घोषित कर दिया गया। वन के साथ उनके प्रतीकात्मक सम्बन्ध को कभी भी ठीक से नहीं समझा गया। जंगल के साथ उनकी सन्निकटता या अपनेपन के कारण उन्होंने जंगल में मजदूरी करना भी स्वीकार किया और इस तरह वे तेजी के साथ जंगल से पृथक् होते गये। दूसरी ओर ठेकेदारों, सूदखोर महाजनों की साँठगाँठ ने उनका जिन्दा रहना मुश्किल कर दिया। वे सस्ती

मजदूरी के शिकार बने और साथ ही उसकी आड़ में जंगल की गैर-कानूनी कटान होने लगी।

अपने भोलेपन के कारण जनजातियाँ अनजाने में ही स्वयं अपने विनाश का उपकरण बन गयीं। भूमि की भूख ने उन्हें नये क्षेत्रों को साफ करने पर मजबूर किया। नई भूमि अपेक्षाकृत घटिया होने के कारण कम उत्पादक सिद्ध हुई जिससे उनकी दशा और भी बदतर हुई।

फिर शुरू हुआ खदानों का कार्य, बहुउद्देश्यीय परियोजनाओं, विद्युत परियोजनाओं, वन क्षेत्र के उपलब्ध कच्चे माल के कारण उद्योगों की स्थापनाओं और वन्य पशुओं के संरक्षण का सिलसिला जिसकी वजह से सरकार ने वन-भूमि की बिक्री शुरू की। वन भूमि की बिक्री ने जनजातियों को अपने परम्परागत ठिकानों से उखाड़ दिया, उनकी परम्परागत अर्थ-व्यवस्था नष्ट हो गयी। उन्हें शहर या औद्योगिक बस्तियों की सीमाओं पर शरण लेनी पड़ी जहाँ मुफलिसी की जिन्दगी और समाज-विरोधी तत्त्वों की गिद्ध दृष्टि उनकी प्रतीक्षा कर रही थी। किसी-किसी को कोई मुआवजा भी मिला तो वह भी नाम मात्र का था। जनजातियों के लोग निरक्षर थे, अनपढ़ थे, उन्हें कानूनों का ज्ञान न था। चूँकि उनकी भू-सम्पत्ति जंगलों के बीच में थी और उन्हें परम्परा से प्राप्त हुई थी इसलिए उनके पास उसकी कोई कानूनी लिखा-पढ़ी न थी। होती भी कैसे? उस भूमि का न कभी सर्वेक्षण हुआ था और न कभी उसकी स्वामित्व का पंजीकरण अपनी भूमि पर उनका रिवाजी अधिकार सामुदायिक स्वामित्व जैसा था। गलत ढंग से कबीले के सरदार को उसका स्वामी मान लिया गया था। लेकिन सरकार अधिकार के मामले में असली और लिखित कागजात को मान्यता देती है। सामुदायिक आधार पर सामान्य अधिकारों का उसकी निगाह में कोई महत्त्व नहीं है।

अपने बाप-दादों के जमाने से चली आ रही अपनी भूमि से लगातार पृथक् किये गये जनजातियों के लोग एक सीमा पर पहुँचकर यह भी भूल गये कि जंगल ही उनकी सुरक्षा थे। इसलिए, उनके संरक्षण और रख-रखाव की ओर से भी वे विमुख हो गये। न उन्होंने उनके विनाश का विरोध किया और न उनके रख-रखाव में दिलचस्पी ली।

वनों के वैज्ञानिक प्रबन्ध के नाम पर फल और औषधीय वृक्षों को केवल ईंधन के लिए उपयुक्त मान लिया गया और यूकलिप्टस जैसे "मोनोकल्चर" के वृक्ष लगाये गये जिनका न जनजातियों की दृष्टि में कोई इस्तेमाल था और न वन्य जन्तुओं के लिए कोई उपयोगिता।

हिमालय के बारे में भारत सरकार की 1959 की रिपोर्ट में कहा गया कि "उदाहरण के लिए हिमालय के जंगल हमारे देश की महानतम राष्ट्रीय परिसम्पत्ति हैं, उसी को हमारे देश की सम्पन्नता का श्रेय प्राप्त है। हिमालय की पर्वतीय ढलानों के निरावरण के कारण बाढ़ें आती हैं, बार-बार बाढ़ों के आने से आवर्ती अपर्दन होता है और उससे पर्वतों के उस उप-भूभाग पर जो उपजाऊ होता है, मलबा (डेट्रीटस) जमा हो जाता है। यह प्रक्रिया बड़ी विनष्टकारी है, भारत के उत्तरी मैदानों के कारोड़ों निवासियों को इससे होने वाली क्षति को भुगतना पड़ता है हालांकि उस क्षति के कारण का उन्हें आभास भी नहीं होने पाता। भूमि की उर्वरकता कम होती जाती है, फलस्वरूप उसकी उत्पादकता क्षमता भी गिरती जाती है।"

इसे बार्बादी का आत्मकथन ही कहा जायेगा। लगभग 60 प्रतिशत निर्वनीकरण हो चुका है, पर्वतीय क्षेत्रों पर से वृक्षों का आवरण छंट चुका है और उससे हमें मिल रहा है:–

1. बाढ़ें और बहिया– 1971 की तुलना में बाढ़ का क्षेत्र दो गुणा बढ़ गया है और उससे प्रतिवर्ष लगभग 2000 करोड़ का नुकसान होता है।

2. अपर्दन और भू-क्षरण– लगभग 1750 लाख हेक्टेयर भूमि अपर्दनीय है। चारागाह बंजर भूमि में बदल रहे हैं, ऊपर की मिट्टी और मिट्टी के पोषक तत्त्वों की मद में प्रतिवर्ष लगभग 1000 करोड़ रुपए की हानि होती है।

3. सिंचाई परियोजनाओं में गाद या नीचे बैठने वाली मिट्टी की समस्या, पर्वतों में होने वाले भूक्षरण या अपर्दन से उन जलाशयों और सरोवरों में गाद जम जाती है जिनमें हम एक खरब से ज्यादा रुपए लगा चुके हैं। नीचे जमने वाली मिट्टी से इन सरोवरों की जिन्दगी लगभग आधी रह गयी है।

जनजातियों पर पड़ रहे प्रभाव भी बड़े दुखद हैं। खाद मिट्टी (हयूमस) की कमी ने उनकी भूमियों की उत्पादन क्षमता बहुत घटा दी है और उन्हें मौसमी रोजगार की तलाश में इधर-उधर भटकने या गैर-कानूनी टिम्बर व्यापारियों के जाल में फँसने के लिए मजबूर कर दिया है। औरतें आस-पड़ोस के शहरों व कस्बों में ईंधन बेचने का काम करने लगी हैं। जंगली फलों के वृक्षों के कटने से मन्दी के मौसम में उन्हें भूखे रहना पड़ता है अथवा सूदखोरों के चंगुल में फँसना पड़ता है। "मोनोकल्चर" के कारण वन्य पशु भी भाग गये हैं, वे पशु ही उनके लिए "प्रोटीन" के एकमात्र स्रोत रहे हैं। जंगलों, जो जनजातियों के जीवन का आधार थे, के विनाश से जनजातियों का जीवन भी बर्बाद हो गया है। योजना आयोग की एक रिपोर्ट के अनुसार भारत को जल्द ही इथोपिया जैसे जल का संकट भोगना पड़ सकता है।

परिस्थिति विज्ञान की पद्धति स्वनियमित और एक दूसरे पर निर्भर करती है। एक हिस्से का विनाश जैसे निर्वनीकरण, दूसरे हिस्सों को भी प्रभावित करता है। परिस्थिति विज्ञान की पद्धति को सुरक्षित रखने का एकमात्र तरीका यह है कि प्राकृतिक वनों की रक्षा की जाय और बड़े पैमाने पर नये जंगल लगाए जायं।

जनजातियों की रक्षार्थ वन-अधिनियम में सुधारों की आवश्यकता

यह जरूरी है कि उन मामलों को एक साथ सामने रखा जाय जो जंगलों में दाँव पर लगे हुए हैं। उनकी संख्या तीन है :

1. जनता के साथ न्याय– जनजाति के भी और उनसे इतर भी।
2. प्रकृति के साथ न्याय– वानस्पतिक और वन्य पशुओं सम्बन्धी।
3. आनेवाली पीढ़ियों के साथ न्याय जिससे सुदीर्घकाल तक प्राकृतिक साधन बन रहें।

तो भी वन-नीति का लक्ष्य अन्य जीवों और उत्पादनों के साथ वनवासियों की रक्षा करना ही है। वन-नीति में होने वाले किसी भी भावी सुधार का सबसे पहला उद्देश्य लोगों के साथ न्याय करना होना चाहिए और बाद में प्रकृति और भावी पीढ़ियों के साथ न्याय करना होना चाहिए। इसका अर्थ यह भी नहीं है कि प्रकृति के साथ न्याय करने का स्थान दूसरा है या पहले से कुछ कम है।

कानून परिस्थिति विज्ञान की भाँति ही परस्पर सम्बन्धित है। फूल-पौधों व जीवों की रक्षा

का एक ही तरीका है और वह तरीका है लोगों अर्थात् जनजातियों की रक्षा करते हुए। यदि उनकी रक्षा होगी, विशेष रूप से वनों के रक्षक के रूप में, तो प्राकृतिक वन बचाये जा सकेंगे और प्रकृति के साथ न्याय भी हो सकेगा। इसी से भावी पीढ़ियों के प्रति जिम्मेदारी की बात भी पूरी हो सकेगी क्योंकि इससे वह सब नहीं नष्ट होगा जिसकी वैसा न करने से, आशंका है। इस तरह इन तीनों पक्षों की सही प्राथमिकताओं का अनुगमन करके हम तीनों के साथ बराबर न्याय कर सकेंगे।

अब सवाल यह उठता है कि लोगों को किससे बचाया जाय ? उनकी रक्षा करनी है ठेकेदारों से, उद्योगपतियों से, सूद पर रुपए उधार देने वालों से और सरकार एवं प्रशासन की गलत नीतियों से।

प्राथमिकताएँ निश्चित कर लेने के बाद जो मामले सबसे पहले सामने आते हैं, वे हैं :–

1. जंगलों, उनके प्रसाधनों और उनसे प्राप्त होने वाले लाभों पर जनजातियों के अधिकारों की वास्तविक प्रकृति और सीमा क्या है ?
2. क्या अधिकार उन्हें मिलना चाहिए ?
3. अधिकारों का निश्चित करने वाला न्याय किन सिद्धान्तों पर आधारित होना चाहिए ?
4. वे अधिकार उन्हें कौन दिलायेगा ? मौजूदा अधिनियम में उसकी स्थिति क्या है ? और
5. जब लोगों को उनके अधिकार नहीं दिये जायेंगे तो उनके पास उसके क्या उपचार उपलब्ध हैं ?

ऊपर दिये गये मामले ही मौजूदा वन-अधिनियम में सुधारों की जरूरत पर बल देते हैं। 1927 के भारतीय वन-अधिनियम के अनुसार कोई भी व्यक्ति केवल इसलिए कि वह वहाँ पुश्तों से रह रहा है वन-भूमि पर अपने निजी स्वामित्व का दावा नहीं कर सकता। उसी अधिनियम की धारा-3 के अनुसार वह वन के किसी उत्पादन पर अपने हक का दावा भी नहीं कर सकता है। सरकार किसी भी वन या बेकार भूमि का गठन कर सकती है क्योंकि वह उसकी सम्पत्ति होती है अथवा उस पर उसका सम्पत्ति जैसा अधिकार होता है, वही स्थिति वन के समस्त या आंशिक उत्पादनों के बारे में है क्योंकि सरकार का उस पर संरक्षित वन जैसे स्वामित्व का अधिकार होता है। यह धारा यह मानकर चलती है कि वन-भूमि राज्य की सम्पत्ति है हालाँकि जनजातियाँ उस पर रहती भी हैं। वन-अधिनियम की धारा-4 के अनुसार सामान्य भूमि को वन भूमि के रूप में अधिग्रहीत किया जा सकता है। वह वन बन्दोबस्त अधिकारी घोषित कर सकता है कि अमुक भूमि वन-भूमि है और उसे संरक्षित वन के रूप में माना जाय। इस प्रकार की सूचना के प्रकाशन का यह उद्देश्य भी है कि यदि किसी व्यक्ति का उस भूमि या उसके किसी भाग पर कोई दावा हो तो वह उसे अपनी वैयक्तिक सम्पत्ति का दावा कर सकता है।

धारा-5 उन सभी दावों पर प्रतिबन्ध लगाता है जो सरकारी गज़ट से प्रकाशित नोटिसों के तीन महीनों के बाद किये जायेंगे। जहाँ निजी सम्पत्ति के अधिकार का दावा होगा वहाँ सरकार सार्वजनिक उपयोग के लिए 1894 के भूमि अधिग्रहण अधिनियम का इस्तेमाल कर सकती है। जो लोग निजी सम्पत्ति की अवधारणा से ही अनभिज्ञ हों उनसे सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकारों का दावा करने की माँग करना उनके अज्ञान के साथ खिलवाड़ करना है। इसके अलावा वन अधिनियम की धारा-5 केवल वैयक्तिक सम्पत्ति के दावे की अधिसूचना के लिए निर्देश देती है न कि जनजातियों

के सामूहिक अथवा सामुदायिक अधिकारों के बारे में। वनवासी हमेशा से वनों और उसके उत्पादनों का इस्तेमाल करते आये हैं। यह भी सच है कि उन्होंने कभी वन भूमि या उसके प्रसाधनों पर अपने अधिकारों का दावा नहीं किया फिर भी वन-अधिनियम की धारा-6 से 16 तक पशु चराने, जलप्रसाधन का उपयोग करने, झूम की खेती, वन की वस्तुओं के उपयोग आदि से सम्बन्धित उनके आंशिक अधिकारों के दावे का उल्लेख किया गया है। इन अधिकारों को वन बन्दोबस्त अधिकारी के विवेक पर छोड़ दिया गया है। इस तरह ये अधिकार किन्हीं व्यक्तियों या समुदाय को दी गयी सुविधाओं में बदल गये हैं।

निष्कर्ष

पी.वी. सुभाष चन्द्र बाबू, आई.एफ.एस. ने इन सभी बातों की तर्कपूर्ण समीक्षा की है। जनजातियों और वनों को कैसे बचाया जाय ? यह एक बड़ा सवाल है। आज तक वन संरक्षण के मामले में उनका कुछ भी दाँव पर नहीं लगा है। उनकी अपनी गरीबी ने उन्हें निहित हित वाले लोगों का शिकार बना रखा है, इस तरह वनों के पर्यावरण की भी अवनति हुई है। वनों के संरक्षण के लिए स्थानीय हितों वाले लोगों को टिम्बर में दिलचस्पी रखने वाले शक्तिशाली समुदाय का सामना करना चाहिए। "चिपको आन्दोलन" उसकी स्पष्ट मिसाल है। यह एक व्यर्थ की आशा मात्र है कि नियम कायदों और दण्ड की व्यवस्थाओं से टिम्बर का गैर-कानूनी व्यापार रुक जायेगा खास तौर से ऐसी स्थिति में जब उसमें मुनाफा ज्यादा है और नुकसान कम है। जंगलों पर पुलिस का पहरा भी नहीं लगाया जा सकता है। उनका केवल संरक्षण किया जा सकता है और वह भी मात्र स्थानीय लोगों द्वारा।

नई वन-नीति में यह ठीक ही कहा गया है कि वनों को कायम रखने, उनके संरक्षण और उन्हें फिर से लगाने के मामले में जनजातियों को अंतर्ग्रस्त किया जाय और वन के उत्पादन पर जनजातियों और स्थानीय लोगों की आवश्यकताओं का पहला हक माना जाय। जब तक उनको विश्वास में नहीं लिया जायगा और वनों के विकास में उनको साझीदार नहीं बनाया जायगा हमारे निरावृत्त पर्वतीय इलाके नंगे ही होते रहेंगे और न बहुत व्यापक और बड़े पैमाने पर नये जंगल ही लगाये जा सकेंगे। इसलिए, जनजातियों की जरूरतों और प्राथमिकताओं को पूरा ही करना होगा। जनजातियाँ अपने आपको दया का पात्र बने रहना न पसन्द करती हैं और न करेंगी। ठीक उसके विपरीत जनजातियों के व्यक्ति अपने आपको उन बाहरी शक्तियों का शिकार मानते हैं जिन्होंने उसके भोलेपन या सांसारिक मामलों में उसकी अनभिज्ञता का लाभ उठाकर उसे उसके जन्म सिद्ध अधिकारों से वंचित कर दिया है।

जहाँ तक वन विभाग या उसके अधिकारियों-कर्मचारियों का सम्बन्ध है उनकी प्रवृत्तियों अथवा दृष्टिकोण में परिवर्तन होना परमावश्यक है। वनों पर स्वामित्व और एकाधिकार की उनकी अवधारणा को सह-स्वामित्व और साझेदारी की भावना में बदलना होगा। प्रवृत्तियों का यह परिवर्तन सरल नहीं है क्योंकि इसमें अनेक वैधानिक और प्रशासकीय पचड़े आड़े आ सकते हैं। तिस पर भी, जनजातियों के प्रति वन-विभाग के लोगों की सहकारी भावना को, परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए, ऐसा अनुकूल रूप लेना चाहिए जिससे दोनों में एक दूसरे के प्रति विश्वास पैदा हो सके

और जनजाति के लोगों और वन प्रशासन के बीच सद्भावना की स्थिति कायम रह सके।

1988 की राष्ट्रीय वन-नीति की जनजातियों से सम्बन्धित व्यवस्थाएँ अपने आप में अपर्याप्त हैं। इसलिए समय की माँग यह है कि एक संशोधित अखिल भारतीय वन अधिनियम बनाया जाय।

विकासकारी नीतियाँ, जनजातियों का विस्थापन तथा पुनर्वास संबंधी समस्याएँ (Development Policies, Displacement of Tribes and Problems of Rehabilitation)

तीसरी दुनिया के देशों में बहुतों के लिए "विकास" एक दुस्वप्न सा हो गया है क्योंकि वह ऐसे तरीके से हो रहा है कि तथाकथित "लक्ष्य-समुदाय" अथवा जिनके हित के लिए विकास कार्य किये जाते हैं वही प्रगति और विकास का शिकार हो जाता है। यद्यपि यह एक स्थापित सत्य है कि इतिहास में सदैव मानवीय आबादी की पुनः व्यवस्था विकास का साथी रहा है, हालाँकि उसकी प्रक्रिया को न्यायसंगत, मानवीय और जहाँ तक संभव हो स्वयंसेवी होना चाहिए।

विकास के कार्य में भूमि और पानी के इस्तेमाल के प्रकार में परिवर्तन करने की जरूरत पड़ती है और इन परिवर्तनों के कारण अक्सर बस्तियों को विस्थापित करना भी जरूरी हो जाता है। लेकिन जैसा कि माइकेल करनिया का कथन है आबादी की इच्छा के विरुद्ध उसे उसके स्थान से विस्थापित करने का काम नहीं करना चाहिए या जहाँ तक सम्भव हो सके उसे टालना चाहिए। यदि परिस्थिति ऐसी हो कि विस्थापित करने के अलावा कोई दूसरा विकल्प सामने न हो तो विस्थापित करने के कार्य को इस तरीके से करना चाहिए जिससे विस्थापित होने वालों की जीविका के साधन का पूरा संरक्षण प्राप्त हो सके। यदि ऐसा नहीं किया जाता है तो विकास के नाम पर उनमें से कुछ लोग तो मज़े में हो जाते हैं और ज्यादातर लोग मज़लूम बन जाते हैं। ऐसी परिस्थिति में हमें पुनः संस्थापन के कार्य को जनोन्मुखी बनाना चाहिए जिससे उसमें सबके हित को समान रूप से सुरक्षित रखा जा सके। बलात विस्थापन-कार्य के विनाशकारी सामाजिक प्रभाव का उल्लेख सबसे पहले नृ-विज्ञानियों ने ही किया है। व्यावहारिक महत्त्व के शोध विषय के रूप में अनैच्छिक विस्थापन को समाज विज्ञान के शास्त्रियों के अध्ययन एवं लेखन कार्य में काफी लोकप्रियता मिली है। हाल में नियोजन की एजेन्सियों द्वारा इस प्रकार के अनेक अध्ययन चालू किये गये हैं। गैर सरकारी संगठनों के अलावा अनेक सामाजिक कार्यकर्त्ताओं ने विस्थापितों के संबंध में अपने अध्ययन प्रस्तुत किये हैं जिससे इस विषय पर मौजूदा ज्ञान और जानकारी में वृद्धि हुई है। (एच.एन. माथुर, 1995)

आजादी के बाद पंचवर्षीय योजनाओं में कार्यान्वयन से प्रतिवर्ष लाखों व्यक्ति विस्थापित हुए हैं विशेष रूप से प्रशासकीय भूमि अधिग्रहण के परिणामस्वरूप। इन योजनाओं से भिन्न परियोजनाओं, भूमि के इस्तेमाल में परिवर्तनों, शहरों के विकास में विस्तार के कारण जो भूमि अधिग्रहण हुआ है वह इसमें शामिल नहीं है। इन सबके अलावा परिवेश संबंधी गिरावट और जनसंख्या वृद्धि के कारण मनुष्य के जीवन-यापन में जो विसंगतियाँ आई हैं वे अलग हैं। विस्थापना और बस्तियों के विनाश का सबसे बड़ा कारण जल-विद्युत और सिंचाई योजनाएँ हैं। अन्य

कारण– खदानें, उष्मा और आणविक शक्ति के बड़े-बड़े कारखाने, औद्योगिक बस्तियाँ, सैनिक संस्थानों की स्थापनाएँ, अस्त्र-शस्त्र परीक्षण के मैदान, नये रेलपथ तथा नई सड़कें, आरक्षित वनों का विस्तार, वन्य पशुओं के शरणस्थल एवं पार्क तथा मानवहितार्थ तकनीकी हस्तक्षेप जिससे बड़े पैमाने पर मछुआरों, दस्तकारों और हथकरघा बुनकरों को अपने स्थान बदलने पड़े हैं। हस्तकारों व कारीगरों के समुदाय पर भी इस बदलाव का बुरा प्रभाव पड़ा है।

विकास और विस्थापन के मामले में प्रभावित होने वालों में सबसे बड़ी संख्या स्पष्टतः जनजातियों और उन लोगों की है जो ग्रामीण, क्षेत्रों की सीमान्त पर सदियों के प्राकृतिक प्रसाधनों पर आश्रित थे और उन्हीं पर उनकी गुजर-बसर आधारित थी। एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जनजातियों की संख्या देश की कुल संख्या का 8% है फिर भी विस्थापितों का लगभग 50 प्रतिशत हिस्सा इन्हीं का है। परिणाम स्पष्ट है– हमारी विकास की नीतियों और उनके फलस्वरूप होने वाले विस्थापन में जनजातियों का अनुपात अत्यन्त अधिक हो गया है। इस तथ्य को अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के कमिश्नर और आठवीं योजना के दौरान अनुसूचित जनजाति के कल्याण कार्य में लगे कार्यकारी समूह की रिपोर्ट ने प्रमाणित भी किया है।

ज्यादातर मामलों में जनजातियों के विस्थापन और उनकी उत्तरोत्तर बढ़ती हुई गरीबी की ओर जनता की चेतना तब जागरूक होती है जब वे प्रभावित होने वाले इन जनजाति के लोगों के आन्दोलनों और इनके संघर्षों के समाचार पढ़ते हैं। मौजूदा संघर्षों में से एक छोटा-नागपुर के जनजाति क्षेत्र में चल रहा था जहाँ स्थानीय जनजातियों ने नेतरहट पाइलट प्रोजेक्ट टेस्ट फ़ायरिंग रेन्ज का विरोध किया। यह मामला जनजातियों के तीव्र विरोध के कारण लम्बित कर दिया गया है। यह परियोजना गुमला और पालामऊ के जिलों में कार्यान्वित की जाने वाली थी और इससे लगभग 3 लाख व्यक्ति विस्थापित होने वाले थे। रांची और गुमला जिलों में कोयल-कारो बाँध की वजह से लगभग एक लाख व्यक्तियों के विस्थापित होने का खतरा था। पालामऊ जिले की उत्तरी करनपुरा घाट की कोक-खदानें जो लगभग एक लाख व्यक्तियों को विस्थापित करती और सिंहभूम जिले का सुवर्ण रेखा बाँध, उसमें भी कम से कम एक लाख जनजाति के लोग विस्थापित होते। देश के दूसरे राज्यों में जो स्थितियाँ हैं वे सब इसी रुख की ओर संकेत करती हैं। नर्मदा बाँध का आन्दोलन तो अब अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर चुका है। आन्ध्र प्रदेश का पालावरम बाँध भी लगभग 3 लाख लोगों को विस्थापित करेगा जिसमें सर्वाधिक संख्या जनजातियों के लोगों की है। कर्नाटक में नागरा लियोले में प्रस्तावित वन्य पशुओं के शरण स्थल के विरोध में जनमत तैयार हो रहा है। उड़ीसा में भी इस प्रकार का एक आन्दोलन गन्धमर्दन बाक्साइट की खानों और चिलिका परियोजना के विरुद्ध हुआ था।

विस्थापन का प्रभाव और पुनर्स्थापन

जब हम विस्थापन के विभिन्न पहलुओं पर गौर करते हैं तो विस्थापित लोगों, जिन्हें, "आउस्टीज़" (Oustees) या "अनाधिकारी या बहिष्कृत" भी कहा जा सकता है, को विस्थापन के प्रभाव के आधार पर विभिन्न वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। एल.एल. महापात्र ने उन्हें निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया है :

(क) वे लोग जिन्हें अपना घर, वासभूमि, खेती की जमीनें या आय की अन्य परिसम्पत्तियाँ खोनी पड़ी हैं।

(ख) वे लोग जिन्हें अपना घर, वासभूमि, खेत और अपनी कुछ उत्पादक परिसम्पत्तियाँ छोड़नी पड़ी हैं।

(ग) वे लोग जिन्हें अपना घर और वासभूमि छोड़नी पड़ी है।

(घ) वे लोग जिन्हें अपनी कृषि भूमि पूरी या उसका कोई बड़ा खण्ड छोड़ना पड़ा है।

(ङ) वे लोग जिन्हें अपनी कला और दस्तकारियों का आधार अथवा अपनी उन वस्तुओं, सेवाओं और दक्षताओं का आधार छोड़ना पड़ा है जिन्हें वे बेचकर या उनका विनिमय करके गुजर-बसर करते थे।

(च) वे लोग जिनका जीवन यापन जंगल की वस्तुओं अथवा अन्य पारिस्थितिक साधनों पर निर्भर करता था जैसे नदियों से मछलियाँ पकड़ने का पेशा।

(छ) वे लोग जो अपना पुराना आधार खोकर दिहाड़ी मजदूर बन चुके हैं।

(ज) वे लोग जिन्हें उन उपनगरों के निर्माण के कारण अपने घर और अपनी जमीनें खोनी पड़ी हैं जिससे उनकी जगह पर किसी परियोजना विशेष के कर्मचारियों की बस्तियाँ बन सकें। वे लोग भी जिन्हें नहरों के निर्माण और उन संरचनाओं की स्थापनाओं के लिए अपने स्थान छोड़ने पड़े जो सम्बद्ध परियोजना विशेष के रख-रखाव के लिए आवश्यक थे।

दुर्भाग्य की बात यह है कि बहुत से अनेक विकासशील देशों की भाँति भारत में भी आउस्टीज़ (अनाधिकारी या वंचितों) के अन्तर्गत ऊपर दिये गये केवल वर्ग ही जैसे 'क', 'ख' और 'ग' को ही शामिल माना गया है और उनके संरक्षण आदि के बारे में सोचा गया किन्तु 'घ' से 'ज' तक के वर्गों में आने वाले लोगों को उसमें कानूनी तौर पर शामिल नहीं किया गया जिसके कारण इन वर्गों में आने वाले व्यक्ति अपने लिए मुआवजे का दावा भी दायर नहीं कर सकते। ज्यादातर मामलों में, केवल एक कानून ही लागू किया जा सकता है। वह है भूमि अर्जन अधिनियम 1894 (1984 में संशोधित) जिसके अन्तर्गत सरकार नकद मुआवजा दे सकती है। इस प्रक्रिया में उनके साथ एक बड़ी नाइंसाफी होती है, उनके हितों और अधिकारों के हनन में घोर सामाजिक हिंसा होती है। नकद रुपयों में दिये जाने वाले मुआवजे की पद्धति भी काफी जटिल और मुआवजा पाने वाले की गहरी क्षति पहुँचाने वाली होती है। उल्लेखनीय बात यह भी है कि अधिनियम में केवल व्यक्ति के मुआवजे को मान्यता दी गयी है, सामूहिक या सामुदायिक अधिकारों की बात का उसमें ज़िक्र भी नहीं है। जनजातियों से ली गई ज्यादातर भूमि सम्मिलित सम्पत्ति साधनों (सी.पी.आर.) के अन्तर्गत आती है। यदि वह वन-भूमि है तो कानून उस पर वनवासियों का कोई अधिकार नहीं मानता भले ही वे उसका इस्तेमाल अनेक पीढ़ियों से करते आये हों। परम्परागत रूप से भी उसका कोई हरजाना उन्हें नहीं दिया गया है। "इसके अलावा ज्यादातर जनजातियाँ ऐसे क्षेत्रों में रहती आई हैं जिनकी प्रशासकीय दृष्टि से एक लम्बे ज़माने से उपेक्षा होती आई है और जिसे पिछड़ा हुआ इलाका समझा जाता रहा है। इसलिए जनजाति के व्यक्ति को उसकी अपने छोटे भू-खण्ड का जो भी मुआवजा दिया गया है वह बहुत ही कम और नगण्य जैसा है। दूसरी ओर जनजातियों के लोग एक

ऐसी आत्मनिर्भर और पर्याप्त अर्थव्यवस्था पर परम्परा से रहते आये हैं जो प्राकृतिक प्रसाधनों पर निर्भर थीं। अपने क्षेत्र के बाहर की अर्थव्यवस्थाओं से उनका कभी कोई भी सारोकार नहीं रहा है। उत्तर पूर्व और छोटा नागपुर के हिस्सों को छोड़कर शेष जनजातियों में साक्षरता भी बहुत कम है। इसलिए वे नई परियोजनाओं में रोजगार पाने की आशा भी नहीं कर सकते (वाल्टर फ़ार्नान्डेस, 1995)।

बहुत से नृ-विज्ञानियों के अध्ययनों ने विस्थापन के अनेक कुप्रभावों का उल्लेख किया है। अनैच्छिक पुनःस्थापन से मनोवैज्ञानिक और सामाजिक-सांस्कृतिक दोनों प्रकार के तनाव बढ़ते हैं। उससे रोग भी फैलते हैं और मृत्यु की घटनाएँ भी बढ़ती हैं। दूसरे दुर्भाग्यपूर्ण परिणाम से अलग-थलग होने, निःसहाय और कमजोर होने की भावनाएँ फैलती हैं। "नये क्षेत्रों में जाकर रहने की बात जनजाति के लोग सोच भी नहीं सकते क्योंकि वे अपने पैतृक स्थान और परिवेश से जुड़े होते हैं। 'पुनःस्थापन' शब्द भी बहुत सी जनजातियों की बोली में नहीं पाया जाता (एच.एम. माथुर, वही)। विस्थापित होने के व्यापक परिणामों में उत्पादन पद्धति का टूटना, बिखरना, पुश्तैनी पवित्र स्थलों जैसे कब्रों, मन्दिर आदि का दूषित होना, संस्कारों का खत्म होना, भाईबन्दी, रिश्तेदारी और पारिवारिक सम्बन्धों का बिखरना, समुदाय में जो अनौपचारिक सामाजिक संगठन होता है और जो परस्पर सहायता व सहयोग का प्रदाता होता है, उस संगठन का समाप्त होना। स्वप्रबन्ध के ढीले होने के साथ ही व्यापार और हाट-बाजार के सूत्र आदि भी टूट जाते हैं। (लोकायन बुलेटिन 1995)। विडम्बना यह है कि इन्हीं सब बातों को राष्ट्रीय प्रगति के साथ समीकृत किया जाता है विशेष रूप से वहाँ जहाँ जनता का प्रयोजन और राष्ट्रीय हित को अदल-बदल कर इस्तेमाल किया जाता है। यही वह मनःस्थिति है जो उन लोगों को न्यायसंगत ठहराते हैं जो इन परियोजनाओं को न केवल परियोजना विरोध वरन् विकास विरोधी और राष्ट्र विरोधी भी कहते सुने जाते हैं।

कहानी का दुर्भाग्यपूर्ण पक्ष बहुमुखी विस्थापन (Multiple displacement) है अर्थात् विस्थापित करने के तरीके अनेक प्रकार के हैं। यह भी हुआ है कि अनेक जनजातीय समूहों को एक स्थान से हटाकर दूसरे स्थान पर स्थापित किया गया और जब उन्होंने अपने एक विस्थापन की पीड़ा को भूलकर नये स्थान पर नयी जीवन शैली अपना ली तो उन्हें वहाँ से भी पुनः उखाड़ दिया गया। यह काम उत्तर प्रदेश में सिंगरौली में और मैंगलोर पत्तन के निकट किया गया। यदि विस्थापन अवश्यम्भावी है तो पुनः स्थापन में उत्पादन पद्धतियों का पुनर्निर्माण, रहन-सहन के स्तर को ऊपर उठाने और जहाँ पुनःस्थापन किया जाय वहाँ के समाज के साथ कम से कम झगड़ा न होने की व्यवस्थाएँ भी की जानी चाहिए। इस प्रकार वचनबद्धता केवल दुबारा बन्दोबस्त की नहीं वरन् ऐसे पुनःस्थापन की होनी चाहिए जिसे उन लोगों का अधिकार माना जाय, अनमने ढंग से उदारता बरतने का ढोंग न किया जाय। (स्मित कोठारी, 1955)। इसके अलावा परियोजना की लागत में वह खर्च भी शामिल किया जाना चाहिए जो विस्थापितों के पुनर्वास और पुनःस्थापन पर किया जाना है। ये सभी परियोजनाएँ सार्वजनिक बहस के लिए खुली होनी चाहिए। ऐसी परियोजना के कार्यान्वयन को जिसमें पुनर्वास और पुनःस्थापन के बजट की व्यवस्था नहीं की गयी है, जीवन के अधिकार का घोर उल्लंघन माना जाना चाहिए।

संविधान और अनुसूचित जनजातियाँ (Constitution and Scheduled Tribes)

संविधान में कहीं भी 'जनजाति' शब्द की सुव्यक्त परिभाषा नहीं है। वस्तुतः इसकी सम्पूर्ण और सुस्पष्ट व्याख्या कहीं भी नहीं मिलती। आम आदमी के लिए यह शब्द अपने विलक्षण 'आचरणों एवं रीति-रिवाजों के साथ पर्वतों और जंगलों में रहने वाले सीधे-सरल जनसमूह' की ओर इंगित करता है, जिन्हें कुछ अधिक जानकारी है वे इस शब्द का अर्थ लोक समुदाय के उन मनोरंजक लोगों से लगाते हैं जो अपने नृत्य, गीत और वनौषधियों के लिए विख्यात हैं। प्रशासन की दृष्टि में यह नागरिकों का वह वर्ग है जिनकी विशेष जिम्मेदारी भारत के राष्ट्रपति पर है और मानवशास्त्री के लिए यह एक सामाजिक वर्ग के अध्ययन का विशिष्ट क्षेत्र है। अपने-अपने दृष्टिकोण में ये सभी धारणाएँ सही हैं।

संविधान में जनजाति की परिभाषा को सीमांकित करते हुए कहा गया है कि अनुसूचित जनजातियाँ वे हैं जिन्हें 'राष्ट्रपति ने अनुच्छेद 342 की लोक अधिसूचना द्वारा जनजातियों या जनजाति-समुदायों अथवा जनजातियों या जनजाति समुदाय के भागों में विनिर्दिष्ट किया है' यह अनेकार्थता कभी-कभी जनजातियों की किसी आबादी को अनुसूचित जनजाति घोषित करने के लिए उसकी पहचान स्थापित करने या उसका वर्गीकरण करने के काम में विभ्रम अवश्य पैदा करती है किन्तु इसे जनजाति कल्याण कार्यक्रम के परिपालन में बाधा नहीं समझा जाना चाहिए (देखिए– जनजाति की परिभाषा एवं अवधारणा और उनमें अंतर्ग्रस्त समस्याओं से संबंधित पिछला अध्याय)।

स्वाधीनता के उदय और स्वतंत्र भारत का संविधान स्वीकृत हो जाने के बाद उनके विकास और कल्याण का दायित्व राष्ट्रपति एवं राज्यपाल के माध्यम से लोकप्रिय सरकारों को सौंपा गया। निदेशक तत्त्वों का अनुगमन करने के लिए अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के कल्याणार्थ विशेष अनुच्छेदों की व्यवस्था की गयी। इनमें से ज्यादातर दोनों वर्गों के लिए एक समान हैं। किन्तु ऐसे भी हैं जो इन दोनों में से किसी एक पर लागू होते हैं। निम्नलिखित विषय-वस्तु के आधार पर इन संवैधानिक उपबन्धों को दो समूहों में विभाजित किया जा सकता है :

1. संरक्षण सम्बन्धी उपबन्ध
2. विकास सम्बन्धी उपबन्ध

संरक्षण सम्बन्धी उपबन्ध, जो उनके विकास के लिए आवश्यक हैं, उन्हें सामाजिक एवं आर्थिक शोषण तथा अन्याय से संरक्षण प्रदान करते हैं। अनुसूचित जनजातियों के विकास से सम्बद्ध उपबन्धों का उद्देश्य उन्हें उनकी सामाजिक एवं आर्थिक उन्नति के लिए वास्तविक सुविधाएँ और सुअवसर प्रदान करना है। ये संवैधानिक उपबन्ध संक्षेप में निम्नलिखित हैं :

संरक्षी उपबन्ध

अनुच्छेद 15(4) : सामाजिक, आर्थिक और शैक्षिक हितों को प्रोत्साहन–

यद्यपि अनुच्छेद 15 द्वारा धर्म, मूल वंश, जाति, लिंग या जन्मस्थान के आधार पर किसी प्रकार के भेदभाव का निषेध किया गया है फिर भी इसी अनुच्छेद के खंड 4 से एक छूट की व्यवस्था है जिसके अनुसार राज्य को अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों एवं सामाजिक और शैक्षिक रूप से पिछड़े नागरिकों की उन्नति एवं प्रगति के लिए कोई भी उपबन्ध बनाने का अधिकार दिया गया है। यह उपबन्ध अनुच्छेद 46 में परिकल्पित इस नीति के अनुरूप है कि राज्य को पूरी जिम्मेदारी के साथ कमजोर वर्गों के शैक्षिक एवं आर्थिक हितों को प्रोत्साहित करना एवं सामाजिक अन्याय से उनकी रक्षा करना चाहिए। इस उपबन्ध को विशेष रूप से इसलिए भी शामिल किया है कि यदि राज्य सामाजिक एवं शैक्षिक रूप से पिछड़े वर्गों की उन्नति के उद्देश्य से कोई विशेष व्यवस्था करे तो उसे नागरिकों में भेदभाव के आधार पर किसी न्यायालय में चुनौती न दी जा सके।

अनुच्छेद 16(4) : पदों और नौकरियों में आरक्षण और अनुच्छेद 19(5) : सम्पत्ति के मामलों में जनजातियों के हितों की सुरक्षा– हालाँकि संविधान में प्रत्येक नागरिक को भारत के राज्य क्षेत्र में सर्वत्र अबाध संचरण, उसके किसी भी भाग में बसने-निवास करने और संपत्ति का क्रय-विक्रय करने के अधिकार की गारन्टी दी गयी है तो अनुच्छेद 19(5) के अंतर्गत राज्य अनुसूचित जनजाति के लोगों के हितों की रक्षार्थ विशेष प्रतिबंध लगा सकता है। चूँकि इस समाज के साथ सभी प्रकार की धोखेबाजी करना और इसका शोषण करना आसान है इसलिए ऐसी व्यवस्थाएँ भी की गयी हैं जिनके अन्तर्गत ये लोग कुछ विशेष परिस्थितियों को छोड़कर अपनी निजी सम्पत्ति किसी को हस्तान्तरित नहीं कर सकते। उनके अपने हित में कानून बनाकर उसका सामान्य नागरिकों की भाँति सर्वत्र संचरण, किसी क्षेत्र विशेष में बसना अथवा वहाँ सम्पत्ति हस्तगत करना रोका भी जा सकता है।

अनुच्छेद 23 : मानव का अवैध व्यापार और बलात श्रम का निषेध आदि– इसके द्वारा मानव का दुर्व्यवहार, बेगार और अन्य प्रकार के बलात श्रम निषिद्ध किये गये हैं। यह बहुत महत्त्वपूर्ण उपबंध है क्योंकि अनुसूचित जनजातियों का शोषण करना बड़ा आसान है और उनके लोगों को बंधुआ बनाया जा सकता है। वास्तव में, देश की जनजातियों के सदस्यों का एक बड़ा हिस्सा बँधुआ होने के कारण बहुत ही विषादमय जीवन बिता रहा है।

अनुच्छेद 29 : सांस्कृतिक एवं शैक्षिक अधिकार

अनुच्छेद 29(2) अनुच्छेद 15 की धारा 4 से नियंत्रित है। प्रथम संशोधन अधिनियम 1951 द्वारा संविधान में सम्मिलित। इसने अनुच्छेद 15 और 29 को अनुच्छेद 16(4), 46 और 340 के अनुकूल बना दिया है। इस प्रकार राज्य द्वारा सरकारी शैक्षिक संस्थानों में पिछड़े वर्ग के लिए पदों का आरक्षण संविधानसम्मत हो गये हैं। अनुच्छेद 29 के अनुसार भारतीय नागरिकों के किसी भी ऐसे अनुभाग को जिसकी अपनी विशेष भाषा, लिपि या संस्कृति है, उसे बनाये रखने का अधिकार है। यह अनुच्छेद अनुसूचित जनजातियों को अपनी भाषाओं और संस्कृतियों को बनाये रखने के लिए संरक्षण प्रदान करता है। राज्य द्वारा कानून बनाकर उन पर कोई संस्कृति या भाषा लादी नहीं जा सकती।

अनुच्छेद 46 : अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और अन्य दुर्बल

वर्गों के शैक्षिक और आर्थिक हितों की अभिवृद्धि।

अनुच्छेद 164 : बिहार, उड़ीसा और मध्य प्रदेश राज्यों में जनजातियों के कल्याण के भारसाधक मंत्री की नियुक्ति– इन राज्यों में जनजातियों के लोगों की खासी आबादी है और जनजाति के कल्याण के लिए विशेष रूप से एक मंत्री की व्यवस्था, जनजाति के हितों की सुरक्षा के लिए संविधान निर्माताओं की चिंता की साक्षी है।

अनुच्छेद 330, 332 और 334 : लोकसभा एवं विधानसभाओं में आरक्षण

अनुच्छेद 335 : आरक्षण के दावे व सीमायें

अनुच्छेद 338 : विशेष अधिकारी की नियुक्ति

अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए एक विशेष अधिकारी की व्यवस्था है जिसे राष्ट्रपति नियुक्त करता है। इस विशेष अधिकारी का कर्त्तव्य है कि वह अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए संविधान के अधीन उपबन्धित रक्षात्मक उपायों से संबंधित सभी विषयों का अन्वेषण करे। वह रक्षात्मक उपायों के कार्यकरण के सम्बन्ध में, ऐसे अंतराल पर जो राष्ट्रपति निर्दिष्ट करें, राष्ट्रपति को रिपोर्ट दे। राष्ट्रपति ऐसी सभी रिपोर्टों को संसद के प्रत्येक सदन के समक्ष रखवायेंगे। यह विशेष अधिकारी– "अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति आयुक्त" कहलाता था। 65वें संशोधन के पश्चात् अब इसके स्थान पर **अनुसूचित जातियों व अनुसूचित जनजातियों का राष्ट्रीय आयोग** गठित हो चुका है।

अनुच्छेद 339(1) : आयोग की नियुक्ति– राष्ट्रपति राज्यों के अनुसूचित क्षेत्रों के प्रशासन और अनुसूचित जनजातियों के कल्याण के बारे में प्रतिवेदन देने के लिए एक आयोग की नियुक्ति, आदेश द्वारा किसी भी समय कर सकेगा और इसे संविधान के प्रारम्भ से दस वर्ष की समाप्ति पर करेगा। केवल एक ऐसा आयोग 28 अप्रैल 1960 को नियुक्त किया गया था जिसका नाम "अनुसूचित क्षेत्र एवं अनुसूचित जनजाति आयोग" था। इस आयोग ने अक्टूबर 1961 में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया था। इसके अध्यक्ष स्व. श्री यू.एन. ढेबर थे। इसलिए यह "देबर आयोग" के नाम से प्रसिद्ध है। 2003 में इसी प्रकार का एक दूसरा आयोग श्री डी. एस. भूरिया की अध्यक्षता में गठित किया गया है।

आर्थिक विकास के उद्देश्य से की गयी व्यवस्थाएँ

अनुच्छेद 275 और 339

अनुसूचित जनजातियों के आर्थिक विकास के लिए की गयी व्यवस्थाएँ मुख्यतः अनुच्छेद 275 और 339 के अन्तर्गत हैं। अनुच्छेद 275 के अन्तर्गत संविधान के उपबन्धों की पूर्ति के लिए राज्यों को संघ से अनुदान मिलने की व्यवस्था है। अनुच्छेद 339 (2) की स्थापना है कि संघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार किसी ऐसे राज्य को ऐसे निर्देश देने तक होगा जो उस राज्य की अनुसूचित जनजातियों के कल्याण के लिए निर्देश में आवश्यक बताई गयी स्कीमों के बनाने और उनके निष्पादन के बारे में है।

पाँचवीं और छठी अनुसूचियाँ

संविधान के दसवें भाग में अनुच्छेद 244 और 244(क) के अन्तर्गत अनुसूचित क्षेत्रों के प्रशासन से संबंधित व्यवस्थाएँ हैं। संविधान में अनुसूचित क्षेत्रों और जनजाति क्षेत्रों का एक विशिष्ट अर्थबोध है। अनुसूचित क्षेत्रों का शासन पाँचवीं अनुसूची के उपबन्धों के अनुसार होता है इसलिए इन क्षेत्रों को ''पाँचवीं अनुसूची क्षेत्र'' भी कहा जा सकता है। जनजाति क्षेत्रों का शासन छठी अनुसूची के उपबन्धों के आधार पर होता है।

पाँचवीं अनुसूची

अनुसूचित क्षेत्रों और उनके प्रशासन पर पाँचवीं अनुसूची के उपबन्ध लागू होते हैं। यहाँ उन क्षेत्रों से मतलब है जिन्हें राष्ट्रपति के आदेश द्वारा अनुसूचित क्षेत्र घोषित किया है। संसद को इस अनुसूची में कोई भी संशोधन करने का अधिकार है और उसे अनुच्छेद 368 हेतु संविधान का संशोधन नहीं माना जाएगा।

अनुसूचित क्षेत्रों का इतिहास ''अनुसूचित जिला एक्ट 1874'' से प्रारम्भ होता है जिसके अन्तर्गत अनुसूचित जिलों में दीवानी और फौजदारी के मामलों में न्याय करने, बस्तियों की देखभाल, सरकारी राजस्व की उगाही, लगान आदि से संबंधित मामलों और अन्यथा परिस्थितियों में अधीक्षण करने तथा प्रशासन चलाने की व्यवस्था की गयी थी। इसके उपरान्त ये क्षेत्र ''भारत सरकार एक्ट 1919'' तथा ''भारत सरकार एक्ट 1935'' (बहिर्गत और अंशतः बहिर्गत क्षेत्र एक्ट) के दौर से गुजरते हुए अब वर्तमान संविधान में पाँचवीं अनुसूची के अन्तर्गत हैं।

अनुसूचित क्षेत्रों का गठन दो बहुत ही स्पष्ट उद्देश्यों से किया गया है : (क) बिना किसी बाहरी विघ्न या रुकावट के जनजाति के लोगों को अपने मौजूदा अधिकारों का पूरा-पूरा लाभ उठाने में सहायता देना और (ख) अनुसूचित जनजातियों का विकास करना तथा अनुसूचित जनजातियों के हितों को संरक्षण और प्रोत्साहन प्रदान करना।

राष्ट्रपति के आदेश से आन्ध्र प्रदेश, बिहार, गुजरात, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, उड़ीसा, राजस्थान और हिमाचल प्रदेश के कुछ क्षेत्रों को **अनुसूचित क्षेत्र** घोषित किया जा चुका है। पाँचवीं अनुसूची की प्रमुख विशेषताएँ हैं : (क) राज्यपाल की विशिष्ट विधायी शक्तियाँ (ख) राष्ट्रपति को राज्यपाल का प्रतिवेदन और (ग) 'जनजाति सलाहकार परिषद्' का गठन।

छठी अनुसूची

छठी अनुसूची असम, मेघालय, मिजोरम और त्रिपुरा राज्यों के जनजाति क्षेत्रों पर लागू होती है। इन जनजाति क्षेत्रों की प्रमुख विशेषताएँ हैं : (क) अपने अधिकार क्षेत्र के मामलों में ये पूर्णतः स्वशासी हैं। दूसरे शब्दों में इन्हें ''राज्य के भीतर राज्य'' की संज्ञा दी जा सकती है, (ख) स्वशासी जिला और स्वशासी प्रदेशों के जरिये जनजातियों का अपना प्रबन्ध अपने आप करने की अधिकार शक्ति और (ग) इन क्षेत्रों की स्वायत्तता इस सीमा तक है कि संसद अथवा राज्य विधान मंडल का कोई समादेश उनके यहाँ तब तक स्वतः मान्य नहीं होता जब तक कि सम्बद्ध अधिनियम का (पूर्णतः या अंशतः) विस्तार राज्यपाल द्वारा विशेष रूप से क्षेत्र विशेष के लिए अधिसूचित नहीं

किया जाता। ऊपर बताये गये चार राज्यों में जनजाति क्षेत्रों के नौ स्वशासी जिले हैं। यहाँ राज्यपाल का पद स्वशासी जिलों की भाँति अपने ढंग का अनोखा है। अनेक मामलों में उसका पद वैसा ही है जैसा कि राज्यों के मामले में राष्ट्रपति का होता है।

नागालैण्ड, असम और मणिपुर के जनजाति क्षेत्रों व पर्वतीय क्षेत्रों से सम्बन्धित विशेष उपबन्ध

अनुच्छेद 371-क (नागालैण्ड)

इस अनुच्छेद के अनुसार ऐसा कोई भी अधिनियम जो (क) नागाओं की धार्मिक या सामाजिक प्रथाओं, (ख) उनकी परम्परागत विधि और प्रक्रिया, (ग) उनकी परम्परागत विधि के अनुसार विनिश्चित होने वाले दीवानी एवं फौजदारी के न्याय-प्रशासन और (ध) भूमि और उसके सम्पत्ति स्रोतों के स्वामित्व एवं अंतरण से संबंधित है, नागालैण्ड राज्य पर तब तक लागू नहीं होगा जब तक नागालैण्ड की विधानसभा विशेष संकल्प द्वारा वैसा विनिश्चय नहीं कर देती।

अनुच्छेद 371-ख (असम)

राष्ट्रपति के आदेश द्वारा असम राज्य की विधानसभा की एक समिति के गठन और कृत्यों के लिए उपलब्ध कर सकेगा। यह समिति जैसा कि छठी अनुसूची में बताया गया है, जनजाति क्षेत्रों से निर्वाचित वहाँ की विधानसभा के सदस्यों से तथा उसी विधानसभा के उतने अन्य सदस्यों से मिलकर बनेगी, जितने राष्ट्रपति के आदेश में विनिर्दिष्ट किये गये हों। इस समिति की व्यवस्था का उद्देश्य राज्य के स्तर पर जनजाति समुदाय के हितों का संरक्षण और उसकी देखरेख करना होता है।

अनुच्छेद 371-ग (मणिपुर)

इस अनुच्छेद के अन्तर्गत राष्ट्रपति के आदेश से एक समिति के गठन और कृत्यों के संयोजन की व्यवस्था है। राज्य के पर्वतीय क्षेत्रों से निर्वाचित विधानसभा के सदस्य इस समिति के सदस्य होते हैं। राज्यपाल को प्रतिवर्ष या जब कभी राष्ट्रपति वैसी अपेक्षा करें, राष्ट्रपति को मणिपुर राज्य के पर्वतीय क्षेत्रों के प्रशासन के बारे में प्रतिवेदन देना होता है। संघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार उक्त क्षेत्रों के बारे में राज्य को निर्देश देने तक है।

अनुसूचित जातियों के लिए संवैधानिक व्यवस्थाओं के इस संक्षिप्त विवरण को पढ़ने के बाद उनकी वर्तमान स्थिति की एक खुशनुमा तस्वीर मस्तिष्क में उभरती है किन्तु अफसोस की बात यह है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के पिछले चार दशकों में जनजाति समुदाय की जो दुखद और दयनीय दशा रही है और जिसका विशुद्ध चित्रण प्रस्तुत पुस्तक में किया गया है वह इस कटु सत्य का साक्षी है कि संविधान निर्माताओं के आदर्श विचारों को अब तक यथार्थ का रूप नहीं दिया जा सका है।

विकास योजनाएँ, कार्यक्रम व उनका कार्यान्वयन (Developmental Plans, Programmes and their Implementation)

भारतीय संविधान ने राष्ट्र पर यह उत्तरदायित्व डाला है कि वह अनुसूचित जनजातियों के

शैक्षिक तथा आर्थिक हितों का विशेष ध्यान रखने के साथ-साथ सामाजिक अन्याय तथा शोषण से उनकी रक्षा करे। उनका विकास राष्ट्रपति के विशेष दायित्वों में से एक है। अनुसूचित क्षेत्रों के प्रशासन व विकास का सर्वेक्षण करके उसकी रिपोर्ट राष्ट्रपति को भेजना सभी राज्यों का उत्तरदायित्व है।

मूलतः अनुसूचित क्षेत्रों के विकास की समस्या वहाँ के पिछड़ेपन, भुखमरी तथा जनजातियों की शेष जनसंख्या के लोगों से एकीकृत व संगठित करने के विचार से प्रत्यक्ष रूप से जुड़ी है।

संविधान के अनुच्छेद 275 में अनुसूचित व जनजातीय क्षेत्रों के प्रशासन को स्तर पर लाने तथा विकास कार्यक्रमों को कार्यान्वित करने के उद्देश्य से अनुदान का प्रावधान है जो कि केन्द्र सरकार राज्य सरकारों को देती है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक योजना में अनुसूचित जनजाति के पिछड़ेपन को दूर करने तथा उनके कल्याण के लिए विशेष धनराशि का प्राविधान किया जाता है। यह प्राविधान इस विचार से किये गये हैं जिससे कि यह सामान्य विकास के प्रारूप एक योगात्मक भूमिका निभायेंगे तथा जनजाति जनसंख्या तथा क्षेत्रों के कल्याण में सहायक हो।

विभिन्न राज्यों में जनजातियों की जनसंख्या घनी होने के साथ-साथ अलग-अलग जनजातियाँ तथा उपजातियाँ हैं। जिनकी जनसंख्या थोड़े से लेकर लाखों तक हैं उनका जीवन-यापन तरह-तरह की आर्थिक गतिविधियों से होता है उनका सम्बन्ध विभिन्न समूहों से है तथा ये लोग अलग-अलग भाषा तथा उपभाषा बोलते हैं। ये जनजातियाँ अभी भी राजनैतिक, शैक्षिक व आर्थिक विकास के विभिन्न स्तरों पर हैं। **टास्क फोर्स आन डेवलपमेंट आफ ट्राइबल एरियाज़** (1975) की रिपोर्ट के अनुसार जनजातियों की विवशता तथा उनके विकास में बाधा होने के निम्न कारण हैं:

(1) सुदूरवर्ती क्षेत्रों तथा कठिन भौगोलिक परिस्थितियों के कारण लद्दाख से लेकर उत्तर प्रदेश के तराई क्षेत्र में रहने वाली उत्तरीय अंचलों की सभी जनजातियाँ अंग्रेजी राज्य के समय से ही उपेक्षित रही हैं। चीनी हमले के बाद ही हिमालय पर्वतों पर रहने वाली जनजातियों तथा उनकी दशा पर ध्यान आकर्षित हुआ है।

(2) उत्तर पश्चिमी अंचल में तिब्बत और असम के बीच एक पृष्ठ प्रदेश (Hinterland) है। वहाँ पर जो जनजातियाँ रहती हैं उनकी आर्थिक व्यवस्था बंगलादेश के अलग हो जाने तथा देश के अन्य भागों से संचार टूट जाने के कारण जर्जर हो गयी थी। इसके कारण समतल क्षेत्रों तथा बंगलादेश के व्यवसायिक केन्द्रों से इन जनजातियों का व्यवसाय बिलकुल बन्द हो गया। समतल भूमि तथा ढलुआ पहाड़ियों की कमी के कारण ये जनजातियाँ स्थान बदल-बदल कर खेती करती हैं। अतः झूम (अस्थाई खेती) इस अंचल की मुख्य समस्या है।

(3) पूर्वी, मध्य व पश्चिमी अंचलों के बिहार, पश्चिमी बंगाल, उड़ीसा, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र तथा राजस्थान राज्यों में जनजातियों के विकास की समस्या का सीधा सम्बन्ध अधिक जनसंख्या, भूमि पर खेती करने की अवधि, ऋण, जंगली जनजातियों के अधिकार, झूमिंग (स्थान बदल-बदल कर खेती करना) के साथ कम उत्पादन से है। इन क्षेत्रों की जनजातियाँ खाद्य पदार्थ, जल तथा रोजगार के अभाव आदि की समस्याओं से भी जूझती हैं। इन जनजातीय क्षेत्रों के मध्य बढ़ते हुए औद्योगिकीरण तथा आधुनिकीकरण ने भी इन

जनजातियों के परम्परागत जीवन को बहुत अस्त-व्यस्त किया है। औद्योगिकीकरण के कारण वहाँ जनसंख्या में वृद्धि और पूर्वी पाकिस्तान के शरणार्थियों का विशेषतया दण्डकारण्य में बसना, इन दोनों कारणों ने आपसी तनाव में वृद्धि की है।

(4) दक्षिणी अंचलों की जनजातियों की अधिकांश समस्याओं का कारण वहाँ के **पोदू** संस्कृति (अस्थाई खेती का स्थानीय नाम) की पुरानी अर्थव्यवस्था, खाद्यान्न एकत्र करने की प्रकृति तथा भूमि संचालन की **मुट्टादारी** व्यवस्था का प्रचलन।

(5) अण्डमान, निकोबार, लक्षद्वीप तथा मिनिकाय द्वीप समूहों में रहने वाली जनजातियों की समस्याओं का कारण है वहाँ की अर्थव्यवस्था की मछली पकड़ने तथा नारियल की खेती पर निर्भरता।

विभिन्न अंचलों में समस्याओं के अलग-अलग होने के पश्चात् भी कुछ ऐसे आर्थिक व सामाजिक घटक हैं जिनका ध्यान विकास कार्यक्रमों की रूपरेखा बनाते समय अवश्य रखना चाहिए। इन समस्त घटकों को अलग-अलग भागों में बाँटा जा सकता है।

(1) इन जनजातियों के रहने के स्थान बिल्कुल अलग व दुर्गम भूभागों में हैं। इसके अतिरिक्त इनकी सड़क, पुलों, परिवहन व पुलियों की व्यवस्था भी पुरानी है। ये लोग अभी भी डरते हैं जिसके कारण अपने जनजातीय गाँवों के निकटतम बाजारों या ब्लाक मुख्यालयों से पर्याप्त सम्बन्ध नहीं रखते।

(2) कृषि तथा वनों के प्राकृतिक उत्पादन ही इन जनजातियों की आय के मुख्य साधन हैं।

(3) जनजातीय क्षेत्रों में वस्तु विनिमय प्रणाली अब भी काफ़ी हद तक प्रचलन में है। असंगठित बाजारों व वस्तुओं के लिए ऋणों की प्रथा के कारण साहूकारों का प्रभुत्व बढ़ जाता है।

(4) जनजातियाँ अपनी आय का बड़ा हिस्सा सामाजिक व धार्मिक उत्सवों में व्यय कर देती हैं जिसके फलस्वरूप ये लोग हमेशा ऋण में डूबे रहते हैं।

(5) आत्मनिर्भर होने के उद्देश्य से ये फसलों की प्राकृतिक पैदावार पर ही निर्भर रहते हैं, तथा अधिक पैदावार से लाभ कमाने जैसी बातों पर कोई विशेष ध्यान नहीं देते।

(6) अपनी निरक्षरता व सादगी के कारण ये लोग वन, बेईमान ठेकेदारों तथा छोटे कर्मचारियों के द्वारा शोषण का शिकार होते हैं।

सुनियोजित व व्यवस्थित विकास

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् तमाम सरकारी तथा गैर सरकारी संस्थाओं ने जनजातीय लोगों के कल्याण तथा विकास के लिए विभिन्न कार्यक्रमों को प्रारम्भ किया।

इन सभी कार्यक्रमों की रूपरेखा अधिक व्यवस्थित नहीं थी। सर्वप्रथम 1955 में "विशेष बहुउद्देशीय जनजाति विकास खण्ड" के रूप में एक व्यवस्थित प्रयास सामने आया। द्वितीय पंचवर्षीय योजना के दौरान जिस समय जनजातीय विकास खण्डों का प्रारम्भ हुआ उस समय इस कार्यक्रम के परिवर्तित प्रारूप का एक बड़े पैमाने पर प्रयोग किया गया।

तृतीय पंचवर्षीय योजना के समय इस कार्यक्रम का और विस्तार हुआ तथा योजना के अन्त तक वह सभी क्षेत्र इसके अन्तर्गत आ गये जहाँ की कुल जनसंख्या का दो-तिहाई से अधिक हिस्सा जनजातियों का था। 504 जनजातीय विकास खण्डों में देश की जनजातियों की कुल जनसंख्या का 38 प्रतिशत भार इस कार्यक्रम के अन्तर्गत आ गया। यद्यपि यह निर्णय लिया जा चुका था कि यह कार्यक्रम उन सभी क्षेत्रों तक पहुँचाया जायेगा जहाँ की जनसंख्या का 50 प्रतिशत से अधिक भाग जनजातियों का है परन्तु चौथी पंचवर्षीय योजना के समय यह संभव न हो सका। उस समय के जनजातीय विकास खण्डों में इस कार्यक्रम की अवधि बढ़ाकर विकास के प्रयास को सुदृढ़ कर दिया गया था। फलस्वरूप चतुर्थ योजना के अन्त तक व्यावहारिक रूप से इन क्षेत्रों में कोई परिवर्तन या बढ़ावा नहीं हुआ। इसी दौरान इस कार्यक्रम का कई बार पुनर्निरीक्षण हुआ। इसमें शीलू आओ की अध्यक्षता में योजना आयोग द्वारा नियुक्त अध्ययन दल मुख्य है। ऐसा समझा गया कि जनजातीय विकास खण्ड लम्बी अवधि के विकास कार्यक्रमों की योजना तथा कार्यान्वयन के लिए बहुत छोटी इकाई है। यह भी देखा गया कि इन जनजातियों के निम्न आर्थिक स्तर के सम्बन्ध में सामान्य क्षेत्रों के कार्यक्रमों ने समुचित प्रयास नहीं किया। इस प्रकार जनजातीय क्षेत्रों के विकास के लिए एक नयी रूपरेखा बनाने का निश्चय किया गया।

अनुवर्तन (follow up) क्रिया के अन्तर्गत **योजना आयोग** ने पिछड़े वर्गों के विकास के लिए एक उद्देश्य दल (task force) की नियुक्ति की जिसने तमाम समस्याओं के विभिन्न रूपों का अध्ययन किया। इस दल ने बहुत से कार्यकारी समूहों की नियुक्ति की विशेषतया एक समूह की जो कर्मचारी नीति पर आधारित था। टास्क फोर्स ने लघु, मध्यम व विस्तृत विकास संरचना का सुझाव दिया। इस नीति का मुख्य खण्ड थी मध्य इकाई (meso unit)। क्षेत्रीय विकास व जनजातीय विकास दोनों को इस एकीकृत विकास कार्यक्रम में उपयुक्त रूप में मिलना तथा समन्वय स्थापित करना था। टास्क फोर्स की रिपोर्ट में इस नीति को स्पष्ट करने के साथ-साथ उन तमाम पक्षों पर भी प्रकाश डाला गया जिन पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता थी। यह नीति स्पष्ट रूप से जनजातीय विकास की समस्याओं को दो भागों में विभाजित करती है।

(अ) उन क्षेत्रों की समस्याएँ जहाँ जनजातीय जनसंख्या 50 प्रतिशत से अधिक है तथा अनुसूचित क्षेत्र।

(ब) वे क्षेत्र जहाँ जनजातीय जनसंख्या छितरी-बिखरी है। इन दो मुख्य श्रेणियों के अतिरिक्त उन आदिम समुदायों को विशेष श्रेणी दी गयी है जो अब भी कृषि पूर्व स्तर (Pre-agriculture stage) पर हैं।

उप योजना के प्रारूप में बहुजन संख्यक क्षेत्रों के लिए यह नीति चरम बिन्दु तक पहुँची। इस उद्देश्य के लिए राज्य तथा केन्द्र शासित प्रदेशों को तीन श्रेणियों में रखा गया :

(i) वह राज्य तथा केन्द्रशासित प्रदेश जहाँ जनजातीय जनसंख्या 50 प्रतिशत से अधिक है। इस श्रेणी में मेघालय, नागालैण्ड, मिजोरम अरुणाचल प्रदेश, दादरा, नगर हवेली, लक्ष्यद्वीप, मिनिकाय तथा अमीन्दिवी द्वीप समूह आते हैं।

(ii) ऐसे राज्य व केन्द्र शासित प्रदेश जहाँ प्रचुर जनजातीय जनसंख्या है। आन्ध्र प्रदेश, असम,

बिहार, गुजरात, हिमाचल प्रदेश, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, मणिपुर, उड़ीसा, राजस्थान तथा त्रिपुरा इस श्रेणी में आते हैं।

(iii) ऐसे राज्य व केन्द्र शासित प्रदेश जहाँ पर जनजातीय जनसंख्या फैली हुई या बिखरी हुई है। इस श्रेणी में केरल, कर्नाटक, तमिलनाडु, उत्तर प्रदेश, पश्चिमी बंगाल, अण्डमान, निकोबार द्वीप समूह, गोवा, दमन व दीव आते हैं।

श्रेणी (1) के राज्यों व केन्द्रशासित प्रदेशों की राजकीय योजनाएँ वास्तविक या व्यवहारिक रूप से जनजाति विकास योजनाएँ हैं। अतः इनके सम्बन्ध में किसी उपयोजना का होना आवश्यक नहीं समझा गया। योजना आयोग ने कुछ को छोड़कर अन्य राज्यों को उप-योजना बनाने की सलाह दी। आयोग ने अपने सुझाव के साथ उपयोजनाओं के लिए संदर्भों का एक बड़ा ढाँचा भी उपलब्ध कराया।

जनजातीय उपयोजना (Tribal Sub-plan) के कार्य

(1) उपयोजना के क्षेत्रों के लिए साधनों को चीन्हित करना।

(2) जनजातीय क्षेत्रों के विकास के लिए स्पष्ट नीतियों को तैयार करना।

(3) इनके लागू करने के लिए एक प्रशासकीय योजना तैयार करना।

प्रशासनिक सीमाओं, स्थान, आर्थिक विकास का स्तर, नृजातीय संयोजन (ethnic composition) उप योजना क्षेत्र को, प्राकृतिक साधनों तथा विकास की क्षमता को ध्यान में रखते हुए प्रत्येक राज्य को व्यावहारिक परियोजना कार्य क्षेत्रों में बाँटा जाता है। उस क्षेत्र की समस्याओं के सन्दर्भ में प्रत्येक इकाई को उपयोजना द्वारा बनाई गयी नीति के अनुसार ही गठित किया जाता है। यह नयी नीति योजना इस बात को मान्यता देती है कि इन क्षेत्रों की विभिन्न समस्याओं का एक हल नहीं है क्योंकि विभिन्न जनजातीय क्षेत्र वे समुदाय सामाजिक व आर्थिक विकास के अलग-अलग स्तर पर हैं फिर भी कुछ सामान्य समस्याएँ ऐसी हैं जिन पर ध्यान देना आवश्यक है। यद्यपि इन समस्याओं का समाधान स्थानीय स्थितियों पर निर्भर करता है।

उपयोजना की कार्यसूची में शोषण को दूर करने को प्राथमिकता दी गयी। एकीकृत जनजातीय विकास परियोजना द्वारा स्थानीय स्थितियों को समझने, उपयुक्त कार्यक्रम बनाने तथा उनको लागू करने का प्रयास लगातार किया जायेगा। इसके साथ-साथ इस बात का भी मूल्यांकन किया जायेगा कि इन योजनाओं से अत्यधिक उपेक्षित व शोषित वर्गों के कल्याण पर कैसा प्रभाव पड़ा।

पंचवर्षीय योजना में विकास कार्यक्रम

किसी भी योजना को केन्द्र की सहायता मिलना इस बात पर निर्भर करता है कि वह योजना केन्द्र द्वारा प्रायोजित है या राज्य को केन्द्र द्वारा प्रायोजित होने की स्थिति में राज्य को शत-प्रतिशत सहायता मिलती है जबकि राज्य की योजनाओं को केन्द्र की सहायता खण्ड अनुदान तथा ऋणों के रूप में मिलती है। केन्द्र द्वारा प्रायोजित तथा राज्य की योजना के कार्यक्रमों का वर्गीकरण निम्नवत् है :

केन्द्र द्वारा प्रायोजित योजनाएँ

(1) जनजातीय विकास खण्ड

(2) सहकारिता

(3) महिला छात्रावास

(4) मैट्रिक के बाद छात्रवृत्ति

(5) प्रतियोगी परीक्षाओं के लिए कोचिंग तथा परीक्षा पूर्व प्रशिक्षण परियोजनाएँ

(6) शोध प्रशिक्षण एवं विशेष परियोजनाएँ।

प्रदेशों द्वारा प्रायोजित योजनाएँ

शिक्षा : मैट्रिक पूर्व छात्रवृत्ति, वृत्ति, आवास, अनुदान, छात्रावास, निःशुल्क पुस्तकों की सुविधा, स्टेशनरी, वर्दी तथा दोपहर का भोजन इत्यादि।

आर्थिक विकास

कृषि कार्यों के लिए परिदान (सब्सिडी), बीज, खाद इत्यादि कुटीर उद्योग, पुनर्वास, संचार, पशुपालन, उद्यान विज्ञान, मत्स्य पालन, नहर से सिंचाई तथा भूसंरक्षण।

स्वास्थ्य, आवास तथा अन्य

आवास, पीने के पानी की आपूर्ति, मेडिकल तथा अन्य जनस्वास्थ्य, सामाजिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियाँ, स्वैच्छिक संस्थाओं को सहायता तथा अन्य।

(1) बहुउद्देश्यीय विशेष जनजातीय खण्ड

1955 में बहुउद्देश्यीय विशेष जनजातीय खण्डों का प्रादुर्भाव जनजातीय क्षेत्रों के विकास के लिए प्रथम व्यवस्थित प्रयास था। जिन क्षेत्रों में जनजातीय जनसंख्या का बाहुल्य था उन क्षेत्रों के विकास की प्रक्रिया में गति लाने के उद्देश्य से 1956 में इस प्रकार 46 ब्लाक अलग-अलग राज्यों में खोले गये। यह सभी ब्लाक गृह तथा सामुदायिक विकास मंत्रालयों द्वारा संयुक्त रूप से प्रायोजित थे। राज्य सरकारों को इस कार्यक्रम के कार्यान्वयन का भार दिया गया। यह खण्ड सामान्य खण्डों में निम्न कारणों से भिन्न थे :

(1) लागू किये जाने वाले विकास कार्यक्रम अधिक प्रबल थे।

(2) सामान्य खण्डों की तुलना में जनसंख्या तथा क्षेत्र कम थे।

(3) लोगों का सहयोग केवल अकुशल श्रमिकों को कम दामों पर लेने तक ही सीमित था।

(4) ऋणों को सहायता के रूप में बाँटा जाता था।

(5) इन क्षेत्रों में नियुक्त कर्मचारी उपयुक्त रूप से प्रशिक्षित होते थे।

इन बहुउद्देश्यीय विशेष जनजातीय खण्डों के अन्तर्गत केन्द्र तथा राज्यों द्वारा आयोजित विभिन्न योजनाओं का कार्यान्वयन हुआ। फिर भी कुछ समय के पश्चात् ऐसा प्रतीत होने लगा कि इन खण्डों के अन्तर्गत कार्य कर रही तमाम योजनाएँ व कार्यक्रम अपेक्षित फल नहीं दे रहे हैं।

अपेक्षित फल न मिलने के कारणों तथा कमियों पर प्रकाश डालने तथा और अच्छे सुझाव देने के उद्देश्य से वैरियर एल्विन की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया गया जिसने इस

कार्यक्रम के विभिन्न पहलुओं पर भी दृष्टि डाली। एल्विन कमेटी के मुख्य अवलोकन निम्न थे :

(अ) यद्यपि इस कार्यक्रम में सभी आरम्भिक योजनाओं जैसी कमियाँ थीं फिर भी इसका विस्तार इसकी समुचित सफलता को देखते हुए न्यायोचित था।

(ब) सभी जनजातीय क्षेत्रों में कृषि तथा सिंचाई, भूमि सुधार तथा भूसंरक्षण जैसे सम्बद्ध विषयों को प्राथमिकता देनी चाहिए।

(स) जनजातीय पृष्ठभूमि के संदर्भ में सभी कार्यक्रमों तथा उनको करने की विधि में एक तारतम्य बनाये रखने का प्रयास किया जाना चाहिए।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के दौरान जब जनजातीय विकास खण्डों की स्थापना हुई, इस कार्यक्रम के रूपान्तरित रूप को बड़े पैमाने पर लिया गया।

(2) जनजातीय विकास खण्ड

तृतीय पंचवर्षीय योजना (1961-1966) जनजाति विकास खण्डों का प्रादुर्भाव हुआ। इन विकास खण्डों का प्रारूप तो सामुदायिक विकास खण्डों की भाँति था परन्तु इनकी प्रकृति अधिक गहन थी तथा इनका उद्देश्य जनजातियों के सामाजिक स्तर व आर्थिक स्तर में गतिशील सुधार लाना था।

प्रारम्भ में ये खण्ड एक लाख जनसंख्या वाले क्षेत्रों में बनाये गये जो कि विकास कार्यक्रमों की संरचना तथा क्रियान्वयन की एक इकाई हो गये। बाद में प्रत्येक इकाई की संरचना 25,000 जनसंख्या तथा 200 वर्गमील के हिसाब से होने लगी। लोकप्रिय प्रतिनिधियों को खण्ड की सरकारी व्यवस्था से जोड़ा गया जिससे कि कार्यक्रम लोगों की आवश्यकता तथा अपेक्षाओं के अनुसार हो। 1966-67 के अंत तक विभिन्न राज्यों में 484 खण्डों की स्थापना की गई। यद्यपि किसी भी प्रकार का निश्चित प्रारूप नहीं बनाया गया था फिर भी इस बात पर बल दिया गया कि कुल धनराशि का 60 प्रतिशत आर्थिक विकास के कार्यक्रमों के लिए, 25 प्रतिशत संचार व सम्पर्क तथा 15 प्रतिशत सामाजिक सेवा के लिए रखा जाय। कई जनजातियों के दुर्गम स्थानों में रहने तथा उन स्थानों तक पहुँचने की कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए संचार कार्यक्रमों को अधिक प्राथमिकता दी गई। विद्यार्थी टास्क फोर्स के मूल्यांकन के अनुसार यद्यपि इस कार्यक्रम से जनजातियों के दृष्टिकोण में विशेषतया शिक्षा व कृषि के क्षेत्रों में परिवर्तन हुआ है फिर भी यह कार्यक्रम अपेक्षित फल नहीं दे सका। प्राथमिकता निर्धारण के अनुसार निम्न कार्यक्रमों की योजना तथा कार्यान्वयन हुआ।

कृषि

अस्थाई खेती में लगी जनजातियों को ऐसी खेती से अलग होने की आदत को प्रोत्साहन। फलों के पौधों, कलमों तथा तरकारियों के बीज की आपूर्ति, कृषि संयंत्र, भू संरक्षण के लिए ऋण व अनुदान, अल्पिका द्वारा सिंचाई तथा फार्म जहाँ पर विकसित तथा सुधरे हुए कृषि तरीकों का प्रदर्शन किया जाय।

पशु-पालन

सुअर पालन, मुर्गी पालन तथा भेड़ पालन।

छोटे व कुटीर उद्योग

विभिन्न प्रकार के कुटीर उद्योग जो कच्चे माल की स्थानीय उपलब्धता निर्भर हैं।

सामाजिक शिक्षा

गाँवों में कार्यरत वर्तमान संस्थानों का सामुदायिक केन्द्रों में बदलना।

महिलाओं व बच्चों के लिए कार्यक्रम

मनोरंजन व सांस्कृतिक कार्यक्रमों के माध्यम से स्वास्थ्य सफाई की शिक्षा देना।

(3) जनजातीय उपयोजना तथा एकीकृत जनजातीय विकास परियोजना

कुछ परिवर्तनों के साथ जनजातीय विकास खण्ड चौथी योजना तथा उसके बाद भी कार्य करते रहे। यद्यपि परिवर्तनशील स्थितियों ने इन समस्याओं के प्रति अलग दृष्टिकोण की माँग की फिर भी यह कार्यक्रम क्रियान्वयन में अत्यधिक कठोर (रिजिड) थे। सामाजिक सेवा, आर्थिक विकास व ढाँचे में विनियोग के उद्देश्य में यह जनजातीय विकास खण्ड बहुत छोटी-सी इकाई साबित हुए, क्योंकि यह खण्ड भूसंरक्षण, विस्तृत तथा मध्यम सिंचाई, सेकेन्डरी तथा तकनीकी शिक्षा जैसी योजनाओं को समायोजित न कर सके।

पाँचवीं योजना में सभी अनुसूचित क्षेत्रों व समूहों की विशिष्ट समस्याओं पर ध्यान देना आवश्यक हो गया था, जिसके फलस्वरूप इन जनजातियों व क्षेत्रों के विकास के लिए एक निश्चित स्वरूप सामने आया। जनजातीय जनसंख्या के आधिक्य वाले क्षेत्रों की स्थितियों तथा फैली हुई जनजातीय जनसंख्या वाले क्षेत्रों की स्थितियों में पर्याप्त भिन्नता है, जो कि भिन्न दृष्टिकोण की माँग करती है, जिन क्षेत्रों में जनजातीय अधिक हैं वहाँ पर जनजातियों की समस्याओं को ध्यान में रखते हुए क्षेत्रीय विकास का दृष्टिकोण अपनाना चाहिए। इन तथ्यों के कारण ही उपयोजना के विचार का उद्‌भव हुआ था। उपयोजना कोई परियोजना नहीं है वरन् एक नये दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करती है। इस नीति ने जनजातीय विकास की समस्या को स्पष्ट रूप से दो भागों में विभाजित किया है :

(1) वह क्षेत्र जिनकी जनजातीय जनसंख्या 50 प्रतिशत से अधिक है तथा अनुसूचित क्षेत्र।

(2) वह क्षेत्र जहाँ जनजातीय जनसंख्या बिखरी हुई है। इन दो श्रेणियों के अतिरिक्त कृषि पूर्व तकनीक स्तर पर पुराने जनजातीय समूहों को विशेष श्रेणी में रखा गया है।

प्रत्येक राज्य में जनजातीय बाहुल्य क्षेत्र या उपयोजनाएँ, विभिन्न व्यावहारिक परियोजना क्षेत्र से मिलकर बनती है। जन योजनाओं को एकीकृत जनजातीय विकास परियोजना के नाम से जाना जाता है। प्रत्येक परियोजना के लिए एक ऐसे एकीकृत क्षेत्र को विकास कार्यक्रम की आवश्यकता होती है जो उस क्षेत्र में रहने वाले लोगों की विशिष्ट समस्याओं का विशेष ध्यान रखे।

उपयोजना की लम्बी अवधि के उद्देश्य हैं :

(1) जनजातीय तथा अन्य क्षेत्रों के विकास के स्तर की दूरी को कम करना।

(2) जनजाति समुदाय के रहन-सहन में सुधार लाना।

सभी प्रकार के शोषण का अन्त, सामाजिक तथा आर्थिक विकास की प्रक्रिया को गतिशील

बनाना, लोगों में आत्मविश्वास जगाना तथा उनकी संगठन शक्ति की क्षमता को बढ़ाना कुछ ऐसे उद्देश्य हैं जिन्हें तुरन्त कार्यान्वित करने की आवश्यकता है। विकास कार्यक्रमों के सम्बन्ध में जनजातीय उपयोजनाएँ उस क्षेत्र में सार्वजनिक उपक्रम के प्रयास का यौगिक प्रतिनिधित्व करती हैं। उपयोजना के वित्तीय स्रोत इस प्रकार हैं।

(1) राज्य की योजना।

(2) केन्द्रीय मंत्रालयों के सेक्टोरल (क्षेत्रीय) कार्यक्रम।

(3) विशेष केन्द्रीय सहायता।

(4) संस्थागत वित्त।

उपयोजना की तैयारी के सम्बन्ध में योजना आयोग द्वारा जारी टिप्पणी के अनुसार इसका उद्देश्य प्रत्येक राज्य के जनजातीय क्षेत्रों की विशेष समस्याओं को ध्यान में रखते हुए सामान्य नीति का निर्धारण करना है। इस नीति के कुछ मूल तत्त्व निम्न प्रकार से हैं :

शोषण की रोकथाम

जनजातियों में कल्याण के लिए कोई भी विकास क्रिया तब तक सफल नहीं हो सकती जब तक तरह-तरह के शोषण को न रोका जाय। एकीकृत ऋण व विपणन सेवाएँ (Integrated creditcum Marketing Services) जो कृषि तथा वन उत्पादों के विक्रय को सम्मिलित करती है। आवश्यक उपभोग व सामाजिक आवश्यकताओं के लिए ऋण कुछ ऐसे तथ्य हैं, जिनका व्यवस्थित तथा सुचारु रूप से कार्य करना आवश्यक है। वैधानिक तथा अधिशासी माध्यमों द्वारा पिछले ऋणों से मुक्ति दिलाने की प्रतिक्रिया को बढ़ावा देना चाहिए। इन कार्यों के परिणामिक दायित्वों से निपटने के लिए भी उपयुक्त कदम उठाने चाहिए। इन सबके साथ-साथ भूमि हस्तान्तरण को रोकने, हस्तांतरित भूमि को वापस दिलाने, बन्धुआ मजदूर जैसी प्रथा को बन्द करने, औद्योगिकीकरण द्वारा उत्पन्न समस्याओं तथा आबकारी नीतियों का पुनर्निरीक्षण जैसे तत्त्वों पर भी विशेष ध्यान देना चाहिए।

जनजातीय अर्थव्यवस्था का विकास

अधिकतर जनजातियाँ अपने जीवन-यापन के लिए कृषि व वनों पर निर्भर रहती हैं। अतः कृषि के विकास को अत्यधिक प्राथमिकता दी गई है। भूमि का स्वामित्व तथा उसका विकास, सिंचाई की सुविधा तथा उपज के विकसित तरीके, यह सभी तत्त्व कृषि विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। भूमि से संबंधित अभिलेखों की पूर्णता को भी प्राथमिकता देनी होगी। पोदू संस्कृति (शिफ्टिंग कल्टीवेटर्स), वन के ग्रामवासी तथा वन के श्रमिकों की ओर विशेष ध्यान दिया जायेगा।

नियोजन रोज़गार के अवसरों की उत्पत्ति

जनजातीय क्षेत्रों में आर्थिक गतिविधियों का स्तर बहुत नीचा है, फिर भी इनके साधनों की क्षमता का प्रयोग बहुत कम है। उद्यान विज्ञान कार्यक्रमों, सुअर पालन, पशुपालन तथा व्यावहारिक व्यवसायों के द्वारा उपलब्ध श्रमिकों के अच्छे प्रयोग का अवसर बनाया जाना चाहिए। उन क्षेत्रों में

स्थानीय कच्चे माल पर आधारित कुटीर उद्योगों का विकास करना चाहिए जिससे कि प्राकृतिक (प्रोसिस्ड) तथा उप प्रकृमित (सेमी प्रोसेस्ड) सामान का अनुपात क्षेत्र के बाहरी इलाकों में भी अधिक है।

मूल ढाँचे का प्रावधान

सामाजिक व आर्थिक विकास के लिए वैधानिक, संस्थागत तथा भौतिक ढाँचों के विकास को प्राथमिकता देना नितान्त आवश्यक है। जनजातियों की विशेष परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए केन्द्रों में संचार व्यवस्था, स्कूल, ग्रामीण स्वास्थ्य केन्द्र, विपणन व ऋण संस्थाएँ, ग्रामीण विद्युतीकरण, उपलब्ध श्रमिक शक्ति तथा प्रशिक्षण को एकीकृत रूप में योजनाबद्ध करना होगा।

विशिष्ट समूह व समस्याएँ

उपयोजना अपना ध्यान लोगों के कल्याण व विकास में लगाती है, अतः उन क्षेत्रों व लोगों पर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है जो विशेष परिस्थितियों में रहते हैं। आदिम जनजाति समूह जो अत्यधिक पिछड़े स्थानों पर हैं, अस्थायी कृषक (Shifting cultivators) तथा वे जनजातियाँ जिन पर बड़ी विकास योजनाओं का प्रभाव पड़ा, इस श्रेणी में आते हैं। ऐसे जनजातीय समूह जिन्हें अब तक के विकास से कोई लाभ नहीं मिला तथा ऐसी जनजातियाँ जो कि जनजातियों में भी अत्यधिक पिछड़ी हैं, को पहचान कर उन्हें विशेष सहायता देनी चाहिए।

उपयोजना की तैयारी में निम्नलिखित तत्त्वों की आवश्यकता है :

(1) जनजातीय जनसंख्या वाले क्षेत्रों की पहचान व सीमांकन।

(2) आर्थिक व सामाजिक बाधाओं तथा विकासशील परिवर्तन के प्रवर्तकों की पहचान।

(3) क्षमताओं का मूल्यांकन, विशेष समस्याओं तथा जनजाति क्षेत्रों की आवश्यकताओं को समझना।

(4) उपयोजना के लिए साधनों की उपलब्धता का मूल्यांकन।

(5) क्षेत्रीय सार्वजनिक कार्यक्रमों की संरचना।

(6) उपयुक्त प्रशासकीय व्यवस्था का उपाय।

प्रत्येक राज्य में, प्रशासनिक सीमाओं, स्थान, आर्थिक विकास के स्तर, नृजातीय संयोजन, प्राकृतिक साधनों तथा विकास की क्षमताओं को ध्यान में रखते हुए उपयोजना क्षेत्र को विभिन्न परियोजना क्षेत्रों में बाँटा जाता है। योजना तथा समन्वय के उद्देश्य से जनजातीय विकास खण्ड बहुत छोटी इकाई थी जिसके कई विकास खण्डों को मिलाकर एक परियोजना क्षेत्र बनाने का निर्णय लिया गया। इस प्रकार सम्पूर्ण जनजाति उपयोजना क्षेत्र तमाम व्यावहारिक तथा "एकीकृत जनजाति विकास परियोजनाओं" में बँट गया। अलग-अलग राज्यों में विभिन्न स्थितियों तथा एक ही राज्य के अलग-अलग क्षेत्रों में भिन्न परिस्थितियों के कारण परियोजना के आकार का निर्णय विशेष परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए लिया गया। औसत रूप से परियोजना के अन्तर्गत तीन से चार लाख की जनसंख्या तथा 6 से 7 विकास खण्ड आते हैं।

यह परियोजना अपने क्षेत्र के सभी विकास कार्यों का प्रतिनिधित्व करती है। इस परियोजना

का दृष्टिकोण समस्याओं को हल करने तथा लोगों के कल्याण व सुरक्षा की व्यवस्था करने में सहायक होना चाहिए। इस परियोजना की परिकल्पना संबंधित क्षेत्र की वर्तमान प्रशासन प्रणाली के यौगिक रूप में की जाती है।

(4) बहुउद्देश्यीय वृहद् समितियाँ

जनजातियों की अनेक आवश्यकताओं की आपूर्ति एक ही स्थान पर हो, इस उद्देश्य से इन सहकारी समितियों का गठन 1974 से देश के जनजातीय क्षेत्रों में प्रारम्भ हुआ। उनकी ऋण व विपणन की आवश्यकताओं की पूर्ति विशेष रूप से इन्हीं समितियों द्वारा की जाती है। बहुउद्देश्यीय विस्तृत समितियों की नीति भी जनजाति उन्मुख होनी चाहिए। इसके लिए ''निदेशक मंडल'' में जनजातियों के प्रतिनिधि को रखा जाना चाहिए।

योजना अवधियों में ली गयीं परियोजनाएँ

नवीं पंचवर्षीय योजना के आरम्भ तक निम्न कार्यक्रमों को लिया जा चुका था :-

(i) सुरक्षा सम्बन्धी कदम

(1) विधिक सहायता

(2) कृषि व लघु वन उत्पादों का विपणन

(3) आवश्यक उपभोग की वस्तुओं की आपूर्ति व विक्रय

(4) बँधुआ श्रमिक मजदूर

(5) अनुत्पादक ऋण

(6) आबकारी प्रशासन का पुनर्गठन

(7) परम्परागत पंचायतों को मजबूत बनाना।

(ii) कृषि व वन

(1) सर्वेक्षण व भूमि अभिलेख

(2) कृषि सम्बन्धी शोध

(3) सामान्य कृषि विकास

(4) उत्पादक उद्देश्यों के लिए ऋण

(5) भूमिहीन श्रमिक

(6) युवा कृषकों का प्रशिक्षण

(7) वन्य ग्रामीण

(8) वनों तथा वनों पर आधारित आर्थिक व्यवस्था का विकास

(9) अस्थायी कृषि (shifting cultivation)

(iii) पशुपालन

(iv) सिंचाई

(v) संचार व्यवस्था

(vi) विद्युत

(vii) उद्योग

(1) लघु व कुटीर उद्योग

(2) मध्यम श्रेणी के उद्योग तथा खान

(viii) बड़ी विकास परियोजनाओं से प्रभावित जनजातियों के लिए विशेष कार्यक्रम

(ix) लघु व विलग जनजाति समुदाय

(x) शिक्षा

(1) 6 से 11 वर्ष के शत प्रतिशत बच्चों तथा 11 से 14 वर्ष के 75 प्रतिशत बच्चों को सम्मिलित करना।

(2) आवासीय स्कूल

(3) मुख्य भोजन तथा वर्दी का प्राविधान

(4) छात्रावास

(5) मैट्रिक पूर्व छात्रवृत्ति

(6) स्तरों में सुधार

(7) मातृभाषा में शिक्षा

(8) पाठ्येत्तर क्रिया-कलाप

(9) शारीरिक शिक्षा

(10) जू. हाईस्कूल व हाईस्कूल के भवनों का निर्माण

(11) 15 से 25 वर्ष वाले युवा वर्ग के लिए विशेष कार्यक्रम

(12) नागरिक शिक्षा

(13) शिक्षकों के बच्चों को छात्रवृत्ति

(14) अत्यधिक पिछड़े क्षेत्रों में काम कर रहे शिक्षकों को विशेष वेतन

(15) आवासीय सुविधाओं का निर्माण विशेषतयः महिला शिक्षकों के लिए

(16) शिक्षकों के लिए नियुक्ति कार्यक्रम तथा पुनःस्फूर्ति कार्यक्रम (refresher course)

(17) जनजातीय बाजारों का सांस्कृतिक गतिविधियों के केन्द्र के रूप में विकास

(xi) सार्वजनिक स्वास्थ्य

(1) नवीन सार्वजनिक स्वास्थ्य केन्द्र

(2) निःशुल्क दवाएँ

(3) विशेष चिकित्सालय तथा चलित दवाखाने

(4) सुरक्षित तथा शुद्ध पीने का पानी

(5) जनजातीय क्षेत्रों में आदर्श नगरों का विकास

(6) जनजातीय आवास पर शोध

(xii) प्रशासन व स्वैच्छिक संस्थाएँ

(1) प्रशासनिक ढाँचे को मजबूत करना

(2) अत्यधिक पिछड़े क्षेत्रों में कार्यरत कर्मचारियों के लिए आवास

(3) विकास विभाग से सम्बद्ध उन सभी कर्मचारियों को विशेष वेतन जो अत्यधिक पिछड़े क्षेत्रों में कार्य कर रहे हैं।

(4) स्वैच्छिक संस्थाओं की सहायता।

जनजातीय विकास कार्यक्रमों का आंकलन

जनजातीय विकास कार्यक्रमों का आंकलन करते समय दो विचार सामने आते हैं। एक विचार के अनुसार जनजातियों के विकास का दर्शन प्रयास बुरी तरह असफल हुआ है जबकि दूसरा विचार इस कार्यक्रम की आंशिक सफलता के प्रभाव पर दुःख प्रकट करता है। आश्चर्यजनक बात यह है कि जनजातीय विकास कार्यक्रम के क्रियान्वयन को एक 'सफलता' मानने का साहस किसी में नहीं था। छठी योजना में जनजातीय विकास के प्रति दृष्टिकोण एक प्रारम्भिक परिप्रेक्ष्य जैसे भारत सरकार द्वारा जारी किये गये अभिलेख में भी कहा गया है कि "जनजातीय विकास" के नाम पर बहुत-सा रुपया व्यय करने के पश्चात् जनजातियों के संविधान के अनुरूप सुरक्षा प्रदान करने में सफलता नहीं मिली है।" अपने वादों के अनुसार इन जनजातियों में लगातार लाभ पहुँचाने में नहीं असफलता ही मिली है। व्ययों का फल पर्याप्त लाभों में परिणत नहीं हुआ तथा जनजातीय क्षेत्रों के विकास कार्यक्रम इच्छित फल देने में अक्षम रहे हैं।

इसमें यह भी कहा गया है कि कुछ लाभों का 75% जनजातियों तक नहीं पहुँचा है तथा चेतावनी भी गई दी है कि "इस प्रकार के विकास की दर हानिकारक है।" पशुपालन के प्रभावों का मूल्यांकन करते हुए कहा गया है कि जनजातियों के नाम पर अपार धनराशि का व्यय किया गया है जिनका लाभ जनजातियों तक कभी नहीं पहुँचा। कई ऐसे कार्यक्रम हैं, जिन पर यह बात लागू होती है। जनजातीय विकास कार्यक्रमों के फलस्वरूप जनजातियों तथा अन्य लोगों के बीच की खाई बढ़ी है। इन कार्यक्रमों ने जनजातीय शोषण को और संगठित तथा प्रभावी बना दिया है, तथा उनको आर्थिक रूप से अधिक दुर्बल ही कर दिया है। छठी योजना का यह दावा कि 1981 तक जनजातियों की समस्त समस्याओं का समाधान हो सकता है, कितना दुर्भाग्यपूर्ण व गैर-जिम्मेदाराना है।

एस.के. शर्मा (1981) ने जनजातीय विकास के कार्यक्रमों की असफलता पर एक शोध कार्य किया जिसके अनुसार बहुत-से अवलोकक गम्भीर रूप से यह मानते हैं कि भारत सरकार जनजातीय विकास कार्यक्रमों को बढ़ावा देने में न केवल असफल रही है इसके साथ-साथ जनजातियों के अविकसित स्तर को बनाये रखने में भी सहायक रहा है। यह शोध तीन तथ्यों पर आधारित है :

(1) स्वतंत्रता के बाद सरकार द्वारा जनजातीय विकास के लिए निर्धारित धनराशि अपर्याप्त थी।

(2) जनजातियों को वास्तविक राजनैतिक शक्ति प्राप्त करने से रोका गया। पूर्वी क्षेत्रों को छोटी इकाइयों में बाँट दिया गया था जिससे कि आदिवासी अल्पमत में ही रहें।

इस विषय पर और अध्ययन भी किये गये हैं जिनके अनुसार नियम तथा कार्यक्रमों के

असफल होने में अन्य जातियों के शक्तिशाली ज़मींदारों तथा जनजातियों की इन कार्यक्रमों के प्रति उदासीनता भी महत्त्वपूर्ण कारणों में से है। इन सभी तथ्यों के ध्यानपूर्वक विश्लेषण से पता चलता है कि दुर्भाग्यवश इन समस्याओं के समाधान के उद्देश्य से कोई भी नया कार्यक्रम लागू नहीं किया गया। इन योजनाओं की असफलता के कारण हैं– इनको बनाने वाले जिन्होंने जनजातियों के विकास का स्तर तथा उन क्षेत्रों से संबंधित स्थितियों पर कोई ध्यान नहीं दिया जिनके कल्याण व विकास के लिए यह योजनाएँ बनी थीं। आवास तथा सहकारिता जैसी बड़ी परियोजनाओं को बढ़ाने में तमाम साधनों को बरबाद किया गया जिनकी असफलता के कारण जनजातियों को कोई लाभ नहीं पहुँचा। आवासीय योजना की असफलता इसका एक ज्वलन्त उदाहरण है।

जंगलों के बीच बनाये गये खपरैल के घर जिन पर सार्वजनिक धनराशि का बड़ा हिस्सा व्यय किया गया, या तो खाली पड़े रहे या बहुत जल्दी छोड़ दिये गये। इसका कारण था योजना बनाने वालों का यह गलत अनुमान कि जो कुछ मैदानी क्षेत्रों में रहने वालों के लिए अच्छा है वही जनजातियों में भी समस्त रूप में स्वीकारा जायेगा। प्रारम्भिक त्रुटियों पर इसकी असफलता का दायित्व नहीं है। सबसे आश्चर्यजनक बात यह है कि जनजातियों को बंद करके नहीं रखा जा सकता, ये योजनाएँ उनके अनुसार नहीं बनायी गयीं। आवासीय परियोजनाएँ पूर्ण रूप से असफल रही हैं। जनजातियों के किसी भी कल्याण कार्यक्रम की तुलना में इन महत्त्वाकांक्षी परियोजनाओं पर अधिक धनराशि व्यय की गयी। कुछ महत्त्वपूर्ण राज्यों में से एक राज्य में तो उपनिवेशीकरण योजना की पूर्ण असफलता के कारण इसे तीसरी पंचवर्षीय योजना में सम्मिलित ही नहीं किया गया था।

यदि यह सारी योजनाएँ आर्थिक सर्वेक्षण के आधार पर प्राप्त आंकड़ों के अनुसार बनायी जातीं तथा जनजातियों की आवश्यकताओं तथा क्षेत्रों का ध्यान रखा जाता तो इस असफलता से बचा जा सकता था।

कुछ और तथ्य जो जनजाति विकास कार्यक्रमों के असंतोषजनक परिणामों के कारण हैं, निम्नलिखित हैं :

(1) जनजातियों के अधिकारों की सुरक्षा के संबंध में **अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति आयोग** तथा अन्य उच्च स्तरीय समितियों द्वारा दिये गये परामर्शों तथा सलाहों को लागू करने में की गयी देरी के कारण स्थितियाँ और ख़राब हो गयीं। इसके साथ-साथ जनजातीय विकास कार्यक्रमों की संरचना एवं क्रियान्वति के संबंध में दिये जाने वाले परामर्शों तथा सलाह की ओर ध्यान न देने के कारण बहुत से मूल्यवान संसाधनों की बरबादी हुयी तथा यह योजनाएँ असफल हुयीं।

(2) आन्ध्र प्रदेश सरकार के अतिरिक्त किसी भी राज्य सरकार ने इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि सामान्य विकास योजनाओं से भी इन जनजातियों को लाभ मिलना चाहिये क्योंकि यह भी देश के नागरिक हैं। संभवतः राज्यों में योजना बनाने वालों के विचार से केवल विशेष प्रावधान ही ऐसा प्रावधान है जो जनजातियों के विकास कार्यक्रमों को आर्थिक रूप से लाभान्वित करता है।

(3) जनजातियों में विषमता की स्थितियों को दूर करने के बजाय विकास के प्रयासों ने इन्हें बढ़ा दिया। इसका कारण है जनजातीय समाजों में अभिजात समूहों को अधिक लाभ मिलना।

(4) जनजातीय विकासखण्ड को सामान्य विकास कार्यक्रमों तथा सामुदायिक विकास कार्यक्रमों से

कोई सहायता नहीं मिली।

(5) इन खण्डों के लिए बनायी गयी योजना क्षेत्रों की आवश्यकताओं के अनुसार नहीं थी।

प्रशासकीय व्यवस्था भी जनजातीय विकास कार्यक्रमों के असंतोषजनक निष्पादन के लिए उत्तरदायी है। इन कार्यक्रमों के संबंध में जब कई विभाग स्वतंत्र रूप से अपनी भूमिका निभाते हैं तब जनजातीय लोगों को अपनी आवश्यकता पूर्ति के लिए बहुत दौड़ना पड़ता है। इस सन्दर्भ में योजना आयोग का अवलोकन है कि विभागीय बाहुल्यता उत्तरदायित्व के प्रसार के लिए जिम्मेदार बनी तथा इसके दूसरे परिणाम थे समन्वय की कमी तथा उपयुक्त नियंत्रण न होना। जनजातीय समुदायों के लिये विशेष कार्यक्रमों से संबंधित अधिकारियों से सम्पर्क करना कठिन हो जाता था। समन्वय तथा कार्यकुशलता को बढ़ाने के उद्देश्य से प्रशासकीय संगठन प्रणाली को विस्तार से बनाना होगा। अधिकारों का हस्तान्तरण, उत्तरदायित्व की विशिष्टता तथा उपयुक्त लचीलापन इन सभी तथ्यों का समावेश प्रशासकीय प्रणाली में इस प्रकार करना चाहिए जिससे कि कार्यक्रम को लागू करने वाले अधिकारी मूल्यांकनों के आधार पर चल रही योजनाओं में समुचित परिवर्तन कर सकें। ऐतिहासिक कारणों से कारण जनजाति सहकारी क्षेत्रों में प्रशासकीय प्रणाली में सरलता की कमी रही है जिसके फलस्वरूप जनजातियों की ओर से इसे अधिक महत्त्व नहीं मिला। सभी विवादों, समीक्षाओं तथा प्रति समीक्षाओं के पश्चात् भी यह माना जाता है कि विकास हुआ है परन्तु निश्चित आंकड़ों की अनुपस्थिति के कारण यह निर्णय देना कठिन है कि विकास अधिक हुआ या कम। हमारे प्रशंसनीय उद्देश्यों तथा औसत कार्य निष्पादन के प्रकाश में यह बिलकुल स्पष्ट है कि जनजाति विकास के प्रश्न पर पुनः विचार होना चाहिए। रांची विश्वविद्यालय के उपकुलपति डॉ. रामदयाल मुंडा ने जो कि स्वयं आदिवासी हैं, जनजातीय विकास के प्रश्न पर सरकार के दृष्टिकोण की आलोचना करते हुए एक साक्षात्कार में स्पष्ट रूप से कहा कि सरकार ऐसी प्रणाली में छत डाल रही है जो टिकाऊ नहीं है। इसका क्या औचित्य ? इन प्रयासों के कोई भी लाभकारी परिणाम नहीं हैं। भूमि हस्तान्तरण बिना रुके चल रहा है। बाहरी लोगों को अब भी प्रशिक्षण, ऋण तथा नियुक्तियों में प्राथमिकता मिलती है। विकेन्द्रीकरण का कोई उदाहरण नहीं है। भ्रष्टाचार तथा पक्षपात को अब भी विमुख राजनैतिक संस्कृति में बढ़ावा मिल रहा है।

अनुसूचित जनजाति विकास (*जनजातीय मामलों के मंत्रालय की रिपोर्ट 2002-03*)

1.1 जनजातीय कार्य मंत्रालय का सृजन

जनजातीय कार्य मंत्रालय का गठन अक्टूबर, 1999 में सामाजिक न्याय एवं अधिकारिता मंत्रालय को विभाजित करने के द्वारा एक समन्वित और आयोजित तरीके से भारतीय समाज के अत्यन्त अलाभान्वित वर्ग अर्थात् अनुसूचित जनजातियों के समेकित सामाजिक-आर्थिक विकास पर अधिक केन्द्रित ध्यान देने के उद्देश्य से किया गया। जनजातीय कार्य मंत्रालय के अस्तित्व में आने से पूर्व जनजातीय कल्याण और विकास से संबंधित मामलों पर कार्रवाई भारत सरकार के स्तर पर विभिन्न मंत्रालयों द्वारा अलग-अलग समय पर की जाती थी जैसा कि नीचे उल्लेख किया गया है :

(1) गृह मंत्रालय के प्रभाग के रूप में : स्वतंत्रता के बाद से सितम्बर, 1985 तक आदिवासी विकास प्रभाग के रूप में जाना जाता था।

(2) कल्याण मंत्रालय : सितम्बर, 1985 से मई, 1998 तक।

(3) सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय : मई, 1998 से सितम्बर, 1999 तक।

1.2 मंत्रालय के विषयों का आवंटन

जनजातीय कार्य मंत्रालय का अधिदेश निम्नलिखित है :

(1) अनुसूचित जनजातियों के संबंध में सामाजिक सुरक्षा और सामाजिक बीमा।

(2) जनजातीय कल्याण योजना, नीति तैयार करना, अनुसंधान एवं प्रशिक्षण।

(3) जनजातीय विकास जिसमें अनुसूचित जनजातियों के लिए छात्रवृत्तियाँ शामिल हैं।

(4) अनुसूचित जनजातियों के विकास में स्वैच्छिक प्रयासों को बढ़ावा देना।

(5) निम्नलिखित मामलों के संबंध में प्रशासनिक मंत्रालय :

- अनुसूचित क्षेत्र;
- सड़कों, पुल निर्माण कार्य तथा उन पर नौघाटों को छोड़कर असम के स्वायत्त जिले;
- अनुसूचित क्षेत्रों के लिए और संविधान की छठी अनुसूची के पैराग्राफ 20 से संलग्न सारणी के भाग 'क' में विनिर्दिष्ट जनजातीय क्षेत्रों के लिए राज्य के राज्यपालों द्वारा बनाये गए विनियम;
- राष्ट्रीय अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति आयोग जहाँ तक कि वे अनुसूचित जनजातियों से संबंधित हैं; तथा
- अनुसूचित जनजातियों के कल्याण के लिए आवश्यक योजनाओं को तैयार करने और कार्यान्वित करने के संबंध में निर्देश जारी करना।

1.2.1 जनजातीय कार्य मंत्रालय अनुसूचित जनजातियों के लिए विकास के कार्यक्रमों की समग्र नीति, योजना और समन्वय हेतु नोडल मंत्रालय है परन्तु इन समुदायों के विकास के कार्यक्रम तथा योजनाएँ, नीति, योजना, मानीटरिंग आदि संबंधित मंत्रालय/विभाग राज्य सरकारों तथा संघ राज्य क्षेत्र प्रशासनों का दायित्व है। प्रत्येक केन्द्रीय मंत्रालय/विभाग अपने क्षेत्र के संबंध में नोडल मंत्रालय है।

1.3 अनुसूचित जनजातियाँ

भारत के संविधान में अनुसूचित जनजातियों को परिभाषित नहीं किया गया है। इसलिए अनुच्छेद 366(25) में अनुसूचित जनजातियों का संदर्भ उन समुदायों के लिए किया गया है जो संविधान के अनुच्छेद 342 के अनुसार अनुसूचित हैं। इन अनुच्छेद में यह कहा गया है कि वे समुदाय जिन्हें राष्ट्रपति द्वारा प्रारम्भिक लोक अधिसूचना के जरिए इस प्रकार घोषित किया है, अनुसूचित जनजाति के माने जाएँगे। इस सूची में आगे कोई भी संशोधन संसद के अधिनियम के माध्यम से किया जा सकता है। अनुसूचित जनजातियों की सूची राज्य विशेष से संबंधित है और

किसी राज्य में किसी समुदाय को यदि अनुसूचित जनजाति का घोषित किया हो तो जरूरी नहीं कि दूसरे राज्य में भी उस समुदाय के लोग अनुसूचित जाति के माने जाएँ। अनुसूचित जनजाति का पता लगाने की जो जरूरी विशेषताएँ होनी चाहिए उनका पहली बार निर्धारण लेकर समिति द्वारा किया गया। ये विशेषताएँ हैं :

(क) आदिम जनजातीय गुण (ख) अनूठी संस्कृति (ग) आम लोगों से सम्पर्क करने में कतराना (घ) भौगोलिक अलगाव (ङ) पिछड़ापन– सामाजिक और आर्थिक। अनुसूचित जनजातियों में शामिल करने की प्रक्रिया एक चलते रहने वाली प्रक्रिया है जिसकी पद्धति अध्याय 4 में दी गयी है।

1.4 जनजातियों का वितरण

1.4.1 वर्ष 1991 की जनगणना के अनुसार देश में जनजातियों की कुल जनसंख्या 67.76 मिलियन है जो कुल आबादी का 8.08% है। आधे से ज्यादा जनजातीय आबादी की बहुलता मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़, महाराष्ट्र, उड़ीसा, झारखण्ड और गुजरात राज्यों में है।

1.4.2 जनजातीय समुदाय देश के 15% क्षेत्र में विभिन्न पारिस्थितिकीय और भौगोलिक जलवायु के हालात में मैदानों, जंगलों, पहाड़ों और अगम्य क्षेत्रों में रहते हैं। जनजातीय समूह सामाजिक-आर्थिक और शैक्षिक विकास के विभिन्न चरणों में हैं जबकि एक ओर कुछ जनजातीय समुदायों ने रहन-सहन के गैर जनजातीय तौर-तरीके अपना लिए हैं वहीं दूसरी ओर ऐसे 75 आदिम जनजातीय समूह हैं जो अपनी (क) कृषि-पूर्व स्तर की प्रौद्योगिकी (ख) स्थिर अथवा घटती हुई जनसंख्या (ग) बहुत ही कम साक्षरता तथा (घ) अर्थव्यवस्था के न्यूनतम स्तर की विशेषताओं के लिए जाने जाते हैं।

प्रमुख जनजातियाँ

1.4.3 भारत के संविधान के अनुच्छेद 342 के अन्तर्गत अधिसूचित अनुसूची के अनुसार 500 से अधिक जनजातियाँ हैं (एक से ज्यादा राज्यों में बहुत सारे अतिव्यापित वाले समुदायों सहित) जो देश के विभिन्न राज्यों और संघ राज्य क्षेत्रों में फैले हुए हैं, जिनकी सबसे अधिक संख्या अर्थात् 62 उड़ीसा में है। जनजातियों की राज्यवार सूची अनुबंध-1 पर है।

1.4.4 जनजातीय जनसंख्या का प्रमुख घनत्व मध्य भारत और उत्तरी राज्यों में है। तथापि, वे हरियाणा, पंजाब, दिल्ली, पांडिचेरी और चंडीगढ़ को छोड़कर सभी राज्यों/संघ राज्य क्षेत्रों में पाये जाते हैं। देश के अधिक जनजातीय जनसंख्या वाले राज्य हैं : अरुणाचल प्रदेश, मेघालय, मिजोरम, नागालैण्ड तथा संघ राज्य क्षेत्र दादरा व नगर हवेली तथा लक्षद्वीप हैं (यहाँ की जनजातीय जनसंख्या कुल जनसंख्या के 50% से अधिक है)।

1.5 जनसंख्या प्रवृत्तियाँ तथा वर्तमान स्थिति

1.5.1 जनसंख्या प्रोफाइल : वर्ष 1991 की जनगणना के अनुसार देश में अनुसूचित जनजातियों की जनसंख्या 67.8 मिलियन है जो देश की कुल जनसंख्या का 8.1% है। जनजातीय जनसंख्या 1951 से लगातार बढ़ रही है।

1.5.2 वृद्धि : जनजातीय जनसंख्या के संबंध में वर्ष 1981 से 1991 की जनगणना के बीच के दशक के दौरान बढ़ोत्तरी (31.64%) कुल जनसंख्या के मुकाबले (23.51%) काफी अधिक रही है।

1.5.3 वृद्धि लिंग अनुपात : 1991 की जनगणना के अनुसार समग्र जनसंख्या के लिंग अनुपात (प्रति 1000 पुरुष, 927 महिलाएँ) की तुलना में जनजातियों में लिंग अनुपात प्रति हजार पुरुष, 972 महिलाएँ ज्यादा अनुकूल है।

1.5.4 साक्षरता : 1991 की जनगणना के अनुसार जनजातियों में साक्षरता दर (29.6%) देश की समग्र साक्षरता दर (52.2%) से काफी कम पाई गई है। देश में समग्र महिला साक्षरता दर (39.2%) के मुकाबले जनजातियों में महिला साक्षरता दर (18.2%) और भी कम है। तथापि, महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जनजातियों में कुल जनसंख्या तथा महिला साक्षरता में वृद्धि हो रही है हालांकि साक्षरता की गति, देश की समग्र जनसंख्या की तुलना में अभी भी कम है।

1.5.5 पिछड़ेपन के संकेतक 1991 की जनगणना के आंकड़ों के अनुसार जनजातीय आबादी का 42.02% प्रमुख कामगार थे जिनमें से 54.50% कृषक तथा 32.69% कृषि मजदूर थे। अतः इन समुदायों के प्रमुख कामगारों का लगभग 87% प्राइमरी क्षेत्र के क्रियाकलापों में लगा था। राष्ट्रीय औसत साक्षरता के 52% के मुकाबले में अनुसूचित जनजातियों में साक्षरता दर लगभग 29.60% है। अनुसूचित जनजातियों की तीन चौथाई से अधिक महिलाएँ निरक्षर हैं। ये असमानताएँ औपचारिक शिक्षा बीच में छोड़ने की दर में बढ़ोत्तरी से और बढ़ जाती हैं। इसका परिणाम यह होता है कि उच्च शिक्षा प्राप्त करने वालों में उनका प्रतिनिधित्व कम रह जाता है। हैरानी की बात नहीं है कि इसका समग्र प्रभाव यह होता है कि गरीबी रेखा के नीचे अनुसूचित जनजातियों का अनुपात राष्ट्रीय औसत से काफी अधिक है। योजना आयोग द्वारा वर्ष 1993-94 के लिए लगाए गए गरीबी अनुमानों से यह पता चलता है कि गरीबी रेखा के नीचे रहने वाली 37.3% कुल आबादी के मुकाबले 51.92% अनुसूचित जनजातीय लोग थे जो गरीबी रेखा के नीचे रह रहे थे।

1.6 संवैधानिक गारंटियाँ

भारत के संविधान में अनुसूचित जनजातियों के संरक्षण, सामाजिक-आर्थिक तथा राजनीतिक विकास के लिए निम्नलिखित गारंटियाँ निहित हैं :

(1) सामाजिक

- कानून के समक्ष समानता (अनुच्छेद 14)
- राज्यों को नागरिकों के सामाजिक रूप से और आर्थिक रूप से पिछड़े वर्गों की या अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों की प्रगति के लिए विशेष प्रावधान करने हैं (अनुच्छेद 15(4))।
- राज्य के अंतर्गत किसी कार्यालय में रोजगार या नियुक्ति से संबंधित मामलों में सभी नागरिकों के लिए अवसर की समानता (अनुच्छेद 16)।
- राज्य को किसी पिछड़े वर्ग के नागरिकों के पक्ष में नियुक्ति, पदों में आरक्षण के लिए प्रावधान

करना जिसे राज्य की राय में राज्य के अन्तर्गत, सेवाओं में पर्याप्त रूप से प्रतिनिधित्व दिया गया हो (अनुच्छेद 16(4))।

- राज्य को अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के पक्ष में पदों की किसी श्रेणी या श्रेणियों में पदोन्नति के मामले में प्रावधान करने हैं। (अनुच्छेद 16(4क))।
- राष्ट्रीय अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति आयोग को अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के लिए उपलब्ध कराये गए संवैधानिक सुरक्षा उपायों से संबंधित सभी मामलों की जाँच, मानीटरिंग और मूल्यांकन करना है (अनुच्छेद 338)।
- राज्यों में अनुसूचित क्षेत्रों के प्रशासन और अनुसूचित जनजातियों के कल्याण के संबंध में रिपोर्ट देने के लिए एक आयोग की नियुक्ति (अनुच्छेद 339)।
- सामाजिक रूप से और शैक्षिक रूप से पिछड़े वर्गों की दशाओं की तथा उन कठिनाइयों की जिनके अन्तर्गत वे श्रम करते हैं, की जाँच करने के लिए एक आयोग की नियुक्ति और ऐसी कठिनाइयों को दूर करने तथा उनकी दशा में सुधार लाने के लिए सिफारिश करना (अनुच्छेद 340)।
- अनुसूचित जनजातियाँ समझे जाने के लिए जनजातियों या जनजातीय समुदायों को विनिर्दिष्ट करना (अनुच्छेद 342)।

(2) आर्थिक

- राज्य के लोगों के कमजोर वर्गों और विशेष रूप से अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के शैक्षिक तथा आर्थिक हितों को विशेष ध्यान रखकर बढ़ावा देना है और सामाजिक अन्याय तथा सभी प्रकार के शोषण से उनकी रक्षा करना है (अनुच्छेद 46)।
- अनुसूचित जनजातियों के कल्याण को बढ़ावा देने के लिए प्रत्येक वर्ष भारत की संचित निधि से सहायता अनुदान तथा अनुसूचित क्षेत्रों का प्रशासन (अनुच्छेद 275(1))।
- प्रशासन की दक्षता के अनुरक्षण से सामंजस्य रखने को ध्यान में रखते हुए संघ के या एक राज्य के मामलों के संबंध में सेवाओं तथा पदों पर नियुक्तियों में अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के व्यक्तियों के दावे (अनुच्छेद 225)।

(3) राजनीतिक

- पाँचवीं अनुसूची के माध्यम से, अनुसूचित क्षेत्रों के प्रशासन के संबंध में भारत के राष्ट्रपति को राज्यपालों द्वारा वार्षिक रिपोर्ट के प्रस्तुत किये जाने के द्वारा असम, मेघालय, त्रिपुरा तथा मिजोरम के राज्यों से अन्यथा किसी राज्य में अनुसूचित क्षेत्रों और अनुसूचित जनजातियों का प्रशासन एवं नियंत्रण तथा अनुसूचित जनजातियों के कल्याण और प्रगति से संबंधित ऐसे मामलों पर सलाह देने के लिए एक जनजातीय सलाहकार परिषद की स्थापना करना (अनुच्छेद 244(1))।
- कतिपय जनजातीय क्षेत्रों को स्वायत्त जिलों और स्वायत्त क्षेत्रों के रूप में नामित करने के द्वारा

और साथ ही जिला परिषदों का गठन करने के द्वारा असम, मेघालय, त्रिपुरा और मिजोरम राज्यों में जनजातीय क्षेत्रों के प्रशासन के लिए छठी अनुसूची के माध्यम से विशेष प्रावधान (अनुच्छेद 244(2))।

- लोकसभा में अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के लिए सीटों का आरक्षण (अनुच्छेद 330)।
- राज्यों की विधानसभाओं में अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए सीटों का आरक्षण (अनुच्छेद 332)।
- प्रत्येक पंचायत में अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए सीटों का आरक्षण (अनुच्छेद 243घ)
- योजना और निर्णय निर्धारण की प्रक्रिया में जनजातियों की प्रभावी भागीदारी को सुनिश्चित करने के लिए पंचायत (अनुसूचित क्षेत्रों का विस्तार) अधिनियम, 1996 के माध्यम से संविधान के 73वें और 74वें संशोधनों का विस्तार।

1.7 मंत्रालय के नवीन प्रयास

जनजातीय कार्य मंत्रालय ने जनजातीय कल्याण और विकास पर अधिक ध्यान केन्द्रित करने के लिए निम्नलिखित प्रयास किये हैं :

(1) महाराष्ट्र आयोजना के महाराष्ट्र पैटर्न को अपनाने के लिए राज्यों को निर्देश तथा जनजातीय उपयोजना क्षेत्रों के लिए निर्धारित निधियों का निष्पादन। महाराष्ट्र में जनजातीय उपयोजना के लिए निर्धारित निधियों को राज्य सरकार के जनजातीय विकास विभाग के पास रखा जाता है और यह जनजातीय उपयोजना के अन्तर्गत विकास संबंधी कार्यों के कार्यान्वियन के लिए विभिन्न लाइन विभागों को निधियाँ निर्मुक्त करता है और जनजातीय क्षेत्रों के लिए जनजातीय उपयोजना निधियों के उपयोग को सुनिश्चित करता है।

(2) जनजातियों में अत्यन्त पिछड़े समूह अर्थात् आदिम जनजातीय समूहों के विकास के लिए एक नई केन्द्रीय क्षेत्र योजना की शुरुआत।

(3) जनजातीय विकास के क्षेत्र में स्वैच्छिक संगठनों को बढ़ावा। जनजातीय विकास कार्यक्रमों के कार्यान्वयन में सम्बद्ध गैर-सरकारी संगठनों की संख्या 1997-98 से बढ़कर वर्तमान वर्ष के दौरान 600 से अधिक हो गई है।

(4) मंत्रालय के अधिकारियों के माध्यम से और साथ ही राज्य सरकार के तंत्र को शामिल करने के द्वारा कार्य नहीं कर रहे गैर-सरकारी संगठनों की पहचान करने और उन्हें हटाने के लिए कड़ा मानीटरिंग तंत्र लागू करना। मंत्रालय ने नई परियोजनाओं के चयन और मंजूरी में पारदर्शिता लाने के लिए परियोजना जाँच समिति का गठन किया है जिसमें अन्य संबंधित मंत्रालयों के सदस्य और जनजातीय विकास कार्यकलापों में सक्रिय रूप से शामिल पाँच गैर-सरकारी सदस्य हैं।

(5) कम्प्यूटर प्रशिक्षण देने के लिए व्यावसायिक संस्थाओं को अनुदान के लिए पात्र संगठनों के रूप में बनाने के लिए "गैर-सरकारी संगठनों को सहायता अनुदान" की योजना का संशोधन। ग्राम अन्न बैंक की योजना को संशोधित मानदंडों के साथ इस योजना की व्यावहारिकता में वृद्धि करने के लिए संशोधित किया जा रहा है।

(6) अनुकरणीय सेवा करने वाले गैर-सरकारी संगठनों की अवसंरचना को सुदृढ़ करने के लिए योजना/दिशा-निर्देशों का प्रारम्भ।

(7) एक परिप्रेक्ष्य व्यापक जनजातीय नीति की रूपरेखा प्रस्तुत करने, संविधान की पाँचवीं और छठी अनुसूचियों के प्रभाव का अध्ययन करने तथा अनुसरण की जा रही नीतियों, कार्यक्रमों तथा योजनाओं के कार्यकरण की समीक्षा करने तथा जनजातीय लोगों की प्रभावी सामाजिक-आर्थिक प्रगति के लिए उसमें परिवर्तन करने के लिए सिफारिशें करने के उद्देश्य से श्री दिलीप सिंह भूरिया की अध्यक्षता में तथा 10 अन्य सदस्यों के द्वारा अनुसूचित क्षेत्र तथा अनुसूचित जनजाति आयोग का गठन।

(8) राष्ट्रीय अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति वित्त एवं विकास निगम को द्विभाजित करने के द्वारा राष्ट्रीय अनुसूचित जनजाति वित्त एवं विकास निगम (एन.एस.टी.एफ.डी.सी.) की स्थापना।

(9) भारत के संविधान के अनुच्छेद 275(1) के अन्तर्गत अनुदान की निर्मुक्ति और उपयोग के लिए दिशा-निर्देशों का संशोधन ताकि जनजातीय क्षेत्रों में अवसंरचना के विकास के लिए अधिक केन्द्रित ध्यान दिया जा सके।

(10) व्यापक प्रचार, जागरूकता तथा सूचना के प्रचार-प्रसार के लिए डीडी-1 पर "जनजातीय दर्पण" नामक साप्ताहिक कार्यक्रम शुरू करना।

(11) पात्र अनुसूचित जनजाति महिलाओं के 4% वार्षिक की काफी कम ब्याज दर पर वित्तीय सहायता उपलब्ध कराने के लिए राष्ट्रीय अनुसूचित जनजाति वित्त एवं विकास निगम द्वारा "आदिवासी महिला सशक्तिकरण योजना" नामक एक नई योजना की शुरुआत।

(12) अनुसूचित जनजाति के विद्यार्थियों को गुणवत्ता वाली शिक्षा प्रदान करने और उन्हें अखिल भारतीय प्रतियोगिताओं के लिए तैयार करने के लिए सभी "एकलव्य आदर्श आवासीय विद्यालयों" को सी.बी.एस.ई. के साथ सम्बद्ध करने के लिए पहल की गई है।

जनजातीय विकास के लिए कार्यनीति तथा कार्यक्रम

जनजातीय विकास कार्यनीति– ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

2.1 प्रथम पंचवर्षीय योजना में जनजातीय लोगों की समस्याओं को दूर करने के लिए एक स्पष्ट जनजातीय विकास कार्यनीति विकसित करने के स्थान पर सामुदायिक विकास दृष्टिकोण के माध्यम से अतिरिक्त वित्तीय संसाधन जुटाने पर जोर दिया गया। योजना के अंत तक (1954), 43 विशेष बहुउद्देश्यीय जनजातीय विकास परियोजनाएँ बनाई गईं। इन विशेष बहुउद्देश्यीय जनजातीय विकास परियोजनाओं से जनजातीय लोगों के हितों का ध्यान नहीं किया जा सका क्योंकि

इन योजनाओं की संख्या ज़्यादा थी। यही दृष्टिकोण द्वितीय पंचवर्षीय योजना के दौरान भी जारी रहा। तृतीय पंचवर्षीय योजना के दौरान, जनजातीय विकास के लिए एक अन्य कार्यनीति विकसित की गई जिसमें उन सामुदायिक विकास ब्लॉकों, जिनमें जनजातीय जनसंख्या की बहुलता 66% या उससे अधिक थी, को जनजातीय विकास ब्लॉकों में बदल दिया गया। चौथी पंचवर्षीय योजना के अन्त तक जनजातीय विकास ब्लॉकों की देश में संख्या 504 तक बढ़ गई। परन्तु यह कार्यनीति भी असफल मानी गयी क्योंकि इससे जनजातीय विकास ब्लॉकों के बाहर रहने वाली देश की 60% से ज्यादा जनसंख्या को फायदा नहीं पहुँचा।

विद्यमान कार्यनीति- जनजातीय उपयोजना

2.2 जनजातीय लोगों के त्वरित सामाजिक-आर्थिक विकास के लिए प्रो. एस.सी. दूबे की अध्यक्षता में शिक्षा और समाज कल्याण मंत्रालय द्वारा 1972 में गठित एक विशेषज्ञ समिति द्वारा जनजातीय उपयोजना कार्यनीति विकसित की गई जिसे पहली बार पाँचवीं पंचवर्षीय योजना में अपनाया गया और वह तब से जारी है। जनजातीय उपयोजना कार्यनीति की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :

(1) राज्य या संघ राज्य क्षेत्र की योजना परिधि के भीतर जनजातीय उपयोजना एक योजना है जो जनजातियों के कल्याण और विकास के लिए बनाई गई है। ऐसी योजना, राज्य या संघ राज्य क्षेत्र की समग्र योजना का एक भाग है और इसलिए इसे उपयोजना कहा जाता है। जनजातीय उपयोजना से जनजातियों तथा किसी राज्य या किसी संघ राज्य क्षेत्र के जनजातीय क्षेत्रों को जो लाभ मिलते हैं वे किसी राज्य/संघ राज्य क्षेत्र की समग्र योजना से मिलने वाले लाभों के अलावा हैं।

(2) जनजातीय उपयोजना कार्यनीति 21 राज्यों और 2 संघ राज्य क्षेत्रों में चल रही है। अरुणाचल प्रदेश, मेघालय, मिजोरम और नागालैण्ड जैसे राज्यों में जनजातीय उपयोजना की अवधारणा लागू नहीं होती क्योंकि इन राज्यों में जनजातीय जनसंख्या यहाँ की कुल जनसंख्या के 80% से अधिक है।

(3) उपयोजना से :

(क) जनजातीय उपयोजना क्षेत्रों के लिए संसाधनों की पहचान करती है;

(ख) विकास के लिए मोटे तौर पर नीति ढाँचा तैयार करती है; तथा

(ग) इसके कार्यान्वयन के लिए उपर्युक्त प्रशासनिक कार्यनीति को परिभाषित करती है।

(4) इस कार्यनीति का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण पहलू जनजातीय उपयोजना क्षेत्रों के लिए कम से कम राज्य और संघ राज्य क्षेत्र की जनजातीय आबादी के बराबर के अनुपात में निधियों के प्रवाह को सुनिश्चित करना है।

(5) राज्यों के विभिन्न विभागों/क्षेत्रों के जनजातीय उपयोजना घटक के रूप में धनराशि के आवंटन के संबंध में मंत्रालय की हाल ही की पहल राज्य के जनजातीय विकास विभाग के बजट में एक अलग माँग शीर्ष में राज्य की जनजातीय उपयोजना धनराशि को रखना है।

अनुच्छेद 275(1) के अंतर्गत कुल आवंटन के 10% के बराबर की राशि को निर्धारित किया जाना है और जनजातीय उपयोजना को अपनाने के लिए संस्थागत ढाँचे में परिवर्तनों को लाने के लिए एक साधन के रूप में उपयोग में लाया जाता है और उसे केवल उन राज्यों में आवंटित किया जाना है, जो पूर्ववर्ती वर्ष में कार्यान्वयन एजेन्सियों को राज्य के जनजातीय विकास विभाग के बजट शीर्ष के माध्यम से अनुमोदित जनजातीय उपयोजना निधियों का कम से कम 75% से अधिक राशि वास्तविक रूप से निर्मुक्त करते हैं। जनजाति बहुल राज्यों के मामले में मंत्रालय की केन्द्रीय क्षेत्र योजनाओं के अंतर्गत निर्मुक्त अनुदानों में 75% का उपयोग नवीन परियोजनाओं पर विचार करने योग्य बनाएगा।

जनजातीय विकास कार्यक्रमों का वित्त पोषण

2.3 जनजातीय विकास के लिए निधियाँ निम्नलिखित स्रोतों से आती हैं :

1. राज्य योजना,
2. विशेष केन्द्रीय सहायता,
3. केन्द्रीय मंत्रालयों/विभागों के क्षेत्रवार कार्यक्रम, तथा
4. संस्थागत वित्त।

2.4 राज्य सरकारों से राज्य योजना से जनजातीय क्षेत्र विकास के उस राज्य की जनजातीय जनसंख्या की प्रतिशतता के अनुपात में निधियों को निर्धारित करने की अपेक्षा की जाती है। इसी तरह से केन्द्रीय मंत्रालयों को चाहिए कि वे जनजातीय विकास के लिए देश की जनजातीय जनसंख्या के अनुपात में क्षेत्रीय कार्यक्रमों से निधि निर्धारित करें। इन निधियों का जनजातीय क्षेत्रों में विकास कार्यक्रमों के कार्यान्वयन पर उपयोग खासतौर पर शिक्षा, स्वास्थ्य, कृषि, बागवानी, लघु उद्योगों, कारीगरी व अन्य आय सृजक कार्यक्रमों के क्षेत्रों में उपयोग किया जाना है।

जनजातीय उपयोजना को राज्य योजना से धनराशि का प्रवाह

2.5 दिशा-निर्देशों के अनुसार कुल राज्य योजना में से जनजातीय उपयोजना को निधियों का प्रवाह संबंधित राज्य में अनुसूचित जनजाति जनसंख्या के अनुपात से कम नहीं होना चाहिए। पाँचवीं पंचवर्षीय योजना से ही इस दृष्टिकोण को अपनाने के पश्चात् जनजातीय उपयोजना क्षेत्रों को निधि-प्रवाह में काफी वृद्धि हुई है। जनजातीय उपयोजना व्यय जो चौथी पंचवर्षीय योजना के दौरान घटकर 0.51% हो गया था वह आठवीं पंचवर्षीय योजना के दौरान बढ़कर 9.47% तक हो गया और वह नौवीं योजना अवधि के प्रथम चार वर्षों के लिए 7.73% रहा है।

केन्द्रीय मंत्रालयों का जनजातीय उपयोजना घटक

2.6 जनजातीय उपयोजना कार्यनीति सभी केन्द्रीय मंत्रालयों/विभागों से पर्याप्त निधियों के प्रवाह को सुनिश्चित करने का प्रयास करती है। योजना आयोग तथा इस मंत्रालय ने सभी केन्द्रीय मंत्रालयों तथा विभागों से देश में जनजातियों की जनसंख्या प्रतिशतता के अनुसार अपनी वार्षिक योजनाओं से धनराशि निर्धारित करने का अनुरोध किया है। जनजातीय उपयोजना क्षेत्रों के लिए

17 मंत्रालयों द्वारा निधियों के आवंटन के संबंध में उपलब्ध ब्यौरा नीचे दिया गया है :

क्र.सं.	मंत्रालय/विभाग*	कुल परिव्यय	जनजातीय उपयोजना को प्रवाह	प्रतिशतता
1.	सामाजिक न्याय एवं अधिकारिता मंत्रालय	307.00	21.49	7.00
2.	दूरसंचार विभाग	लागू नहीं	100.00	– –
3.	डाक विभाग	लागू नहीं	4.5	– –
4.	ग्रामीण विकास मंत्रालय	13909.50	लागू नहीं	– –
5.	पेयजल आपूर्ति (ग्रामीण विकास मंत्रालय) (अ.जा. तथा अ.ज.जा.)	2639.00	लागू नहीं	– –
6.	वस्त्र मंत्रालय	736.00	लागू नहीं	– –
7.	अपारंपरिक ऊर्जा स्रोत मंत्रालय	8000.00	8.00	0.1
8.	विज्ञान और प्रौद्योगिकी मंत्रालय	लागू नहीं	2.00	– –
9.	महिला और बाल विकास विभाग	2200.00	306.30	13.92
10.	सांस्कृतिक विभाग	49.00	14.16	28.90
11.	कृषि मंत्रालय	2187.00	लागू नहीं	– –
12.	लघु उद्योग तथा ग्रामोद्योग मंत्रालय	930.00	48.05	5.17
13.	विद्युत मंत्रालय (कुटीर ज्योति योजना)	लागू नहीं	48.05	– –
14.	मानव संसाधन विकास मंत्रालय, शिक्षा विभाग	7025.00	526.88	7.50
15.	युवा कार्यक्रम तथा खेल मंत्रालय	285.0	6.00	2.11
16.	कोयला मंत्रालय	लागू नहीं	6.00	– –
17.	स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय	लागू नहीं	27.0	– –

* जनजातीय कार्य मंत्रालय के पास अन्य मंत्रालयों के बारे में सूचना उपलब्ध नहीं है।

2.7 अनेक विभागों/मंत्रालयों ने जनजातीय उपयोजना को निधि-प्रवाह के लिए निर्धारित पैरामीटरों के अंतर्गत जनजातीय उपयोजना के लिए अपने विशिष्ट कार्यकलापों के कारण अपने योजना परिव्ययों के पृथक्करण में कठिनाई की सूचना दी है।

नौवीं योजना के दौरान जनजातीय विकास

2.8 मंत्रालय ने नौवीं योजना अवधि के दौरान विभिन्न जनजातीय विकास कार्यक्रम

कार्यान्वित किये और 3632.4 करोड़ रुपये के बजट अनुमान की तुलना में 3387.41 करोड़ रुपये का व्यय किया। 2746.63 करोड़ रुपये (81.09%) का प्रमुख व्यय राज्य सरकारों को जनजातीय उपयोजना को विशेष केन्द्रीय सहायता तथा संविधान के अनुच्छेद 275(1) के अन्तर्गत अनुदानों के रूप में सहायता अनुदान की निर्मुक्ति स्वरूप था।

महिला और बाल विकास

2.9 मंत्रालय के कार्यक्रम और योजनाएँ लिंग भेद के बगैर मुख्यतः जनजातियों के रहन-सहन के स्तर में सुधार, शिक्षा, स्वास्थ्य देखभाल तथा प्रतिभा उन्नयन कार्यों पर केन्द्रित हैं। फिर भी मंत्रालय जनजातीय महिलाओं में निरक्षरता के अति उच्च स्तरों को देखते हुए जनजातीय क्षेत्रों में, महिलाओं के कम साक्षरता वाले पॉकेटों में, केवल लड़कियों के लिए शैक्षिक परिसरों की एक योजना को कार्यान्वित कर रहा है। इस योजना के माध्यम से जनजातीय लड़कियों को शिक्षित करने के लिए शिक्षा परिसर तथा देश में 136 जिलों में जहाँ 1991 की जनगणना के अनुसार महिलाओं में साक्षरता दर 10% से कम है, व्यावसायिक प्रशिक्षण भी चलाए जाते हैं। इसके अलावा, जनजातीय लड़कियों की शिक्षा को बढ़ावा देने के लिए लड़कियों के छात्रावासों की योजना को भी क्रियान्वित किया जा रहा है। मंत्रालय आश्रम स्कूल, आवासीय और गैर-आवासीय स्कूल, अस्पताल, सचल औषधालय तथा अन्न बैंकों की विभिन्न योजनाएँ भी क्रियान्वित कर रहा है ताकि राज्य सरकारों के अभिकरणों और स्वैच्छिक संगठनों के जरिए शिक्षा, स्वास्थ्य सेवाओं, खाद्य सुरक्षा तथा रोजगार आदि में सुधार किया जा सके और जिसमें महिला लाभभोगियों पर खास जोर दे दिया जाए। इसके अतिरिक्त, भारत के संविधान के अनुच्छेद 275(1) के अन्तर्गत अनुदान की निर्मुक्ति और उपयोग के लिए दिशा-निर्देशों में यह प्रावधान है कि महिलाओं को ठीक आयोजना से लेकर कार्यान्वयन के स्तर तक शामिल करने सहित महिलाओं को प्रभावित करने वाले मामलों/मुद्दों को परियोजनाओं/योजनाओं को तैयार करने में केन्द्रीय स्थान देना चाहिए। परियोजना को इस प्रकार योजनाबद्ध किया जाता है कि पर्याप्त लाभ अनुपात में कम से कम 30% महिलाओं के लिए लक्षित किया जाए। जनजातीय उपयोजना को विशेष केन्द्रीय सहायता के अंतर्गत अनुदान की निर्मुक्ति और उपयोग के लिए जिन प्रस्तावित दिशा-निर्देशों पर योजना आयोग का अनुमोदन अभी प्राप्त होना है उनमें भी महिलाओं पर मुख्य ध्यान देने के प्रावधान हैं।

मंत्रालय की योजनाएँ तथा कार्यक्रम

2.10 जनजातीय कार्य मंत्रालय द्वारा अनुसूचित जनजातियों के विकास और कल्याण के लिए कार्यान्वित प्रमुख कार्यक्रमों को निम्नलिखित दो श्रेणियों में श्रेणीबद्ध किया जा सकता है :

1. संरचना विकास तथा रोजगार सृजन
2. शिक्षा व व्यावसायिक प्रशिक्षण
3. उचित मूल्य सुनिश्चित करना
4. अनुसंधान एवं प्रशिक्षण
5. भुखमरी की रोकथाम और विपदा न्यूनीकरण

2.11 आदिवासी उपयोजना हेतु विशेष केन्द्रीय सहायता (केन्द्रीय क्षेत्र योजना)

आदिवासी उपयोजना अनुसूचित जनजातियों के कल्याण एवं विकास के संवैधानिक उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए मुख्य साधन है जो 194 एकीकृत आदिवासी विकास परियोजनाओं (आई.टी.डी.पी.), 259 संशोधित क्षेत्र विकास दृष्टिकोण (माडा) के पॉकेटों और 23 आदिवासी उपयोजना राज्य/संघ राज्य क्षेत्रों में 82 क्लस्टरों के माध्यम से कार्यान्वित की जा रही है।

आदिवासी उपयोजना के लिए विशेष केन्द्रीय सहायता निधि प्रवाह का एक महत्त्वपूर्ण अंग है जो राज्यों को एक निर्धारित मानदंड के आधार पर उपलब्ध कराया जाता है। आईटीडीपी, माडा पॉकेटों, क्लस्टरों आदिम जनजातीय समूहों और बिखरे हुए जनजातीय समूहों को विशेष केन्द्रीय सहायता कुछ निर्धारित मानदंडों के आधार पर आवंटित की जाती है। विशेष केन्द्रीय सहायता का 10% अंश बिखरे जनजातीय समूहों के लिए अलग रखा जाता है। शेष राशि आईटीडीपी, माडा पॉकेटों, क्लस्टरों आदिम जनजातीय समूहों का अनुसूचित जनजातीय जनसंख्या, भौगोलिक क्षेत्र और प्रति व्यक्ति नेट स्टेट डोमेस्टिक प्रोडक्ट (एनएसडीपी) के विपरीत अनुपात के आधार पर आवंटित की जाती है। विशेष केन्द्रीय सहायता (एससीए) जनजातीय कार्य मंत्रालय द्वारा उत्तर-पूर्वी राज्य असम, त्रिपुरा और मणिपुर, 20 आदिवासी उपयोजना राज्यों/संघ शासित क्षेत्र प्रशासनों को दी जाती है जो उनके परिव्ययों के अन्तर को पूरा करने के लिए संयोजी राशि है। ये अनुदान मुख्यतः परिवार उन्मुख आयजनित योजनाओं के लिए हैं जिसमें कृषि, बागवानी, लघु सिंचाई, भू-संरक्षण, पशुपालन, वन, शिक्षा, सहकारिता, मछली पालन, ग्रामीण एवं लघु उद्योग क्षेत्र और न्यूनतम आवश्यक कार्यक्रम शामिल हैं। विशेष केन्द्रीय सहायता का उपयोग आदिवासी उपयोजना को दी गई धनराशि के साथ किया जाना है ताकि उस अंतर को पूरा किया जा सके जिनका राज्य योजना द्वारा अन्यथा ध्यान नहीं रखा गया हो।

2.12 संविधान के अनुच्छेद 275(1) के प्रथम परंतुक के अन्तर्गत अनुदान : जनजातीय कार्य मंत्रालय द्वारा संविधान के अनुच्छेद 275(1) के प्रथम परंतुक के अन्तर्गत 21 जनजातीय उपयोजना और 4 जनजातीय बहुल राज्यों को, जनजातीय विकास की उन परियोजनाओं की लागत को पूरा करने के लिए अनुदान दिया जाता है जिन्हें राज्य सरकारें अनुसूचित क्षेत्रों के प्रशासन के स्तर को शेष राज्य के स्तर तक ऊँचा उठाने के लिए आरम्भ करती हैं। वर्ष 1997-98 से संविधान के अनुच्छेद 275(1) के अन्तर्गत धनराशि के एक भाग का उपयोग कक्षा 6 से 10 तक वाले 100 आवासीय स्कूलों (जिनका नाम एकलव्य विद्यालय है) की स्थापना राज्यों/संघ राज्य क्षेत्रों में जनजातीय विद्यार्थियों के लिए करने का निर्णय किया गया है। इस उद्देश्य के लिए संविधान के अनुच्छेद 275(1) के अंतर्गत उपलब्ध निधियों में से 9वीं पंचवर्षीय योजना के दौरान 150.00 करोड़ रुपए की राशि निर्धारित की गई। एकलव्य विद्यालयों की स्थापना करने का उद्देश्य जनजातीय विद्यार्थियों को गुणवत्ता वाली शिक्षा प्रदान करना है।

2.13 अनुसूचित जनजातियों के लिए लड़कियों के छात्रावास (केन्द्रीय प्रायोजित योजना) : लड़कियों के छात्रावासों की योजना अनुसूचित जनजातियों की लड़कियों में शिक्षा का प्रसार करने के लिए एक लाभदायक तंत्र है। इस योजना के अन्तर्गत नये छात्रावास

भवनों के निर्माण तथा विद्यमान छात्रावासों के विस्तार के लिए राज्यों/संघ राज्य क्षेत्रों को केन्द्रीय सहायता प्रदान की जाती है। यह एक केन्द्रीय प्रायोजित योजना है, जहाँ छात्रावासों, भवनों और/या मौजूदा छात्रावासों के विस्तार के निर्माण की लागत को केन्द्र और राज्य के बीच 50:50 के अनुपात में बराबर-बराबर वहन किया जाता है। संघ राज्य क्षेत्रों के मामले में, भवन की पूरी लागत केन्द्रीय सरकार द्वारा वहन की जाती है। छात्रावास के रख-रखाव की जिम्मेदारी संबंधित राज्यों/संघ राज्य क्षेत्रों की होती है।

2.14 अनुसूचित जनजातियों के लड़कों के छात्रावास (केन्द्रीय प्रायोजित योजना) : इस योजना के उद्देश्य, शर्तें तथा सहायता की पद्धति वही है जो लड़कियों के छात्रावास की योजना की है।

2.15 जनजातीय उपयोजना क्षेत्रों में आश्रम स्कूलों की स्थापना (केन्द्रीय प्रायोजित योजना) : पढ़ाई करने के लिए अनुकूल वातावरण में अनुसूचित जनजातियों के लिए आवासीय स्कूलों जैसी शैक्षिक सुविधाएँ देने के उद्देश्य से आश्रम स्कूल की योजना वर्ष 1990-91 में शुरू की गई। इस योजना के लिए राज्यों के साथ वित्त-पोषण समान (50:50) के आधार पर किया जाता है जबकि संघ राज्य क्षेत्रों को शत-प्रतिशत सहायता दी जाती है। केन्द्रीय सहायता मुख्य रूप से आश्रम स्कूल भवनों, छात्रावासों तथा स्टाफ क्वार्टरों के लिए होती है। अनुरक्षण का खर्च संबंधित राज्य/संघ राज्य क्षेत्र द्वारा वहन किया जाता है। योजना में प्राइमरी, सेकेण्डरी और सीनियर सेकेण्डरी स्तर की शिक्षा देना शामिल है।

2.16 अनुसूचित जनजातियों के कल्याण के कार्य में लगे स्वैच्छिक संगठनों को सहायता अनुदान (केन्द्रीय क्षेत्र योजना) : इस योजना को 1953-54 में शुरू किया गया था। अनुसूचित जनजातियों के कल्याण के लिए कार्य कर रहे स्वैच्छिक संगठनों के माध्यम से जनजातीय कार्य मंत्रालय द्वारा 700 से अधिक परियोजनाएँ क्रियान्वित की जा रही हैं। इस योजना के अन्तर्गत उन विभिन्न प्रकार की परियोजनाओं पर विचार किया जाता है जो अनुसूचित जनजातियों के लिए सीधे लाभ वाली हैं। परियोजनाओं में आवासीय स्कूल, छात्रावास, सचल औषधालय, कम्प्यूटर प्रशिक्षण इकाइयाँ, आशुलिपि तथा टंकण प्रशिक्षण इकाइयाँ, बालवाड़ियाँ/क्रेच (आई.सी.डी.एस. कार्यक्रम द्वारा शामिल किये गये क्षेत्रों में), पुस्तकालय और अनुसूचित जनजाति के कल्याण से सम्बद्ध महत्त्वपूर्ण सूचना प्रचार-प्रसार करने के लिए दृश्य एवं श्रव्य इकाइयाँ शामिल हैं। आमतौर पर अनुदान परियोजनाओं की कुल अनुमोदित लागत के 90% तक प्रतिबंधित किए जाते हैं। शेष 10% की धनराशि स्वैच्छिक संगठनों द्वारा वहन की जाती है।

अनुसंधान एवं प्रशिक्षण

2.17.1 जनजातीय अनुसंधान संस्थान को अनुदान (केन्द्रीय प्रायोजित योजना) : जनजातीय अनुसंधान संस्थान 14 राज्यों में स्थापित किए गए हैं। ये संस्थान जनजातियों से संबंधित विभिन्न विषयों पर अनुसंधान और मूल्यांकन अध्ययन, विचार-गोष्ठियाँ, कार्यशालाएँ आयोजित करने के कार्य में लगे हैं तथा राज्य सरकार के अधिकारियों को प्रशिक्षण व दिशा-निर्देश देते हैं तथा जनजातीय उपयोजना तैयार करने के लिए राज्य सरकारों को सहायता करते हैं।

अधिकांश संस्थानों में जनजातीय लोगों द्वारा बनाई गई वस्तुओं के प्रदर्शन के लिए जनजातीय संग्रहालय भी हैं। इस योजना के अंतर्गत राज्यों को 50:50 के आधार पर अनुदान दिये जाते हैं ताकि इन संस्थानों को चलाया जा सके व उनका अनुरक्षण किया जा सके।

2.17.2 अखिल भारतीय अथवा अंतर्राज्यीय स्वरूप की सहायक परियोजनाएँ (अनुसूचित जनजाति) : इस योजना का संबंध अनुसंधान और मूल्यांकन परियोजनाओं को अनुदान देने से है। अनुसूचित जनजातियों से संबंधित मामलों के विभिन्न पहलुओं के बारे में अनुसंधान करने और उनका मूल्यांकन करने वाले गैर सरकारी संगठनों, सरकारी संस्थानों और विश्वविद्यालयों को 8-12 महीने की अवधि के लिए प्रति परियोजना 2.50 लाख रुपये का अनुदान दिया जाता है।

(1) जनजातीय विकास के विभिन्न पहलुओं में रिसर्च फैलोशिप अवार्ड (डाक्टोरल/पोस्ट डाक्टोरल फैलोशिप)

(2) जो विद्यार्थी/स्कालर जनजातीय विकास कार्यक्रमों/समस्याओं पर काम करने के लिए विश्वविद्यालय के साथ पंजीकृत हैं, उन्हें रिसर्च-फैलोशिप के लिए 100% के आधार पर अनुदान दिया जाता है। डाक्टोरल और पोस्ट डाक्टोरल पाठ्यक्रमों के लिए फैलोशिप की दरें क्रमशः 2800/- रुपये और 3200/- रुपये प्रतिमाह हैं। इसके अलावा, 10,000/- रुपये का वार्षिक आकस्मिकता अनुदान भी दिया जाता है।

2.18 ट्राइफेड को अंशपूँजी योगदान : भारतीय सहकारी विपणन विकास परिसंघ लिमिटेड (ट्राइफेड) की स्थापना भारत सरकार द्वारा वर्ष 1987 में अनुसूचित जनजातियों के समुदायों को उनके लघु वन उत्पादों और अतिरिक्त कृषि उत्पादों के लिए विपणन में सहायता तथा लाभकारी मूल्य देने तथा शोषण करने वाले प्राइवेट व्यापारियों और बिचौलियों से उन्हें दूर रखने के मुख्य उद्देश्य से की गई है। ट्राइफेड की प्राधिकृत अंशपूंजी 100.00 करोड़ रुपये है और प्रदत्त पूँजी 99.73 करोड़ रुपये तक पहुँच चुकी है जिसमें से भारत सरकार का अंशदान 99.50 करोड़ रुपये है।

2.19 ट्राइफेड को मूल्य समर्थन : लघु वन उत्पादों और अतिरिक्त कृषि उत्पादों की कीमतों में उतार-चढ़ाव आते रहते हैं। मूल्यों में इस प्रकार के उतार चढ़ावों के कारण होने वाले नुकसान को पूरा करने तथा जनजातीय किसानों को उनके उत्पादों का लाभकारी मूल्य सुनिश्चित करने के लिए मंत्रालय ऐसे नुकसानों की भरपाई करने हेतु ट्राइफेड को केन्द्रीय सहायता प्रदान करता है।

2.20 राज्य जनजातीय विकास सहकारी निगमों को लघु वन उत्पादों के लिए सहायता अनुदान : जनजातियों के लिए लघु वन उत्पाद अथवा गैर-इमारती वन उत्पाद जीविका का महत्त्वपूर्ण स्रोत हैं। लघु वन उत्पाद मदों के कारोबार के लिए अधिकांश राज्यों ने जनजातीय विकास सहकारी निगमों, लघु वन उत्पाद व्यापार और विकास संघों अथवा वन विकास निगम का गठन किया है। (1) इस योजना के अन्तर्गत दिए गए अनुदानों का उपयोग राज्यों द्वारा जनजातीय विकास सहकारी निगमों के अंशपूँजी आधार को लघु वन उत्पादों की खरीद की मात्रा में वृद्धि करने

के लिए मजबूत करने, (2) वैज्ञानिक भंडारों का निर्माण, (3) लघु वन उत्पाद मदों की कीमतों को बढ़ाने के लिए प्रसंस्करण उद्योगों की स्थापना, तथा (4) निगम द्वारा अनुसंधान और विकास संबंधी कार्यकलापों के लिए किया जाता है।

2.21 जनजातीय क्षेत्रों में अनुसूचित जनजाति की लड़कियों के लिए कम साक्षरता वाले पॉकेटों में शैक्षिक परिसर (केन्द्रीय क्षेत्र परियोजना) : 10% से कम साक्षरता वाले जिलों में, अनुसूचित जनजाति की महिलाओं की साक्षरता में सुधार लाने के लिए इस योजना को 1993-94 में शुरू किया गया। इस योजना को गैर-सरकारी संगठनों या सरकार द्वारा स्वायत्त निकायों के रूप में स्थापित संस्थानों/शैक्षिक तथा अन्य संस्थाओं जैसे स्थानीय निकायों, सहकारी सोसायटियों के माध्यम से क्रियान्वित किया जाता है। इस योजना के अधीन 11 राज्यों में कुल 136 जिलों को शामिल किया गया है। शैक्षिक परिसरों को चलाने के लिए जनजातीय कार्य मंत्रालय पूरी सहायता प्रदान करता है। परिसर 1 से 5 तक की कक्षाओं में पढ़ने वाली लड़कियों के लिए होता है और प्रत्येक कक्षा में 30 लड़कियाँ होती हैं तथा इनमें शिल्प/व्यावसायिक प्रशिक्षण की व्यवस्था भी होती है। विद्यार्थियों के लिए खाना व रहना मुफ्त होता है। प्रत्येक विद्यार्थी को प्रतिवर्ष वर्दी के दो सेट देने, बच्चों की आवधिक मुफ्त चिकित्सा जाँच करने तथा लड़कियों के माता-पिता के लिए सायं प्रौढ़ शिक्षा देने का प्रावधान है। इन शैक्षिक परिसरों में अपनी लड़कियों को भेजने के लिए माता-पिता को 50/- प्रति छात्र प्रतिमाह प्रोत्साहन के रूप में दिया जाता है।

2.2 जनजातीय क्षेत्रों में व्यावसायिक प्रशिक्षण (केन्द्रीय क्षेत्र योजना) : इस योजना का मुख्य प्रयोजन जनजातीय युवाओं के कौशल का विकास करना है ताकि उन्हें रोजगार/स्वरोजगार के अवसर उपलब्ध हो सकें। इस योजना को राज्य सरकारों/संघ राज्य क्षेत्र प्रशासनों, स्वायत्त निकाय के रूप में स्थापित संस्थानों अथवा संगठनों, शैक्षिक और अन्य संस्थाओं जैसे स्थानीय निकायों, सहकारी समितियों और गैर-सरकारी संगठनों के माध्यम से क्रियान्वित किया जाता है। क्षेत्र में रोजगार की संभावनाओं को देखते हुए प्रत्येक केन्द्र में पारंपरिक कौशलों में पाँच व्यावसायिक पाठ्यक्रम चलाए जाते हैं। जनजातीय लड़के/लड़कियों को उनकी रुचि के दो पाठ्यक्रमों का प्रशिक्षण दिया जाता है और प्रत्येक प्रशिक्षण तीन महीने की अवधि का होता है। छह महीने की अवधि के अंत में प्रत्येक प्रशिक्षु को अर्ध-शहरी/शहरी क्षेत्र में छह महीने की अवधि के लिए मास्टर क्राफ्टमैन के साथ लगाया जाएगा ताकि व्यावहारिक अनुभव द्वारा वे अपने कौशल को सीख सकें। प्रशिक्षुओं के लिए मासिक स्टाइपेंड और कच्चे माल के लिए अनुदान का प्रावधान है।

2.23 ग्राम अन्न बैंक (केन्द्रीय क्षेत्र योजना) : सुदूर एवं पिछड़े जनजातीय गाँवों में बच्चों की मौतों को रोकने के लिए और साथ ही पोषाहार संबंधी मानकों में सुधार लाने के लिए सरकारी प्रयासों के भाग के रूप में 1996-97 में ग्राम अन्न योजना शुरू की गई है। जनजातीय कार्य मंत्रालय द्वारा, माध्यम एजेन्सी के रूप में ट्राइफेड के जरिए जनजातीय क्षेत्रों में प्रति परिवार एक क्विंटल अनाज की खरीद के लिए, भंडारण सुविधा के निर्माण के लिए तथा माप-तोल की खरीद के लिए एकमुश्त अनुदान उपलब्ध कराया जाता है। अन्न बैंकों को चलाने का प्रबन्ध ग्राम

समिति द्वारा किया जाता है जिसका चयन लाभभोगियों द्वारा किया जाता है जो बैंक के सदस्य होने के नाते, मंदी के समय अन्न बैंक से अन्न ले सकते हैं और मामूली ब्याज के साथ बाद में उसे चुकता कर सकते हैं। इस योजना के स्थान पर एक नई तथा अधिक व्यापक योजना विचाराधीन है।

2.24 आदिम जनजातीय समूहों का विकास (केन्द्रीय क्षेत्र योजना) : कतिपय ऐसे जनजातीय समुदाय हैं जिनमें साक्षरता का स्तर बहुत कम है, आबादी स्थिर है अथवा घट रही है, जो कृषि पूर्व की प्रौद्योगिकी का प्रयोग करते हैं और आर्थिक रूप से पिछड़े हैं। ऐसे 75 समूहों का पता चला है और उन्हें आदिम जनजातीय समूहों की श्रेणी में रखा गया है। उनकी समस्याएँ और जरूरतें दूसरे अनुसूचित जनजातीय लोगों से भिन्न हैं। चूँकि आदिम जनजातीय समूह, अनुसूचित जनजातियों में अत्यधिक असुरक्षित श्रेणी में आते हैं अतः उनकी सुरक्षा और विकास के लिए प्राथमिकता देने की आवश्यकता है। इस योजना को 1998-99 में शुरू किया गया है।

इस योजना के अन्तर्गत उन मदों/कार्यकलापों के लिए धनराशि उपलब्ध कराई जाती है जो हालांकि आदिम जनजातीय समूहों के जीवित रहने, संरक्षण तथा विकास के लिए महत्त्वपूर्ण हैं फिर भी किसी वर्तमान योजना में इन्हें शामिल नहीं किया गया है।

2.25 अनुसूचित जनजातीय छात्रों के लिए मैट्रिकोत्तर छात्रवृत्ति (केन्द्रीय प्रायोजित योजना) : इस योजना का प्रयोजन अनुसूचित जनजातियों के उन छात्रों को वित्तीय सहायता प्रदान करना है जो मान्यता प्राप्त संस्थानों में मान्यता प्राप्त मैट्रिकोत्तर पाठ्यक्रमों में पढ़ाई कर रहे हैं। इस योजना में विभिन्न स्तरों के व्यावसायिक, तकनीकी तथा अव्यावसायिक व अतकनीकी पाठ्यक्रमों को शामिल किया गया है। इसमें पत्राचार पाठ्यक्रम तथा सुदूरवर्ती और अविच्छिन्न शिक्षा भी शामिल है। इस योजना को राज्य सरकारें तथा संघ राज्य क्षेत्र प्रशासन क्रियान्वन करते हैं और वे प्रतिबद्ध देयता, जिसे उन्हें अपने स्वयं के बजटीय प्रावधानों में से वहन करनी होती है, के अतिरिक्त 100% केन्द्रीय सहायता प्राप्त करते हैं। प्रतिबद्ध देयता की राशि पिछली योजना अवधि के अंतिम वर्ष में हुए व्यय के बराबर होती है। तदनुसार 9वीं पंचवर्षीय योजना अवधि के अंतिम वर्ष अर्थात् 2001-2002 में किया गया व्यय राज्यों/संघ राज्य क्षेत्रों की प्रतिबद्ध देयता बन गया है जिसे उनके द्वारा 10वीं पंचवर्षीय योजना के प्रत्येक वर्ष के दौरान वहन किया जाना अपेक्षित है। उत्तर-पूर्वी राज्यों की प्रतिबद्ध देयता की अपेक्षा को वर्ष 1997-98 से समाप्त कर दिया गया है। यह योजना 1944-45 से चल रही है। विद्यमान छात्रवृत्ति में, अनुरक्षण भत्ता, दृष्टि विकलांग विद्यार्थियों के लिए रीडर प्रभार, अध्ययन यात्रा प्रभार, शोध प्रबन्ध को टाइप कराने/छपवाने के प्रभार, पत्राचार पाठ्यक्रमों में अध्ययन करने वाले छात्रों को पुस्तक भत्ता तथा शैक्षिक संस्थानों द्वारा ली जाने वाली अनिवार्य रूप से वापस न की जाने वाली फीस शामिल है।

2.26 अनुसूचित जनजातियों के लिए राष्ट्रीय समुद्रपारीय छात्रवृत्ति योजना (गैर योजना) : इस योजना के अन्तर्गत अनुसूचित जनजातियों, अन-अधिसूचित, यायावर और अर्द्ध यायावर जनजातियों के मेधावी छात्रों को विशिष्ट क्षेत्रों में, मास्टर स्तर के पाठ्यक्रम, पी-एच.डी. और पोस्ट डाक्टोरल अनुसंधान कार्यक्रमों, इंजीनियरी, प्रौद्योगिकी और विज्ञान के क्षेत्रों में विदेश में उच्च अध्ययन करने के लिए वित्तीय सहायता प्रदान की जाती है। चुने गए उम्मीदवारों को ट्यूशन और शिक्षा संबंधी अन्य फीस, जो विदेशी विश्वविद्यालय इत्यादि द्वारा वसूल की जाती

है की लागत, अनुरक्षण और यात्रा व्ययों सहित अन्य अनुदान दिए जाते हैं। विदेशों में स्नातकोत्तर अध्ययन, अनुसंधान या प्रशिक्षण प्राप्त करने (विचार गोष्ठियों, कार्यशालाओं, सम्मेलनों में भाग लेने वालों को छोड़कर) के लिए विदेशी सरकार/संगठन से योग्यता छात्रवृत्ति लेते हैं या अन्य किसी योजना के अधीन जिसमें यात्रा व्यय की लागत नहीं मिलती है, वे इस योजना के अधीन यात्रा अनुदान का लाभ उठा सकते हैं। वर्तमान में मंत्रालय द्वारा इस योजना को जारी रखने के बारे में अनुमोदन प्राप्त होने तक कोई नई छात्रवृत्तियाँ नहीं दी जा रही हैं। यह योजना 2000-01 के दौरान समाप्त हो गई है।

2.27 संविधान के अनुच्छेद 275(1) के द्वितीय परंतुक के अंतर्गत अनुदान (गैर योजना) : उत्तरी कछार और कार्बी अगलांग के पहाड़ी जिलों में जनजातीय क्षेत्रों के प्रशासन के संबंध में असम सरकार को नियत अनुदान दिया जाता है।

2.28 अनुसूचित जनजातियों के लिए कोचिंग व सम्बद्ध योजना : इस योजना के अंतर्गत अखिल भारतीय स्वरूप की भर्ती की विभिन्न प्रतियोगी परीक्षाओं में मुकाबला करने में सहायता देने के लिए अनुसूचित जनजाति के छात्रों को परीक्षा-पूर्व प्रशिक्षण केन्द्रों के माध्यम से, मुफ्त कोचिंग सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं। अनुसूचित जनजातियों के लिए राज्य सरकारों/विश्वविद्यालयों/प्राइवेट कोचिंग संस्थानों द्वारा चलाए जाने वाले वे परीक्षा-पूर्व प्रशिक्षण पाठ्यक्रम योजना के अन्तर्गत सहायता प्राप्त करने के पात्र हैं। इस योजना में परीक्षा-पूर्व प्रशिक्षण केन्द्रों में कोचिंग लेने के लिए बाहरी छात्रों को 500/- रुपए प्रतिमाह तथा स्थानीय छात्रों को 150/- रुपए प्रतिमाह वजीफा देने का प्रावधान है।

2.29 जनजातीय छात्रों की प्रतिभा उन्नयन (केन्द्र क्षेत्र योजना) : इस योजना का प्रयोजन 9 से 12 तक की कक्षाओं में उपचारी व विशेष कोचिंग देकर जनजातीय छात्रों की प्रतिभा को बढ़ाना है। जबकि उपचारी कोचिंग का उद्देश्य विभिन्न कमियों को दूर करना है, विशेष कोचिंग देने का मकसद छात्रों को प्रतियोगी परीक्षाओं के लिए तैयार करना है ताकि वे इंजीनियरी और डाक्टरी जैसे व्यावसायिक पाठ्यक्रमों में प्रवेश प्राप्त कर सकें। योजना में राज्यों/संघ राज्य क्षेत्रों को 100% केन्द्रीय सहायता देने का प्रावधान है। प्रति छात्र प्रतिवर्ष 15000/- रुपये का एकमुश्त अनुदान देने का प्रावधान है और राज्यों/संघ राज्य क्षेत्रों को कोई वित्तीय बोझ नहीं उठाना पड़ता है।

2.30 अनुसूचित जनजातीय छात्रों के लिए पुस्तक बैंक (केन्द्रीय प्रायोजित योजना) : इस योजना का उद्देश्य पात्र डाक्टरी, इंजीनियरी, कृषि, पशु चिकित्सा, पॉलिटेक्निक, विधि, चार्टर्ड एकाउंटेंसी, एम.बी.ए. और बायोविज्ञान पाठ्यक्रमों में पढ़ रहे अनुसूचित जनजातियों के छात्रों को पुस्तकें उपलब्ध कराया जाना है। इस योजना में स्नातक स्तर के पाठ्यक्रम के संबंध में दो छात्रों द्वारा पाठ्यपुस्तकों को शेयर करने का प्रावधान है तथा स्नातकोत्तर स्तर पर तथा चार्टर्ड एकाउंटेंसी का कोर्स कर रहे प्रत्येक छात्र को पुस्तकों का अलग सेट देने का प्रावधान है। पुस्तकें राज्यों/संघ राज्य क्षेत्रों द्वारा सिफारिश किए गए विश्वविद्यालयों अथवा कालेजों को दी जाती हैं। इस योजना को राज्य/संघ राज्य क्षेत्र क्रियान्वित करते रहते हैं और इस योजना के व्यय को 50:50 के आधार पर केन्द्र और राज्य सरकारों के बीच बराबर-बराबर वहन किया जाता है। संघ राज्य क्षेत्र

प्रशासनों को 100% केन्द्रीय सहायता दी जाती है।

2.31 राज्य जनजातीय विकास वित्त निगम : अनुसूचित जाति विकास निगमों को सहायता की योजना को केन्द्रीय प्रायोजित योजना के रूप में राज्यों/संघ राज्य क्षेत्रों में वर्ष 1978-79 में आरम्भ किया गया। ये निगम अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों की जरूरतों को पूरा कर रहे थे। तथापि, अक्टूबर 1999 के मध्य से जनजातीय कार्य मंत्रालय के सृजन के साथ इस योजना को सामाजिक न्याय एवं अधिकारिता मंत्रालय से अप्रैल 2000 से द्विभाजित कर लिया गया है। इस समय राज्य जनजातीय वित्त विकास निगम उन राज्यों और संघ राज्य क्षेत्रों में कार्य कर रहे हैं जिनमें काफी बड़ी अनुसूचित जनजाति आबादी है। इन निगमों ने गरीबी रेखा से नीचे गुजर-बसर कर रही अनुसूचित जनजातियों के आर्थिक विकास के लिए वित्त जुटाने में अत्यंत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है और ये वित्तीय संस्थाओं से क्रेडिट सृजित करने के लिए प्रोत्साहकों और उत्प्रेरकों के रूप में कार्य करते रहे हैं, लक्ष्य समूहों को मार्जिन मनी ऋणों तथा सब्सिडी के द्वारा निवेश की कमी को पूरा कर रहे हैं। राज्य जनजातीय वित्त विकास निगमों ने अपने प्रयासों को पात्र अनुसूचित जनजाति परिवारों की पहचान करने और उन्हें उपयुक्त आर्थिक विकास की योजनाओं को आरम्भ करने के लिए प्रेरित करने, ऋण सहायता के लिए वित्तीय संस्थाओं को इन योजनाओं को प्रायोजित करने, उनकी अदायगी की देयता को कम करने के लिए कम दर के ब्याज और सब्सिडी पर मार्जिन मनी के रूप में वित्तीय सहायता मुहैया करने और अन्य गरीबी उपशमन कार्यक्रमों से आवश्यक संपर्क/समन्वय उपलब्ध करने में अपने प्रयासों को केन्द्रित किया है।

2.32 राष्ट्रीय अनुसूचित जनजाति वित्त एवं विकास निगम (एनएसटीएफडीसी) : एनएसटीएफडीसी की स्थापना अप्रैल, 2001 में सरकारी कंपनी (लाभ न कमाने वाली कंपनी) के रूप में, कंपनी अधिनियम, 1956 की धारा 25 के अंतर्गत हुई। अनुसूचित जनजातियों के आर्थिक विकास के लिए बनाई गई स्कीमों/परियोजनाओं के वित्त पोषण के लिए यह अग्रणी संस्था है। एनएसटीएफडीसी के मुख्य लक्ष्य पहचाने गए व्यापारों/व्यवसायों/धंधों तथा महत्त्व की अन्य मुख्य आर्थिक कार्यों के लिए वित्तीय सहायता देना और प्रतिभा का उन्नयन और विद्यमान अनुसूचित जनजाति वित्त एवं विकास निगमों का अधिक प्रभावी बनाना है। उपर्युक्त लक्ष्यों को प्रोत्साहन देने हेतु एनएसटीएफडीसी 10.00 लाख रुपए तक प्रति इकाई/लाभ केन्द्र वाली व्यवहार्य आय सृजक स्कीमों/परियोजनाओं को स्टेट चैनेलाइजिंग एजेंसियों के माध्यम से वित्तीय सहायता देता है और आवधिक प्रशिक्षण कार्यक्रमों के द्वारा स्टेट चैनेलाइजिंग एजेंसियों के अधिकारियों के प्रतिभा उन्नयन के अलावा कौशल विकास कार्यक्रमों को भी अनुदान उपलब्ध कराता है।

2.33 मीडिया : मास मीडिया योजना के अन्तर्गत मंत्रालय, जनजातियों के जीवन, संस्कृति, परम्पराओं, शिक्षा और सामाजिक-आर्थिक विकास पर फिल्में/वृत्तचित्र/टेली-फिल्में/धारावाहिक/क्विकीज/स्पोर्ट्स आदि बनाने के लिए धनराशि निर्मुक्त करता है। बाहरी रचनाकारों/निर्देशकों के द्वारा फिल्मों के निर्माण के प्रस्तावों पर विचार और कार्रवाई और मंजूरी देने के लिए कार्यों को सरल एवं कारगर बनाने की दृष्टि से मंत्रालय ने कुछ मार्गदर्शी सिद्धांत निर्धारित किये हैं।

2.34 जनजातियों द्वारा यात्राओं का आदान-प्रदान : वर्ष 2001-2002 के दौरान आरम्भ की गई यह एक नई केन्द्रीय क्षेत्र योजना है। जनजातीय आबादी सामान्य रूप से

अपेक्षाकृत एकाकीपन में विभिन्न पारिस्थितिकीय तथा भौगोलिक जलवायु संबंधी स्थितियों जैसे पहाड़ों, वनों, दुर्गम क्षेत्रों तथा मैदानों में रहती है। जनजातीय समूह सामाजिक-आर्थिक तथा शैक्षिक रूप से विकास के विभिन्न चरणों में हैं। वे एक एकीकृत समूह नहीं हैं परन्तु वे अनेक समूहों में हैं जो सामाजिक-आर्थिक स्थितियों में एक दूसरे से भिन्न हैं। अनुसूचित जनजातियाँ शेष संसार से अलग हैं और उनमें विशेष शायद अनूठी सामाजिक-आर्थिक, सांस्कृतिक तथा व्यवहार संबंधी विशेषताएँ विकसित हुई हैं। अधिक उन्नत और विकसित क्षेत्रों के प्रति जनजातीय आबादी के खुलाव की यह कमी देश और विदेश के अधिक उन्नत और विकसित क्षेत्रों से उन्हें बिलकुल ही अलग कर देती है। शेष समुदाय के साथ उनके एकीकरण को तभी प्रभावी बनाया जा सकता है जब उनमें खुलापन लाने के लिए उन्हें विभिन्न क्षेत्रों तथा परियोजनाओं के दौरे करवाए जाएं ताकि आदिवासी विकास की नवीनतम तकनीकों और पहलुओं से परिचित हो सकें। इस प्रकार की यात्राओं से अन्य व्यक्तियों के साथ अधिक मजबूत सामाजिक एवं सांस्कृतिक बंधनों को सुनिश्चित करने तथा आदिवासियों की स्वाभाविक प्रतिभाओं को उजागर करने और उपयोग में लाने की आशा की जाती है।

2.35 अनुकरणीय सेवा करने वाले स्वैच्छिक संगठनों को प्रोत्साहन : मंत्रालय ने ऐसे संगठनों की अवसंरचना तथा क्षमता निर्माण को मजबूत करने के लिए एक योजना/विस्तृत मार्गदर्शी सिद्धांत बनाए हैं जिन्होंने अपने आपको अनुसूचित जनजातियों के कल्याण के क्षेत्र में स्थापित किया है और अनुकरणीय सेवाएँ प्रदान की हैं। इस स्कीम के अन्तर्गत, मंत्रालय द्वारा स्थापित स्वैच्छिक एजेंसी के रूप में घोषित मंत्रालय से पाँच या उससे अधिक वर्षों से अनुदान प्राप्त कर रहे संगठनों या ऐसे संगठन को ऐसे क्षेत्रों में अवसंरचना निर्माण के लिए 10.00 लाख रुपए तक के अनुदान दिए जाते हैं, जहाँ किराए के आधार पर ऐसी सुविधाएँ नहीं हैं।

❑

अध्याय 17

अनुसूचित जातियाँ

(Scheduled Castes)

'अनुसूचित जाति' (Scheduled Caste) शब्द लगभग आधी शताब्दी से प्रचलित है। पहली बार इसका प्रयोग 1935 के *भारत सरकार अधिनियम में हुआ था।* अप्रैल 1936 में अंग्रेज सरकार ने *भारत सरकार (अनुसूचित जाति)* आदेश जारी किया था जिसमें असम, बंगाल, बिहार, बम्बई, मध्य प्रान्त, मद्रास, उड़ीसा, पंजाब और संयुक्त प्रान्त के तत्कालीन प्रान्तों की कुछ जातियों व जनजातियों को 'अनुसूचित' विनिर्दिष्ट किया गया था। इसके पहले ये जातियाँ Depressed Classes (दलित वर्ग) कहलाती थीं। 1931 की जनगणना में दलित वर्ग को सुव्यवस्थित ढंग से वर्गीकृत किया गया था। 1936 में जारी की गयी 'अनुसूचित जातियों' की सूची दलित वर्गों की पहली सूची जैसी ही थी। 1950 में जो सूची बनाई गयी वह पहली सूची में परिवर्धन करके बनाई गयी थी। संविधान की उद्घोषणा के बाद इन सूचियों को अनुच्छेद 341 के अन्तर्गत राष्ट्रपति द्वारा अधिसूचित किया गया। इस बीच गैरसरकारी इस्तेमाल में 'हरिजन' शब्द भी काफी प्रचलित रहा।

संविधान के अनुच्छेद 341 में कुछ पिछड़ी हुई जातियों और समुदायों को, जो अस्पृश्यता एवं अन्य कई सामाजिक निर्योग्यताओं का शिकार थीं, अनुसूचित जातियाँ घोषित किया गया था। अनुसूचित जातियों की मौजूदा सूची में कोई भी संशोधन संसदीय अधिनियमन द्वारा ही किया जा सकता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'अनुसूचित जाति' नाम की उत्पत्ति प्रशासनिक है, न कि सामाजिक या समाजशास्त्रीय।

जनसंख्या और वितरण

अनुसूचित जातियों की आबादी भारत की कुल आबादी की 15.8 प्रतिशत है। यह आबादी लगभग एक हजार जातियों में विभाजित है जिनमें से बहुतों के नाम पर्यायवाची हैं। इनमें से कुछ अनुसूचित जातियों की जनसंख्या करोड़ों में है। अधिक जनसंख्या वाली अनुसूचित जातियों में चमार (जिनकी संख्या अनुसूचित जातियों की कुल आबादी का एक चौथाई है), भंगी, आदि-द्रविड़, पासी, मदीगा, दुसाध, माली, परायन, कोली/कोरी, माहर, आदि- कर्नाटक, नामशूद्र आदि आते हैं। प्रत्येक राज्य की अनुसूचित जातियों की अपनी अलग सूची है।

अगली तालिका में प्रचुर संख्या में विभिन्न राज्यों में बसने वाली अनुसूचित जातियों की संख्या दर्शायी गई है।

	राज्य का नाम	अनुसूचित जातियों की संख्या
1.	कर्नाटक	95

2.	उड़ीसा	88
3.	राजस्थान	76
4.	तमिलनाडु	74
5.	मध्य प्रदेश	60
6.	महाराष्ट्र	60
7.	उत्तर प्रदेश	60
8.	पश्चिम बंगाल	60
9.	आन्ध्र प्रदेश	60

अनुसूचित जातियों की आबादी की जनसंख्या को देखने पर अनेक दिलचस्प और महत्त्वपूर्ण तथ्य सामने आते हैं। उदाहरणार्थ, अनुसूचित जातियों की आबादी का लगभग आधा हिस्सा पाँच हिन्दी भाषी राज्यों में रहता है जिनके नाम हैं उत्तर प्रदेश (235 लाख), बिहार (100 लाख), मध्य प्रदेश (73 लाख), राजस्थान (58 लाख) और हरियाणा (25 लाख)। दक्षिण के राज्यों में इनकी सर्वाधिक आबादी तमिलनाडु में (88 लाख) और आन्ध्र प्रदेश में (79 लाख) है। पूर्वी भारत में यह आबादी पश्चिम बंगाल में 120 लाख है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि राज्यों की कुल आबादी में अनुपात की दृष्टि से अनुसूचित जातियों की आबादी पंजाब में 27%, हिमाचल प्रदेश में 25%, पश्चिम बंगाल में 22%, उत्तर प्रदेश में 21% और हरियाणा में 19% है। अनुसूचित जातियों का आबादी का अधिकांश (84 प्रतिशत) ग्रामीण क्षेत्रों में रहता है। उनमें ज्यादातर खेतिहर मजदूर, खेतों पर बटाई पर काम करने वाले तथा सीमान्त कृषक हैं।

सामाजिक-आर्थिक समस्याएँ और सामाजिक निर्योग्यताएँ (Socio-economic Problems and Social disabilities)

चूँकि अनुसूचित जातियों की उत्पत्ति ही जाति प्रथा की अत्यधिक भेदभाव वाली और कभी-कभी तो अमानवीय प्रकृति के परिणामस्वरूप हुई है, इसलिए कोई भी व्यक्ति जाति तंत्र को भलीभाँति समझे बिना अनुसूचित जातियों की समस्याओं को न समझ सकता है और न उसके समाधान के लिए आवश्यक उपायों को प्रस्तावित कर सकता है। अस्पृश्यता, आनुष्ठानिक पवित्रता/प्रदूषण जाति प्रथा की अत्यधिक भेदभाव वाली प्रकृति का अपरिहार्य आधार है। आबादी के एक सम्पूर्ण हिस्से को कूड़ा या मल उठाने, चमड़ा उतारने, साफ करने या रंगने जैसे अस्वच्छ पेशे देकर उन्हें अस्पृश्य घोषित कर दिया गया। अस्पृश्य होने का तात्पर्य यहीं तक सीमित नहीं रहा कि इसका आनुष्ठानिक कारणों से स्पर्श न किया जाय बल्कि अस्पृश्यता ने इंसान को एक ऐसी दुर्भाग्यपूर्ण और तुच्छ दुनिया में भेज दिया जिसमें निराशा ही निराशा थी। एक समस्या से दूसरी समस्या उपजती है और एक निर्योग्यता से दूसरी। उदाहरणार्थ यदि समाज के एक भाग विशेष के लिए मन्दिर जैसे पवित्र स्थान में प्रवेश वर्जित किया गया और यदि परम्परागत व्यवस्था में शिक्षा मन्दिर-परिसर में दी जाती हो तो समाज का वह भाग निश्चित रूप से शिक्षा से स्वतः वंचित रह जायेगा। यदि कोई रीति या प्रथा लागू करके उसके बल पर समाज के एक हिस्से के लिए भूमि का

स्वामी होना प्रतिबन्धित कर दिया जाता है, तो निश्चय ही उसकी आर्थिक शक्ति कभी भी न बन सकेगी। इसके अलावा एक खेतिहर समाज में जहाँ भूमि का स्वामित्व से ही समस्त शक्तियों का प्रादुर्भाव व प्रसार होता है, भूमिहीन होने से सभी प्रकार की वंचनाओं का दुष्चक्र (vicious circle) चलने लगता है। यदि समाज के एक भाग के लिए सोने का स्पर्श या उसका इस्तेमाल वर्जित कर दिया जाय तो वह आर्थिक संकट आने पर सोना गिरवी रखकर या उसका कोई जेवर बेचकर उस संकट से बचने का अवसर भी खो देता है। ऐसे में बस एक ही मार्ग शेष रह जाता है उसके पास कि वह हर तरह के शोषण का शिकार हो। सबसे बड़ी बात यह है कि कर्मकांडीय प्रदूषण सम्बन्धी कारणों से उसे धोबी, नाऊ, पुरोहित आदि की सेवाएँ भी नहीं मिलतीं।

अनुसूचित जातियों की आबादी का अधिकांश भाग जिन निर्योग्यताओं (disabilities) से प्रताड़ित है, उनमें से कुछ प्रमुख हैं :

1. अपना व्यवसाय चुनने की आज़ादी का अभाव।
2. भूमिहीन होना।
3. *बेगार।*
4. शिक्षा साधनों और सुविधाओं का अभाव।
5. पृथक या विलगित (Lsolated or segregated) आवास।
6. राजनीतिक अधिकारों को इस्तेमाल करने की आजादी का अभाव।

स्पष्ट है कि इन सभी निर्योग्यताओं की जननी आनुष्ठानिक शुद्धता, आनुष्ठानिक शोच और उन दोनों के परिणामस्वरूप प्रचलित अस्पृश्यता का पाप सदियों से निरंतर चली आ रही अत्यधिक भेदभाववाली सामाजिक व्यवस्था है। अनुसूचित जातियों की आबादी का ज्यादातर हिस्सा जिन सामाजिक-आर्थिक समस्याओं से जूझता रहा है, उनमें से कुछ प्रमुख हैं :

1. दुःसाध्य ऋण ग्रस्तता।
2. भूमिहीनता/भूमि हस्तांतरण।
3. अशिक्षा।
4. बलात श्रम या **बेगार** और वैश्यावृत्ति।
5. 'न्यूनतम मज़दूरी' की व्यवस्था का अभाव।
6. बाल श्रम आदि।

परम्परागत भूमिहीनता और असाध्य ऋणग्रस्तता अनुसूचित जातियों की सहचरी समस्याएँ हैं। उन्हें देश की आजादी के बाद ज़मींदारी उन्मूलन और उसके बाद के भूमि सुधारों के फलस्वरूप थोड़ी भूमि मिली भी थी, उनमें बहुत से भूमि हस्तांतरण के शिकार हो उसे गँवा बैठे। चाहे वह भूमिहीन हों या सीमान्त कृषक ग्रामीण क्षेत्र में अनुसूचित जाति के औसत व्यक्ति की दशा दयनीय बनी हुई है क्योंकि उसे शोषण और वंचनाएँ झेलनी ही पड़ती हैं। उनके लिये बच्चों को स्कूल भेजने

का अर्थ परिवार की आय में उनके द्वारा लाये गये अंश या योगदान से वंचित होना होता है। ऐसी स्थिति में उनके लिए स्कूल खोलने या उन्हें निःशुल्क शिक्षा देने की व्यवस्था व्यर्थ ही होगी क्योंकि वहाँ उन सुविधाओं का लाभ उठाने वालों का ही अभाव होगा। जहाँ सामन्तवादी प्रवृत्तियाँ मौजूद हैं और खेतिहर मजदूर संगठित नहीं हैं (जैसा कि हमारे देश में है) बलात-श्रम या **बेगार** अथवा बहुत कम दर की मजदूरी एक सामान्य बात है। अनेक कारणों से ग्रामीण क्षेत्रों में भी **जजमानी व्यवस्था** विगत चार दशकों से निरन्तर लड़खड़ा रही है। इसने भी ग्रामीण क्षेत्रों में अन्तर्जातीय सम्बन्धों और जातिगत समीकरणों पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव डाला है।

कानूनों को बनाने का तात्पर्य अनुसूचित जातियों के अधिकारों की रक्षा करना है। उनके हित में सामाजिक-आर्थिक लक्ष्यों की प्राप्ति और अनुसूचित जातियों की न्यायसंगत एवं विधि-सम्मत माँगों का समर्थन करने वाला वातावरण तैयार करना है जो अनेक सरकारी विभागों, लोक क्षेत्रीय एवं वामपंथी संगठनों के कार्यों के फलस्वरूप उभर कर अस्तित्व में आया है तथा 'प्रगतिशील प्रेस' ने उनके सामाजिक-आर्थिक एवं राजनीतिक जीवन को सक्रिय और जीवन्त बनाने में योगदान दिया है।

संवैधानिक संरक्षण (Constitutional Safeguards)

जब हमारे 'संस्थापक पितामह' स्वतंत्र भारत का संविधान बना रहे थे तब उन्होंने इस बारे में पूरी सतर्कता बरती कि अनुसूचित जातियों के संरक्षण और उनकी रक्षा के उपायों को खास तौर पर और आम नागरिकों के अधिकारों के रूप में पूर्णतः सुनिश्चित कर दिया जाय जिससे उनके शैक्षिक एवं आर्थिक हितों को बढ़ावा मिले और वे अपनी सामाजिक निर्योग्यताओं से मुक्त हो सकें। संविधान में अनुसूचित जातियों के हितों का संरक्षण और उन्नयन करने वाले महत्त्वपूर्ण अनुच्छेद निम्नलिखित हैं :

1. **अनुच्छेद 15(4)** में कहा गया है कि इस अनुच्छेद की या अनुच्छेद 29 के खंड (2) की कोई बात राज्य को सामाजिक और शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े हुए नागरिकों के किन्हीं वर्गों की उन्नति के लिए या अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए कोई सुविधा उपलब्ध करने से नहीं रोकेगी।
2. **अनुच्छेद 16(4)** में स्पष्ट किया गया है कि इस अनुच्छेद की कोई बात राज्य को पिछड़े हुए नागरिकों के किसी वर्ग के पक्ष में, जिनका प्रतिनिधित्व राज्य की राय में राज्य के अधीन सेवाओं में पर्याप्त नहीं है, नियुक्तियों या पदों के आरक्षण के लिए उपलब्ध करने से वंचित नहीं करेगी।
3. **अनुच्छेद 17** द्वारा अस्पृश्यता के उन्मूलन की बात कही गई है और किसी भी रूप में उसके आचरण को निषिद्ध किया गया है।
4. **अनुच्छेद 25(2)** के तहत हिन्दुओं के सार्वजनिक धार्मिक स्थलों को हिन्दुओं के सभी वर्गों और अनुभागों के लिए खोलने का उपबन्ध किया गया है।
5. **अनुच्छेद 15(2)** के जरिए वे सभी निर्योग्यताएँ, दायित्व, निरबन्धन या शर्तें हटाई गई

हैं जो दुकानों, सार्वजनिक भोजनालयों, होटलों और सार्वजनिक मनोरंजन के स्थानों में प्रवेश या पूर्णतः या अंशतः राज्य-निधि से पोषित या साधारण जनता के प्रयोग के लिए समर्पित कुओं, तालाबों, स्नान घाटों, सड़कों और सार्वजनिक समागम के स्थानों के उपयोग से संबंधित हैं।

6. **अनुच्छेद 29(2)** में कहा गया है कि राज्य द्वारा पोषित या राज्य निधि से सहायता पाने वाली किसी शिक्षा संस्था में प्रवेश से किसी भी नागरिक को वंचित नहीं किया जायेगा।
7. **अनुच्छेद 46** में कहा गया है कि राज्य, जनता के दुर्बल वर्गों, अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के शिक्षा और अर्थ संबंधी हितों की विशेष सावधानी से अभिवृद्धि करेगा और सामाजिक अन्याय एवं सभी प्रकार के शोषण से उनकी रक्षा करेगा।
8. **अनुच्छेद 330 और 332** द्वारा लोकसभा और राज्यों की विधानसभाओं में अनुसूचित जातियों (असम, नागालैण्ड, मेघालय, अरुणाचल प्रदेश और मिजोरम के जनजातीय क्षेत्रों को छोड़कर) के लिए स्थानों के आरक्षण की व्यवस्था की गयी है।
9. **अनुच्छेद 338** के जरिये एक विशेष अधिकारी ('अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों का आयुक्त') की नियुक्ति की व्यवस्था की गयी। इस विशेष अधिकारी का कर्तव्य है कि वह संविधान के अधीन उपबन्धित रक्षा उपायों से संबंधित सभी विषयों का अन्वेषण करें और उन रक्षा उपायों के कार्यकरण के संबंध में राष्ट्रपति को प्रतिवेदन दें। संविधान के 65वें संशोधन द्वारा विशेष अधिकारी के स्थान पर 1992 से **अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों के लिए राष्ट्रीय आयोग** स्थापित किया गया है।
10. **अनुच्छेद 341** राष्ट्रपति को किसी भी जाति, मूल वंश या जनजाति को अनुसूचित जाति घोषित करने का अधिकार देता है।

अस्पृश्यता के विरुद्ध विधान और सिविल अधिकारों की रक्षा

लक्ष्य परिधि में विस्तार करने तथा दण्ड उपबंधों को अधिक कड़ा बनाने की दृष्टि से 1955 के **अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम** को व्यापक रूप से संशोधित करके 1976 में **अस्पृश्यता (अपराध) संशोधन तथा प्रकीर्ण उपबन्ध अधिनियम** बनाया गया। यह 19 नवम्बर 1976 से लागू हुआ।

इस अधिनियम में अस्पृश्यता के आधार पर किसी को उन अधिकारों का, जो अस्पृश्यता उन्मूलन के फलस्वरूप उसे प्राप्त हुए हैं, उपभोग करने से वंचित करने वालों के लिए दण्ड या जुर्माने की व्यवस्था है। पश्चात्वर्ती अपराधों के लिए अधिक दण्ड या जुर्माने की व्यवस्था है।

1951 के **लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम** की आठवीं धारा में इस बात का अनुबंध है कि जो व्यक्ति इस अधिनियम के तहत दोषी सिद्ध होता है वह दोष सिद्धि की तिथि से आगामी छह वर्षों तक के लिए संसदीय या विधानसभा के चुनाव के लिए अयोग्य कर दिया जायेगा।

1955 का पी.सी.आर. अधिनियम राज्य सरकारों द्वारा प्रशासित किया जाता है। इस अधिनियम की धारा 15ए(4) के उपबन्धों के अनुसार सरकार प्रति वर्ष संसद के सामने धारा

15ए के उपबन्धों के कार्यकरण की वार्षिक रिपोर्ट प्रस्तुत करती है।

सिविल अधिकार संरक्षण अधिनियम, 1955 की धारा 15ए(2) के उपबन्ध के अनुसार राज्य सरकारों और संघ राज्य क्षेत्र प्रशासनों को केन्द्रीय सहायता दी जाती है। 20 राज्यों द्वारा पी.सी.आर. अधिनियम सम्बन्धी मामलों में अनुसूचित जाति के आहत व्यक्ति के लिए कानूनी सहायता की व्यवस्था भी की गयी है। 19 राज्यों में पी.सी.आर अधिनियम के उपबंधों को लागू कराने के लिए तथा उसमें बाधा डालने या तोड़ने वालों को दण्ड दिलाने के लिए विशेष प्रकोष्ठ एवं दस्ते बने हुए हैं। अट्ठारह राज्यों में विभिन्न स्तरों पर ऐसी समितियाँ बनी हुई हैं जो अस्पृश्यता की समस्याओं और उससे संबंधित मामलों की अवधि विशेष पर समीक्षा करती हैं। आंध्र प्रदेश, बिहार, कर्नाटक, मध्य प्रदेश, उड़ीसा, राजस्थान और तमिलनाडु के उन जिलों में जहाँ अस्पृश्यता और अत्याचार की घटनाएँ आम तौर से होती रहती हैं, मामलों को जल्दी निपटाने के लिए तिरपन विशेष अदालतें और विशेष सचल अदालतें हैं। पी.सी.आर. अधिनियम के उपबन्धों को प्रभावी ढंग से लागू कराने के लिए राज्यों को समय-समय पर आवश्यक मार्गदर्शन, सिद्धान्त और हिदायतें भेजी जाती हैं। उसके लिए राज्यों को कार्य के अनुरूप केन्द्रीय सहायता भी दी जाती है। इसके अन्तर्गत मेहतरों को टट्टी कमाने के काम से छुटकारा दिलाने के लिए पुरानी कमाऊ टट्टियों का रूपान्तर करने का काम भी शुरू किया गया है। कुछ चुने हुए नगरों में टट्टी कमाने वाले परिवारों के लिए दूसरे रोज़गारों की व्यवस्था भी की जा रही है।

अनुसूचित जातियों पर होने वाले अत्याचारों को रोकने के लिए कार्यवाहियाँ

अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के विरुद्ध होने वाले अपराधों से प्रभावी ढंग से निपटने तथा इस महत्त्वपूर्ण समस्या का डटकर मुकाबला करने के लिए प्रशासकीय तंत्र को चुस्त-दुरुस्त करने की दृष्टि से ऐसी व्यापक और विस्तीर्ण मार्गदर्शक-व्यवस्था मौजूद है जिसमें निवारण, दण्ड और सुधार संबंधी सभी तरह के उपाय शामिल हैं और जिस पर सभी राज्यों और संघ राज्य क्षेत्रों की सरकारों को अमल करना पड़ता है। फिर भी, इस समुदाय पर एक न एक अत्याचार होता ही रहता है। अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों को अन्याय और अत्याचार से बचाने के लिए ही सरकार ने **अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति (अत्याचार निवारण) अधिनियम 1989** बनाया। यह अधिनियम 30 जनवरी 1990 को लागू हुआ। इसमें वे सभी अपराध विनिर्दिष्ट किये गये हैं जिन्हें अत्याचार समझा जाता है और उन सब के लिए उसमें विभिन्न प्रकार के उपयुक्त दण्डों का निर्देश किया गया है। अधिनियम में निवारक उपाय भी बताये गये हैं और राज्यों को अन्य कार्यवाहियों के साथ-साथ इस प्रकार के पीड़ित और आपदाग्रस्त लोगों के आर्थिक एवं सामाजिक सुधार तथा पुनर्वास के लिए योजनाएँ भी बनाना पड़ती हैं।

कल्याण और परामर्शदात्री एजेन्सियाँ

1. कल्याण मंत्रालय अनुसूचित जातियों के उत्थान के लिए सम्पूर्ण नीति बनाने और कार्यक्रमों का नियोजन एवं उनमें समन्वय करने वाली शीर्ष एजेन्सी थी। कल्याण मंत्रालय विभिन्न केन्द्रीय मंत्रालयों और राज्य सरकारों के बीच परस्पर संपर्क बनाये रखने का काम भी करता था।

अब यह मंत्रालय सामाजिक न्याय व सशक्तिकरण मंत्रालय के नाम से जाना जाता है।

2. सरकार ने 1966, 1971 और 1973 में अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के कल्याणार्थ संवैधानिक रक्षा उपायों के कार्यान्वयन की जाँच के लिये तीन बार संसदीय समितियाँ बनाई थीं। बाद में इस समिति को स्थायी कर दिया गया। उसके सदस्यों का कार्यकाल एक वर्ष का होता है।

3. राज्य सरकारों और संघ राज्य क्षेत्र की सरकारों में अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों एवं अन्य पिछड़े वर्गों के कल्याण सम्बन्धी कार्यों के लिए अलग-अलग विभाग हैं। इन प्रशासन तन्त्रों में भिन्नताएँ हैं।

4. अनुसूचित जातियों के कल्याण के लिए अनेक स्वयंसेवी संस्थाएँ भी काम करती हैं। अनुसूचित जातियों के बीच कल्याण कार्य करने वाले गैरसरकारी स्वयंसेवी संगठनों को उनके साधनों के अतिरिक्त सरकार से सहायता और अनुदान भी मिलता है।

5. सरकार समाज विज्ञान सम्बन्धी अनुसंधान की उन सुप्रसिद्ध एजेन्सियों और संस्थानों को शतप्रतिशत वित्तीय सहायता देती है जो अनुसूचित जातियों के आर्थिक विकास, उनकी समस्याओं व आवश्यकताओं के साथ-साथ सरकार द्वारा संचालित विभिन्न आर्थिक कार्यक्रमों के कार्यान्वयन के प्रभाव और परिणामों के अध्ययन में अपनी प्रमाणिक विशेषज्ञता के लिए प्रसिद्ध हैं।

विकास के प्रयास

देश की आजादी के पहले अनुसूचित जातियों के कल्याण का कार्य नियोजित ढंग से नहीं किया जाता था और जो भी उपाय अपनाये जाते थे वे तदर्थ होते थे। स्वतंत्रता के बाद अनुसूचित जातियों की समस्याओं की समय-समय पर अनेक आयोगों और समितियों द्वारा समीक्षा की गयी और उनके सामाजिक एवं आर्थिक उन्नयन के लिए कदम उठाये गये। अनुसूचित जातियों के विकास और कल्याण के लिए आजकल जो कार्रवाइयाँ की जा रही हैं संक्षेप में निम्नलिखित हैं :

अनुसूचित जातियों के विकास के लिए एक त्रिमुखी नीति बनाई गयी जो इस प्रकार है :

1. केन्द्रीय मंत्रालयों व राज्य सरकारों की विशेष संघटक योजनाएँ।
2. राज्य की अनुसूचित जातियों के लिए विशेष संघटक योजनाओं को विशेष केन्द्रीय सहायताएँ।
3. राज्यों में अनुसूचित जाति विकास निगम की स्थापना।

अनुसूचित जाति विकास (सामाजिक न्याय व सशक्तिकरण मंत्रालय की रिपोर्ट, 2002-03)

अनुसूचित जातियों का आर्थिक रूप से, सामाजिक रूप से और राजनीतिक रूप से सशक्तिकरण राष्ट्रीय विकास एजेंडा पर प्राथमिकता पर रहा है क्योंकि ये अपने सामाजिक आर्थिक पिछड़ेपन के कारण शेष समाज से पिछड़े हुए हैं। संविधान के अंतर्गत संसद अनुच्छेद 341 के खण्ड 1 के अन्तर्गत जारी अधिसूचना में विनिर्दिष्ट अनुसूचित जातियों की सूची में या उससे कानून द्वारा किसी समुदाय को शामिल या निकाल सकती है। इस समय अरुणाचल प्रदेश, नागालैंड,

अंडमान व निकोबार और लक्षद्वीप को छोड़कर, भारत भर में फैले 1206 समुदायों को, अनुसूचित जातियों के रूप में सूचीबद्ध किया गया है।

3.1.2 अनुसूचित जातियों के व्यक्ति हमारी जनसंख्या का एक बड़ा प्रतिशत हैं। 1991 की जनगणना के अनुसार उनकी ज़नसंख्या 13.82 करोड़ अथवा कुल जनसंख्या का 16.73 प्रतिशत है। अनुसूचित जाति की जनसंख्या का 81% ग्रामीण क्षेत्रों में रहता है। अकेले उत्तर प्रदेश में भारत की अनुसूचित जाति की कुल जनसंख्या का 20% से अधिक है। अनुसूचित जातियों के व्यक्तियों की भारी जनसंख्या वाले अन्य राज्य पश्चिम बंगाल, बिहार, तमिलनाडु और आन्ध्र प्रदेश हैं।

3.1.3 अनुसूचित जातियों के सापेक्ष पिछड़ेपन को देखते हुए, भारत का संविधान कानून (अनुच्छेद 14) के सामने समानता की गारंटी देता है। यह राज्यों को अनुसूचित जातियों के लिए विशेष प्रावधान करने का अधिकार प्रदान करता है। (अनुच्छेद 15(4)), अनुच्छेद 17 के अन्तर्गत, अस्पृश्यता समाप्त कर दी गई है और किसी रूप में इसका प्रयोग निषेध है। लोकतांत्रिक संस्थाओं में (अनुच्छेद 330 और अनुच्छेद 243डी) और सेवाओं में (अनुच्छेद 335) अनुसूचित जातियों के लिए सीटों का आरक्षण अनुसूचित जातियों के पक्ष में एक अन्य प्रमुख सकारात्मक कार्रवाई है। अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के हितों के संरक्षण के लिए संविधान के अनुच्छेद 338 के अंतर्गत अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए राष्ट्रीय आयोग (एनसीएससीएसटी) का गठन किया गया है।

3.1.4 अलाभान्वित समूहों के लिए सामाजिक न्याय सुनिश्चित करने के लिए सकारात्मक कार्रवाई और विधायी उपायों के अत्यन्त शक्तिशाली साधन होने के कारण, सरकार ने सामाजिक और लिंग न्याय से सामाजिक सद्भाव और उनके हितों के संरक्षण के लिए अनिवार्य कानूनी उपाय करने के सिद्धान्तों के आधार पर 'सामाजिक न्याय के लिए चार्टर' स्थापित करने की अपनी पहली वचनबद्धता को पुनरुज्जीवित किया है। इसे प्रभावी करने के लिए शैक्षिक संस्थाओं और सेवाओं दोनों में अनुसूचित जातियों के लिए आरक्षण की नीति का कार्यान्वयन आरक्षित सीटों और पदों को तत्काल भरने से होगा।

3.1.5 सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय नोडल मंत्रालय है जो अनुसूचित जातियों के हितों की देखरेख करता है। यह मंत्रालय अनुसूचित जातियों के हितों के संवर्धन तथा संरक्षण के लिए राज्यों/संघ राज्य क्षेत्रों तथा अन्य केन्द्रीय मंत्रालयों द्वारा की गई कार्रवाई को मानीटर करता है। इसके अतिरिक्त यह अनुसूचित जातियों के शैक्षिक, आर्थिक और सामाजिक सशक्तिकरण संबंधी प्रयासों के सम्पूरण के लिए कार्यक्रमों का कार्यान्वयन करता है।

3.1.6 सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय अनुसूचित जातियों के समग्र विकास के लिए निम्नलिखित योजनाओं का कार्यान्वयन करता है :

(i) **शैक्षिक विकास** : अनुसूचित जाति के छात्रों के लिए मैट्रिकोत्तर छात्रवृत्ति (पीएमएस) की योजना, जो देश में अपनी तरह की सबसे बड़ी शैक्षिक छात्रवृत्ति योजना है, अनुसूचित जातियों में उच्च शिक्षा के प्रोत्साहन के लिए जारी है। अन्य योजनाएँ अस्वच्छ व्यवसायों में लगे लोगों के बच्चों के लिए मैट्रिक-पूर्व छात्रवृत्ति, अनुसूचित जाति के लड़कों और

लड़कियों के लिए होस्टल, पुस्तक बैंक योजना, योग्यता का उन्नयन योजना और अनुसूचित जाति के छात्रों के लिए कोचिंग व सम्बद्ध योजना है।

(ii) **आर्थिक विकास** : राष्ट्रीय अनुसूचित जाति वित्त एवं विकास निगम (एनएसएफडीसी), राष्ट्रीय सफाई कर्मचारी वित्त एवं विकास निगम (एनएसकेएफडीसी) और राज्य अनुसूचित जाति विकास निगम अनुसूचित जातियों के व्यक्तियों के आर्थिक विकास के लिए क्रमशः राष्ट्रीय और राज्य स्तर पर महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहे हैं।

(iii) **संरक्षणात्मक उपाय** : सिविल अधिकार संरक्षण अधिनियम 1955 तथा अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति (अत्याचार निवारण) अधिनियम, 1989 अनुसूचित जातियों के विरुद्ध अस्पृश्यता की प्रथा के उन्मूलन के लिए और अत्याचारों की घटनाओं के निवारण के लिए विधायी अधिनियम है।

(iv) **स्वैच्छिक संगठन** : स्वैच्छिक संगठन शैक्षिक योजनाओं, व्यवसायिक प्रशिक्षण और जागरूकता सृजन आदि के कार्यान्वयन में लक्षित समूह के साथ अपने सीधे संबंध स्थापित करके सामाजिक परिवर्तन और विकास के प्रभावी एजेंडा सिद्ध हुए हैं।

(v) **अनुसूचित जातियों के लिएं विशेष संघटक योजना और विशेष केन्द्रीय सहायता का विशेष तंत्र** : यह 1979-80 में शुरू की गई और अनुसूचित जातियों के समग्र विकास के लिए संसाधनों का समान हिस्सा सुनिश्चित करने के लिए एक अत्यंत प्रभावी तंत्र है।

3.1.7 नौवीं पंचवर्षीय योजना में अनुसूचित जातियों के कल्याण के लिए 3569.87 करोड़ रुपए की राशि निर्मुक्त की गई है। अनुसूचित जातियों के कल्याण के लिए दसवीं पंचवर्षीय योजना अवधि के लिए अनुमोदित परिव्यय 5786.00 करोड़ रुपये है। अनुसूचित जातियों के व्यक्तियों के विकास के लिए परियोजनाओं के कार्यान्वयन के लिए वर्ष 2002-03 के दौरान 944.82 करोड़ प्रदान किये गये हैं।

3.1.8 अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति के प्रतिभाशाली छात्रों के लिए डॉ. अम्बेडकर राष्ट्रीय छात्रवृत्ति योजना इस वर्ष से शुरू कर दी गई है जिसका उद्देश्य उच्च अध्ययन के लिए कमजोर वर्गों के प्रतिभाशाली छात्रों की पहचान करना, प्रोत्साहित करना और सहायता करना है। पुरस्कारों की संख्या 208 (अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति प्रत्येक के लिए 104) इसके अतिरिक्त, 250 विशेष छात्रवृत्तियाँ राज्यों/संघ राज्य क्षेत्रों से अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति के अनुपात में प्रदान की जाएगी।

अनुसूचित जातियों के लड़कों और लड़कियों के लिए होस्टल

3.2 अनुसूचित जातियों के लड़कों और लड़कियों के होस्टलों की योजना का प्रमुख उद्देश्य मिडिल स्कूलों, हाईस्कूलों, सीनियर सेकेन्डरी स्कूलों, विश्वविद्यालयों में पढ़ रहे अनुसूचित जाति के छात्रों के लिए होस्टल की सुविधा प्रदान करना है जिससे उन्हें शैक्षिक केन्द्रों में अध्ययन करने के लिए सक्षम बनाया जा सके। इस योजना के अन्तर्गत राज्य सरकारों को 100 संवासियों के लिए होस्टल भवन के निर्माण, चारदीवारी, होस्टल वार्डन के लिए दो कमरों के सेट और

चौकीदार के लिए एक कमरे के सेट के निर्माण के लिए 50:50 (संघ राज्य क्षेत्र को 100%) के समान हिस्से के आधार पर वित्तीय सहायता दी जाती है। राज्य द्वारा गैर सरकारी संगठनों को होस्टलों के विस्तार के लिए 45% केन्द्रीय सहायता, 45% राज्य अंश और 10% अपने अंश के आधार पर केन्द्रीय सहायता प्रदान की जाती है। राज्य/संघ राज्य क्षेत्र या लाभग्राही संस्था द्वारा निःशुल्क भूमि प्रदान की जाए। होस्टलों के कुछ कमरों का निर्माण बाधा मुक्त डिजाइनों के अनुसार किया जाना चाहिए और रैम्प जैसी सुविधाओं को डिजाइन में शामिल किया जाना चाहिए जिसमें कि विकलांग छात्र इनमें आराम से रह सकें। होस्टलों के निर्माण लागत राज्य/सीपीडब्लूडी की दरों की अनुसूची के आधार पर निकाली जाती है। इन छात्रावासों के रखरखाव का खर्च राज्य सरकारों द्वारा उनकी अपनी निधियों से वहन किया जाना है।

3.2.2 आवंटन, केन्द्रीय अंश के रूप में निर्मुक्त राशि, स्वीकृत होस्टलों की संख्या और कवर किए गए संवासियों की संख्या निम्नानुसार है :

(रुपये करोड़ में)

वर्ष	निर्मुक्त राशि		स्वीकृत होस्टलों की संख्या		सीटों की संख्या	
	लड़कियाँ	लड़के	लड़कियाँ	लड़के	लड़कियाँ	लड़के
1997-1998	6.00	9.05	78	27	12,851	282
1998-1999	7.94	11.00	46	86	2,263	3,386
1999-2000	8.37	11.95	89	137	3,998	6,399
2000-2001	11.47	13.53	22	33	2,404	1,772
2001-2002	19.34	19.44	131	116	4,535	6,119
2002-2003	2.98	7.39	7	50	490	2,530

(27.12.2002 की स्थिति के अनुसार)

अनुसूचित जाति के छात्रों की योग्यता के उन्नयन की केन्द्रीय क्षेत्र योजना

3.3 इस योजना का उद्देश्य आवासीय स्कूलों में शिक्षा के माध्यम से समग्र विकास के लिए उन्हें सुविधाएँ प्रदान करके अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति के छात्रों की योग्यता का उन्नयन करना है। कक्षा 9 से 12 तक की कक्षाओं में पढ़ रहे अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के छात्रों को उपचारी तथा विशेष कोचिंग प्रदान करने के लिए राज्यों/ संघ राज्य क्षेत्रों को शत-प्रतिशत केन्द्रीय सहायता निर्मुक्त की जाती है। उपचारात्मक कोचिंग का उद्देश्य स्कूल विषयों में कमियों को दूर करना, जबकि विशेष कोचिंग इंजीनियरिंग, चिकित्सा जैसे व्यावसायिक पाठ्यक्रमों में प्रवेश के लिए प्रतियोगी परीक्षाओं के लिए छात्रों को तैयार करने की दृष्टि से प्रदान की जाती है। इस योजना के अन्तर्गत भाषा/संवाद निपुणता, विज्ञान और गणित में कोचिंग दी जाती है। योजना के अन्तर्गत प्रत्येक राज्य/संघ राज्य क्षेत्र के संबंध में पुरस्कारों की संख्या पूर्व निर्धारित है लेकिन प्रत्येक राज्य/संघ राज्य के पास न्यूनतम 5 पुरस्कार होंगे। 15000/- रुपये

प्रति वर्ष प्रति छात्र की दर से एक पैकेज अनुदान दिया जाता है। विकलांग छात्र अतिरिक्त अनुदान के पात्र होंगे जैसे कि योजना में प्रावधान है। योजना के अन्तर्गत केन्द्रीय अंश की निर्मुक्ति और लाभान्वित अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति के छात्रों की संख्या के ब्यौरे निम्नलिखित हैं।

(रुपये करोड़ में)

वर्ष	निर्मुक्त राशि	पुरस्कारों की संख्या
1997-1998	0.76	609
1998-1999	1.00	966
1999-2000	1.50	1490
2000-2001	0.47	345
2001-2002	1.01	711
2002-2003	1.20	849

(27.12.2002 की स्थिति के अनुसार)

अनुसूचित जाति, अन्य पिछड़े वर्गों और अल्पसंख्यकों सहित कमजोर वर्गों के लिए केन्द्रीय प्रायोजित कोचिंग और सम्बद्ध सहायता

3.4 सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय अनुसूचित जातियों/अनुसूचित जनजातियों से सम्बद्ध छात्रों के लिए कोचिंग की एक अलग योजना चला रहा था। कमजोर वर्गों के छात्रों की बेहतर तरीके से सहायता करने के उद्देश्य से चल रही योजना को सितम्बर 2001 में 'अनुसूचित जातियों, अन्य पिछड़े वर्गों और अल्पसंख्यकों सहित कमजोर वर्गों के लिए कोचिंग और सम्बद्ध सहायता' के रूप में संशोधित किया गया है ताकि योजना को अधिक प्रभावी और परिणामोन्मुखी बनाया जा सके। संशोधित योजना के अन्तर्गत कोचिंग कार्यक्रम चलाने वाले गैर सरकारी संगठनों, विश्वविद्यालयों तथा संस्थाओं को व्यय का 90% केन्द्रीय सहायता और संबंधित राज्यों/संघ राज्य क्षेत्रों द्वारा शेष 10% व्यय वहन किया जाता है। राज्य सरकारों द्वारा संचालित संस्थाओं को केन्द्रीय सहायता 50:50 के आधार पर दी जाती है। अनुदान दो समान किश्तों में निर्मुक्त किया जाता है। संशोधित योजना की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :

(i) केन्द्र और राज्य सरकारों, सार्वजनिक क्षेत्रों के उपक्रमों, बैंकों तथा निजी क्षेत्र के अन्तर्गत समूह क और ख की सभी सेवाओं में भर्ती के लिए तैयारी करने हेतु सहायता दी जाती है।

(ii) चिकित्सा इंजीनियरिंग आदि क्षेत्रों में व्यावसायिक पाठ्यक्रमों को चलाने वाली शैक्षिक संस्थाओं को प्रवेश परीक्षा की तैयारी के लिए भी सहायता दी जाती है।

(iii) सूचना प्रौद्योगिकी और अन्य सेवा क्षेत्र के कार्यकलापों जैसे उभरते क्षेत्रों के लिए कोचिंग पर बल दिया जाता है।

(iv) 1,00,000 से कम पारिवारिक आय वाले लक्ष्य समूहों के छात्र सहायता के पात्र हैं।

(v) कोचिंग केन्द्र समूह 'क' सेवाओं में प्रशिक्षण के लिए 8,000/- प्रति छात्र प्रति पाठ्यक्रम, समूह ख सेवाओं और सभी अन्य परीक्षाओं के लिए 6,000/- रुपये प्रति छात्र प्रति पाठ्यक्रम की वित्तीय सहायता प्राप्त करने के लिए पात्र हैं।

(vi) बाहर के छात्रों के लिए वजीफे की दर समूह क सेवाओं के लिए 700 रु. प्रति छात्र प्रति महीना और समूह ख सेवाओं और प्रवेश परीक्षाओं के लिए 375 रु. प्रदान किये जाते हैं। स्थानीय छात्रों के मामलों में समूह क और ख की सेवाओं तथा प्रवेश परीक्षा के लिए क्रमशः 225 रु. और 125 रु. प्रदान किये जाते हैं।

(vii) कोचिंग संस्थाओं से छात्रों को कोचिंग प्रदान करने पर विशेष ध्यान देने की अपेक्षा की जाती है और यह सुनिश्चित करने के लिए कहा जाता है कि योजना के अंतर्गत उनके द्वारा कोचिंग प्राप्त कम से कम 33% छात्र प्रवेश/भर्ती परीक्षाओं में सफल हों।

3.4.2 योजना के अंतर्गत केन्द्रीय अंश की निर्मुक्ति/व्यय तथा लाभान्वित ब्यौरा निम्नलिखित है :

(रुपये करोड़ में)

वर्ष	निर्मुक्त राशि	लाभान्वितों की संख्या
1997-1998	1.75	8886
1998-1999	2.85	11,720
1999-2000	2.30	12,189
2000-2001	2.25	10,388
2001-2002	2.00	5,317
2002-2003	1.86	5,432

(27.12.2002 की स्थिति के अनुसार)

अनुसूचित जाति के छात्रों के लिए पुस्तक बैंक

3.5 इस योजना का उद्देश्य अनुसूचित जाति/जनजाति के छात्रों को चिकित्सा (भारतीय चिकित्सा पद्धति तथा होम्योपैथी सहित) पशु चिकित्सा, इंजीनियरिंग, कृषि तथा पालीटेक्निक पाठ्यक्रमों, जिनके लिए महँगी पुस्तकों की आवश्यकता होती है, के लिए पुस्तक बैंकों की स्थापना के माध्यम से अद्यतन पाठ्यपुस्तकों की खरीद के लिए सहायता प्रदान करना है। इस योजना में विधि पाठ्यक्रम, चार्टर्ड एकाउन्टेंसी, एम.सी.ए. तथा जीव विज्ञान भी शामिल है। दृष्टि विकलांग छात्रों की सहायता के लिए बेक पुस्तकों को शामिल करने संबंधी प्रावधान भी किया गया है। स्नातकोत्तर पाठ्यक्रमों और चार्टर्ड एकाउन्टेंसी को छोड़कर जहाँ छात्र को एक सेट प्रदान किया जाता है, विभिन्न चरणों में पुस्तकों का एक सेट दो छात्रों द्वारा परस्पर उपयोग किया जाता है। यह योजना मैट्रिकोत्तर छात्रवृत्ति प्राप्त करने वाले सभी छात्रों के लिए खुली है। पुस्तकों के सेट की अवधि 3 वर्ष निर्धारित की गई है। इस योजना में कपबोर्ड की खरीद के लिए 2000 रु. भी प्रदान किये जाते हैं। पाठ्यपुस्तकों की प्रति सेट की अधिकतम लागत 2400 रु. से 7500 रु. तक

भिन्न-भिन्न हो सकती है जो पाठ्यक्रम पर निर्भर है। राज्यों को 50% के आधार (संघ राज्य क्षेत्रों को 100%) पर केन्द्रीय सहायता प्रदान की जाती है।

3.5.2 योजना के अन्तर्गत केन्द्रीय अंश की निर्मुक्ति/व्यय और लाभान्वित अनुसूचित जाति/जनजाति छात्रों की संख्या के ब्योरे निम्नलिखित हैं :

(रुपये करोड़ में)

वर्ष	निर्मुक्त राशि	लाभान्वितों की संख्या
1997-1998	1.50	16,482
1998-1999	1.19	15,230
1999-2000	2.43	32,409
2000-2001	2.49	20,349
2001-2002	2.99	24,421
2002-2003	1.85	15,791

(27.12.2002 की स्थिति के अनुसार)

विशेष संघटक योजना

3.6 अनुसूचित जातियों का समग्र विकास करने और उन्हें गरीबी की रेखा से ऊपर उठाने के उद्देश्य से विशेष संघटक योजना (एस.सी.पी.) की अवधारणा 1979-80 में शुरू की गई। अनुसूचित जातियों के लिए विशेष संघटक योजना (एस.सी.पी.) अनुसूचित जातियों के विकास के लिए राज्यों/संघ राज्य क्षेत्रों और केन्द्रीय मंत्रालयों की योजनाओं में सामान्य क्षेत्र से लागत के प्रवाह और लाभों को पहुँचाने के लिए तैयार की गई है। विशेष संघटक योजना के लिए सामान्य योजना से निधियों के प्रवाह का अनुपात कुल जनसंख्या में अनुसूचित जातियों के जनसंख्या के अनुपात से कम नहीं होना चाहिए। एस.सी.पी. एक अम्ब्रेला कार्यक्रम है जिसके अन्तर्गत केन्द्रीय और राज्य सरकारों द्वारा कार्यान्वित सभी योजनाओं का अनुसूचित जाति के व्यक्तियों की विभिन्न जरूरतों को पूरा करने के लिए सामंजस्य किया जाता है।

राज्य सरकारों की एस.सी.पी. के अन्तर्गत निधियों का प्रवाह और कवरेज

3.7 इस समय अनुसूचित जाति की व्यापक जनसंख्या वाले 27 राज्य/संघ राज्य क्षेत्र अनुसूचित जातियों के लिए विशेष संघटक योजना तैयार कर रहे हैं। गरीबी रेखा को पार करने के लिए सहायता प्रदान किये गये अनुसूचित जाति के परिवारों को बीस सूत्री कार्यक्रम के सूत्र 11-क के अन्तर्गत मानीटर किया जाता है। नौवीं पंचवर्षीय योजना के दौरान एससीपी के अन्तर्गत परिव्यय और व्यय का ब्यौरा और सहायता प्रदान किए गए अनुसूचित जाति के परिवारों की संख्या अनुबंध-VIII में दी गई है।

केन्द्रीय मंत्रालयों की विशेष संघटक योजना

3.8 केन्द्रीय मंत्रालयों/विभागों से भी उनकी वार्षिक योजना के भाग के रूप में अनुसूचित

जातियों के लिए विशेष योजनाएँ तैयार करने का आग्रह किया गया है। सितम्बर, 2002 के दौरान केन्द्रीय मंत्रालयों/विभागों के साथ सम्पन्न हुई अलग-अलग बैठकों में 45 केन्द्रीय मंत्रालयों/विभागों द्वारा विशेष संघटक योजना के निरूपण की समीक्षा की गई। इन बैठकों के दौरान केन्द्रीय मंत्रालयों/विभागों से लाभग्राही उन्मुखी परियोजनाओं में अनुसूचित जाति के परिवारों की सहायता की संभावनाओं का पता लगाने तथा सहायक उद्योगों की स्थापना करने, सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों, केन्द्रीय मंत्रालयों/विभागों के तत्वावधान के अन्तर्गत कार्यरत स्वायत्त निकायों द्वारा यथा अपेक्षित सेवाएँ और सम्बद्ध कार्यकलाप उपलब्ध कराने का अनुरोध किया गया है। उनसे अनुसूचित जातियों के लिए विशेष प्रशिक्षण/उद्यमीय विकास कार्यक्रम शुरू करने का भी अनुरोध किया गया है जो नये उद्यमियों के लिए तकनीकी रूप से व्यवहार्य और आर्थिक रूप से उपयुक्त हों।

विशेष केन्द्रीय सहायता

3.9 वर्ष 1979-80 में शुरू की गई विशेष केन्द्रीय सहायता की केन्द्रीय योजना के अन्तर्गत अनुसूचित जाति का तेजी से सामाजिक-आर्थिक विकास सुनिश्चित करने के लिए राज्य/संघ राज्य क्षेत्र के पूरक प्रयासों को मदद करने के लिए 100% विशेष केन्द्रीय सहायता दी जाती है। यह राज्यों/संघ राज्य क्षेत्रों की विशेष संघटक योजना का एक योगज है तथा अनुसूचित जातियों के आर्थिक विकास के लिए राज्यों/संघ राज्य क्षेत्र के प्रयास की संपूर्णता में वृद्धि करने के लिए बनाई गई है। विशेष केन्द्रीय सहायता का उद्देश्य अनुसूचित जाति के परिवारों को अपनी उत्पादकता और आय बढ़ाने के लिए सहायता प्रदान करना है। यह अनुसूचित जातियों द्वारा धारित परिसम्पत्तियों से हुई प्राप्ति को अधिकतम करते हुए विकासात्मक आवश्यकताओं की गहरी खाइयों को पाटता है।

3.9.2 विशेष संघटक योजना कार्यान्वित करने वाले राज्यों/संघ राज्य क्षेत्रों को विशेष केन्द्रीय सहायता इन राज्यों/संघ राज्य छात्रों की अनुसूचित जाति संख्या (40%) के आधार राज्यों के सापेक्षिक पिछड़ेपन (10%) के आधार पर राज्यों/संघ राज्य क्षेत्रों द्वारा उन्हें गरीबी की रेखा पार करने के लिए समर्थ बनाने के लिए योजनाओं में संयुक्त आर्थिक विकास कार्यक्रमों द्वारा शामिल किए गए अनुसूचित जाति परिवारों के प्रतिशत (25%) के आधार पर और इन राज्यों/संघ क्षेत्रों में अनुसूचित जाति की जनसंख्या (25%) की तुलना में वार्षिक योजना से विशेष संघटक योजना को निधियों के प्रवाह के आधार पर निर्मुक्त की जाती है। राज्यों/संघ राज्य क्षेत्रों को विशेष केन्द्रीय सहायता की दूसरी किस्त पिछले वर्ष की संचयी शेष राशि के व्यय के सुनिश्चित होने और चालू वर्ष की प्रथम किस्त का 75% उपयोग कर लिये जाने के बाद निर्मुक्त की जाती है।

3.9.3 नौवीं योजना अवधि के दौरान 27 राज्यों/संघ राज्य क्षेत्रों को 2009.17 करोड़ रुपये निर्मुक्त किये गये थे। राज्य/संघ राज्य क्षेत्रवार निर्मुक्तियों के ब्यौरे अनुबन्ध IX में दिये गये हैं।

3.9.4 वर्ष 2002-03 के लिए बजट आवंटन 379.00 करोड़ रुपये है। पहली किस्त के रूप में राज्यों/संघ राज्य क्षेत्रों (दिसम्बर, 2002 तक) को 192.44 करोड़ रुपए निर्मुक्त किए गए।

3.9.5 2001-02 से, सभी राज्यों/संघ राज्य क्षेत्रों से एस.सी.ए. से विशेष केन्द्रीय सहायता के उपयोग के लिए सब्सिडी (10,000 रु. तक) और राष्ट्रीय अनुसूचित जाति वित्त एवं विकास निगम/बैंक से ऋण के रूप में शेष राशि के सामंजस्य द्वारा विशिष्ट परियोजना प्रस्ताव तैयार

करने और कार्यकलापों का समर्थन करने के लिए अपेक्षित अवसंरचना आमदनी पैदा करने के लिए कहा गया है।

अनुसूचित जाति विकास निगमों (एस.सी.डी.सी.) को सहायता

3.10.1 49:51 के अनुपात में अनुसूचित जाति विकास निगम के शेयर इक्विटी भागीदारी के लिए केन्द्रीय प्रायोजित योजना वर्ष 1979 में शुरू की गई। इस समय अनुसूचित जाति विकास निगम 25 राज्यों/संघ राज्य क्षेत्रों में कार्य कर रहे हैं जिसमें से 9 अनुसूचित जाति विकास निगम भी सम्मिलित हैं जो अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति दोनों की जरूरतों को पूरा कर रहे हैं।

3.10.2 राज्य स्तरीय अनुसूचित जाति विकास निगमों के मुख्य कार्यों में पात्र अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति के परिवारों की पहचान करना और उचित आर्थिक विकास योजनाओं को शुरू करने के लिए उन्हें प्रेरित करना, ऋण सहायता के लिए वित्तीय संस्थाओं को ये योजनाएँ प्रायोजित करना, उनकी भुगतान संबंधी देयताओं को कम करने के लिए कम ब्याज दरों पर मार्जिन मनी और सब्सिडी के रूप में वित्तीय सहायता प्रदान करना तथा अन्य गरीबी उन्मूलन कार्यक्रमों के साथ आवश्यक सामंजस्य बनाए रखना शामिल है। अनुसूचित जाति विकास निगम लक्ष्यगत समूहों को ऋण देकर तथा मार्जिन मनी ऋण तथा सब्सिडी के माध्यम से अपर्याप्त निवेश महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं।

3.10.3 अनुसूचित जाति विकास निगम मुख्य रूप से (1) लघु सिंचाई सहित कृषि और सम्बद्ध कार्यकलापों (2) लघु उद्योग (3) परिवहन तथा (4) ट्रेड एवं सेवा क्षेत्र में रोजगारोन्मुखी योजनाएँ चलाते हैं। अनुसूचित जाति विकास निगम अपनी निधियों में से मार्जिन धन और विशेष केन्द्रीय सहायता में से सब्सिडी सहित एन.एस.एफ.डी.सी./बैंकों से ऋण घटक को सामंजस्य करके परियोजनाओं का वित्त पोषण करते हैं।

योजना के अंतर्गत 1997-98 से उपलब्ध कराई गई शेयर पूँजी सहायता के ब्यौरे इस प्रकार हैं :

एस.सी.डी.सी. को केन्द्रीय शेयर पूँजी सहायता

वर्ष	राशि (करोड़ में)	लाभान्वित
1997-1998	45.00	3,71,003
1998-1999	60.00	5,57,292
1999-2000	20.00	1,05,182
2000-2001	27.63	1,43,682
2001-2002	21.00	2,62,838
		(अनन्तिम)

राष्ट्रीय अनुसूचित जाति वित्त एवं विकास निगम

3.11.1 राष्ट्रीय अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति वित्त एवं विकास निगम

(एन.एस.एफ.डी.सी.) की स्थापना कम्पनी अधिनियम, 1956 की धारा 25 के अंतर्गत लाभ न कमाने वाली कम्पनी के रूप में की गई, जिसका उद्देश्य गरीबी रेखा से दुगुना नीचे रहने वाले अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए आय सृजक कार्यकलापों का वित्त पोषण करना है (अभी आय की वार्षिक सीमाएँ ग्रामीण क्षेत्रों के लिए 40,000 रु. और शहरी क्षेत्रों के लिए 55,000 रु. है) भारत सरकार के आदेशों पर निगम के विभाजन के फलस्वरूप, निगम 10.4.2001 से केवल अनुसूचित जाति के लाभग्राहियों को देख रहा है।

3.11.2 निष्पादन

3.11.2.1 एन.एस.एफ.डी.सी. ने लाभग्राहियों की कवरेज में कई प्रकार से वृद्धि की है जो मुख्यतः जून, 2000 से लघु ऋण योजना को शुरू करने की वजह से है। 31.12.2002 की स्थिति के अनुसार, एन.एस.एफ.डी.सी. ने 1755.92 करोड़ रु. की लागत की 3239 योजनाएँ स्वीकृत की हैं जिसमें इसका स्वीकृत अंश 1227.61 करोड़ रु. है जो कि 4,14,318 लाभग्राहियों को शामिल करने के लिए है। इसके अतिरिक्त, योजना के कार्यान्वयन के लिए राज्य माध्यम एजेन्सियों को 963.54 करोड़ रु. की राशि वितरित की गई है। पिछले तीन वर्षों के दौरान निगम का तुलनात्मक निष्पादन नीचे दिया गया है :

तीन वर्षों के दौरान की गई प्रगति

(रुपये करोड़ में)

क्र.सं.	विवरण	2000-01	2001-02	2002-03 अप्रैल-दिसम्बर, 2002
1.	स्वीकृत परियोजनाओं की कुल लागत	201.50	311.05	250.08
2.	एनएसएफडीसी का शेयर	154.94	233.92	188.80
3.	लाभार्थियों की संख्या	52861	94845	54606
4.	शुद्ध संवितरण	132.51	173.80	105.88
5.	कौशल प्रशिक्षण कार्यक्रम	50	57	05
6.	प्रशिक्षण में एन.एस.एफ.डी.सी. का निवेश	0.73	1.33	0.06

टिप्पणी : (1) 1999-2000 के लिए आंकड़े लघु ऋण वित्त योजना को छोड़कर हैं क्योंकि इसे जून 2000 में शुरू किया गया था।

(2) 2001-02 के लिए आंकड़े केवल अनुसूचित जाति लक्ष्य समूह से संबंधित हैं।

अवसर रूपरेखा और मूलभूत सर्वेक्षण

3.11.3 एन.एस.एफ.डी.सी. ने लक्षित समूह के लिए प्रासंगिक जरूरत आधारित आर्थिक कार्यकलापों की 101 अवसर रूपरेखाएँ प्रकाशित की हैं। 1989 में अपने प्रारम्भ से, निगम ने अपनी राज्य माध्यम एजेंसियों द्वारा प्रायोजित अनेक परियोजनाओं का वित्तपोषण किया है। अब पहली बार "अवसर रूपरेखाओं" में पाई जाने वाली परियोजनाओं को वित्तपोषित करना

संभव हो जाएगा। 101 अवसर रूपरेखाओं का सावधानीपूर्वक चयन किया गया है। इसमें से 90% 5.00 लाख रुपये से कम हैं, वापसी की न्यूनतम दर 30% रखी गई है। पुनर्भुगतान की अधिकतम अवधि 7 वर्ष रखी गई है और 5,00,000 प्रतिवर्ष लाभ की योजना बनाई गई है। इन रूपरेखाओं में सेवा क्षेत्र, कृषि व्यवसाय और अब शोषित/दर किनार परिवारों के प्रथम पीढ़ी के उद्यमियों की क्षमताओं के लिए प्रासंगिक व्यवसायों में तेजी से उभरते अवसरों को पर्याप्त रूप से शामिल किया जाता है।

समझौता ज्ञापन (एम.ओ.यू.)

3.11.4 एन.एस.एफ.डी.सी. के लिए निष्पादन लक्ष्य सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय से वर्ष 2002-03 के लिए समझौता ज्ञापन करके निर्धारित किया गया है।

नई पहलें

3.11.5 ऋण नीति का संशोधन

एस.एफ.डी.सी. ने 1.10.2002 को अपनी ऋण नीति का संशोधन किया है। संशोधन की प्रमुख उपलब्धियाँ निम्नलिखित हैं :

(i) 1.10.2002 से पहले, लाभग्राहियों से 5.00 लाख रु. तक के ऋणों के लिए 7% प्रतिवर्ष की दर से ब्याज वसूला जाता था और 5.00 लाख से अधिक ऋण के लिए यह 9% प्रतिवर्ष था। संशोधित योजना के अन्तर्गत, ऋण दरों को 1% प्रतिवर्ष तक घटा दिया गया है जो लाभग्राहियों को 5.00 लाख रु. तक के ऋण के लिए 6% प्रतिवर्ष और 5.00 लाख रु. से अधिक ऋण के लिए 8% प्रतिवर्ष है। इसी तरह, एन.एस.एफ.डी.सी. ने भी लघु ऋण वित्त योजना (एम.सी.एफ.) के अन्तर्गत लाभग्राहियों के लिए ब्याज दरों को पहले की 12% प्रतिवर्ष से घटाकर 5% प्रतिवर्ष कर दिया है। एम.सी.एफ. के अन्तर्गत यूनिट लागत सीमा को 10,000 रुपये से बढ़ाकर 25,000 रु. प्रति यूनिट प्रति लाभग्राही कर दिया गया है।

(ii) लाभग्राहियों तक लाभों की शीघ्र पहुँच को सुसाध्य बनाने के लिए, राज्य माध्यम एजेन्सियों की अनुमन्य निधि उपयोग अवधि 120 दिनों से घटाकर 90 दिन कर दी गई है।

(iii) निम्नलिखित को शामिल करने के लिए ऋण प्राप्त करने संबंधी प्रक्रिया को विस्तृत रूप से तैयार किया गया है :

(क) आवेदनकर्त्ता का अनिवार्य पंजीकरण।

(ख) विधिवत गठित चयन समिति द्वारा आवेदनों का निपटान।

(ग) चयन/रद्द करने के कारणों को दर्शाने वाली कार्यवाहियों का समुचित प्रलेखन।

(iv) कौशल प्रशिक्षण कार्यक्रमों के लिए नीति को मानकीकृत करना ताकि लक्षित समूह के लिए प्रशिक्षण कार्यक्रम केवल सरकारी/अर्ध सरकारी/स्वायत्त संस्थाओं के माध्यम से आयोजित किये जा सकें और प्रशिक्षण की शत प्रतिशत आवर्ती लागत अनुदानों के रूप में प्रदान की जा सके।

राष्ट्रीय सफाई कर्मचारी वित्त व विकास निगम (एन.एस.के.एफ.डी.सी.)

3.12.1 समस्त भारत के सफाई कर्मचारियों और उनके आश्रितों के चहुँमुखी सामाजिक आर्थिक उत्थान के लिए और सफाई कर्मचारी लाभग्राहियों को आय सृजक और व्यवहार्य परियोजनाओं की स्थापना के लिए रियायती वित्तीय सहायता प्रदान करने के लिए एक शीर्ष संस्था के रूप में कार्य करने हेतु कम्पनी अधिनियम 1956 की धारा 25 के अन्तर्गत 24 जनवरी, 1997 को राष्ट्रीय सफाई कर्मचारी वित्त और विकास निगम को निगमित किया गया। कम्पनी की प्राधिकृत अंश पूँजी 200 करोड़ रु. है। दिसम्बर 2002 तक भारत सरकार द्वारा इक्विटी के रूप में 96.76 करोड़ रु. का अंशदान किया गया है।

3.12.2 निगम के लक्ष्य समूह 'स्कैवेंजर्स' का अर्थ उन व्यक्तियों से है जो पूर्णतः या आंशिक रूप से हाथ से मैला और गंदगी उठाने के व्यवसाय में लगे हुए हैं और सफाई कर्मचारियों तथा उनके आश्रितों का अर्थ उन व्यक्तियों से है जो स्वच्छता कार्य में लगे हैं अथवा नियोजित हैं।

3.12.3 एन.एस.के.एफ.डी.सी. राज्य सरकारों द्वारा यथा नामित राज्य माध्यम एजेन्सियों के माध्यम से सफाई कर्मचारियों और उनके आश्रितों को ऋण प्रदान करता है। राज्य सरकारें राज्य माध्यम एजेंसियों को दिये गये ऋण के पुनर्भुगतान की गारन्टी लेती हैं।

लघु ऋण वित्त

3.12.4 सबसे गरीब लोगों, जिनकी संस्थागत वित्त तक पहुँच नहीं है और लघु ऋण की जरूरत है, को ऋण प्रदान करने के उद्देश्य से, एन.एस.के.एफ.डी.सी. की एक लघु ऋण योजना है। इसके अन्तर्गत राज्य माध्यम एजेंसियों/गैर सरकारी संगठनों, जो लाभग्राहियों के स्व-सहायता समूह बना सकें, के माध्यम से प्रति लाभग्राही को पुनर्भुगतान पर अधिकतम 25,000/- रु. ऋण दिया जायेगा। एस.सी.ए./गैर सरकारी संगठनों के माध्यम से लाभग्राहियों के ऋण पर ब्याज एन.एस.के.एफ.डी.सी. को एस.सी.ए. द्वारा देय 2% के ब्याज की दर पर और लाभग्राही से 5% है। पुनर्भुगतान की अवधि 6 महीने के विलम्ब काल सहित 18 से 36 महीने है। वर्ष 2002-2003 के दौरान, निगम ने एम.सी.एफ. के अन्तर्गत दिसम्बर, 2002 तक 13067 लाभग्राहियों को कवर करते हुए 10.37 करोड़ रु. की राशि का वितरण किया है।

आवधिक ऋण

3.12.5 निगम के वित्त प्रबन्ध कार्यक्रमों में सफाई कर्मचारी लाभग्राहियों के आर्थिक विकास और क्षमता निर्माण के लिए कौशल और उद्यमीय विकास कार्यक्रम के लिए आवधिक ऋण, ब्रिज ऋण और अनुदान के रूप में सहायता शामिल है। यह वित्तीय सहायता राज्य सरकार/संघ राज्य क्षेत्र प्रशासन के माध्यम से प्रदान की जाती है। लाभग्राही को परियोजना लागत का अधिकतम 90% ऋण प्रदान किया जाता है। 5 लाख रु. तक की परियोजनाएँ निगम द्वारा वित्त पोषित की जा सकती हैं। एन.एस.के.एफ.डी.सी. कृषि और सम्बद्ध कार्यकलापों, कलाकार और परम्परागत व्यवसाय; तकनीकी व्यापार स्व-रोजगार, लघु और छोटे उद्योग, लघु व्यवसाय और ढुलाई सेवाओं आदि जैसे विभिन्न क्षेत्रों में लक्ष्य समूह के लिए रोजगार सृजन हेतु व्यापक आय

सृजक कार्यकलापों का वित्त प्रबन्ध करता है। वर्ष 2002-03 के दौरान निगम ने 2474 लाभग्राहियों को कवर करते हुए आवधिक ऋण के अन्तर्गत 15.34 करोड़ रुपये की राशि का वितरण किया है। पिछले तीन वर्षों के दौरान निगम के निष्पादन संकेतों का अवलोकन निम्नलिखित है :

(रुपये करोड़ में)

मद	1999-2000	2000-01	2001-02	2002-03 (दिसम्बर, 2002)
निर्मुक्त केन्द्रीय अंश पूँजी	20.00	22.00	25.00	15.00
आवधिक ऋण स्वीकृत	21.79	128.85	24.44	24.07
आवधिक ऋण निर्मुक्त	20.16	29.12	24.79	15.34
शेयर पूँजी निर्मुक्त (%)	100%	154%	99.16%	102%
लाभार्थियों की संख्या	4975	20489	5477	2474
शामिल किए गए राज्य	18	27	27	30

अनुसूचित जातियों के लिए कार्यरत स्वैच्छिक संगठनों को सहायता-अनुदान की योजना

3.13 अनुसूचित जातियों के लिए कार्यरत स्वैच्छिक संगठनों को सहायता अनुदान की योजना का उद्देश्य उनके शैक्षिक स्तरों में सुधार और कौशल उन्नयन करना है जिससे कि वे स्व-रोजगार प्राप्त कर सकें या व्यावसायिक और अन्य उद्यमों में नियमित रोजगार प्राप्त कर सकें। यह सहायता अनुदान अनुसूचित जातियों से सम्बद्ध छात्रों के लिए स्कूल और छात्रावास खोलने, व्यावसायिक प्रशिक्षण या किसी अन्य आय सृजनकारी कौशलों के लिए दिया जाता है। अनुसूचित जातियों से सम्बद्ध परिवारों के बच्चों, जब उनके माता-पिता काम पर गए होते हैं, की देखभाल करने के लिए बालवाड़ी और बाल केन्द्र चलाने के लिए सहायता भी दी जाती है। उन क्षेत्रों में अस्पतालों और मोबाइल डिस्पैंसरियों सहित डिस्पैंसरियों की स्थापना के माध्यम से चिकित्सा सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं जहाँ कि अनुसूचित जातियों से सम्बद्ध परिवारों की सघनता है। यहाँ उल्लिखित योजनाओं के अन्तर्गत 366 स्वैच्छिक संगठनों द्वारा 598 परियोजनाएँ चलायी जा रही हैं और दिसम्बर, 2002 तक उन्हें 18.18 करोड़ रुपये की धनराशि निर्मुक्त की गई है।

अनुसूचित जातियों के छात्रों के लिए मैट्रिकोत्तर छात्रवृत्ति की योजना

3.14 इस योजना के अन्तर्गत अनुसूचित जाति के छात्रों को वित्तीय सहायता दी जाती है जो मान्यताप्राप्त संस्थानों में मैट्रिकोत्तर पाठ्यक्रम में अध्ययन करते हैं। इस सहायता में अनुरक्षण भत्ते का प्रावधान, अनिवार्य वापस न हो जाने वाली फीस की प्रतिपूर्ति, शोध प्रबंध से संबंधित टंकण/मुद्रण व्यय, अध्ययन यात्रा खर्च, पत्राचार पाठ्यक्रमों से पढ़ने वाले छात्रों के लिए पुस्तक भत्ता तथा इस योजना के अन्तर्गत शामिल विकलांग छात्रों के लिए विशेष प्रावधान शामिल है।

छात्रवृत्ति का संवितरण संबंधित राज्य सरकारों तथा संघ राज्य क्षेत्र प्रशासनों द्वारा किया जाता है। उन्हें अपनी प्रतिबद्ध देयता के अतिरिक्त शत-प्रतिशत केन्द्रीय सहायता दी जाती है। पूर्वोत्तर राज्यों की कोई प्रतिबद्ध देयता नहीं है।

3.14.2 इस योजना में इस समय 16 लाख छात्रों को प्रतिवर्ष कवर किया जाता है। 2002-03 के दौरान 18 लाख अनुसूचित जाति के छात्रों के लाभान्वित होने की आशा है। इस योजना के अन्तर्गत 93% से भी अधिक अनुसूचित जाति के छात्र शामिल किए गए हैं। इस योजना के अन्तर्गत कवरेज अनुसूचित जाति की जनसंख्या में वृद्धि की दर के मुकाबले ज्यादा तेजी से बढ़ रही है जिसके परिणामस्वरूप प्रत्येक वर्ष अनुसूचित जाति के छात्रों की बड़ी संख्या इसके अंतर्गत आ रही है जो कि आवंटन में वृद्धि तथा किए गए व्यय से प्रतिबिम्बित होता है।

(रुपये करोड़ में)

वर्ष	**बजट मानस**	**निर्मुक्त केन्द्रीय सहायता**	**लाभार्थियों की संख्या**
1997-1998	48.63	41.53	13,20,938
1998-1999	48.61	58.68	13,91,701
1999-2000	72.25	84.08	13,95,851
2000-2001	130.00	114.15	13,96,338
2001-2002	154.63	159.27	16,26,519
2002-2003	268.00	84.18	18,75,976
		(दिसम्बर 2002 तक)	(प्रत्याशित)

अस्वच्छ व्यवसाय में लगे व्यक्तियों के बच्चों को मैट्रिकपूर्व छात्रवृत्ति

3.15 इस योजना के अन्तर्गत सफाई कर्मचारियों, चमड़ा उतारने तथा रंगने के कार्य से जुड़े व्यक्तियों के बच्चों को मैट्रिक स्तर तक पढ़ाई के लिए सहायता दी जाती है। यह छात्रवृत्ति राज्य सरकारों तथा संघ राज्य क्षेत्र प्रशासन द्वारा प्रदान की जाती है। राज्य सरकारों को 50:50 के आधार पर तथा संघ राज्य क्षेत्र प्रशासन को उनकी वचनबद्ध देयता के अतिरिक्त 100% केन्द्रीय सहायता दी जाती है। लक्ष्य समूह में विकलांग छात्रों को भी सहायता प्रदान की जाती है। इस योजना के अंतर्गत कोई आय सीमा निर्धारित नहीं है। इस योजना के कवरेज में धीरे-धीरे वृद्धि हुई है। वर्ष 2001-02 के दौरान इस योजना के अन्तर्गत 4.50 लाख छात्र लाभान्वित हुए जो नौवीं योजना के दौरान का निष्पादन सारणी और ग्राफ में दर्शाया गया है।

वर्ष	**निर्मुक्त केन्द्रीय सहायता (रु. करोड़ में)**	**लाभार्थियों की संख्या (लाख में)**
1997-1998	2.00	3.17
1998-1999	4.40	3.57
1999-2000	7.88	3.63

2000-2001	11.63	4.21
2001-2002	10.04	4.50
2002-2003	1.80	5.00
	(दिसम्बर, 02 तक)	(प्रत्याशित)

सफाई कर्मचारियों और उनके आश्रितों की मुक्ति और पुनर्वास की राष्ट्रीय योजना

3.16 मैले और गंदगी की हाथ से सफाई करने वाले सफाई कर्मचारियों की मुक्ति के उद्देश्य से वर्ष 1991-92 में राष्ट्रीय योजना आरम्भ की गई जिसका उद्देश्य वैकल्पिक व्यवसाय में उनके प्रशिक्षण और पुनर्वास के लिए सफाई कर्मचारियों को वित्तीय सहायता प्रदान करना है। इस योजना में ट्राइसेम मानदंडों के अनुसार सरकार, स्थानीय निकायों तथा गैर-सरकारी संगठनों के प्रशिक्षण संस्थानों में प्रशिक्षण के लिए सहायता प्रदान की जाती है। प्रशिक्षण अवधि अधिकतम 6 महीने की होती है। प्रशिक्षण के लिए प्रदान किया जा रहा वजीफा 200 रु. से 500 रु. के बीच है जो प्रशिक्षण संस्थान पर निर्भर करता है। कच्ची सामग्री की लागत तथा टूल किट के लिए भत्ते आदि का भी प्रावधान योजना के अन्तर्गत है। प्रशिक्षण के लिए सहायता के अतिरिक्त 50,000/- रु. की लागत वाली वैकल्पिक परियोजनाओं को शुरू करने के लिए सफाई कर्मचारियों को सहायता दी जाती है जिसका वित्त पोषण 10,000 रुपये प्रति परियोजना की सीमा के अध्यधीन 50% सब्सिडी मार्जिन धन ऋण के रूप में परियोजना लागत का 15%, जो 49:51 के अनुपात में केन्द्र सरकार और राज्य सरकारों द्वारा वहन किया जाता है तथा शेष ऋण के रूप में उपलब्ध कराई जाती है।

3.16.2 भारत सरकार द्वारा सम्पूर्ण सब्सिडी का 100% अनुदान के रूप में वहन किया जाता है। राज्य अनुसूचित जाति विकास निगम द्वारा 4% ब्याज की रियायती दर से मार्जिन धन प्रदान किया जाता है। बैंकों द्वारा अपने प्राथमिकता क्षेत्र ऋण के अंतर्गत ऋण संघटक प्रदान किया जाता है। एन.एस.के.एफ.डी.सी. भी अब ऋण प्रदान कर रहा है।

3.16.3 यह योजना संबंधित राज्य एस.सी.डी.सी. द्वारा कार्यान्वित की जाती है तथा उन राज्यों में जहाँ ऐसे निगम स्थापित नहीं किए गए हैं, योजना राज्य सरकारों द्वारा कार्यान्वित की जाती है।

3.16.4 देश में सफाई कर्मचारियों की अनुमानित संख्या 6.76 लाख है। वर्ष 2001-2002 तक 156488 सफाई कर्मचारियों के प्रशिक्षण तथा 408644 सफाई कर्मचारियों के पुनर्वास के लिए सहायता प्रदान करने के लिए 671.19 करोड़ रुपये निर्मुक्त किए गए हैं। नौवीं पंचवर्षीय योजना के दौरान 2002-2003 के दौरान दी गई सहायता निम्नलिखित है :

वर्ष	निर्मुक्त केन्द्रीय सहायता (रु. करोड़ में)	सहायता प्रदान सफाई प्रशिक्षण	कर्मचारियों की संख्या पुनर्वास
1997-1998	90.00	15,458	32,683
1998-1999	5.90	7,981	36,736
1999-2000	70.00	7,213	27,016

2000-2001	60.92	4,936	22,768
2001-2002	9.20	10,026	21,731
2002-2003	29.78	19,000	24,000 (प्रत्याशित)

3.16.6 सफाई कर्मचारियों द्वारा वाणिज्यिक कार्यकलापों का अकेले प्रबन्ध करने में सामना की जा रही कठिनाइयों को दूर करने के उद्देश्य से 2000-01 के दौरान सेनेटरी मार्टों को चलाने के लिए सफाई कर्मचारियों को समूहों में संगठित करने की अवधारणा का विकास किया गया। सेनेटरी मार्टों को उन सभी कार्यकलापों को शुरू करने के लिए प्रोत्साहित किया गया जो आर्थिक रूप से उपयुक्त हों। इसके अतिरिक्त, सफाई कर्मचारियों को आंध्र प्रदेश में सैप्टिक टैंकों से मैला साफ करने के लिए वैक्यूम लोडर्स चलाने के लिए सहायता प्रदान की गई है जिसने जोखिम तथा बीमारी को कम प्रवण बनाया है। राजस्थान में, सफाई कर्मचारियों के पुनर्वास के लिए तकरीबन 2000 दुकानों का निर्माण किया जा रहा है। इन उपायों से उनके पुनर्वास का नया अध्याय खुल गया है।

संविधान के अनुच्छेद 341(1) के अंतर्गत अतिरिक्त जातियों का अनुसूचित जाति के रूप में समावेश

3.17 संविधान के अनुच्छेद 341(1) के अनुसरण में, राष्ट्रपति ने विभिन्न राज्यों/संघ राज्य क्षेत्रों में समुदायों को अनुसूचित जातियों के रूप में विनिर्दिष्ट करने के लिए संविधान (अनुसूचित जाति) आदेश जारी किये हैं। संविधान (अनुसूचित जाति) आदेशों में उत्तरवर्ती परिवर्तन संविधान के निम्नलिखित प्रावधानों के अनुसार संसद के अधिनियम द्वारा किया जा सकता है।

3.17.2 अनुसूचित जातियों की सूची में अंतिम परिवर्तन वर्ष 1976 में किया गया था। वर्ष 1999 में सरकार में अनुसूचित जातियों को विनिर्दिष्ट करने के उद्देश्य से समावेश करने, हटाने और अन्य संशोधन करने के लिए रूपरेखाओं को अनुमोदित किया। इसके पश्चात् अनुसूचित जातियों की सूची में संशोधन करने के लिए लम्बित मामलों की जाँच के लिए सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय में पुनः अवलोकन किया गया। ऐसे मामले, जो संबंधित राज्य सरकारों, भारत के महापंजीयक और राष्ट्रीय अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति आयोग द्वारा संस्तुत थे, को तीन विधेयकों में शामिल किया गया जिन्हें संसद द्वारा इस वर्ष में पारित कर दिया गया।

3.17.2.1 संविधान (अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति) आदेश (संशोधन) विधेयक, 2002। यह एक अधिनियम बन गया है जिसे 4.6.2002 को विधि, न्याय और कम्पनी कार्य मंत्रालय द्वारा भारत के राजपत्र में अधिसूचित किया गया है। मध्य प्रदेश और महाराष्ट्र के लिए सूचीबद्ध अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के बहुत से लोग सरदार सरोवर परियोजना के अंतर्गत पुनर्वास के कारण गुजरात में बस गये हैं। ये लोग अनसचित जातियों

अनुसूचित जनजातियों को उपलब्ध लाभों का फायदा नहीं उठा पा रहे थे क्योंकि उनके समुदायों को गुजरात राज्य में अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के रूप में सूचीबद्ध नहीं किया गया था। इस अधिनियम से ये व्यक्ति गुजरात राज्य में इन लाभों का फायदा उठाने में सक्षम हो गये हैं क्योंकि इनके समुदायों को अब गुजरात में अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति के रूप में अधिसूचित कर दिया गया है।

3.17.2.2 संविधान (अनुसूचित जाति) आदेश (संशोधन) विधेयक 2002। यह अधिनियम बन गया है जिसे विधि, न्याय और कंपनी कार्य मंत्रालय द्वारा 27.5.2002 को भारत के राजपत्र में अधिसूचित कर दिया। इसके अधिनियमन से जहाँ उड़ीसा, पंजाब और पश्चिम बंगाल राज्यों की अनुसूचित जातियों की सूची में चार नई प्रविष्टियाँ हैं वहीं पंजाब और पश्चिम बंगाल राज्यों में दो पर्याय प्रविष्टियाँ की गई थीं। इसके अलावा उड़ीसा राज्य में अनुसूचित जातियों की सूची से दो वर्तमान समुदायों को निकाल दिया गया था क्योंकि ये समुदाय अस्पृश्यता से पीड़ित नहीं थे।

3.17.2.3 संविधान (अनुसूचित जाति) आदेश (द्वितीय संशोधन) विधेयक, 2002 में आन्ध्र प्रदेश, हिमाचल प्रदेश, केरल, मध्य प्रदेश, त्रिपुरा और पांडिचेरी राज्यों की अनुसूचित जातियों की सूची में 8 नई प्रविष्टियों को शामिल करना, आन्ध्र प्रदेश, बिहार, गुजरात, हरियाणा, जम्मू व कश्मीर, कर्नाटक की सूचियों में संशोधन करना और अरुणाचल प्रदेश, केरल, दादरा व नगर हवेली राज्यों में जहाँ ये समुदाय विद्यमान नहीं थे या किसी वास्तविक सामाजिक अयोग्यता से पीड़ित नहीं थे, की वर्तमान सूची से 24 प्रविष्टियों को हटा दिया गया है। यह विधेयक लोकसभा द्वारा दिनांक 30.7.2002 को तथा राज्यसभा द्वारा दिनांक 20.11.2002 को पारित कर दिया गया है।

सिविल अधिकार संरक्षण अधिनियम, 1955 और अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति (अत्याचार निवारण) अधिनियम, 1989 का कार्यान्वयन

3.18 संविधान के अनुच्छेद 17, जिसके द्वारा अस्पृश्यता को समाप्त कर दिया गया है और इसका किसी भी रूप में प्रयोग निषिद्ध है, के अतिरिक्त, संवैधानिक प्रावधानों के प्रवर्तन के उद्देश्य से सिविल अधिकार अधिनियम, 1955 को अधिनियमित किया गया था। इसके अलावा, अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के विरुद्ध अपराधों का पता लगाने और निर्धारण करने के लिए अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति (अत्याचार निवारण) अधिनियम, 1989 को 30 जनवरी 1990 से लागू किया गया जिसका उद्देश्य अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के सदस्यों के विरुद्ध अत्याचारों के अपराधों को रोकना, ऐसे अपराधों की जाँच के लिए और ऐसे अपराधों के पीड़ितों को राहत और पुनर्वास के लिए और इससे संबंधित या इससे प्रासंगिक मामलों के लिए विशेष न्यायालयों का प्रावधान करना है। अधिनियम के प्रावधान जम्मू व कश्मीर राज्य को छोड़कर सम्पूर्ण भारत में लागू है। 31 मार्च, 1995 को अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति (अत्याचार निवारण) अधिनियम के अंतर्गत व्यापक नियमों को भी अधिसूचित किया गया है जिसमें अन्य बातों के साथ-साथ प्रभावित व्यक्ति को 'राहत और पुनर्वास' का प्रावधान है। इन अधिनियमों के प्रावधान संबंधित राज्य सरकारों/संघ राज्य क्षेत्र

प्रशासनों द्वारा कार्यान्वित किये जाते हैं।

3.18.2 अधिनियमों के प्रावधानों के कार्यान्वयन में राज्यों/संघ राज्य क्षेत्रों को वित्तीय रूप से सहायता के उद्देश्य से, केन्द्रीय सहायता मुख्यतः प्रशासनिक, प्रवर्तन और न्यायिक तंत्र के सुदृढ़ीकरण, जागरूकता सृजन और प्रभावित व्यक्तियों को राहत और उनके पुनर्वास के लिए प्रदान की जाती है। नौवीं योजना अवधि और वर्तमान वित्तीय वर्ष के दौरान राज्य सरकारों/संघ राज्य क्षेत्र प्रशासनों को निर्मुक्त केन्द्रीय सहायता के ब्यौरे नीचे दिए गए हैं :

(रुपये करोड़ में)

वर्ष	**निर्मुक्त**
1997-1998	16.47
1998-1999	15.50
1999-2000	24.94
2000-2001	27.08
2001-2002	30.05
2002-2003	30.90
	(दिसम्बर 2002 तक)

8.3 अधिनियम के अंतर्गत दर्ज किये गये मामलों के ब्यौरे नीचे दिए गए हैं :

वर्ष	**पी.ओ.ए. एक्ट के अन्तर्गत दर्ज किये गए मामलों की संख्या**	**पी.सी.आर. एक्ट के अन्तर्गत दर्ज किये गए मामलों की संख्या**
1996	27688	808
1997	29920	831
1998	27561	611
1999	26285	526
2000	30315	856
2001	9174	453

3.18.4 उपर्युक्त सारणी से यह पता चलता है कि वर्ष 2001 के दौरान अधिनियम के अंतर्गत दर्ज किए गए मामलों की संख्या में वर्ष 2000 के दौरान दर्ज मामलों की तुलना में कमी आयी है।

3.18.5 अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति (अत्याचार निवारण) अधिनियम, 1989 के कार्यान्वयन के लिए आन्ध्र प्रदेश, बिहार, छत्तीसगढ़, गुजरात, हिमाचल प्रदेश, झारखंड, कर्नाटक, केरल, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, उड़ीसा, पंजाब, राजस्थान, तमिलनाडु, उत्तर प्रदेश, उत्तरांचल और पांडिचेरी राज्यों/संघ राज्य क्षेत्रों में विशेष सैलों का गठन किया गया है।

3.18.6 अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति (अत्याचार निवारण) अधिनियम, 1989 के अंतर्गत मामले की शीघ्र जाँच के लिए अनन्य 122 अन्य विशेष न्यायालयों की स्थापना की गई है जिसमें आन्ध्र प्रदेश (12), गुजरात (10), कर्नाटक (04), मध्य प्रदेश (35), राजस्थान (17), तमिलनाडु (04) और उत्तर प्रदेश (40) हैं। इसके अतिरिक्त अरुणाचल प्रदेश, मिजोरम और नागालैण्ड, जो अधिमानतः जनजातीय क्षेत्र हैं, को छोड़कर सभी राज्यों ने अधिनियम के अंतर्गत अपराधों की जाँच के लिए सत्र न्यायालयों को विशेष न्यायालयों के रूप में अधिसूचित किया है।

3.18.7 अधिनियम के संगत प्रावधान के अनुसरण में, राज्य सरकारों/संघ राज्य क्षेत्र प्रशासनों और स्वयं भारत सरकार द्वारा किये गये उपायों पर वार्षिक रिपोर्ट संसद के दोनों सदनों के पटल पर रखी जाती है। वर्ष 2000 के लिए वार्षिक रिपोर्ट को संसद के दोनों सदनों के पटल पर रख दिया गया है। कलैण्डर वर्ष 2001 के लिए वार्षिक रिपोर्ट तैयार की जा रही है।

3.18.8 अधिनियमों के कार्यान्वयन की समीक्षा 5 फरवरी, 2002 को आयोजित राज्यों/संघ राज्य क्षेत्र के नोडल अधिकारियों की बैठक में की गई। इस मामले पर 8-9 जुलाई 2002 को नई दिल्ली में आयोजित राज्य सचिवों की बैठक में भी विचार-विमर्श किया गया।

3.18.9 राज्य सरकारों/संघ राज्य क्षेत्र प्रशासनों से भी समय-समय पर अधिनियम को पूरी तरह से कार्यान्वित करने के लिए कहा जाता है। इस मामले में वर्ष 2002 में राज्यों/संघ राज्य क्षेत्रों को निम्नलिखित पत्र भेजे गए :

- अधिनियम के प्रभावी कार्यान्वयन के लिए प्रभावी उपाय करने के लिए सभी राज्यों/संघ राज्य क्षेत्रों के मुख्य सचिवों को संबोधित दिनांक 26.3.2002 का पत्र।
- अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति की महिलाओं पर अत्याचारों को रोकने के लिए उपाय करने के संबंध में राज्यों में अनुसूचित जाति विकास और कुछ गृह विभाग के प्रभारी सचिवों को संबोधित दिनांक 16.5.2002 का पत्र।
- राज्यों के मुख्यमंत्रियों को संबोधित माननीय सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्री का दिनांक 14.7.2002 का पत्र जिसमें अधिनियम के प्रभावी कार्यान्वयन के लिए अपेक्षित उपायों और अनन्य विशेष न्यायालयों की स्थापना पर बल दिया गया है।
- राज्यों/संघ राज्य क्षेत्रों में अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति विकास विभागों के प्रभारी सचिवों को संबोधित दिनांक 26.8.2002 का पत्र जिसमें यह सुझाव दिया गया है कि अत्याचार प्रवण क्षेत्र में अधिकारियों की नियुक्तियाँ अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति (अत्याचार निवारण) नियमावली, 1995 के नियम 13 के अनुसार होनी चाहिए और सामाजिक न्याय से संबंधित अधिकारियों का बार-बार स्थानान्तरण नहीं किया जाना चाहिए।
- राज्य गृह सचिवों को सम्बोधित दिनांक 19.9.2002 के पत्र में सुझाव दिया गया है कि जाँच अधिकारियों को संवेदनशील बनाना चाहिए जिससे कि वे कमजोर वर्गों के साथ बातचीत करते समय पूर्व सक्रिय, विचारशील और सहानुभूतिशील रहें और यह कि एफ.आई.आर. तत्काल दर्ज करानी चाहिए क्योंकि एफ.आई.आर. दर्ज होते ही न्याय देने की

प्रक्रिया शुरू हो जाती है।

- राज्यों/संघ राज्य क्षेत्रों के मुख्य सचिवों को संबोधित दिनांक 26.9.2002 के पत्र में यह उल्लेख है कि अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति (अत्याचार निवारण) अधिनियम 1989 के अंतर्गत पंजीकृत मामले समाधेय नहीं हैं जैसी कि विधि और न्याय मंत्रालय द्वारा सलाह दी गई है और यह कि समझौता होने में अधिनियम के उद्देश्यों को विफल करने की अनुमति नहीं होनी चाहिए।

3.18.10 इस प्रकार भारत सरकार अधिनियमों के प्रभावी कार्यान्वयन के लिए गंभीर प्रयास कर रही है। इसके बावजूद जातिगत पूर्वाग्रहों से बचने और सभी नागरिकों को सम्मानजनक जीवन जीने का अधिकार और समानता का प्रसार करना सिविल समाज की जिम्मेदारी है।

राष्ट्रीय अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति आयोग

3.19 राष्ट्रीय अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति आयोग का गठन संविधान के अनुच्छेद 338 के अन्तर्गत एक उच्च स्तरीय स्वतंत्र निकाय के रूप में किया गया जो अनुसूचित जातियों/अनुसूचित जनजातियों को प्रदान किए गए सुरक्षा उपायों को मॉनीटर करेगा और उनके कल्याण से संबंधित मामलों की समीक्षा भी करेगा। भारत के संविधान के अनुच्छेद 338 की धारा 5 में अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के हितों की रक्षा, सुरक्षा उपाय तथा संवर्धन करने के लिए आयोग को व्यापक अधिकार प्रदान किये गये हैं। उक्त अनुच्छेद की धारा 8 के अन्तर्गत आयोग को कुछ मामलों में मुकदमा चलाने के लिए सिविल कोर्ट की शक्तियाँ प्राप्त हैं तथा भारत के किसी भी भाग के किसी भी व्यक्ति को उपस्थित होने के लिए सम्मन जारी करने तथा उपस्थिति सुनिश्चित करने एवं शपथ पत्र लेने, शपथ पत्र पर साक्ष्य प्राप्त करने तथा उनकी जाँच करने आदि का अधिकार है तथा समिति की सिफारिशों पर की गई कार्रवाई अथवा की जाने वाली प्रस्तावित कार्रवाई के बारे में बताते हुए ज्ञापन संसद के दोनों सदन के पटलों पर रखना होता है। आयोग का पुनर्गठन 2002 में किया गया।

3.19.2 वर्ष के दौरान, आयोग ने राज्यों और संघ राज्य क्षेत्रों का व्यापक दौरा किया तथा अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए विकास कार्यक्रमों के कार्यान्वयन, संरक्षणात्मक कानूनों तथा आरक्षण नीति का मूल्यांकन किया। इसने अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के कल्याण से संबंधित मामलों पर विभिन्न सार्वजनिक क्षेत्रों के उपक्रमों, वित्तीय संस्थाओं, विश्वविद्यालयों तथा अन्य सार्वजनिक वित्त पोषित संस्थाओं द्वारा की गई कार्रवाई की भी समीक्षा की। क्रमशः अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के कल्याण के लिए विशेष संघटक योजना और आदिवासी उपयोजना नीतियों तथा आरक्षण नीति के कार्यान्वयन का मूल्यांकन करने के लिए इस अवधि के दौरान दूर संचार और शहरी विकास मंत्रालयों की समीक्षा की गई।

राष्ट्रीय सफाई कर्मचारी आयोग

3.20 सफाई कर्मचारियों के हितों तथा अधिकारों के संवर्धन तथा सुरक्षा के लिए राष्ट्रीय सफाई कर्मचारी आयोग का गठन राष्ट्रीय सफाई कर्मचारी, आयोग अधिनियम, 1993 के प्रावधानों के अन्तर्गत दिनांक 12 अगस्त, 1994 को किया गया था। राष्ट्रीय आयोग को, अन्य बातों के साथ-साथ सफाई कर्मचारियों के कल्याणार्थ कार्यक्रमों तथा योजनाओं को कार्यान्वित करने

संबंधी मामलों तथा विशेष शिकायतों के बारे में छानबीन करने के अधिकार प्रदान किए गए हैं। सफाई कर्मचारियों को प्रभावित करने वाले सभी महत्त्वपूर्ण नीतिगत मामलों में आयोग से परामर्श किया जाना अपेक्षित है।

3.20.2 आयोग ने पहले चार रिपोर्टें दी थीं, जो रिपोर्टों में निहित सिफारिशों पर की गई कार्रवाई अथवा की जाने वाली प्रस्तावित कार्रवाई के बारे में बताते हुए ज्ञापन के साथ, संसद के दोनों सदनों में प्रस्तुत कर दी गई है।

3.20.3 राष्ट्रीय सफाई कर्मचारी आयोग अधिनियम, 1993 की धारा 3 द्वारा प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करते हुए, अधिनियम की उपधारा 4 के अंतर्गत प्रावधानों के अध्यधीन आयोग का फरवरी, 2001 में तीसरी बार पुनर्गठन किया गया। उक्त अधिनियम की धारा 1 की उपधारा (4) में संशोधन करते हुए इसे वर्तमान आयोग का सह-कालिक बनाने के लिए राष्ट्रीय सफाई कर्मचारी (संशोधन) अधिनियम 2001 के अधीन राष्ट्रीय सफाई कर्मचारी आयोग अधिनियम की वैधता 29 फरवरी, 2004 तक बढ़ा दी गई है।

3.20.4 आयोग ने केन्द्रीय मंत्रालयों के साथ तिमाही बैठकें की हैं और सफाई कर्मचारियों के कल्याण से संबंधित विभिन्न मुद्दों की चर्चा की। हुडको, एन.एस.के.एफ.डी.सी. जैसी अन्य एजेन्सियों को भी सफाई कर्मचारियों/स्कवैंजरों के कल्याण के लिए कार्यान्वित योजनाओं की चर्चा और समीक्षा के लिए बुलाया गया था।

डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान

3.21 डॉ. बी.आर. अम्बेडकर शताब्दी समारोह समिति द्वारा की गई सिफारिशों के अनुसरण में डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान की स्थापना सोसायटी पंजीकरण अधिनियम, 1860 के अंतर्गत एक पंजीकृत सोसायटी के रूप में 24 मार्च, 1992 में की गई थी। यह प्रतिष्ठान सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय के तत्वावधान में कार्य कर रहा है। प्रतिष्ठान के मुख्य उद्देश्यों में भारत और विदेश में जनता के बीच बाबा साहेब डॉ. बी.आर. अम्बेडकर के आदर्श और संदेश को प्रोत्साहन देने के लिए कार्यक्रमों और कार्यकलापों का कार्यान्वयन शामिल है। प्रतिष्ठान को प्रबंधन, प्रशासन चलाने और भारतरत्न डॉ. बी.आर. अम्बेडकर शताब्दी समारोह के दौरान पहचानी गई महत्त्वपूर्ण और दीर्घावधि की योजनाओं और कार्यक्रमों को चलाने का दायित्व सौंपा गया है।

इस प्रतिष्ठान द्वारा कार्यान्वित कुछ महत्त्वपूर्ण कार्यक्रम इस प्रकार हैं :

- 26, अलीपुर रोड, दिल्ली में डॉ. अम्बेडकर स्मारक बनाना।
- कमजोर वर्गों के विकास तथा सामाजिक सूझबूझ के लिए डॉ. अम्बेडकर राष्ट्रीय पुरस्कार।
- परिवर्तन हेतु डॉ. अम्बेडकर राष्ट्रीय पुरस्कार।
- बाबा साहेब के चिंतन तथा विचारों पर अनुसंधान के लिए विश्वविद्यालयों/संस्थानों में डॉ. अम्बेडकर पीठ।
- हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में डॉ. बाबा साहब अम्बेडकर की एकत्रित कृतियों का प्रकाशन।

- डॉ. बी.आर. अम्बेडकर, उनके जीवन तथा लक्ष्यों पर सेमिनार, संगोष्ठियों, सम्मेलनों, कार्यशालाओं, व्याख्यानों, प्रदर्शनियों तथा मेलों का आयोजन जैसे सामान्य कार्यकलाप।
- दिनांक 14 अप्रैल तथा 6 दिसम्बर को प्रत्येक वर्ष डॉ. अम्बेडकर का क्रमशः जन्मदिवस और महानिर्वाण दिवस मनाया जाता है।

इन योजनाओं और कार्यक्रमों के संबंध में प्रगति का ब्यौरा निम्न है :

14 अप्रैल, 2002 को डॉ. बी.आर. अम्बेडकर की वर्षगाँठ का समारोह

3.22 भारतरत्न बाबा साहेब डॉ. बी.आर. अम्बेडकर की 111वीं वर्षगांठ 14.4.2002 को मनाई गई। भारत के राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, प्रधानमंत्री और अन्य गणमान्य व्यक्तियों ने बाबा साहेब को श्रद्धा सुमन अर्पित किए। बौद्ध भिक्षुओं ने प्राचीन शिलालेखों से भजन गाकर और कलाकारों ने बाबा साहेब के जीवन और उपलब्धियों पर गीत गाकर इस समारोह को सजीव बना दिया।

डॉ. बी.आर. अम्बेडकर का 47वाँ महापरिनिर्वाण दिवस मनाना

3.23 बाबा साहेब डॉ. बी.आर. अम्बेडकर का 47वाँ महापरिनिर्वाण दिवस 6 दिसम्बर, 2002 को मनाया गया। इस अवसर पर, भारत के राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, प्रधानमंत्री और अन्य गणमान्य व्यक्तियों ने संसद भवन के लॉन में बाबा साहेब डॉ. बी.आर. अम्बेडकर की मूर्ति पर श्रद्धासुमन अर्पित किए। बड़ी संख्या में लोगों ने श्रद्धांजलि अर्पित की।

डॉ. अम्बेडकर राष्ट्रीय सार्वजनिक पुस्तकालय

3.24 राष्ट्रीय पुस्तकालय की स्थापना के लिए सिद्धान्त रूप में आवंटित पाँच बंगलों अर्थात् 13,15,17,19 और 21 में से 2 बंगलों अर्थात् 15 एवं 21 जनपथ का कब्जा वर्ष के दौरान प्रतिष्ठान को दिया गया। शहरी विकास मंत्रालय से शेष तीन बंगलों का कब्जा देने का अनुरोध किया गया है। डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान ने दो बंगलों की लागत के रूप में शहरी विकास मंत्रालय के पास 24.40 लाख रुपये की राशि जमा करा दी है। सी.पी.डब्लू.डी. से दो बंगलों को गिराने का काम फौरन शुरू करने का अनुरोध किया गया है जिससे कि पुस्तकालय का निर्माण कार्य शुरू किया जा सके।

डॉ. अम्बेडकर स्मारक 26 अलीपुर रोड

3.25 वर्ष के दौरान डॉ. अम्बेडकर स्मारक 26 अलीपुर रोड, दिल्ली के निर्माण के लिए गहन कार्रवाई की गई। पहले जमा कराई गई धनराशि के अलावा भूमि अधिग्रहण प्राधिकरण के पास 8.34 करोड़ रुपये इस अनुरोध के साथ जमा कराए गए कि भूमि और सम्पत्ति का अधिग्रहण कर उसका कब्जा दिया जाए। भूमि का कब्जा मिलने पर स्मारक की स्थापना का काम फौरन शुरू कर दिया जाएगा।

सामाजिक सूझबूझ और दलित वर्गों के उत्थान के लिए डॉ. अम्बेडकर राष्ट्रीय पुरस्कार

3.26 सामाजिक सूझबूझ और कमजोर वर्गों के उत्थान के क्षेत्र में व्यक्तियों या संगठनों द्वारा किये गये उत्कृष्ट कार्य को मान्यता प्रदान करने के लिए डॉ. अम्बेडकर राष्ट्रीय पुरस्कार का

गठन किया गया है। इस पुरस्कार के लिए 60,000 रुपये, 50,000 रुपये, 40,000 रुपये और 10,000 रुपये के नकद पुरस्कार दिये जाते हैं। पुरस्कार प्राप्तकर्ताओं के चयन के लिए कार्रवाई शुरू कर दी गई है।

सामाजिक परिवर्तन के लिए डॉ. अम्बेडकर अन्तर्राष्ट्रीय पुरस्कार

3.27 सामाजिक परिवर्तन लाने की दिशा में असमानता और अन्याय के विरुद्ध योगदान करने वाले व्यक्तियों/संगठनों/संस्थानों/संस्थाओं द्वारा किए गए उत्कृष्ट कार्य को मान्यता प्रदान करने के लिए डॉ. अम्बेडकर अन्तर्राष्ट्रीय पुरस्कार का गठन किया गया है। इस पुरस्कार के लिए 15 लाख रु. का नकद इनाम दिया जाता है। अप्रैल 2002 में स्पेन के मिस्टर रेमी फर्नाड क्लॉड स्टॉरे बोनहोमे को कुष्ठ निवारण की दिशा में कार्य करने के लिए पुरस्कार दिया गया।

डॉ. अम्बेडकर पीठ

3.28 डॉ. बाबा साहेब अम्बेडकर के विचारों तथा आदर्शों पर कार्य करने के लिए विभिन्न विश्वविद्यालयों/संस्थानों में दस अम्बेडकर पीठों की स्थापना की गई है। इस योजना का मुख्य उद्देश्य अध्ययनों तथा अनुसंधानों को शुरू करने के लिए विचारकों, शिक्षाविदों तथा छात्रों को शिक्षा का सुसज्जित केन्द्र प्रदान करना है। ये पीठे हैं– 1. अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय (कानून) 2. बाबा साहेब अम्बेडकर राष्ट्रीय समाज विज्ञान संस्थान, महू (धर्म तथा सामाजिक विकास) 3. नागार्जुन विश्वविद्यालय (सामाजिक नीति तथा सामाजिक कार्य) 4. राष्ट्रीय समाज कार्य तथा समाज विज्ञान संस्थान, उड़ीसा (समाज कार्य) 5. जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय (समाज विज्ञान) 6. मद्रास विश्वविद्यालय (अर्थशास्त्र) 7. कलकत्ता विश्वविद्यालय (मानव विज्ञान) 8. नागपुर विश्वविद्यालय (दलित आन्दोलन तथा इतिहास) 9. लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी (सामाजिक न्याय)। एक नई डॉ. अम्बेडकर पीठ (दसवीं) की स्थापना हाल ही में विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन (अम्बेडकर और सामाजिक परिवर्तन) में की गई है। इन पीठों द्वारा किए गए कार्य की मानीटरिंग बराबर की जा रही है।

3.28.2 अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़ में 1993 में स्थापित डॉ. अम्बेडकर पीठ ने डॉ. बी.आर. अम्बेडकर पर पुस्तक– डॉ. बी.आर. अम्बेडकर- स्टडी इन लॉ एंड सोसायटी और डॉ. बी.आर. अम्बेडकर ऑन फैडरेलिज्म, एथनिसिटी एंड जैंडर जस्टिस का प्रकाशन किया है। उसने आरक्षण नीति और समानता जैसे विषयों पर पी-एच.डी./एल.एल.एम. की डिग्री भी दी है।

3.28.3 कलकत्ता विश्वविद्यालय स्थित डॉ. अम्बेडकर पीठ ने मानवाधिकारों पर पुस्तकें और जनजातीय अध्ययनों पर ग्रंथ-सूची प्रकाशित की है। इसने डॉ. बी.आर.अम्बेडकर और मानवाधिकारों पर संगोष्ठियों, कार्यशालाओं, व्याख्यानों और शैक्षिक बैठकों का आयोजन किया है।

3.28.4 मऊ स्थित डॉ. अम्बेडकर पीठ बौद्धधर्म के प्रति डॉ. अम्बेडकर के योगदान पर अध्ययन और अनुसंधान को समर्पित है। इसने बौद्धधर्म और तुलनात्मक धर्म, बौद्ध धर्म और सामाजिक परिवर्तन पर अध्ययन किए हैं।

समाचार पत्रिका

3.29 भारत के उपराष्ट्रपति श्री भैंरोसिंह शेखावत ने डॉ. बी.आर. अम्बेडकर प्रतिष्ठान के कार्यक्रमों और कार्यकलापों का उल्लेख करने वाली 'सामाजिक न्याय संदेश' नामक हिन्दी मासिक समाचार पत्रिका का 26 दिसम्बर, 2002 को विमोचन किया।

हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में बाबा साहेब डॉ. बी.आर. अम्बेडकर की चुनिंदा कृतियाँ

3.30 डॉ. बी.आर. अम्बेडकर की शताब्दी समारोह समिति की सिफारिश के अनुसार महाराष्ट्र सरकार द्वारा अंग्रेजी में संकलित डॉ. बी.आर. अम्बेडकर के लेखों और भाषणों का प्रतिष्ठान द्वारा हिन्दी और 11 अन्य क्षेत्रीय भाषाओं नामतः असमी, बंगाली, गुजराती, कन्नड़, मलयालम, मराठी, उड़िया, पंजाबी, तमिल, तेलुगू और उर्दू में अनुवाद किया गया है।

- हिन्दी और मलयालम में प्रत्येक के 17 खण्ड प्रकाशित किये गये।
- तेलुगू और उड़िया में प्रत्येक के 12 खण्ड प्रकाशित किये गये।
- बंगाली, तमिल और गुजराती में क्रमशः 26, 25 और 19 खण्ड प्रकाशित किये गये।
- कन्नड़ में 8 खण्ड प्रकाशित किये गये।
- पंजाबी में 4 खण्ड प्रकाशित किये गये जबकि उर्दू में दो खण्ड प्रकाशित किये गये।

शेष कार्य को पूरा करने के लिए कार्य की मॉनीटरिंग की जा रही है।

अनुसूचित जातियों को न्याय से संबंधित बीस सूत्री कार्यक्रम के सूत्र सं. 11(क) की मॉनीटरिंग

3.31 सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय 'अनुसूचित जातियों को न्याय' से संबंधित बीस सूत्री कार्यक्रम के सूत्र 11(क) की मॉनीटरिंग करने के लिए नोडल एजेंसी है। मंत्रालय अनुसूचित जातियों के हितों के संरक्षण के लिए सांविधानिक प्रावधानों के साथ-साथ विकासात्मक योजनाओं के कार्यान्वयन के विशेष संदर्भ में इस मद को गहनता से मॉनीटर करता है। नीचे दी गई सारणी नौवीं योजना और 2002-2003 के दौरान बीस सूत्री कार्यक्रम के सूत्र संख्या 11(क) के अन्तर्गत शामिल किये गये अनुसूचित जाति के परिवारों की संख्या से संबंधित वर्षवार निष्पादन को दर्शाती है :

(आंकड़े लाख में)

वर्ष	लक्षित अनुसूचित जाति परिवारों की संख्या	इसमें शामिल अनुसूचित जाति के परिवार
1997-1998	24.80	21.88
1998-1999	24.25	25.89
1999-2000	25.00	19.30

2000-2001	24.01	22.47
2001-2002	32.46	21.48
2002-2003	23.57	5.48
		(सितम्बर, 2002 तक)

अनुसंधान और प्रशिक्षण

3.32 अनुसूचित जातियों के विकास के लिए अनुसंधान और प्रशिक्षण की केन्द्रीय प्रायोजित योजना के अन्तर्गत, शत-प्रतिशत वित्तीय सहायता उन सामाजिक-विज्ञान अनुसंधान एजेंसियों को दी जाती है, जो विशेषज्ञ हैं और अनुसूचित जातियों के सामाजिक, आर्थिक और शैक्षिक विकास, समस्याओं और जरूरतों पर तथा सरकारी निकायों द्वारा शुरू किये गये विभिन्न कार्यक्रमों के कार्यान्वयन के प्रभाव पर भी उद्देश्यपूर्ण अध्ययन करने के लिए सक्रिय रूप से इच्छुक हैं। यह योजना 1984 से लागू है।

3.32.2 योजना के अन्तर्गत नौवीं योजना के दौरान किये गये अध्ययनों में अनुसूचित जातियों के विकास संबंधी विभिन्न विषय शामिल हैं जिसमें विभिन्न राज्यों में कार्यरत अनुसूचित जाति विकास निगमों (एससीडीसी) का निष्पादन, अनुसूचित जातियों के लिए मैट्रिकोत्तर छात्रवृत्ति की योजना का प्रभाव, अस्वच्छ व्यवसायों में लगे लोगों के बच्चों के लिए मैट्रिक-पूर्व छात्रवृत्ति, विभिन्न अनुसूचित बहुल राज्यों में विशेष संघटक योजना, अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए कोचिंग और सम्बद्ध योजना, अनुसूचित जातियों को न्याय से संबंधित 20 सूत्रीय कार्यक्रम का सूत्र 11(क), सफाई कर्मचारियों और उनके आश्रितों की मुक्ति और पुनर्वास की राष्ट्रीय योजना, सिविल अधिकार संरक्षण अधिनियम 1955 और अनुसूचित जाति व अनुसूचित जनजाति (अत्याचार निवारण) अधिनियम 1989 तथा गैर-सरकारी संगठनों का कार्य शामिल है। अनुसूचित जातियों के शैक्षिक, आर्थिक और सामाजिक विकास पर अल्प अवधि विषय अध्ययन भी अनुसूचित जाति के विकास संबंधी कार्यदल के लिए शुरू किये गये हैं।

3.32.3 2002-2003 के दौरान, अनुसूचित जाति विकास के विभिन्न पहलुओं पर प्राथमिकता क्षेत्रों की पहचान की गई है ताकि इन पर मूल्यांकन अध्ययन किये जा सकें। योजना आयोग के अनुरोध पर, मंत्रालय ने राष्ट्रीय अनुसूचित जाति वित्त विकास निगम, राष्ट्रीय सफाई कर्मचारी वित्त विकास निगम और अनुसूचित जाति के विकास के लिए कार्यरत गैर-सरकारी संगठनों पर मूल्यांकन अध्ययन शुरू करने के लिए कार्रवाई शुरू कर दी है। मंत्रालय ने 'अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों पर अपराधों में वृद्धि के मुख्य कारण और अनुसूचित जाति तथा जनजाति (अत्याचार निवारण) अधिनियम 1989 के अन्तर्गत अनन्य विशेष न्यायालयों द्वारा निपटाये गये मामलों की तुलना में नामित विशेष न्यायालयों द्वारा मामलों का निपटान' नामक मूल्यांकन अध्ययन शुरू कर दिया है जैसा कि अनुसूचित जाति के कल्याण संबंधी संसदीय समिति (लोकसभा) द्वारा वांछित है।

3.32.4 दिसम्बर, 2002 तक योजना के अन्तर्गत 0.08 करोड़ रुपये की राशि निर्मुक्त की गई।

निम्नलिखित सारणी नौवीं योजना और 2002-2003 के दौरान योजना के निष्पादन को दर्शाती है :

(रुपये करोड़ में)

वर्ष	व्यय	स्वीकृत अनुसंधान अध्ययनों की संख्या	स्वीकृत सेमिनारों की संख्या
1997-1998	0.33	40	29
1998-1999	0.45	33	–
1999-2000	0.27	18	–
2000-2001	0.30	32	–
2001-2002	0.30	31	–
2002-2003	0.50	30	–
			(अप्रत्याशित)

❑

अध्याय 18

अन्य पिछड़े वर्ग

(Other Backward Classes)

भारत का संविधान भारतीय समाज में तीन 'पिछड़े' घटकों को मान्यता देता है- अनुसूचित जातियाँ, अनुसूचित जनजातियाँ तथा 'अन्य पिछड़े वर्ग'। आरम्भ से ही प्रथम दो श्रेणियों पर कोई मतभेद नहीं रहा है लेकिन तीसरी श्रेणी, अस्पष्टता से घिरी रही है। लेकिन आम तौर पर यह माना गया कि इस श्रेणी में मध्य स्तर की उन सभी जातियों को रक्खा जा सकता है जिनकी सामाजिक प्रस्थिति अनुसूचित जातियों से ऊपर है। सरल तथा लोकप्रिय अर्थों में **अगड़े** के अंतर्गत ब्राह्मण तथा क्षत्रीय वर्ण से निकली हुई जातियाँ आती हैं जिन्हें 'द्विज' कहकर भी पुकारा जाता है। इस श्रेणी में उत्तर भारत के कायस्थ, बंगाल के वैद्य और केरल के नायर भी आर्थिक, राजनीतिक तथा प्रशासनिक शक्ति प्राप्त करके शामिल हो गये। इसके विपरीत पिछड़े वर्ग के अंतर्गत अस्पृश्य जातियों को छोड़कर उन सभी निम्न जातियों को शामिल किया जा सकता है जिनका शक्ति के स्रोतों- राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक- पर अधिकार नहीं रहा है। अनुसूचित जातियाँ तथा अनुसूचित जनजातियाँ संविधान की सूची में शामिल हैं। इस प्रकार गैर-द्विज, गैर-अनुसूचित जातियाँ जो संविधान में सूचित नहीं हैं 'अन्य पिछड़े वर्गों' के अंतर्गत रक्खी जा सकती हैं। इस जनसंख्या में लगभग 3,700 जातियाँ रक्खी जा सकती हैं।

यह बात कम महत्त्वपूर्ण नहीं है कि संविधान निर्माताओं ने भारतीय जनसंख्या के इस पिछड़े घटक को 'जातियों' के रूप में नहीं बल्कि 'वर्गों' के रूप में वर्णित किया है। इसके कई कारण हो सकते हैं। पहला कारण शायद ऐतिहासिक प्रक्रिया से जुड़ा हुआ है जब आज़ादी के पहले 'Depressed Classes' (दलित वर्ग) का प्रयोग सभी निम्न व वंचित जातियों के लिये किया जाता था जिनमें अस्पृश्य जातियाँ (वर्तमान की अनुसूचित जातियाँ) भी सम्मिलित थीं। दूसरा कारण हो सकता है कि आधुनिक भारत के निर्माताओं व प्रहरियों के लिये Caste (जाति) शब्द रूढ़िवादिता से जुड़ा हुआ था और इसलिये वे जाति की अवधारणा के पोषण को हतोत्साहित करना चाहते थे। तीसरा कारण भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। चूंकि अनुसूचित जातियों की श्रेणी में केवल हिन्दू अस्पृश्य जातियों को ही शामिल किया गया था और उसके समकक्ष मुस्लिम व ईसाई दलित जातियाँ छूट गई थीं इसलिये इस 'अन्याय' को सुधारने के लिये ऐसी ग़ैर हिन्दू जातियों को किसी तीसरी श्रेणी में ही शामिल किया जा सकता था। चूंकि मुस्लिम व ईसाई समाजों में 'जाति' को सामाजिक धार्मिक मान्यता नहीं है इसलिये ऐसी पिछड़ी जातियों के लिये 'जाति' शब्द का इस्तेमाल न करके

'वर्ग' का प्रयोग किया गया जिसमें ऐसी सभी हिन्दू, मुस्लिम, सिख व ईसाई पिछड़ी जातियों को शामिल कर लिया गया।

ग़ैर-द्विज मध्य स्तर की या निम्न जातियाँ (अनुसूचित जातियों को छोड़कर) भी जाति व्यवस्था का शिकार रही हैं। ऐसी अधिकतर पिछड़ी जातियाँ दस्तकार (artisans) या छोटे कृषक हैं। ग़रीबी व वंचन की मार सहते हुए इनका जीवन-यापन होता रहा है। मोटे तौर पर 'अन्य पिछड़े वर्गों' को दो प्रकार की पिछड़ी जातियों में बाँटा जा सकता है। पहली श्रेणी में पिछड़ी कृषक जातियाँ रक्खी जा सकती हैं जबकि दूसरी में दस्तकार या शिल्पकार जातियाँ जैसे बनुकर, बढ़ई, लोहार, सुनार आदि आती हैं। यद्यपि जनसंख्या की दृष्टि से ऐसी कृषक जातियाँ 60-70 प्रतिशत से अधिक हैं लेकिन उनमें भी अधिकतर कृषकों के पास छोटी जोतें हैं या वे बटाईदार व खेतिहर मज़दूर हैं। इस प्रकार पहलो श्रेणी की पिछड़ी जातियों की अर्थव्यवस्था कृषि पर ही निर्भर है। उत्तर प्रदेश, बिहार की यादव व कुर्मी जैसी जातियों व दूसरे क्षेत्रों में भी कुछ ही पिछड़ी जातियों के पास अच्छी मात्रा में भूमि है। दस्तकार पिछड़ी जातियों की स्थिति अधिकतर दयनीय है। बढ़ते हुए औद्योगिकीकरण व मशीनीकरण के कारण उनकी पारम्परिक कलायें विनाश के कगार पर पहुँच चुकी हैं। बुनकरों, कुम्हारों, बढ़ई, मछुआरे व मल्लाह, लोहार, सब्जी बेचने वाले, मांस बेचने वाले तथा अनेकों ऐसी जातियों की स्थिति सम्पूर्ण ग्रामीण भारत में अच्छी नहीं है। शैक्षिक वंचन ने स्थिति को और ख़राब किया है। संगठित औद्योगिक क्षेत्रों में काम करने वालों को आसान ऋण, संसाधनिक समर्थन और करदाताओं की क़ीमत पर अनेकों लाभ व सुविधायें उपलब्ध हैं लेकिन दस्तकार पिछड़ी जातियों के लिये राज्य समर्थित प्रयास बहुत कम व कमज़ोर रहे हैं। इन हालात के परिणामस्वरूप यह कमज़ोर वर्ग ग़रीबी व वंचन की चक्की में पिस रहा है। देश के विभिन्न क्षेत्रों में किये गये सर्वेक्षणों व अध्ययनों से पता चला है कि 'अन्य पिछड़े वर्गों' की पहुँच रोज़गार व शिक्षा में बहुत कम है, इनमें साक्षरता दर निम्न स्तर की है और यह चिरकालिक ऋणग्रस्तता से ग्रस्त रहे हैं। इनमें ऋणग्रस्तता की ऊँची दर, फैली हुई निरक्षरता व अशिक्षा, ग़रीबी व सामाजिक प्रथाओं के द्वारा भी समझी जा सकती है।

अन्य पिछड़े वर्गों के सामाजिक-आर्थिक उन्नयन के लिये 1953 में एक पिछड़ा वर्ग आयोग की स्थापना अनुच्छेद 340 के अंतर्गत राष्ट्रपति के आदेश द्वारा की गई। चूंकि इस आयोग के अध्यक्ष काका साहेब कालेलकार थे इसलिये इसका वर्णन अक्सर **केलकर आयोग** के नाम से भी किया जाता है। इस आयोग ने अपनी रिपोर्ट 1955 में सरकार को दे दी। विभिन्न विवादास्पद मुद्दों को ध्यान में रखते हुए आयोग ने सामाजिक व शैक्षिक रूप से पिछड़े वर्गों को चिन्हित करने के लिये निम्नलिखित आधार प्रस्तुत किये:

1. हिन्दू समाज की पारम्परिक जाति पदसोपनी में निम्न स्थान
2. किसी जाति या समुदाय विशेष के बड़े वर्ग में शैक्षिक उत्थान की कमी
3. सरकारी सेवाओं में प्रतिनिधित्व का अभाव या बिल्कुल न होना

4. व्यापार, वाणिज्य तथा उद्योग में प्रतिनिधित्व का अभाव

महत्त्वपूर्ण बात यह है कि आयोग संपूर्ण सहमति से रिपोर्ट नहीं दे सका। अधिकांश सदस्य जिनमें आयोग के अध्ययन भी शामिल थे जाति को पिछड़ेपन से जोड़ने के विरुद्ध थे। वे जाति के आधार पर नौकरियों में आरक्षण भी पंसद नहीं करते थे। आयोग की मुख्य संस्तुतियों को रद्द करते हुए केन्द्र सरकार ने निर्णय लिया कि पिछड़े वर्गों की कोई अखिल भारतीय सूची नहीं बनाई जा सकती और केन्द्रीय सेवाओं में पिछड़े वर्गों के किसी भी समूह के लिये, अनुसूचित जातियों व जनजातियों को छोड़कर, आरक्षण की व्यवस्था नहीं की जा सकती। फिर भी केन्द्र सरकार ने राज्य सरकारों को सूचित किया कि वे पिछड़ेपन के अपने आधारों पर ऐसे पिछड़े वर्गों की सूचियाँ बनाने के लिये स्वतंत्र हैं और इस संदर्भ में आवश्यक कदम उठा सकती हैं। परिणामस्वरूप, कई राज्य सरकारों ने अपने आयोग व समितियाँ गठित कीं जो पिछड़ेपन के आधारों को तय कर सकें और उन्हें दूर करने के उपाय ढूँढ़ सकें। एक के बाद दूसरे राज्य ने, प्रादेशिक स्तर के अपने आयोग गठन किये और 'अन्य पिछड़े वर्गों' की सूचियाँ प्रस्तुत कीं।

केन्द्रीय स्तर पर दूसरा आयोग गठित किया गया और यह 'दूसरा पिछड़ा वर्ग आयोग' 1978 में बी.पी. मंडल की अध्यक्षता में गठित हुआ जिसको आमतौर पर **मंडल आयोग** के नाम से जाना गया। इसको निम्नलिखित बातें तय करनी थीं।

(i) सामाजिक व शैक्षिक तौर पर पिछड़े वर्गों को परिभाषित करने के उद्देश्य से आधार सुनिश्चित करना।

(ii) इस प्रकार से चिन्हित सामाजिक व शैक्षिक पिछड़े वर्गों के उन्नयन के लिये संस्तुतियाँ प्रस्तुत करना।

(iii) नागरिकों के ऐसे पिछड़े वर्गों के लिये नौकरियों में आरक्षण के प्रावधान पर ग़ौर करना जिनका सार्वजनिक सेवाओं में प्रतिनिधित्व संतोषजनक नहीं है।

(iv) राष्ट्रपति को अपने द्वारा खोजों से अवगत कराना और अपनी नज़र में उपयुक्त संस्तुतियों को प्रस्तुत करना।

इस आयोग को 31 दिसम्बर 1980 तक अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करने को कहा गया। कार्य की विशालता और अनुपयुक्त समय के कारण आयोग ने तेज़ी के साथ काम किया। विभिन्न राज्यों के आर्थिक व सांख्यिकीय ब्योरों की सहायता से इसने पूरे देश के 405 ज़िलों का सामाजिक-आर्थिक सर्वेक्षण किया। सर्वेक्षण के दौरान एकत्रित की गई सूचनाओं को कम्प्यूटरीकृत किया गया तथा प्रत्येक राज्य के बारे में 31 प्राथमिक सारणियाँ तय्यार की गईं। तत्पश्चात् इन सारणियों के आधार पर सामाजिक व शैक्षिक पिछड़ेपन को समझने के लिये तीन heads- सामाजिक, शैक्षिक तथा आर्थिक- के अंतर्गत 11 मानक (indicators) निर्धारित किये गये जो निम्नवत् हैं:

(क) सामाजिक

(1) जातियाँ/ वर्ग जो दूसरों के द्वारा सामाजिक रूप से पिछड़े माने जाते हैं।

(2) जातियाँ/ वर्ग जो अपनी जीविका के लिए मुख्यतः शारीरिक श्रम पर ही आश्रित हैं।

(3) जातियाँ/ वर्ग जो राज्य के औसत से ग्रामीण क्षेत्र में 10 प्रतिशत पुरुष व 25 प्रतिशत महिलाएँ 17 वर्ष से पूर्व विवाह कर लेते हों तथा इसी क्रम में नगरीय क्षेत्रों में ५ प्रतिशत पुरुष व १० प्रतिशत महिलाएँ विवाह करते हों।

(4) जातियाँ/वर्ग जहाँ राज्य के औसत से 25 प्रतिशत अधिक महिलाएँ काम करती हैं।

(ख) शैक्षिक

(5) जहाँ 5 से 15 वर्ष के बीच जातियों/वर्ग के कभी स्कूल न जाने वाले बच्चों का प्रतिशत राज्य के औसत से २५ प्रतिशत से अधिक हो।

(6) जातियाँ/वर्ग जहाँ 5-15 वर्ष के बीच स्कूल छोड़ देने वाले बच्चों का प्रतिशत राज्य के औसत से २५ प्रतिशत से अधिक हो।

(7) जातियाँ/वर्ग जहाँ मैट्रिक पास लोगों का प्रतिशत राज्य के औसत से 25 प्रतिशत से नीचे है।

(ग) आर्थिक

(8) जातियाँ/वर्ग जिसमें परिवार की कुल सम्पत्ति की क़ीमत राज्य के औसत से 25 प्रतिशत से कम है।

(9) जातियाँ/वर्ग जिनमें कच्चे मकान में रहने वालों का प्रतिशत राज्य के औसत से 25 प्रतिशत से अधिक है।

(11)जातियाँ/वर्ग जिनके 50 प्रतिशत से अधिक घरों के लोगों को आधा से एक किलोमीटर दूर पानी लेने जाना पड़ता है।

(12)जातियाँ/वर्ग जिसमें राज्य के औसत से २५ प्रतिशत से अधिक लोगों ने उपभोगता ऋण (consumption loan) ले रक्खा हो।

प्रत्येक समूह में मूल्यांकन हेतु कुछ संकेत दिये गये हैं। सामाजिक कारकों को 3 अंकों, शैक्षिक कारकों को 2 अंकों व आर्थिक कारकों को 1 अंक के साथ रक्खा गया है। इस तरह कुल मिलाकर 22 अंक होते हैं। ये सभी 11 कारक प्रत्येक राज्य में हुए सर्वे में अन्य पिछड़ी जातियों पर लागू किये गये हैं। जिन जातियों को इस पैमाने पर कम से कम 11 अंक मिले हैं उन्हें सामाजिक व शैक्षिक रूप से पिछड़े वर्ग में रक्खा गया है। इस प्रकार कमीशन ने 3,743 जातियों को चिह्नित किया है। आयोग के अनुमानानुसार अन्य पिछड़ी जातियों का औसत देश की पूरी जनसंख्या का 52 प्रतिशत से थोड़ा अधिक है।

समाजशास्त्रियों और मानवविज्ञानियों की भी एक शोध टीम का गठन इस कमीशन की मदद के लिए किया गया था। वर्तमान समय की पिछड़ी जातियों के सामाजिक-शैक्षणिक पिछड़ेपन के आधार के चलते देश के इन जाने-माने समाजशास्त्रियों व मानवशास्त्रियों की टीम ने अनेक उपाय सुझाये तथा अनेकों अध्ययनों का इस्तेमाल किया। उन्होंने कुछ परम्परागत पिछड़ी जातियों में उपरिगामी गतिकी (upward mobility) का भी नमूना प्रस्तुत किया है। टीम के अन्य सुझावों में अनुभाविक अध्ययन के दौरान यह तथ्य भी शामिल हैं :

(क) सामाजिक-अनुष्ठानिक सेवाएँ जो अन्य नृजातीय समूहों द्वारा दी जाती हैं;

(ख) किसी श्रेणी के रोजगारों की समाज में निम्न स्थिति;

(ग) क्षेत्र (गाँव, पंचायत, ब्लॉक, तालुक) में अन्य जातीय समूहों की तुलना में कुछ जातीय समूहों का स्वयं को निम्न समझना;

(घ) गाँव पंचायत/ ब्लॉक/तालुक में अन्य आसपास के समूहों से कम शैक्षिक योग्यता;

(ङ) जातियों और समुदायों का आर्थिक स्तर;

(च) जातियों का सरकारी/गैर-सरकारी या स्वैच्छिक सेवाओं में प्रतिनिधित्व।

(छ) ऐसे व्यवसाय जिनमें बालश्रम का काफी निवेश है।

शोध योजना टीम के अतिरिक्त समाजशास्त्रियों, राजनीतिविज्ञानियों और भूगोल विशेषज्ञों की भी एक विशेषज्ञ समिति गठित की गयी थी। जब मंडल-कमीशन ने अनेक सुझावों के साथ अपनी सिफारिशें प्रस्तुत कीं तब कई समाजशास्त्रियों ने इन सिफारिशों का विरोध किया। वे इसके लिए आधारभूत कारकों, कारकों के निर्धारण के तरीकों और सिफारिशों से असहमत थे क्योंकि इस कवायद में अन्य पिछड़ी जातियों के उत्थान के लिए उन्होंने जिन सुझावों को कमीशन के सम्मुख प्रस्तुत किया था उनकी अनदेखी की गई। अन्य पिछड़े वर्गों के सामाजिक-आर्थिक उत्थान के लिये आयोग ने कुछ संस्तुतियाँ प्रस्तुत कीं जो निम्नलिखित हैं:

(1) ओ.बी.सी. का लोक सेवाओं में प्रतिनिधित्व पर्याप्त नहीं है अतः उन्हें आरक्षण का लाभ मिलना चाहिए।

(2) अनुच्छेद 15 (4) व 16 (4) के अंतर्गत सम्पूर्ण आरक्षण 50 प्रतिशत से कम होना चाहिए। ऐसी स्थिति में ओबीसी का आरक्षण 27 प्रतिशत होना चाहिए।

(3) जिन क्षेत्रों में ओबीसी का जनसंख्या घनत्व अधिक है वहीं शैक्षिक सुविधाएँ बढ़ाकर सामाजिक-सांस्कृतिक वातावरण की बेहतरी के लिए कार्य होना चाहिए।

(4) ओबीसी छात्रों की रोजगारोन्मुख व्यावसायिक शिक्षा पर अधिक ध्यान देना चाहिये। तकनीकी और व्यावसायिक संस्थानों में उन छात्रों को विशेष कोचिंग सुविधाएँ देनी चाहिए ताकि वे भी अन्य सामान्य छात्रों के साथ मुकाबला कर सकें।

(5) ग्रामीण कारीगरों की योग्यता बढ़ाने हेतु विशेष प्रशिक्षण कार्यक्रम होने चाहिए और आर्थिक संस्थानों को इस वर्ग के लोगों के लिए विशेष ऋण सुविधाएँ उपलब्ध करानी चाहिए ताकि वे लघु उद्योग लगा सकें।

(6) औद्योगिक व व्यापार गतिविधियों में इस वर्ग की भागेदारी बढ़ाने के लिए राज्य सरकारों द्वारा आर्थिक और तकनीकी संस्थाओं का एक विशेष संजाल बनाना चाहिए।

(7) उत्पादन के आधार पर बने सम्बन्धों (production relations) के आधार पर पिछड़ी जातियों में अधिकांश छोटी जोतों वाले किसान, खेतिहर मजदूर, बटाई पर काम करने वाले, ग्रामीण कारीगर इत्यादि हैं, जो ज़्यादातर बड़े कृषकों पर अपनी जीविका के लिए निर्भर हैं। इस परिप्रेक्ष्य में अन्य पिछड़ी जातियाँ आर्थिक और मानसिक रूप से प्रमुख जातियों व वर्गों

की बंधुआ बनी रहती हैं। जब तक इस व्यवस्था में संरचनात्मक परिवर्तन नहीं होता और भूमि सुधार कार्यक्रम पूरी तरह लागू नहीं होता अन्य पिछड़ी जातियाँ मुक्त नहीं हो पायेंगी। इस संदर्भ में राज्यों को भूमि सुधार कार्यक्रम पर सर्वाधिक ध्यान देना होगा।

13 अगस्त 1990 को एक मेमोरेंडम के माध्यम से भारत सरकार द्वारा मंडल कमीशन की सिफारिशें मान ली गयी हैं। मंडल कमीशन के विरोध में स्थान-स्थान पर उग्र हिंसक प्रदर्शन हुए। विभिन्न न्यायालयों में इनके खिलाफ वाद दायर किये गये। सुप्रीम कोर्ट ने अन्य पिछड़ी जातियों के संदर्भ में **क्रीमीलेयर** (ओबीसी में शैक्षिक व सामाजिक रूप से उच्च वर्ग) को छोड़कर अन्य के लिए मंडल कमीशन की सिफारिशों को मान लिया। सुप्रीम कोर्ट के आदेशानुसार सरकार ने पटना हाईकोर्ट के न्यायाधीश जे. एन. प्रसाद की अध्यक्षता में गठित विशेषज्ञ समिति को सामाजिक और शैक्षिक रूप से पिछड़ों का निर्धारण करने का कार्य दिया। इस समिति ने 10 मार्च 1993 को अपनी रिपोर्ट पेश की। भारत सरकार ने इस विशेषज्ञ समिति की रिपोर्ट स्वीकार करते हुए लोक सेवाओं व पदों पर 27 प्रतिशत आरक्षण की व्यवस्था इस वर्ग के लिये स्वीकार कर ली। इसमें क्रीमीलेयर को अलग रखा गया। 8 सितम्बर 1993 से हुई भर्तियों में यही आरक्षण व्यवस्था लागू की गयी!

क्रीमीलेयर (मलाईदार परत)

क्रीमीलेयर आधार के अन्तर्गत निम्न श्रेणियों के पुत्र/पुत्री को आरक्षण के लाभ से वंचित किया गयाः

- संवैधानिक पदों पर कार्य कर रहे लोग।
- जिन बच्चों के माता-पिता में से कोई एक प्रथम श्रेणी अधिकारी (class-I officer) है।
- माता-पिता दोनों वर्ग-दो में अधिकारी हैं।
- माता या पिता या दोनों में से कोई एक सेना में कर्नल या समान पद पर नौसेना, वायुसेना या पैरा-मिलिट्री बल में है।
- परिवार जिनके पास 85 प्रतिशत या अधिक सिंचित भूमि राज्य सीमांत (ceiling) नियम के अंतर्गत है।
- जिनकी वार्षिक आय एक लाख या अधिक है या तीन लगातार वर्षों से सम्पत्ति कर दे रहे हैं।

खेती योग्य भूमि से आय और वेतनभोगी आय की गणना अलग-अलग होगी। प्रथम चरण में आरक्षण का लाभ उन जातियों को दिया गया जो मंडल कमीशन और राज्य सरकारों की लिस्ट दोनों में शामिल थीं।

गैर हिन्दू जातियों में अन्य पिछड़े वर्ग

चूंकि जातिप्रथा मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई और बौद्धों में भी अपने आवश्यक तत्त्वों के साथ विद्यमान है इसलिये उनकी पिछड़ी जातियों को भी मंडल कमीशन की सिफारिशों में शामिल किया गया। अन्य पिछड़ी जातियों के चुनाव में आई बाधाओं को देखते हुए कमीशन ने गैर-हिन्दू पिछड़ी

जातियों के लिए यह मानक निर्धारित किये:

(1) सभी हिन्दू अछूत जातियाँ जो गैर-हिन्दू जातियों में धर्म परिवर्तन करके शामिल हो गईं।

(2) परम्परागत व्यवसायिक समुदाय जो वंशानुगत रूप से अपने पेशे से जाने जाते हैं। ऐसे समुदायों के वे लोग जिनके हिन्दू समकक्ष हिन्दू पिछड़े वर्गों की सूची में शामिल किये जा चुके हैं जैसे धोबी, तेली, धीमर, नाई, गूजर, कुम्हार, लोहार, दर्जी, बढ़ई इत्यादि।

अन्य पिछड़ी जातियों से संबंधित नये संस्थान

एन.सी.बी.सी. एक्ट 1993 के अन्तर्गत **'नेशनल कमीशन फार बैकवर्ड क्लासेज'** की स्थापना हुई जिसके चलते इस वर्ग के लोगों से संबंधित सुझाव और शिकायतें कमीशन की परिधि में लायी गयीं। कोई भी जाति जो अपने को अन्य पिछड़ा वर्ग की श्रेणी में शामिल करवाना चाहती है या कोई अन्य समस्या हो तो वह इस कमीशन की शरण में जा सकती है। एक अन्य आर्थिक संस्थान **'द नेशनल बैकवर्ड क्लासेज फाइनेंस एंड डेवलपमेंट कारपोरेशन'** की भी स्थापना की गई। एनसीबीएफडीसी की 1992 में स्थापना का उद्देश्य पिछड़े वर्गों में आर्थिक विकास मूलक गतिविधियों को बढ़ावा देना है।

सामाजिक एवं शैक्षिक रूप से पिछड़ी जातियों का अभिनिर्धारण (Identification of Socially and Educationally Backword Castes- SEBCs)

न्यायिक निर्णयों के विश्लेषण के आधार पर **इण्डियन ला इंस्टीटयूट** ने ऐसी पिछड़ी जातियों की पहचान के लिये निम्नलिखित लक्षणों को प्रासंगिक पाया है।

1. अपने पिछड़ेपन के संदर्भ में इन पिछड़ी जातियों की तुलना अनुसूचित जातियों व अनुसूचित जनजातियों से की जा सकती है।
2. पिछड़ेपन की अवधारणा सापेक्षिक नहीं है। कोई भी वर्ग अपने समुदाय के सबसे अधिक विकसित वर्ग की तुलना में पिछड़ा होने पर 'पिछड़ी' की श्रेणी में रखा जा सकता है। इसलिये 'पिछड़े वर्गों' का 'पिछड़े' व 'अति पिछड़े' में वर्गीकरण असंवैधानिक है।
3. पिछड़ापन, सामाजिक व शैक्षिक दोनों के संदर्भ में होना चाहिये न कि सामाजिक अथवा शैक्षिक।
4. संविधान के अनुच्छेद 15 (4) के आधार पर जाति आधारित कोई भी वर्गीकरण जो किन्हीं प्रासंगिक कारकों के संदर्भ से बाहर हो स्वीकार्य नहीं है। फिर भी कोई जाति जो पूर्णतया, सामाजिक व शैक्षिक रूप से पिछड़ी हो उसको अपने जातिसूचक नाम से भी 'पिछड़े वर्गों' में शामिल करना अनुच्छेद 15 (4) का उल्लंघन नहीं है। हाँ, राज्य के पास इस तथ्य को प्रदर्शित करने के लिये पर्याप्त सूचना होना चाहिये।
5. सामाजिक पिछड़ापन, जो ग़रीबी का प्रसारण (off shoot) है, ग़रीबों की जातिमूलक समस्याओं से और बढ़ जाता है: यह पिछड़ेपन के निर्धारण में जाति व ग़रीबी दोनों की

प्रासंगिकता को दर्शाता है।

6. सामाजिक पिछड़ेपन के निर्धारण में कुछ वर्गों द्वारा अपनाये गये ऐसे व्यवसाय, जिन्हें समाज हीन भाव से देखता है तथा जो अशुद्ध माने जाते हों, महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।
7. आरक्षण का लाभ सामाजिक व शैक्षिक रूप से पिछड़े वर्गों के केवल जरूरतमंदों को ही मिले, परिवार की आयु सीमा निर्धारित कर देना वैध है।
8. पूरी की पूरी ग्रामीण जनसंख्या को सामाजिक व शैक्षिक रूप से पिछड़ा वर्ग नहीं माना जा सकता। हाँ, पिछड़े हुए पहाड़ी क्षेत्र ऐसे वर्ग में शामिल किये जा सकते हैं।
9. किसी वर्ग का पिछड़े वर्गों में शामिल किया जाना सदा के लिये नहीं होना चाहिये।
10. किसी समुदाय में पिछले दो तीन हाईस्कूल के क्लास प्रति 1000 व्यक्ति शैक्षिक पिछड़ेपन के निर्धारण में वैध पाये गये हैं। हाँ, किसी वर्ग को अंततः पिछड़ा होने के लिये राज्य के औसत से काफी नीचा होना चाहिये। जैसे कोई भी वर्ग राज्य के औसत से 50 प्रतिशत नीचा होने पर पिछड़ा माना जायेगा।

इस प्रकार न्यायिक निर्णयों का संक्षिप्त विवरण व समीक्षा या दर्शाती है कि समुदाय के आधार के अतिरिक्त भी, विभिन्न न्यायालयों ने सामाजिक व शैक्षिक पिछड़ेपन के व्यवसायिक व क्षेत्रीय आधार को वैध कर दिया है। लेकिन "मंडल आयोग ने या तो इसकी अनदेखी की है या अदालतों के निर्णयों का इस्तेमाल स्पर्शरेखीयता (tangentially) के साथ किया है।"

इस समीक्षा में यह भी कहा गया कि मंडल आयोग ने कई समाजविज्ञानियों को शोध व विश्लेषण का फ्रेम तय्यार करने के लिये अवैतनिक रूप से अपने साथ जोड़ा था लेकिन उनकी संस्तुतियों को केवल आंशिक रूप में ही लागू किया गया तथा उनकी चर्चाओं व टिप्पणियों को चयनात्मक ढंग से (selectively) ही प्रकाशित किया गया। इस प्रकार जैसा कि डी. एल. शेठ (1991) कहते हैं विशेषज्ञों व लोक संस्थाओं के बीच रिश्तों को लेकर एक मौलिक मुद्दा या प्रश्न उठाया जा सकता है।

अन्य पिछड़े वर्ग : संघटन, लक्षण एवं सशक्तीकरण (The Other Backward Classes: Composition, Characteristics and Empowerment)

एक सामूहिक अस्तित्व के रूप में अन्य पिछड़ी जातियाँ जिन कई समस्याओं से पीड़ित हैं उनमें सर्वप्रमुख यह भ्रम है जो उनके सही संघटन और पहचान तथा सूचीकरण के बारे में व्याप्त है। पिछड़ी जातियाँ कौन हैं, इस प्रश्न का उत्तर जानने के लिये अनुष्ठानिक व रीति-रिवाज, कानूनी संवैधानिक, सामाजिक, जनसांख्यिकीय और राजनीतिक जाल से गुजरना होगा जो कि व्यापक रूप से आज भी अस्पष्ट है। यह प्रस्तावित किया जाता है कि इस भ्रम और रहस्यात्मकता को स्पष्ट किया जाय, उनके वर्तमान संघटन और विघटन को करीब से देखा जाय और उनके सशक्तीकरण

के लिये अत्यावश्यक लक्ष्यों को इंगित किया जाय।

शब्द-प्रयोग में भ्रामकता और व्युत्पन्न स्तर

पिछड़ी जातियाँ एक वैध-संवैधानिक श्रेणी है जो स्वातन्त्रोत्तर काल में एक स्वतन्त्र सामाजिक श्रेणी के रूप में पहचान की स्वीकृति पाने हेतु संघर्षरत है। अनुच्छेद 338 में संशोधन के उपरान्त OBC शब्द का प्रयोग पहली बार हुआ जो कि भारतीय संविधान में इससे पहले नहीं हुआ था। तब तक, कानूनी-संवैधानिक रूप से भी ओ.बी.सी. ने केवल एक व्युत्पन्न स्तर या तो एक 'कमजोर वर्ग' के रूप में (अनुच्छेद- 46) या एस ई बी सीज़ (SEBCs) के रूप में अनुच्छेद 15 (4)- या बी सीज़ (BCs) के रूप में- अनुच्छेद 16 (4) पाया। उनका निम्नतर स्तर भी अनुसूचित जातियों और अनु. जनजातियों की स्पष्ट परिभाषित बी सी (पिछड़े वर्ग) श्रेणियों के लिये बनाये गये प्रावधान की प्रकृति से स्पष्ट है। उनके लिये सभी प्रावधान अधिदेशात्मक (mandatory) हैं। ओ.बी.सी. के संदर्भ में सारे प्रावधानों को केन्द्र या राज्य की तत्कालीन सरकारों के विवेक (और सुविधा) पर छोड़ दिया गया था। 73वें और 74वें संविधान संशोधन विधेयक-अनुच्छेद 243 डी(6) और 243 टी (6) में पंचायती राज संस्थाओं और शहरी नगरीय निकायों में सीटों के आरक्षण द्वारा यह व्युत्पन्न स्तर लगातार बना हुआ है।

मार्क गैलेन्टर इंगित करते हैं कि पिछड़ा वर्ग शब्द कम नियत और निश्चित सन्दर्भों को बताता था। यह शब्द मौजूद था किंतु इसके सन्दर्भों में विविधता थी, इसके अर्थ तेजी से बदलते रहे और यह विभिन्न स्थानों पर विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुआ (गैलेन्टर, 1991)। वह 'पिछड़े वर्गों' शब्द के दस ऐसे प्रयोगों को इंगित करते हैं। इसमें सम्मिलित हैं: दबे कुचले वर्ग, अछूत, अनुसूचित जातियाँ, देशज और पर्वतीय जनजातियाँ, अपराधिक जनजातियाँ, अछूतों को छोड़कर विशेष व्यवहार योग्य रखने वाले सारे समुदाय, अछूतों से ऊपर किंतु सर्वाधिक विकसित से नीचे के सभी समुदाय, सर्वाधिक विकसित या सर्वोच्च के अतिरिक्त समुदाय पिछड़ेपन के गैर-साम्प्रदायिक कसौटियों को पूरा करने वाले समुदाय (गैलेन्टर, 1991)। इस शब्द ने अखिल भारतीय स्तर पर कभी भी कोई निश्चित अर्थ नहीं प्राप्त किये। अपने इस निष्कर्ष के लिये गैलेन्टर स्वातन्त्रोत्तर काल के विभिन्न राज्यों के ऐतिहासिक उदाहरण देते हैं। तब तक इसे राष्ट्रीय स्तर पर प्रयोग करने या इसे परिभाषित करने का कोई प्रयास नहीं किया गया था। यद्यपि कुछ भिन्नताओं के साथ स्थानीय सन्दर्भों में इस शब्द के निश्चित अर्थ थे। अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के अलग हो जाने के पश्चात् वे बताते हैं कि दो बड़ी जातियों (species) का उदय हुआ: (1) उन सभी अधिकांश समूहों को समाहित करते हुए जो विशेष व्यवहार के योग्य हैं, के रूप में (2) अछूतों से उच्चतर-स्तर पर किंतु इसके बावजूद भी शोषित के रूप में। आज भी यह दोहरा प्रयोग जारी है: पहला, व्यापक अर्थों में पिछड़ी जातियों के लिये प्रयुक्त (अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों सम्मिलित): दूसरा, अन्य पिछड़ी जातियों के समतुल्य रूप में प्रयुक्त (गैलेन्टर, 1991)।

संविधान सभा का आशयः समुदाय की पहचान का सन्दर्भ

संविधान सभा की परिचर्चा, गैलेन्टर और इन्द्रा साहनी प्रकरण के बहुसम्मत निर्णय का विश्लेषण करने पर इस मुद्दे पर दो निश्चित सिद्धान्त निष्कर्ष रूप में प्राप्त हुए कि ओ.बी.सी. शब्द जातियों या समुदायों की एक सूची के रूप में अपेक्षित था चाहे जिनके भी द्वारा इनका प्रति निधायन हो और चाहे किसी भी प्रकार के परीक्षणों के आधार पर उन्हें चुना गया हो। वास्तव में इस मुद्दे पर सर्वाधिक आधिकारिक बयान वह है जो पहले संविधान संशोधन के समय 18 मई 1951 को डॉ0 भीमराव अम्बेडकर ने दिया (जिसमें अनुच्छेद- 15 (4) प्रविष्टि किया गया-) "जो पिछड़े वर्ग कहे जाते हैं....... निश्चित तौर पर जातियों के एक समूह के सिवाय कुछ नहीं हैं।" जहाँ तक अनुच्छेद 15 (4) और 16 (4) के अंतर्गत ओ.बी.सी. का संबंध है ये ऐसा ही बना हुआ है। प्रचालकीय शब्दों में, जो एस ई बी सीज (SEBCs) [15 (4)] या बी सी सीज (BCs) [16 (4)] के रूप में सूचीबद्ध हैं उन्हें अन्य पिछड़ी जातियों (और अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति भी) की सूचियों में समुदायों की सूचीबद्धता के द्वारा अपनी शाब्दिक सम्बद्धता से पहचाना जाता है किंतु उन्हें यह लाभ, व्यक्ति के रूप में ही जैसा कि अनुच्छेद 14, 15 और 16 के द्वारा मूलभूत अधिकारों के अधिकारी के रूप में निश्चित उपलब्ध है।

जबकि पूर्वगामी स्थिति, वस्तुतः कानूनी-संवैधानिक स्थिति है, किंतु यह पूर्ण सत्य नहीं है। अनुच्छेद 15 (1) और 16 (1) के अन्तर्गत कानून भी पिछड़ी जातियों के अन्य समूहों को भी अनुमति देता है। इन पिछड़ी जातियों के लिये भी आरक्षण उपलब्ध है यद्यपि वे चाहे अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और ओ.बी.सी. के सदस्य हों या न हों। ये पिछड़ी जातियाँ विशेष परिस्थितिजन्य उदाहरण हैं और व्यक्तिगत स्तर पर विशिष्ट मामलों में, विशिष्ट परिस्थितियों के निवारण (जैसे- शारीरिक, मानसिक रूप से बाधित दूरवर्ती/अगम्य क्षेत्रों, भूतपूर्व सैनिक, स्वतन्त्रता सेनानियों आदि) हेतु लाभों को दिया जाता है। इन्द्रा साहनी बनाम भारत संघ (मलिक 1992) में सम्बन्धित बिन्दु का वर्णन किया गया हैः

"....... सभी आरक्षण समान प्रकृति के नहीं हैं। दो प्रकार के आरक्षण हैं, जिसमें सुविधा के वास्ते 'उर्ध्वाधर आरक्षणों' और 'क्षैतिजीय आरक्षणों' का उल्लेख किया जा सकता है। अनुच्छेद 16 (4) के अन्तर्गत अनुसूचित जाति, अनूसूचित जनजाति और ओ.बी.सी. के पक्ष में आरक्षण को उर्ध्वाधर आरक्षण कहा जा सकता है....... जबकि अनुच्छेद 161 के खण्ड-(1) के अन्तर्गत शारीरिक रूप से विकलांग के पक्ष में आरक्षण को "क्षैतिज आरक्षण" के रूप में उल्लिखित किया जा सकता है। क्षैतिज आरक्षण उर्ध्वाधर आरक्षणों में व्याप्त है, जो अन्तर्युजित आरक्षण कहलाते हैं। संक्षेप में, माना कि 3 प्रतिशत नौकरियाँ शारीरिक रूप से विकलांग व्यक्तियों के पक्ष में आरक्षित हैं : यह आरक्षण अनुच्छेद 16 के खण्ड (1) से सम्बन्धित होगा। इस कोटे के विरुद्ध चयनित व्यक्तियों को उचित श्रेणी में जगह दी जायेगी; यदि वह अनुसूचित जाति से सम्बन्धित है तो उसे आवश्यक समायोजन करके कोटे में जगह दी जायेगी; इस तरह, यदि वह

खुली प्रतिस्पर्धा श्रेणी से सम्बन्धित है तो उसे आवश्यक समायोजन करके उस श्रेणी में जगह दी जायेगी" (पैराग्राफ 812)।

क्या सभी मध्यम स्तरीय समुदाय ओ.बी.सी. हैं ?

अनुसूचित जातियों/अनुसूचित जनजातियों से ऊपर के समुदाय और हिन्दुओं के बीच पारम्परिक व्यवस्था में 'द्विज' कहे जाने वालों से नीचे तथा इसी प्रकार से अन्य धार्मिक शाखाओं के बीच समुदायों को वर्ण विभाजन में सामान्यतया शूद्रों का स्थान दिये जाने वाले सभी, अन्य पिछड़े वर्ग हैं, इस प्रकार के बहुत से विचारों ने एक भ्रामक धारणा उत्पन्न कर दी है। पहला, संविधान सभा (वर्मा, 1998) की चर्चा में स्पष्ट रूप से इंगित किया गया है कि मध्य स्तर के समुदायों में जो सामाजिक और शैक्षिक रूप से पिछड़े वर्ग के थे और वे जिनका राज्य की नौकरियों में बहुत कम हिस्सा था तथा वे जो लोग पिछड़े वर्ग के नागरिक थे। दूसरा, पहले संवैधानिक संशोधन की भाषा, जिससे अनुच्छेद 15 (4) जुड़ी है, ने भी इस धारणा को और अधिक पुष्ट किया। बहुत से महत्त्वपूर्ण मामलों में अदालती आदेशों ने अन्य पिछड़े वर्गों को सूचीबद्ध करने के लिये ऐसे परीक्षण विनिर्दिष्ट किये थे (जैसे- निम्न शैक्षणिक, व्यवसायिक स्तर और राज्य के अन्तर्गत नौकरियों में अपर्यापृ प्रतिनिधित्व) जो अधिकांशतः मध्य स्तरीय समुदायों के बीच पाये जाते थे, तीसरा अधिकांश राज्यों में जहाँ स्वतन्त्रता से पूर्व आरक्षण था, सभी मध्यमस्तरीय समुदाय वास्तव में पिछड़े जातियों की सूचियों में सम्मिलित थे। विभिन्न राज्यों के अन्य पिछड़े वर्गों की सूचियों के गहन परीक्षण में यह मानना कि सभी तथा-कथित शूद्र जातियाँ/समुदाय अन्य पिछड़ी जातियाँ हैं, गलत होगा। यद्यपि वर्ण विभाजन के अन्तर्गत सारे शूद्रों-आन्ध्र-प्रदेश में रेड्डी, खम्मा, गुजरात में पटेल और पट्टीदार और सम्पूर्ण भारत के कायस्थ को अन्य पिछड़े वर्गों के रूप में सूचीबद्ध नहीं किया गया है। इस प्रकार यह सच है कि अधिकांश राज्यों में अधिकांश मध्यस्तरीय जातियों को अन्य पिछड़े वर्गों के रूप में वास्तव में सूचीबद्ध किया गया है; किंतु सभी राज्यों/संघ शासित क्षेत्रों में सभी शूद्र समुदायों के लिये ऐसा समान रूप से नहीं है।

अन्य पिछड़ी जातियों का संघटन और विघटन

अन्य 'पिछड़े वर्गों' की सूची का अनुमोदन करने के लिये काका कालेलकर और मण्डल आयोगों (इण्डिया, 1955; 1981) की रिपोर्टों की आलोचना की गई है, जिसमें क्रमशः 2,399 और 3,743 समुदाय शामिल किये गये थे। इसे एक बहुत बड़ी संख्या माना जाता है। कालेलकर और मण्डल आयोग द्वारा संस्तुत सूचियों को आधिकारिक रूप से स्वीकार नहीं किया गया और 1992 तक राज्यों एवं संघ शासित क्षेत्रों द्वारा तथा इसके पश्चात् केन्द्र सरकारों द्वारा अन्य पिछड़े वर्गों को चिन्हित एवं सूचीबद्ध करना जारी रहा। विभिन्न राज्यों और संघ शासित क्षेत्रों द्वारा अन्य पिछड़े वर्गों की कुल संख्या सुगमतापूर्वक उपलब्ध नहीं है। हाल में शर्मा (2002) द्वारा किये गये संकलन के अनुसार भारत सरकार और राज्य/केन्द्र शासित क्षेत्रों द्वारा अन्य पिछड़े वर्गों के रूप में सूचीबद्ध समुदायों की कुल संख्या क्रमशः 2,176 और 2,551 है। इस बड़ी सूची में बहुत

से कारक समाहित हैं। पहला, सारे देश में कुछ ऐसे अखिल भारतीय ओ.बी.सी. समुदाय हैं जिन्हें समान नाम से जाना जाता है। कुर्मी और अहीर दो ऐसी पिछड़ी जातियाँ हैं जिन्हें कई राज्यों में सूचीबद्ध किया गया है। अन्य बहुत से समुदाय समान व्यवसायों को अपनाते हुए भी विभिन्न राज्यों/केन्द्रशासित क्षेत्रों में विभिन्न नामों से जाने जाते हैं। दक्षिण और उत्तर-भारत में अन्य पिछड़े वर्गों के व्यापक व्यवसायगत प्रारूप उनकी उन क्षेत्रों में भिन्न सामाजिक-सांस्कृतिक जनसांख्यिकीय लक्षणों के कारण तुलनीय नहीं हैं। यदि वे तुलना योग्य भी होते तो आवश्यक स्थानीय परम्परा में सम्मिलित विभिन्न जातियाँ, उप-जातीय नाम, उनको विभिन्न सांस्कृतिक पहचान देते थे। परिणामस्वरूप, समान व्यवसाय और अन्य सांस्कृतिक पहलुओं वाले अन्य पिछड़े वर्गों को कई बार सम्मिलित कर लिया गया जिससे सूचियों में उनकी संख्या बढ़ गई। दूसरी ओर जातियों का एक अखिल भारतीय चरित्र व्याप्त है और यद्यपि वे समान समुदायों के गोत्र में विवाह नहीं करते हैं जो विभिन्न राज्यों में, विभिन्न सांस्कृतिक नामों से जाने जाते हैं, वे एक समुदाय के रूप में चिन्हित किये जाते हैं। इसीलिये उनकी संख्या बढ़ी हुई नहीं मिलती है क्योंकि उनकी गणना बार-बार नहीं की जाती है।

दूसरा विचार यह है कि राज्यों में ओ.बी.सी. सूची बनाते समय और केन्द्रीय सूचियों में सूचीकरण के लिये एक न्यूनतम जनसंख्या सीमा का प्रयोग नहीं किया जा रहा है जैसे उदाहरणार्थ 'भारतीय मानव-विज्ञान सर्वेक्षण' के 'पीपुल्स ऑफ इण्डिया प्रोजेक्ट; (पीओआईपी) में प्रयोग किया था। पी ओ आई पी में अन्य पिछड़े वर्गों की संख्या काफी हद तक घट गई क्योंकि उन्होंने एक न्यूनतम जनसंख्या और विभिन्न राज्यों में उपस्थिति अर्हता का आधार मानने पर जोर दिया। विभिन्न राज्यों और संघ शासित राज्यों में समुदायों की सूची बनाने के क्रम में कुछ विचलन हो गये हैं। बहुत से राज्यों/संघ शासित राज्यों में अन्य पिछड़ी जातियों की सूची अस्तित्व में नहीं आयी जब तक कि इन्द्रा साहनी का महत्त्वपूर्ण निर्णय नहीं आया और जब तक सूची बनाने के लिये एक स्थायी संस्थागत तंत्र स्थापित करने का आदेश नहीं किया गया। ऐसे राज्यों में पिछड़े वर्गों के लिये राज्य आयोग की संस्तुतियों द्वारा सूचियाँ निकल कर आयी हैं और अनुमानतः ओ. बी.सी. समुदायों की संख्या ऐसे राज्यों में उतनी विस्तृत नहीं है जितना कि उन राज्यों में जिसमें आरक्षण का एक लम्बा इतिहास है। राज्य-सूचियों और केन्द्रीय सूचियों में ओ.बी.सी. की संख्या में भिन्नता है और कुछ मामलों (जैसे- असम, महाराष्ट्र, तमिलनाडु, गुजरात) में यह बहुत ज्यादा है। केन्द्र की सूचियों की तुलना में राज्य की सूचियों में ओ.बी.सी. की संख्या काफी ज्यादा है अपवाद स्वरूप कहीं-कहीं केन्दीय सूचियों में ओ.बी.सी. समुदायों की संख्या ज्यादा है लेकिन ये अन्तर छोटे हैं। इससे प्रकट होता है कि इन्द्रा साहनी मामले के बाद से केन्द्रीय स्तर पर राज्यों की अपेक्षाकृत समुदायों को सम्मिलित करने की प्रवृत्ति अधिक नियंत्रित हुई है।

सूचीकरण में अनियमितताएँ

संख्याओं की पूर्व वर्णित अनियमितताओं के अतिरिक्त सूचीकरण में अन्य दोष भी हैं।

पहली और सबसे महत्त्वपूर्ण ओ.बी.सी. की सूचियों के केवल एक सेट का अस्तित्व है, जिसे अनुच्छेद 15 (4) और 16 (4) दोनों के उद्देश्यों के लिये समान रूप से प्रयोग किया जाता है यद्यपि 1992 में इन्द्रा साहनी के मामले में निर्णय द्वारा आधिकारिक रूप से व्याख्यायित किया गया है कि ओ.बी.सी. के दो वर्ग समान नहीं हैं। शायद, इन्द्रा साहनी प्रकरण में 15 (4) और 16 (4) दोनों के लिये समान विशेष संवैधानिक पीठ द्वारा विभिन्न राज्य सरकारों द्वारा ओ. बी.सी. की सूचियों के केवल एक सेट के विरोधाभास के पूर्ण अनुमोदन ने इस अभ्यास की निरन्तरता को सुगम बना दिया है।

आन्ध्र-प्रदेश और बिहार राज्यों में ओ.बी.सी. के उप-विभाजन हैं। यह उप-विभाजन समान प्रकार के नहीं हैं। बिहार में यह सूची दो भागों में विभाजित है। (1) अन्य पिछड़े वर्ग और (2) सर्वाधिक/अति पिछड़े वर्ग (MBCs)। आन्ध्र प्रदेश और कनार्टक में अन्य पिछड़े वर्ग की सूचियाँ अ,ब,स,द उप-भागों में विभाजित हैं। समूह अ में देशज जनजातियाँ विमुक्त जातियाँ समाहित हैं। समूह ब में व्यवसायगत निपुणता वाले समूह जैसे- शराब बनाने वाले, जुलाहे, बढ़ई, लोहार, स्वर्णकार, कमसालिन आदि सम्मिलित हैं, समूह स, ईसाई धर्म परिवर्तित अनु. जातियों और उनकी संततियों से सम्बन्धित है। समूह द में अन्य सभी वर्ग/समुदाय/समूह सम्मिलित हैं जो समूह अ, ब और स में सम्मिलित नहीं हैं। आरक्षण को श्रेणीकृत उप-समूहों में उनके मध्य अन्य पिछड़ी जातियों की सापेक्ष जनसंख्या के अनुपात में बाँट दिया गया है। शेष राज्यों में सम्पूर्ण ओ.बी.सी. की सूची एक है और इसलिये आधिकारिक तौर पर वे सभी समकक्ष माने जाते हैं यद्यपि उनमें से कुछ को लाभों का एक अधिक बड़ा हिस्सा मिला है जो अनुच्छेद 15 (4) और 16 (4) प्रदान करते हैं। उपरोक्त तीन राज्यों में पूर्व-वर्णित उपविभाजन यह भली-भाँति स्पष्ट करता है कि समुदायों की श्रेणियाँ जिन्हें तार्किक रूप में अनुसूचित जातियों/अनुसूचित जनजातियों की सूची में होना चाहिए उन्हें वस्तुतः अन्य पिछड़ी जातियों में सम्मिलित कर लिया गया है। उदाहरण के तौर पर इसे असम की अन्य पिछड़ी जातियों की सूची में 24वीं प्रविष्टि में निष्कपटता से लागू किया गया है जिसमें "चाय बागान श्रमिकों/टी जी जनजातियों/भूतपूर्व टी जी जनजातियों" के शीर्षक के अन्तर्गत 96 उप-प्रविष्टियाँ हैं, जिनमें से बहुत सी या तो अनुसूचित जातियाँ या अनुसूचित जनजातियाँ हैं।

तीसरा, विशेषज्ञों के विचार में बहुत सी राज्य ओ.बी.सी. सूचियों में कुछ ऐसे समुदायों को सम्मिलित किया गया है जो सामाजिक और शैक्षिक रूप से पिछड़े नहीं हैं तथा राज्य के अन्तर्गत नौकरियों में पर्याप्त रूप से प्रतिनिधित्व करते हैं। फिर भी उनकी जनसंख्या एवं उनके राजनीतिक महत्त्व ने उन्हें सूचियों में प्रवेश प्राप्त करने में समक्ष बनाया है और वे वहीं बने हुए हैं। इन उदाहरणों में 1992 से पूर्व बनायी प्रविष्टियाँ सम्मिलित हैं जिनको राज्य पिछड़ा वर्ग आयोगों (SCBCs) की उपेक्षा करके डाला गया है। कनार्टक में वोक्कलिगा का मामला प्रथम श्रेणी से सम्बन्धित है, वहीं उत्तर प्रदेश और राजस्थान में जाट को सम्मिलित किया जाना द्वितीय श्रेणी से सम्बन्धित है। उत्तर-प्रदेश के लिये ओ.बी.सी. की केन्द्रीय सूची में सम्मिलित किये जाने की

जाटों की याचिका पिछड़े वर्गों के राष्ट्रीय आयोग द्वारा रद्द कर दी गई थी वहीं उत्तर-प्रदेश की राज्य ओ.बी.सी. की सूची में उनकी याचिका उत्तर-प्रदेश के राज्य पिछड़ा वर्ग आयोग के अन्तर्गत विचाराधीन थी। उत्तर-प्रदेश सरकार ने राज्य आयोग की संस्तुति के बिना उत्तर-प्रदेश की पिछड़ी जाति की सूची में जाटों को सूचीबद्ध कर दिया। पहले ही उत्तर-प्रदेश ने राज्य आयोग की संस्तुति प्राप्त किये बिना ही सम्पूर्ण पर्वतीय क्षेत्र को ओ.बी.सी. के रूप में घोषित कर दिया था। जबकि उत्तर-प्रदेश के पर्वतीय क्षेत्र, अब नये राज्य उत्तरांचल का एक हिस्सा हैं, राज्य आयोग के अधिदेश के विरुद्ध जाटों का सम्मिलन उच्चतम-न्यायालय के अन्तर्गत विचाराधीन है। चूंकि इस प्रकरण में कोई रोक (stay) नहीं लगायी गई है इसलिये जाट इसका लाभ ले रहे हैं।

विघटन : अन्य पिछड़े वर्ग के व्यवसायगत उप-विभाजन

मई 1996 की अपनी रिपोर्ट में दसवीं पंचवर्षीय योजना के दौरान ओ.बी.सी. के सशक्तीकरण के लिये उपाय सुझाने के लिये योजना आयोग ने पिछड़े वर्गों के विकास एवं कल्याण के लिये कार्यकारी समूह स्थापित किया, जिसने ओ.बी.सी. को निम्नांकित पाँच व्यवसायगत उप-श्रेणियों में विभाजित किया है:-

अ- पूर्व ज़मींदारों और अन्य मध्यस्थ पट्टेदारों के गरीब खेतिहारों को सम्मिलित करते हुए, गरीब खेतिहरों की जातियाँ/समुदाय

ब- जातियाँ/समुदाय जो परम्परागत सेवायें प्रदान करते हैं (जैसे- बाल काटना और सँवारना, कपड़े धोना, मैला साफ करना आदि)।

स- शिल्पकार/दस्तकार/उत्पादक जातियाँ/समुदाय (जैसे-मछुआरा, शराब बनाने वाले, पत्थर काटने वाले, कुम्हार आदि)।

द- परिवार/कुटीर स्तर पर विभिन्न उत्पाद प्रदान करने के लिये पारम्परिक कौशल युक्त शिल्पकार जातियाँ/समुदाय (जैसे-कुम्हार, जुलाहे, लोहार, बढ़ई आदि)। ये भारतीय समाज के वास्तविक निर्माता वर्ग थे जो उस समय पर भी द्वितीयक उत्पादन में लगे थे जबकि आज के बहुत से औद्योगिक घराने साहूकार और हुण्डी संचालक थे।

इ- बिना संसाधन या कौशल वाले समुदायः जातियों/समुदायों का एक अच्छा खासा वर्ग बहुत गरीब है और उनका पारम्परिक व्यवसाय भिक्षा रहा है, (और आज भी है) कभी-कभी धार्मिक पुट के साथ। उनमें से बहुत से घुमन्तू (nomadic) या अर्ध-घुमन्तू (semi-nomadic) हैं। इन समुदायों में वे लोग सम्मिलित हैं जो विभिन्न धर्मों को मानते हैं, विभिन्न भाषायें बोलते हैं, विभिन्न सामाजिक-सांस्कृतिक-भौगोलिक स्थानीयता में रहते हैं किंतु समान पारम्परिक व्यवसायों को अपनाये हुए हैं।

अन्य पिछड़े वर्गों की समस्याएँ और सशक्तीकरण के कार्य

कृषक समुदाय ओ.बी.सी. के पाँच उप-समूहों का सबसे बड़ा हिस्सा है। शेठ और प्रताप

(1997) उनको दो समूहों में विभाजित करते हैं: संख्यात्मक रूप से बड़े किंतु सामाजिक और शैक्षिक पिछड़ेपन वाले समुदाय जो छोटी-भूमि धारिता के मालिक-कृषक हैं और वो जो पट्टेदार-कृषक एवं भूमिहीन श्रमिक हैं। पिछले पाँच वर्षों से उनको कृषि-कार्य में कच्चे-माल के लिये मिलने वाली सब्सिडी अपर्याप्त रही है। विश्व-व्यापार संगठन प्रोटोकॉल के अन्तर्गत कृषि वस्तुएँ आयात की जा रही हैं और पी डी एस वस्तुओं की प्रति इकाई लागत बढ़ जाने के कारण राज्य सरकारें सरकारी भण्डारणों से खाद्यान्नों की उठान करने में समर्थ नहीं हैं। इस प्रकार, यह एक विरोधाभास की स्थिति है जहाँ लोग भूख से मर रहे हैं जबकि अन्न-भण्डार बढ़ रहा है और वहीं दूसरी ओर अपेक्षाकृत विकसित राज्य आन्ध्र-प्रदेश, कनार्टक और महाराष्ट्र में किसान निर्वहनीय ऋणग्रस्तता के कारण आत्महत्या कर रहे हैं। यदि 2001 में रेखांकित उत्पादन और इसकी पैकिंग एवं वितरण की लागत कम करने के हिन्दुस्तान लीवर के मानविन्दर सिंह बंगा के प्रतिपादित लेख को स्वीकार कर लिया जाय, तो ओ.बी.सी. का यह तबका अतिरिक्त कठिनाइयों से गुज़रने जा रहा है। स्वातन्त्रोत्तर काल के पिछले 55 वर्षों के दौरान, शिल्पकार और शिल्पकारी समुदाय एक बहुत कठिन दौर से गुज़र रहा है। शेठ और प्रताप (1997) ने बहुत सही कहा है कि ये, वे समुदाय हैं जिन्होंने हमारे समाज में विभिन्न कौशलों एवं विशेषज्ञताओं को हज़ारों वर्षों तक विकसित और संरक्षित किया है। ऐसे समुदायों की एक बड़ी संख्या ने (जैसे- तेल पेरने वाले, कुम्हार, लोहार, बढ़ई आदि) वास्तव में मशीनीकरण और उत्पादन के बड़े पैमाने की व्यवस्था के प्रारम्भ होने के कारण तथा जनसंख्या की जीवन-शैली में परिवर्तन के कारण अपना व्यवसाय खो दिया है। उनमें से केवल कुछ व्यक्तिगत उद्यमियों ने समय की आवश्यकता और परिवर्तित बाजार एवं रुचियों के अनुरूप स्वयं को ढाल लिया है। कुछ ने शिक्षा की सहायता से और बाहर जाकर अपना व्यवसाय बदल दिया है। जबकि वास्तविकता यह है कि उनमें से एक बहुत बड़ा वर्ग अपने पारम्परिक व्यवसायगत बन्धनों से अलग कर दिया गया है और हाशिये पर ढकेल दिया गया है या शहरी व्यवस्था में अस्थायी श्रमिक एवं ग्रामीण क्षेत्रों में भूमिहीन श्रमिक होने के लिये बाध्य हो गया है।

ओ.बी.सी. के सेवाएँ देने वाले समुदायों के कुछ व्यवसायों (जैसे- धोबी, मछुआरा) को उच्च स्तर के अन्य लोगों द्वारा अपना लिया गया है। वे प्रारम्भ में सामाजिक रूप से पिछड़े थे किंतु अर्थहीनता ने उनको आर्थिक सन्दर्भों में भी नीचे की ओर ढकेल दिया। वे उदारीकृत अर्थव्यवस्था में 'बेकार आदमी' (rejected men) हो गये हैं। यह प्रवृत्ति धोबी, मछली पकड़ने वालों, चमड़ा कमाने वाले, बुनकर और जुलाहा समुदायों में अच्छी तरह देखी जा सकती है। पारम्परिक धोबियों की जगह मशीनी लान्ड्रियों ने ले ली है। इसी तरह मछली पकड़ने वाली यांत्रिक नावों ने मछुआरों को हटा दिया है। इन व्यवसायों में लगे इन समुदायों को कंगाली, भूख तथा विनाश की स्थिति में ढकेल दिया गया है। इससे सबसे बड़ी हानि समाज को हुई है जो उनके कौशल से वंचित हो रहा है जिसे सदियों से संरक्षित, विकसित और परिमार्जित किया गया था।

अन्य पिछड़े वर्गों के विकास और सशक्तीकरण के कार्य

आधिकारिक प्रयास

पहली आठ पंचवर्षीय योजनाओं में संघ की सम्बन्धित एजेन्सियों (जैसे- योजना आयोग और सामाजिक कल्याण मंत्रालय) द्वारा अन्य पिछड़े वर्गों के विकास एवं सशक्तीकरण के कार्यों के लिये कोई विशिष्ट बात नहीं की गई थी केवल नौवीं पंचवर्षीय योजना में इस आवश्यकता के लिये कुछ अर्थपूर्ण ध्यान दिया गया। इसमें ओ.बी.सी. की श्रेणियों की विशिष्ट उप-स्तर की विशिष्ट समस्याएँ बताते हुए बहुत कम विशेष योजनाएँ, सम्मिलित की गई थीं। ऐसी कुछ हल्की फुलकी योजनाओं के लिये दी जाने वाली वित्तीय सहायता बहुत कम और खराब थी तथा कुछ को वित्तीय सहायता बिल्कुल नहीं मिली। सत्तासीन संभ्रान्तों द्वारा एक से अधिक तरीकों से ओ. बी.सी. की सुनियोजित उपेक्षा, उनके विकास तथा सशक्तीकरण के कार्यों के समग्र प्रारूप में जानबूझ कर बरती गयी उदासीनता से प्रकट होती है।

1999 में जब एन.डी.ए. सरकार बनी, इसने एक **'नेशनल एजेण्डा फॉर गवर्नेन्स' (NAG)** बनाया। इसका पैरा- 30 पिछड़ी जातियों से सम्बन्धित है:

"अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और पिछड़ी जातियों के हितों का पर्याप्त संरक्षण, उचित कानून, कार्यपालिका एवं सामाजिक प्रयासों द्वारा और बड़े पैमाने पर शिक्षा तथा सशक्तीकरण द्वारा किया जायेगा। हम, राज्य स्तर पर शैक्षिक संस्थाओं में आरक्षण के विद्यमान प्रतिशत को कानूनी संरक्षण प्रदान करेंगे। हम, अनेक तेज सामाजिक-आर्थिक विकास को निश्चित करने के लिये अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और पिछड़ी जातियों को सहायता प्रदान करना जारी रखेंगे। हम समाज से अस्पृश्यता के अंतिम अवशेषों को भी समाप्त कर देंगे। हम सामाजिक सौहार्द्र के सिद्धान्तों के आधार पर सामाजिक न्याय के लिये एक राष्ट्रीय चार्टर प्रस्तुत करेंगे।"

इस तरह NAG का पैरा- 7 भी अन्य पिछड़ी जातियों के लिये भी प्रासंगिक है:

"गैर-उद्योग जगत और स्व-रोजगाररत लोगों की वित्तीय, प्रौद्योगिकीय और सामाजिक सुरक्षा संबंधी आवश्यकताओं के लिये हम एक विस्तृत अध्ययन करेंगे और राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के इस बड़े भाग को प्रोत्साहित करने के लिये एक विकास बैंक का गठन भी करेंगे जिसमें स्व-रोजगार और रोजगार प्रदान करने की असीम संभावनाएँ भी हैं। हम वित्तीय सहायता करने वाली संस्थाओं के अतिरिक्त अन्य दूसरे संस्थागत तंत्र को लायेंगे जो छोटे पैमाने, ग्रामीण, खादी, बुनकरी (पावरलूम), हथकरघा (हैण्डलूम), हस्त-कला और ऐसे दूसरे उद्योगों के लिये सेवाएँ, तकनीक और विपणन सुविधाएँ प्रदान करेंगे। ये और कृषि-क्षेत्र रोजगार उत्पन्न करने के अनगिनत अवसरों से युक्त एक खुला स्रोत है।"

ध्यानपूर्वक देखने पर, यह स्पष्ट है कि नाग (NAG) अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों तथा अन्य पिछड़ी जातियों के विकास एवं सशक्तीकरण के कार्यों में जटिलताओं और भिन्नताओं में अंतर नहीं करता है। दूसरा, यह अन्य पिछड़ी जातियों के लिये वचनबद्ध केन्द्र द्वारा

पहले से मौजूद थोड़े प्रयासों को जारी रखने के लिये जोर देकर दोहराता है। तीसरा, पैरा- 7 में प्रदत्त विशिष्टियाँ अन्य पिछड़ी जातियों के सबसे बड़े उप-स्तर (जैसे कृषक) को अपने विचार की परिधि से बाहर छोड़ देती हैं। चौथा, जिन दो ठोस विशिष्ट उपायों का इसने वादा किया था (जैसे- एक एन. ए. सी. बनाकर और एक विकास बैंक समाविष्ट करके) उन पर अब तक कार्य नहीं किया गया है।

अन्य पिछड़ी जातियों के विकास एवं सशक्तीकरण के कार्य

दसवीं पंचवर्षीय योजना

बहुत से सन्दर्भों में, समस्याओं को ध्यान में रखते हुए कार्यकारी समूह (Working Group-WG) की रिपोर्ट (इण्डिया, 2001) एक गुणात्मक विचलन है। यह बताता है कि अन्य पिछड़ी जातियों का विकास केवल यत्र-तंत्र बदलाव या कुछ मानवीय स्थितियों को अच्छा करने से नहीं हो सकता है। इसने इसे समेकित दृष्टि के साथ प्रारम्भ करना आवश्यक समझा जिसमें भारतीय समाज और इस ढाँचे के अन्तर्गत भारतीय समाज में अन्य पिछड़ी जातियों का भविष्य और नव विकास योजनाओं, पाँच दशकों का स्वतन्त्र अस्तित्व तथा भारत के सामाजिक-आर्थिक इतिहास में सदियों के बाद अन्य पिछड़ी जातियाँ आज जिस मुकाम पर पहुँच चुकी हैं, उसकी समझ सम्मिलित है। जहाँ तक, केन्द्रीय सरकार की अन्य पिछड़ी जातियों के प्रति सोच का प्रश्न है अब तक उसे इस इतिहास अवधि में गैर-विकास की आठ योजनाएँ और 'सीमान्त विकास की एक योजना' के रूप में बताया गया। कार्यकारी समूह ने अन्य पिछड़ी जातियों के विकास और सशक्तीकरण के लिये एक दृष्टि विकसित करने का जिम्मा लिया। संवैधानिक और समतामूलक मानवीय परम्पराओं के दोनों दृष्टिकोणों से, इसने महसूस किया कि अन्य पिछड़ी जातियाँ आज भी भूत के समान भिन्न रूप में भारतीय समाज की पराधीनता को प्रदर्शित करती हैं। अर्थव्यवस्था में, वे पर्याप्त रूप से जातियों और समुदायों के एक बहुत बड़े वर्ग को सम्मिलित करती हैं, जिनसे विभिन्न प्रकार के सामान बनाने और उनसे प्रतिकूल शर्तों पर सेवा करने की अपेक्षा की जाती थी। इस प्रकार शोषण के विभिन्न रूपों व स्तरों का निर्माण होता था। वे व्यापक और विविध प्रकारों के आर्थिक क्रिया-कलापों में लगे थे और आज भी लगे हैं तथा अपने आर्थिक क्रिया-कलापों के क्षेत्र से सम्बन्धित पर्याप्त पारम्परिक तकनीकी कौशल रखते थे। अन्य पिछड़ी जातियों के विभिन्न उप-स्तर, विभिन्न प्रकारों के आघातों का सामना करते हैं और उनके विकास तथा सशक्तीकरण की रणनीति के लिये अलग तरीके को अपनाते हैं जो समुदायों की भिन्न आर्थिक एवं सामाजिक आवश्यकताओं को, समाज तथा शैक्षिक पिछड़ेपन के भिन्न स्तरों पर पहुँचाने के प्रति संवेदनशील हैं। जैसा कि पूर्व वर्णित है कि कार्यकारी समूह (डब्लू जी) ने महसूस किया कि अन्य पिछड़ी जातियों के अपने पारम्परिक क्रिया-कलापों में या अपनी रुचि के अनुसार अन्य विविध क्रिया-कलापों में उनका आर्थिक आत्म-सम्मान सुरक्षित किया जाना चाहिए, उन्हें आधुनिक प्रौद्योगिकी के पूर्ण लाभों, वित्त की उपलब्धता, कच्चे माल पर नियंत्रण, विपणन

सुविधाओं आदि को उन शर्तों पर दिया जाना चाहिए जो उनके लिये उचित हो। शिक्षा, स्वास्थ्य और आवास की सुविधाएँ प्रदान की जानी चाहिए ताकि उनका विकास-प्रक्रिया के लाभों से वंचित होना रुक सके। कार्यकारी समूह ने अन्य पिछड़ी जातियों के विकास और सशक्तीकरण के उद्देश्यों एवं तत्त्वों को निम्न प्रकार बताया है:-

(i) सामाजिक पिछड़ेपन का सफाया

(ii) प्रत्येक चरण, दौर और शिक्षा-क्रम में शैक्षिक समानता को उत्पन्न करना

(iii) (अ) उनके पारम्परिक धन्धों में अन्य पिछड़ी जातियों को मजबूत करके और उनके सम्बन्धित पारम्परिक आर्थिक क्षेत्रों में उनके नियंत्रण और स्वामित्व को सुनिश्चित करना;

(ब) अन्य पिछड़ी जातियों को निन्दित व्यवसायों से स्थानान्तरित करने में उनको प्रशिक्षण तथा सहायता देना

(स) अन्य पिछड़ी जातियों को उनकी जनसंख्या के अनुपात में विविध आधुनिक व्यवसायों में फैलने के लिये सहायता देना

(द) उनके सामाजिक सम्मान को समाहित करते हुए सभी प्रकार के व्यवसायों में देय अनुपात में अन्य पिछड़ी जातियों को स्थान देने के लिये स्थितियाँ उत्पन्न करना

सशक्तीकरण की प्रक्रिया और प्रयास

कार्यकारी समूह (डब्लू. जी) के अनुसार सशक्तीकरण के दो पहलू हैं- परिणाम और प्रक्रिया। परिणाम में पूर्व वर्णित उद्देश्यों की प्राप्ति निहित है। प्रक्रिया में अन्य पिछड़ी जातियों को अपने विकास कार्यक्रमों की अवधारणा, रूप देने, योजना अभिकल्पन, क्रियान्वयन, पर्यवेक्षण, अनुश्रवण और जहाँ आवश्यकता हो समयानुसार योजनाओं में सुधार के लिये भूमिका प्रदान किया जाना, निहित है। इसके लिये आवश्यकता है कि राज्य की एजेन्सियों जैसे राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग वित्त एवं विकास निगम (National Backward Classes Finance and Development Corporation) और राज्यों में इसके प्रतिस्थानियों को व्यक्तिगत प्रार्थियों के स्थान पर समुदायों के समूहों पर विचार करना चाहिये और संवाद के आधार पर उनमें से प्रत्येक के लिये उपयुक्त योजनाओं को धीरे-धीरे विकसित करना चाहिये। परिणामस्वरूप समस्या पहचानने, हस्तक्षेप किये जाने योग्य क्षेत्र को पहचानने और रणनीति बनाने तथा लोकतांत्रिक और पारदर्शी तरीकों से समान और सक्रिय सहभागियों के रूप में उपकरणीयता की सम्पूर्ण निर्णय प्रक्रिया में सम्बद्ध अन्य पिछड़ी जातियों के समूहों के सहयोग की आवश्यकता होती है। ओ.बी.सी. समुदायों के यथार्थ और लोकतांत्रिक व्यवसायगत संघ, राज्य एजेन्सियों के सभी स्तरों द्वारा इस संवाद प्रक्रिया में जुड़े होने चाहिए। इनमें से कुछ संघों में से अधिकांश को अपनी स्वाभाविक एवं अपेक्षित भूमिका को वर्णित करने के लिये, प्रशिक्षण और क्षमता-निर्माण की आवश्यकता है। इस प्रक्रिया को मूर्त्त रूप देने में अन्य पिछड़ी जातियों के लिये राज्य स्तरीय और राष्ट्रीय आयोगों की सेवाओं और अन्य पिछड़ी

जातियों के मध्य निपुण एवं व्यवसायसम्पन्न नागरिकों की सेवाएँ जो केवल सम्पादन संबंधी सुविधाएँ, प्रयोजनमूलक सशक्तीकरण और प्रयोजनमूलक उपकरण चाहते हों, का उपयोग किया जाना चाहिए। केन्द्र और राज्य सरकारें स्वयं को इस अनुपयुक्त कार्य जैसे- धनराशि के लिये स्वयंसेवी संस्थाओं (NGOs) के व्यक्तिगत प्रार्थना पत्रों की प्रक्रिया और मंजूरी के कार्य से स्वयं को मुक्त कर सकती हैं और इस कार्य को नये अथवा विद्यमान निकायों को हस्तान्तरित कर सकती हैं।

विभिन्न सामाजिक-सांस्कृतिक-भौगोलिक स्थानों में विभिन्न ओ.बी.सी. समुदायों के पिछड़ेपन के विभिन्न चरण और स्तर हैं। वैभिन्नता के इस समूह के एक छोर पर विमुक्त जातियाँ, घुमन्तु, अर्ध घुमन्तू और गैर-अनुसूचित जातीय सफाई कर्मचारी हैं। संख्या में कम, ये लोग सशक्तीकरण के उपायों के सन्दर्भ में उपेक्षित रखे गये हैं। दूसरे छोर पर भूमि संसाधन आधार और कौशलों को रखने वाले कृषक समुदाय हैं। पारम्परिक अर्थव्यवस्था ने उन्हें अलाभकर स्थिति में रक्खा किंतु वे स्थानीय पहल और स्वतन्त्रता की निश्चित मात्रा को बनाये रख सके। सिंचाई और ऊर्जा ने उन्हें अन्य पिछड़ी जातियों की दूसरी उप-श्रेणियों की तुलना में अधिक उन्नत बनने योग्य बनाया है किंतु वे सामाजिक एवं शैक्षणिक रूप से विशिष्टतः पिछड़े बने रहे। इस श्रेणी में एक उप-समूह में क्षेत्रीय स्तर पर बहुसंख्यक और अपेक्षाकृत अधिक भू-संसाधनों के स्वामी हो सकते हैं जबकि अन्य के पास संख्या बल और भू-संसाधनों पर नियंत्रण का लाभ नहीं होता। उत्तरखर्तियों में, पट्टेदार कृषक भी सम्मिलित हैं।

शिल्पकार जातियाँ/शिल्पकारिकों के समुदायों या शिल्पकार जैसी उत्पादक विमुक्त जातियाँ और घुमन्तु, अर्ध-घुमन्तू एवं कृषक अन्य पिछड़ी जातियों की उप-श्रेणियों के मध्य में हैं। वे सामान्य समुदायों को विविध पारम्परिक सेवाएँ प्रदान करते हैं। यह श्रेणी दो उप-श्रेणियों में विभाजित हैः शिल्पकार जैसे-स्वर्णकार, चाँदीकर और अन्य धातु-शिल्पकार इत्यादि। इनमें से कुछ एक विशिष्ट प्रकार का घुमन्तू लक्षण रखते हैं जैसे- पत्थर काटने वाले और समुद्री मछुआरे। यहाँ तक कि जल सम्बन्धी और नदी के किनारे रहने वाली जातियाँ भी जैसे निषाद यद्यपि व्यवसायगत घुमन्तू नहीं हैं फिर भी एक सामाजिक रूप से कम प्रतिष्ठित और शैक्षिक रूप से अधिक पिछड़े वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं।

चूँकि अन्य पिछड़ी जातियों की सर्वाधिक विकसित श्रेणियाँ आज भी पिछड़ी हैं, भारतीय समाज के सामाजिक रूप से विकसित स्तर पर पहुँचने के लिये, उनके और अधिक विकास के लिये राज्य की सहायता की आवश्यकता है। एक सीमा तक वित्तीय साधन उनकी बाधा है, इसलिये कार्यकारी समूह ने प्रथम वरीयता और कुल आवरण (पूर्ण आवरण निकटतम जितना संभव हो सके), विमुक्त जातियों और घमुन्तू व अर्ध-घुमन्तू जातियों की सर्वाधिक पिछड़ी उप-श्रेणियों के लिये अनुमोदित किया और इनके उपरान्त शिल्पकार और शिल्पकार जैसी तथा सेवा प्रदान करने वाली जातियों की मध्यम अधिक पिछड़ी उप-श्रेणियों को अनुमोदित किया है। कार्यकारी समूह ने सर्वाधिक और अधिक पिछड़ी उप-श्रेणियों के लिये अधिक महत्त्वपूर्ण न्यायोचित सशक्तीकरण

उपाय विषयों को मानने के लिये सिफारिश की। समूह ने यह नहीं बताया कि कृषक समुदाय जो कुछ राज्यों में ओ.बी.सी. का 70 से 80 प्रतिशत तक है और उनके सशक्तीकरण विषय को अल्प धनराशि की उपलब्धता के कारण छोड़ दिया गया है। वस्तुतः यह कदम बिल्कुल भी निर्वहनीय सशक्तीकरण उपाय नहीं थे। यह एक तकनीक है जो स्वातन्त्रोत्तर काल में भारतीय शासक वर्ग द्वारा उनके विरुद्ध उपयोग की जाती रही है।

(साभार : वी. एस. सुजाथा, 2002)

जातीय पहचान और पिछड़ेपन की सामाजिक सीमाएँ : मुस्लिम अन्य पिछड़े वर्ग (Caste Identity and Social Boundaries of Backwardness : The Muslim OBCs)

भारत में मुस्लिम सर्वाधिक बड़ा धार्मिक अल्पसंख्यक समुदाय है और भारतीय समाज का एक महत्त्वपूर्ण भाग है। वे कुल जनसंख्या का लगभग 12 प्रतिशत हैं और संख्या के सन्दर्भों में वे लगभग 12 करोड़ हैं। इस प्रकार, वे संसार में केवल इण्डोनेशिया के बाद अगली दूसरी सर्वाधिक बड़ी मुस्लिम जनसंख्या है।

आज भारत में मुस्लिम जनसंख्या का वितरण एक हज़ार वर्ष से अधिक तक व्याप्त प्रक्रिया का परिणाम है। वे ग्रामीण और शहरी सामाजिक परिदृश्य के एक एकीकृत भाग के रूप में युगों से रह रहे हैं और अर्थव्यवस्था, रीति-रिवाज और परम्पराओं के युगों-पुराने बंधनों में साथ-साथ बँधे रहे हैं। महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि भारत में मुसलमान न तो कोई 'सांस्कृतिक समुदाय' है और न ही एक सुगठित नृजातीय (ethnic) जनसंख्या है। वे एक जटिल समाज में पहचानों की परतों के बीच में रहते हैं। कुछ स्थानों पर वे जैसे लद्दाख में (जम्मू और कश्मीर) भाषायी/जातिगत श्रेणी के रूप में, लक्षद्वीप में एक जनजातीय बिरादरी/बंधुत्व समूह के रूप में और जम्मू और कश्मीर में गद्दी और बकरीवाल जैसे जनजाति समूहों के रूप में, सम्प्रदाय संबंधी परिदृश्य में जैसे- सुन्नी, शिया, इस्माइली, बोहरा, अहमदिया आदि या विभिन्न इस्लामिक स्कूलों जैसे देवबन्दी और बरेलवी के रूप में देखे जा सकते हैं।

भारतीय मुसलमान की उपरोक्त वर्णित सामाजिक-सांस्कृतिक-नृजातीय वैभिन्नताओं में कम से कम एक बात समान है और वह है 'सामाजिक स्तरीकरण', जो मुख्यता हिन्दू समाज के अनुरूप है जिसमें वे एक हज़ार वर्षों से ज्यादा से रह रहे हैं और व्यवहार कर रहे हैं।

इस्लाम, मुसलमान, जाति और सामाजिक स्तरीकरण

यह प्रश्न बहुधा किया जाता है कि क्या हिन्दूवाद के अतिरिक्त अन्य आस्थाओं वाले समुदाय की सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्था में जाति की अवधारणा का प्रयोग किया जा सकता है? यह सच है कि इस्लाम की समतामूलक सामाजिक व्यवस्था, जाति के विचार के सर्वथा विरुद्ध है फिर भी 'भारतीय इस्लाम' और 'हिन्दू जाति-व्यवस्था' एक पर्याप्त अनुकूलनशीलता को प्राप्त

करने में सफल रहे हैं। हटॅन (1951) की बात सही है जब वे कहते हैं कि जब मुसलमान और ईसाई भारत में आये थे, तब जाति चलन में थी और ऐसी समतामूलक विचारधाराओं के अनुयायी भी जाति के संक्रमण से नहीं बच सके। इसके अलावा भारतीय मुस्लिम जनसंख्या का बहुत बड़ा वर्ग निम्न हिन्दू-जातियों से आता है जो सामाजिक शोषण और दमनकारी सामाजिक-आर्थिक अयोग्यताओं से बचने के लिये इस्लाम ग्रहण करते रहे हैं। इस्लाम की सामाजिक समता ने उनको आकर्षित किया और लुभाया किंतु समानता की खोज उनके लिये एक मृगतृष्णा सिद्ध हुई। बहुत से मामलों में उनकी सामाजिक-आर्थिक स्थितियों में सुधार तो हुआ फिर भी सामाजिक समानता का उद्देश्य कोरा भ्रम सिद्ध हुआ। इससे भी बढ़कर अधिकांश मामलों में इन लोगों ने अपनी धार्मिक आस्था को त्याग कर इस्लाम तो स्वीकार किया, किंतु अपनी जाति नहीं छोड़ी और उसे भी नये सामाजिक-धार्मिक परिदृश्य में ले गये। इसलिये, यह कहना उचित होगा कि जबकि इस्लाम जातियों या जाति के समान समूहों को नहीं मानता है किंतु भारतीय मुसलमान मानते हैं। इस प्रकार, जाति के संदर्भ में विचारधारा और सामाजिक संरचना के बीच अन्तर्सम्बन्ध, चर्चा के लिये पूर्ण अकादमिक मुद्दे हो सकते हैं।

लेकिन यहाँ इस मुद्दे से अलग रहने के लिये प्रयास किया जा रहा है कि क्या भारतीय मुसलमानों में सामाजिक स्तरीकरण का प्रतिदर्श हिन्दुओं की जाति-व्यवस्था का प्रतिरूप है या नहीं। इसलिये भारतीय मुस्लिमों में 'जाति' और 'जाति-व्यवस्था' शब्द का प्रयोग यहाँ ढीले-ढाले अर्थों में किया जा रहा है। यह निर्विवाद सच है कि मुस्लिमों में भी ऐसे लोगों के समूह हैं जो हिन्दू-जातियों के समान कम या अधिक संगठित हैं किंतु यह भी सच है वे तुलनात्मक रूप से कम दृढ़ हैं क्योंकि इस्लाम, कम से कम सिद्धान्त रूप में, अनुयायियों के विभिन्न वर्गों के बीच विवाह की अनुमति देता है। नज़ीर (1993:2898) इस पूरे मुद्दे को एक नयी दृष्टि से देखते हैं:

"......... जाति-व्यवस्था और जाति नामों के बीच अन्तर करना आवश्यक है: पहला श्रम के सामाजिक विभाजन से जुड़े संयुक्त समूहों, व्यवसायगत विशिष्टीकरण, असमान निर्भरता और केवल जन्म के आधार पर सदस्यता व्यवस्था को बताता है; उत्तरवर्ती गैर-स्थानीय, ग़ैर-निगमिक (non-corporate) समूहों, जो ऊपर से नीचे तक एक पदानुक्रम में व्यवस्थित हैं, और जो व्यवसायगत विशिष्टता, असमान निर्भरता एवं केवल जन्म के आधार पर सदस्यता से नहीं जुड़े हैं, को बताता है।"

शायद, अपनी सारी तरलता के साथ भारतीय मुस्लिमों के बीच 'जाति-व्यवस्था' और 'जाति की तरह के समूहों' को इस वर्णन के द्वारा अच्छी तरह विश्लेषित किया जा सकता है और समझा जा सकता है। इस खाँचें में भी, जैसा कि हरजिन्दर सिंह (1977) कहते हैं, "भारत में मुस्लिमों के विभाजन के स्वभाव में, क्षेत्रीय भिन्नतायें हो सकती हैं।

ग़ौस अंसारी (1960) उत्तर- भारतीय मुस्लिमों के बीच जाति एवं सामाजिक स्तरीकरण के अपने अग्रणी अध्ययन में मुस्लिम 'जातियों' को तीन श्रेणियों में विभाजित करते हैं:

(i) **अशरफ़**

(ii) **अजलफ़**

(iii) **अरज़ल**

अशरफ़ में मुस्लिम कुलीन वर्ग आते हैं जो प्रारंभिक प्रवासी मुस्लिमों के वंशज होने का दावा करते हैं या तो सैयद, शेख, मुगल या पठान होने का दावा करते हैं और इसमें उच्च हिन्दू जातियों जैसे- मुस्लिम राजपूतों के वंशज भी सम्मिलित हैं। अजलफ़ (निम्नकोटि) की श्रेणी में साफ व्यवसाय करने वाली जातियाँ सम्मिलित हैं जैसे- जुलाहा, दर्जी, क़स्साब (चिकवा), हज़्ज़ाम (नाई), कुंजड़ा (हरी सब्जी बेचने वाले) मिरासी, (भाट, गायक और संगीतज्ञ), मनिहार (चूड़ी-व्यापारी) धुनिया (रुई ध ुनने वाले), गद्‌दी (चरवाहे, ग्वाले) आदि जबकि अरज़ल की तीसरी श्रेणी में (शाब्दिक रूप से अत्यन्त निम्न कोटि की) अशुद्ध या पारम्परिक रूप से प्रदूषित करने वाली जातियों जैसे- भंगी या मेहतर को (जमादार और सफाई करने वाले) सम्मिलित किया जा सकता है।

मुस्लिमों के बीच जाति/जातीय प्रकार की सामाजिक संरचना की स्वीकार्यता एवं स्थापना के साथ अपने नियमों तथा व्यवहार-प्रतिमानों से मुस्लिम-जातियों के बीच भी उर्ध्व-गतिशीलता का जन्म हुआ। इस प्रकार, हिन्दू-जातियों के बीच संस्कृतिकरण की प्रक्रिया मुस्लिम जातियों में भी समाहित हो गई है। जब अहीरों (हिन्दू दूधिया जाति) ने अपनी उत्पत्ति को चन्द्रवंशी यादव और कृष्ण से सम्बन्धित बताया तो मुस्लिम जुलाहों ने 'अन्सार' से सन्दर्भित करते हुए अपने नाम के साथ अंसारी जोड़ा (मोहम्मद साहब के उच्च सम्मानित साथी), क़साब/चिकवा (मुस्लिम बूचड़ों) ने कुरैश जनजाति से सन्दर्भित करते हुए अपने नामों के साथ कुरैशी जोड़ लिया क्योंकि मोहम्मद कुरैश-जनजाति के थे। कुछ अन्य मध्य-वर्गीय मुस्लिम जातियाँ स्वयं को पठान या अफ़गान पूर्वजों से सम्बन्धित करती हुई अपने नामों के आगे खान जोड़ती हैं। इस प्रक्रिया में जुलाहे, मोमिन अन्सार बन गये, हज्जाम (नाई) सलमानी बन गये, कुंजड़ा (सब्जी बेचने वाले) रईन बन गये, दर्जी इदरीसी बन गये, भिश्ती (पानी खींचने वाले) ने स्वयं को अब्बासी कहा, लोहार और बढ़ई सैफ़ी बन गये। कल्याण एवं विकास कार्यक्रमों के परिणामस्वरूप बहुत सी ऐसी व्यवसायगत विशिष्ट जातियों ने कुछ समृद्धि प्राप्त की और उन्होंने बढ़ी हुई जागरूकता से जाति-आधारित संगठनों या जमातों/बिरादरियों में स्वयं को गठित किया। बदले में, इसने उनमें सामाजिक एकता को प्रोत्साहित किया। इस प्रकार, हिन्दू-जातियों की तर्ज़ पर मुस्लिम जातियों ने भी संस्कृतिकरण की प्रक्रिया में, सैयद और शैख जैसी अपनी उच्च जातियों की जीवन-शैली और व्यवहार-प्रतिमानों का अनुसरण किया।

मुस्लिम पिछड़ी जातियाँ, क्षतिपूरक भेदभाव और सम्बन्धित मुद्दे

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् और संविधान बनने के बाद भारतीय जनसंख्या के तीन पिछड़े भागों को चिन्हित किया गया और विशेष-व्यवहार के लिये लक्षित किया गया। ये अनुसूचित जातियाँ, अनुसूचित जनजातियाँ और अन्य पिछड़े वर्ग थे। इन श्रेणियों के लिये नौकरी, शिक्षा,

कल्याण और विकास से सम्बन्धित विभिन्न भेदभाव की प्रतिपूर्ति करने वाली नीतियाँ निर्धारित की गई हैं। यदि हम मुस्लिम जनसंख्या को इन श्रेणियों में स्थित करने का प्रयास करते हैं तो हम पाते हैं कि अनुसूचित जातियाँ मुस्लिम नहीं हो सकती हैं क्योंकि यह श्रेणी केवल हिन्दुओं, सिक्खों और बौद्धों तक ही सीमित है। अनुसूचित जनजातियाँ मुस्लिम हो सकती हैं किंतु मुस्लिम जनजातियाँ बहुत थोड़ी सी हैं जैसे- जम्मू और कश्मीर के बकरीवाल और गद्दी, लक्षद्वीप के छोटे जनजातीय समूहों की सूक्ष्म जनंसख्या आदि। स्वाभाविक रूप से, इसका अर्थ है कि उनके लिये अन्य पिछड़े वर्गों की तीसरी श्रेणी ही खुली प्रतीत होती है। एक लम्बे समय से अपने सामाजिक और आर्थिक पिछड़ेपन के बावजूद भी मुस्लिम मुख्यतः इस श्रेणी का लाभ नहीं ले सके। क्योंकि यह एक अस्पष्ट श्रेणी रही है और इस श्रेणी में सम्मिलित होने के आधार, संविधान में विनिर्दिष्ट नहीं थे। यद्यपि कुछ राज्यों ने, राज्य-स्तर पर पिछड़े वर्ग आयोगों की संस्तुतियों के आधार पर अन्य पिछड़ी जातियों के लिये आरक्षण क्रियान्वित किया था, अन्य पिछड़ी जातियों के लिये आरक्षण का मुद्दा 1990 में ही केन्द्र बिन्दु बना जब वी. पी. सिंह सरकार ने राष्ट्रीय स्तर पर सरकारी नौकरियों के लिये मण्डल आयोग की संस्तुतियों को स्वीकार किया। आयोग ने 82 मुस्लिम समुदायों को पिछड़ा घोषित किया।

गैर-हिन्दू-समुदायों (मुख्यतः मुस्लिमों) के बीच अन्य पिछड़े वर्गों की प्रस्थिति पर विचार करते हुए मण्डल-आयोग (1980) ने प्रेक्षण कियाः

"इसमें सन्देह नहीं है कि गैर-हिन्दू समुदायों के बीच सामाजिक और शैक्षिक पिछड़ापन कमोबेश उतना ही है जितना हिन्दू-समुदायों में। यद्यपि वास्तविक व्यवहार में जाति व्यवस्था विशेषतः हिन्दू-समाज में ही है फिर भी यह विभिन्न स्तरों पर गैर-हिन्दू-समुदायों में भी परिलक्षित होती है। इस धारणा के दो प्रमुख कारण हैं: पहला, जाति-व्यवस्था मस्तिष्क को बहुत अधिक प्रभावित करती है और व्यक्ति की सामाजिक जागरूकता एवं सांस्कृतिक व्यवहारों पर एक अमिट छाप छोड़ती है। परिणामस्वरूप, धर्म परिवर्तन के बाद भी भूतपूर्व हिन्दू स्वयं में गहराई से विद्यमान सामाजिक व्यवस्था एवं स्तरीकरण के विचारों को अपने साथ ले आये। इसके परिणामस्वरूप परिवर्तित हिन्दुओं ने उच्च समतामूलक धर्मों जैसे- इस्लाम, ईसाइयत और सिक्ख धर्म इत्यादि के बीच भी अनजाने में ही जाति-व्यवस्था के वाहकों का कार्य किया। दूसरा, गैर-हिन्दू अल्पसंख्यक मुख्यतः हिन्दू भारत में रहते हुए इसके अधिकारपूर्ण सामाजिक एवं सांस्कृतिक प्रभावों से नहीं बच सके। इस प्रकार अन्दर एवं बाहर दोनों प्रकार से गैर-हिन्दू समुदायों के बीच जाति को निरन्तर अवलम्बित और विकसित होने में सहायता प्राप्त हुई।"

इन कठिनाइयों पर अच्छे ढंग से विचार करने के पश्चात् मण्डल आयोग ने गैर-हिन्दू अन्य पिछड़े वर्गों की पहचान के लिये मोटे तौर पर निम्नलिखित आधार तैयार कियाः

(i) किसी भी गैर-हिन्दू धर्म में परिवर्तित सभी अछूत जातियाँ।

(ii) ऐसे व्यवसायिक समुदाय जिन्हें अपने परम्परागत व्यवसाय के नाम से जाना जाता है और

जिनके हिन्दू-प्रतिभागी अन्य पिछड़े वर्गों की सूची में सम्मिलित किये गये हैं (उदाहरणार्थ- तेली, नाई, कुम्हार, लोहार, दर्जी, बढ़ई आदि)

यद्यपि हमारे पास मुस्लिम पिछड़ी जातियों के लिये कोई अलग से जनगणना के आँकड़े नहीं हैं, किंतु उनकी वकालत में लगे संगठन भारत में कुल मुस्लिम जनसंख्या में उनकी जनसंख्या के ८० से ८५ प्रतिशत तक होने का दावा करते हैं। समाजशास्त्रीय शब्दों में, अशरफ़, अजलफ़ और अरज़ल श्रेणीकरण में, अजलफ़-अरज़ल के अन्तर्गत आने वाली सारी मुस्लिम जातियाँ/समूह अन्य पिछड़े वर्गों के स्तर को पाने योग्य हैं।

मुस्लिम अन्य पिछड़े वर्ग, सशक्तीकरण और जातिगत/सम्प्रदायगत कोटा

यद्यपि मुस्लिमों का एक बड़ा जनवर्ग, ओ.बी.सी. के लिये विद्यमान आरक्षण के प्रावधान के अन्तर्गत पहले ही आ चुका है, उनके बीच हमेशा यह शिकायत रही है कि वे शैक्षिक और आर्थिक रूप से उन्नत हिन्दू ओ.बी.सी. जैसे- यादव, कुर्मी आदि की बराबरी नहीं कर पायेंगे क्योंकि वे उनके हिस्से को भी निगल जाने में समर्थ हैं जैसा कि उन्होंने हिन्दू सर्वाधिक पिछड़े वर्गों/जातियों (MBCs) के सन्दर्भ में किया है। दूसरी तरफ़ मुस्लिम ओ.बी.सी. व हिन्दू सर्वाधिक पिछड़े वर्ग के लिये एक अलग उप-कोटे का विचार, अपेक्षाकृत अधिक विकसित हिन्दू पिछड़ी जातियों में विरोध की भावना पैदा करता है। यह भी ध्यान देने योग्य है कि इधर कुछ समय से मुस्लिम नेताओं का एक वर्ग इस सत्य के बावजूद भी सभी मुस्लिमों के लिये आरक्षण में एक अलग कोटे की माँग कर रहा है जब कि भारत में सम्पूर्ण मुस्लिम जनसंख्या का बहुत बड़ा वर्ग पहले से ही अन्य पिछड़ी जातियों के लिये विद्यमान प्रावधान के अन्तर्गत आ चुका है: उदार व धर्मनिरपेक्ष मुस्लिम अभिमत ने इस माँग का दो आधारों पर विरोध किया है: यह एक ऐसा मुद्दा बन जायेगा जो उग्र 'हिन्दुत्व' शक्तियों को मुस्लिमों के विरुद्ध वैमनस्यता बढ़ाने में सहायता करेगा तथा यह इसलिये भी ग़लत है क्योंकि प्रत्येक धार्मिक समुदाय में कुछ समूह अपनी शेष जनसंख्या की तुलना में और साथ ही साथ सम्पूर्ण जनसंख्या की तुलना में भी पारम्परिक रूप से 'आगे' (अगड़े) और सामाजिक, शैक्षिक तथा आर्थिक रूप से उन्नत होते हैं। उत्तर-भारत में सैयद, शेख़ और अन्य अशरफ़ जातियाँ, केरल के मुस्लिमों में थंगल, कोया और केयी, सिक्खों में खत्री और जाट, केरल के ईसाइयों के बीच सीरियन आदि उन्नत उच्च जातियाँ हैं। इस प्रकार, यह तर्क कि सामाजिक और शैक्षिक रूप से कोई सम्पूर्ण धार्मिक समुदाय पिछड़ा हुआ है, समाजशास्त्रीय वास्तविकता को नकारता है और सामाजिक न्याय के सिद्धान्त के विरुद्ध जाता है।

मुस्लिम पिछड़े वर्गों के नेतृत्व की प्रतिक्रिया भी बहुत अर्थवान और महत्त्वपूर्ण है। उनकी बहुत बड़ी चिंता यह है कि यदि एक धार्मिक समुदाय के रूप में मुस्लिमों को आरक्षण दे दिया गया तो अपेक्षाकृत बेहतर स्थिति वाले जाति समूह शिक्षा एवं आर्थिक उन्नति के लिये अवसरों पर पूरा नियंत्रण कर लेंगे। यह अन्तः समुदायी स्पर्धा (intra community competitiveness) के लिये उपजाऊ जमीन बनाता है जिससे सामाजिक टकराव और विवाद का जन्म होता है। इससे

भी अधिक यह भारतीय समाज के अपेक्षाकृत कमजोर और पिछड़े वर्गों के सशक्तीकरण के बहुत से लक्ष्यों और निर्णयों के विरुद्ध भी हो जाता है। इस प्रकार, मुस्लिम पिछड़ी जातियों के बीच, शायद ही कोई समुदायिक कोटे की माँग को समर्थन देता हो और इसने उच्च वर्गीय मुस्लिमों के विरुद्ध मुस्लिम पिछड़ी जातियों की लामबंदी को बढ़ाया है।

हिन्दू, ईसाई और सिक्ख पिछड़ी जातियों समेत मुस्लिम पिछड़ी जातियों के सशक्तीकरण के प्रयासों ने यह मिथक तोड़ दिया है (जो मुस्लिम सम्भ्रांत वर्ग द्वारा बड़े स्तर पर प्रतिपादित किया गया) कि सम्पूर्ण मुस्लिम समुदाय किसी भी प्रकार की आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जटिलताओं से रहित एक ऐकाश्मक स्तम्भ (monolith) है। मण्डल-आयोग की रिपोर्ट ने भी भारतीय मुस्लिमों के आंतरिक सामाजिक वर्गीकरण का राजनीतिकरण करने में योगदान दिया है। इससे भी एक और महत्त्वपूर्ण तथ्य सामने आया है कि उच्च जातीय मुस्लिमों के नेतृत्व की राजनीतिक शक्ति का ह्रास हुआ है जिन्होंने मुस्लिम नेतृत्व पर एकाधिकार स्थापित कर रक्खा था। यह प्रवृत्ति बताती है कि मुस्लिम पिछड़ी जातियाँ अपना नेतृत्व, न केवल निम्न स्थानीय स्तर तक सीमित रक्खेंगी बल्कि उसे प्रांतीय व राष्ट्रीय स्तर तक ले जायेंगी फिर भी उग्रवादी 'हिन्दुत्व' शक्तियों का बढ़ता हुआ प्रभाव, वर्तमान परिदृश्य और गुजरात-नरसंहार तथा मुस्लिम अल्पसंख्यकों के विरुद्ध राज्य-प्रायोजित हिंसा जैसी परिणति उच्च-वर्गीय शिक्षित मुस्लिमों की अंतिम आशा प्रतीत होती है। स्पष्टतः असुरक्षा के बढ़ते प्रभाव ने शारीरिक और मानसिक दोनों स्तर पर मुस्लिम एकत्रीकरण को बढ़ाया है तथा ऐसी परिस्थितियों में प्रायः नेतृत्व पारम्परिक रूप से उच्च वर्गीय लोगों के द्वारा हड़प लिया जाता है। प्रसंगवश भारतीय मुस्लिमों के बीच एक पृथक्-साम्प्रदायिक कट्टरपंथी नेतृत्व हमेशा से, सामन्ती व संभ्रान्त पृष्ठभूमि से आया है जो सदा से 'पहचान की राजनीति' (politics of identity) का खेल खेलता रहा है।

सेंटर ऑफ बैकवर्ड मुस्लिम्स ऑफ इण्डिया (प्रकाशन तिथि के बिना) से प्रकाशित एक पैम्फ़लेट में डी. एल. शेठ कहते हैं:

"सारे मुस्लिमों के लिये आरक्षण समर्थकों को बौद्धिक ईमानदारी तथा राजनीतिक निष्पक्षता के हित में अपनी माँग को एक 'धार्मिक अल्पसंख्यक' के रूप में माँगना चाहिए न कि एक पिछड़े वर्ग के रूप में।" हालांकि इसका मतलब भी संविधान के धर्म-निरपेक्ष चरित्र के प्रतिकूल होगा तथा इसके लिये संविधान में संशोधन की आवश्यकता होगी।

भारतीय संविधान, अल्पसंख्यकों के सांस्कृतिक अधिकारों को मूलभूत अधिकारों के रूप में पहचान देता है और धार्मिकता से सम्बद्ध आधारों पर भेद-भावों को मना करता है, किंतु यह आधार रूप में 'साम्प्रदायिक कोटा' के किसी भी विचार का विरोध करता है। 'मुस्लिम आरक्षण' की नयी माँग, संविधान में साम्प्रदायिक कोटे के सिद्धान्त को पिछले द्वार से प्रवेश करने की एक साधारण रणनीति है।

यदि नौकरियों में भर्ती को लेकर कुछ मुस्लिम नेताओं का भर्तियों में मुस्लिमों के विरुद्ध

पक्षपात यदि सच भी है, तो यह 'सुधार' समस्या की अपेक्षा उनके हितों के लिये अधिक हानिकारक प्रतीत होता है।

मुस्लिम पिछड़ी जातियों की राजनीतिक लामबंदी

इस सामाजिक-राजनैतिक लामबंदी में 'मुस्लिम जुलाहों' का आन्दोलन ऐसे किसी मुस्लिम समुदाय द्वारा किया गया प्रथम प्रयास प्रतीत होता है। यद्यपि इस आन्दोलन की उत्पत्ति विरोधाभास और विचारों की भिन्नता में घिरी हुई है, अंसारी (2000) अपने मोमिन अंसार और उनके आन्दोलनों पर किये गये गहन अध्ययन में लिखते हैं, कि कुछ नेताओं ने, अनौपचारिक रूप से, 1912 में कलकत्ता में, एक फोरम की स्थापना की जो कि मुख्यतः कल्याणोन्मुखी संगठन था। मोमिन का प्रथम अधिवेशन औपचारिक रूप से 1928 में कलकत्ता में हुआ था और इस साल के बाद से मोमिन कान्फ्रेंस ने एक अखिल भारतीय महत्त्व प्राप्त किया और अविभाजित भारत के 3-4 करोड़ मोमिनों की प्रतिनिधि संस्था बन गई।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भारतीय कुटीर उद्योग क्षेत्र में हैण्डलूम उद्योग को अपना पहला निशाना बनाया था और जुलाहे गरीबी में कष्ट झेल रहे थे। अतः इस नये आन्दोलन के पीछे सामाजिक अपमान और अस्तित्व के लिये संघर्ष ही प्राथमिक प्रेरक शक्ति प्रतीत होती है। इसने न केवल मोमिनों को अपितु अन्य मुस्लिम दस्तकार जातियों को भी जागरूक किया। भारत के बड़े शहरों में प्रत्येक वर्ष इसका अखिल भारतीय अधिवेशन होने लगा और शायद, पहली बार मुस्लिम जुलाहों के साथ कुछ अन्य शिल्पकार जातियों ने भविष्य को सशक्तीकरण के लिये आशा और विश्वास के साथ देखा।

मोमिन कांफ्रेन्स के बदलते प्रारूप पर टीका करते हुए अनवर (2001) बताते हैं कि 1937 तक इसकी गतिविधियाँ मोमिनों के बीच सामाजिक जागरूकता को बढ़ाने और कल्याण तक ही सीमित थीं। 1938 में परिवर्तन का बिंदु आया जब इसने राजनीतिक झुकाव लेना प्रारम्भ कर दिया। जब मुस्लिम लीग ने मुस्लिमों के लिये अलग देश की माँग की तो पिछड़े वर्ग के मुस्लिमों ने एक आक्रामक राष्ट्रवादी रुख अपनाया और पाकिस्तान की माँग का विरोध किया। शुरुआत से ही मोमिन कान्फ्रेंस मुस्लिम लीग के जाति/वर्ग चरित्र से भली-भाँति अवगत थी और इसके नेतृत्व के बारे में उसे कोई संदेह नहीं था कि लीग और इसकी माँगें सामन्ती-व्यवस्था और उच्च वर्गियों के निहित स्वार्थों को बढ़ावा दे रही थीं और निम्न स्तरीय मुस्लिमों को केवल एक 'वस्तु' मानकर उनका दोहन किया जा रहा था। भारतीय जनता के जनवादी आन्दोलनों से सामन्तों, पूँजीपतियों, नवाबों और जागीरदारों ने ख़तरा महसूस किया और वे जान गये कि काँग्रेस पार्टी ने अपने सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक एजेण्डा में इन निहित स्वार्थों को कोई विशेष जगह नहीं दी है। स्वातन्त्रोत्तर भारतीय समाज में मण्डल आयोग की संस्तुतियों के क्रियान्वयन के प्रभाव को कुंद करने के लिये अयोध्या मुद्दे को बढ़ावा देने को एक उपसिद्धान्त की तरह देखा जा सकता है। यह एक चतुरपूर्ण दिशा बदल देने वाली युक्ति थी। राष्ट्रवादी जमाते उलेमा-ए-हिन्द के साथ

मिलकर मोमिन कान्फ्रेंस ने सम्पूर्ण मुस्लिम जनसंख्या का प्रतिनिधित्व करने का दावा करने वाली मुस्लिम लीग की क़लई खोल दी और काँग्रेस पार्टी ने राष्ट्रवादी-धर्मनिरपेक्ष एजेण्डा को प्रोत्साहन दिया। देवबन्द के उलेमा, जिन्होंने स्वतन्त्रता संग्राम में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया, और मुस्लिम लीग का, उसको बाँट देने वाले एजेण्डा का विरोध किया, के द्वारा समर्थित, जमाते-उलेमा-ए-हिन्द के साथ मोमिन कान्फ्रेंस ने देश के विभाजन के बाद काँग्रेस पार्टी के साथ गठबन्धन किया। समय गुजरने के साथ मोमिन कान्फ्रेंस ने अपनी शक्ति खो दी और लगभग निष्क्रिय हो गई। मोमिन कान्फ्रेंस के अतिरिक्त सब्जी बेचने वाली जाति का प्रतिनिधित्व करने वाली रईन सभा तथा तेल पेरने वालों का प्रतिनिधित्व करने वाली मनसूरी सभा ने 1930 से 1950 के दशकों के बीच मुस्लिम पिछड़ी जातियों की सामाजिक-राजनीतिक लामबन्दी में भी अपनी भूमिका अदा की।

1950 से 1980 के दशकों बीच के शायद ही कोई महत्त्वपूर्ण मुस्लिम पिछड़ी जाति का आन्दोलन हुआ। स्वतन्त्रता के पश्चात्, विशेषकर मुस्लिमों के बीच पिछड़े वर्गों के आन्दोलन पर टीका करते हुए, उल्लेखनीय राजनीतिक टीकाकार प्रफुल्ल बिदवई (1996) कहते हैं:-

"मुस्लिम पिछड़ी जातियों की पहल 1980 के दशक में महाराष्ट्र में, लोहिया और कर्पूरी ठाकुर द्वारा प्रेरित आन्दोलनों से शुरू होती है। फिर भी एक आन्दोलन के रूप में इस पहल ने पिछले कुछ वर्षों में ताकत बटोरी है जो कि आंशिक रूप से मुस्लिम मराठी साहित्य परिषद, जो पहली बार 1990 में आयोजित हुई थी, और अब तक चार बार आयोजित हो चुकी है, के बौद्धिक संरक्षण में प्राप्त हुई। अम्बेडकर के आधुनिक विचारों और साहूजी महाराज और ज्योतिबा फूले की बहुजन समाज सामाजिक सुधार विरासत से महाराष्ट्र के आयोजकों ने काफी कुछ लिया। अखिल भारतीय मुस्लिम ओ.बी.सी. संगठन ने अपनी प्रथम सभा ?9 अगस्त 1996 को की। आयोजन सफल रहा। यद्यपि असमान होते हुए भी प्रतिनिधियों के गठन ने कुरैशी (बूचड़ और मांस बेचने वाले) और जुलाहों, नाइयों तथा रईनों (सब्जी उगाने वाले या माली) एवं धोबियों और तेलियों (तेल पेरने वालों) के बीच की चिंताओं और हितों की समानता को प्रकट किया। सभा की मुख्य माँगों में मण्डल आयोग की सिफारिशों को सभी मुस्लिम पिछड़ी जातियों के लिये लागू करना, अधिक छात्रवृत्तियाँ इत्यादि सम्मिलित हैं और अपेक्षाकृत कम भूमि सुधारों, छोटे उद्यमियों के लिये आर्थिक सहायता और 'मुस्लिम अनुसूचित जातियों' के लिये (जैसे- गैर- पिछड़ी जातियाँ) छूटों को पुनः लागू किया जाना जो कि 1984 में हटा ली गई थीं आदि सम्मिलित हैं।"

ऐसा प्रतीत होता है कि दलित मुस्लिमों और हिन्दू पिछड़ी जातियों को परस्पर सम्बन्धित करने के लिये और धार्मिक आधारों पर बंटे हुए ऐसे लोगों में एकता के बन्धन उत्पन्न करने के लिये एक सोचा-समझा प्रयास किया गया है। जमात-ए-इस्लामी जैसे साम्प्रदायिक और कट्टरपंथी संगठनों द्वारा समर्थित धर्म-आधारित पहचान की राजनीति का मुँहतोड़ जवाब धर्मेतर अधीनस्थों की एकता (subaltern solidarity) हो सकती है।

मुस्लिम पिछड़े वर्गों की राजनीतिक लामबन्दी के इस क्रम में हाल में ही 25 अक्टूबर 1998 को पटना में एक सभा में **पसमाँदा मुस्लिम महाज़** (पिछड़ा मुस्लिम मोर्चा) की स्थापना

है। यद्यपि अभी तक इसके क्रिया-कलाप बिहार तक ही सीमित प्रतीत होते हैं, फिर भी इसने अन्य राज्यों में राजनीतिक रूप से जागरूक मुस्लिम पिछड़े वर्गों द्वारा प्रयास प्रारम्भ कर दिये हैं।

नृजातीय श्रेणियों के रूप में मुस्लिम पिछड़ा वर्गः

एक संक्षिप्त परिदृश्य

अब ऐतिहासिक रूप से स्थापित हो चुका है कि भारत में अधिकांश मुस्लिम अरब से या अन्य क्षेत्रों से नहीं आये थे जहाँ से इस्लाम की शुरुआत हुई थी। भारत में इस्लाम के प्रारम्भिक चरण का मुस्लिम व्यापारियों और घुमन्तू सूफी संतों द्वारा प्रतिनिधित्व किया गया जिन्होंने हिन्दू समाज के निचले तबके, शोषित और दलितों, को इस्लाम में दीक्षित होने में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया। एक निम्न-हिन्दू-जाति के एक निम्न मुस्लिम जाति में रूपान्तरण पर एक बहुत रोचक और महत्त्वपूर्ण टिप्पणी करते हुए एज़ाज अली (1997) कहते हैं किः

हिन्दुओं के बीच अधिकांश धर्मान्तरण 'हरिजन जातियों' के बीच हुए न कि पिछड़ी जातियों में जैसे- यादव, कुर्मी, कोरी। धर्मान्तरित जातियों/बिरादरियों ने अपने नाम जुलाहे से मोमिन, खटिक से कुँजड़ा, पासी से धुनिया, चमार से कसाई और इसी प्रकार अन्य परिवर्तित कर लिये किंतु व्यवसायों के नामों और बस्तियों की संरचना में आज भी इस तथ्य के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं। जुलाहे दोनों समुदायों (हिन्दू एवं मुस्लिम) में पाये जाते हैं। कुछ राज्यों में कुंजड़े आज भी खटिक के नाम से जाने जाते हैं। क़साब या क़साई चमार जाति से आये हैं। सच्चाई यह है कि ये चमार हैं जिन्हें खाल खींचने और बूचड़ी के काम में महारत हासिल थी। इनमें से जिन्होंने इस्लाम को अपनाया उन्होंने पाया कि मरे हुए जानवर वर्जित थे और तब उन्होंने सुअर को छोड़कर अन्य जीवित पशुओं को काटना शुरू कर दिया। वे पहले से ही अन्य सम्बन्धित बारीकियों में कुशल थे। आज भी बहुत से स्थानों पर चमारों और कसाइयों की आबादी एक-दूसरे के आस पास पाई जाती है।

जब हम हिन्दू और मुस्लिम दोनों में व्यवसायगत विशिष्टता वाली पिछड़ी जातियों को देखते हैं तो हम उन्हें तीन श्रेणियों में चिन्हित कर सकते हैं। यह ग़ौस अन्सारी (1960) और अन्य लोगों द्वारा स्थापित किया जा चुका हैः

(i) जातियाँ जो अब पूर्ण रूप से मुस्लिम हैं।

(ii) जातियाँ जिनमें हिन्दुओं की अपेक्षा मुस्लिम अधिक हैं।

(iii) जातियाँ जिनमें मुस्लिमों की अपेक्षा हिन्दू अधिक हैं।

प्रथम श्रेणी में वे व्यवसायगत जातियाँ आती हैं जो अब पूर्ण रूप से मुस्लिम हैं, उनके सापेक्ष हिन्दू-जातियाँ या तो नहीं हैं और अगर नहीं हैं, तो उनके सर्वथा भिन्न नाम हैं। कुछ ऐसी जातियाँ आतिशबाज़ (पटाखे बनाने वाले), भांड, भिश्ती (पानी ले जाने वाले), गद्दी (चरवाहे, ग्वाले) मिरासी (वादक और गायक), क़साब (बूचड़), मोमिन जुलाहा (मुस्लिम जुलाहे) आदि हैं।

दूसरी श्रेणी में, जिसमें हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमान अधिक है जैसे- दर्ज़ी, धुनिया (रुई धुनने वाला), कुंजड़ा या कबड़िया (सब्जी बेचने वाला), मनिहार (चूड़ी/बाजूबन्द बनाने वाला) सैक़लगर (सान चढ़ाने वाले) और रंगरेज़ (कपड़े रंगने वाले) हैं।

तीसरी श्रेणी में वे जातियाँ आ सकती है जिसमें मुसलमानों की अपेक्षा हिन्दू अधिक हैं। इस श्रेणी में शुद्ध व्यवसायगत जातियाँ जैसे कुम्हार, नाई या हज्जाम, तेली (तेले पेरने वाला), धोबी (कपड़े धोने वाला) इत्यादि आते हैं। मुस्लिम भंगी/मेहतर/लालबेगिया (ज़मादार और सफाई करने वाले आदि आते हैं। मुस्लिम भंगी/मेहतर/लाल बेगी शायद मुस्लिम जनसंख्या का एकमात्र अछूत घटक हैं।

मुस्लिमों के बीच व्यवसायगत जातियों का एक महत्त्वपूर्ण पहलू सामाजिक या प्रौद्योगिक आर्थिक परिवर्तन के कारण कुछ निश्चित जाति समूहों का समाप्त हो जाना है। रंगरेज भटियारा (सराय चलाने वाला), सैक़लगर (धार करने वाले) जैसी सामाजिक इकाइयाँ लगभग लुप्त हो चुकी हैं।

हाल ही में **ऐन्थ्रोपालोजिकल सर्वे ऑफ इंडिया द्वारा** सम्पन्न **पीपुल्स ऑफ इण्डिया प्रोजेक्ट** भारत में मुस्लिम पिछड़ी जातियों को सम्मिलित करते हुए भारत की सभी जातियों और समुदायों के लोगों का संक्षिप्त किंतु पर्याप्त और विश्वसनीय इथनोग्राफिक विवरण देता है।

मुस्लिम पिछड़े वर्गों के बारे में, विशेषकर अपेक्षाकृत बड़े जाति समूहों के बारे में, एक ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि यद्यपि कुछ लोग अपने पारम्परिक व्यवसायों से बाहर आ गये हों, किंतु आज भी सर्वाधिक लोग अपने पैतृक व्यवसायों का अनुसरण करते हैं। इस व्यवसायगत गतिशीलता का अभाव उनके लिये घातक हो गया है, यद्यपि इसका एक दूसरा आयाम भी है और वह भी समान रूप से महत्त्वपूर्ण है। हिन्दू जनसंख्या में उनके प्रतिभागियों के समान ही वे आरम्भ से ही कठिन परिश्रम कर रहे हैं। इन जाति-समूहों के बहुत से उद्यमी सदस्यों ने अपने व्यवसायों को सर्वोत्तम किया और समृद्धि प्राप्त की। उत्तर-प्रदेश और राजस्थान के अंसारी और कुरैशी इसके स्पष्ट उदाहरण हैं। उनमें से कुछ अन्य शिल्पकार समूहों ने अपनी प्रौद्योगिकी को उन्नत किया और नयी विपणन रणनीतियों को अपनाया तथा प्रतिस्पर्धात्मक उद्यमिताकारक कौशल का प्रदर्शन किया जैसे- पश्चिमी उत्तर-प्रदेश में मेरठ, मुरादाबाद, अलीगढ़ और फिरोजाबाद तथा पूर्वी उत्तर-प्रदेश में भदोई और वाराणसी के शिल्पकार/उद्यमी समृद्ध हुए। यद्यपि इसी समय हम यह भी पाते हैं कि देश के ग्रामीण एवं शहरी क्षेत्रों में अत्यधिक व्यापक जनसंख्या गरीबी की हालत में रह रही है। भारत के ये 'प्रौद्योगिक समुदाय' (Technological Communities) और उनके हिन्दू प्रतिभागी समाज और राज्य से एक बेहतर व्यवहार की अपेक्षा रखते हैं।

अन्य पिछड़े वर्गों का विकास (सामाजिक न्याय व सशक्तिकरण मंत्रालय, २००२-२००३)

भारत का संविधान अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों को छोड़कर भारत के लोगों की एक श्रेणी अर्थात् "सामाजिक तथा शैक्षणिक रूप से पिछड़े वर्ग" या पिछड़ा वर्ग की

श्रेणी के अस्तित्व को विशेष रूप से मान्यता देता है। इन कमजोर वर्गों के सापेक्ष पिछड़ेपन को समझते हुए, संविधान अनुच्छेद 14 के माध्यम से कानून में समानता देता है और अनुच्छेद 15 (4) के माध्यम से उनकी उन्नति के लिए विशेष प्रावधान करने के लिए राज्य को अधिकार देता है। यह अनुच्छेद 16 (4) के अन्तर्गत पिछड़े वर्ग के ऐसे किसी नागरिक को पदों अथवा नियुक्तियों में आरक्षण के लिए प्रावधान करने हेतु राज्य को अधिकार भी देता जिनका राज्य के दृष्टिकोण से राज्य के अधीन सेवाओं में पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं है। अन्य पिछड़े वर्गों के सामाजिक तथा आर्थिक विकास के लिए तथा पिछड़े वर्ग के लोगों को समाज की मुख्य धारा में लाने के लिए सरकार ने अन्य पिछड़े वर्गों को शैक्षिक और आर्थिक सहायता प्रदान करके उनके सामाजिक-आर्थिक अधिकारिता के लिए विभिन्न कदम उठाए हैं।

अन्य पिछड़े वर्गों की केन्द्रीय सूची

4.2 14 राज्यों अर्थात् आंध्र प्रदेश, असम, बिहार, गोवा, गुजरात, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, कर्नाटक, केरल, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, पंजाब, तमिलनाडु तथा उत्तर प्रदेश के संबंध में अन्य पिछड़े वर्गों की समान सूची दिनांक 13 सितंबर 1993 को भारत के राजपत्र, असाधारण भाग-1 खंड-1 संख्या 186 में अधिसूचित की गई। उड़ीसा, राजस्थान, त्रिपुरा, तथा पश्चिम बंगाल और राज्य संघ क्षेत्र दादर एवं नगर हवेली, दमन एवं दीव और पांडिचेरी के संबंध में अन्य पिछड़े वर्गों की दूसरी समान सूची 20 अक्टूबर, 1994 को भारत के राजपत्र, असाधारण भाग-1 खंड-1 सं. 163 में अधिसूचित की गई। 25 मई, 1995 को जम्मू तथा काश्मीर, मणिपुर, सिक्कम तथा राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र दिल्ली के संबंध में अन्य पिछड़े वर्गों की समान सूची भी भारत के राजपत्र, असाधारण भाग-1 खंड-88 द्वारा अधिसूचित की गई। केन्द्र सरकार ने दिनांक 11 मार्च, 1996 के भारत के राजपत्र, असाधारण भाग-1 खंड-1, संख्या 60 के तहत आंध्र प्रदेश, केरल, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, उड़ीसा, तमिलनाडु, त्रिपुरा, उत्तर प्रदेश तथा पश्चिम बंगाल से संबंधित अन्य पिछड़े वर्गों की केन्द्रीय सूची में कुछ जातियों/ समुदायों के नामों को शामिल/ संशोधित/ अशोधित किया है। भारत के राजपत्र असाधारण में दिनांक 6 दिसंबर, 1996 को प्रकाशित बिहार, गोवा, गुजरात, हरियाणा, उड़ीसा, उत्तर प्रदेश और पश्चिम बंगाल के बारे में शामिल/ संशोधित/ अशोधित किया गया। इसके अतिरिक्त, संघ राज्य क्षेत्र चंड़ीगढ़ से संबंधित अन्य पिछड़े वर्गों की समान सूची तथा उत्तर प्रदेश के अन्य पिछड़े वर्गों की सूची में संशोधन क्रमशः दिनांक 11.12.1997 तथा 03.12.1997 को जारी किए गए हैं तब से अन्य पिछड़े वर्गों की केंद्रीय सूची में समावेश / संशोधन / अशोधन समय-समय पर जारी किए जा रहे हैं तथा अद्यतन राजपत्र अधिसूचना सितंबर, 2001 में जारी की गई। भारत सरकार ने अब तक 19 अधिसूचनाओं के माध्यम से 26 राज्यों/ संघ राज्य क्षेत्रों के संबंध में अन्य पिछड़े वर्गों की केंद्रीय सूची अधिसूचित की है।

राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग आयोग (एन.सी.बी.सी.)

4.3.1 राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग आयोग अधिनियम, 1993 को नागरिकों के अन्य पिछड़े वर्गों की सूचियों में अधिक शामिल किए जाने तथा कम शामिल किए जाने की शिकायतों तथा

शामिल करने के अनुरोधों को स्वीकार करने, जांच करने तथा सिफारिश करने हेतु उच्चतम न्यायालय के निर्देश पर एक स्थायी निकाय स्थापित करने के लिए अधिनियमित किया गया। इस अधिनियम के उपबंध के अनुसार, ऐसे निकाय द्वारा दी गई सलाह सामान्यतः सरकार के लिए बाध्यकारी होगी। राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग आयोग तीन वर्षों की अवधि के लिए गठित किया गया तथा तीसरा राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग आयोग 28 जुलाई, 2000 को गठित किया गया।

4.3.2 आयोग ने आरम्भ से भारत सरकार को 1123 जातियों/समुदायों के संबंध में सलाह दी है जिसमें से 675 मामले शामिल करने के लिए तथा 448 मामले अस्वीकार करने के लिए थे। भारत सरकार ने 675 में से 652 जातियों/ समुदायों को शामिल करने के लिए अधिसूचित किया है और शेष 23 को शामिल करने की कार्रवाई पहले ही शुरू कर दी गई है। अस्वीकार किए जाने संबंधी सभी सलाहें सरकार द्वारा स्वीकार कर ली-गई हैं। अभी तक केवल 24 जातियों/ समुदायों/ आदि के संबंध में अनुरोध आयोग के विचारार्थ लम्बित हैं।

4.3.3 एन सी बी सी अधिनियम, 1993 की धारा 11 के अन्तर्गत वर्ष 2003 में पिछड़े वर्गों की सूचियों का संशोधन किया जाना है। सरकार ने इस कार्य को आयोग को सौंप दिया हैं तथा निर्धारित समय के भीतर इस कार्य को पूरा करने के लिए सही मायने में कार्रवाई शुरू कर दी है।

अन्य पिछड़े वर्गों को आरक्षण

4.4 न्यायालय ने इंन्द्रा साहनी तथा अन्य बनाम भारत संघ तथा अन्य (मंडल मामला) में दिनांक 16 नवंबर, 1992 को दिए गए अपने निर्णय में अन्य पिछड़े वर्गों के पक्ष में भारत सरकार के अधीन सिविल पदों तथा सेवाओं में रिक्तियों को 27% आरक्षण प्रदान किया और उनमें से "क्रीमीलेयर" के रूप में पहचाने जाने वाले सामाजिक रूप से उन्नत व्यक्तियों/ वर्गों को छोड़ दिया जाना था। उच्चतम न्यायालय ने भारत सरकार को निर्देश दिया था कि वह अन्य पिछड़े वर्गों से "क्रीमीलेयर" को छोड़ देने के लिए सामाजिक-आर्थिक मानदंडों को विनिर्दिष्ट करे। केन्द्र सरकार की सेवाओं में आरक्षण को कार्यान्वित करने संबंधी मामले को कार्मिक एवं प्रशिक्षण विभाग द्वारा देखा जाता है जिसने इस विषय संबंधी अनुदेशों का सार जारी किया है। कार्मिक तथा प्रशिक्षण विभाग के दिनांक 08.09.1993 के आदेश सं. 36012/ 22/ 93 स्थापना के अनुसार अपवर्जन का नियम निम्नलिखित के पुत्र (पुत्रों) और पुत्री(पुत्रियों) पर लागू होगा। संवैधानिक दर्जे वाले व्यक्ति जैसे भारत के राष्ट्रपति, उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश, अध्यक्ष तथा सदस्य-संघ लोक सेवा आयोग, राज्य लोक सेवा आयोग, मुख्य चुनाव आयुक्त, भारत के नियंत्रण तथा महालेखा परीक्षक, जिनके माता-पिता में से कोई भी वर्ग-1 का अधिकारी हो, अथवा माता-पिता दोनों ही वर्ग-1 के अधिकारी हों, माता-पिता दोनों या एक सेना में कर्नल या ऊपर के पद पर और नौसेना तथा वायुसेना या अर्द्ध सैनिक बलों में इसके समान पद हों। सिंचित भूमि के अनुसार राज्य भूमि हदबंदी नियम के तहत हदबंदी सीमा के 85% के बराबर या उससे अधिक सिंचित भूमि के स्वामित्व वाले परिवार। वह व्यक्ति जिसकी कुल वार्षिक आय एक लाख रु. या अधिक है या लगातार तीन वर्षों की अवधि में सम्पत्ति कर अधिनियम की निर्धारित छूट सीमा से

अधिक सम्पत्ति रखते हैं, (वेतन अथवा कृषि भूमि की आय जोड़ी नहीं जाएगी) भी अपवर्जित की गई है।

अन्य पिछड़े वर्गों के लिए अन्य लाभ

भर्ती के लिए रियायती मानक, आयु में छूट और प्रयासों की संख्या में वृद्धि

4.5 सरकार ने 13 अक्टूबर, 1994 से अनुसूचित जाति/ अनुसूचित जनजाति उम्मीदवारों की तरह ही अन्य पिछड़े वर्गों को लिखित परीक्षा और साक्षात्कारों में रियायती मानक के लाभ प्रदान किए हैं। भारत सरकार ने दिनांक 25 जनवरी, 1995 को अनुदेश जारी किया है जिससे सीधी भर्ती में अन्य पिछड़े वर्गों के उम्मीदवारों के लिए अधिकतम आयु सीमा में तीन वर्ष की छूट तथा सिविल सेवा परीक्षाओं में अन्य पिछड़े वर्गों के उम्मीदवारों के लिए, जो अन्यथा पात्र हैं, प्रयासों की संख्या सात वर्ष तक बढ़ा दी गई है।

नौवीं योजना में अन्य पिछड़े वर्गों के कल्याणार्थ कार्यान्वयनाधीन योजनाएँ

4.6.1 पिछड़े समुदाय के सामाजिक तथा आर्थिक स्तर में सुधार लाने के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण निवेश शिक्षा तक पहुँच में सुधार लाने तथा विशेष कोचिंग कार्यक्रमों के माध्यम से गुणवत्ता उन्नयन द्वारा उनकी सहायता करने में निहित है। अन्य पिछड़े वर्गों में शैक्षिक विकास सुनिश्चित करने के लिए छात्रावास सुविधाओं सहित मैट्रिक पूर्व और मैट्रिकोत्तर एवं साथ ही अन्य उच्च शिक्षा का अध्ययन करने के लिए छात्रवृत्ति देने हेतु भारत सरकार द्वारा नौवीं योजना शुरू की गई। इनका समीक्षात्मक दृष्टि से मूल्यांकन एवं संशोधन किया जा रहा है ताकि अन्य पिछड़े वर्ग के प्रतिभावान उम्मीदवारों का उच्चतर एवं व्यावसायिक संस्थाओं में प्रवेश सुनिश्चित किया जा सके।

अन्य पिछड़े वर्गों के लिए मैट्रिक-पूर्व छात्रवृत्ति

4.6.2 अन्य पिछड़े वर्ग के छात्रों के लिए मैट्रिक-पूर्व छात्रवृत्ति की योजना का उद्देश्य मान्यता प्राप्त स्कूलों में मैट्रिक-पूर्व चरण पर अध्ययन करने वाले अन्य पिछड़े वर्गों के छात्रों को प्रेरणा प्रदान करना है। इस योजना के अंतर्गत उन छात्रों को छात्रवृत्ति मंजूर की जाती है जिसके माता-पिता/ अभिभावकों की सभी स्रोतों से आय प्रति वर्ष 44,500 रुपए से अधिक न हो। दिवा छात्रों के मामले में ये छात्रवृत्ति कक्षा-1 या मैट्रिक स्तर से पहले की किसी कक्षा के छात्रों को और होस्टलवासियों के मामले में कक्षा-2 या मैट्रिक स्तर से पहले इसके बाद वाली किसी कक्षा के छात्रों को प्रदान की जाती है। यह छात्रवृत्ति उन संस्थाओं में तथा उन मैट्रिक-पूर्व पाठ्यक्रमों के लिए तर्कसंगत है जिन्हें संबंधित राज्य सरकार तथा संघ राज्य क्षेत्र प्रशासन द्वारा विधिवत मान्यता प्रदान की जाती है। इस योजना के अंतर्गत, वित्तीय तथा वास्तविक उपलब्धियाँ इस प्रकार हैं–

(रु. करोड़ में)

वर्ष	निर्मुक्त निधियां	लाभार्थियों की संख्या
1998-1999	1.50	19,523
1999-2000	4.25	1,16 920

2000-2001	6.00	1,84,340
2001-2002	17.40	9,51,308
2002-2003	9.62 (दिसम्बर 2002 तक)	3,98,061 (दिसम्बर 2002 तक)

अन्य पिछड़े वर्ग के छात्रों को भारत में अध्ययन के लिए मैट्रिकोत्तर छात्रवृत्ति

4.6.3 इस योजना का उद्देश्य मैट्रिकोत्तर अथवा पोस्ट सैकेण्डरी स्तर पर अध्ययनरत अन्य पिछड़े वर्ग के निर्धन छात्रों को अपनी शिक्षा पूरी करने के लिए वित्तीय सहायता प्रदान करके उनमें उच्च शिक्षा को प्रोत्साहित करना है। ये छात्रवृत्तियाँ भारत में अध्ययन के लिए ही उपलब्ध होंगी और उस राज्य सरकार/ संघ राज्य क्षेत्र द्वारा प्रदान की जाएँगी जिनसे आवेदक वास्तविक रूप से संबंधित है। इस उद्देश्य के लिए राज्य सरकारों/ संघ राज्य क्षेत्र प्रशासनों को उनकी प्रतिबद्ध देयता के अलावा 100% केंद्रीय सहायता प्रदान की जाती है। ये छात्रवृत्तियाँ मान्यता प्राप्त संस्थाओं में अध्ययन के लिए प्रदान की जाती हैं। इस योजना के अन्तर्गत बेरोजगार छात्र जिनके माता-पिता की सभी स्रोतों से आय प्रतिवर्ष 45,500 रुपए से अधिक न हो, छात्रवृत्ति के पात्र होंगे। इस योजना के अंतर्गत वित्तीय तथा वास्तविक उपलब्धियाँ इस प्रकार हैं :–

(रुपये करोड़ में)

	उपलब्धियाँ	
वर्ष	निर्मुक्त निधियाँ	लाभार्थियों की संख्या
1998-1999	4.65	28,095
1999-2000	4.97	41,794
2000-2001	8.99	3,57,739
2001-2002	21.96	1,46,938
2002-2003	20.24	1,97,506 (दिसम्बर, 2002 तक)

अन्य पिछड़े वर्गों के लड़कों और लड़कियों के लिए होस्टल

4.6.4 इस योजना का उद्देश्य केंद्रीय/ राज्य/ संघ क्षेत्र प्रशासन की पिछड़े वर्गों की सूचियों के रूप में अधिसूचित तथा समान्यतः अन्य पिछड़े वर्गों के रूप में उल्लिखित सामाजिक एवं शैक्षिक रूप से पिछड़े वर्गों के छात्रों को शिक्षा के बेहतर अवसर प्रदान करना है। तथापि, इस योजना के अंतर्गत परिभाषित क्रीमीलेयर से संबंधित क्षेत्रों को शामिल नहीं किया जायेगा। इस योजना के अंतर्गत उन राज्यों/ संघ राज्य क्षेत्रों में होस्टल का निर्माण किया जाता है जिनमें अन्य

पिछड़े वर्गों की जनसंख्या अधिक है किन्तु होस्टल सुविधाएँ अपर्याप्त हैं। योजना के अंतर्गत ऐसे निर्माण के लिए राज्यों को 50% केंद्रीय सहायता संघ राज्य क्षेत्रों को 100% केंद्रीय सहायता प्रदान की जाती है। इन होस्टलों का निर्माण मिडिल, सैकेण्डरी, कालेज तथा विश्वविद्यालय स्तर के छात्रों के लिए किया जाता है। इस योजना के अंतर्गत स्थापित किए जाने वाले होस्टलों में से कम से कम एक तिहाई अनन्य रूप से लड़कियों के लिए होते हैं। इन होस्टलों में पाँच प्रतिशत सीटें विकलांग छात्रों के लिए आरक्षित की जाती हैं। वित्तीय एवं वास्तविक उपलब्धियाँ निम्नलिखित हैं :

(रुपये करोड़ में)

	उपलब्धियाँ	
वर्ष	निर्मुक्त निधियाँ	लाभार्थियों की संख्या
1998-1999	1.31	350
1999-2000	3.00	3110
2000-2001	5.00	2,410
2001-2002	11.45	5600
2002-2003	10.73	4776
		(दिसम्बर, 2002 तक)

परीक्षापूर्व कोचिंग

4.6.5 इस योजना का उद्देश्य अन्य पिछड़े वर्गों के अभ्यर्थियों को विभिन्न प्रतियोगी/ प्रवेश परीक्षाओं में समान शर्तों पर प्रतिस्पर्धा करने में समर्थ बनाने के लिए कोचिंग/ प्रशिक्षण प्रदान करना है जिनमें केंद्रीय/राज्य सरकारों, सार्वजनिक/निजी क्षेत्रों के उपक्रमों, बैंकों, साधारण बीमा निगम, जीवन बीमा निगम आदि तथा रक्षा सेवाओं, राज्य तथा केंद्रीय पुलिस बलों एवं अर्द्ध-सैनिक बलों के अधीन विभिन्न सेवाओं में भर्ती तथा तकनीकी/ व्यावसायिक पाठ्यक्रमों, इंजीनियरिंग, मेडिकल आदि में प्रवेश भी शामिल है। इस योजना के अंतर्गत परीक्षा पूर्व कोचिंग केंद्र में प्रवेश के लिए वे उम्मीदवार पात्र हैं जिनके माता-पिता अभिभावकों की सभी स्रोतों से आय प्रतिवर्ष 1.00 लाख रु. से कम हो। वित्तीय तथा वास्तविक उपलब्धियाँ इस प्रकार हैं :–

(रुपये करोड़ में)

	उपलब्धियाँ	
वर्ष	निर्मुक्त निधियाँ	गैर सरकारी संगठनों की संख्या
1998-1999	0.20	7
1999-2000	0.03	2
2000-2001	0.01	1
2001-2002	0.66	32
2002-2003	0.10	5
		(दिसम्बर, 2002 तक)

अन्य पिछड़े वर्गों के कल्याणार्थ स्वैच्छिक संगठनों को सहायता

4.6.6 यह योजना कौशल उन्नयन के माध्यम से लक्ष्य समूहों अर्थात् अन्य पिछड़े वर्गों की शैक्षणिक, सामाजिक, आर्थिक स्थितियों को बेहतर बनाना और उन्हें स्वतंत्र आय सृजक कार्यकलाप शुरू करने या लाभप्रद रोजगार प्राप्त करने में समर्थ बनाने के लिए शुरू की गई थी। तथापि, भारत सरकार इस योजना के अंतर्गत किसी अथवा सभी विनिर्दिष्ट मदों पर अनुमोदित व्यय का 90% पूरा करेगी। इस योजना के अंतर्गत वित्तीय तथा वास्तविक उपलब्धियाँ इस प्रकार हैं :-

(रुपये करोड़ में)

	उपलब्धियाँ	
वर्ष	निर्मुक्त निधियाँ	गैर सरकारी संगठनों की संख्या
1998-1999	0.64	32
1999-2000	1.09	119
2000-2001	1.57	77
2001-2002	3.80	225
2002-2003	3.33	201

वर्ष के दौरान एक लाख रुपये से अधिक अनुदान करने वाले स्वैच्छिक संगठनों की सूची अनुबंध-XVII में दी गई है।

राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग वित्त एवं विकास निगम (एन बी सी एफ डी सी)

4.7.1 राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग वित्त एवं विकास निगम की स्थापना कंपनी अधिनियम, 1956 की धारा 25 के अंतर्गत एक लाभ न कमाने वाली कंपनी के रूप में 13 जनवरी, 1992 को कल्याण मंत्रालय के अधीन भारत सरकार द्वारा की गई थी जिसका उद्देश्य गरीबी रेखा से नीचे रहने वाले पिछड़े वर्गों के सदस्यों को स्व-रोजगार और आय सृजनकारी कार्यकलापों के लिए उद्यमों को ऋण प्रदान करके उनके सामाजिक-आर्थिक विकास के लिए रियायती दर पर वित्त प्रदान करना है। यह निगम आर्थिक विकास तथा वित्तीय रूप से व्यवहार्य योजनाओं तथा परियोजनाओं के लिए पिछड़े वर्गों को वित्त का तथा उद्यमीय कौशल को उन्नत बनाने का कार्य करता है।

4.7.2 राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग वित्त एवं विकास निगम बड़ी मात्रा में आय सृजक कार्यकलापों को सहायता प्रदान करता है जिसमें निम्नलिखित शामिल हैं–कृषि तथा संबद्ध कार्यकलाप, शिल्प तथा परम्परागत व्यवसाय, तकनीकी ट्रेड स्वरोजगार, लघु तथा बहुत छोटे उद्योग, छोटे व्यवसाय तथा परिवहन सेवाएँ आदि।

4.7.3 भारत सरकार ने आज की तारीख तक इस निगम को 700.00 करोड़ रुपए की प्राधिकृत शेयर पूंजी के प्रति पूंजी के रूप में 390.40 करोड़ रु. का इक्विटी अशंदान किया है।

2002-2003 के लिए 12 करोड़ रुपए का बजट प्रावधान किया गया है।

4.7.4 निगम ने अब तक 31.12.2002 तक 448320 लाभग्राहियों को 715.70 करोड़ रु. का वितरण किया है। पिछले तीन वर्षों के दौरान संवितरण और लाभान्वित व्यक्तियों के वर्षवार ब्यौरे नीचे दिये गये हैं (ग्राफ-1)।

क्र.सं.	वर्ष	संवितरित राशि (करोड़ रु. में)	लाभार्थियों की संख्या
1.	2000-2001	87.01	21518
2.	2001-2002	119.24	45827
3.	2002-2003 (दिसम्बर, 2002 तक)	103.29	74554

4.7.5 8वीं नौवीं पंचवर्षीय योजनाओं के दौरान कार्यनिष्पादन की तुलनात्मक स्थिति निम्नलिखित है :–

(रु. करोड़ में)

पैरामीटर्स	8वीं योजना	9वीं योजना	वृद्धि (%)
संवितरण	197.90	416.18	110
सहायता प्राप्त लाभग्राहियों की सं.	109625	265129	142
वसूलियाँ	55.47	258.78	367
योजना के अंत में वसूली (%)	74	90	22

4.7.6 वर्ष 2002-2003 के दौरान, निगम ने सामाजिक न्याय एवं अधिकारिता मंत्रालय (एम ओ एस जे एंड इ) के साथ समझौता ज्ञापन पर हस्ताक्षर किए हैं। वर्तमान वित्त वर्ष के लिए समझौता ज्ञापन के प्रति कार्य निष्पादन निम्नलिखित हैं :–

2002-2003	एम.ओ.ई. लक्ष्य	वास्तविक उपलब्धि (दिसम्बर, 2002)
आवंटन (करोड़ रु.)	200.0	247.31
संवितरण करोड़ रु. में)	110.00	103.29
वसूली (%)	84%	87%

शामिल किए गए लाभग्राहियों की संख्या	35000	74554
प्रशिक्षित लाभग्रहियों की संख्या	7500	6147

4.7.7 आधारभूत स्तर पर एन बी सी एफ डी सी योजनाएँ कार्यान्वित करने और लक्षित समूह विशेषकर महिला लाभग्रहियों के लिए ऋण सुविधाओं के सुधार के लिए लघु-ऋण योजना के प्रोत्साहन और सहायता हेतु निगम ने राज्य माध्यम एजेंसियों और प्रमाणित गैर-सरकारी संगठनों के माध्यम से प्रत्यक्ष से प्रत्यक्ष या स्व-सहायता समूहों के जरिए लघु वित्त-पोषण लागू किया है। निगम ने वर्ष के दौरान (31.12.2002) 29503 लाभग्राहियों को 706.70 लाख रु. का संवितरण किया है।

4.7.8 निगम, निर्धनता रेखा से नीचे रहने वाली पिछड़े वर्गों की महिलाओं के लिए 2002-2003 से नई स्वर्णिम योजना का कार्यान्वयन भी करता रहा है। इस योजना के अंतर्गत, 4% प्रति वर्ष की रियायती ब्याज दर पर प्रति लाभग्राही 50,000/-रु. तक की वित्तीय सहायता दी जाती है। इस योजना के अंतर्गत निगम ने वित्त वर्ष 2002-2003 (31.12.2002 तक) के दौरान 16,637 महिला लाभार्थियों की सहायता करने के लिए 26.57 करोड़ रु० निर्मुक्त किए हैं।

4.7.9 निगम ने सामाजिक न्याय एवं अधिकारिता मंत्रालय की तरफ से प्रदर्शनियों में भागीदारी और उनका आयोजन किया, जहाँ मंत्रालय और मंत्रालय के अन्तर्गत संगठनों की विभिन्न कल्याण योजनाओं के बारे में सामग्री प्रदर्शित की गई। इन प्रदर्शनियों का उद्देश्य मंत्रालय के कार्यक्रमों के बारे में जनसाधारण में जागरूकता का निर्माण करना और लाभग्राहियों को विपणन सहायता देना भी है। निगम द्वारा वर्तमान वित्त वर्ष में जिन कुछ महत्त्वपूर्ण प्रदर्शनियों/ मेलों में भागीदारी की गई, वे थे कार्तिक मेला- उज्जैन, आई.आई.टी. एफ- 2002 और सामाजिक विकास मेला।

❑

खण्ड-छह

महिलायें तथा समाज
(Women and Society)

अध्याय 19

भारत में महिलायें तथा समाज : विभिन्न पक्ष

(Women and Society in India : Different Facets)

विभिन्न मानव समाजों की तरह भारत में भी महिलाओं की विभिन्न भूमिकायें हैं और भारतीय समाज में महिलाओं व उनकी प्रस्थितियों को समझने के विभिन्न पक्ष हैं जिनका विवरण संक्षेप में दिया जा रहा है।

जनसांख्यिकीय ख़ाका (Demographic Profile)

विश्व में आधी जनसंख्या स्त्रियों की है किन्तु भारतवर्ष में पुरुषों की तुलना में यह अपेक्षाकृत कम हैं, जिसके कारण लिंग अनुपात में असमानता परिलक्षित होती है। महिलाओं के लिए सेवायोजना, कार्य रुझान, तथा छः वर्ष तक की आयु के बच्चों में घटते लिंग अनुपात से संबंधित सन् 2001 की जनगणना के आँकड़ों पर नज़र डालें तो महिलाओं और पुरुषों में बढ़ता यह अंतर और भी स्पष्ट होता है। आकलनों के आधार पर वर्ष 2000 में दुनिया में प्रत्येक 1000 पुरुषों की तुलना में 986 महिलाएँ थीं जबकि 2001 की जनगणना के अंतिम आकलनों के अनुसार भारतवर्ष में यह अनुपात और भी कम अर्थात् 933 ही है। निम्नांकित तालिका, भारतवर्ष में स्त्रियों की जनसंख्या में इस गिरावट को भली-भाँति रेखांकित करती है:-

लिंग अनुपात : 1901-2001

जनगणना वर्ष	लिंग अनुपात
1901	972
1911	964
1921	955
1931	950
1941	945
1951	946
1961	941
1971	930

1981	934
1991	927
2001	933

पंजाब, हरियाणा, उत्तर प्रदेश, बिहार, झारखंड, उड़ीसा, छत्तीसगढ़, मध्य प्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र, तमिलनाडु, दिल्ली जैसे राज्यों तथा दमन, दीव एवं दादर नगर हवेली जैसे संघ शासित राज्यों में तो यह लिंग अनुपात अत्यन्त प्रतिकूल है और 874 तथा 709 तक है। राजस्थान में भी लिंग अनुपात काफी कम है परन्तु उसमें अधिक उतार-चढ़ाव नहीं है। पश्चिम बंगाल में यह अनुपात वर्ष 1991 में 917 से बढ़कर वर्ष 2001 में 934 हो गया। वर्ष 2001 की जनगणना में यह तथ्य उभरकर सामने आया है कि ऐसे राज्यों और संघ शासित प्रदेशों की संख्या बढ़ी है जिनका लिंग अनुपात राष्ट्रीय लिंग अनुपात से कम है। ऐसे राज्यों की जनसंख्या कुल जनसंख्या का 54 प्रतिशत से 60 प्रतिशत तक है। मात्र केरल एवं पांडिचेरी, जिनमें लिंग अनुपात क्रमशः 1058 तथा 1001 है, ही जापान जैसे विकसित देशों की बराबरी करने योग्य हैं जिसका लिंग अनुपात 1041 है।

यद्यपि भारत में भी लिंग अनुपात में 1991 से 2001 के बीच कुछ सुधार हुआ है किंतु यह भ्रामक भी हो सकता है क्योंकि इसी अवधि में 0-6 वर्ष के आयु समूह का लिंग अनुपात 945 से घटकर 927 रह गया है। इस प्रकार "अदृश्य" बालिका की अवधारणा बलवती हो रही है। बच्चों के लिंग अनुपात में सबसे ज्यादा चौंकाने वाली गिरावट पंजाब (793), हरियाणा (820), हिमाचल प्रदेश, गुजरात और महाराष्ट्र में आयी है। 1981 के बाद से देश में सम्पूर्ण लिंग अनुपात की तुलना में शिशुओं में लिंग अनुपात कहीं ज्यादा तेजी से घटा है। न्यूनतम आयु वर्ग में, बालिकाओं की संख्या में नाटकीय रूप से कमी की जड़ में स्त्रीलिंग के प्रति हीनता की भावना एक प्रमुख कारण है।

ऐसे अवांछनीय लिंग अनुपात के जिम्मेदार सामाजिक एवं सांस्कृतिक कारक, पितृसत्तात्मकता (पुरुष प्रधानता) का चरम रूप है जो एक स्त्री को उसके प्रजनन के अधिकार तक से वंचित करता हैं। पुत्र की चाहत और कन्या भ्रूण की हत्या इसके परिणाम हैं। आधुनिक तकनीकों जैसे अल्ट्रासाउंड स्केनिंग व एम्नियोसेंटेसिस के दुरुपयोग से कन्या भ्रूण की हत्या अथवा कन्या जन्म के उपरान्त हत्या से बेटे की बढ़ती चाहत को अभिव्यक्ति मिलती है और घटती महिला जनसंख्या का यह एक प्रमुख कारण है। कानूनी तौर पर प्रतिबंधित होने के बावजूद भी प्रभावी क्रियान्वयन के अभाव में यह जारी है। लड़कियों के पोषण और चिकित्सा की उपेक्षा से भी लड़कों को दी जाने वाली वरीयता परिलक्षित होती है। धार्मिक अंधविश्वासों के अतिरिक्त दहेज का बढ़ता प्रचलन भी बेटे की चाहत को बढ़ाने का जिम्मेदार है। इन सभी कारकों ने लड़की को सामाजिक एवं आर्थिक रूप से एक बोझ समझी जाने वाली सामाजिक धारणा को बल दिया जिसके परिणामस्वरूप अन्य राज्यों के गरीब तबके की लड़कियों को खरीदकर उन्हें पत्नी की भाँति रखने की प्रथा आरम्भ

हो गई है जो कि हरियाणा और उत्तर प्रदेश में बहुप्रचलित है। यह स्त्री की घरेलू दास्ता (domestic slavery) जैसा है।

महिलाओं की प्रस्थिति : निरन्तरता और परिवर्तन (Status of Women: Continuity and Change)

अधिकांश समाजों में, विशेषकर भारतवर्ष में, महिलाओं और पुरुषों में असमानता एक प्रमुख विसंगति है। स्त्रियों के स्तर के बारे में किसी भी पूर्वानुमान के लिये सामाजिक ढाँचे को समझना जरूरी है। सामाजिक संरचना, लोक परम्परा और आदर्श सभी मिलकर पुरुषों और महिलाओं के व्यवहारों से सम्बन्धित सामाजिक अपेक्षाओं को प्रभावित करते हैं और समाज में महिलाओं की प्रस्थिति तथा भूमिका को भी सुनिश्चित करते हैं।

भारतवर्ष में महिलाओं की प्रस्थिति संस्कृति, क्षेत्र और आयु जैसे विशेष कारकों से निर्धारित होती है। संवैधानिक और कानूनी तौर पर महिलाओं की प्रस्थिति एवं भूमिका तथा सामाजिक परम्पराओं द्वारा थोपी गई प्रस्थितियों और भूमिका में अंतर का प्रत्यक्ष उदाहरण हमारे देश में महिलाओं की सामाजिक स्थिति है। पितृसत्तात्मक मूल्यों एवं संस्थाओं पर आधारित होने के कारण महिलाओं की 'अच्छी', 'आज्ञाकारी' और 'त्याग' करने वाली बेटी, बहू और पत्नी के रूप में ही सामाजिक स्वीकार्यता है। उन्हें सामाजिक रीति-रिवाजों व सामाजीकरण के माध्यम से इस प्रकार ढाला जाता है कि वे सामाजिक ढाँचे के अन्तर्गत होने वाली असमानताओं, अधीनता और शोषण आदि का विरोध न करें। पुरुषों की संरक्षकत्व और आश्रय प्रवृत्ति की अधिकता, बहुधा उनके व्यक्तित्व और निजता के विकास को अवरुद्ध कर देती है। "महिलाओं की परिवार और समाज में स्थिति मुख्यतया देश के विभिन्न क्षेत्रों की सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, धार्मिक और भौगोलिक कारकों से निर्धारित होती है" **(National Profile on Women, Health and Development, 2000)**।

परिवार रूपी संस्था के सर्वाधिक प्रचलित रूप, **संयुक्त परिवार,** में पितृ पक्ष से सम्बन्धित पुरुषों का एक समूह होता है जिन्हें सम्पत्ति, संयुक्त खर्चों में हिस्सेदारी, आवास तथा रसोई में समान अधिकार प्राप्त होता है। यद्यपि औद्योगिकीकरण, शहरीकरण और आधुनिकता के प्रभाव के कारण इस प्रकार के रहन-सहन में काफी परिवर्तन हुआ है, परन्तु संयुक्त परिवार की मान्यताएँ आज भी काफी हद तक प्रचलित हैं। इस प्रकार के पारिवारिक ढाँचे में महिलाएँ कठोर प्रतिबंधों के अधीन होती हैं और निर्णय लेने की प्रक्रिया में उनकी भूमिका नहीं के बराबर अथवा बिल्कुल ही नहीं होती और वह अपनी सास के सीधे अधीन होती हैं। परिवार में उनकी स्थिति, उनके द्वारा दहेज में लाये गये धन व पारिवारिक अर्थव्यवस्था में उसके पति के योगदान पर मुख्यतः निर्भर करती है।

सांस्कृतिक स्वायत्तता और महिलाओं की प्रस्थिति हमेशा से जाति व्यवस्था से नियंत्रित होती रही है। शुद्धता और अशुद्धता की विचारधारा को वैवाहिक व खानपान संबंधी नियमों द्वारा

जातीय प्रतिबद्धता, व्यवसाय और जीवन शैली के आधार पर बनाये रक्खा गया है। सात्विक शाकाहार, नशे की लत से बच के रहना व स्त्रियों पर पाबंदी कर्मकांडीय शुद्धता के प्रमुख मापदण्ड रहे हैं। **नेशनल प्रोफाइल ऑफ वोमेन** (यथावत) के अनुसार जातीय प्रथा को बनाये रखने का वैचारिक और भौतिक आधार, धार्मिक ग्रन्थों और पितृसत्तात्मक, पितृवंशात्मक और पितृस्थानीय (Patrilocal) परिवार की विचारधारा से निर्धारित होता है। इस प्रकार स्त्रियों पर निम्न प्रकार से नियंत्रण रक्खा जाता है:-

- सम्पत्ति एवं संसाधनों में उनको उत्तराधिकारी न मानना
- पर्दा-प्रथा जैसे रिवाजों के द्वारा स्त्रियों को समाज से अलग कर घरेलू जीवनचर्या तक सीमित कर देना
- रीति-रिवाजों और आदर्शों द्वारा उनका सामाजिकीकरण
- विवाह के माध्यम से गृहस्थ जीवन और सम्पत्ति की सुरक्षा हेतु उनका प्रयोग और
- मासिक धर्म संबंधी मान्यताएँ, शरीर के प्रति लज्जा बोध की प्रवृत्ति; छोटी उम्र में शादी, केवल महिलाओं के लिए कठोर 'एक पुरुष व्रत' (बहुविवाह प्रथा कुछ ही समुदायों में है) और स्त्री का मूल्यांकन विवाह और परिवार, विशेषकर कई पुत्रों की माँ के रूप में सीमित कर दिया जाना।

उपरोक्त प्रतिबंध उच्च जाति की महिलाओं पर निम्न जाति की महिलाओं की तुलना में अधिक कठोरतापूर्वक लागू किये जाते हैं और उन्हें कम सांस्कृतिक स्वायत्तता (cultural autonomy) होती है। परिवार की आर्थिक स्थिति में महत्त्वपूर्ण भूमिका के कारण निम्न जातियों और अधिकांश आदिवासी समाज की महिलाओं को घूमने फिरने, पर्दे से बाहर रहने, जीवनसाथी के चुनाव में स्वतंत्रता और यदि विवाह सफल न हो तो उसे भंग करने का अपेक्षाकृत बेहतर अधिकार है। संस्कृतिकरण के माध्यम से अधिकांश निम्न जातियाँ, उच्च जातियों के क्रिया-कलापों, रहन-सहन तथा मान्यताओं का अनुकरण करके अपनी सामाजिक स्थिति को ऊपर उठाने की कोशिश कर रही हैं। परिणामस्वरूप उनकी महिलाओं की स्वायत्तता भी घट रही है। निम्न जातियों को अपने सामाजिक उत्थान के लिये यह मूल्य चुकाना पड़ा है।

'पुरुष ही वंश चलाते हैं' परिवार के ढाँचे की इस मान्यता से भारतीय समाज के अधिकांश तबकों में बेटों की चाहत कुछ ज्यादा बढ़ी है। **The National Family Health Survey** (1992-93) ने निम्नांकित पहलुओं जैसे प्रतिरक्षण दर, स्तनपान की अवधि, तीन सामान्य शैशवकालीन रोगों की स्थिति और उनके उपचार की संभावना, 4 वर्ष से कम आयु के बच्चों में कुपोषण की समस्या और नवजात शिशुओं तथा बच्चों के जीवित रहने की दर इत्यादि के आधार पर 19 सर्वाधिक जनसंख्या वाले राज्यों में बेटे को प्राथमिकता दिये जाने का अनुमान लगाया था। उपरोक्त लगभग सभी मापदण्डों पर अधिकांश राज्यों में लड़कियों की तुलना में लड़के अधिक लाभकारी स्थिति में हैं। बेटों की चाह उत्तरी भारत और मध्य भारत में विशेष रूप से

ज्यादा है तथा दक्षिणी एवं पश्चिमी क्षेत्रों में अपेक्षाकृत कम है (मुर्थयय्या, चोई, एण्ड राय, 1997)। आदिवासी जनसंख्या में महिलाओं के प्रति भेदभाव अधिक नहीं है। जन्मोपरांत कन्या शिशु की हत्या तथा कन्या भ्रूण की हत्या जैसी प्रथाएँ भी महिलाओं की स्थिति पर बुरा प्रभाव डालती हैं।

हमारी जनसंख्या के अधिकांश हिस्सों में विधवा होना भी एक सामाजिक अभिशाप है और उच्च जाति के हिन्दुओं में तो यह विशेष रूप से प्रभावी है। निम्न जातियों, आदिवासी जनसंख्या तथा मुस्लिमों में विधवाओं का पुनर्विवाह काफी प्रचलित है। **भारतवर्ष में महिलाओं की प्रस्थिति पर राष्ट्रीय समिति की रिपोर्ट** (1988) के अनुसार विधवाओं के प्रति समाज की सोच, विभिन्न सामाजिक आर्थिक स्तरों पर भिन्न-भिन्न है किंतु वैधव्य के उपरांत स्त्री की जीवन शैली में बदलाव, भारतीय समाज के सभी वर्गों में लगभग एक जैसा ही है। पारंपरिक रूप से विधवाओं को अशुभ माना गया है और शुभ कार्यों में उनकी भागीदारी को, आज भी समाज का बड़ा हिस्सा, अवांछित समझता है। सोच में थोड़े बहुत बदलाव के बावजूद भी विधवाओं की दशा हमारे समाज पर एक बदनुमा दाग है। समिति ने बनारस और मथुरा में ऐसी बहुतेरी विधवाओं को शोचनीय दशा में देखा जिन्हें उनके परिवारजनों ने अत्यन्त निर्लज्जतापूर्वक त्याग दिया था और वे छोटे-मोटे काम करके या भीख मांगकर अपना जीवन यापन कर रही थीं।

मुस्लिम महिलाओं की प्रस्थिति (Status of Muslim Women)

मुस्लिम महिलाओं की स्थिति भी शेष जनसंख्या से कोई ज्यादा भिन्न नहीं है। यद्यपि इस्लाम के सिद्धांतों में लिंग समानता व लिंग न्याय को माना गया है परन्तु पितृसत्तात्मक समाज के प्रभावी होने से इस्लाम द्वारा औरत को दिये गये बहुत से अधिकार उनसे छीन लिये गये हैं। हिन्दू महिलाओं की भाँति मुस्लिम महिलाओं को भी पारिवारिक स्तर पर निर्णय लेने के मामलों में बहुत थोड़ी भूमिका प्राप्त है। इसके अलावा, विशेषकर उच्च जातियों में, **पर्दा** प्रथा के कारण उनके बाहर निकलने पर भी पाबंदी है जिसके कारण कार्यशील महिलाओं में उनका प्रतिशत अन्य महिलाओं की तुलना में काफी कम है। उनमें बहुत ज्यादा महिलाएँ तो शिक्षा की दृष्टि से काफी पिछड़ी हैं। उत्पादक सम्पत्ति (Productive assets) में भी उनका हिस्सा काफी कम है। प्रचलित धारणा के विपरीत, इनमें बहुपत्नी विवाह का प्रतिशत काफी कम है। (विभिन्न अध्ययनों व सर्वेक्षणों तथा रिपोर्टों से यह स्पष्ट है कि बौद्ध, जैन और हिन्दुओं की तुलना में मुसलमानों में बहुपत्नी विवाह कम है) परन्तु मुस्लिम पुरुष को तलाक के असीमित अधिकार हैं और वे तलाक के बाद थोड़े दिन तक ही गुजारा भत्ता देकर बच निकलते हैं। तलाक की स्थिति में मुस्लिम महिलाओं को **मेहर** की रकम पाने का हक है। उसे भी अपने पति को तलाक देने का हक है। आर्थिक एवं सामाजिक रूप से निम्नवर्गीय तबके में तथाकथित रूप से 'तीन तलाक' (पति द्वारा एक साथ तीन बार तलाक कहना) की समस्या और उसके परिणाम अनियंत्रित नहीं हैं। इसके अलावा उनमें बहुओं को जलाने की घटनाएँ भी बहुत कम सुनने में आती हैं जिसका कारण, सैद्धान्तिक रूप

से पुरुषों का बिना पहली पत्नी को तलाक दिये दूसरा विवाह कर सकना और आपस में तलाक देना अपेक्षाकृत आसान होना भी है। जहाँ तक वैधव्य का प्रश्न है, वहाँ विधवा पुनर्विवाह में कोई दिक्कत नहीं है। शायद यही कारण है कि मुस्लिम समाज में जवान पुनर्विवाह योग्य विधवाएँ बहुत कम देखने को मिलती हैं। मुस्लिम महिलाओं का कम आयु में विवाह उनकी शिक्षा में बाधा उत्पन्न करता है। आर्थिक एवं व्यवसायिक दायरों में मुस्लिम महिलाओं की स्थिति निश्चित रूप से पुरुषों की अधीनस्थता वाली है। किंतु मुस्लिम समाज में महिलाओं की अधीनस्थता की समस्या को अन्य धार्मिक समुदायों की महिलाओं के साथ रखकर व्यापक नजरिये से देखा जाना चाहिये क्योंकि सभी पुरुषों के अधीन व लिंग भेद की शिकार हैं। आज जरूरत है कि उन स्थितियों को साम्प्रदायिक दृष्टि से न देखा जाय क्योंकि ये महिलाओं के न्याय और समानता के लिए संघर्ष को कमजोर करेगी।

बदलती प्रस्थिति (Changing Status)

आजादी के बाद के दौर में समानता और लिंग न्याय में आशातीत वृद्धि हुई है। शहरी महिलाओं ने अपने अधिकारों के लिये जन-जागृति प्रदर्शित की है। शासन (राज्य) भी भेदमूलक प्रथाओं के विरुद्ध आगे आने के लिये बाध्य हुआ है। महिला साक्षरता भी तेज़ी से बढ़ी है। स्त्रियों का सभी व्यवसायों में प्रवेश स्वीकार्य हुआ है। लैंगिक मुद्दे तेजी से उभर रहे हैं। वर्तमान भारत की महिलाएँ विविध भूमिकाएँ- घर, ऑफिस, राजनीति आदि में निभा रही हैं। वे पुनः संघर्षरत हैं। वे राजनीतिक क्षेत्र में भी धीरे-धीरे अपनी हिस्सेदारी बढ़ा रही हैं। संविधान में 72वाँ और 73वाँ संशोधन, महिलाओं को अपने अधिकारों के प्रति जारी संघर्ष का परिणाम है। वे परिवार और बड़े सामाजिक दायरों में भी अपनी भूमिकाओं को नये सिरे से परिभाषित कर रही हैं। वे शनैः शनैः ऐसे सभी रिवाजों और धारणाओं को नकार रही हैं जो लिंग भेद को प्रोत्साहित करती हैं। पुरुष प्रधान समाज ने ईश्वर और धर्मरूपी अपने आखरी दांव का प्रयोग कर लिया है। अतः महिलाओं को साहसपूर्वक धर्म और ईश्वर के विरुद्ध भी उठ खड़ा होना होगा जो उनकी मुक्ति की राह में बाधा हो।

मुख्य समस्याएँ (Major Problems)

यद्यपि समस्या समाधान के क्षेत्र में कुछ प्रगति हुई है किंतु महिलाओं के प्रति समाज की सोच में कोई विशेष बदलाव नहीं आया है जो उनके द्वारा आज भी झेली जा रही समस्याओं से झलकता है। कुछ मामलों में तो समस्याएँ और भी ज्यादा बढ़ी हैं। उनकी मुख्य समस्याओं को मुख्यतः दहेज, अत्याचार (उत्पीड़न) और भेदभाव में श्रेणीकृत किया जा सकता है।

दहेज (Dowry)

आज के समय में दहेज का चलन एक सामाजिक अभिशाप का रूप ले चुका है जो कि महिलाओं और उनके सम्मान के विरुद्ध एक बर्बर प्रथा है तथा पुत्री के माता-पिता पर एक ऐसा

बोझ, जिसकी परिणति कन्या भ्रूण हत्या अथवा नवजात कन्या शिशु की हत्या के रूप में होती है। प्रचलित भाषा में यह विवाह के समय पत्नी द्वारा पति के लिये लाया गया धन, भेंट, वस्तुएँ या जायदाद है। इसे, विवाह के समय, दम्पत्ति को महिला के माता-पिता तथा संबंधियों द्वारा दिये जाने वाले भुगतान के रूप में स्वीकार किया जाता है। यह एक प्रकार के अपेक्षित उत्तराधिकार (anticipated inheritance) के रूप में कार्य करता है। महिला अपने माता-पिता की सम्पत्ति और जायदाद में से अपना हिस्सा विवाह के समय प्राप्त करती है। हालाँकि, दहेज से **कन्यादान** या **स्त्रीधन** का भ्रम नहीं होना चाहिए। **कन्यादान** में वधू को एक भेंट के रूप में वर को दिया जाता है। **स्त्रीधन** से संकेत उन भेंटों की ओर है जो स्त्री को विवाह के समय या उसके बाद उसके मायके वालों या उसके पति द्वारा दी जाती हैं और वह धन, जो उसे माता-पिता से उत्तराधिकार में मिलता है या जिसे वह अपने प्रयत्नों से कमाती है। एक महिला स्त्रीधन की पूर्ण स्वामिनी होती है तथा उसका पति इस पर कोई दावा नहीं कर सकता। यह उसकी पुत्रियों को विरासत में हस्तांतरित होता है जब तक कि उसने कोई अन्य वसीयत न की हो।

उक्त वर्णित धारणाओं के चाहे जो प्रतिफल हों समाज में आये बदलावों और इसके अधिक से अधिक भौतिकवादी होने जाने के कारण, दहेज, सम्पत्ति प्राप्त कर अपना सामाजिक और आर्थिक स्तर उठाने का सबसे आसान रास्ता है। इस प्रकार यह सामाजिक मूल्यों के लम्पटीकरण (lumpenisation) और सामान्य भ्रष्टाचार से सीधे सम्बन्धित है। दुर्भाग्यवश, दहेज जो कभी प्रेम के प्रतीक के रूप में स्वेच्छापूर्वक दिया जाता था, अब विशेषकर मध्यवर्गीय समाज में, विवाह के लिये एक आर्थिक बाधा का रूप ले चुका है। दहेज अब अधिकार भाव से माँगा जाने लगा है। दहेज की समस्या विवाह के साथ समाप्त नहीं होती अपितु वर्षों बाद तक भी एक सतत् समस्या की भाँति बनी रहती है। त्यौहार और मेले जैसे अवसरों पर वर और उसका परिवार पैसे ऐंठते रहते हैं। चाहे व्यापार बढ़ाना हो या वर की बहिन के लिए दहेज जुटाना हो, वर पक्ष निरन्तर पैसा माँगता रहता है।

विवाह पूर्व अथवा उपरांत दहेज की माँग न पूरी होने के कई परिणाम होते हैं। विवाह संस्कार के समय ब्लैकमेल से लेकर शारीरिक, मानसिक तथा घरेलू हिंसा और बहू जलाने तथा अन्य अत्याचारों तक उसकी परिणति होती है। बढ़ती बाजार अर्थव्यवस्था और भूमंडलीकरण ने भी दहेज की कुत्सित प्रथा को बढ़ाने में अपना योगदान दिया है। बढ़ता उपभोक्तावाद और उपभोग की संस्कृति भी हमारे मूल्य तंत्र को बेहूदा और खराब कर रहे हैं।

मुस्लिम और ईसाई समुदाय, जो कुछ समय पहले तक इस प्रथा से प्रभावित नहीं थे, वे भी इस प्रथा से प्रभावित हो रहे हैं। किंतु इन समुदायों में दहेज से संबंधित शोषण और हिंसा अभी भी एक बहुत छोटे हिस्से में ही सीमित है। मुस्लिमों में बहू जला देने की घटनाएँ बहुत कम होती हैं जिसका प्रमुख कारण है कि हिन्दुओं की तुलना में उनमें तलाक देना आसान है। इससे भी बढ़कर, ऐसे लोभी लोगों को सिद्धांततः दूसरी शादी करने की छूट भी होती है। इससे यह

भली-भाँति स्पष्ट है कि सभी समुदायों में महिलाओं की दशा कमोबेश खराब है।

महिला समूहों और स्वयंसेवी संस्थाओं के लगातार दबाव के चलते सरकार ने **दहेज निषेध कानून, 1961** लागू किया जिसे 1984 व 1986 में और प्रभावी बनाने के लिए संशोधित किया गया। किंतु इस समस्या से केवल कानूनी रूप से नहीं लड़ा जा सकता है। ऐसी प्रथाओं के विरुद्ध एक सशक्त सामाजिक आन्दोलन चलाने की आवश्यकता है। इस समस्या को मुख्यतया उस प्रचलित पितृसत्तात्मक मूल्यों के अन्तर्गत समझा जा सकता है जो स्त्रियों को हीन या दोयम दर्जे का मानती हैं। परम्पराओं का बोझ, पुरुषों को श्रेष्ठ मानने वाली विचारधारा, संवेदनहीन और कभी-कभी दोषियों के साथ साठगाँठ करने वाला कानून व्यवस्था तंत्र, घिसीपिटी न्याय प्रणाली और हिंसा को क्षमा कर देने वाला समाज सभी इस स्थिति के लिये जिम्मेदार हैं अन्यथा दहेज की खातिर अपनी पत्नी की हत्या कर देने वाले पुरुष की दूसरी शादी का क्या औचित्य है?

अत्याचार और भेदभाव (Atrocities and Discrimination)

लिंगभेद और महिलाओं के विरुद्ध अत्याचार भारतीय समाज का घिनौना चेहरा है। यदि हम इस समस्या की गहराई में झाँकें तो हम पाते हैं कि महिलाओं के विरुद्ध अत्याचारों के लिये मुख्यतया भेदभाव मूलक वातावरण ही जिम्मेदार है। "पितृसत्तात्मक समाज में सर्वत्र विद्यमान पुरुष प्रधानता एवं वातावरण ने स्त्रियों और पुरुषों के बीच असमान शक्ति संबंध स्थापित किया है। पितृसत्ता भेदभाव और अन्य कई स्तरों पर महिलाओं के लिये पृथकता और अभाव के लिये जिम्मेदार है। महिलाओं ने भी अपनी अधीनस्थ स्थिति को सामान्य सामाजिक प्रवृत्ति के रूप में स्वीकार कर लिया है। पुरुषों और महिलाओं में यह जागृति बढ़ रही है कि असमानता, भेदभाव और वचना ने महिलाओं के कई मूलभूत अधिकारों को उपेक्षित और समाप्त सा कर दिया है" (शारदा गोपालन व मीरा शिवा, 2000)। महिलाओं के विरुद्ध भेदभाव "पालने से क़ब्र" तक जारी है जो उसके यौन उत्पीड़न, दहेज संबंधी समस्याओं, उसे पौष्टिक आहार और चिकित्सा सुविधा से वंचित किये जाने और उसे शिक्षा के अधिकार से वंचित रखने के रूप में प्रकट होता है।

जीवन चक्र (Life Cycle) के दौरान उत्पीड़न और भेदभाव

भ्रूण-	लिंग निर्धारण
	स्त्री भ्रूण हत्या
नवजात शिशु-	जन्मजात शिशु हत्या
	कुपोषण
बचपन (बाल्यकाल)-	शिक्षा और चिकित्सा सुविधाओं का अभाव
	यौन उत्पीड़न

शारीरिक हिंसा

किशोरावस्था व वयस्क स्त्री- कम आयु में विवाह

शीघ्र गर्भधारण

यौन हिंसा

घरेलू हिंसा

दहेज उत्पीड़न

बांझपन/लड़का पैदा करने में असफलता

छोड़ दिया जाना

ओझागीरी की शिकार

उच्च प्रसव - मातृ मृत्यु

वृद्धाएँ एवं विधवाएँ- परित्याग

उपेक्षा- भावनाात्मक, सामाजिक और आर्थिक

पारम्परिक मूल्यों में गिरावट, समाज में बढ़ रही अपराधिक प्रवृत्तियाँ, कानूनी प्रावधानों का कमजोर क्रियान्वयन, सूचना माध्यमों में हिंसा के अतिरंजित चित्रण इत्यादि ने समाज में बढ़ रहे उत्पीड़न में अपना योगदान दिया है। इन सबका बड़ा हिस्सा महिलाओं को झेलना पड़ा है। महिलाओं के विरुद्ध विभिन्न प्रकार की हिंसाएँ निम्नवत् हैं:-

- घरेलू हिंसा
- दहेज उत्पीड़न
- मारना पीटना जो चोटों और यहाँ तक कि मौत में परिणत हो सकता है।
- बलात्कार
- घर, सार्वजनिक स्थान और कार्यस्थल पर यौन उत्पीड़न
- छेड़छाड़
- अपहरण
- वेश्यावृत्ति
- चिकित्सकीय हिंसा

सभी प्रकार की हिंसाओं में चिकित्सकीय हिंसा गुप्त रहती है। इसमें अनावश्यक ऐपीसियोटॉमी, सिजेरियन ऑपरेशन, असुरक्षित गर्भपात, हानिकारक दवाएँ, गर्भनिरोधक, झूठी चिकित्सा संबंधी कानूनी रिपोर्ट, चिकित्सा स्वास्थ्य कानून का दुरुपयोग इत्यादि सम्मिलित हो सकते हैं। हिंसा के विभिन्न रूपों का विश्लेषण करने में हम पाते हैं कि सबसे ज्यादा जानबूझकर पुरुषों द्वारा की जाने वाली हिंसा से खतरा रहता है। सभी प्रासंगिक सूचनाओं से यह प्रकट होता है कि

किशोरियों का यौन शोषण निकट के पुरुष संबंधियों द्वारा ही किया जाता है। ये भी जानना जरूरी है कि लिंग-हिंसा सभी सामाजिक-समूहों में व्याप्त है और सर्वाधिक हिंसक पुरुष मानसिक रूप से विक्षिप्त हो, यह जरूरी नहीं है, अपितु वे इसे अपनी प्रभुता के अधिकार के रूप में देखते हैं।

महिलाओं के विरुद्ध हिंसा, विशेषकर दलित महिलाओं में, के लिये जातीय व्यवस्था भी जिम्मेदार है। सदियों पुरानी शोषणोन्मुखी जातीय व्यवस्था द्वारा उत्पन्न सामाजिक दशाओं के कारण दलित महिलाएँ उच्च जातीय पुरुषों द्वारा शारीरिक रूप से, सामूहिक रूप से पीड़ित किये जाने के भय से ग्रस्त रहती हैं। इस प्रकार उन्हें लिंग और जाति की दोहरी समस्या का सामना करना पड़ता है। इन पहलुओं के अतिरिक्त भी महिलाएँ विशेष परिस्थितियों का शिकार बनती हैं। जेलों या संरक्षण गृहों में स्थित महिलाओं, विधवाओं, अकेली महिलाओं, मानसिक महिला रोगियों, विकलांग महिलाओं, विस्थापित और शरणार्थी महिलाओं के विरुद्ध अत्याचार कम नज़र आने वाले पहलू हैं। इस प्रकार भारत में महिलाओं के विरुद्ध अपराध सर्वाधिक दर्दनाक और राजनैतिक बहस का मुद्दा है। यद्यपि ये सीधे-सीधे विकास का मुद्दा नहीं है परन्तु इससे महिलाओं का विकास प्रभावित होता है।

संवैधानिक प्रावधान, विशेष कानून और महिला सशक्तीकरण (Constitutional Provisions, Special Laws and Women's Empowerment)

भारतीय संविधान में लैंगिक समानता और भेदभाव से बचाव के लिये कई धाराओं की रचना की गई है। उनमें, विशेष रूप में, निम्नांकित प्रविधान हैं:-

- कानून की निगाह में बराबरी और कानूनों की बराबर रक्षा (अनुच्छेद- 14)
- अन्य वस्तुओं के साथ-साथ लिंग के आधार पर भेदभाव, हीनता विशेषतया सार्वजनिक स्थलों पर पहुँच की मुक्त उपलब्धताः और राज्यों को महिलाओं के लिये विशेष प्राविधान बनाने के अधिकार (अनुच्छेद- 15)
- जनसेवायोजन (रोजगार) के अवसरों की समानता (अनुच्छेद- 16)
- राज्य द्वारा स्त्री-पुरुषों के स्वास्थ्य एवं शक्ति को सुरक्षित रखने के लिये अपनी सार्वजनिक नीति का निर्धारण (अनुच्छेद- 39-ई तथा एफ़)
- कार्य की मानवीय दशाएँ तथा महिलाओं के लिये मातृत्व राहत (अनुच्छेद- 42)
- राज्य द्वारा समान नागरिक संहिता बनाने के प्रयास (अनुच्छेद- 44)
- महिलाओं के सम्मान के विपरीत प्रथाओं को त्यागना प्रत्येक नागरिक का मूलभूत कर्तव्य (अनुच्छेद- 51ए-ई)

संवैधानिक प्रावधानों की अनुरूपता में सरकार ने महिलाओं की रक्षा और उनकी प्रस्थिति में सुधार के लिए विशेष कानूनों को लागू किया है।

- **विशेष विवाह अधिनियम**, 1954- किसी भी जाति अथवा धर्म की 18 वर्षीय लड़की तथा

21 वर्षीय लड़का इस कानून से लाभान्वित हो सकते हैं।

- **हिन्दू विवाह अधिनियम,** 1955- कुछ रीतियों, विशेषकर सप्तपदी के संपादित होने पर विवाह सम्पन्न माना जाता है। जब तक प्रथम विवाह अस्तित्ववान है, दूसरा विवाह वर्जित है; कानूनी अलगाव और तलाक का अधिकार विशेष आधारों पर उपलब्ध कराया गया है जैसे- पागलपन, धर्म परिवर्तन, असाध्य या संक्रामक रोग इत्यादि।
- **दहेज निषेध अधिनियम,** 1961- दहेज माँगना, लेना या देना, राज्य के विरुद्ध एक गैर जमानंती, संज्ञेय अपराध है और जिसमें कम से कम 5 वर्ष के कारावास तथा 15,000 या दहेज की राशि के बराबर आर्थिक दण्ड की व्यवस्था है।
- **बाल विवाह प्रतिबन्ध (संशोधन) अधिनियम,** 1976- विवाह की आयु सीमा लड़कियों के लिए 15 वर्ष से बढ़ाकर 18 वर्ष तथा लड़कों के लिये 21 वर्ष कर दी गई है।
- **हिन्दू दत्तक एवं निर्वाह अधिनियम,** 1955- स्वस्थ मस्तिष्क की अविवाहित महिला, विधवा अथवा तलाकशुदा एक बच्चे को गोद ले सकती है।
- **हिन्दू उत्तराधिकार कानून, अधिनियम,** 1956- इसमें महिलाओं के लिए, पुरुषों के समान, सम्पत्ति के उत्तराधिकार तथा सम्पत्ति के अधिकार के हस्तांतरण के अधिकारों को सन्निहित किया गया है।

इसके अतिरिक्त महिला श्रमिकों की सुरक्षा हेतु कई कानून बनाये गये हैं। **मातृत्व लाभ अधिनियम,** 1961 और **समान पारिश्रमिक कानून,** 1976 दो ऐसे पर्याप्त एवं विशिष्ट कानून है जिनमें

(i) शिशु जन्म के उपरांत छः सप्ताह का वेतन सहित अवकाश; प्रसव के छः सप्ताह पूर्व से ठीक पहले एक माह के लिये श्रम साध्य कार्यों में न लगाना तथा

(ii) पुरुषों के समान, समान कार्य हेतु समान पारिश्रमिक का भुगतान का प्रावधान है।

अन्य कानूनों में भी कुछ ऐसे प्रावधान हैं जो क्रेच, शिशु को स्तनपान कराने हेतु कार्य विश्राम, पृथक् शौचालय इत्यादि की सुविधा प्रदान करते हैं। **गर्भपात अधिनियम,** 1971, चिकित्सकीय दृष्टिकोण से उचित होने पर, गर्भपात की अनुमति देता है। **प्रसव पूर्व परीक्षण तकनीक (दुरुपयोग नियंत्रण एवं रोकथाम) अधिनियम,** 1994, भ्रूण लिंग निर्धारण हेतु परीक्षण को नियंत्रित करता है। लिंग निर्धारण परीक्षण प्रायः कन्या भ्रूण की पहचान तथा उसके गैर कानूनी गर्भपात हेतु किये जाते हैं। "मानवीय शरीर के विरुद्ध हिंसा, चाहे पुरुष या स्त्री जो भी प्रभावित हो, साधारणतया दण्डनीय अपराध है। इस विषय को महिलाओं में प्रभावित करने वाले कानूनी प्रावधानों, विशेषकर दण्ड संबंधी प्रावधानों को और अधिक प्रभावी एवं अपराध रोकने में सक्षम बनाने हेतु समय-समय पर पुनरीक्षण एवं सुधार किया जाता है। बलात्कार, अपहरण, दहेज के लिये प्रताड़ित करके मार डालना, छेड़छाड़ व कार्यस्थल पर यौन शोषण सभी महिलाओं से संबंधित होने वाले अपराध हैं जिन पर

बहुधा सामाजिक बहस एवं जाँच होती है" (सरला गोपालन, 2000)।

महिला सशक्तीकरण (Women's Empowerment)

'शक्ति' से ही 'सशक्तीकरण' का सिद्धांत पोषित होता है। प्रचलित रूप में 'शक्ति' किसी कार्य को कर सकने की क्षमता को माना जाता है। सामाजिक सन्दर्भों में शक्ति का अर्थ अधिकार, हुक्म देने का हक, शासन करने या नियंत्रित करने की ताकत या प्रभावित करने की क्षमता इत्यादि है। इस प्रकार सशक्तीकरण का सामान्य अर्थ है जहाँ शक्ति न हो या जहाँ कम हो वहाँ पर शक्ति को और बढ़ा देना। "सशक्तीकरण आज एक प्रचलित शब्द बन गया है। इसका अर्थ अधिकार और शक्ति का विकेन्द्रीकरण है। इसका उद्देश्य वंचित वर्गों के लोगों को निर्णय लेने की प्रक्रिया में भागीदार बनाना है। दूसरे शब्दों में बात न कह पाने वालों को बात कहने देना है। सक्रिय समाज सेवी (social activists) चाहते हैं कि सरकार कल्याण कार्यक्रमों द्वारा तथा कानूनी कदम उठाकर महिलाओं सहित गरीब लोगों को सशक्त बनाये। जब तक इन लोगों को वास्तव में सशक्त नहीं बनाया जाता तब तक शक्ति का प्रयोग दूसरे लोगों द्वारा किया जाता रहेगा बजाय उनके कि वास्तविकता में शक्ति जिनके लिये है" (के० डी० गैंग्रेड, 2001)।

महिला सशक्तीकरण की अवधारणा कोई नयी नहीं है। यह सभी समाजों में सदा से रही है लेकिन महिला सशक्तीकरण को एक विचारधारा के रूप में देखा जाना और इसे एक सामाजिक आन्दोलन के रूप में इस्तेमाल किया जाना और जनसाधारण में इसका विस्तार इत्यादि तथ्यों को नया समझा जा सकता है। अब यह 'महिला कल्याण' से 'महिला विकास' और महिला विकास से 'सशक्तीकरण' का रूप ले चुका है तथा इसकी चर्चा, रिपोर्टिंग और आलोचनात्मक मूल्यांकन किया जा रहा है। और भी नयी बात है बालिकाओं और महिलाओं की 'विशेष समूह' के रूप में पहचान तथा महिला सशक्तीकरण से संबंधित प्रमुख बिन्दुओं पर विशेष ध्यान दिये जाने की अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मान्यता का मिलना। इससे भी बढ़कर नयी बात यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय, राष्ट्रीय, सामाजिक एवं पारिवारिक विकास तथा प्रगति के लिये महिला सशक्तीकरण के अपरिहार्य माने जाने की समझ और अनुभूति बढ़ी है। यह भी महसूस किया और माना जा रहा है कि महिला सशक्तीकरण को स्थापित करने के लिये सरकारी, गैर सरकारी और वैयक्तिक स्तरों पर वास्तविक संकल्प और प्रयास किये जाने की आवश्यकता है।

महिला सशक्तीकरण का अर्थ उन्हें आर्थिक रूप से स्वावलम्बी, आत्मविश्वासी और अपनी अस्मिता के प्रति सकारात्मक सोच वाला बनाना है ताकि वे कठिन परिस्थितियों का मुकाबला करने में सक्षम हों और विकास कार्यों में भी उनकी भागीदारी हो सके। एक सशक्त महिला को निर्णय लेने की प्रक्रिया में हिस्सा लेने के लिये समर्थ होना चाहिए। शिक्षा इस दिशा में बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करेगी।

संस्थागत ढाँचा (Institutional Framework)

मानव संसाधन विकास मंत्रालय के अन्तर्गत 1985 में महिलाओं (तथा शिशु विकास)

के लिये एक अलग विभाग की स्थापना की गई थी जिसका उद्देश्य एक ऐसे सरकारी तंत्र की स्थापना करना था जो महिलाओं तथा बच्चों के समग्र विकास को प्राप्त करने हेतु आवश्यक नीतियों, योजनाओं तथा कार्यक्रमों का निर्धारण करे और सरकारी तथा गैर सरकारी संस्थाओं के बीच तालमेल बैठाये। पिछले कुछ वर्षों में, महिलाओं से संबंधित विचारणीय बातों की देखभाल के लिये, सरकारी स्तर पर नीतियों में कई बदलाव हुए हैं। सत्तर के दशक में महिला 'कल्याण' की सोच थी तो अस्सी के दशक में 'विकास' और नब्बे के दशक में 'सशक्तीकरण' और 'क्षमता निर्माण' पर अधिक जोर है।

कार्यशील महिलाओं के लिये हास्टल की सुविधाएँ और उनके बच्चों की देखभाल के लिये डे केयर केन्द्र और पारिवारिक समस्याग्रस्त महिलाओं और लड़कियों के लिये लघु अवधि आवास की योजनाएँ, महिला कल्याणोन्मुखी थीं। स्पोर्ट फार ट्रेनिंग-कम-एम्प्लायमेंट (STEP) कार्यक्रम, जो गरीबी की रेखा से नीचे की महिलाओं के कौशल और रोजगार के अवसर बढ़ाने हेतु बनाया गया था, विकास सो उन्मुख था। ग्रामीण महिलाओं में मितव्ययिता को प्रोत्साहित करने वाली **महिला समृद्धि योजना**, निचले स्तर पर महिलाओं को संगठित करने के लिये बनी **इन्दिरा महिला योजना** और अनौपचारिक क्षेत्रों में गरीब महिलाओं की पूंजीगत आवश्यकताओं को पूर्ण करने हेतु बनाया गया **राष्ट्रीय महिला कोष** जैसी योजनाएँ सशक्तीकरण उन्मुखी थीं। राष्ट्रीय स्तर पर महिलाओं की देखभाल हेतु **केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड** (CSWB) सर्वप्रथम स्थापित संस्थाओं में है। यह 1953 में बनाया गया था। गैर सरकारी संस्थाओं के साथ सम्पर्क जाल बनाना इसकी मुख्य कार्यशैली रही है। सामाजिक- आर्थिक कार्यक्रम, रोजगारपरक प्रशिक्षण, जागृति उत्पन्न करना, कामकाजी महिलाओं के लिये छात्रावास जैसी सुविधाएँ बनाना, पारिवारिक परामर्श इत्यादि भी बोर्ड की मुख्य गतिविधियाँ हैं। इसी प्रकार, राज्य स्तर पर भी महिला सशक्तीकरण के कार्यक्रम बनाये गये हैं।

सशक्तीकरण की पूर्वक्रियात्मक संस्थाएँ (Proactive Institutions for Empowerment)

समय-समय पर महत्त्वपूर्ण कानूनी फैसलों द्वारा न्यायपालिका ने भी महिला सशक्तीकरण को बढ़ावा देने में अपना योगदान दिया है। **राष्ट्रीय महिला आयोग** (NCW) एवं राज्य स्तर पर इसके अनुषंगी संगठन भी महिलाओं के लिये संवैधानिक और कानूनी सुरक्षा तथा उसके प्रभावी क्रियान्वयन की जाँच और परीक्षण का कार्य कर रहे हैं। महिलाओं के विरुद्ध अत्याचार की व्यक्तिगत शिकायतों पर विशेष मामलों में, ये हस्तक्षेप भी करते हैं तथा सुधारात्मक उपाय भी सुझाते हैं। ये महिलाओं के बीच कानूनी जागृति पैदा करने वाले कार्यक्रमों का भी आयोजन करते हैं।

कुछ राजनीतिक दल, विशेषकर कम्युनिस्ट और वामपंथी दल और उनके महिला संगठन जैसे आल इंडिया डेमोक्रेटिक वूमेन्स एसोसिएशन (AIDWA) और जनवादी महिला समिति भी महिला सशक्तीकरण के लिये आन्दोलित एवं संघर्षरत हैं।

1992 में, 73वें एवं 74वें संविधान संशोधन पंचायत और नगर पालिकाओं के बारे में किये गये थे। अब, इन निकायों में दस लाख से अधिक महिलाएँ राजनीतिक रूप से सक्रिय हैं। यद्यपि बहुत सी परिस्थितियों में, जैसा कि रिपोर्टों से पता चलता है, पति इस भूमिका को अप्रत्यक्ष रूप से निभा रहे हैं परन्तु आने वाले समय में महिलाएँ निश्चित रूप से अपनी नवप्राप्त राजनीतिक शक्ति का प्रयोग स्वयं करेंगी।

मानवीय विकास परिप्रेक्ष्य (Human Development Perspective)

इसमें कोई संदेह नहीं कि महिला सशक्तीकरण में, मानवीय विकास परिप्रेक्ष्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। महिलाओं को पोषाहार, स्वास्थ्य, शिक्षा, रोजगार, पर्यावरण और इन सबसे ऊपर उनका हिंसामुक्त जीवन जीने का मानवीय अधिकार जैसे विचारणीय बिंदु सार्वजनिक नीति का हिस्सा होना चाहिए।

महिला सशक्तीकरण के लिये शिक्षा मूल तत्त्व है। यह शिक्षा ही है जो सामाजिक, नागरिक, राजनैतिक, आर्थिक और पर्यावरणीय मुद्दों पर तथा अजीविका के साधनों और लाभप्रद रोजगार प्राप्त करने का ज्ञान और जागृति उत्पन्न करती है। सरकारी और गैर सरकारी प्रयासों से इस दिशा में काफी प्रगति हुई है। महिलाओं की भूमिका के बारे में लोगों की पुरानी मान्यताएँ, महिला शिक्षा में प्रमुख बाधा है परन्तु उससे हटकर शिक्षा के प्रसार को निर्णायक वरीयता देना है।

पुरुषों की तुलना में, महिलाओं की कार्य में भागीदारी की दर काफी कम है, तथापि कालांतर में उनकी भागीदारी की दर पुरुषों की दर से ज्यादा तेजी से बढ़ रही है। 1991 की जनगणना के अनुसार, महिलाओं की कार्य में भागीदारी 22.27 प्रतिशत थी। अधिकांश महिलाओं के रोजगार संगठित क्षेत्र में हैं। हालाँकि, अखिल भारतीय सेवाओं में महिलाओं की संख्या से महिला सशक्तीकरण के स्तर का कोई विशेष संकेत नहीं मिलता है। हालांकि उच्चतर न्याय पालिका को उसके ऐतिहासिक फैसलों का श्रेय मिलना चाहिए परन्तु संरचनात्मक रूप में यहाँ अभी भी पुरुषों का ही वर्चस्व है।

स्त्री और प्रचार माध्यम (Women and Media)

प्रचार माध्यम, महिलाओं के प्रति समाज की सोच व झलक दिखाने का कार्य करते हैं। बहुधा, यह उद्देश्यों को बढ़ावा देने में कोई सक्रिय भूमिका नहीं निभाते हैं। प्रचारकर्त्ताओं की राय में, वस्तुनिष्ठता के हित में, उन्हें किसी उद्देश्यों की वकालत करने वाली भूमिका अपनाने से बचना चाहिए।

हिन्दी और अन्य प्रांतीय (क्षेत्रीय) भाषाओं के लोकप्रिय सिनेमा में महिला की एक ढर्रे से बँधी छवि- कमजोर, समर्पित, और भोली, ही दिखाई जाती है। केबिल टी.वी. के चलन के बाद और लोकप्रिय धारावाहिकों के प्रसारण द्वारा धार्मिकता और कर्मकाण्ड को जबरिया लोगों के दिमाग में ठूँसा जा रहा है। सभी प्रकार के अंधविश्वासों और मुक्ति विरोधी कथानकों को बढ़ावा दिया जा रहा है।

केवल तथाकथित 'समांनान्तर सिनेमा' और कुछ टेलीविजन कार्यक्रम ही महिला मुक्ति और सशक्तीकरण के इच्छुक दिखाई पड़ते प्रतीत होते हैं। महिला सशक्तीकरण की गाथा पुरुष वर्चस्व के विरुद्ध एक लड़ाई है जिसमें कई लड़ाइयाँ लड़ी जा चुकी हैं और कई अभी लड़ी जानी हैं। महिलाओं के उचित तथा वास्तविक सशक्तीकरण के बिना भारतवर्ष की प्रगति नहीं हो सकती।

नारीवाद और नारी मुक्ति आन्दोलन (Feminism and Feminist Movement)

नारीवाद, समाज में महिलाओं की हीन स्थिति और उनके द्वारा भोगे जा रहे लैंगिक भेदभाव के विषय में विचार करता है। जब महिलाओं ने अपनी सामाजिक स्थिति में सुधार की माँग की व अपनी ठीक स्थिति पर प्रश्न करने शुरू कर दिये उसके काफी बाद **नारीवाद** शब्द की उत्पत्ति हुई। नारीवाद की उत्पत्ति के बाद भी इस शब्द को कई उन लोगों द्वारा भी नहीं अपनाया गया था जो 1960 के उत्तरार्द्ध और 1970 के पूवार्द्ध में महिलाओं के अधिकारों के लिये काम करते थे। वे तक भी स्वयं को नारीवादी नहीं पुकारते थे। महिला अधिकारों के लिये काम करने वाले समूहों ने काफी देर बाद यह शब्द अपनाया।

'नारीवाद' में, महिला मुक्ति और उत्थान के कई आंदोलन और विचारधाराएँ, महिलाओं के लिये समान अधिकारों की स्थापना और पुरुष वर्चस्व का विरोध सम्मिलित हैं। इसे महिलाओं द्वारा राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों में पुरुषों के समान अधिकार प्राप्त करने के आन्दोलन के रूप में देखा जा सकता है। यह पाश्चात्य लोकतंत्रों में महिलाओं को मताधिकार से वंचित करने व औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् की कड़ी के रूप में बढ़ा। सम्पूर्ण समाज के यौनाधार पर पुरुष वर्चस्व सुनिश्चित रखने की धारणा के आधार पर बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में नारीवाद ने अपने चरम रूप में उग्र महिला मुक्ति आन्दोलन को समर्थन दिया। मुक्तिवादियों के कुछ कृत्य जैसे ब्रा को जलाना और 'संकीर्ण पुरुष सुअर' (male chauvinist pig) जैसी शब्दावलियों का प्रयोग विद्रोही प्रवृत्तियों की उपज था परन्तु इससे लाभ कम हानि अधिक हुई। किंतु पश्चिम के इस मुक्ति आन्दोलन ने तीसरी दुनिया की दबी कुचली महिलाओं को प्रेरणा अवश्य दी तथा पाश्चात्य नारीवादी आन्दोलन की कुछ नायिकाओं जैसे ग्लेरिया स्टेनहाइम और जर्मेन ग्रियर जैसे नाम एशिया, अफ्रीका, और दक्षिण अमेरिकी देशों की पढ़ी लिखी महिलाओं के बीच भली-भाँति जाने गये।

अधिकांश नारीवादी सोच और अनुसंधान निम्न तीन में से एक या ज्यादा अंतर संबंधित परन्तु विशिष्ट परिप्रेक्ष्यों पर आधारित हैं:- 1. उदारवादी, 2. समाजवादी या मार्क्सवादी और 3. क्रांतिकारी। इन क्षेत्रों के अन्तर्गत भी नारीवादी आन्दोलन एवं स्थितियों में बड़ी विविधता है। तीसरी दुनिया में भी नारीवादी आन्दोलनों के कई रूप हैं यद्यपि मार्क्सवादी और समाजवादी नारीवादी विचारधाराओं और बुर्जुआ नारीवाद में भी इसी प्रकार के विभाजन किये जा सकते हैं। मार्क्सवादी और समाजवादी विचारधारा नारीवाद को पूंजीवादी तंत्र के विरुद्ध सम्पूर्ण राजनैतिक कार्यक्रम के अंग के रूप में मानती है जबकि बुर्जुआ नारीवाद पुरुष वर्चस्व की

विचारधारा और मध्यवर्गीय महिलाओं की मुक्ति पर अधिक केन्द्रित है।

भारतीय परिद्रष्य

भारत में नारीवादी आन्दोलन नया नहीं है। यह दिल्ली और मुम्बई की सड़कों से भी शुरू नहीं हुआ है। इसकी शुरुआत सैकड़ों रूपों और हजारों जगहों से हुई मानी जा सकती है। यद्यपि यह सत्य है कि संगठित नारीवादी आन्दोलन की शुरुआत आजादी की लड़ाई के दौरान और आजादी के तुरन्त बाद में हुई।

उन्नीसवीं सदी के समाज सुधार आन्दोलन को नारीवादी आन्दोलन का पहला चरण माना जा सकता है जिसमें विधवा पुनर्विवाह, सतीप्रथा और बाल-विवाह पर पाबंदी लगाने और स्त्री शिक्षा को बढ़ावा देने का आह्वान किया गया था। आजादी की लड़ाई में महिलाओं की सक्रिय भागीदारी और राष्ट्रीय स्तर के कई महिला संगठनों के उदय को जैसे **आल इण्डिया वूमेन्स कान्फ्रेंस, नेशनल फेडरेशन ऑफ इण्डियन वूमेन** और **वूमेन्स इण्डिया एसोसिएशन** इत्यादि को नारीवादी आन्दोलन का दूसरा चरण माना जा सकता है। उन्होंने महिलाओं की शिक्षा, मताधिकार, पर्दाप्रथा और व्यक्तिगत अधिकारों के मुद्दों को उठाया। 1947 के उपरांत इस आन्दोलन का तीसरा चरण आरम्भ हुआ। इस बारे में दीप्ति प्रिया मेहरोत्रा (2001) ने ठीक लिखा है कि 1947 से 1970 के बीच महिलाओं का आन्दोलन आज़ादी से पूर्व व बाद की तुलना में आलस्य का शिकार रहा। शायद बहुत सी स्त्री कार्यकर्त्ता सोच रही थीं कि स्वतत्रन्ता प्राप्त करने के पश्चात् उनकी समस्याओं का समाधान हो जायेगा। **ऑल इण्डिया वूमेन कान्फ्रेंस** जैसी संस्थाओं ने सोचा कि उन्हें राजनीतिक मुद्दों के साथ कुछ लेना देना नहीं है और इसलिये उन्होंने अपना ध्यान सामाजिक कल्याण की ओर करना शुरू कर दिया। इस काल में बहुत से महिला संगठनों ने सामाजिक सेवा और कल्याण के क्षेत्र में काम किया।

आजादी के ठीक बाद का समय दो वामपंथी आन्दोलनों का गवाह है- एक बंगाल में ताइभाग आन्दोलन और दूसरा आन्ध्र प्रदेश में तेलंगाना आन्दोलन। इसमें गरीब किसानों और मजदूरों ने पूँजीवादी ताकतों और ज़मींदारों के विरुद्ध कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में लड़ाई लड़ी। इन आन्दोलनों में पुरुषों के साथ महिलाओं ने भी सक्रिय रूप से भाग लिया। तेलंगाना आन्दोलन ने पहली बार सम्पूर्ण और उग्र महिला नेतृत्व को प्रस्तुत किया। उन्होंने **आन्ध्र महिला सभा, आन्ध्र युवती मण्डल** और **महिला संगम** को भी संगठित किया। वे केवल सैन्य शक्ति के विरुद्ध ही नहीं लड़ीं बल्कि लिंग असमानता, घरेलू हिंसा, बाल-विवाह, बहु-विवाह और घर की चारदीवारी के बाहर उनके आवागमन पर प्रतिबन्ध के विरुद्ध भी लड़ाइयाँ लड़ीं।

भारतीय संविधान की घोषणा और महिलाओं के लिये विभिन्न कानूनों को लागू किये जाने के बाद नारीवादी आन्दोलन और मजबूत होता चला गया। हिन्दू विवाह- कानून, हिन्दू उत्तराधिकार कानून एवं अन्य कानूनी उपायों ने आगे की लड़ाई के लिये जमीन तैयार की। महिलाओं के लिये तमाम योजनाएँ और कार्यक्रम बनाये गये। 1960 का दशक कई राजनैतिक और आर्थिक

संकटों का गवाह है। विशेषकर बिहार और बंगाल में नक्सलवादी आन्दोलन पूरी ताकत के साथ उभरा। मार्क्सवादियों और लेनिनवादियों की अगुवाई में नक्सलवादी आन्दोलन यद्यपि गरीब किसानों और मजदूरों का आन्दोलन था और इसे महिलाओं द्वारा नहीं चलाया जा रहा था किंतु इस आन्दोलन में महिलाओं की भागीदारी का स्तर बहुत ज्यादा था। बहुत सारी महिलाओं ने नक्सलवादी क्रान्तिकारियों को रणनीतिक सहायता भी प्रदान की। इस आन्दोलन में महिलाओं की भागीदारी ने उन्हें देश के राजनीतिक तंत्र को समझने और लिंग असमानता तथा महिला अधिकारों को दबाने की राजनीति को समझने का अवसर प्रदान किया।

1970 के बाद महिलाओं के आन्दोलन ने नया रूप ले लिया था। इस समय तक महिलाओं के जन-आन्दोलनों ने यह महूसस कर लिया था कि महिलाओं के मुद्दों और समस्याओं को सामाजिक सुधार और सामाजिक कल्याण जैसे कार्यों से नहीं हल किया जा सकता और मूल मुद्दों का सीधे-सीधे सामना करना होगा। इस अनुभव ने उन्हें सभी प्रमुख सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और पर्यावरण के मुद्दों पर आगे ला खड़ा किया। वनों के सरंक्षण और संबंधित पर्यावरणीय मुद्दों पर केन्द्रित **चिपको आन्दोलन** में महिलाओं का शामिल होना उनकी मुख्य मुद्दों पर बढ़ती हुई समझ को प्रकट करता है। इसी प्रकार के आन्दोलन कर्नाटक और अन्य स्थानों पर भी हुए थे। 1970 से 90 के दौरान महिलाएँ कुमायूँ और गढ़वाल (अब उत्तरांचल में), हरियाणा, आन्ध्र प्रदेश, तमिलनाडु, मध्य-प्रदेश, महाराष्ट्र और अन्य स्थानों में शराब और शराब व्यापारियों के विरुद्ध भी संघर्षरत रहीं। गरीबों में, शराब की ज्यादा खपत न केवल आर्थिक कठिनाइयाँ पैदा करती है बल्कि घरेलू हिंसा को भी बढ़ावा देती है। यह बात उन्होंने महसूस कर ली थी।

गेल ओम्वेद (1993) ने 1970 की शुरुआत के समकालीन महिला आन्दोलन के स्रोतों को खोजा है जबकि ग्रामीण और श्रमशील महिलाएँ पहली बार नेताओं के रूप में प्रशिक्षित की जा रही थीं। "किंतु उस समय शहरी, बुद्धिजीवी महिलाओं से उनके सम्पर्क बहुत कम थे जो कि ग्रामीण और श्रमशील महिलाओं के दमन को नारीवादी सन्दर्भों में प्रस्तुत कर सकती थीं" (जेराल्डीन फोरब्स, 1998)। संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा **अन्तर्राष्ट्रीय महिला वर्ष** और **अन्तर्राष्ट्रीय महिला दशक** (1975-85) की घोषणा के परिणामस्वरूप गुहा समिति की नियुक्ति हुई और भारत में महिलाओं की स्थिति पर महत्त्वपूर्ण अध्ययन, **'Status of Women in India'** (**भारत में महिलाओं की स्थिति**) नामक शीर्षक से प्रकाशित हुआ।

देश में 'आपात्काल' 1975 में लगाया गया था। नागरिक स्वतन्त्रता और लोकतांत्रिक अधिकारों के लिये कई समूह संगठित किये गये। महिलाओं ने भी इन जनआन्दोलनों में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी थी। इसी समय कुछ वामपंथी महिलाओं द्वारा हैदराबाद में **प्रगतिशील महिला संगठन** स्थापित किया गया। वर्षों तक जन-आन्दोलनों में काम करने से उन्हें भेदभाव और शोषण के विरुद्ध संघर्ष करने के लिये एक विचारधारा प्राप्त हो गई थी। 1970 से 2000 के दौरान कई स्वायत्त महिला संगठन उभर कर सामने आये। विभिन्न विचारधाराओं की पृष्ठभूमि से आने के बावजूद भी वे इस दृष्टिकोण पर एकमत थे कि ऐसी संस्थाओं की सदस्यता केवल महिलाओं तक ही सीमित

रहनी चाहिए और इन मुद्दों पर उन्हें पुरुषों के हस्तक्षेप तथा संरक्षण की कोई आवश्यकता नहीं है। ऐसी कुछ संस्थाओं जैसे मुंबई में **दलित महिलाओं के दमन विरुद्ध फोरम**, दिल्ली में **सहेली**, हैदराबाद में **अस्मिता**, बैंगलोर में **विमोचना**, चेन्नई में **पेनोरम्माइयक्कम** और अन्य कई संगठनों ने एक नया आत्मविश्वास और नयी चेतना प्राप्ति का संकेत दिया। कुछ अन्य महिला संगठन, जिनकी संगठन क्षमता और संगठन संजाल मजबूत है, वे राजनीतिक दलों, विशेषकर कांग्रेस और कम्युनिस्ट पार्टियों, से सम्बद्ध हैं। वे इन दलों की महिला शाखाओं के रूप में कार्य कर रही हैं जिनमें विशेष रूप से **ऑल इण्डिया डेमोक्रेटिक वूमेन्स एसोसिएशन** (AIDWA) सम्बद्ध सी० पी० आई० (मार्क्सवादी), **महिला काँग्रेस** सम्बद्ध कांग्रेस पार्टी और **दुर्गावाहिनी** सम्बद्ध भारतीय जनता पार्टी विशेष रूप से ताकतवर हैं। दुर्भाग्यवश भाजपा जैसी दक्षिणपंथी राजनीतिक दलों से सम्बद्ध महिला संगठनों ने केवल जाति और सम्प्रदाय के मुद्दों को ही उठाया है और महिलाओं की शक्ति को विभाजित किया है और अपने पैतृक संगठनों की नीतियों और क्रियाकलापों को वैधता प्रदान करने का कार्य किया है। अयोध्या आन्दोलन में दुर्गावाहिनी की भूमिका इसका प्रमुख उदाहरण है। "दक्षिणपंथी आन्दोलनों में महिलाओं की उपस्थिति समकालीन नारीवादी आन्दोलन मुद्दों की औचित्यता, विशेषकर मुसलमानों और ईसाईयों के विरुद्ध उनके प्रदर्शनों में, चिंता का विषय है। इसने महिलाओं के आन्दोलन पर पानी फेर दिया जो कि 1980 में काफी आशावादी और उत्कर्ष पर था। इससे यह प्रदर्शित होता है कि आज के दौर में विभिन्न उद्देश्यों के लिए महिलाओं की उपलब्धता भी ऐतिहासिक परम्परा का एक हिस्सा है। सार्वजनिक भूमिकाओं का निर्वाह करने वाली महिलाओं में भी एक जटिल प्रकार का मिश्रण है। वामपंथी महिलाएँ, मध्यममार्गी महिलाएँ, रूढ़िवादी महिलाएँ, दक्षिणपंथी महिलाएँ- ये सभी नारीवाद के दायरे में आती हैं।" (फोंबेस, यथावत)।

1980 के दशक में देशभर में दहेज विरोधी आन्दोलनों की भरमार थी। इसमें दहेज संबंधी उत्पीड़न, घरेलू हिंसा, महिलाओं का व्यवसायीकरण और सम्पत्ति के अधिकारों का अभाव जैसे मुद्दे भी सम्मिलित थे। लेखों, नुक्कड़ नाटकों, रैलियों और सेमिनारों के द्वारा लाखों महिलाओं को कार्यशील बनाने हेतु जागृत किया गया। दहेज के विरुद्ध आन्दोलन के परिणामस्वरूप यौन-उत्पीड़न और बलात्कार पर भी सार्वजनिक बहस शुरू हुई। 1980 अथवा इससे पूर्व लड़कियाँ इस प्रकार के उत्पीड़न और हिंसा पर बात कहने में बहुत झिझकती थीं। किन्तु अब ऐसी बातों पर बेरोक-टोक चर्चा की जा सकती है। वामपंथी महिला संगठनों का एक महत्त्वपूर्ण योगदान महिला अधिकारों के संघर्ष में साम्प्रदायिकता के खतरे को उजागर करना था। यदि समाज धर्म के आधार पर विभाजित और ध्रुवीकृत होता है तो इससे महिलाओं का आन्दोलन कमजोर होता है। हाल में गुजरात और देश के अन्य हिस्सों में हुई साम्प्रदायिक हिंसा इस बात का पुख्ता सबूत देते हैं। 1990 के दशक में कन्या भ्रूण हत्या तथा कन्या शिशु हत्या के विरुद्ध आन्दोलनों के साथ-साथ मुस्लिम महिलाओं और उनकी समस्याओं के बारे में काफी ध्यान दिया गया। भारत में महिला आन्दोलन, दुनिया भर में महिलाओं के लिये समानता, सशक्तीकरण और न्याय के लिये चलाये जा रहे आन्दोलनों का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा है।

नारीगत अध्ययन (Women's Studies)

भारतीय विद्वत् समाज में नारीगत अध्ययनों को एक विधा के रूप में मजबूती से जड़ें जमा कर स्थापित होना शेष है। फिर भी पिछले दस वर्षों में इसमें काफी प्रगति हुई है और बहुत से विश्वविद्यालयों और शोध संगठनों ने इसे मुख्यतः परास्नातक स्तर पर एक विषय के रूप में स्वीकार किया है। ये अन्तर्विधायी विषय (inter-disciplinary) है जिसे समाज शास्त्र, मानवशास्त्र, इतिहास, राजनीति विज्ञान, मनोविज्ञान, सामाजिक भूगोल इत्यादि के साथ-साथ मौखिक और दृश्य (audio-visual) माध्यमों से भी जोड़ा गया है।

महिला आन्दोलनों और इसके मुद्दों के बारे में जन-जागृति उत्पन्न करने की चिंता इस आन्दोलन का सदैव एक हिस्सा रही है। 1970, 80 और 90 के दशकों में कई पत्रिकाओं, सूचना पत्रों, शैक्षिक एवं अनुसंधान केन्द्रों का उदय हुआ। इस प्रकार नारीगत अध्ययन पहले-पहल एक विषय अथवा विधा के रूप में अस्तित्व में आया और उसके उपरांत कई अन्य विधाएँ जैसे इतिहास, राजनीति विज्ञान, समाजशास्त्र, साहित्य और दर्शनशास्त्र इसमें कमोबेश समाहित हो गये। **इण्डियन एसोसिएशन ऑफ वूमेन्स स्टडीज** भी स्थापित की गई जो समय-समय पर सभाओं का आयोजन करती है। जैसा कि मालाश्री लाल और सुकृता पॉल कुमार (2002) ने ठीक ही कहा है "नारीगत अध्ययनकर्त्ता विश्वविद्यालयों के अन्दर और बाहर अपनी शैक्षणिक पहचान बनाने के लिये अधीर हो रहे हैं और वे इस ढाँचे में अपने लिये स्थान बनाने की अपरिहार्यता को भी देख पा रहे हैं। असफल होने पर नारीगत अध्ययनों का अस्तित्व जहाँ एक ओर मुख्य धारा के पारम्परिक विषयों द्वारा समाप्त हो सकता है वहीं दूसरी ओर नई बाजारोन्मुखी बहुलता भी इसे समाप्त कर सकती है।" नारीगत अध्ययन इन दोनों में से किसी एक के भी अन्तर्गत न आने से लाभान्वित होता है और भारत में महिला आन्दोलन की शैक्षणिक शाखा के रूप में अपनी स्थिति में अत्यधिक लाभप्रद स्थिति में है।

कल्याणकारी कार्यक्रम और उनका प्रभाव (Welfare Programmes and their Impact)

सन् 2001 की जनगणना के अनुसार भारत में महिलाओं की संख्या 49.87 करोड़ है, जो देश की कुल आबादी का 48.2 प्रतिशत है। स्वतंत्रता के बाद से ही महिलाओं की उन्नति, विकास योजनाओं का केंद्र-बिंदु रही है। महिला और बाल-विकास विभाग प्रारंभ से ही महिलाओं के सामाजिक व आर्थिक स्तर में सुधार लाने के विशेष प्रकार के कार्यक्रम लागू करता रहा है, जिनमें उनके सामाजिक-आर्थिक स्तर को सुधारने की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। विभाग द्वारा लागू प्रमुख कार्यक्रम और महिलाओं को अधिकार-संपन्न बनाने की दिशा में किए गए प्रयास इस प्रकार हैं-

कल्याण और सहायता सेवाएँ

कामकाजी महिलाओं के लिए होस्टलों के निर्माण की योजना का उद्देश्य अन्य स्थानों से शहरों में आने वाली निम्न आय-वर्ग की महिलाओं को सस्ती दर से सुरक्षित आवास

सुविधा उपलब्ध कराना है। कुछ होस्टलों में इन महिलाओं के बच्चों के लिए दिन के समय देखभाल की सुविधा भी उपलब्ध है। वर्ष 2001-02 के दौरान 840 कामकाजी महिलाओं को रहने की सुविधा उपलब्ध कराने के लिए 13 अतिरिक्त होस्टलों की मंजूरी दी गई। इस प्रकार कुल होस्टलों की संख्या 881 हो गई है, जिनसे 62,308 कामकाजी महिलाएँ लाभान्वित हुई हैं।

भारत सरकार ने केन्द्रीय क्षेत्र में महिलाओं और लड़कियों के लिए अल्पकालीन आवास सुविधा योजना वर्ष 1969 में शुरू की। इस योजना के तहत ऐसी महिलाओं और बालिकाओं को अस्थायी आश्रय/पुनर्वास सुविधा दी जाती है, जो पारिवारिक समस्याओं, मानसिक तनाव, सामाजिक उत्पीड़न, शोषण या किसी अन्य कारण से मुसीबत में हैं तथा जिन्हें, जब तक वे अपनी व्यक्तिगत परेशानियों से उबर न जाएँ, तब तक आश्रय की जरूरत है। इस योजना में चिकित्सा, मनोचिकित्सा, परामर्श, शिक्षा, व्यावसायिक तथा रचनात्मक गतिविधियाँ और सामाजिक संबल जैसी सेवाओं/सुविधाओं का भी प्रावधान है। विभाग द्वारा नए आवास स्वीकृत किए गए हैं, लेकिन वर्तमान आवासों की देखभाल राज्य बोर्डों के जरिए केंद्रीय समाज कल्याण बोर्ड करता है।

रोजगार और प्रशिक्षण

महिलाओं को रोजगार और प्रशिक्षण के लिए मदद देने का कार्यक्रम 1987 में शुरू किया गया। इसका उद्देश्य कृषि, पशु-पालन, हथकरघा, हस्तशिल्प, कुटीर और ग्राम उद्योग तथा रेशम कीट-पालन, सामाजिक वानिकी और बंजर भूमि विकास जैसे महिलाओं की प्रधानता वाले परंपरागत कार्यों में गरीबी-रेखा से नीचे जीवन-यापन करने वाली महिलाओं को रोजगार के अवसर उपलब्ध कराने के लिए उनके हुनर में और सुधार करना है। इस कार्यक्रम में साधनविहीन और सीमांत मजदूरों, निर्धन वर्गों तथा ऐसे परिवारों पर विशेष ध्यान दिया जाता है, जिनकी मुखिया महिलाएँ हैं। अब तक 6,63,983 महिलाओं को 131 परियोजनाओं के जरिए इससे लाभ हुआ है।

नार्वे की विकास एजेंसी (नोराड) से सहायता प्राप्त महिलाओं के प्रशिक्षण कार्यक्रम के अंतर्गत सार्वजनिक क्षेत्र में उपक्रमों/निगमों/स्वायत्त संस्थाओं/स्वयंसेवी संगठनों को गैर-परंपरागत व्यवसायों में महिलाओं को प्रशिक्षण देने और उपयुक्त व्यवसाय उपलब्ध कराने के लिए सहायता दी जाती है। उन्हें कम्प्यूटर प्रोग्रामिंग, इलैक्ट्रानिक्स, घड़ियों के पुर्जे जोड़ना, रेडियो व टेलीविजन की मरम्मत, वस्त्र-निर्माण, सेक्रेट्री के काम का प्रशिक्षण, सामुदायिक स्वास्थ्य कार्यकर्ता, कशीदाकारी और बुनाई जैसे व्यवसायों का प्रशिक्षण दिया जाता है। अनुदानग्राही संगठनों को वित्तीय सहायता दी जाती है। इन कार्यक्रमों से अब तक 2,895 परियोजनाओं के जरिए 3.03 लाख महिलाओं को लाभ पहुँचा है।

जरूरतमंद महिलाओं को बुनियादी शिक्षा और हुनर प्रदान करने के लिए केंद्रीय समाज कल्याण बोर्ड ने शिक्षा की सघन योजना 1958 में शुरू की। इस योजना के अंतर्गत स्वयंसेवी संगठनों को प्राथमिक, माध्यमिक और मैट्रिक-स्तर तक की परीक्षाओं के लिए महिलाओं को तैयार करने के लिए दो-वर्षीय पाठ्यक्रम और मैट्रिक अनुत्तीर्ण महिलाओं के लिए एक वर्ष का पाठ्यक्रम

चलाने के लिए अनुदान दिया जाता है। वर्ष 2001-02 के दौरान वर्ष में 9,665 महिलाओं के लिए (केन्द्रीय बोर्ड/राज्य-स्तर के बोर्ड) 381 करोड़ रुपये की राशि मंजूर की गई।

केंद्रीय समाज कल्याण बोर्ड ने महिलाओं को व्यावसायिक प्रशिक्षण देने और उनके हुनर को बढ़ाने के लिए 1975 और 1997 में व्यावसायिक प्रशिक्षण कार्यक्रम शुरू किया। स्वयंसेवी संगठनों के जरिए ग्रामीण, जनजातीय, पिछड़े और शहरी झुग्गी-झोंपड़ी बस्तियों में ये प्रशिक्षण कार्यक्रम चलाए जाते हैं। इनके अंतर्गत कम्प्यूटर प्रशिक्षण, सामुदायिक स्वास्थ्य कार्यकर्ता, अर्द्ध-चिकित्सा व्यवसायों, टाइपिंग, शार्टहैंड जैसे व्यवसायों का प्रशिक्षण दिया जाता है, ताकि वे रोजगार प्राप्त करने में समर्थ हो सकें। सभी राज्यों/केंद्रशासित प्रदेशों के राज्य समाज कल्याण सलाहकार बोर्डों के जरिए इन संगठनों की पहचान की जाती है। वर्ष 2001-02 के दौरान 556 स्वयंसेवी संगठनों के जरिए 1,772.22 लाख रुपये मंजूर किए गए जिससे 24,830 महिलाओं को लाभ पहुँचा।

सामाजिक-आर्थिक कार्यक्रम

सामाजिक-आर्थिक कार्यक्रम बेसहारा महिलाओं, विधवाओं, परित्यक्ताओं और शारीरिक रूप से विकलांग महिलाओं को रोजगार के अवसर उपलब्ध कराने का प्रयास कर रहा है। इसके साथ ही महिला उद्यमियों को अपने उत्पाद प्रदर्शित करने और बेचने के लिए भी प्रोत्साहित किया जाता है। केंद्रीय समाज कल्याण बोर्ड गरीब और ज़रूरतमंद महिलाओं के लिए कृषि आधारित इकाइयों, जैसे- डेरी, मुर्गी-पालन, सुअर-बाड़ा, बकरी-पालन आदि की स्थापना करने में स्वयंसेवी संगठनों की सहायता करता है। लेकिन पिछले दो सालों से कृषि-आधारित इकाइयों की स्थापना के प्रस्तावों पर विचार नहीं किया जा रहा है। स्वयंसेवी संगठनों को उत्पादन इकाइयाँ स्थापित करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। जिला औद्योगिक केंद्र, खादी और ग्रामोद्योग केंद्र आदि इन परियोजना प्रस्तावों को मंजूरी देते हैं, जो इन परियोजनाओं की व्यावहारिकता का ध्यान रखते हैं। केंद्रीय समाज कल्याण बोर्ड उत्पादन इकाई स्थापित करने के लिए अनुदान देता है। अलग-अलग मामले पर विचार करके उसी हिसाब से अनुदान दिया जाता है, जिसकी अधिकतम सीमा तीन लाख रुपये है।

स्वयंसिद्धा

स्वंयसिद्धा योजना मार्च 2001 में 650 ब्लाकों में शुरू की गई। इसमें **इंदिरा महिला योजना** के 238 ब्लाकों में पहले से चल रहे कार्यक्रम भी शामिल हैं। **समन्वित महिला अधिकारिता** का ध्येय है, अधिकार-संपन्न महिलाओं का विकास करना, जो समाज, समुदाय और सरकार से अपना हक मांगें, जिनकी समान सामाजिक और राजनीतिक संसाधनों तक पहुँच हो और उन पर जिनका नियंत्रण हो, जिनकी जागरूकता और कौशल बढ़ा हुआ है।

इस योजना के तात्कालिक उद्देश्य हैं- आत्मनिर्भर महिलाओं के स्वयं सहायता समूह बनाना, इन समूहों के सदस्यों में विश्वास और जागरूकता उत्पन्न करना, आर्थिक संसाधनों पर उनका नियंत्रण, लघु ऋणों तक महिलाओं की पहुँच बढ़ाना, स्थानीय-स्तर की योजना में महिलाओं की

भागीदारी; और महिला एवं बाल कल्याण विभाग तथा अन्य विभागों की सेवाओं को समान रूप दे देना। राज्य सरकार इस योजना को राज्य-स्तर पर पहचान किए गए प्रमुख विभागों और लागू करने वाली ब्लाक-स्तरीय एजेंसियों के जरिए लागू करेगी।

स्वशक्ति परियोजना

स्वशक्ति परियोजना, जो पहले **ग्रामीण महिलाओं का विकास और अधिकार परियोजना** कहलाती थी, को केंद्र द्वारा प्रायोजित परियोजना के रूप में 16 अक्टूबर 1998 को पांच साल के लिए मंजूर किया गया तथा इसके लिए 186.21 करोड़ रुपये का प्रावधान रखा गया। इसके अलावा, लाभ पाने वाले वर्गों को विशेष रूप से शुरुआती दौर से ब्याजशुदा ऋण प्रदान करने और परियोजना वाले राज्यों में आवर्ती कोष स्थापित करने की सुविधा जुटाने के लिए परियोजना अवधि के दौरान पांच करोड़ रुपये उपलब्ध कराए गए। इस परियोजना के निम्नलिखित उद्देश्य हैं- (1) आत्मनिर्भर महिलाओं के 16,000 तक स्वयंसेवी समूह गठित करना। प्रत्येक समूह में 15 से 20 सदस्य होंगी, जो संसाधनों का बेहतर ढंग से उपयोग करके अपने जीवन-स्तर में सुधार लाएँगी, (2) महिलाओं की आवश्यकताओं को पूरा करने में मदद करने वाली एजेंसियों की संस्थागत क्षमता को मजबूत और सुग्राही बनाना, (3) स्वयंसेवी समूहों और ऋण देने वाले प्रतिष्ठानों के बीच संपर्क का विकास करना, ताकि आमदनी अर्जित करने के कार्यों के लिए महिलाओं को ऋण सुविधाएँ निरंतर सुनिश्चित कराई जा सकें, (4) महिलाओं के बेहतर जीवन-स्तर के लिए, निचले स्तर के कार्यों से मुक्त और समय की बचत करने वाले उपकरणों-सहित संसाधनों को आसानी से सुलभ कराना, और (5) आमदनी अर्जित करने वाले कार्यों में महिलाओं को शामिल करके आय और खर्च पर महिलाओं, विशेषकर गरीब महिलाओं, का नियंत्रण बढ़ाना।

दिसंबर 2001 से यह परियोजना दो राज्यों और 19 नए जिलों में शुरू की गई है। इस प्रकार से यह बिहार, छत्तीसगढ़, गुजरात, हरियाणा, झारखंड, कर्नाटक, मध्य प्रदेश, उत्तरांचल और उत्तर प्रदेश के 56 जिलों में चलाई जा रही है। परियोजना के तहत अब तक करीब 15,800 स्वयंसेवी समूहों का गठन किया जा चुका है। इस समय (1) अन्य सरकारी योजनाओं के साथ समन्वय; (2) माइक्रो-उद्यम विकास; (3) सामुदायिक संपत्ति का सृजन; (4) नेटवर्किंग; और (5) ऋण अनुबंध पर जोर दिया जा रहा है।

बालिका समृद्धि योजना

बालिका समृद्धि योजना की शुरुआत 2 अक्टूबर 1997 को हुई थी। इसके अंतर्गत गरीबी-रेखा से नीचे वाले परिवार में 15 अगस्त 1997 को अथवा उसके बाद जन्म लेने वाली बालिका की माँ को 500 रुपये की अनुदान राशि दी जाती है। 500 रुपये की सहायता राशि लड़की के नाम से डाकघर/बैंक खाते में जमा कर दी जाएगी। लड़की जब स्कूल जाने लगेगी तो उसकी सालाना छात्रवृत्ति भी उसी खाते में जमा कर दी जाएगी। यह छात्रवृत्ति पहली कक्षा से दसवीं कक्षा तक दी जाएगी। लड़की की आयु 18 साल होने और उसके तब तक अविवाहित होने पर

वह कुल जमाराशि (ब्याज-सहित) मिल जाएगी।

स्वाधार

कठिन परिस्थितियों में पड़ने वाली महिलाओं के लाभ के लिएं इस विभाग ने वर्ष 2001-02 में केंद्रीय क्षेत्र में एक नई योजना **स्वाधार** शुरू की गई है। यह योजना निम्नलिखित महिलाओं के लिए है: दीन-हीन विधवाएँ, जिनके परिवार वालों ने उन्हें वृंदावन, काशी आदि धार्मिक स्थानों पर बेसहारा छोड़ दिया है; जेल से रिहा की गई महिला कैदी, जिसे परिवार का सहारा नहीं है; प्राकृतिक आपदा की शिकार ऐसी महिलाएँ जो बेघर हैं और उनके पास कोई सामाजिक तथा आर्थिक सहारा नहीं है; वेश्यालयों या अन्य स्थानों से भागी अथवा मुक्त कराई गई महिलाएँ/लड़कियाँ या यौन शोषण की शिकार ऐसी महिलाएँ/लड़कियाँ, जिनके परिवार वालों ने उन्हें वापस लेने से मना कर दिया है अथवा जो किसी अन्य कारणों से वापस अपने परिवार में नहीं लौटना चाहती हैं; आतंकवाद की शिकार महिलाएँ, जिन्हें परिवार का सहारा नहीं है तथा जिनके पास जीने के लिए आर्थिक जरिया नहीं है; मानसिक रूप से विक्षिप्त महिलाएँ, जिन्हें परिवार अथवा रिश्तेदारों से कोई मदद नहीं मिलती आदि।

इस योजना के तहत जो सहायता पैकेज उपलब्ध कराया जाता है, उसमें निम्नलिखित सुविधाएँ शामिल हैं: आवास, खाना-पीना, कपड़े, स्वास्थ्य की देखभाल और परामर्श की सुविधा; शिक्षा, जन-जागरण के जरिए सामाजिक और आर्थिक पुनर्वास के कदम, आचरण संबंधी प्रशिक्षण के जरिए कामकाजी हुनर और व्यक्तित्व का विकास; मुसीबत में फँसी इस प्रकार की महिलाओं के लिए मदद और पुनर्वास की जरूरत होती है। इन्हें अमल में लाने के लिए राज्य सरकारों के समाज कल्याण/महिला और बाल कल्याण विभाग, महिला विकास निगम, स्थानीय शहरी निकाय, प्रतिष्ठित निजी और सार्वजनिक ट्रस्ट अथवा ऐसे स्वयंसेवी संगठनों की मदद ली जा सकती है, जो परियोजना-आधार पर ऐसी महिलाओं के पुनर्वास की जिम्मेदारी अपने ऊपर ले सकें।

महिलाओं और बच्चों के यौन उत्पीड़न के विरुद्ध कार्ययोजना

उच्चतम न्यायालय ने 9 जुलाई 1997 को एक मामले में आदेश दिया, जिसमें अन्य बातों के साथ-साथ वेश्यावृत्ति की समस्या, बाल वेश्यावृत्ति और वेश्याओं की संतानों से संबंधित बातों के गहन अध्ययन के लिए एक समिति गठित करने और उनके उद्धार तथा पुनर्वास के लिए उपयुक्त योजनाएँ बनाने का निर्देश दिया गया था तदनुसार वेश्यावृत्ति, बालिका वेश्याओं और वेश्याओं की संतानों से संबंधित मामलों के लिए समिति गठित की गई, ताकि ऐसी योजनाएँ बनाई जा सकें, जो उच्चतम न्यायालय के निर्देशों के अनुरूप एवं उपयुक्त हों। भारत सरकार ने 1998 में एक परियोजना कार्ययोजना तैयार की थी।

कार्ययोजना में केंद्र सरकार के मंत्रालयों/विभागों, गैर-सरकारी संगठनों, सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्रों और समाज के अन्य वर्गों की गतिविधियों को मार्गदर्शन मिलेगा। कार्ययोजना में शामिल

मुद्दे ये हैं- अवैध व्यापार की रोकथाम, जागृति लाना और सामाजिक संगठन, स्वास्थ्य सेवाएँ, शिक्षा तथा बच्चों की देखभाल, आवास, आश्रयगृहों तथा नागरिक सुविधाओं की व्यवस्था, आर्थिक अधिकार-संपन्नता, कानूनी सुधार, कानून लागू करना, बचाव तथा पुनर्वास, संस्थागत तंत्र और पद्धति। महिलाओं तथा बच्चों के अवैध व्यापार और पेशेवर यौन उत्पीड़न का सामना करने के लिए गठित समिति की रिपोर्ट तथा कार्ययोजना केंद्र सरकार के संबंधित मंत्रालयों/विभागों तथा राज्य सरकारों/केंद्रशासित प्रदेशों को भेज दी गई है, ताकि वे कार्यवाही की मदों को लागू कर सकें।

महिला अधिकारिता वर्ष

राष्ट्र के विकास की मुख्य धारा में महिलाओं का जो उचित स्थान है, उसके बारे में व्यापक स्तर पर लोगों में जागरूकता पैदा करने के उद्देश्य से वर्ष 2001 को 'महिला अधिकारिता वर्ष' के रूप में मनाया गया। इस दौरान एक ऐतिहासिक दस्तावेज **'महिला अधिकारिता के लिए राष्ट्रीय नीति'** पारित किया गया। योजना आयोग के उपाध्यक्ष की अध्यक्षता में गठित कार्य-दल ने महिलाओं के जीवन से संबंधित करीब 22 कानूनों की विस्तृत समीक्षा का काम अपने हाथ में लिया।

राष्ट्रीय महिला आयोग

राष्ट्रीय महिला आयोग का गठन 31 जनवरी 1992 को एक स्वायत्तशासी निकाय के रूप में **राष्ट्रीय महिला आयोग अधिनियम, 1990** के तहत किया गया था। आयोग को महिलाओं के अधिकारों और उनकी उन्नति को सुरक्षा प्रदान करने संबंधी कार्य सौंपे गए हैं। आयोग का मुख्य कार्य महिलाओं को प्रदान किए गए संवैधानिक और कानूनी सुरक्षा अधिकारों से संबंधित सभी मामलों का अध्ययन और उनकी निगरानी करना, वर्तमान कानूनों की समीक्षा करना और जहाँ कहीं भी आवश्यकता हो, वहाँ संशोधन करने का सुझाव देना है। इसे महिलाओं को उनके अधिकारों से वंचित किए जाने के मामलों में शिकायतों को सुनने तथा उन्हें नोटिस में लेने का कार्य भी करना होता है, ताकि बेसहारा और जरूरतमंद महिलाओं को कानूनी अथवा अन्य तरीके की मदद पहुँचाई जा सके।

इसका एक अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य हिरासत में न्याय दिलाना है। महिलाओं के अधिकारों की सुरक्षा के लिए बनाए गए सभी कानूनों को सही ढंग से पूरी तरह अमल में लाने के काम की निगरानी करने का भी आयोग को अधिकार है, ताकि महिलाओं को जीवन के सभी क्षेत्रों में बराबरी का अधिकार मिल सके और वे राष्ट्र के विकास में बराबर की भागीदार बन सकें। आयोग ने विभिन्न कार्यों को अपने हाथ में लिया है, जैसे : कानून और विधायी उपायों की समीक्षा, महिलाओं के साथ हिंसा और उनके कामकाज के स्थानों पर यौन उत्पीड़न से संबंधित मामलों की जांच-पड़ताल, महिलाओं की अधिकारिता, पारिवारिक महिला लोक अदालतों के जरिए महिलाओं को जल्द से जल्द न्याय दिलाना आदि।

राष्ट्रीय महिला कोष

राष्ट्रीय महिला कोष का गठन 31 करोड़ रुपये की पूंजी से 30 मार्च 1993 को किया गया। इसका मुख्य उद्देश्य गरीब महिलाओं, विशेष रूप से अनौपचारिक क्षेत्र की निर्धन महिलाओं, की ऋण संबंधी आवश्यकताओं को पूरा करना है। इसका प्रबंध एक संचालन-मंडल करता है, जिसमें 16 सदस्य होते हैं। महिला और बाल-विकास राज्य मंत्री, कोष के अध्यक्ष होते हैं। राष्ट्रीय महिला कोष ने 30 अप्रैल 2002 तक 110.92 करोड़ रुपये के ऋण मंजूर किए हैं, जिनसे 1,016 गैर-सरकारी संगठनों के माध्यम से 4,23,125 महिलाएँ लाभान्वित हुई हैं।

राष्ट्रीय जन-सहयोग और बाल विकास संस्थान

राष्ट्रीय जन-सहयोग और बाल-विकास संस्थान, नई दिल्ली, महिला और बाल-विकास विभाग के तहत काम करने वाला स्वायत्त संगठन है। संस्थान के प्रमुख उद्देश्यों में सामाजिक विकास में स्वैच्छिक कार्यों को बढ़ावा देना, बाल-विकास गतिविधियों की व्यापक समीक्षा करना और राष्ट्रीय बाल नीति के अनुसार कार्यक्रमों का विकास करना तथा इन्हें प्रोत्साहन देना, सामाजिक विकास में सरकारी और स्वैच्छिक प्रयासों में तालमेल के उपाय करना और सरकारी तथा स्वैच्छिक प्रयासों से बच्चों से संबंधित कार्यक्रमों के लिए समान बुनियादी ढाँचा और दृष्टिकोण तैयार करना।

इन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए संस्थान अनुसंधान और विकास अध्ययन कराता है; प्रशिक्षण कार्यक्रम, संगोष्ठियाँ, कार्यशालाएँ और सम्मेलन आयोजित करता है; और जन-सहयोग और बाल-विकास के क्षेत्र में सूचना एवं प्रलेखन सेवाएँ प्रदान करता है। संस्थान समन्वित बाल-विकास सेवा कार्यक्रमों को प्रशिक्षण देने वाला सर्वोच्च संगठन है। संस्थान के बैंगलोर, गुवाहाटी और लखनऊ में तीन क्षेत्रीय केंद्र भी हैं। यह बाल विकास और स्वयंसेवी कार्रवाई से संबंधित नीतियों और कार्यक्रमों को लागू करने और प्रोत्साहन देने के लिए सरकार और स्वयंसेवी संस्थानों को तकनीकी सलाह प्रदान करता है। इसके अतिरिक्त, यह क्षेत्रीय और अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं, अनुसंधान संस्थानों, विश्वविद्यालयों और तकनीकी निकायों से भी सहयोग करता है। इस संस्थान के बैंगलोर, गुवाहाटी, इंदौर और लखनऊ में चार क्षेत्रीय केंद्र हैं।

केंद्रीय समाज कल्याण बोर्ड

देश में समाज कल्याण संबंधी गतिविधियों को बढ़ावा देने तथा महिलाओं, बच्चों तथा विकलांगों के कल्याण कार्यक्रमों को स्वयंसेवी संगठनों के माध्यम से लागू करने के लिए 1953 में केंद्रीय समाज कल्याण बोर्ड गठित किया गया था। बोर्ड की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि स्वतंत्र भारत में यह पहला संगठन है, जो महिलाओं और बच्चों के विकास कार्यक्रमों को लागू करने में जन-सहयोग प्राप्त करने के लिए गैर-सरकारी संगठनों की मदद ले रहा है। सन् 1954 में राज्यों और केंद्रशासित प्रदेशों में राज्य समाज कल्याण बोर्ड गठित किए गए। बोर्ड द्वारा लागू किए गए कार्यक्रमों में जरूरतमंद/बेसहारा महिलाओं के सामाजिक-आर्थिक कार्यक्रम, महिलाओं और बालिकाओं के लिए शिक्षा के सघन पाठ्यक्रम और व्यावसायिक पारिवारिक परामर्श केंद्र/स्वैच्छिक कार्रवाई ब्यूरो, बच्चों के लिए अवकाश शिविर, सीमावर्ती क्षेत्रों में कल्याण प्रसार

योजनाएँ और बालवाड़ियाँ, कामकाजी महिलाओं के लिए शिशु-सदन और होस्टल की सुविधा उपलब्ध । कराना आदि शामिल है।

खाद्य एवं पोषाहार बोर्ड

राष्ट्रीय पोषाहार नीति के अनुसार 1 अप्रैल 1993 को खाद्य और पोषाहार बोर्ड, महिला एवं बाल-विकास विभाग को स्थानांतरित कर दिया गया। खाद्य एवं पोषाहार बोर्ड के दिल्ली, मुंबई, कोलकाता और चेन्नई में चार क्षेत्रीय कार्यालय हैं और 29 राज्यों/केंद्रशासित प्रदेशों में 43 सामुदायिक खाद्य एवं पोषाहार विस्तार इकाइयाँ हैं। खाद्य एवं पोषाहार बोर्ड की गतिविधियों के महत्त्वपूर्ण क्षेत्र हैं- पोषाहार शिक्षा और स्थिति निर्धारण, फलों व सब्जियों के घरेलू संरक्षण का प्रशिक्षण, समन्वित बाल-विकास कार्यक्रम के तहत पूरक आहार की देखरेख, शैक्षिक और प्रशिक्षण सामग्री का विकास तथा वितरण, जन-जागृति अभियान, पोषक खाद्यों का विकास व प्रचार, खाद्यों का पुष्टीकरण, खाद्य विश्लेषण और मानकीकरण, अनुसंधान और विकास तथा राष्ट्रीय खाद्य नीति का अनुवर्तन।

सूचना और जन-शिक्षा

महिला और बाल-विकास से संबंधित सभी मुद्दों के बारे में सूचनाओं को संचार के सभी उपलब्ध साधनों के माध्यम से लक्षित समूहों और आम जनता तक पहुँचाने के गंभीर प्रयास किये जा रहे हैं। सामाजिक विकास के लक्ष्य प्राप्त करने के लिए लोगों की प्रवृत्ति बदलनी आवश्यक हैं। इसके लिए उन्हें सूचित, शिक्षित और प्रेरित करने के लिए बाह्‌य प्रचार गतिविधियाँ चलाई जा रही हैं। इसके विशेष उद्‌देश्य में बाल मजदूरी, बालिका, बच्चों के पूर्ण विकास, महिलाओं को अधिकार-संपन्न बनाने, पोषाहार, महिलाओं को बराबरी का दर्जा दिलाने और बाल-विवाह, दहेज, बालिकाओं का यौन उत्पीड़न और महिलाओं और बच्चों के शोषण जैसी सामाजिक बुराइयों पर जनमत तैयार करना है।

(साभार : भारत 2003, भारत सरकार)

मार्च और अप्रैल 2002 में साम्प्रदायिक हिंसा के दौरान गुजरात में, विशेषकर अल्पसंख्यक समुदाय की निर्दोष औरतों को हिंसा झेलने के लिये याद किया जायेगा। एक अनुमान के अनुसार 2000 मौत के शिकार हुए लोगों में बहुत सी औरतें थीं। इनमें से अनगिनत के साथ बलात्कार किया गया और फिर जलाकर मार दिया गया। जो जीवित बच गयीं थीं उन्हें बलात्कार की रिपोर्ट करने में या तो भय या फिर समाज का डर था। इससे उजागर होता है कि भारत में सर्वाधिक क्रूर हिंसा की शिकार महिलायें ही होती हैं। भारत में औरतों को घर के बाहर भी लगातार हिंसा का सामना पड़ता है जैसे- बलात्कार की शिकार, सम्प्रदाय और जाति संबंधी एवं साम्प्रदायिक हिंसा एवं आर्थिक यौन शोषण। लिंग और समाज के अध्ययन में **इण्डिया बुक वर्ष 2003, इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका** और **द हिन्दू** के संयुक्त उपक्रम की रिपोर्ट बताती है कि प्रत्येक 26 मिनट पर एक औरत सतायी जाती है, प्रत्येक 34 मिनट में एक औरत का बलात्कार होता है,

प्रत्येक 42 मिनट में यौन-शोषण की एक घटना होती है, प्रत्येक 43 मिनट में एक औरत का अपहरण होता है और प्रत्येक 93 मिनट में एक औरत दहेज के लिये जलाकर मार दी जाती है। भारतीय समाज में बढ़ती साक्षरता और अन्य परिवर्तनों के बावजूद भी नर बालक की वरीयता आज भी अपरिवर्तित है। विस्तृत अध्ययनों के आधार पर कल्पना शर्मा (2003) की रिपोर्ट यह बताती है कि एक गरीब महिला द्वारा पारिवारिक आय में घंटों श्रम के रूप में किया गया योगदान पुरुषों की तुलना में कहीं ज्यादा है। शारीरिक श्रम का बोझ औरतों के स्वास्थ्य पर सीधा प्रभाव डालता है। पारम्परिक रूप में महिलाएँ सबसे बाद में खाती हैं और सबसे कम खाती हैं। एक अनुमान के अनुसार 50 से 70% ग्रामीण महिलाओं में खून की कमी पायी जाती है। महिला साक्षरता की दर अब लगभग 45.4% है और शिक्षा के बारे में आँकड़े सुधार की ओर इशारा करते हैं फिर भी देश के अन्दर इनमें काफी विविधता है। हालाँकि प्रौढ़ शिक्षा और बालिकाओं के विद्यालय में पंजीकरण दोनों के क्रमिक प्रयास ने अपना प्रभाव दिखाना शुरू कर दिया है। यह आशा की जाती है कि आने वाले समय में जितनी ज्यादा से ज्यादा महिलाएँ शिक्षित होंगी यह प्रजनन की दर को भी प्रभावित करेगा। अर्थव्यवस्था में परिवर्तनों ने महिलाओं पर प्रतिकूल प्रभावं डाला है। कारखानों के बंद होने से पुरुष बेरोजगार हो जाते हैं जिसके परिणामस्वरूप, ये पुरुष वो काम करने लगे जो औरतें करती थीं। तब औरतों के पास कोई विकल्प नहीं रह जाता है और वे जीवन निर्वाह करने के लिये कम प्रतिदान पर भी काम या व्यापार करती हैं। बड़ी विकास परियोजनाओं जैसे बाँध आदि के कारण विस्थापन से सैकड़ों महिलाएँ भी प्रभावित हुई हैं। देह व्यापार को रोकने के लिए कानून और प्रयासों के बावजूद हजारों युवा लड़कियाँ बेची जाती हैं और वेश्यावृत्ति के लिये मजबूर की जाती हैं। यह और भी दुःखद है कि वे जवान लड़कियाँ एच० आई० वी० एड्स के सम्पर्क में आकर मर रही हैं जो कि देश में भयावह दर के साथ फैल रहा है।

पिछले कुछ वर्षों में पंचायती राज संस्थाओं में महिलाओं की बढ़ती भागीदारी सबसे सकारात्मक विकास है। यद्यपि इनमें से बहुत सी महिलाएँ पुरुष राजनीतिज्ञों की मात्र प्रतिनिधि भर हैं। किंतु महिलाएँ अपने आप भी तेजी से आगे आ रही हैं। यह घटनाएँ विशेषकर उन राज्यों मे हो रही हैं जहाँ दो या अधिक बार पंचायतों के लिये चुनाव हो चुके हैं या जहाँ गैर सरकारी संस्थाएँ, स्वास्थ्य, साक्षरता या मानवाधिकारों के बारे में, औरतों को उनके अधिकारों के बारे में शिक्षित करने का काम कर रही हैं। बहुत से अध्ययनों से निश्चित हो गया है कि ऐसी औरतें पुरुष प्रतिभागी की अपेक्षा विकास में अधिक सकारात्मक सहयोग दे रही हैं। कुल मिलाकर, यद्यपि कुछ सफलताएँ मिली हैं और सरकारी एवं गैर सरकारी प्रयासों के कुछ परिणाम मिले हैं, लेकिन भारतीय समाज में महिलाओं के प्रति मूलभूत सोच में अधिक बदलाव नहीं आया है। लेकिन भूमंडलीकरण को निर्बाध रूप से बढ़ने दिया गया तो ये महिलाओं के लिये प्रतिगामी सिद्ध हो सकता है।

❑

खण्ड-सात

जनसंख्या गतिकी
(Population Dynamics)

अध्याय 20

भारतीय जनसंख्या का प्रजातीय/नृजातीय तथा भाषाई संघटन

(Racial/Ethnic and Linguistic Composition of Indian Population)

भारत की जनसंख्या में प्रजातीय तत्वों की अलग-अलग पहचान व उनका सही-सही वर्णन प्रस्तुत करना बड़ा जटिल काम है। अनेक कारणवश भारत सदा से बाहर से आने वालों के लिए आकर्षण का केन्द्र रहा है। आने वालों में कम ही वापस गये। इस प्रकार समय-समय पर विभिन्न प्रजातीय तत्त्वों के लोगों का आगमन होता रहा और यहाँ के स्थानीय प्रजातीय समूह व संस्कृतियाँ प्रभावित होती गईं और एक दिलचस्प तथा सुन्दर मिश्रण होता गया। दुर्भाग्यवश पुरातात्विक साक्ष्यों के नाम पर हमें अधिकतर पाषाण उपकरण ही मिलते रहे हैं और इस उपमहाद्वीप से जीवाश्मों के अवशेष (Fossilremains) नहीं के बराबर मिले हैं जिनमें यहाँ का प्रजातीय इतिहास काफी हद तक मालूम हो सकता था। यह तो प्रागैतिहासिक काल की बात थी। ऐतिहासिक युगों के कंकाल अवशेष भी इतने कम हैं कि उनके आधार पर कोई विश्वसनीय परिणाम नहीं निकाले जा सकते। फिर भी पिछले सौ वर्षों में समय-समय पर उत्सुक व जिज्ञासु विद्वान् इस दिशा में कुछ न कुछ करते ही रहे हैं।

रिज़्ले वह विद्वान् थे जिन्होंने सबसे पहले वैज्ञानिक आधार पर भारत का प्रजातीय वर्गीकरण करने का प्रयास किया। भारतीय सिविल सर्विस के अधिकारी रिज़्ले ने 1890 में शरीर मापन प्रणालियों (anthropometric techniques) के आधार पर यह अध्ययन किया। तत्कालीन भारत सरकार ने उन्हें 1901 में होने वाली जनगणना का आयुक्त नियुक्त किया। इस जनगणना की रिपोर्ट तथा 1915 में प्रकाशित उनकी मार्गदर्शक पुस्तक **'दी पीपुल्स ऑफ इंडिया'** में उन्होंने अपने निष्कर्षों को प्रस्तुत किया है। उन्होंने भारतीय जनसंख्या को सात प्रजातीय वर्गों में विभाजित किया जो इस प्रकार हैं:

(i) **तुर्क-ईरानी टाईप** : इसमें उन्होंने बलूचिस्तान और सीमांत प्रान्त के लोगों को रखा।

(ii) **इण्डो-आर्यन टाईप** : इसमें उन्होंने पंजाबियों, राजपूतों, जाटों व कश्मीरी खत्रियों को शामिल किया।

(iii) **सीथो-द्रविड़ टाईप** : इस वर्ग के मुख्य उदाहरण मराठा ब्राह्मण व कूर्गी लोग हैं।

(iv) **आर्यो-द्रविड़ टाईप :** इसके मुख्य उदाहरण उत्तर प्रदेश, राजस्थान व बिहार के लोग हैं।

(v) **मंगोलो-द्रविड़ टाईप :** बंगाली ब्राह्मण व कायस्थ को इस वर्ग का प्रतिनिधि माना गया।

(vi) **मंगोलायड टाईप :** हिमालय क्षेत्र में असम, नेपाल व बर्मा के लोग इस वर्ग में सम्मिलित किये गये।

(vii) **द्रविड़ टाईप :** इस वर्ग के लोगों में वर्तमान तमिलनाडु, आन्ध्रप्रदेश, मध्य प्रदेश के दक्षिणी क्षेत्र व छोटा नागपुर के रहने वाले शामिल किये गये।

रिज़्ले के वर्गीकरण की सबसे बड़ी कमी यह है कि उनकी बहुत सी बातें पूर्वानुमानों और मनमाने निष्कर्षों पर आधारित हैं जिनका वास्तविकता से कोई संबंध नहीं है।

रिज़्ले के बाद इस दिशा में किया गया दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य हैडन का माना जा सकता है। इन्होंने समूचे भारतवर्ष को तीन मुख्य भौगोलिक क्षेत्रों में बाँटा जिनमें, उनके अनुसार, भारतीय जनसंख्या के सभी प्रजातीय समूह शामिल हैं। ये तीन भौगोलिक क्षेत्र इस प्रकार हैं-

(i) **हिमालयन**

(ii) **हिन्दोस्तान का उत्तरी मैदान**

(iii) **दक्खिन (डकेन)**

हैडन का प्रजातीय वर्गीकरण शारीरिक लक्षणों, रीतिरिवाजों, भाषा और प्रचलित लोक कथाओं पर आधारित है। इन 'साक्ष्यों' की सहायता से उन्होंने प्रजातीय तत्त्वों का विश्लेषण किया है। हैडन के वर्गीकरण का अब केवल ऐतिहासिक महत्त्व ही रह गया है।

बी0 एस0 गुहा ने इन सबसे अलग वैज्ञानिक आधारों का उपयोग करते हुए भारत का प्रजातीय वर्गीकरण प्रस्तुत किया। यह वर्गीकरण 1931 की जनगणना में किये गये मानवमितीय सर्वेक्षण (anthropometric surveys) पर आधारित है। यह पहला अवसर था जबकि विकसित मानवमितीय प्रविधियों के आधार पर प्रजातीय अध्ययन का कार्य किया गया। इस सर्वेक्षण के वैज्ञानिक पद्धति पर आधारित होने के कारण अब तक का यह सबसे प्रमाणित व मान्य वर्गीकरण माना जाता है और भारतीय जनसंख्या के अध्ययन में इसी का उपयोग किया जाता है

(1) **निग्रिटो**

(2) **प्रोटो-आस्ट्रेलायड**

(3) **मंगोलायड**

(अ) **पैलियो-मगोलायड**

(i) लम्बे सिर वाले

(ii) चौड़े सिर वाले

(4) **मेडीटिरेनियन**

(अ) पैलियो-मेडीटिरेनियन

(ब) मेडीटिरेनियन

(स) ओरियन्टल टाइप

(5) **पश्चिमी ब्रेकिसिफ़ाल**

(अ) अल्पीनायड

(ब) डिनारिक

(स) आर्मीनायड

(6) **नार्डिक**

गुहा के सर्वेक्षण के परिणामों में उनका सबसे महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष है कि भारत में चौड़े सिर वाला (पृथु कपाल) प्रजातीय तत्व अधिक अंशों में पाया जाता है। गुहा से पहले सामान्य धारणा ऐसी नहीं थी। लगभग सभी विद्वानों ने गुहा के निष्कर्षों को अधिकांशतः सहमति प्रदान की है। उनके इस अध्ययन के बाद कोई अन्य ऐसा अध्ययन इतने वैज्ञानिक आधार पर सम्पूर्ण भारत के स्तर पर नहीं हुआ। इसलिये यह निष्कर्ष आमतौर पर अभी भी मान्य है। जिन दो निष्कर्षों पर गुहा की सबसे अधिक आलोचना हुई है वे हैं: निग्रिटो तत्त्व का महत्त्व और उनकी धारणा कि भारत के सभी प्रजातीय समूहों की उत्पत्ति विदेशी है।

भारतीय जनसंख्या में विद्यमान प्रजातीय तत्त्वों का गहन विश्लेषण करने पर तीन सबसे महत्वपूर्ण व प्रमुख प्रजातीय वर्गों की चर्चा की जा सकती है। ये हैं: नीग्रिटो; प्रोटो-आस्ट्रलायड तथा मंगोलायड। आमतौर पर यह विचार है कि मंगोलायड तत्त्व के लोग सबसे बाद में आये।

वस्तुतः मतभेद प्रोटो-आस्ट्रेलायड व नीग्रिटो के बीच में है। गुहा और उनसे पहले क्वाटरफेगस ने 1877 में यह मत व्यक्त किया था कि नीग्रिटो प्रजातीय तत्त्व के लोग भारत में प्राचीनतम निवासी हैं। उन्होंने कहा कि एक निमग्न नीग्रिटो प्रजाति सबसे पहले शायद मलेशिया की ओर से भारत में आई थी; श्रीलंका के वेड्डा तथा दक्षिण भारत के कदार, इरूला, कुरुम्बा आदि जैसे आदिम समूहों में नीग्रिटो प्रजातीय तत्त्व की विद्यमानता नज़र आती है।

मोहनजोदड़ों से मिले कंकालों में प्रोटो-आस्ट्रेलायड जैसी विशेषतायें पाई गई हैं। बहुत से विद्वानों का यह मत है कि समस्त भारत में आस्ट्रेलायड या प्रोटो-आस्ट्रेलायड के लक्षण विद्यमान हैं। यदि भारतीय जनसंख्या में कभी भी नीग्रिटो प्रजाति का सम्पूर्ण समावेश हुआ होता तो उत्तरी भारत के लोगों में भी पर्याप्त मात्रा में नीग्रिटो विशेषतायें नज़र आनी चाहिये थीं। रक्त संबंधी अध्ययनों (serological studies) से पता चलता है कि जहाँ तक उनके रक्त समूहों का प्रश्न

है, भारत की आदिम जनजातियों में नीग्रो विशेषतायें न के बराबर पायी जाती हैं। भारत की आदिम जनजातियों में बी रक्त समूह की प्रधानता बिल्कुल नहीं है जैसा कि नीग्रो में देखने को मिलता है। आस्ट्रेलायड समूहों में ए रक्त समूह की प्रधानता पाई जाती है; भारत की आदिम जनजातियों में ए रक्त समूह बहुत पाया जाता है। एक दिलचस्प बात यह है कि भील तथा मुण्डा जैसी जनजातियों में नीग्रिटो की तरह बी रक्त समूह तो बहुत नज़र आता है लेकिन दूसरे शारीरिक लक्षणों में ये नीग्रिटो से कोई विशेष मेल नहीं खाते। केवल सीरमीय तथ्यों के आधार पर कोई पक्का निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता, वह भी ऐसी परिस्थिति में जबकि सीरमीय अध्ययन भी बहुत नहीं हुए हैं। इस दिशा में अभी काफी शोध की आवश्यकता है। वर्तमान युग के आधार पर केवल यही कहा जा सकता है कि शायद भारत के प्राचीनतम निवासी प्रोटो-आस्ट्रेलायड ही थे जिनमें बीच में कभी अफ्रीकी या नीग्रिटो रक्त का मिश्रण भी भारत के किन्हीं भागों में हुआ था। अपर्याप्त ज्ञान के कारण इस निष्कर्ष को भी अन्तिम नहीं माना जाना चाहिए। फिर भी जब तक कोई दूसरे साक्ष्य अपने को सही साबित न कर लें, तब तक यह ही मान्य रहेगा।

भारत में भाषाई तत्त्वों का वितरण

सारे विश्व में भारत अपनी आश्चर्यजनक भाषाई विभिन्नता के कारण भाषाविदों के लिये एक अलग व महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। भारत में रहने वाले इतनी भाषाएँ व बोलियाँ इसलिये बोलते हैं कि यह उपमहाद्वीप एक लम्बे समय से विविध प्रजातीय समूहों की मंजिल रहा है। कोई भी भाषाई समूह अपने भीतर बहुत सी सामाजिक महत्त्व की विशेषतायें समेटे रहता है और इनमें एक प्रमुख विशेषता है- किसी एक भाषा या बोली बोलने वालों के बीच सामाजिक एकता की भावना। समान भाषा भावनात्मक एकता को भी प्रोत्साहित करती है। अलग-अलग भाषाएँ व बोलियाँ मुख्तयः विभिन्न जनसमुदायों के भौगोलिक अलगाव की परिस्थितियों में रहने के कारण अस्तित्व में आती हैं और विकसित होती हैं। इस प्रकार क्षेत्रीय पहचान को समझने में भी भाषा व बोली का बड़ा महत्त्व है।

भारत की भाषाई विविधता का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि यहाँ लगभग दो सौ स्वतंत्र भाषायें बोली जाती हैं। इनमें से करीब आधी भाषाओं के बोलने वाले दस हजार से भी कम लोग हैं और केवल 23 भाषाओं के बोलने वाले भारत की जनसंख्या का लगभग 97 प्रतिशत हैं। इनमें से 16 भाषाएँ (अंग्रेजी को शामिल करके) स्वतंत्र भारत के संविधान की आठवीं अनुसूची में रखी गई हैं।

भारत में बोली जाने वाली भाषाओं को चार भाषा परिवारों में बाँटा जा सकता है-

(i) **आस्ट्रिक** (निषद) परिवार

(ii) **द्रावीडियन** (द्रविण) परिवार

(iii) **साइनो-तिब्बतन** (किरात) परिवार

(iv) **इंडो-योरोपियन** (आर्य) परिवार

इन चारों भाषा परिवारों के अन्तर्गत आने वाली भाषाओं के बोलने वालों की संख्या में बड़ी विविधता है। आर्य भाषायें बोलने वाले 73%, द्रविड़ भाषाओं वाले 20%, आस्ट्रि्‌ वाले 1.8% और तिब्बती-चीनी भाषा भाषी 0.85% के क़रीब हैं। आस्ट्रिक भाषा परिवार में मुख्यतया मध्य भारत की जनजातीय पट्टी की भाषायें व बोलियाँ आती हैं। संथाल, मुण्डा, हो, कोड़ाकु आदि भी इसी भाषा परिवार में आते हैं। तिब्बती-चीनी भाषाई परिवार की भाषाओं व बोलियों वाले आमतौर पर उत्तरी-पूर्वी भारत की जनजातीय जनसंख्या है। द्रविड़ भाषाओं में मुख्य हैं तेलुगु, तमिल, कन्नड़, मलयालम, गोंडी आदि। सबसे अधिक संख्या में बोली जाने वाली भाषायें व बोलियाँ इण्डो-आर्य भाषा-परिवार की हैं। इसमें एक ओर पंजाबी व सिंधी भाषायें हैं तो दूसरी ओर मराठी व कोंकणी, राजस्थानी, गुजराती, मारवाड़ी, मेवाती, हिन्दी-उर्दू, छत्तीसगढ़ी, बंगाली, मैथिली, कुमाऊँनी व गढ़वाली जैसी भाषायें व बोलियाँ शामिल हैं।

इतनी भाषाओं व बोलियों की उपस्थिति से यह निष्कर्ष निकालना भ्रामक हो सकता है कि यह महान् विविधता राष्ट्रीय एकता के लिए विघटनकारी होकर खतरा पैदा करती है। इस भाषाई विविधता में एक उभयनिष्ठ व सामान्य शब्दावली विकास की दिशा में बढ़ती रही है। संस्कृत, फारसी (परशियन) तथा अंग्रेजी भाषायें देश में समय-समय पर राज्य व शासकीय भाषायें रही हैं। संस्कृत ने एक ओर इण्डो-आर्य भाषा परिवार की भाषाओं के बीच डोर का काम किया है तो दूसरी ओर इण्डो-आर्य भाषा परिवार तथा द्रविड़ भाषा परिवार की भाषाओं के बीच पुल का भी काम किया है। भारतीय इतिहास के मध्यकाल में फ़ारसी ने बहुत सी भारतीय भाषाओं को प्रभावित किया जिनमें मराठी, कन्नड़, तेलुगु, तमिल तथा बंगाली प्रमुख हैं। अंग्रेजी की भूमिका आधुनिक काल में महत्त्वपूर्ण रही है। पिछले कुछ दशकों में हिन्दी-उर्दू ने देश की भाषाई एकता में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। शायद इसीलिये महात्मा गांधी **'हिन्दोस्तानी'** भाषा को प्रोत्साहित व विकसित करने के पक्षधर थे जिसमें सभी भाषाओं मुख्यतः हिन्दी व उर्दू के शब्दों का जोर हो। इस सिलसिले में हमें हिन्दी-उर्दू (हिन्दोस्तानी) भाषा की फिल्मों की भूमिका व महत्त्व को नहीं भूलना चाहिए। बंबई का तथाकथित मुख्यधारा सिनेमा (mainstream cinema) गुणात्मक तौर पर बड़ा प्रशंसनीय न सही लेकिन देश की भाषाई एकता व एक अखिल भारतीय शब्दावली के विकास में उसका योगदान बहुत महत्त्वपूर्ण है। देश के कोने-कोने में हिन्दी-उर्दू फिल्मों की लोकप्रियता इस बात का प्रमाण है कि उसमें बोले जाने वाले संवाद व गीतों की भाषा कुछ न कुछ सबकी समझ में आ रही है और लोगों का मनोरंजन हो रहा है। कुछ समय पहले तक अपेक्षाकृत भौगोलिक अलगाव में रहने वाली जनजातियों की बोलियों पर भी पड़ोसी समुदायों की बोलियों का प्रभाव यह बताता है कि देश में भाषाई एकता की ओर सफर तेज़ी से जारी है।

❑

अध्याय 21

जनसांख्यिकीय खाका, जनसंख्या नीति व उसका मूल्यांकन

(Demographic Profile, Population Policy and it's Evaluation)

भारत का जनसांख्यिकीय परिद्रष्य

जनसंख्या की दृष्टि से भारत चीन के बाद विश्व का दूसरा सबसे बड़ा देश है। जनसंख्या सम्बन्धी सुनिश्चित नीति अपनाने वाले विश्व के प्रथम देशों में हालाँकि भारत भी था फिर भी इस मामले में उसके अब तक के समस्त प्रयासों को असफल ही कहा जायेगा। 1991 में भारत की आबादी विश्व के विकासशील देशों की कुल आबादी का 19.1 प्रतिशत थी। आज वह सम्पूर्ण विश्व की आबादी के लगभग 17 प्रतिशत तक पहुँच चुकी है जबकि उसका भू-क्षेत्र विश्व के कुल भू-क्षेत्र का मात्र 2.5 प्रतिशत है। जनसंख्या सम्बन्धी किसी भी प्रकीर्ण संग्रह-ग्रंथ में जनसंख्या का वर्धन सबसे महत्त्वपूर्ण होता है। गत वर्षों में भारत की जनसंख्या में हुई वृद्धि की स्पष्ट जानकारी हमें निम्नलिखित तालिका से मिलती है:

जनगणना का वर्ष	आबादी (करोड़ में)	औसत वार्षिक वृद्धिदर (प्रतिशत में)
1901	23.83	0.30
1911	25.20	0.50
1921	25.12	0.03
1931	27.89	1.06
1941	31.85	1.34
1951	36.10	1.26
1961	43.91	1.98
1971	54.82	2.20
1981	68.52	2.25
1991	84.63	2.14
2001	102.70	1.93

देश में पहली औपचारिक जनगणना 1881 में हुई थी। उसके बाद से अब तक प्रत्येक दस वर्ष बाद जनगणना हुई है। जनगणना के कार्य में हर बार उच्चकोटि की निपुणता और भारी मात्रा में जनशक्ति का उपयोग होता है। देश की जनसंख्या का ख़ाका प्रस्तुत करना देश के जनगणना कमिश्नर और रजिस्ट्रार जनरल का दायित्व है। 1991 की जनगणना के अनुसार उस अवधि में भारत की कुल आबादी 85 करोड़ थी। यह 1881 की जनगणना की तुलना में 24 प्रतिशत वृद्धि की सूचक है। जनसंख्या के विशेषज्ञों के अनुसार आबादी में इस तीव्र वृद्धि का कारण मृत्यु-दर में हुई तीव्र गिरावट है। 1981 की जनगणना के अनुसार देश की प्रत्येक हजार की आबादी पर जन्म-दर 33.3 और मृत्यु-दर 12.5 थी जबकि इसी अवधि में बाद में आँकड़े प्रति हजार की आबादी पर 30.0 और 10.0 है। इस प्रकार जन्म-दर और मृत्यु दर दोनों में गिरावट आई है। किन्तु पिछले वर्षों में जितने विशाल पैमाने पर आबादी बढ़ी है उसे देखते हुए यह गिरावट पर्याप्त नहीं है। नीचे दी गयी तालिका जन्म और मृत्यु की दरों पर प्रकाश डालने के साथ ही देश की आबादी की समस्या को समझने में हमारी सहायता भी करती है:

वर्ष	प्रति 1000 व्यक्तियों में जन्म दर	प्रति 1000 व्यक्तियों में मृत्यु दर
1901	-	-
1911	49.2	42.6
1921	48.1	47.2
1931	46.4	36.6
1941	45.2	31.2
1951	39.91	27.4
1961	40.9	22.8
1971	41.1	18.9
1981	33.3	12.5
1991	30.0	10.0

भारत की आबादी की सघनता पर विचार करते समय हमारे सामने कई महत्त्वपूर्ण बातें आती हैं। आबादी की सघनता का तात्पर्य प्रति वर्ग किलोमीटर क्षेत्र में रहने वाली जनसंख्या से है। 1947 में देश में विभाजन के फलस्वरूप हमारे यहाँ आबादी की सघनता 1901 के 77 व्यक्ति प्रति वर्ग किलोमीटर से बढ़कर 1991 में 267 व्यक्ति प्रति वर्ग किलोमीटर हो गयी। इस प्रकार आबादी की सघनता में 3.5 गुणा वृद्धि हुई। देश में हुई प्रत्येक जनगणना के बाद आबादी में जो सघनता आई है उसे निम्नलिखित तालिका में दर्शाया गया है:-

जनगणना का वर्ष	प्रतिवर्ग किलोमीटर क्षेत्र में जनसंख्या घनत्व
1901	77
1911	82
1921	81
1931	90
1941	103
1951	117
1961	142
1971	177
1981	216
1991	267
2001	324

ऊपर दी गयी तालिका से स्पष्ट है कि वृद्धि की दर बाद के दशकों में तीव्र रही है। फिर भी, अनेक तत्त्वों के आधार पर वह वृद्धि-दर अलग-अलग राज्यों में अलग-अलग हुई है। (1) सबसे कम सघनता अरुणाचल प्रदेश में है जहाँ एक वर्ग किलोमीटर क्षेत्र में केवल 10 व्यक्तियों का अनुपात है। आबादी की कम सघनता वाले अन्य राज्य हैं- मिजोरम, अण्डमान व निकोबार द्वीप समूह, सिक्किम, जम्मू-कश्मीर, मेघालय, नागालैण्ड, मणिपुर और हिमाचल प्रदेश। असम और त्रिपुरा को छोड़कर सभी पूर्वोत्तर राज्यों में आबादी की सघनता कम है। वही हाल हिमाचल प्रदेश और जम्मू-कश्मीर जैसे पहाड़ी राज्यों का है। (2) दिल्ली, चण्डीगढ़ और पाण्डिचेरी में आबादी की सघनता सबसे ज्यादा है। (3) जिन स्थानों में आबादी की सघनता राष्ट्रीय औसत से तीन गुणा अधिक है वे हैं दमन और दीव, जहाँ दो गुणा या उससे ज्यादा है वे हैं, केरल और पश्चिमी बंगाल (4) जिन राज्यों में आबादी की सघनता राष्ट्रीय औसत से ऊपर है वे हैं- असम, बिहार, गोआ, हरियाणा, पंजाब, तमिलनाडु, उत्तर प्रदेश और दादरा नगर हवेली। (5) राष्ट्रीय औसत से कम सघनता वाले राज्य हैं- आन्ध्र प्रदेश, गुजरात, कर्नाटक, महाराष्ट्र और त्रिपुरा।

भारत में स्त्री-पुरुषों का परस्पर अनुपात (लैंगिक अनुपात) बहस और चर्चा का विषय रहा है। यह अनुपात एक लम्बे समय से पुरुषों के पक्ष में है। 1901 में पुरुषों का अनुपात 1029 था जो बढ़कर 2001 में 1067 हो गया। इसका अर्थ है 1901 में 1000 व्यक्तियों में 30 स्त्रियाँ कम थीं। अब 2001 की जनसंख्या के अनुसार एक हजार व्यक्तियों में 67 स्त्रियाँ कम हैं। इस स्थिति के लिए अनेक कारण बताये जा सकते हैं। जैसे, शैशव में लड़कियों की मृत्यु दर में अधिकता, इसके बाद हमारे समाज में लड़कियों के प्रति उपेक्षा और उदासीनता बरती जाती

है जो अक्सर उनकी मौत का कारण बनती है, फिर बच्चे जनते समय भी अक्सर स्त्रियों की मृत्यु हो जाती है, लड़की पैदा होने पर कहीं-कहीं उनकी हत्या भी कर दी जाती है और उनकी भ्रूण-हत्या की बातें भी सामने आई हैं। इन सबके अलावा कभी-कभी माता-पिता लड़की के जन्म की सूचना भी दर्ज नहीं कराते।

जनगणना का वर्ष	लैंगिक अनुपात (प्रति हजार स्त्रियों पर पुरुष)
1951	1057
1961	1063
1971	1075
1981	1069
1991	1076
2001	1067

स्त्री-पुरुषों की संख्या में पायी जाने वाली असमानता से अंतर्ग्रस्त समस्याओं में जिस तथ्य की सबसे कम चर्चा या व्याख्या की गयी है वह स्त्रियों के विरुद्ध किये जाने वाले भेदभाव और शैशव में होने वाली मृत्यु की दरों में होने वाली उत्तरोत्तर कमी से सम्बन्धित है। एक सम्भावित कारण यह भी है कि बहुत सी दम्पतियों जिनके एक दो लड़के हो चुकते हैं, आगे लड़कियों का पैदा होना पसन्द न होने के कारण संतान पैदा करना बन्द कर सकते हैं अर्थात् विभिन्न तरीकों से परिवार नियोजन कर लेते हैं। एकमात्र राज्य केरल ऐसा है जहाँ की आबादी में स्त्रियों का अनुपात अधिक है। ऐसा इसलिए भी हो सकता है कि वहाँ के पुरुष बड़ी संख्या में रोजगार की तलाश में राज्य के बाहर चले जाते हैं।

आबादी से जुड़ा दूसरा महत्त्वपूर्ण विषय साक्षरता की दर है। "पोस्टकार्ड लिख और पढ़ सकने वाली" साक्षरता की परिभाषा के अनुरूप भारत में 2001 की जनगणना के अनुसार 65.38 प्रतिशत साक्षरता है। पुरुषों में साक्षरता की दर 75.86 प्रतिशत है जबकि स्त्रियों में यह केवल 54.16 प्रतिशत है। स्त्री-पुरुषों के बीच साक्षरता सम्बन्धी यह खाई बहुत ही स्पष्ट है। यह देश के आर्थिक रूप से पिछड़ेपन का कारण भी है। यह सही है कि आजादी के बाद देश में साक्षरता की दर बढ़ी है किन्तु यह भी एक सत्य है कि इस अवधि में निरक्षरों की संख्या में भी वृद्धि हुई है। केरल देश का पहला राज्य है जहाँ लगभग शत-प्रतिशत लोग साक्षर हैं। किन्तु सभी साक्षर व्यक्ति स्कूलों के जरिये शिक्षा पाये हुए नहीं होते। हिन्दी भाषी राज्य साक्षरता के मामले में उतने प्रगतिशील नहीं हैं। वहाँ की स्त्रियों में विशेष रूप से साक्षरता की कमी है। मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, बिहार और राजस्थान की स्त्रियों में साक्षरता की दर क्रमशः 28%, 26%, 23% और 21% है। इसलिए बच्चों में साक्षरता और शिक्षा के प्रचार-प्रसार कार्य को अधिक गम्भीरता से अपनाना होगा। विभिन्न प्रकार के अध्ययनों से पता चलता है कि यदि बच्चों को परिवार की

उदरपूर्ति के लिये रोजी-रोटी पैदा करने के काम में लगाया जाता रहा तो मुफ्त शिक्षा देने की व्यवस्था कोई खास परिणामकारी नहीं सिद्ध होगी। बच्चों से मजदूरी कराने के मनोविज्ञान पर विजय पानी ही होगी। स्पष्ट है कि माता-पिता की गरीबी ही देश में शिक्षा की कमी और बीच में पढ़ाई छोड़ देने वाले विद्यार्थियों की बड़ी संख्या का मूल कारण है। गौरतलब बात यह है कि जहाँ जन कल्याण के लिए ईसाइयों ने काम किया है वहाँ साक्षरता की दर में वृद्धि नज़र आती है। इसके उदाहरण के लिए मिजोरम, मेघालय, नागालैण्ड और बिहार के कुछ हिस्सों को देखा जा सकता है।

अनुसूचित जातियाँ और अनुसूचित जनजातियाँ

भारत की कुल आबादी के लगभग 16 प्रतिशत लोग अनुसूचित जातियों के हैं। यह आबादी लगभग एह हजार जातियों में बंटी हुई है जिनमें लगभग एक जैसी या मिलती-जुलती जातियाँ भी शामिल हैं। अनुसूचित जातियों में प्रमुख हैं चमार (जिनकी संख्या कुल अनुसूचित जातियों की एक चौथाई है), भंगी, आदि-द्रविण, पासी, मडिगा, दु:साध, माली, परियन, कोली या कोरी, माहर आदि- कर्नाटक, नामशूद्र आदि। प्रत्येक राज्य के पास उसके अपने यहाँ की अनुसूचित जातियों की सूची है। नीचे दी गयी तालिका में बताया गया है कि किस राज्य में कितनी अनुसूचित जातियाँ हैं:

राज्य	अनुसूचित जातियों की संख्या
कनार्टक	95
उड़ीसा	88
राजस्थान	76
तमिलनाडु	74
मध्य प्रदेश	60
महाराष्ट्र	60
उत्तर प्रदेश	60
पश्चिम बंगाल	60
आन्ध्र प्रदेश	60

अनुसूचित जातियों के जनसंख्या सम्बन्धी अध्ययन करने पर अनेक महत्त्वपूर्ण एवं दिलचस्प तथ्य सामने आते हैं। अनुसूचित जातियों की आबादी का लगभग आधा हिस्सा हिन्दी भाषी राज्यों में रहता है। उदाहरणार्थ उत्तर प्रदेश में 235 लाख, बिहार में 100 लाख, मध्य प्रदेश में 73 लाख, राजस्थान में 58 लाख और हरियाणा में 25 लाख। दक्षिण में अनुसूचित जातियों की आबादी मुख्यतः तमिलनाडु (88 लाख) और आन्ध्र प्रदेश (71 लाख) में केन्द्रित है। पूर्व में उनकी आबादी पश्चिम बंगाल (120 लाख) में केन्द्रित है। दिलचस्प बात यह है कि कुल

आबादी में अनुसूचित जातियों के लोगों का सर्वाधिक अनुपात (27 प्रतिशत) पंजाब में है, इसके बाद हिमाचल प्रदेश (25 प्रतिशत) पश्चिम बंगाल (22 प्रतिशत) उत्तर प्रदेश (21 प्रतिशत) और हरियाणा (19 प्रतिशत) का स्थान है। अनुसूचित जातियों की ज्यादातर आबादी (84 प्रतिशत) ग्रामीण क्षेत्रों में रहती है और वे लोग खेतिहर मजदूर, बटाईदार (share-cropper), छोटे किसान और कारीगर के रूप में जीविका अर्जित करते हैं।

जहाँ तक जनजातियों का सम्बन्ध है उनकी संख्या देश की कुल आबादी का लगभग 9 प्रतिशत है। उनकी गणना देश के दुर्बलतम वर्गों में की जाती है। उनकी भाषा और बोलियाँ भिन्न-भिन्न प्रकार की हैं और वे देश के सभी प्रकार के भू-जलवायु क्षेत्रों में रहते हैं। जनजातियों की आबादी का 55 प्रतिशत हिस्सा देश की पूर्वी और केन्द्रीय जनजाति पट्टी में केन्द्रित है जिसमें पश्चिम बंगाल, बिहार, मध्य प्रदेश, उड़ीसा और आन्ध प्रदेश का कुछ हिस्सा शामिल है; उनकी लगभग 28 प्रतिशत आबादी गुजरात, महाराष्ट्र, राजस्थान, दादरा-नगर हवेली और गोआ, दमन एवं दीव की पश्चिमी जनजाति पट्टी में रहती है। अनुसूचित जनजातियों की 6 प्रतिशत आबादी दक्षिण के आन्ध्र प्रदेश, केरल और तमिलनाडु के कुछ हिस्सों में पाई जाती है, हिमाचल प्रदेश में 0.83 प्रतिशत और लक्षद्वीप, अण्डमान व निकोबार द्वीप समूह में 0.10 प्रतिशत जनजातियों के लोग हैं। देश में चार राज्य और दो केन्द्र शासित प्रदेश ऐसे हैं जहाँ कि 70 प्रतिशत से अधिक आबादी अनुसूचित जनजातियों के वर्ग में आती है जैसे मेघालय (80.58 प्रतिशत) नागालैण्ड (83.99 प्रतिशत) अरुणाचल प्रदेश (66.82 प्रतिशत) मिजोरम (93.55 प्रतिशत) दादरा नगर हवेली (76.82 प्रतिशत) और लक्षद्वीप (93.82 प्रतिशत)। पांच राज्य ऐसे भी हैं जहाँ की 20 प्रतिशत से अधिक आबादी जनजातियों की है, जैसे, मध्य प्रदेश (22.97 प्रतिशत) मणिपुर (37.30 प्रतिशत) उड़ीसा (22.43 प्रतिशत) सिक्किम (23.22 प्रतिशत) और त्रिपुरा (28.44 प्रतिशत)।

प्रमुख जनजातियों में भीलों की संख्या (60 लाख) सबसे ज्यादा है। भीलों के बाद आते हैं गोंड (लगभग 50 लाख), संथाल (लगभग 40 लाख) और ओराँव (लगभग 20 लाख)। जनजातियों में ग्रेट अण्डमान जनजाति के अब केवल 30 प्राणी शेष हैं, इनकी बस्तियाँ तेजी से उजड़ चुकी हैं। अण्डमान निकोबार द्वीप समूह की सेन्टेनलीज, जर्वा और ओंगे जनजाति के लोगों की संख्या 200 से ज्यादा नहीं है। देश के सम्पूर्ण भू-क्षेत्र के लगभग 15 प्रतिशत भाग पर जनजातियों की आबादी है लेकिन देश की 70 प्रतिशत वन और खनिज सम्पदा भी इन्हीं क्षेत्रों से है। कई जनजातियों में स्त्रियाँ एक से अधिक पति रखती हैं जैसे नीलगिरि पहाड़ियों की जनजातियाँ जबकि मेघालय की खासी नामक जनजाति मातृकुल प्रधान मानी जाती है। 70 जनजातियाँ आज भी ऐसी हैं जिनके लोग खाद्य संग्रहक-आखेटक हैं। ये लोग मुख्यतः आन्ध्र प्रदेश, तमिलनाडु और केरल में हैं। परिवर्ती खेती करने वाली जनजातियाँ मुख्यतः उत्तर-पूर्वी क्षेत्रों में रहती हैं। वैसे लगभग 70 प्रतिशत जनजातियों के लोग परम्परागत अर्थात् हल द्वारा खेती करते हैं। कुछ जनजातियों के लोग शिल्प और दस्तकारी द्वारा जीविका अर्जित करते हैं। अनुसूचित

जनजातियों में साक्षरता का प्रतिशत लगभग 37 प्रतिशत है। फिर भी इस मामले में अंतर्राज्यीय भिन्नतायें बहुत ज्यादा हैं- आन्ध्र प्रदेश में 8 प्रतिशत से लेकर मिजोरम में 60 प्रतिशत तक।

धार्मिक संघटन

भारतीय समाज सदैव से बहुधर्मी और बहुजातीय रहा है। इस महान् देश में विश्व के सभी धर्मों के अनुयायी रहते हैं; उदाहरणार्थ- हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, सिख, बौद्ध, ज़ोरोस्ट्रियन (पारसी) और यहूदी। देश में हिन्दू बहुमत में हैं, कुल आबादी का लगभग 83 प्रतिशत। उनके बाद मुसलमान (लगभग 12 प्रतिशत) आते हैं। पारसी और यहूदी बहुत कम संख्या में हैं। बड़ी संख्या वाले समुदायों के लोग अर्थात् हिन्दू, मुसलमान और ईसाई देश के लगभग सभी क्षेत्रों में निवास करते हैं और स्थानीय भाषाएँ व बोलियाँ बोलते हैं।

ग्रामीण क्षेत्रों की आबादी में 84.5 प्रतिशत लोग हिन्दू हैं। शहरी क्षेत्रों में वे 76.5 प्रतिशत हैं जबकि मुसलमान गाँवों में 66 प्रतिशत और शहरों में 34 प्रतिशत हैं। इस प्रकार शहरी क्षेत्रों में मुसलमान आबादी अधिक केन्द्रित है। जनसंख्या में वृद्धि पर विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि मुसलमानों में (जम्मू और कश्मीर को छोड़कर) जनसंख्या में वृद्धि की दर थोड़ी ऊँची है। इसका एक कारण तो उनकी शहरी जिन्दगी हो सकती है और दूसरा कारण उनकी गरीबी और आर्थिक पिछड़ापन हो सकता है। जनसंख्या के ज्यादातर विद्वानों का विचार है कि शहरों में रहने के कारण मुसलमानों की मृत्युदर कम है। हिन्दुओं में आबादी की वृद्धि की दर सापेक्षतया कम रही है क्योंकि ज्यादातर देहाती इलाकों में रहने के कारण उनमें मृत्यु की दर ऊँची रही है।

पिछले दिनों में बहुत से जनांकिकीविदों (demographers) ने अपने वैज्ञानिक तर्कों व प्रमाणों से उन निराधार कल्पनाओं और पूर्वाग्रहों को गलत साबित कर दिया है जो धार्मिक एवं साम्प्रदायिक सोच के कारण आमतौर से प्रचलित हो गयी थीं। समाज में महिलाओं के स्तर का अध्ययन करने के लिए गठित राष्ट्रीय आयोग ने अपनी रिपोर्ट में यह जानकारी दी है कि बहुपत्नी प्रथा का अनुगमन करने वाले समुदायों में पहला स्थान बौद्धों का है और उनके बाद जैनियों, हिन्दुओं, जनजातियों और मुसलमानों का स्थान आता है। इसका समर्थन हाल में प्रकाशित **"एन्थ्रोपोलोजिकल ऐटलस ऑव इंडिया"** (1994) में किया गया है जो भारत की आबादी पर अब तक का सर्वाधिक प्रामाणिक सर्वेक्षण के आधार पर यह बताता है कि भारत के 1825 बहुपत्नी विवाही समुदायों में 1247 समुदाय हिन्दुओं में 372 समुदाय मुलसमानों में तथा बाकी दूसरे धर्मावलंबियों में पाये जाते हैं।

अनुपात की दृष्टि से लक्षद्वीप तथा जम्मू एवं कश्मीर में मुसलमानों का बहुमत है, नागालैण्ड और मेघालय में ईसाइयों का बहुमत है। पंजाब में सिख ज्यादा हैं और अरुणाचल प्रदेश में बौद्ध ज्यादा हैं। 60 प्रतिशत ईसाई आन्ध्र प्रदेश, केरल और तमिलनाडु में रहते हैं जबकि सिखों की कुल जनसंख्या का 71 प्रतिशत पंजाब में रहते हैं। इसके अलावा चण्डीगढ़ की 25 प्रतिशत, दिल्ली की 7 प्रतिशत और हरियाणा की 5 प्रतिशत आबादी सिखों की है।

यह भी बताया गया है कि धार्मिक रूप से अल्पमत वाले समुदायों में बहुमत वाले समुदायों की तुलना में शिक्षा और साक्षरता अधिक है। पारसी, जैन, यहूदी और ईसाई समुदाय इसके प्रमाण हैं। मुसलमानों में उसका एक महत्त्वपूर्ण समुदाय अर्थात् शिया समुदाय का उदाहरण भी दिया जा सकता है। उनमें साक्षरता की दर उतनी ही ऊँची है जितनी पारसी और ईसाई समुदाय में है। इस स्थिति की सबसे ज्यादा और तर्कसंगत व्याख्या है कि कोई भी अल्पसंख्यक समुदाय केवल संख्या के आधार पर देश और समाज को प्रभावित या उससे सुविधाएँ प्राप्त नहीं कर सकता। इसीलिये यह आवश्यक है कि वह देश-समाज में अपना समुचित स्थान पाने के लिए श्रेष्ठता और विशिष्टता हासिल करे। स्वयं अपने योगदान से ही वे अपना प्रभाव जमा सकते हैं अथवा सम्मान प्राप्त कर सकते हैं।

जनसंख्या विस्फोट (Population Explosion)

संसार के प्रत्येक छः व्यक्तियों में से एक व्यक्ति भारत में रहता है और 2001 की जनगणना के अनुसार भारत की जनसंख्या 1 अरब से ऊपर हो गई है और अगले दशकों में यह चीन की जनसंख्या को पार कर सकती है। आम सहमति के अनुसार स्वतंत्रता के बाद से अत्यधिक तेजी से बढ़ती हुई जनसंख्या को रोकने में हमारी अयोग्यता ही हमारी सबसे बड़ी असफलता है। वर्तमान में चिंताजनक रूप से जनसंख्या में वृद्धि से देश की स्थिति में सुधार गरीबी उन्मूलन और बेरोजगारी को दूर करने की अपेक्षा रखना अव्यावहारिक है। वास्तव में यह चिंता का विषय है कि 30 करोड़ से ऊपर लोग गरीबी रेखा के नीचे रहते हैं और प्रत्येक रात भूखे सोते हैं। बढ़ती हुई बेरोजगारी, आश्रय का अभाव, गरीबी और कुपोषण की बढ़ती हुई समस्याओं के साथ भारत में 35 करोड़ से अधिक निरक्षर हैं। निम्नांकित तथ्य समस्या की विकरालता की ओर इशारा करते हैं:-

- आज विश्व में प्रत्येक छठा व्यक्ति भारतीय है और बहुत जल्दी ही प्रत्येक पाँचवा व्यक्ति एक भारतीय होगा।
- 2040 तक भारत विश्व के सर्वाधिक जनसंख्या वाले देश के रूप में चीन से आगे बढ़ जायेगा।
- प्रत्येक महीने भारत की जनसंख्या 20 लाख के करीब बढ़ती है।
- आधी से अधिक बढ़ती हुई भारत की जनसंख्या चार **'बीमारू'** (BIMARU) राज्यों से आती है। जैसे- बिहार (झारखण्ड सम्मिलित), मध्य प्रदेश (छत्तीसगढ़ सम्मिलित), राजस्थान और उत्तर प्रदेश (उत्तरांचल सम्मिलित)। **'बीमारू'** संक्षिप्ताक्षरी से अभिप्राय हिन्दी में 'बीमार' से है।
- वर्तमान वृद्धि दर से भारत प्रतिमाह शहरों, राज्यों और यहाँ तक कि देशों की जनसंख्या के बराबर वृद्धि कर रहा है।

इस भयावह परिस्थिति को 'विस्फोट' के अतिरिक्त अन्य किसी शब्द में वर्णित नहीं किया जा सकता। भारत में ऊँची प्रजनन दर इसका प्रमुख कारण है।

ऊँची प्रजनन दर के कारक (Factors for Higher Fertility Rate)

यदि जनसंख्या वृद्धि को रोकना है तो यह आवश्यक है कि प्रजनन को रोका जाय। जनसंख्या वृद्धि दर मुख्यतः प्रजनन दर से संबंधित है। नीचे लिखे कुछ कारणों से भारत में प्रजनन दर ऊँची है:-

1- कम उम्र में लड़कियों का विवाह एक महत्त्वपूर्ण कारण है। **बाल विवाह निषेध कानून (शारदा एक्ट)** जैसे विभिन्न नियमों के बावजूद, रीति-रिवाजों के दबाव के कारण, बाल विवाह अभी भी जारी है।

2- जलवायु और दूसरे कारणों से, लड़कियाँ कम उम्र में ही यौवन को प्राप्त कर लेती हैं और इस प्रकार लड़कियों में बच्चे पैदा करने का समय लंबा है। इस प्रकार इस समय के दौरान दम्पति अधिक लंबे समय तक बच्चे पैदा कर सकते हैं।

3- विधवा पुनर्विवाह भी विशेषकर मुस्लिमों, हिन्दुओं की निम्न जातियों और जनजातीय समुदायों में एक महत्त्वपूर्ण कारण है।

4- सामाजिक रिवाजों के अनुसार और आर्थिक कारणों से अधिक बच्चे होना सामाजिक रूप से अवांछनीय या बुरा नहीं समझा जाता है। इससे भी अधिक ग्रामीण क्षेत्रों में तो बच्चों को भगवान का उपहार माना जाता है जिसे मना नहीं किया जाना चाहिए।

5- संतोष, कर्म, धर्म और भाग्य जैसे मूल्यों के कारण एक विशाल जनसमुदाय जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने के लिए एक दृढ़ इच्छाशक्ति नहीं रखता है। उनके पास जो कुछ है, वे प्रायः उससे संतुष्ट हो जाते हैं और इसी कारण, वे एक और बच्चे को जीवनशैली ऊँचा उठाने के मार्ग में किसी प्रकार की बाधा नहीं मानते हैं।

6- कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था भी एक महत्त्वपूर्ण योगदान देने वाला कारण है, विशेषकर श्रम सघन कृषि की परिस्थितियों में। उस क्षण से जब कोई व्यक्ति खेतों में काम करना शुरू कर देता है, वह रोजगार में लगा माना जाता है और शादी के योग्य मान लिया जाता है।

7- पारम्परिक संयुक्त परिवार-प्रथा भी ऊँची जनसंख्या वृद्धि को बढ़ाने के लिये उत्तरदायी है। संयुक्त परिवार केवल बच्चों के पालन-पोषण की ही जिम्मेदारी नहीं लेता है अपितु उनको विभिन्न प्रकार की सामाजिक और आर्थिक सुरक्षा भी प्रदान करता है और इससे लोग अधिक बच्चे पैदा करने के लिये स्वतंत्र महसूस करते हैं।

8- बड़ी संख्या में निरक्षरता, विशेषकर स्त्री निरक्षरता, भी एक महत्त्वपूर्ण कारण है जिसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। केरल इसका सर्वोत्तम उदाहरण है जहाँ स्त्रियों के ऊँची साक्षरता

दर प्राप्त कर लेने के बाद से जनसंख्या वृद्धि दर में तेजी से गिरावट हुई है।

9- भारत में प्रजनन जाति विशेष से भी संबंधित है। हिन्दुओं की निम्न जातियों, मुस्लिमों और दूसरी जातियाँ अपेक्षाकृत अधिक गरीब हैं और इसलिये अधिक बच्चे पैदा करती हैं। मुस्लिमों में सापेक्ष रूप से जनसंख्या वृद्धि की ऊँची दर का एक बहुत बड़ा कारण गरीबी का सापेक्षतः ज्यादा होना है।

10- कुछ सीमा तक धार्मिक विश्वास और आस्था भी ऊँची जनसंख्या वृद्धि के लिये उत्तरदायी है। हिन्दुओं में कुछ रिवाज व अनुष्ठान पुत्र ही पूरा करता है, विशेषकर मृत्योपरांत कई पुत्रियाँ होने के बावजूद भी पुत्र को महत्त्व दिया जाता है। यह भी विश्वास प्रचलित है कि कुल या वंश पुत्र से ही चलता है। मुस्लिमों के बीच में, विशेषकर समाज के निचले वर्गों, में गलत धारणा प्रचलित है कि परिवार नियोजन अवांछनीय है। गर्भपात की अनुमान्यता पर वाद-विवाद हो सकता है, लेकिन 'गर्भ धारण से बचाव' के लिये मना नहीं किया जा सकता है।

11- सरकार परिवार नियोजन को एक जन-आन्दोलन बनाने में असफल रही है और इसे चिकित्सा और स्वास्थ्य कर्मियों पर छोड़ दिया गया है जो कभी भी समर्पण व उत्साह के साथ काम नहीं करते।

12- ऊँची मृत्यु-दर भी एक महत्त्वपूर्ण कारण है। यह प्रमाणित तथ्य है कि शिशुओं की ऊँची मृत्यु दर माता-पिता के मस्तिष्क में बच्चे के जीवन के प्रति चिन्ता उत्पन्न करती है और इसलिये अधिक बच्चे पैदा करने की प्रवृत्ति पायी जाती है।

राष्ट्रीय जनसंख्या नीति, 2000 में ऐसे बहुत से कारकों को स्वीकार किया गया है और यह आशा की गई है कि आने वाले दिनों में जनसंख्या वृद्धि की दर को पर्याप्त मात्रा में कम किया जा सकेगा। लेकिन आर्थिक और सामाजिक पिछड़ेपन को बहुत दृढ़तापूर्वक रोकना होगा क्योंकि, जैसाकि जनसंख्या गणना करने वालों के बीच कहा जाता है- **विकास सर्वाधिक प्रभावी गर्भनिरोधक है।** (Development is the most Effectve Contraceptive)

जनसंख्या नीति (Population Policy)

यह विडम्बना ही है कि 1952 में जनसंख्या पर एक राष्ट्रीय कार्यक्रम लाने वाला प्रथम देश भारत था। वास्तव में, भारत की जनसंख्या-स्थिरीकरण के प्रयास 1951 में ही प्रथम पंचवर्षीय योजना के बनाने के साथ ही शुरू हो गये थे। किंतु पचास वर्ष बीत जाने के बाद भी केरल और उसके अनुगामी तमिलनाडु में उल्लेखनीय सफलता और कुछ सीमा तक कर्नाटक, आन्ध्र प्रदेश, महाराष्ट्र, पश्चिमी बंगाल, हिमाचल और पंजाब की सफलता के बावजूद भी लक्ष्य प्राप्त शेष है। जब हम प्रथम पंचवर्षीय योजना को देखते हैं जिसमें कहा गया है:-

"हाल में ही भारत में बढ़ती हुई जनसंख्या और देश के सीमित संसाधनों पर बढ़ते हुए दबाव के कारण परिवार नियोजन और जनसंख्या नियंत्रण की समस्या की अपरिहार्यता सामने

आयी है..... इसलिये, यह समझा जाता है कि राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की आवश्यकताओं के अनुरूप, जनसंख्या स्थिरीकरण केवल जन्म दर में ही कमी करके जनसंख्या नियंत्रित की जा सकती है।"

सरकार ने पहली बार 1976 में ही एक **नीति** तैयार की थी जो अपनी दबाव भरी प्रकृति और अनिवार्य बन्ध्याकरण (compulsory sterelization) के कारण असफल हो गयी। सरकार ने सन् 1991 में केरल के मुख्यमंत्री के0 करुणाकरन की अध्यक्षता में जनसंख्या पर एक समिति की नियुक्ति की। 1993 में कमेटी ने राष्ट्रीय विकास कौंसिल को एक रिपोर्ट जमा की जिसमें 'राष्ट्रीय जनसंख्या नीति' का आग्रह किया गया था। 1993 में सरकार ने जनसंख्या नीति का प्रारूप बनाने के लिये एक कुशल समूह के अध्यक्ष के रूप में एम. एस. स्वामीनाथन को नियुक्त किया। मई 1994 में जनसंख्या नीति का प्रारूप प्रस्तुत किया गया और इसे संसद में रखा गया। 1994 से 2000 तक केन्द्र में राजनीतिक अस्थिरता के कारण जनसंख्या नीति का बना हुआ प्रारूप बेकार पड़ा रहा। फरवरी 2000 में सरकार ने 'राष्ट्रीय जनसंख्या नीति 2000' की घोषणा की। इस नीति में निर्वहनीय आर्थिक वृध्दि, सामाजिक विकास और पर्यावरण संरक्षण की आवश्यकताओं के अनुरूप स्थिर जनसंख्या को 2045 तक प्राप्त करने का दीर्घावधि का लक्ष्य रखा गया है। इस नीति में 2010 तक के निम्नलिखित लक्ष्य निश्चित किये गये हैं:-

1- दो बच्चों के मानक को प्राप्त करना और कुल प्रजनन दर को घटाकर तक 2.1 तक लाने के लिये गुणवत्तापरक गर्भ निरोधी सेवाओं की सार्वभौमिक उपलब्धता।

2- जन्म, मृत्यु, विवाह और गर्भधारण का पूर्ण पंजीकरण।

3- प्रजनन को नियंत्रित करने और गर्भनिरोधन के विस्तृत विकल्पों की जानकारी/सलाह संबंधी सेवाओं की सुगम उपलब्धता।

4- शिशु मृत्यु-दर को 30 प्रति हजार के नीचे लाना और जन्म के समय कम वज़न वाले (2.5 किलो के नीचे) शिशुओं की संख्या को तेजी से घटाना।

5- 2000 तक पोलियो उन्मूलन तथा टिटनेस और चेचक के पूर्ण उन्मूलन और टीकारोधी बीमारियों के विरुद्ध बच्चों का सार्वभौमिक प्रतिरक्षण (immunisation)।

6- न्यूनतम 18 वर्ष की आयु और वरं।यतः 20 वर्ष की आयु के उपरांत लड़कियों को विलम्ब से विवाह के लिये प्रोत्साहित करना।

7- 80 प्रतिशत से अधिक संस्थागत प्रसूतियाँ और प्रशिक्षित व्यक्तियों द्वारा प्रसूतियों के प्रतिशत को बढ़ाकर 100% करना।

8- यौन संक्रमित बीमारियों की रोकथाम।

9- प्रति 1 लाख जन्मे शिशुओं में मातृ-मृत्यु अनुपात को 100 से भी कम करना।

10- प्राथमिक शिक्षा का सार्वभौमीकरण और प्राथमिक तथा माध्यमिक स्तर पर लड़के और

लड़कियों के शिक्षा छोड़ देने की दर को 20% से नीचे लाना।

मई 2000 में प्रधानमंत्री की अध्यक्षता और योजना आयोग उपाध्यक्ष की उपाध्यक्षता के अन्तर्गत राष्ट्रीय जनसंख्या नीति के पुनरीक्षण, अनुश्रवण तथा क्रियान्वयन हेतु दिशा निर्देशन के लिये **राष्ट्रीय जनसंख्या आयोग** का गठन किया गया। संबंधित क्षेत्रीय मंत्रालयों को सम्मिलित करते हुए एक रणनीतिक सहायता समूह की स्थापना भी की गई जो आयोग की सलाहकार समिति के रूप में कार्य करेगा। नीति के क्रियान्वयन में विशेष पहलुओं पर विचार हेतु कुछ कार्यकारी दल गठित किये गये हैं (**राष्ट्रीय मानव विकास रिपोर्ट, 2001**)।

उपरोक्त वर्णित प्रावधानों से यह स्पष्ट है कि एन. पी. पी. (National Population Policy) के तात्कालिक उद्देश्य गर्भनिरोधन, स्वास्थ्य सेवाएँ, आधारभूत ढाँचा और स्वास्थ्य कार्यकर्मी तथा मूलभूत प्रजनन और शिशु स्वास्थ्य सेवाओं के लिये समेकित सेवाओं को उपलब्ध कराने की जरूरतों को पूरा करना है। अन्तर-क्षेत्रीय रणनीतियों के उत्साहपूर्वक क्रियान्वयन के द्वारा कुल प्रजनन दर को सन् 2010 तक प्रतिस्थापन स्तर तक लाना मध्यावधि का उद्देश्य है। निर्वहनीय आर्थिक वृद्धि एवं सामाजिक विकास और पर्यावरण संरक्षण के अनुरूप 2045 तक स्थिर जनसंख्या को प्राप्त करना दीर्घकालीन उद्देश्य है। एन. पी. पी. ने निर्धारित किया है कि 1991-2001 के मध्य जनसंख्या वृद्धि की दर को 21.3 प्रतिशत से घटाकर 2001-2011 के दौरान 10.6 प्रतिशत तक ले आया जाये। एन. पी. पी. और दसवीं पंचवर्षीय योजना के बीच निर्धारित करार की ओर इशारा करते हुए, के. बी. सहाय (2003) कहते हैं कि "ऐसी योजना जो 2001 से 2011 के बीच जनसंख्या में वृद्धि की दर को केवल 16.2 प्रतिशत की दर तक रोक देना चाहती है उससे एन.पी.पी. द्वारा निर्धारित 11.9 करोड़ के बजाय सन् 2011 में 119.3 करोड़ की जनसंख्या हो जायेगी। इससे स्पष्ट है कि दसवीं पंचवर्षीय योजना एन. पी. पी. के उद्देश्यों के अनुरूप नहीं है और यह ध्यान देने की बात है कि प्रधानमंत्री योजना आयोग और राष्ट्रीय जनसंख्या आयोग दोनों के ही अध्यक्ष हैं।"

प्रसिद्ध जनसंख्याशास्त्री आशीष बोस एन. पी. पी. पर मौलिक प्रश्न पूछते हैं : "क्या सरकार एक जन-आन्दोलन पैदा कर सकती है? यह स्पष्ट है कि वह नहीं कर सकती। अन्तर्राष्ट्रीय दाता संस्थाएँ भारत में परिवार नियोजन कार्यक्रम के व्यापक असफल क्रियान्वयन के कारण गैर सरकारी संस्थाओं (NGOs) के प्रति आकर्षित हैं किंतु भारत का हाल का अनुभव यह बताता है कि अधिकांश गैर-सरकारी संस्थाएँ संभ्रान्त लोगों के संगठन हैं जो साधारण जनमानस से बहुत दूर हैं: वे मुख्यतः (DONGOs (Donor driven NGOs) "दाता द्वारा चलाये जा रहे गैर-सरकारी संगठन" हैं जो कि विदेशी धन मिलना बंद होते ही बंद हो जायेंगे और GONGOs (Government driven NGOs) सरकार द्वारा चलाये जा रहे गैर-सरकारी संगठन हैं जिन पर बहुधा मंत्रियों की पत्नियों, नौकरशाहों और उनकी बीवियों का कब्जा है। ये संस्थाएँ भी जनता से बहुत दूर हैं।" यदि न तो सरकार और न ही गैर सरकारी संगठन (NGOs) हमें जनसंख्या स्थिरीकरण के मार्ग पर ले जाते हैं तो क्या हमें अन्य तंत्रों की ओर देखना चाहिए?

जैसे कि एम. एस. स्वामीनाथन की अध्यक्षता वाले जनसंख्या नीति पर कुशल समूह द्वारा मई 1994 में प्रधानमंत्री को प्रस्तुत रिपोर्ट में सुझाया गया है और जिसमें एक स्वतंत्र जनसंख्या और सामाजिक विकास आयोग की स्थापना की संस्तुति की गई थी जो कि "सरकार के अन्य आयोग जैसे **आणिवक ऊर्जा और अंतरिक्ष आयोग** की भाँति कार्यकारी शक्तियों से लैस होकर कार्य करेगा।" छोटे परिवार के नियम के लिए नगद पर आधारित प्रोत्साहन के प्रयास की आलोचना करते हुए बोस (यथावत) कहते हैं कि धन प्रवाह में वृद्धि तथा विज्ञापनबाजी के जरिये सामाजिक परिवर्तन नहीं लाया जा सकता जब तक कि हम अपनी अर्थव्यवस्था और समाज को प्रभावित करने वाली मौलिक समस्याओं को हल नहीं करेंगे। भारत की जनसंख्या समस्या पर उनका विश्लेषण जो चार प्रमुख राज्यों बिहार, मध्य-प्रदेश, राजस्थान और उत्तर-प्रदेश पर केन्द्रित है, जिनके आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक पिछड़ेपन ने उनकी जनसंख्या संबंधी परेशानियों को सदा बढ़ाया है, आज भी सही है और भारत के गिने-चुने जनसंख्या-शास्त्रियों द्वारा किये गये प्रत्येक सांख्यिकीय प्रयोग उनकी अवधारणा को केवल पुष्ट ही करते हैं।

ऊपर वर्णित स्थितियों में उत्तरी और दक्षिणी राज्यों के बीच उत्तर-दक्षिण जनसंख्या विभाजन अध्ययन की अत्यन्त आवश्यकता है। वास्तव में, दक्षिणी राज्यों में जनसंख्या नियंत्रण के तुलनात्मक रूप में सफल प्रदर्शन के संबंध में भय प्रकट किये जाने पर संविधान (42वें) के संशोधन बिल, 1976 में एक प्रावधान निर्दिष्ट किया गया था जिसमें 1971 की जनसंख्या के आधार पर लोकसभा सीटों को 2001 तक स्थिर रखने का आदेश था। समय की माँग के अनुसार एक दूसरे संविधान संशोधन की आवश्यकता थी अन्यथा उत्तर प्रदेश राज्य को (जनसंख्या नियंत्रण में खराब प्रदर्शन के बावजूद भी) लोक सभा में 100 सीटें (80 सीटों से बढ़ाकर) और सभी दक्षिण राज्यों की सीटें कम हो जाने के कारण उनकी राजनीतिक ताकत कम हो जायेगी। यह तो जनसंख्या नियंत्रण की असफलता का 'पुरस्कार' जैसा होगा। ऐसे निर्णय राजनीतिक बाधाओं और अपने स्वार्थों से प्रेरित होते हैं। हमारे राजनीतिज्ञों के हितों को छोड़कर, कोई पूछे कि हमारे 100 करोड़ लोगों के आर्थिक हितों का क्या होगा?

एक कार्य-योजना का सुझाव देते हुए आशीष बोस (2000) कहते हैं:-

1- स्वास्थ्य और परिवार कल्याण के मुद्दे पर चार मुख्य राज्य बिहार, मध्य प्रदेश, राजस्थान और उत्तर प्रदेश (नये बने राज्य झारखण्ड, छत्तीसगढ़ और उत्तराचंल को लेते हुए) को प्रोत्साहित करने के लिए, प्रत्येक जिला मजिस्ट्रेट/क्लेक्टर के साथ एक जाल तंत्र इन चारों राज्यों में तैयार किया जाना चाहिए जिससे कि जिला/ब्लाक स्तर पर दक्षतापूर्वक कार्यक्रम संचालन में संख्यात्मक सुधार हो।

2- इसी तरह, प्रत्येक राज्य में पंचायती राज संस्थाओं के साथ, और विशेषकर जिला परिषद संरपंच और पंचायतों के स्त्री सदस्यों के साथ, संजाल का ये एक तंत्र होना चाहिए। इसी सन्दर्भ में राज्य स्तर पर तकनीकी सहयोग के लिये ग़ैर सरकारी संस्थाओं से भी सहायता ली जानी चाहिए, ताकि प्रत्येक जिला परिषद एक कार्य-योजना को आगे बढ़ा सके जिससे

स्थानीय स्तर पर लोगों के सहयोग और सम्बद्धता को समझाया जा सके।

3- एन. पी. पी. के सफल क्रियान्वयन के लिए इन्स्टीट्यूट फॉर पॉपुलेशन सांइस, मुम्बई, स्वास्थ्य और परिवार-कल्याण राष्ट्रीय संस्थान, नयी दिल्ली, और विभिन्न विश्वविद्यालयों में 18 जनसंख्या शोध केन्द्र जैसी संस्थाओं के ठोस सहयोग की आवश्यकता होगी।

4- परिवार-कल्याण विभाग को जनगणना आयुक्त और भारत के महापंजीकार के सीधे सम्पर्क में होना चाहिए ताकि न्यूनतम समय में प्राथमिकता वाले बिन्दुओं पर जनसांख्यिकीय आँकड़े उपलब्ध कराये जा सकें जो स्वास्थ्य और परिवार-कल्याण पर विशेष प्रभाव डालते हैं।

5- परिवार-कल्याण विभाग सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय के साथ निरन्तर सम्पर्क में रहना चाहिए जिससे कि क्षेत्रीय और उप-क्षेत्रीय स्तर पर रेडियो और टी. वी. के सृजनात्मक उपयोग द्वारा सम्प्रेषण रणनीति बनायी जा सके जो कि सरकार द्वारा चलाये जा रहे कार्यक्रमों के बारे में विस्तृत सूचना उपलब्ध कराये ताकि ऐसी सूचनाओं से जानकारी प्राप्त कर जनता परिवार कल्याण तथा अन्य सेवाओं की माँग कर सके जिसके लिये उनसे वादा किया गया है। इस प्रक्रिया में सरकार की साख भी बढ़ेगी।

दण्डात्मक जनसंख्या नीतियाँ (Punitive Population Policies)

भारत की जनसंख्या 11 मई सन् 2000 ई0 को एक अरब के आँकड़े तक पहुँच गई। इस तथ्य की ओर संकेत करने के लिए एक कन्या शिशु को प्रतीक के रूप में चुना गया। यद्यपि यह भारत के विकास एवं जनसंख्या पर उसके प्रभाव का निराशाजनक प्रतिबिम्ब हो सकता था, इसका प्रयोग जनसंख्या विस्फोट दर्शाने हेतु किया गया।

यद्यपि कई वर्षों में परिवार नियोजन कार्यक्रमों ने स्वास्थ्य अवखंड (health sector) के विकास की हदबंदी कर रक्खी है, तथापि सन् 1990 के आरम्भिक वर्षों में इस तथ्य का अत्यधिक अनुभव किया जाने लगा कि यह कार्यक्रम- जो कि विश्व में स्वास्थ्य सम्बन्धी योजनाओं में सबसे बड़ा कदम माना जाता है, पूरी तरह से मृत्यु को प्राप्त हो चुका है। यह जरूरत महसूस किये जाने के फलस्वरूप तथा साथ ही इस कार्यक्रम में क्रांतिकारी परिवर्तन लाने की माँग करने वाले महिला संघों एवं स्वास्थ्य संगठनों द्वारा डाले जाने वाले दबाव के चलते, तथा तृतीय दस-वर्षीय **इण्टरनेशनल कान्फ्रेंस ऑन पापुलेशन एण्ड डेवेलपमेण्ट** (आई0पी0 पी0डी0) की तैयारियों के रूप में भारत सरकार ने नवीन जनसंख्या नीति का निर्माण करने हेतु एक विशेषज्ञ-दल बनाया। जनसंख्या नीति पर यह रिपोर्ट (स्वास्थ्य एवं परिवार-कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार, 1994) जिसे सामान्यतः **स्वामीनाथन समिति रिपोर्ट** के नाम से जाना जाता है, ने एक ऐसी नीति का निर्माण किया जिसे गरीबों, महिलाओं एवं प्रकृति के अनुकूल माना गया।

समग्र सामाजिक विकास को उद्देश्य मानते हुए इस समिति ने एक समग्रतावादी (holistic) समाधान प्रस्तुत किया। इसने परिवार-नियोजन के विभाग को स्वास्थ्य विभाग से जोड़ने का विचार प्रस्तुत किया ताकि परिवार-नियोजन के महत्त्व को सम्पूर्ण स्वास्थ्य सेवाओं में अत्यधिक उभारा

जा सके। समिति ने लक्ष्य एवं प्रोत्साहक तरीकों को उनके क्रियान्वयन हेतु आई०सी०पी०ए० एजेण्डा में प्रवेश करने से पहले से निरस्त कर दिया था। साथ ही समिति ने 73वें एवं 74वें संवैधानिक संशोधन द्वारा विकास हेतु सुझाई गई संस्थात्मक व्यवस्थाओं का प्रयोग करने के महत्त्व को इंगित किया। किन्तु फिर भी इसे अपनी नीतियों एवं संस्तुतियों के बीच मतभेद एवं पृथकत्व होने के कारण आलोचना का सामना करना पड़ा।

सन् 1996 में विशेषज्ञ समिति की संस्तुतियों के आधार पर तथा यह बात समझते हुए कि "यदि हमारी जनसंख्या नीति गलत सिद्ध हुई तो कुछ भी सही दिशा में नहीं जा सकेगा" भारत सरकार ने राष्ट्रीय जनसंख्या नीति पर एक वक्तव्य घोषित किया (GIO:1996:13)। तत्पश्चात् इस प्रारूप में कुछ संशोधन किए गए, जो संसद एवं राष्ट्रीय जनसंख्या नीति (N.P.P.), 2000, दोनों को ही मान्य थे।

एन० पी० पी० के अनुसार- "यह स्वैच्छिक एवं सूचित चुनावों एवं प्रजननात्मक स्वास्थ्य सेवाओं का लाभ उठाने एवं परिवार नियोजन सेवाओं की व्यवस्था हेतु लक्ष्य मुक्त तरीकों को उसी रूप में चालू रखने की नागरिकों की इच्छा हेतु सरकार की प्रतिबद्धता को दर्शाता है" (GIO: 2002:2)।

एन० पी० पी० का सबसे पहला लक्ष्य गर्भनिरोध एवं स्वास्थ्य मानदण्डों के सम्बन्ध में जो उद्देश्य पूरे नहीं किए जा सके हैं, उन्हें पूरा करना है। मध्यम स्तरीय लक्ष्य है सम्पूर्ण प्रजनकतादर को सन् 2010 तक स्थानान्तरित करने वाले स्तर तक अन्तर-वर्गीय कार्यों द्वारा लाना तथा दीर्घकालिक उद्देश्य है सन् 2045 तक एक स्थिर जनसंख्या की प्राप्ति करना।

सूची-1 : अखिल भारतीय नवजात शिशु-मृत्यु दर

वर्ष	कुल	ग्रामीण	शहरी	वर्ष	कुल	ग्रामीण	शहरी
1981	110	119	62	1991*	80	87	53
82	105	114	65	1992*	19	85	53
83	105	114	66	1993*	74	82	45
84	104	113	66	1994*	74	80	52
85	97	107	59	1995*	74	80	48
86	97	105	62	1996*	72	77	46
87	95	104	61	1997*	71	77	45
88	95	102	62	1998*	72	77	45
89	91	98	58	119	70	75	44
90	80	86	50*	जम्मू कश्मीर को छोड़ कर			

स्रोत- 1- कम्पेण्डियम ऑफ इण्डियारु फर्टिलिटी एण्ड मॉरटैलिटो इण्डोकेटर्स, सैम्पल रजिस्ट्रेशन सिस्टम (एस० आर० एस०) आर० जी० अरि, भारत, नई दिल्ली, 1999

2- एस0 आर0 एस0 बुलेटिन, एस0 आर0 एस0, संस्करण 35, नं0 1, अप्रैल 2001।

3- ऑफिस ऑफ दि रजिस्ट्रार जनसंख्या ऑफ इण्डिया, सिलेक्टेट इकॉनामिक स्टैटिस्टिक्स, सांख्यिकी एवं कार्यक्रम क्रियान्वयन मंत्रालय, भारत सरकार।

इन लक्ष्यों की पूर्ति हेतु अपेक्षित रणनीतियों के अन्तर्गत 12 मुख्य तथ्य आते हैं। इनमें से कुछ हैं-विकेन्द्रित नियोजन एवं पंचायत राज्य संस्थाओं (पी0आर0आई0) के माध्यय से कार्यक्रम का क्रियान्वयन, ग्राम स्तर पर स्वास्थ्य सेवाओं का केंद्रीयकरण बेहतर स्वास्थ्य एवं पोषण हेतु महिलाओं का सशक्तिकरण; शिशु जीवन रक्षक उपायों की व्यवस्था, विभिन्न प्रकार के स्वास्थ्य-रक्षा उपायों को शामिल करना, आई0ई0सी0 का सशक्तिकरण, एन0जी0ओ0 एवं निजी क्षेत्र के कारपोरेट सेक्टरों के साथ भागीदारी बढ़ाना एवं अन्त में मातृत्व, शिशुओं एवं प्रजननात्मक स्वास्थ्य रक्षा विषयों पर नैदानिक, प्रयोगशाला सम्बन्धी एवं क्षेत्र-अनुसंधान सम्बन्धी उपायों को प्रोत्साहन देना। इन समस्त रणनीतियों का उद्देश्य सुविधा वंचित जनसंख्या, जैसे-- शहरी झोपड़-पट्टियों, जनजातीय समुदायों, पहाड़ी क्षेत्रों की जनता एवं विस्थापित एवं प्रवासी लोगों पर मुख्य प्रकाश डालना है। साथ ही इस दिशा में भी प्रयास करने की आवश्यकता है कि पुरुष इस कार्यक्रम में हिस्सा लें।

इसी अवधि में अनेक राज्य सरकारों ने भी अपनी-अपनी जनसंख्या नीतियाँ घोषित करना प्रारम्भ किया। इस लेख का उद्देश्य अपने स्वास्थ्य एवं परिवार-नियोजन कार्यक्रमों के क्षेत्र में भारत के अनुभवों के प्रकाश में इन नीतियों के कुछ पक्षों पर प्रकाश डालना है।

I

यह तथ्य सभी समझते हैं कि स्वास्थ्य एवं जनसंख्या पर सामाजिक-आर्थिक मुद्दों का जो कि वास्तव में स्वयं उनके द्वारा निर्धारित होते हैं, अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिए जनसंख्या नीति पर विशेषज्ञ समिति ने यह पाया कि जनसंख्या एवं विकास एक ही सिक्के के दो पहलू हैं; तथा यदि प्रजननकता का स्तर घटाना है तो रोजगार वृद्धि, आय, भोजन, सुरक्षा, साक्षरता, स्वास्थ्य स्तर आदि पर ध्यान देना होगा। इसके फलस्वरूप नवजात शिशुओं एवं बच्चों की मृत्युदर में कमी आयेगी तथा परिवार-नियोजन सेवाओं की माँग बढ़ेगी।

इसके विपरीत, एन0पी0पी0 स्वास्थ्य एवं जनसंख्या सम्बन्धी इन बड़े मुद्दों पर बिल्कुल मौन है। अतः जो प्रश्न उठते हैं वे इस प्रकार हैं- 1990 के दशक से सम्बन्धित स्वास्थ्य के इन मुख्य निर्धारकों हेतु विस्तृत आर्थिक सुधार क्या अर्थ-रखते हैं? इनका परिवार नियोजन सम्बन्धी मुद्दों पर क्या प्रभाव पड़ता है? इन्होंने इन सेवाओं के क्रियान्वयन सम्बन्धी ढाँचे को किस प्रकार प्रभावित किया है? दूसरे अध्ययन भी यह तथ्य सिद्ध करते हैं कि सुधारों के फलस्वरूप शहरी एवं ग्रामीण इलाकों में रोजगार उपलब्धता कम हुई, कार्य-शक्ति विशेष रूप से स्त्रियों के श्रम का सरलीकरण किया है जनसंख्या के निचले तबके की आय को कम करते हुए आय-असमानता को बढ़ाया है। यह अत्यन्त शर्मनाक बात है कि भारत अन्न के विशाल भण्डार

पर पाँव पसारे बैठा है जबकि दूसरी ओर कुल जनसंख्या के लगभग 350 लाख लोग न्यूनतम कसौटी वाला भोजन भी नहीं जुटा पा रहे हैं। अतः इस बात में कोई आश्चर्य नहीं है कि जैसा कि टेबुल 1 दिखाती है, परिवार नियोजन का एक सबसे मुख्य निर्धारक मानी जाने वाली नवजात-शिशु मृत्युदर (आई0एम0आर0) 1990 के दशक के दौरान बिल्कुल स्थिर हो गई। सन् 1981 से 1990 के बीच नवजात शिशु मृत्युदर प्रति एक हजार बच्चों में 110 से घटकर 80 हो गई तथा सन् 1990 से 1999 के बीच प्रति एक हजार जन्म लेने वाले बच्चों में यह 80 से घटकर केवल 70 रह गई। इससे भी अधिक चिन्ता का विषय यह है कि आँकड़ों में होने वाली यह कमी देश के विभिन्न राज्यों में बढ़ोत्तरी में परिवर्तित हो गई है।

इस उपाय के साथ जुड़ी ऐसी अनेक समस्याएँ हैं जिनके अनुसार स्त्रियों की मृत्यु दर को प्रभावित करने वाला सबसे बड़ा कारक प्रजनन से सम्बन्धित है। स्त्रियों की मृत्यु से सम्बन्धित आँकड़े दिखाते हैं कि देश में प्रजनन के कारण होने वाली मृत्यु दर यद्यपि ऊँची है, तब भी यह कुल मृत्युदर की 2.4 प्रतिशत ही है। स्त्रियों की प्रजनन सम्बन्धी आयु के अन्तर्गत यह कुल मृत्यृ दर की 12 प्रतिशत ही है।

उदारीकरण का एक सबसे प्रमुख लक्षण नज़र आता है राज्य द्वारा समाज-कल्याण कार्यों को निरस्त करना। अतः जहाँ एक ओर पी0 डी0 एस0 (सार्वजनिक वितरण प्रणाली) में कमी की जा रही थी, वहीं दूसरी ओर भारत की सार्वभौमिक एवं विस्तृत प्राथमिक स्वास्थ्य सुरक्षा योजनाओं के प्रति वचनबद्धता जो कि 'अल्मा आता घोषणा' के अन्तर्गत तय की गई थी तथा जिसे 1983 ई0 की राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति द्वारा घोषित किया गया था, दिन प्रतिदिन कमजोर होती जा रही है क्योंकि इसकी बात एन0 पी0 पी0 में नहीं की गई है। वास्तव में यह तथ्य कि राष्ट्रीय जनसंख्या-नीति की घोषणा कर दी गई है, जबकि यह अभी तक अनुद्घाटित राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति से किसी भी प्रकार से सम्बन्धित नहीं है, कुरूप प्राथमिकताओं का परिचय देता है।

जैसा कि टेबल-2 के आँकड़े स्पष्ट करते हैं कि स्वास्थ्य खर्चों पर दिन प्रतिदिन कमी होती जा रही है और वह भी विशेष रूप से संक्रामक बीमारियों की रोकथाम हेतु बनाए गए कार्यक्रमों पर जबकि परिवार नियोजन के कार्यक्रमों पर खर्चा बढ़ा है। साथ ही रियायतों एवं योजनाओं के माध्यम से स्वास्थ्य सुरक्षा के क्षेत्र में राज्य ने निजी क्षेत्र को आगे बढ़ने की प्रेरणा प्रदान की है। अतः इसमें कोई आश्चर्य नहीं है कि यद्यपि स्वास्थ्य सुरक्षा के लक्ष्य को पाना दिन पर दिन कठिन होता जा रहा है तथा स्वास्थ्य सुरक्षा पर खर्च कर्ज का मुख्य कारण बनता जा रहा है कृष्णनन टी0 एन0 (1999) **"एक्सेस टू हेल्थ एण्ड दि बर्डन ऑफ ट्रीटमेंटः ऐन इण्टर-स्टेट कम्पैरिजन"** मोहन राव (संपादित) **डिस्इनवेस्टिंग इन हेल्थः दि वर्ल्ड बैंक प्रिस्क्रिप्शंस फॉर हेल्थ,** सेज, नई दिल्ली। भुखमरी से मृत्युदर तथा महामारी बढ़ती जा रही है (बरु, राम वी0 एवं साधन, जी (2000), **"रिसर्जेन्स ऑफ कम्यूनिकेबल डिसीजेज; गैस्ट्रोएण्ट्रायटिज एपिडेमिक्स इन आन्ध्र प्रदेश"** (इकॉनामिक एण्ड पॉलिटिकल वीकली, संस्करण XXV, no. 40)

लोक स्वास्थ्य व्यवस्था के विध्वंस में जिसके बिना एन0पी0पी0 का क्रियान्वयन नहीं किया जा सकता, सरकार की विस्तृत आर्थिक नीतियों से बढ़ोत्तरी हुई है। इसके परिणामस्वरूप न केवल लोक स्वास्थ्य पर होने वाले खर्चों में कटौती हुई है बल्कि अर्थव्यवस्था के अन्य महत्त्वपूर्ण अंगों पर होने वाले खर्चें में भी कटौती हुई है। यह वे अंग हैं जो समस्त जनसंख्या के स्वास्थ्य का आधार हैं। यह तथ्य कि प्रजनन एवं शिशु स्वास्थ्य (आर0सी0एच0) योजना को एन0पी0पी0 में प्राप्त केंन्द्रीय स्थान मिला है यह बात सिद्ध करती है कि स्वास्थ्य एवं जनकल्याण समिति जनसंख्या नीति के केंन्द्र बिन्दु नहीं हैं।

यह स्पष्ट है कि देश में स्त्रियों के स्वास्थ्य की दशा अत्यन्त दयनीय एवं भयावह है। यह कहा जा रहा है कि स्त्रियों को परिवार नियोजन सेवाएँ उपलब्ध कराने से अनचाहे गर्भ से छुटकारा मिल सकेगा तथा इसके फलस्वरूप माताओं की ऊँची मृत्यु दर घट सकेगी। ये तर्क, जो कि आंशिक रूप से सत्य हैं, पहले माँ एवं शिशु स्वास्थ्य रक्षा कार्यक्रमों के औचित्य को सिद्ध करने के लिए दिए जाते थे। सन् 1990 में नवीन आर0सी0एच0 कार्यक्रम का औचित्य सिद्ध करने के लिए यह तर्क दिया जाता था कि एड्स का क्षेत्र बढ़ने के साथ-साथ स्त्रियाँ प्रजनन सम्बन्धी रोगों से अत्यधिक ग्रस्त रहती हैं।

इस विचार के साथ जुड़ी हुई अनेक महत्त्वपूर्ण समस्याएँ हैं जो यह सिद्ध करती हैं कि मात्र प्रजनन सम्बन्धी कारण ही अकेले स्त्रियों की मृत्युदर को सबसे अधिक प्रभावित करते हैं। देश में स्त्रियों की मृत्यु से सम्बन्धित आँकड़े प्रदर्शित करते हैं कि यद्यपि स्त्रियों की मृत्यु दर प्रजनन सम्बन्धी कारणों से सबसे अधिक प्रभावित होती है, तब भी यह मृत्यु दर के समस्त कारणों का केवल 2.4 प्रतिशत ही है। स्त्रियों की प्रजनन सम्बन्धी उम्र के अन्तर्गत, यह लगभग 12 प्रतिशत मृत्युओं का कारण बनती है। अतः एन0पी0पी0 में आर0सी0एच0 का केन्द्रीय स्थान भ्रामक रहा है। (क़दीर, इमराना (1998), **"रिप्रोडेक्टिव हेल्थ : ए पब्लिक हेल्थ पर्सपेक्टिव"** (इकानॉमिक एण्ड पॉलिटिकल वीकली, संस्करण XXXIII नं0 41)। स्त्रियों के समस्त आयु वर्गों में, जिसमें प्रजनन की आयु भी शामिल है, सबसे अधिक मृत्यु संक्रामक रोगों एवं रक्त की कमी के कारण होती है। सच तो यह है कि गर्भवती स्त्रियों की तुलना में गर्भ धारण न किए हुए स्त्रियों की मृत्यु खून की कमी के कारण दो गुना तक अधिक होती है। अन्य शब्दों में मृत्यु के कारणों, दर आदि पर ध्यान देने पर यह स्पष्ट होता है कि आर0सी0एच0 योजना केवल-सम्पूर्ण समस्या को छू भर ही पाई है। रोगों एवं मृत्यु का यह ढाँचा जिस पर गरीबी एवं भुखमरी का प्रभुत्व है, से छुटकारा केवल एक विस्तृत सार्वभौमिक प्राथमिक स्वास्थ्य रक्षा कार्यक्रम द्वारा ही संभव है यहाँ तक कि सेवाओं की यह सीमित सुविधाएँ भी केवल एक सशक्त लोक स्वास्थ्य योजना द्वारा ही प्रदत्त की जा सकती हैं।

सच यह है कि यह तथ्य भाँपते हुए कि लम्बवत् कार्यक्रम सफल नहीं हुए हैं, तथा लम्बवत् परिवार नियोजन कार्यक्रमों ने स्वास्थ्य सुरक्षा कार्यक्रम को कमज़ोर बना दिया है, विशेषज्ञ समिति ने स्वास्थ्य सुरक्षा को मजबूत बनाने के उद्देश्य से कार्यक्रमों के एकीकरण का सुझाव दिया है।

यद्यपि इस सुझाव पर ध्यान नहीं दिया गया है, तथापि एन0पी0पी0 ने यह जरूरत महसूस की है कि "गर्भनिरोधक तकनीकों का अधिक से अधिक विकास किया जाना चाहिए तथा विशेष रूप से कार्यक्रम विकास के अन्तर्गत नवीन विकसित होती हुई तकनीकों को अवश्य शामिल किया जाना चाहिए।" इसका आशय इंजेक्शन द्वारा दिए जाने वाले गर्भनिरोधक साधनों से है। वास्तव में इस वर्ष के आरम्भ में स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय ने देश के बारह मेडिकल कॉलेजों में इंजेक्शन द्वारा प्रदत्त किए जाने वाले गर्भ-निरोधक 'नेट इन' का परीक्षण करने की योजना घोषित की (राव, मोहन 2001) 'पापुलेशन पॉलिसीजः स्टेट्स अप्रूव कोआर्सिव मेजर्स', (इकानॉमिक एण्ड पॉलिटिकल वीकली, संस्करण XXXVI, नं0 16/10)

यद्यपि 'नेट इन' सन् 1994 से निजी क्षेत्र में उपलब्ध है, तथापि इसका प्रयोग सीमित था क्योंकि ऐसा माना जाता था कि इस प्रकार के गर्भनिरोधक का इस्तेमाल करने के लिए कुछ ऐसी स्वास्थ्य सेवाओं की आवश्यकता है जो देश में विस्तृत रूप में विद्यमान नहीं थीं। आई0सी0एम0आर0 द्वारा सन् 1980 में किए गए विस्तृत परीक्षण में इस तकनीकी का प्रयोग करने वाले लगभग 45 प्रतिशत लोगों ने दो वर्षों में ही अनेक जटिलताओं की शिकायत करते हुए इसको छोड़ दिया। बहुतों की तो प्रजनन शक्ति ही समाप्त हो गई।

एक सत्य यह भी है, कि बलात जनसंख्या नियन्त्रण नीतियाँ लागू करने पर इस गर्भनिराधेक उपाय के दुरुपयोग करने की विस्तृत सम्भावनाएँ सत्य में परिवर्तित हो जाएँगी। एन0पी0पी0 की विपरीत लक्ष्य हेतु प्रतिबद्धता के बावजूद भी लक्ष्य-निर्देशित जनसंख्या नियंत्रण नीति के माध्यम से स्त्री-प्रयोगकर्ताओं की आवश्यकताओं को जन्मदर- कम करने की जल्दी में नज़रअंदाज किया जा रहा है। वास्तव में इसी सत्य ने सन् 1985 में आन्ध्र प्रदेश में स्त्रियों के एक समूह को उच्चतम-न्यायालय में इंजेक्शन द्वारा दिए जाने वाले गर्भनिरोधकों के खिलाफ एक याचिका दायर करने हेतु प्रेरित किया (बाल, विनीता 2000), "इंजेक्टेबल कांट्रेसेपटिवः रिकगनाइजिंग पोटेंशियल रिस्कस"; (**इकनॉमिक एण्ड पॉलिटिकल वीकली**, संस्करण XXXV, नं0 50)

यद्यपि एन0पी0पी0 किसी भी प्रकार के शक्ति-प्रयोग को निरस्त करने के फैसले पर स्पष्ट है, दंपतियों एवं पंचायतों को परिवार-नियोजन कार्यक्रम स्वीकार करने हेतु दी जाने वाली 'प्रेरणा' इस प्रतिबद्धता की राह में अड़चन पैदा करती है।

सूची-2 : स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण पर खर्च

योजना	अवधि	राशि	कुल योजना पर खर्च (समस्त विकास अधिकारी इकाइयाँ)
प्रथम	51-56	वास्तविक	1960
द्वितीय	56-61	वास्तविक	4672
तृतीय	61-66	वास्तविक	8576.5

वार्षिक	66-69	वास्तविक	6625.4
चौथी	69-74	वास्तविक	15778.8
पांचवी	74-79	वास्तविक	394262
79-80		वास्तविक	12176.5
छठी	80-85	व्यय	97500
छठी	80-85	वास्तविक	109291.7
सातवीं	85-90	व्यय	180000
सातवीं	85-90		218729
90-91		वास्तविक	61518
91-92		वास्तविक	65855
आठवीं	92-97	व्यय	434100
नवीं	97-02	व्यय	859200

फिर भी विभिन्न राज्यों द्वारा घोषित जनसंख्या नीतियाँ एन0पी0पी0 की प्रतिबद्धता पर प्रतिकूल प्रभाव डालती हैं। प्रेरणाविहीन राज्य नीतियाँ शक्ति प्रयोग द्वारा लागू की जा रही हैं। इस प्रकार उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान एवं महाराष्ट्र की नीतियाँ किसी भी व्यक्ति को उस दशा में सरकारी नौकरी हेतु आयोग्य घोषित कर देती हैं जबकि उसने विधि द्वारा मान्य आयु से पहले विवाह कर लिया हो। इसके अतिरिक्त पंचातयों को दी जाने वाली आर्थिक मदद को वे परिवार नियोजन कार्यक्रमों से जोड़ देती हैं तथा आपातकाल के दौर की याद करते हुए वे चिकित्सा अधिकारी तथा अन्य स्वास्थ्य सेवकों के मूल्याकंन में व आर0सी0एच0 कार्यक्रम में उनकी भूमिका पर भी नज़र डालती हैं। मध्य प्रदेश की नीति ग्रामीण विकास योजनाओं, स्त्रियों हेतु आय प्राप्ति की योजना तथा गरीबी उन्मूलन कार्यक्रमों के प्रावधानों को परिवार-नियोजन कार्यक्रमों में उनकी भूमिका से जोड़कर मूल्यांकन करती है। राजस्थान एवं महाराष्ट्र दोनों ने ही 'केवल दो बच्चे पैदा करने के नियम' को राज्य सरकार के कर्मचारियों के लिए अनिवार्य बना दिया है। एक शासनादेश (जो विरोध होने पर निरस्त कर दिया गया) द्वारा महाराष्ट्र सरकार ने यह घोषणा की कि केवल वे ही लोग गरीबों हेतु बनाई गई विभिन्न योजनाओं तथा पी0डी0एस0 एवं सरकारी विद्यालयों में शिक्षा का लाभ उठा सकेंगे जिनके मात्र दो बच्चे ही होंगे। आन्ध्र प्रदेश, जिसकी नीति में उपरोक्त विशेषताओं में से अनेक विशेषताएँ पाई जाती हैं, एक कदम और आगे बढ़ते हुए विद्यालयों के निर्माण, अन्य लोक निर्माण कार्यों एवं अन्य ग्रामीण विकास कार्यक्रमों को दी जाने वाली आर्थिक सहायता को परिवार-नियोजन कार्यक्रम से जोड़ देती है। अतिरिक्त कृषि योग्य भूमि का पंजीकरण, आवास-योजना, आई0आर0डी0पी0, एस0सी0एक्शन प्लान, बी0सी0 एक्शन प्लान के लाभों को भी गर्भ निरोध अपनाने के विषय के साथ जोड़ दिया गया है। इसके अतिरिक्त

यह व्यवस्था भी की गई है कि लाटरी व्यवस्था द्वारा उन तीन दंपतियों को दस-दस हजार रुपये का पुरस्कार दिया जाएगा जिन्होंने दो बच्चों के बाद गर्भ न पालने का निर्णय लिया है।

यह नीतियाँ एन0पी0पी0 एवं सन् 1994 के कैरो के आई0सी0पी0डी0 में भारत सरकार द्वारा किये गए वादों से बिल्कुल प्रतिकूल हैं। यह अत्यन्त आश्चर्यजनक बात है कि इन नीति निर्माताओं को, जिनका उद्देश्य जल्द से जल्द जनसंख्या को कम करना था, यह याद दिलाना पड़ता है कि इस प्रकार की नीतियों की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि देश के बड़े शहरों में महत्त्वपूर्ण जनसंख्यात्मक स्थानान्तरण दिन पर दिन आगे बढ़ रहा है तथा उन क्षेत्रों को जहाँ पर स्थानान्तरण अपेक्षाकृत धीमी गति से हो रहा है, अपनी स्वास्थ्य सेवाओं को मजबूत करने तथा गरीबी उन्मूलन कार्यक्रमों के विस्तार करने हेतु मदद की आवश्यकता है, न कि ऐसी नीतियों की जो गरीबों के लिए अहितकारी हों। एन0पी0पी0 स्वयं यह कहती है कि परिवार-नियोजन सेवाओं की अत्यधिक कमी है तथा अभी तक इस आवश्यकता की पूर्ति नहीं की जा सकी है। ऐसी स्थिति में बिना इस आवश्यकता की पूर्ति किए दण्डात्मक नीतियाँ प्रस्तावित करना नितान्त अतार्किक एवं गलत है।

हतोत्साहक नीतियों के अन्तर्गत गरीब-विरोधी, दलित विरोधी एवं आदिवासी विरोधी नीतियाँ आती हैं। इन वर्गों को गरीबी एवं सुविधाओं से वंचित होने की स्थिति को समाप्त करने वाले उपायों के बन्द कर दिए जाने का दुष्परिणाम भी झेलना पड़ा। सन् 1998-99 का **राष्ट्रीय परिवार-स्वास्थ्य सर्वेक्षण** (एन0एफ0एच0एस0) अनुसूचित जातियों की स्त्रियों के बीच पूर्ण प्रजननकता दर (टी0एफ0आर0) 3.15, अनुसूचित जनजातियों के बीच 3.06 तथा अन्य पिछड़ी जातियों के बीच 2.66 एवं अनपढ़ स्त्रियों के बीच 3.47 प्रतिशत है। (अन्तर्राष्ट्रीय जनसंख्या विज्ञान संस्थान (2000), राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण : भारत, 1998-99, मुम्बई। इसके विपरीत कक्षा 10 से अधिक पढ़ी स्त्रियों के बीच यह दर 1.99 है। अतः मात्र दो बच्चे पैदा करने के नियम एवं राज्य-नीतियों में प्रस्तावित हतोत्साहक प्रावधानों का तात्पर्य होगा इन पहले से ही सुविधा-वंचित वर्गों द्वारा इन सुधारवादी उपायों, जो कि पहले से ही अपर्याप्त है, को वापस ले लिये जाने का दुष्परिणाम झेलना। निजीकरण, जो अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों को संगठित क्षेत्र में रोजगार प्राप्त करने के अवसरों से संचित करता है, के साथ-साथ ये अन्य नीतियाँ भी उन्हें जन-क्षेत्र में प्राप्त होने वाले रोजगार अवसरों में कटौती करेंगी।

देश में दलित, आदिवासी एवं अन्य पिछड़ी जातियों की मृत्यु-दर अन्य वर्गों से अपेक्षाकृत ऊँची है। राष्ट्रीय परिवार-स्वास्थ्य सर्वेक्षण स्पष्ट करता है कि अनुसूचित जातियों, जनजातियों एवं अन्य पिछड़े वर्गों के बीच आई0एम0आर0 क्रमशः 83,84 एवं 76 था, जबकि अन्य वर्गों में यह 62 ही था। इस प्रकार पाँच वर्ष की आयु से पहले मरने वालों की दर अनुसूचित जातियों में 113, अनुसूचित जनजातियों में 126 तथा अन्य पिछड़ी जातियों में 103 थी, जबकि अन्य वर्गों में यह दर केवल 82 ही थी। अतः ऐसी स्थिति में मात्र दो बच्चे पैदा करने का नियम असंगत एवं अनैतिक होगा। इन समस्याओं के कारणों से निपटने के बजाय जनसंख्या सम्बन्धी नीतियाँ

सुविधा-वंचित वर्गों को दण्ड देती प्रतीत हो रही हैं।

जिन हतोत्साहक नियमों की व्यवस्था की गई है, वे स्त्री-विरोधी भी हैं, क्योंकि भारत में स्त्रियों को यह सोचने का अधिकार प्राप्त नहीं है कि उन्हें कब बच्चे पैदा करने हैं, कितने बच्चे पैदा करने हैं तथा वास्तव में इस बात पर भी उनका कोई नियन्त्रण नहीं है कि उनमें से कितने जीवित रह पाएँगे। ऐसी स्त्रियों को पंचायत में चुनाव लड़ने के अधिकार से वंचित करना नारी सशक्तिकरण सम्बन्धी नीतियों का मखौल उड़ाने जैसा है। ऐसे तथ्य स्त्रियों को लिंग देखकर गर्भपात कराने की और भी अधिक प्रेरणा देंगे। लिंग देखकर गर्भपात कराने के तरीके ने पहले ही देश के लिंग-अनुपात को बिल्कुल असंतुलित कर दिया है। ये नीतियाँ अल्पसंख्यक वर्गों के लिए भी अहितकारी हैं क्योंकि इन समुदायों के कुछ वर्गों में उच्च टी0एफ0 आर0 उनकी दयनीय सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति का प्रतिबिम्ब है। साथ ही यहाँ यह तथ्य भी ध्यान देने योग्य है कि जहाँ आर्थिक वर्धन की हिन्दू दर एक कल्पना मात्र है, वहीं मुस्लिम वर्ग की जनसंख्या वृद्धि भी ऐसी ही है। साथ ही ये नीतियाँ लोकतान्त्रिक भी हैं तथा संविधान के अनेक प्रावधानों (एकांत का अधिकार, जीवन का अधिकार, जीविका का अधिकार, आदि) तथा ऐसे अनेक अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों का उल्लंघन करती हैं, जिन पर भारत ने हस्ताक्षर किए हैं। इनमें बच्चों के अधिकार भी शामिल हैं।

आखिर इन जनसंख्या सम्बन्धी नीतियों का अर्थ है क्या ? जहाँ अधिकारों की भाषा एवं लिंग-न्याय का आलंकारिक अर्थों में प्रयोग होता है, ये नीतियाँ गरीबों के अविश्वास को बढ़ाती हैं तथा उनके स्वास्थ्य एवं कल्याण के प्रति उपेक्षा को उजागर करती हैं। स्वास्थ्य व्यवस्था की अस्तव्यस्तता एवं जनसंख्या के बड़े वर्ग को हाशिए पर लाने वाली विस्तृत आर्थिक नीतियों के द्वारा वे केवल जनसंख्या घटाने के उपाय तक ही समिति रह जाएँगी। दुःख की बात यह है कि यह सब सामाजिक एवं आर्थिक विकास में अड़चन पैदा करने वाले जनसंख्यात्मक कारणों के नाम पर किया जा रहा है।

(साभार : Delhi Science Forum's Alternative Survery- 2001-2002)

अध्याय 22

जनगणना–2001

(Census- 2001)

भारत में जनगणना 2001 का कार्य अपने आप में एक युगांतरकारी एवं ऐतिहासिक घटना है क्योंकि यह 21वीं शताब्दी तथा तीसरी सहस्राब्दी में होने वाली पहली जनगणना है। इससे हमारे देश में उपलब्ध भरपूर मानव संसाधन, उनकी आबादी, संस्कृति और आर्थिक स्वरूप के बारे में महत्त्वपूर्ण आँकड़ों का पता चल सकेगा।

जनगणना 2001 के लिए जनसंख्या की निगरानी का कार्य 9 से 29 फरवरी, 2001 के दौरान किया गया। इसके पश्चात् 1 से 5 मार्च, 2001 तक इसका संशोधनात्मक दौर चला आबादी की गिनती के कार्य को जिस क्षण से शुरू किया गया है उसे 1 मार्च, 2001 को 00.00 बजे माना गया है। वर्ष 1991 तक, जनगणना की गिनती की शुरुआत 1 मार्च को सूर्योदय के समय से की जाती थी। हमेशा की तरह बेघर लोगों की गणना 28 फरवरी, 2001 की रात्रि से शुरू की गई।

जनसंख्या

एक मार्च, 2001 को भारत की जनसंख्या एक अरब 2 करोड़ 70 लाख (53.13 करोड़ पुरुष और 49.57 करोड़ स्त्रियाँ) थीं। भारत के पास 1357.90 लाख वर्ग कि.मी. भू-भाग है जो विश्व के कुल भू-भाग का मात्र 2.4 प्रतिशत है फिर भी विश्व की 16.7 प्रतिशत आबादी का भार उसे वहन करना पड़ रहा है। वर्ष 1950 में विश्व की कुल आबादी का 22 प्रतिशत हिस्सा चीन में था, उसके बाद भारत के हिस्से में 14.2 प्रतिशत आबादी थी।

20वीं शताब्दी की शुरुआत में भारत की आबादी करीब 23 करोड़ 84 लाख थी जो बढ़ कर 21वीं शताब्दी में एक अरब 2 करोड़ 70 लाख तक पहुँच गई। भारत की जनसंख्या की गणना 1901 के पश्चात् हर 10 वर्ष बाद होती है। इसमें 1911-21 की अवधि को छोड़ कर प्रत्येक 10 वर्षों में आबादी में वृद्धि की रफ्तार दर्ज की गई। वर्ष 1901 से जनसंख्या में हुई वृद्धि के आँकड़े सारणी 1.1 में दर्शाए गए हैं।

सारणी 1.2 में विभिन्न राज्यों और केन्द्रशासित प्रदेशों की जनसंख्या वृद्धि के चुने हुए आँकड़े दर्शाए गए हैं। वर्ष 1991-2001 की जनगणना अवधि के दौरान केरल में सबसे कम

9.42 प्रतिशत जनसंख्या वृद्धि हुई जबकि नागालैंड में सबसे अधिक 64.41 प्रतिशत जनसंख्या वृद्धि दर्ज की गई। दिल्ली में 46.31 प्रतिशत, चंडीगढ़ में 40.33 प्रतिशत और सिक्किम में 32.98 प्रतिशत जनसंख्या वृद्धि रही। केरल के अतिरिक्त तमिलनाडु और आंध्र प्रदेश में भी 1991-2001 के दौरान जनसंख्या वृद्धि काफी कम रही। हरियाणा, उत्तर प्रदेश, बिहार, सिक्किम, नागालैंड, मणिपुर, गुजरात, दमन और दीव तथा नगर हवेली आदि को छोड़कर शेष सभी राज्यों/केंद्रशासित प्रदेशों में कमी आई। जिन राज्यों और केंद्रशासित प्रदेशों में जनगणना दशक के दौरान जनसंख्या के प्रतिशत में वृद्धि दर्ज की गई। यह वृद्धि भारत की कुल आबादी का लगभग 32 प्रतिशत है।

आबादी का घनत्व

जनसंख्या की सघनता का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष आबादी का घनत्व है। इसे इस रूप में परिभाषित किया जाता है कि प्रति वर्ग कि.मी. क्षेत्र में लोगों की संख्या कितनी है। आबादी का घनत्व 2001 में 324 था। 1991 से 2001 के बीच राज्यों और केंद्रशासित प्रदेशों में जनसंख्या के घनत्व में वृद्धि हुई है। प्रमुख राज्यों में पश्चिम बंगाल अभी भी सबसे अधिक घनत्व वाला राज्य है। यहाँ 2001 में आबादी का घनत्व 904 था। बिहार दूसरे नंबर पर है जबकि आबादी के घनत्व के हिसाब से केरल का स्थान तीसरा है। शेष राज्यों और केन्द्रशासित प्रदेशों में आबादी के घनत्व की स्थिति सारणी 1.3 में दिखाई गई है।

स्त्री-पुरुष अनुपात

स्त्री अनुपात को इस रूप में परिभाषित किया गया है कि प्रति एक हजार पुरुषों के अनुपात में स्त्रियों की संख्या कितनी है। इससे एक निश्चित समय पर समाज में स्त्री और पुरुषों के बीच बराबरी का संकेत मिलता है। देश में यह अनुपात हमेशा स्त्रियों के प्रतिकूल रहा है। पिछली शताब्दी के प्रारंभ में यह अनुपात 972 था उसके बाद 1941 तक इसमें निरंतर कमी हुई। स्त्री-पुरुष अनुपात (1901-2001) को सारणी 1.4 में दर्शाया गया है।

साक्षरता

जनसंख्या 2001 में उस व्यक्ति को 'साक्षर' माना गया है जो किसी भाषा को समझकर उसे लिख-पढ़ सकता है। ऐसे व्यक्ति को साक्षर नहीं माना जाएगा जो केवल पढ़ सकता है परंतु लिख नहीं सकता। वर्ष 1991 से पूर्व हुई जनगणनाओं में पांच वर्ष से कम आयु के बच्चों को अनिवार्य रूप से निरक्षर माना जाता था।

2001 की जनगणना के अस्थायी परिणामों से पता चलता है कि देश में साक्षरता में वृद्धि हो रही है। देश में साक्षरता दर 65.38 प्रतिशत है (इसमें 75.85 प्रतिशत पुरुष और 54.16 प्रतिशत स्त्रियाँ हैं)। साक्षरता दर में हो रहे सुधार को सारणी 1.5 में दर्शाया गया है।

साक्षरता की दृष्टि से केरल सबसे ऊपर है जहाँ साक्षरता दर 90.92 प्रतिशत है। उसके

बाद मिजोरम 88.49 प्रतिशत और लक्षद्वीप 87.52 प्रतिशत से दूसरे और तीसरे स्थान पर हैं। बिहार में दर सबसे कम 47.53 प्रतिशत है। झारखंड में (उससे अधिक 54.13 प्रतिशत) और जम्मू-कश्मीर में 54.46 प्रतिशत है। केरल में सबसे अधिक 94.20 प्रतिशत साक्षर पुरुष और 87.86 प्रतिशत महिलाएँ हैं। इसके विपरीत बिहार में सबसे कम साक्षरता दर दर्ज की गई है जहाँ 60.32 प्रतिशत पुरुष और 33.57 प्रतिशत महिलाएँ साक्षर हैं। देश के विभिन्न राज्यों और केंद्रशासित प्रदेशों में पुरुषों और स्त्रियों की साक्षरता दर सारणी 1.6 में दर्शायी गई है।

सारणी 1.7 से सारणी 13 तक जो आँकड़े दिए गए हैं उनमें जनगणना 2001 के लिए आँकड़े तैयार करने का काम अभी चल रहा है अतः उसके प्रमाणित आँकड़े अभी उपलब्ध नहीं हैं।

सारणी : 1.1

जनसंख्या (1901-2001)

जनगणना वर्ष	जनसंख्या*	दसवर्षीय वृद्धि परिशुद्ध	प्रतिशत	दसवर्षीय वृद्धि में परिवर्तन परिशुद्ध	प्रतिशत	औसत वार्षिक घातीय वृद्धि दर (प्रतिशत)	१९०१ के बाद उत्तरोत्तर वृद्धि दर (प्रतिशत)
1901	238,396,327	-	-	-	-	-	..
1911	252,093,390	1,36,97,063	5.75	-	-	0.56	5.75
1921	251,321,213	-7,72,177	-0.31	14,469,240	-0.06	0.03	5.42
1931	278,977,238	27,656,025	11.00	28,428,202	11.31	1.04	17.02
1941	318,660,580	39,683,342	13.31	12,027,317	3.22	1.33	33.67
1951[1]	361,088,090	42,427,510	13.31	1,744,168	-091	1.25	51.47
1961	439,234,771	78,146,681	21.64	35,719,171	8.33	1.96	84.25
1971	548,159,652	108,924,881	24.55	30,778,200	3.16	2.20	129.94
1981[2]	683,329,097	135,169,445	24.66	26,244,564	-0.14	2.22	186.64
1991[3]	843,387,888	163,058,791	23.86	27,889,346	-0.80	2.14	255.03
2001[5]	1,02,27,01,524	180,627,359	21.34	17,568,568	-2.52	1.93	330.80

स्रोतः अनंतिम कुल जनसंख्या, 2001 का पत्र-1 शृंखला-1 भारत की जनगणना 2001

टिप्पणियाँ

1- भारत की 1941-51 की जनगणना में 'दशकीय वृद्धि' और 'दशकीय वृद्धि प्रतिशत' की गणना करते समय 1951 के लिए त्यूवेनसांग जिले की जनसंख्या (7,025) और 1961 के लिए नगालैंड के त्युवेनसांग जिला (83,501) तथा मोन जिले (5,774) की जनसंख्या को शामिल नहीं किया गया क्योंकि इन क्षेत्रों में पहली बार 1951 में जनगणना कराई गई थी तथा वह तुलनीय नहीं है।

2- असम में गड़बड़ी की वजह से 1981 में वहाँ जनगणना नहीं की गई। अतः 1981 के लिए असम की जनसंख्या के आँकड़ों का आकलन आंतर-गणन विधि से किया गया है।

3- जम्मू-कश्मीर में गड़बड़ी की वजह से 1991 में वहाँ जनगणना नहीं हो पाई। अतः 1991 के लिए जम्मू-कश्मीर की जनसंख्या का आकलन आंतर-गणन के आधार पर किया गया है।

4- भारत की जनसंख्या में गुजरात के कच्छ जिले, मोरवी, मलिया-मियाना और राजकोट जिले के वांकानेर तालुक, जामनगर जिले के जोदिया तालुक तथा हिमाचल प्रदेश के समूचे किन्नौर जिले की अनुमानित जनसंख्या को शामिल किया गया है क्योंकि इन क्षेत्रों में प्राकृतिक विपदा के कारण 2001 में जनगणना नहीं हो सकी।

सारणी : 1.2

राज्य और केंद्रशासित प्रदेश (जनसंख्या के क्रम से)

2001 में स्थान	राज्य/केंद्रशासित	जनसंख्या 2001	भारत की कुल जनसंख्या का प्रतिशत		1991 में स्थान
			2001	1991	
1	2	3	4	5	6
1.	उत्तर प्रदेश	166,052,859	16.17	15.60	1
2.	महाराष्ट्र	96,752,247	9.42	9.33	2
3.	बिहार	82,878,796	8.07	7.62	5
4.	पश्चिम बंगाल	80,221,171	7.81	8.04	3
5.	आंध्र प्रदेश	75,727,541	7.37	7.86	4
6.	तमिलनाडु	62,110,839	6.05	6.59	6
7.	मध्य प्रदेश	60,385,118	5.88	5.74	7
8.	राजस्थान	56,476,122	5.50	5.20	9
9.	कर्नाटक	52,733,958	5.14	5.31	8
10.	गुजरात	50,596,992	4.93	4.88	10
11.	उड़ीसा	36,706,920	3.57	3.74	11
12.	केरल	31,838,619	3.10	3.44	12
13.	झारखंड	26,909,428	2.62	2.58	14
14.	असम	26,638,407	2.57	2.64	13
15.	पंजाब	24,289,296	2.37	2.40	15

16.	हरियाणा	21,082,989	2.05	1.95	17
17.	छत्तीसगढ़	20,795,956	2.03	2.08	16
18.	दिल्ली	13,782,976	1.34	1.11	18
19.	जम्मू और कश्मीर	10,069,917	0.98	0.92	19
20.	उत्तरांचल	8,479,562	0.83	0.84	20
21.	हिमाचल प्रदेश	6,077,248	0.59	0.61	21
22.	त्रिपुरा	3,191,168	0.31	0.33	22
23.	मणिपुर	2,388,634	0.23	0.22	23
24.	मेघालय	2,306,069	0.22	0.21	24
25.	नागालैंड	1,988,636	0.19	0.14	25
26.	गोवा	1,343,998	0.13	0.14	26
27.	अरुणाचल प्रदेश	1,091,117	0.11	0.10	27
28.	पांडिचेरी	9,73,829	0.09	0.10	28
29.	चंडीगढ़	9,00,914	0.09	0.08	30
30.	मिजोरम	8,91,058	0.09	0.08	29
31.	सिक्किम	5,40,493	0.05	0.05	31
32.	अंडमान और निक़ोबार द्वीप समूह*	3,56,265	0.03	0.03	32
33.	दादरा और नगर हवेली*	2,20,451	0.02	0.02	33
34.	दमन और दीव	1,58,059	0.02	0.01	34
35.	लक्षद्वीप*	60,595	0.01	0.01	35

स्रोतः अनंतिम कुल जनसंख्या, 2001 का पत्र-1 शृंखला-1, भारत की जनगणना 2001

टिप्पणियाँ

1- जम्मू-कश्मीर में गड़बड़ी की वजह से 1991 में जनगणना नहीं हो पाई। अतः 1991 के लिए जम्मू कश्मीर की जनसंख्या का आकलन आंतर-गणन के आधार पर किया गया है।

सारणी : 1.3

राज्यों और केंद्रशासित प्रदेशों की सघनता (1991 और 2001)

राज्य/केंद्रशासित प्रदेश 2001 में स्थान		सघनता (प्रति वर्ग कि.मी.) 2001	1991	1991 में स्थान
1	2	3	4	5
1.	दिल्ली	9,294	6,352	1
2.	चंडीगढ़	7,903	5,632	2
3.	पांडिचेरी	2,029	1,683	3
4.	लक्षद्वीप	1,894	1,616	4
5.	दमन और दीव	1,411	907	5
6.	पश्चिम बंगाल	904	767	6
7.	बिहार	880	685	8
8.	केरल	819	749	7
9.	उत्तर प्रदेश	689	548	9
10.	पंजाब	482	403	11
11.	तमिलनाडु	478	429	10
12.	हरियाणा	477	372	12
13.	दादरा और नगर हवेली	449	282	15
14.	गोवा	363	316	13
15.	असम	340	286	14
16.	झारखंड	338	274	16
17.	महाराष्ट्र	314	257	18
18.	त्रिपुरा	304	263	17
19.	आंध्र प्रदेश	275	242	19
20.	कर्नाटक	275	235	20
21.	गुजरात	258	211	21
22.	उड़ीसा	236	203	22
23.	मध्य प्रदेश	196	158	23
24.	राजस्थान	165	129	26
25.	उत्तरांचल	159	133	24
26.	छत्तीसगढ़	154	130	25
27.	नागालैंड	120	73	31

28. हिमाचल प्रदेश	10	93	27
29. मणिपुर	107	82	28
30. मेघालय	103	79	29
31. जम्मू और कश्मीर	99	74	30
32. सिक्किम	76	57	32
33. अंडमानऔर निकोबार द्वीपसमूह	43	34	33
34. मिजोरम	42	33	34
35. अरुणाचल प्रदेश	13	10	35

स्रोतः अनंतिम कुल जनसंख्या, 2001 का पत्र-1 शृंखला-1, भारत की जनगणना 2001

टिप्पणियाँ

1- जम्मू-कश्मीर में गड़बड़ी की वजह से 1991 में जनगणना नहीं हो पाई। अतः 1991 के लिए जम्मू-कश्मीर की जनसंख्या का आकलन आंतर-गणन के आधार पर किया गया है।

2- भारत की जनसंख्या में गुजरात के कच्छ जिले, मोरवी, मलिया-मियाना और राजकोट जिले के वांकानेर तालुक, जामनगर जिले के जोदिया तालुक तथा हिमाचल प्रदेश के समूचे किन्नौर जिले की अनुमानित जनसंख्या को शामिल किया गया है क्योंकि इन क्षेत्रों में प्राकृतिक विपदा के कारण 2001 में जनगणना नहीं हो सकी।

सारणी : 1.4

स्त्री-पुरुष अनुपात : 1901-2001

जनगणना वर्ष	स्त्री-पुरुष अनुपात
1901	972
1911	964
1921	955
1931	950
1941	945
1951	946
1961	941
1971	930
1981	934
1991	927
2001	933

स्रोतः अनंतिम कुल जनसंख्या, 2001 का पत्र-1, शृंखला-1 भारत की जनगणना 2001

टिप्पणियाँ

1- वर्ष 1991 के लिए जम्मू-कश्मीर में आँकड़े आंतर-गणन के आधार पर लिए गए हैं।

2- वर्ष 2001 के लिए भारत में स्त्री-पुरुष अनुपात के आँकड़े तैयार करते समय-समय गुजरात के समूचे कच्छ जिले, मोरवी, मलिया-मियाना और राजकोट जिले के वांकानेर, जामनगर जिले के जोदिया तालुक तथा हिमाचल प्रदेश के समूचे किन्नौर जिले की अनुमानित जनसख्या को शामिल किया गया है क्योंकि इन क्षेत्रों में प्राकृतिक विपदा के कारण 2001 में जनगणना नहीं हो सकी।

सारणी : 1.5

साक्षरता-दर : 1951-2001

(प्रतिशत में)

वर्ष	व्यक्ति	पुरुष	स्त्रियाँ
1951	18.33	27.16	8.86
1961	28.30	40.40	15.35
1971	34.45	45.96	21.97
1981	43.57	56.38	29.76
1991	52.21	64.13	39.29
2001	65.38	75.85	54.16

स्रोतः अनंतिम कुल जनसंख्या, 2001 का पत्र-1 शृंखला-1, भारत की जनगणना 2001

टिप्पणियाँ

1- वर्ष 1951, 1961 और 1971 की साक्षरता दर में 5 वर्ष या उससे अधिक आयु के लोगों की जनसंख्या ली गई है। 1981, 1991 तथा 2001 की दरों में 7 वर्ष या उससे अधिक आयु के लोगों की जनसंख्या ली गई है।

2- 1981 के लिए साक्षरता दर में असम को शामिल नहीं किया गया है, क्योंकि वहाँ जनगणना नहीं कराई जा सकी। 1991 की जनगणना में साक्षरता दर तैयार करते समय जम्मू-कश्मीर को शामिल नहीं किया गया क्योंकि वहाँ गड़बड़ी के कारण 1991 में जनगणना नहीं कराई जा सकी।

3- 2001 की जनगणना के लिए साक्षरता के समूचे कच्छ जिले, राजकोट जिले के मोरवी, मलिया-मियाना और वांकानेर तालुक, जामनगर जिले के जोदिया तालुक को शामिल नहीं किया गया है, जहाँ प्राकृतिक विपदा की वजह से भारत की जनगणना में जनसंख्या की गणना नहीं हो पाई।

सारणी : 1.6

राज्यों और केंद्रशासित प्रदेशों में व्यक्तियों, पुरुषों तथा स्त्रियों की साक्षरता दर, 2001

स्थान राज्य/केंद्रशासित प्रदेश	व्यक्ति साक्षरता दर	पुरुष साक्षरता दर	स्त्री साक्षरता दर
1 2	3	4	5
संपूर्ण भारत	65.38	75.85	54.16
1. केरल	90.92	94.20	87.86
2. मिजोरम	88.89	90.69	86.13
3. लक्षद्वीप	87.52	93.15	81.56
4. गोवा	82.32	88.88	75.51
5. दिल्ली	81.82	87.37	75.00
6. चंड़ीगढ़	81.76	85.65	76.65
7. पांडिचेरी	81.49	88.89	74.13
8. अंडमान और निकोबार द्वीपसमूह	81.18	86.07	75.29
9. दमन और दीव	81.09	88.40	70.37
10. महाराष्ट्र	77.27	86.27	67.51
11. हिमाचल प्रदेश	77.13	86.02	68.08
12. त्रिपुरा	73.66	81.47	65.41
13. तमिलनाडु	73.47	82.33	64.55
14. उत्तरांचल	72.28	84.01	60.26
15. गुजरात	69.97	80.50	58.60
16. पंजाब	69.95	75.63	63.55
17. सिक्किम	69.68	76.73	61.46
18. पश्चिम बंगाल	69.22	77.58	60.22
19. मणिपुर	68.87	77.87	59.70
20. हरियाणा	68.59	79.25	56.31
21. नागालैंड	67.11	71.77	61.92
22. कर्नाटक	67.04	76.29	57.45
23. छत्तीसगढ़	65.18	77.86	52.40

24. असम	64.28	71.93	56.03
25. मध्य प्रदेश	64.11	76.80	50.28
26. उड़ीसा	63.61	75.95	50.97
27. मेघालय	63.31	66.14	60.41
28. आंध्र प्रदेश	61.11	70.85	51.17
29. राजस्थान	61.03	76.46	44.34
30. दादरा और नगर हवेली	60.03	73.32	42.99
31. उत्तर प्रदेश	57.36	70.23	42.98
32. अरुणाचल प्रदेश	54.74	64.07	44.24
33. जम्मू-कश्मीर	54.46	65.75	41.82
34. झारखंड	54.13	67.94	39.38
35. बिहार	47.53	60.32	33.57

स्रोतः अनंतिम कुल जनसंख्या, 2001 का पत्र-1 शृंखला-1, भारत की जनगणना 2001

टिप्पणियाँ

1- भारत में साक्षरता दर के आँकड़े तैयार करते समय समूचे कच्छ जिले, राजकोट जिले के मोरवी, मलिया-मियाना और वांकानेर तालुक, जामनगर जिले के जोदिया तालुक को शामिल नहीं किया गया है, जहाँ प्राकृतिक विपदा की वजह से भारत की जनगणना- 2001 में जनसंख्या की गणना नहीं हो पाई।

2- हिमाचल प्रदेश की साक्षरता दर तैयार करते समय भारत की जनगणना- 2001 में समूचे किन्नौर जिले की जनसंख्या को शामिल नहीं किया गया है, क्योंकि प्राकृतिक विपदा की वजह से वहाँ जनगणना नहीं कराई जा सकी।

सारणी : 1.7

जनसंख्या अनुसूचित जातियाँ एवं जनजातियाँ, 1991

राज्य/केंद्रशासित प्रदेश	कुल जनसंख्या	अनुसूचित जातियाँ जनसंख्या ('000)	कुल जनसंख्या का प्रतिशत	अनुसूचित जनजातियाँ जनसंख्या ('000)	कुल जनसंख्या का प्रतिशत
1	2	3	4	5	6
भारत	838,584	138,223	16.48	67,758	8.08
राज्य					
1. आंध्र प्रदेश	66,508	10,592	15.93	4,200	6.31
2. अरुणाचल प्रदेश	865	4	0.47	550	63.66

3. असम	22,414	1,659	7.40	2,847	12.82
4. बिहार	86,374	12,572	14.55	6,617	7.66
5. गोवा	1,170	24	2.08	–	0.03
6. गुजरात	14,310	3,060	7.41	6,612	14.92
7. हरियाणा	16,464	3,251	19.75	–	–
8. हिमाचल	5,171	1,310	25.34	218	4.22
9. कर्नाटक	44,977	7,369	16.38	1,916	4.26
10. केरल	39,099	2,887	9.92	321	1.10
11. मध्य प्रदेश	66,181	9,627	14.54	15,399	23.27
12. महाराष्ट्र	78,937	8,758	11.10	7,318	9.27
13. मणिपुर	1,837	37	2.02	632	34.41
14. मेघालय	1,775	9	0.51	1,518	85.53
15. मिजोरम	690	1	0.10	654	94.75
16. नागालैंड	1,210	–	–	1,061	87.70
17. उड़ीसा	31,660	5,129	16.20	7,032	22.21
18. पंजाब	20,282	5,743	28.31	–	–
19. राजस्थान	44,006	7,608	17.29	5,475	12.44
20. सिक्किम	406	24	5.93	91	22.36
21. तमिलनाडु	55,859	10,712	19.18	574	1.03
22. त्रिपुरा	2,757	451	16.36	853	30.95
23. उत्तर प्रदेश	139,112	29,276	21.05	288	0.21
24. पश्चिम बंगाल	68,078	16,081	23.62	3,809	5.60
केंद्रशासित प्रदेश					
1. अंडमान और निकोबार द्वीप समूह	281	–	–	27	9.54
2. चंड़ीगढ़	642	106	16.51	–	–
3. दादरा और नगर हेवली	138	3	1.97	109	78.99
4. दमन और दीव	102	4	3.83	12	11.54
5. दिल्ली	9,421	1,795	19.05	–	–

6. लक्षद्वीप	52	-	-	48	93.15
7. पांडिचेरी	808	131	16.25	-	-

स्रोतः अनंतिम कुल जनसंख्या, 2001 का पत्र-1 शृंखला-1, भारत की जनगणना 2001

टिप्पणियाँ

1- इसमें जम्मू और कश्मीर के आँकड़े शामिल नहीं हैं, जहाँ 2001 में जनगणना नहीं हुई।

सारणी : 1.8

ग्रामीण तथा शहरी जनसंख्या : 1901-1991

जनगणना वर्ष	जनसंख्या (दस लाख में)		कुल जनसंख्या का प्रतिशत	
	ग्रामीण	शहरी	ग्रामीण	शहरी
1	2	3	4	5
1991	213	26	89.2	10.8
1911	226	26	89.7	10.3
1921	223	28	88.8	11.2
1631	246	33	88	12
1941	275	44	86.1	13.9
1951	299	62	82.7	17.3
1961	360	79	82	18
1971	439	109	80.1	19.9
1981*	524	159	76.7	23.3
1982**	629	218	74.3	25.7

स्रोतः भारतीय जनगणना 1991-92 का पत्र सं.-2, अंतिम कुल जनसंख्या।

* 1981 के बाद से असम में जनगणना नहीं हो सकी। असम के लिए 1981 की जनसंख्या अंतर-गणना के आधार पर तैयार की गई है

** जम्मू और कश्मीर की प्रक्षेपित जनसंख्या भी इसमें शामिल है।

सारणी : 1.9

कस्बों के वर्गीकरण के आधार पर शहरीकरण में वृद्धि

कस्बों का वर्ग	जनसंख्या '000 में					
	1901	1951	1961	1971	1981	1991
1	2	3	4	5	6	7
1. 1,00,000 और अधिक	5,571	23,483	34,736	52,808	82,227	1,22,291

2. 50,000-99,999	2,948	7,548	9,530	14,712	22,037	28,764
3. 20,000-49,999	4,346	11,115	15,728	19,865	26,719	35,273
4. 10,000-19,999	5,847	9,331	11,241	13,929	17,588	21,079
5. 5,000-9,999	5,332	8,463	6,304	6,089	6,788	7,397
6. पांच हजार से कम	1,650	2,047	805	853	1,062	967
सभी वर्ग	25,693	61,987	78,343	1,08,256	1,56,420	2,15,772
कुल जनसंख्या में शहरी जनसंख्या का प्रतिशत	10.84	17.29	19.97	19.91	23.24	25.72

स्रोतः पार्ट II-A (ii)- ए सीरिज- 1901-1991 की जनसंख्या सहित 1991 के शहरी एवं कस्बाई समूह- सारणी ए-4

टिप्पणी-

जम्मू-कश्मीर के आँकड़े शामिल नहीं किए गए हैं, क्योंकि वहाँ अशांत परिस्थितियों के कारण 1991 एवं उसके बाद जनगणना नहीं हो सकी। तुलनात्मक अध्ययन के लिए 1901 से 1981 में भी जम्मू-कश्मीर के आँकड़े शामिल नहीं किए गए हैं।

इसमें असम के आँकड़े शामिल नहीं हैं, क्योंकि 1981 एवं उसके बाद वहाँ जनगणना नहीं हो सकी।

1. जम्मू-कश्मीर तथा असम के आँकड़े शामिल हैं।

सारणी : 1.10

गाँवों का जनसंख्या के अनुसार वितरण : 1991

राज्य/ केंद्रशासित प्रदेश	1,000 से कम	1,000 से 1,999	2,000 से 4,999	5,000 से 9,999	10,000 और उससे अधिक	कुल
1 2	3	4	5	6	7	8
भारत[1+2]	390,093	114,305	62,915	10,597	2,779	580,781*
1. आंध्र प्रदेश	11,856	6,433	6,510	1,474	313	26,586
2. अरुणाचल प्रदेश	3,538	82	25	3	1	3,649
3. असम	17,784	4,988	1793	111	9	24,685
4. बिहार	45,164	12,768	7,647	1,604	330	67,513
5. गोवा	156	78	94	31	1	360
6. गुजरात	8,528	5,432	3,418	575	75	18,028
7. हरियाणा	2,627	2,021	1,703	364	44	6,759

8. हिमाचल प्रदेश	16,361	495	136	5	–	16,997
9. कर्नाटक	17,113	5,861	3,242	570	100	26,066
10. केरल	7	16	102	252	1,007	1,384
11. मध्य प्रदेश	56,568	11,426	3,264	261	7	71,526
12. महाराष्ट्र	24,111	10,632	4,715	762	192	40,412
13. मणिपुर	1,834	192	135	16	3	2,182
14. मेघालय	5,316	129	38	1	–	5,484
15. मिजोरम	616	61	19	2	–	698
16. नागालैंड	929	170	108	8	1	1,216
17. उड़ीसा	39,309	5,761	1,812	103	4	6,989
18. पंजाब	7,447	3,130	1,628	209	14	12,428
19. राजस्थान	27,123	7,060	3,255	420	31	37,889
20. सिक्किम	336	79	29	3	–	447
21. तमिलनाडु	4,915	4,625	4,764	1,247	271	15,822
22. त्रिपुरा	195	203	348	94	15	855
23. उत्तर प्रदेश	74,866	24,523	11,949	1,336	129	112,803
24. पश्चिम बंगाल	22,701	8,065	5,819	1,117	208	37,910
25. अंडमान और निकोबार द्वीप समूह	445	44	15	–	–	504
26. चंड़ीगढ़	7	6	8	3	1	25
27. दादरा और नगर हवेली	27	17	25	1	1	71
28. दमन और दीव	9	6	6	2	1	24
29. दिल्ली	29	44	86	19	21	199
30. लक्षद्वीप	2	–	4	1	–	7
31. पांडिचेरी	174	48	38	3	–	263

* इसमें जम्मू और कश्मीर की जनसंख्या शामिल नहीं है, जहाँ गड़बड़ी के कारण 1991 एवं उसके बाद जनगणना नहीं हो सकी।

1. पाकिस्तान और चीन के गैर-कानूनी कब्जे वाले क्षेत्र की जनसंख्या वाले क्षेत्र की जनंसख्या इसमें शामिल नहीं है, क्योंकि वहाँ जनगणना नहीं हो सकी।

2. नीचे दिये गये गाँवों की अलग-अलग जनसंख्या उपलब्ध नहीं हो सकी। इन गाँवों को वर्गीकरण में शामिल नहीं किया गया है। लेकिन जिन गाँवों के साथ इनकी गणना होती है, उन्हें क्षेत्रवार वर्गीकरण में शामिल किया गया है।

गांव का नाम	जिनके साथ गणना होती है	उप-मंडल	जिला
1. फैजोल	सोरालैंड	सरदार हिल्स पूर्वी	सेनापति
2. कमारंगखा कूकी	फैतोल	तामेंगलांग पश्चिमी	तामेंगलांग

सारणी : 1.11

दस लाख से ऊपर की जनसंख्या वाले शहर

	शहर	जनसंख्या (हजार में)			वृद्धि अनुपात		स्त्री-पुरुष अनुपात		साक्षरत दर	
		1991	1981	1951	1991	1981	1981	1991	1981	1991
1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11
1.	कोलकाता	11,022	9,194	4,670	2.36	1.97	781	830	65	77
2.	वृहत्तर भारत	12,596	8,243	2,967	4.25	2.78	772	828	68	82
3.	दिल्ली	8,422	5,729	1,437	5.86	3.99	808	830	63	76
4.	चेन्नई	5,422	4,289	1,542	3.52	2.78	930	933	67	81
5.	बंगलौर	4,130	2,922	786	5.25	3.72	896	902	64	79
6.	हैदराबाद	4,344	2,546	1,131	3.84	2.25	919	920	58	71
7.	अहमदाबाद	3,312	2,548	877	3.78	2.91	869	889	63	80
8.	कानपुर	2,030	1,639	705	2.88	2.32	804	822	55	72
9.	पुणे	2,494	1,686	609	4.09	2.77	880	903	67	81
10.	नागपुर	1,664	1,302	485	3.43	2.68	910	915	66	82
11.	लखनऊ	1,669	1,008	497	3.36	2.03	832	871	58	71
12.	जयपुर	1,518	1,015	304	4.99	3.34	861	868	54	70
13.	सूरत	1,519	924	237	6.41	3.90	840	828	60	76
14.	कोची	1,141	825	212	5.38	3.89	989	997	79	94
15.	बड़ोदरा	1,127	782	211	5.34	3.71	888	899	68	82
16.	इंदौर	1,109	829	311	3.57	2.67	885	900	61	77
17.	कोयंबतूर	1,101	920	287	3.84	3.21	924	930	67	80
18.	पटना	1,100	919	326	3.37	2.82	815	829	58	77
19.	मदुरै	1,086	907	371	2.93	2.44	952	954	68	82
20.	भोपाल	1,063	671	102	10.42	6.58	870	894	57	72
21.	विशाखापत्तनम	1,057	604	108	9.79	5,59	933	937	56	72
22.	लुधियाना	1,043	607	154	6.77	3.94	815	795	62	72
23.	वाराणसी	1,031	797	370	2.79	2.14	842	861	47	64

स्रोत: 1992 का पत्र-2, अंतिम कुल जनसंख्या

सारणी : 1.12

धर्म के अनुसार जनसंख्या

धार्मिक वर्ग	1961 संख्या (दस लाख में)	कुल का प्रतिशत	1971 संख्या (दस लाख में)	कुल का प्रतिशत	1981 संख्या (दस लाख में)	कुल का प्रतिशत	1991 संख्या (दस लाख में)	कुल का प्रतिशत
1	2	3	4	5	6	7	8	9
हिन्दू	366.5	83.5	453.4	82.7	49.7	82.6	672.6	82.41
मुसलमान	46.9	10.7	61.4	11.2	75.6	11.4	95.2	11.67
ईसाई	10.7	2.4	14.3	2.6	16.2	2.4	18.9	2.32
सिख	7.8	1.8	10.4	1.9	13.1	2	16.3	1.99
बौद्ध	3.2	0.7	3.9	0.7	4.7	0.7	6.03	0.77
जैन	2	0.5	2.6	0.5	3.2	0.5	3.4	0.41
अन्य[1]	1.6	0.4	2.2	0.4	2.8	0.4	3.5	0.43
कुल	**439.2**	**100.00**	**548.2**	**100.00**	**665.3**	**100.00**	**816.2[2]**	**100.00**

स्रोतः (i) भारत की जनगणना, शृंखला- 1, इंडिया, भाग 11 सी (1), (ii) भारत की जनगणना, 1981, श्रृंखला 1984 (धर्म) का पत्र-3, (iii) भारत की जनगणना, श्रृंखला 1, 1995 (धर्म) का पत्र-1

1. गैर-वर्गीकृत व्यक्ति शामिल हैं।
2. असम तथा जम्मू-कश्मीर को शामिल नहीं किया गया है।
3. केंद्रशासित प्रदेश मिजोरम का मिजो जिला शामिल नहीं है।

टिप्पणी

1981 के आँकड़ों में असम शामिल नहीं है।

सारणी : 1.13

मुख्य भाषाओं के अनुसार जनसंख्या और प्रतिशत-1971, 1981 एवं 1991

भाषाएँ	मातृभाषा बोलने वाले व्यक्ति 1971	1981	1991	कुल जनसंख्या का प्रतिशत 1971	1981	1991
1	2	3	4	5	6	7
1. हिंदी	208,514,005	264,514,117	337,272,114	38.04	38.71	39.85
2. बांग्ला	44,792,312	51,298,319	69,595,738	8.17	7.51	8.22
3. तेलुगु	44,756,923	50,624,611	66,017,615	8.16	7.41	7.80
4. मराठी	41,765,190	49,452,922	62,481,681	7.62	7.24	7.38
5. तमिल	37,690,106	उ.न.[2]	53,006,368	6.88	उ.नं.[2]	6.26

6. उर्दू	28,620,895	34,941,435	43,406,932	5.22	5.11	5.13
7. गुजराती	25,865,012	33,063,267	40,673,814	4.72	4.84	4.81
8. कन्नड़	21,710,649	2,56,97,146	32,753,676	3.96	3.76	3.87
9. मलयालम	21,938,760	25,700,705	30,377,176	4.00	3.76	3.59
10. उड़िया	19,863,198	23,021,528	28,061,313	3.62	3.37	3.32
11. पंजाबी	14,108,443	19,611,199	23,378,744	2.57	2.87	2.76
12. असमी	8,959,558	उ.न.[3]	13,079,696	1.63	उ.न.[3]	1.55
13. सिंधी	1,676,875	2,044,389	2,122,848	0.31	0.30	0.25
14. नेपाली	1,419,835	1,360,363	2,076,645	0.26	0.20	0.25
15. कोंकणी	1,508,432	1,570,108	1,760,607	0.28	0.23	0.21
16. मणिपुरी	791,714	901,407	1,270,216	0.14	0.13	0.15
17. कश्मीरी	2,495,487	3,176,975	उ.नं.[4]	0.46	0.46	उ.नं.[4]
18. संस्कृत	2,212	6,106	49,736	न.	न.	0.01

1. वर्ष 1981 के लिए प्रत्येक भाषा के बोलने वालों का प्रतिशत भारत की कुल जनसंख्या के आधार पर निकाला गया है। इसमें असम की अनुमानित जनसंख्या शामिल है।
2. उपलब्ध नहीं: वर्ष 1981 के लिए तमिल और असमी भाषा के पूरे आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं, क्योंकि बाढ़ के कारण तमिलनाडु के आँकड़ों का रिकार्ड नष्ट हो गया था और असम में परिस्थितियाँ ठीक न होने से 1981 एवं उसके बाद जनगणना नहीं हो सकी।
3. वर्ष 1991 के लिए प्रत्येक भाषा के बोलने वालों का प्रतिशत भारत की कुल जनसंख्या के आधार पर निकाला गया है। इसमें जम्मू और कश्मीर की अनुमानित जनसंख्या शामिल है, जहाँ परिस्थितियाँ ठीक न होने से 1991 एवं उसके बाद जनगणना नहीं हो सकी।
4. वर्ष 1991 के लिए कश्मीरी भाषा के पूरे आँकड़े उपलब्ध नहीं हो सके, क्योंकि वहाँ परिस्थितियाँ ठीक न होने के कारण 1991 एवं उसके बाद जनगणना नहीं हो सकी।

उ.न. उपलब्ध नहीं हैं।

'न.' नगण्य

(साभार : भारत-2003, भारत सरकार)

❑

खण्ड-आठ

परिवर्तन की गतिकी
(Dynamics of Change)

005

अध्याय 23

भारत में सामाजिक आन्दोलन

(Social Movements in India)

समाज विज्ञानों में सामाजिक आन्दोलन के अध्ययन का अपेक्षाकृत काफ़ी देर में विकास हुआ। न केवल भारत में, बल्कि संसार के दूसरे भागों में, पिछले तीन दशकों में ऐसे अध्ययनों की वृद्धि उल्लेखनीय है। सामाजिक आन्दोलनों के शोध अध्ययनों में समाजशास्त्र, सामाजिक इतिहास और सामाजिक नृविज्ञान की अग्रणी भूमिका रही है। सामाजिक मानव-विज्ञान नृविज्ञान ने केवल जनजातीय आन्दोलनों में रुचि ली जबकि राजनीति विज्ञान ने सामाजिक आन्दोलन को अध्ययन का एक उचित विषय मानने में काफी लम्बा समय लिया।

सारे विषयों के विद्वानों ने और यहाँ तक कि एक विषय के विद्वानों ने भी 'सामाजिक आन्दोलन' शब्द की कोई एक सही परिभाषा नहीं स्वीकार की है। **'द ब्लैककवेल डिक्शनरी ऑफ सोशोलॉजी'** (1995) इसे "सामाजिक परिवर्तनों के कुछ पहलुओं पर केन्द्रित सतत् नियोजित और सामूहिक प्रयासों के रूप में" परिभाषित करता है। सामाजिक आन्दोलन सदा से ही समाजशास्त्रीय अध्ययनों के महत्त्वपूर्ण क्षेत्र रहे हैं क्योंकि वे सामाजिक परिवर्तन और सामाजिक संघर्ष के मुख्य स्रोत हैं। मार्टिन फुक्स और एन्टजे लिंकेनबैख (2003) कहते हैं कि "परिभाषिक रूप से सामाजिक आन्दोलन अस्थिर संक्रमणीय घटना है। बहुधा न तो उनकी स्पष्ट शुरुआत होती है और न ही कोई स्पष्ट समाप्ति होती है और व्यापक रूपों में सामाजिक अन्तर-क्रिया की प्रक्रिया से उन्हें आसानी से एवं उचित प्रकार से अलग भी नहीं किया जा सकता है। 'सामाजिक-आन्दोलन' शब्द सामूहिक सामाजिक और राजनीतिक अवधारणाओं में बड़ी व्यापक विविधता को सन्दर्भित करता है। यह भिन्नता क्रान्तियों, धार्मिक सम्प्रदायों, राजनीतिक संगठनों या एकल बिन्दु प्रचारों या उपनिवेशवाद विरोधी संघर्षों और तथाकथित 'विदेशियों' के प्रवेश के विरुद्ध संघर्ष जितनी भिन्न भी हो सकती है। इतनी विविधताओं में वह सामाजिक आन्दोलन की अनन्तिम परिभाषा देते हैं- "सामाजिक पहचान की प्राप्ति और एक समूह अथवा वर्ग विशेष के वंचित लोगों के अधिकारों या अस्तित्ववान हितों की प्राप्ति के लिये सामूहिक स्वयं संगठनों का रूप ही सामाजिक आन्दोलन कहलाता है। यह एक समूह अथवा वर्ग-विशेष के लोगों के अधिकारों और अस्तित्व के आधारों पर खतरों के विरुद्ध प्रतिरोध में लगता है।" एक आन्दोलन द्वारा किस प्रकार की असमानताओं और अन्यायों का मुद्दा उठाया जा रहा है, इसका निर्णय करने के लिए, आन्दोलन

से सम्बन्धित कार्यकर्त्ताओं के परिस्थितिजन्य मूल्यांकन द्वारा अनुमान ही एकमात्र मुख्य आधार हो सकता है। कई शोधकर्त्ताओं द्वारा प्रयुक्त शब्द 'सामाजिक आन्दोलन', सहज रूप में वर्णित किये जाने पर कई विषय के संयुक्त रूप को सन्दर्भित करता है। टौरैन (1995) कहते हैं कि यह बात साधारण रूप से दो पहलुओं को बताती है: पहला, व्यवस्था विरोधी सामाजिक विषय, जो स्वायत्तता, समानता, मानवीय अस्मिता अथवा मूलभूत अधिकारों के विचारों को सन्दर्भित करते हैं और दूसरा, सामाजिक परिवर्तन से जुड़ाव, विशेषकर आधुनिकीकरण से, जो कि सामाजिक आन्दोलनों का एक उद्देश्य अथवा उनके जन्म का कारण है। घनश्याम शाह (2002) स्पष्ट रूप से कहते हैं कि "सामाजिक आन्दोलनों के महत्त्वपूर्ण घटक **उद्देश्य** **...रधारा, कार्यक्रम नेतृत्व** और **संगठन** होते हैं। वे एक-दूसरे को प्रभावित करते हुए भी प...पर आश्रित हैं। आन्दोलन के उद्देश्य संकीर्ण, विशिष्ट स्थानीय मुद्दों से सामाजिक रूपान्तरण के व्यापक उद्देश्यों में बदल जाते हैं।" कभी-कभी एक आन्दोलन जो व्यापक उद्देश्यों को लेकर प्रारम्भ होता है वह कालान्तर में एक या दो मुद्दों तक ही सिकुड़ कर रह सकता है। विचारधारा भी परिवर्तित होती है। लोगों को संगठित करने के लिए विभिन्न प्रकार की रणनीतियों और कार्यक्रमों को विकसित किया जाता है। वे लम्बे समय तक आन्दोलन को जारी रखते हैं। आन्दोलन के विकास के दौरान उभरने वाला या उसे प्रारम्भ करने वाला नेतृत्व विचारधारा और उद्देश्यों का निर्धारण करने, रणनीतियों और कार्यक्रमों को विकसित करने और प्रतिभागियों की चेतना को बनाये रखने में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता है।

विभिन्न उपागम (Different Approaches)

सामाजिक आन्दोलनों के विभिन्न उपागम हो सकते हैं किंतु जैसा कि घनश्याम शाह इंगित करते हैं कि सामाजिक आन्दोलनों के अध्ययन में, विश्लेषण के लिये, सामान्यतः या तो मार्क्सवादी या फिर गैर-मार्क्सवादी फ्रेमवर्क का ही प्रयोग किया जाता है। मार्क्सवादी दृष्टि का अनुसरण करने वाले विद्वानों की प्राथमिक रुचि समाज में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाना है। उनके अनुसार सामाजिक आन्दोलन के कारण समाज के आर्थिक ढाँचे में निहित हैं। वर्ग-आधारित समाज-व्यवस्था में सम्पत्ति समृद्ध और श्रमिक वर्गों के बीच पारस्परिक विरोधी स्वार्थ अन्तर-स्थिर हैं जिनसे विरोधाभास उत्पन्न होता है। यद्यपि परस्पर विरोधी आर्थिक स्वार्थों के संरचनात्मक कारण, मार्क्सवादियों के अध्ययन के केन्द्रबिन्दु हैं, फिर भी बहुत से मार्क्सवादी विद्वानों ने नृजातीय (ethnic), धार्मिक तथा और दूसरे सांस्कृतिक कारकों पर भी ध्यान देना शुरू कर दिया है। अब मार्क्सवादी इतिहासकारों का एक समूह 'सबॉलटर्न विद्वानों' (subaltern scholars) के नाम से उदित हुआ है और वे 'नीचे के इतिहास' (अधीनस्थ वर्गों) का अध्ययन कर रहे हैं: जन इतिहास की उपेक्षा के लिये परम्परिक मार्क्सवादी इतिहासकारों की आलोचना की जाती रही है क्योंकि वे यह मानते रहे कि सबॉलटर्न वर्ग स्वयं अपना कोई इतिहास नहीं बनाते हैं, यह संगठन और मार्गदर्शन के लिये पूर्णतया अभिजात्य या विकसित वर्गों पर निर्भर रहे हैं। चेतना के एक स्वतंत्र

ढाँचागत अन्तर्विरोध के रूप में देखने और ढाँचागत कारणों की उपेक्षा करने के लिये इन नवोन्मेषी अध्ययनों की अन्य मार्क्सवादी विद्वानों द्वारा कड़ी आलोचना की जाती है। सामाजिक आन्दोलनों के विश्लेषण में गैर-मार्क्सवादी विद्वानों के प्रयासों में भी विविधता परिलक्षित होती है। उनमें से अधिकांश का मत है कि जन-आन्दोलन जन-समुदायों का उत्पाद हैं जो कि अतिवादी और लोकतंत्र विरोधी हैं। वे राजनीति से जनता की दैनिक भागीदारी को हटाने के पक्ष में हैं जो कि सरकार के दक्ष संचालन में बाधा उत्पन्न करती है।

राज्य और आन्दोलन (State and Movements)

सामाजिक आन्दोलन के किसी विश्लेषण में राज्य की भूमिका बहुत महत्त्वपूर्ण होती है। शाह (यथावत) का अनुभव सही है जब वे कहते हैं कि राज्य की सत्ता को चुनौती देने वाले अथवा उस पर दबाव बनाने वाले सभी आन्दोलनों के प्रति राज्य की तात्कालिक प्रतिक्रिया नकारात्मक होती है। इसकी प्रवृत्ति ऐसे किसी भी सामूहिक कार्य का विरोध करने की होती है जो कि स्वभावतः "या तो विशेष नीति और कार्य के लिये सत्ता पर दबाव डालता है और/या फिर राज्य के कार्य एवं निर्णय का विरोध करता है। राज्य सामाजिक आन्दोलनों को अपनी वैधानिक सत्ता के विरुद्ध चुनौती के रूप में देखते हैं। चाहे पूँजीवादी राज्य, जो कि खुलेआम समृद्ध वर्गों का प्रतिनिधित्व करते हैं, या मार्क्सवादी राज्य जो कि कार्यशील वर्ग (working class) का राज्य होने का दावा करते हैं, दोनों ही स्वयं द्वारा प्रतिनिधित्व करने वाले वर्गों के द्वारा किये गये आन्दोलन का सामना करना पसंद नहीं करते हैं।" राज्य की सत्ता बदलने और सत्ता पलटने का उद्देश्य रखने वाले आन्दोलनों की अपेक्षा संस्थागत ढाँचे के अन्तर्गत सुधारवादी माँग उठाने वाले आन्दोलनों के प्रति राज्य का रवैय्या कुछ नरम होता है। राज्य की रणनीति परिस्थितियों के अनुसार बदलती रहती है। जब राज्य क्रूरता और दमनकारी प्रयासों में असफल हो जाते हैं, तब आन्दोलन के नेताओं और उसके पक्षकारों को अपनी ओर मिलाया जा सकता है जो राज्य की नीतियों और कार्यों को 'वैधता प्रदान करने वाले के रूप में' कार्य करते दिखते हैं। राज्य भी छल, बलात् मतपरिवर्तन और तोड़-फोड़ का सहारा ले सकते हैं। अधिकांश सामाजिक आन्दोलन स्वभावतः व्यवस्था विरोधी होते हैं, इस सत्य से उपरोक्त सभी क्रियाएँ और प्रतिक्रियाएँ स्पष्ट होती हैं।

सामाजिक आन्दोलनों के प्रकार (Typologies of Social Movements)

सामाजिक आन्दोलनों के प्रति गंभीर शोधकर्त्ताओं ने सामाजिक आन्दोलनों के विभिन्न प्रकारों में विभाजन द्वारा उनके स्वभाव को समझने का प्रयास किया है। शाह (1977) ने आन्दोलनों को (i) सत्ता के विरुद्ध संघर्ष, (ii) विद्रोह, (iii) सुधार, व (iv) क्रान्ति, में विभाजित करते हैं। जहाँ सत्ता के विरुद्ध संघर्ष राजनीतिक सत्ता को एक खुली चुनौती है वहीं, बिना किसी उद्देश्य के राज्य सत्ता पर आक्रमण विद्रोह है। क्रान्ति को सरकार और सामाजिक आर्थिक ढाँचे के विरुद्ध एक संगठित संघर्ष के रूप में भी लिया जा सकता है, जो वर्तमान सामाजिक व्यवस्था को एक वैकल्पिक सामाजिक व्यवस्था के द्वारा प्रतिस्थापित करती है और चलाती है। सुधार राजनीतिक

व्यवस्था को चुनौती नहीं देते हैं बल्कि वर्तमान सामाजिक-आर्थिक ढाँचे में निश्चित इच्छित परिवर्तन लाना चाहते हैं। इसलिये राज्य ऐसे आन्दोलनों के प्रति नरम रवैय्या प्रदर्शित करता है। एस. एम. ए. राव (1978) आन्दोलनों को **सुधारवादी** (Reformatory), **रूपान्तरणवादी** (Transformatory) और **क्रान्तिकारी** (Revolutionary) में वर्गीकृत करते हैं। जबकि टी. के. ऊमेन (1977) उनको **वैचारिक** (ideological), **करिश्माइ** (charismatic) और **संगठनकारी** (organizational) के रूप में वर्गीकृत करते हैं। सामाजिक आन्दोलनों के वर्गीकरण में विशिष्ट मुद्दे मुख्य निर्धारक हो सकते हैं। ऐसे मुद्दे भाषायी, नागरिक अधिकारों या प्राकृतिक संसाधनों पर अधिकारों जैसे, जनजातियों का अपनी वन सम्पदा पर अधिकारों, के लिये संघर्ष हो सकते हैं। कार्यकर्त्ता/प्रतिभागियों के आधार पर आन्दोलनों के वर्गीकरण का सामान्य प्रचलन भी स्पष्ट है, कि इसलिये आन्दोलनों का नाम जैसे- 'कृषक आन्दोलन', 'जनजातीय आन्दोलन', 'दलित आन्दोलन', 'महिला आन्दोलन', 'छात्र आन्दोलन' आदि होना अब एक प्रचलित तरीका है।

शोध के तीसरे सर्वेक्षण, आई. सी. एस. एस. आर. (2000) में राजेन्द्र सिंह बदलती अवधारणाओं और सैद्धान्तिक ढाँचों को ध्यान में रखते हुए **'पुराने'** एवं **'नये'** सामाजिक आन्दोलनों का पुनः निरीक्षण करते हैं। वह कहते हैं कि खेतिहर मजदूरों, जनजाति, मेहनतकश वर्ग, विद्यार्थियों और धर्म और सम्प्रदाय आन्दोलनों से सम्बन्धित पारम्परिक 'पुराने' विषय आज भी विद्यमान हैं और भारत में बहुत से सामाजिक आन्दोलनों के अधिकांश अध्ययनों के मुख्य बिन्दु बने हुए हैं। किंतु साथ-साथ आरोही क्रम में, 'नये' विषयों पर बहुत से अध्ययन जैसे-पर्यावरण और परिस्थितिकी को, कृषक आन्दोलन, नारीवादी घोषणाएँ, जातिगत अस्मिता और नागरिक स्वतन्त्रता, मानवाधिकार आन्दोलन और जमीन से जुड़े संगठनों और कार्य-समूहों के आन्दोलनों के सामूहिक क्रिया कलापों की बहुमुखी अभिव्यक्ति आदि। अपने बहुत से अनुभवसिद्ध प्रभावों में 'पुराने' और 'नये' विषय बहुधा एक दूसरे से मिले हुए दिखते हैं और 'पुराने' विषयों के कुछ तत्त्व 'नये' विषयों में प्रवेश लेते हैं तथा इसके विपरीत 'नये' विषयों के कुछ तत्त्व 'पुराने' विषयों में मिल जाते हैं। जबकि 'पुराने' और शास्त्रीय आन्दोलनों के अध्ययन सामान्यतः कम जटिल हैं और अपेक्षाकृत मूल मतभेदों के साधारण रूप हैं, दूसरी तरफ समकालीन 'नये' आन्दोलन, भारत में विस्तृत भिन्नता और बढ़ती हुई जटिलता एवं सामाजिक मतभेदों की विस्तृत प्रवृत्ति को प्रतिबिम्बित करते हैं। ऐसे में **'पुराने'** और **'नये'** आन्दोलनों के बीच विश्लेषणात्मक अलगाव सहायक प्रयोग है।" किंतु आन्द्रे गुन्डर फ्रेंक और मार्टाफ्यून्टेस (2002) का विचार है कि "नये सामाजिक आन्दोलन, यहाँ तक कि कुछ नये लक्षणों के रखने पर भी, नये नहीं हैं और कुछ 'शास्त्रीय' अपेक्षाकृत नये और शायद अस्थायी हैं।"

भारत में सामाजिक आन्दोलन (Social Movements in India)

यद्यपि भारत में सामाजिक आन्दोलन के क्षेत्र में नये विषय प्रवेश कर गये हैं, किंतु सामाजिक और धार्मिक सुधार आन्दोलनों, पिछड़े वर्ग के आन्दोलन, दलित आन्दोलन, जनजातीय

आन्दोलन, कृषक आन्दोलन और कुछ कम सीमा तक नारीवादी आन्दोलन का भी अच्छा अध्ययन किया गया है। महिला आन्दोलनों, जिस पर इस पुस्तक के 'महिला और समाज' नामक खण्ड में चर्चा की गयी है, को छोड़कर यहाँ इन आन्दोलनों के बारे में एक संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है।

सामाजिक और धार्मिक सुधार आन्दोलन (Social and Religious Reform Movement)

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है सुधार आन्दोलन समाज के व्यापक ढाँचे के अन्तर्गत निहित सामाजिक संबंधों, मूल्यों और नियमों में विशिष्ट परिवर्तन अथवा सुधार के लिये चलाये जाते हैं। सुधारवादी आन्दोलन प्रायः वैध साधनों का प्रयोग करते हैं और समाज के वर्तमान ढाँचे में बिना किसी छेड़छाड़ के परिवर्तन लाने की कोशिश करते हैं। 19वीं शताब्दी के दौरान राजा राम मोहन राय और अन्य लोगों ने ब्रह्म समाज का नेतृत्व किया। 20वीं शताब्दी में 'सामाजिक और धार्मिक सुधारवादी आन्दोलन' के कुछ उदाहरण- स्वामी दयानन्द सरस्वती के नेतृत्व में **आर्य समाज आन्दोलन**, सर सैयद अहमद खान के नेतृत्व में **अलीगढ़ आन्दोलन** और मौलाना इलयास के नेतृत्व में **तबलीगी जमात आन्दोलन** है।

आधुनिक भारत में सामाजिक सुधार के क्षेत्र में **ब्रह्म समाज आन्दोलन** को अगुआ माना जा सकता है। आधुनिक पाश्चात्य शिक्षा के परिणामस्वरूप एक उदारवादी बौद्धिक वर्ग का उदय हुआ जिसने एक विस्तृत उदार, तार्किक और मानवतावादी विचारों के अन्तर्गत हिन्दुवाद को परिभाषित करने का प्रयास किया। उन्होंने पारम्परिक भारतीय सामाजिक व्यवस्था को बहुत से अस्वीकृत व्यवहारों और सामाजिक बुराइयों से घिरा हुआ पाया जिसे 'सही' किये जाने और 'सुधारे' जाने की आवश्यकता थी। लिंग-भेद और महिलाओं के प्रति क्रूरता जैसे अपराध 'सती' और 'बहुपत्नीवाद' के रूप में, विशेषकर बंगाल की उच्च और कुलीन जातियों में किये जाते थे। अस्पृश्यता स्वीकार्य थी और सामाजिक एवं धार्मिक रूप से इसका स्वीकृत प्रचलन था। उन दिनों अत्यधिक कट्टरवाद द्वारा समर्थित व्यापक अन्ध-मूर्ति पूजा का प्रचलन था। पाश्चात्यवादी और उदार बौद्धिक वर्ग ने ऐसे कार्यों को सामाजिक रूप से अधोगामी और तिरस्कृत माना तथा हिन्दू समाज में विद्यमान आन्दोलन चलाया। यह ब्रह्म समाज आन्दोलन के नाम से जाना जाता था। एक ईश्वर की उपासना का उपदेश और हिन्दुवाद का शुद्धिकरण इसका मुख्य उद्देश्य था। आन्दोलन मुख्यतः तर्क, औचित्य और वेदों पर आधारित था। इसने दूसरे धर्मों के प्रांसगिक उपदेशों को भी समाहित करने की चेष्टा किया। इसने मानव-महत्ता के विचार को स्थापित किया और 'सती' एवं 'अस्पृश्यता' की पूर्ण आलोचना एवं निन्दा की। इसने आधुनिक धर्मनिरपेक्ष शिक्षा पर जोर दिया। वास्तव में 'सती प्रथा' पर प्रतिबन्ध लगाने वाला कानून पारित कराने में राजा राम मोहन राय की मुख्य भूमिका थी। ब्रह्म परम्परा को राय के बाद डी. एन. टैगोर और रिशब चन्द्र सेन ने आगे बढ़ाया। विधवा पुनर्विवाह और स्त्री-शिक्षा के विचार को भी आगे बढ़ाया गया। जाति प्रथा

की कट्टरता और रूढ़िवादिता के विरुद्ध प्रचार किया गया और बाल-विवाह का विरोध किया गया। इसका प्रभाव केवल शहरी बंगालियों तक ही सीमित था, यही इस आन्दोलन की सबसे बड़ी कमी थी। यद्यपि 19वीं शताब्दी और 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में, इसका बड़ा जबर्दस्त प्रभाव बंगाल और उसके आस-पास के क्षेत्रों में रहने वालों के सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और बौद्धिक वर्गों के जीवन पर पड़ा था। आंतरिक मतभेद और झगड़ों ने आन्दोलन को कमजोर किया किंतु इसने सुधारकों की भावी पीढ़ियों को प्रेरित करना जारी रक्खा।

ब्रह्म समाज आन्दोलन की अपेक्षा आर्य समाज आन्दोलन की दृष्टि और परिधि बहुत व्यापक थी। इसके संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती थे जिन्होंने 1875 में इसकी पहल की थी। पुनर्जागरण, आर्य समाज आन्दोलन की विशेषता थी। इस आन्दोलन द्वारा वेदों को भ्रान्ति-हीन और सम्पूर्ण ज्ञान के स्रोत के रूप में प्रतिष्ठित किया गया। स्वामी दयानन्द सरस्वती के ज्वलन्त सुधारवादी उत्साह ने 'अज्ञानी पुरोहितों' के प्रति तिरस्कार उत्पन्न किया और आन्दोलन का प्रमुख नारा 'वेदों की ओर लौटो' दिया। उन्होंने 'थोथे' रीति-रिवाजों द्वारा रोजी-रोटी कमाने की निन्दा की। समाज-सुधार के आर्य समाज आन्दोलन के कार्यक्रम ने वंशागत जाति-व्यवस्था का उन्मूलन और चतुर्थ वर्ण-व्यवस्था द्वारा इसे प्रतिस्थापित करने पर बल दिया। इसने विद्यमान अस्पृश्यता का विरोध किया और जन्म पर आधारित न होकर योग्यता पर आधारित सामाजिक-व्यवस्था को प्रोत्साहित किया। इस विचारधारा में वेदों के महत्त्व को इस बात से आँका जा सकता है कि इसने न केवल सभी परवर्ती धार्मिक विचारों का परित्याग कर दिया बल्कि वेदों को भ्रान्तिहीन और सभी ज्ञान के स्रोतों-धार्मिक और लौकिक जिसमें दर्शन, विज्ञान एवं तकनीकी सम्मिलित है, के रूप में भी प्रतिष्ठित किया। आन्दोलन ने लिंग-समानता और स्त्री-शिक्षा पर जोर दिया किंतु सह-शिक्षा का विरोध किया। आर्य समाजियों ने अपने विचारों की शिक्षा को प्रचारित करने के लिये सम्पूर्ण भारत में डी. ए. वी. (दयानन्द एंग्लो-वैदिक) कॉलेजों का संजाल और हरिद्वार के निकट एक विश्वविद्यालय (गुरुकुल) प्रारम्भ किया। आन्दोलन लाला लाजपत राय समेत राष्ट्रवादियों के एक व्यापक वर्ग को आकर्षित करने में सफल रहा। यद्यपि आर्य समाज आन्दोलन राष्ट्रीय जागरण के रूप में प्रतिनिधित्व करता था फिर भी इसने इस्लाम और मुस्लिमों के प्रति नकारात्मक और बैर-भाव उत्पन्न किया। 1920 में जब इसने उत्तर भारत में नव मुस्लिमों को पुनः हिन्दू-धर्म में परिवर्तित करने के लिए शुद्धिकरण (शुद्धिकरण आन्दोलन) चलाया तो इससे अत्यधिक साम्प्रदायिक दंगे हुए और यह बहुत विवादास्पद हो गया। परिणामस्वरूप यह सच्चा राष्ट्रीय या बहुसंस्कृतिवादी विशेषताओं वाला कभी नहीं बन सका और वास्तव में अल्पसंख्यकों के असुरक्षा भाव ने इसे धर्म-निरपेक्ष राष्ट्रवाद के विकास में एक बाधा बना दिया।

मुस्लिमों के बीच दो सर्वाधिक प्रसिद्ध सुधारवादी आन्दोलन **अलीगढ़ आन्दोलन** और **तबलीग़ी आन्दोलन** है। सर सैयद अहमद ख़ान के नेतृत्व में चलाया गया अलीगढ़ आन्दोलन भारत में मुस्लिमों के बीच सामाजिक सुधार के क्षेत्र में एक विशेष स्थान रखता है। सर सैयद एक महान् द्रष्टा थे जो अपने समय से आगे भविष्य देखने में समर्थ थे। उनकी पृष्ठभूमि अंग्रेजी शिक्षा की

थी और वे आधुनिक वैज्ञानिक सोच से अत्यधिक प्रभावित थे तथा उन्होंने आधुनिकता एवं इस्लाम के बीच सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया। उन्होंने कुरान को एक प्रमाणित रचना माना और अन्य सभी स्रोतों को नकार दिया जो आधुनिक वैज्ञानिक सोच के विरुद्ध जाते थे। उन्होंने कुरान की तर्कयुक्त और वैज्ञानिक सोच के आधार पर व्याख्या की। उनका विश्वास था कि कुरान की शिक्षाएँ तर्क पर आधारित थीं और इसलिये उन्होंने कुरान की ऐसी किसी व्याख्या को नकार दिया जो तर्क, विज्ञान और प्रकृति के विपरीत थी। वे आजीवन अज्ञानता और तर्कहीनता के विरुद्ध लड़ते रहे। उन्होंने आलोचनात्मक दृष्टिकोण और वैचारिक स्वतंत्रता की जोरदार वकालत की। उन्होंने धर्मोन्माद और अलगाववाद के विरुद्ध प्रचार किया एवं हिन्दू-मुस्लिम एकता को यह कहते हुए बढ़ावा दिया, "हिन्दू और मुसलमान भारत नामक सुन्दर दुल्हन की दो आँखे हैं।" उन्होंने हिन्दू और मुस्लिमों को परस्पर सहनशीलता और अच्छाई का दृष्टिकोण अपनाने का उपदेश दिया। वे बौद्धिक पिछड़ेपन से घृणा करते थे। अलीगढ़ आन्दोलन के एक संस्थापक के रूप में उन्होंने आधुनिक शिक्षा पर जोर दिया और उत्तर-भारत के मुसलमानों के लाभ के लिए उर्दू भाषा में पाश्चात्य शिक्षा से बहुत सी पुस्तकें लीं। यद्यपि उत्तर-भारत के विभिन्न कस्बों में बहुत से स्कूल स्थापित करने में उनकी मुख्य भूमिका थी, उनके प्रयासों की परिणति 1875 में अलीगढ़ (उत्तर प्रदेश) में मोहम्मडन-एंग्लो-ओरियन्टल कालेज की स्थापना थी जो कि बाद में अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, सम्प्रति एक प्रमुख केन्द्रीय विश्वविद्यालय बना। उन्होंने सुनिश्चित किया था कि यह कालेज गैर-साम्प्रदायिक आधारों पर चलाया जाय एवं सभी जातियों और समुदायों के विद्यार्थियों को भी आसानी से प्रवेश मिल सके। सामाजिक सुधार के उनके विचार में मध्ययुगीन अधोगामी प्रथाओं के लिये कोई स्थान न था। अलीगढ़ आन्दोलन ने स्त्री शिक्षा पर जबर्दस्त जोर दिया और पर्दा-प्रथा का विरोध किया तथा बहुपत्नीवाद एवं आसानी से तलाक लेने की प्रथा की निन्दा की। भारतीय मुसलमानों के रूढ़िवादी वर्ग से, वे हमेशा विमुख थे। उनके कुछ आलोचकों ने ब्रिटिश शासकों के प्रति उनके प्रेम की और जीवन के अंतिम दिनों के दौरान उनके कुछ अलगाववादी विचारों की, आलोचना की। दुर्भाग्य से, उनकी मृत्योपरान्त अलीगढ़ आन्दोलन बहुत प्रबल ढंग से नहीं चल सका किंतु भारतीय उपमहाद्वीप के मुस्लिम समाज में सुधारवादी तत्त्वों को आज भी प्रोत्साहित करता रहता है।

अलीगढ़ आन्दोलन के प्रगतिशील स्वभाव के विपरीत तबलीगी आन्दोलन बहुत पहलुओं से धर्मोन्मुख और पुनर्जागरणवादी था। समकालीन संसार में तबलीगी जमात, सर्वाधिक व्यापक, किंतु कम समझा गया, इस्लामिक आन्दोलन है। आज, यह समकालीन संसार के सौ से अधिक देशों में सक्रिय है। मेवात के गाँवों में 1920 में इसका उद्भव हुआ था जो सांस्कृतिक रूप से एक विशिष्ट क्षेत्र था और जो कि हरियाणा और राजस्थान में फैला हुआ है और **मियो** नामक जनजाति का मूल निवास है। तबलीगी जमात (शाब्दिक अर्थ है- धार्मिक उपदेशकों का एक समूह) जैसा कि आज इसे हम जानते हैं, 1920 में एक इस्लामिक विद्वान् मौलाना मोहम्मद इलयास ने शुरू किया था। योगेन्द्र एस सिकन्द (2000) जिन्होंने इस आंदोलन का गहराई से अध्ययन

किया है, उनके अनुसार आर्य समाज द्वारा उत्तर-भारत में सैकड़ों नव-परिवर्तित मुस्लिमों, विशेषकर तत्कालीन संयुक्त प्रान्त के पश्चिमी जिलों के मल्काना राजपूतों को पुनः हिन्दू-धर्म में परिवर्तित करने के लिये चलाया गया शुद्धि अभियान मुख्य रूप से तबलीग़ी जमात के उद्भव का मुख्य कारण था। शुद्धिकरण आन्दोलन के दौर में मौलाना इलयास ने यह महसूस किया कि नये बने मुसलमानों को पुनः हिन्दू बनाने से रोकने के लिये, जो कि अब तक अपने हिन्दू अतीत से लिये गये कई रिवाजों को जारी रखते हुए थे, उनमें मुस्लिम होने की दृढ़ चेतना को पक्का करना तथा साथ ही उन्हें इस्लाम की मूल-भूत शिक्षाएँ देना था। उन्होंने अपने मिशनरी प्रयासों के लिये मियो नामक नये बने मुस्लिम-समुदाय को अपने प्रारम्भिक कार्य क्षेत्र के रूप में चुना। इलयास मियो के बीच हिन्दू-रीति-रिवाजों के इस्लामीकरण द्वारा 'इस्लाम' की 'शुद्धता' को सुरक्षित रखना चाहते थे। निःसन्देह, इसने उनकी इस्लामिक पहचान और चेतना को बढ़ाया किंतु मियो और उनके हिन्दू पड़ोसियों के बीच पारम्परिक संबंधों को कमजोर किया। समाजशास्त्रीय आधार पर कहा जाता है कि प्रमुख धर्मों की 'वृहत् परम्पराएँ' भले ही एक-दूसरे से भिन्न हो सकती हैं किंतु विभिन्न धर्मों का अनुसरण करने वाले लोगों द्वारा स्थानीय स्तर पर 'लघु (स्थानीय) परम्पराएँ' स्थानीय समुदायों की 'साझी संस्कृति' होती हैं। वास्तव में, यह समान रूप से मानी जाने वाली स्थानीय परम्पराएँ ही हैं जिन्होंने समाज के भौगोलिक क्षेत्र में रहने वाले विभिन्न धार्मिक समुदायों के बीच एक सांस्कृतिक सेतु का कार्य किया है। इस प्रकार प्रबल संभावना है कि तबलीग़ी जमात का कार्य विशेष रूप से सांस्कृतिक अलगाव को बढ़ाने का हो सकता है जो कि सामाजिक और राष्ट्रीय हित में न होने के बावजूद भी धार्मिक सुधार के कार्य रूप में समझा जा सकता है।

पिछड़ा वर्ग आन्दोलन (Backward Classes Movement)

व्यापक शब्दावली में भारतीय जनसंख्या के पिछड़े वर्ग में 'अनुसूचित जातियों', 'अनुसूचित जनजातियों' और 'अन्य पिछड़े वर्गों' सहित सामाजिक संगठन के आधार पर सभी निम्न जातियों (पिछड़ी जातियों) को सम्मिलित किया जा सकता है, किंतु समकालीन सामाजिक वर्णनों में दलितों (मुख्यतः अछूत जातियों/अनुसूचित जातियों) और पिछड़ी जातियों (गैर-अछूत मध्यस्तरीय या निम्न जातियों) का अलग-अलग वर्णन किया गया है। इस प्रकार, सामान्यतः 'दलित आन्दोलन' में मुख्यतः अस्पृश्य जातियाँ और 'पिछड़ा वर्ग आन्दोलन' में गैर अस्पृश्य निम्न जातियाँ सम्मिलित हैं। इन संदर्भों में पिछड़ा वर्ग/जातियों का आन्दोलन, गैर-ब्राह्मण आन्दोलनों के रूप में भी जाना जाता है।

उल्लेखनीय है कि सभी पिछड़ी जातियों ने एक समान सामाजिक-आर्थिक स्तर को कभी नहीं प्राप्त किया। एम. एस. ए. राव (1979) पिछड़ी जाति आन्दोलन के अपने अध्ययन में गैर-उच्च (निम्न) जातियों को तीन श्रेणियों में विभक्त करते हैं। पिछड़ी जातियों में सबसे उच्च श्रेणी वो हैं, जिनके पास अपनी जमीन है। देश के विभिन्न भागों में ऐसी जातियाँ हैं जैसे- पंजाब हरियाणा व उत्तर प्रदेश में जाट, अहीर व गुज्जर, महाराष्ट्र में मराठा, तमिलनाडु में वेल्लाला,

आन्ध्र-प्रदेश में कम्मा, कापू व रेड्डी और कर्नाटक में वोकलिग्गा और बन्त, उत्तर प्रदेश और बिहार में यादव और कुर्मी आदि। उनके नीचे पट्टे पर खेती करने वाली, शिल्पकार और अन्य 'सेवक' जातियाँ हैं। उनमें, बिहार में अहीर और कहार, गुजरात में कोली और दक्षिणी भारत के वाड्डार सम्मिलित हैं: "वे अछूतों से ऊपर की श्रेणी के हिन्दू माने जाते हैं। विगत में, उनके पास राजनीतिक शक्ति नहीं थी। उनमें से ज्यादातर छोटे या सीमान्त कृषक, पट्टेदार या कृषि श्रमिक हैं" (घनश्याम शाह, 1990)। वे भूस्वामी जातियों के आर्थिक और राजनीतिक नियंत्रण में थे। भूस्वामी जातियों ने इन जातियों को बहुधा बलपूर्वक घरेलू नौकरों और पालकी उठाने वाले (कहार) जैसे कार्यों में लगा रक्खा था और बहुत से त्यौहारों पर व उनसे प्रचलित रीति अनुसार प्राप्तियों (मुफ्त उपहारों) की अपेक्षा रखते थे।' सबसे नीचे अस्पृश्य जातियाँ आती हैं जो भारत के संविधान में अनुसूचित जातियों में रक्खी गई हैं। अधिकांश अनुसूचित जातियों और अन्य पिछड़ी जातियों की सामाजिक आर्थिक दशा गुणात्मक रूप से भिन्न है, यद्यपि कुछ निम्न जाति आन्दोलन जो ब्राह्मण विरोधी आन्दोलनों के नाम से जाने जाते हैं, में अछूत जातियाँ भी सम्मिलित हैं जबकि अछूत जातियों के आन्दोलनों के अधिकतर अध्ययन दूसरी पिछड़ी जातियों के आन्दोलनों को इसमें नहीं सम्मिलित करते हैं।

पूर्ववर्ती मद्रास और बाम्बे प्रेसीडेन्सी में पहले गैर-ब्राह्मणवादी आन्दोलन और पिछड़ी जाति आन्दोलन शुरू हुए। 19वीं सदी के सामाजिक आन्दोलनों ने भारतीय समाज में विशेष जगह बनायी और पारम्परिक जाति-व्यवस्था को हिला दिया। पुणे में ज्योति राव फूले प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने साधारण रूप से जातियों और विशेष रूप से ब्राह्मणों के अत्याचारों के विरुद्ध विद्रोह किया। 1873 में उन्होंने **सत्यशोधक समाज** (सत्य खोजने वाली संस्था) नामक एक संस्था का गठन किया और अपने अनुयायियों को किसी ब्राह्मण पुजारी का सहयोग न लेने के लिये कहा। उन्होंने गैर-ब्राह्मण जातियों के बच्चों के लिये विद्यालय खोले (गेल ओमविद, 1971)। जबकि फूले ने महाराष्ट्र में गैर-ब्राह्मण आन्दोलन प्रारम्भ किया। और मालियों (माली जाति) को संगठित किया, कोल्हापुर के साहूजी महाराज ने सामुदायिक प्रतिनिधित्व (communal representation) के अधिकार की वकालत कर आन्दोलन को नया जीवन प्रदान किया। उन्हें ब्राह्मण विरोधी विचारधारा के प्रमुख निर्माता के रूप में माना जा सकता है।

यद्यपि गैर-ब्राह्मण आन्दोलन के बीज बोये जा चुके थे, किंतु 1920 में मद्रास प्रेसीडेन्सी में ही यह एक व्यवस्थित संगठन का रूप ले सका जहाँ **साउथ इण्डिया लिबरल फेडरेशन** जो **जस्टिस पार्टी** के नाम प्रसिद्ध था, 1916 में गठित हुआ था। इसने शिक्षा, सार्वजनिक सेवा और राजनीति के क्षेत्र में ब्राह्मणों के वर्चस्व के विरुद्ध और **गैर-ब्राह्मणवादी** विचारधारा प्रतिपादित की। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि उच्च गैर-ब्राह्मण जातियों जैसे- वेल्लर, नाइडो, नायर, मुदलियार आदि ने ब्राह्मण वर्चस्व को समाप्त करने के लिए गैर-ब्राह्मणवादी विचारधारा और संगठनों का विकास किया। मद्रास का गैर-ब्राह्मणवादी आन्दोलन मैसूर के राजा द्वारा शासित राज्य में फैल गया। यहाँ लिंगायत, वोकलिग्गा और पिछड़े मुस्लिम इसके प्रमुख कार्यकर्त्ता थे। मैसूर का

गैर-ब्राह्मणवादी आन्दोलन मद्रास के गैर-ब्राह्मणवादी आन्दोलन से दो सन्दर्भों में भिन्न है। पहला, मैसूर में आन्दोलन ने निम्न गैर-ब्राह्मण जातियों और मुस्लिमों को अलग-थलग नहीं किया और दूसरा यहाँ ब्राह्मण विचारधारा ने द्रविड़ समर्थक और आर्य विरोधी छवि नहीं बनायी। केरल के गैर-ब्राह्मणवादी आन्दोलन की दिशा बाम्बे, मद्रास और मैसूर के आन्दोलनों से भिन्न थी। यह गैर मलायली, अप्रवासी ब्राह्मणों, विशेषकर तमिल ब्राह्मणों के प्रति था और इसमें मुख्य कार्यकर्त्ता नायर थे। उल्लेखनीय है कि उत्तर में कोई ब्राह्मण विरोधी आन्दोलन नहीं था।

जबकि ब्राह्मणों और उच्च जाति के गैर-ब्राह्मणों के बीच अन्तर्विरोध गैर-ब्राह्मणवादी आन्दोलनों का केन्द्र बना, गैर-ब्राह्मण उच्च जातियों एवं गैर-ब्राह्मण किंतु गैर-अछूत जातियों के बीच अन्तर्विरोध ने भारत के विभिन्न भागों में कई सामाजिक आन्दोलनों को जन्म दिया। विभिन्न विचारधाराओं की विविधता के ऐसे चार आन्दोलन हैं- यादव आन्दोलन, वान्नीकुल क्षत्रिय आन्दोलन, नाडार आन्दोलन और आत्म सम्मान एवं डी. के. (द्रविड़ कज़गम) आन्दोलन।

यादव, जातियों के एक समूह का नाम है जो विभिन्न राज्यों में विभिन्न नामों से बुलाये जाते हैं। उत्तर-प्रदेश, हिमाचल प्रदेश, पंजाब, हरियाणा, दिल्ली, बिहार, गुजरात, मध्य-प्रदेश और राजस्थान में, वे अहीर के नाम से जाने जाते हैं। बंगाल और उड़ीसा में ग्वाला और सदगोप, महाराष्ट्र में ग्वाली और गोपाल, आन्ध्र-प्रदेश और कर्नाटक में गोल्ला, केरल में इडायन और तमिलनाडु में कोनार के नाम से जाने जाते हैं। व्यवसायिक रूप से भी वे समान जाति के नहीं हैं और वे दूध एवं दूध-उत्पाद बेचना, पशु-चराना और खेती क़रना जैसे विभिन्न व्यवसायों को अपनाते हैं। 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में, उन्होंने एक नयी यादव पहचान विकसित की। वे अपने को यदुवंशी और कृष्ण के वंश से जोड़ते हैं। कृष्ण कथानक भी गड़रिया व्यवसाय की वैधता को सिद्ध करता है। उनमें से बहुत से आर्थिक रूप से कमजोर, वंचित और शोषित पशु-चरवाहे, छोटे कृषक और खेतिहर मजदूर थे। आर्य-समाज का प्रभाव आने के बाद, विशेषकर उत्तर-भारत में, उन्होंने आत्मसम्मान प्राप्त करने के लिये वैदिक हिन्दुत्व में भाग लेना शुरू कर दिया किंतु इस प्रक्रिया में उन्हें ठाकुर, भूमिहार और ब्राह्मणों का कोपभाजन बनना पड़ा जो संस्कृतिकरण द्वारा सामाजिक उत्थान के इन प्रयासों को सन्देह की दृष्टि से देखते थे। जब अहीरों ने 'जनेऊ' सार्वजनिक रूप से धारण करना शुरू कर दिया तो गुप्त शुत्रता ने खुली हिंसा का रूप ले लिया। उन्होंने जातिगत संस्थाओं का गठन करके, इसका अनुसरण किया और अपने नामों के बाद यादव लगाना शुरू कर दिया। 1923 में आधुनिक शिक्षित यादवों के नेतृत्व में **अखिल भारतीय यादव महासभा** के गठन से, यादवों की एक राष्ट्रीय पहचान उभरी। महासभा ने समाज सुधार का पूर्ण कार्यक्रम प्रारम्भ किया। इसमें शाकाहारी, निर्व्यसनी होने के लिये और दहेज एवं अस्पृश्यता जैसी कुरीतियों को दूर करने के लिये आग्रह किया गया। 1960 का दशक यादव आन्दोलन में परिवर्तन लाने वाला बिन्दु था। इसने भारतीय सेना में एक अलग यादव रेजीमेण्ट के गठन के लिये आन्दोलन किया और बाद में शिक्षा एवं रोजगार में अधिक वरीयता के लिये पिछड़ी जातियों की लड़ाई का नेतृत्व भी किया। इसने कथानकों एवं ऐतिहासिक स्रोतों के आधार पर. एक विचारधारा को

विकसित करना शुरू किया और एक अपेक्षाकृत वंचित समूह के रूप में उनकी स्थिति पर उच्च स्तरीय सामाजिक जागृति लाने का प्रयास किया। उनके बीच शिक्षा को उच्च वरीयता दी गई और पुलिस बल तथा सेनाओं में उनकी भर्ती में काफी वृद्रि हुई। लोकतंत्रीकरण प्रक्रिया द्वारा उनके बीच राजनीतिक अभिजात्य को भी विभिन्न राज्यों, विशेषकर यू.पी., बिहार और राजस्थान में राजनीतिक सत्ता में हिस्सा दिया गया।

जब हम भारतीय समाज में सामाजिक प्रक्रिया को देखते हैं तो हम पाते हैं कि क्षत्रियकरण की प्रक्रिया बहुत प्रचलित रही है। यादव के साथ पिछड़ी जाति आन्दोलन में तमिलनाडु में नाडार और वनहीकुल क्षत्रिय आन्दोलन का भी जिक्र किया जा सकता है। हार्डग्रेव (1969) नाडार आन्दोलन का विस्तृत इतिहास बताते हैं। वे कहते हैं कि 19वीं शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश में शराब बनाने वाली पारम्परिक जाति नाडार ने स्वयं के क्षत्रिय होने का दावा किया। वे पवित्र धागा पहनते थे और जनेऊ संस्कार एवं दूसरे रीति-रिवाजों को करने के लिये ब्राह्मण पुरोहित को बुलाते थे। उन्होंने भी 1895 में मदुरई में **नाडार क्षत्रिय महाजन संगम** बनाया और स्वतन्त्रता के बाद तमिलनाडु में एक शक्तिशाली राजनीतिक ताकत के रूप में उभरे।

एक कृषक जाति पल्ली ने भी वनहीकुल क्षत्रिय आन्दोलन के एक भाग के रूप में समान स्थिति का अनुभव किया। अपनी स्थिति के प्रति जागरूकता आ जाने के बाद, एक वंचित समूह के रूप में उन्होंने 1830 में स्वयं को संगठित किया। उन्होंने क्षत्रियों के पल्लव वंश से स्वयं को बतायां किंतु ब्राह्मण-विरोधी आन्दोलन का समर्थन किया।

ऊपर वर्णित जातियों से अलग जाति जोगी जो पश्चिम बंगाल के पारम्परिक बुनकरों की जाति थी, ने विरोध के रूप में ब्राह्मणवादी माडल को स्वीकार किया। 19वीं शताब्दी के अंत में अपनी वंचित स्थिति के प्रति जागरूक हुए और 1901 में **जोगी हितैषनी सभा** स्थापित की और एक **जोगीसका** पत्रिका निकाली। तब उन्होंने अपने अनुष्ठानिक शुद्ध स्तर को प्राप्त करने के लिये 'जनेऊ' धारण किया। इसी प्रकार नामाशुद्र नामक दूसरी कृषक जाति ने ब्राह्मण के स्तर के लिये दावेदारी प्रस्तुत की।

'आत्म-सम्मान आन्दोलन' (Self Respect Movement) सामाजिक-राजनीतिक कार्यों के परिणामों के फलस्वरूप अधिक मुखर विरोध की दूसरी विचारधारा थी। आन्दोलन के नेता पेरियार रामस्वामी नाइकर ने जन्म के आधार पर सामाजिक स्तर एवं योग्यता का एकमात्र पैमाना निश्चित करने का विरोध किया। उन्होंने एक नये मूल तंत्र की माँग की जिसमें जाति और धर्म से परे सभी लोग समान आत्मसम्मान प्राप्त कर सकें। ब्राह्मणों और पौराणिक हिन्दूवाद पर सीधे प्रहार द्वारा उन्होंने तमिल या द्रविड़यन संस्कृति के व्यापक तंत्र का समर्थन प्राप्त किया जिससे वह ब्राह्मण आर्य संस्कृति पर तमिल द्रविड़यन संस्कृति की श्रेष्ठता स्थापित कर सके। 19वीं शताब्दी के समाप्ति तक इस आन्दोलन की बौद्धिक जड़ें स्थापित हो चुकी थीं और पेरियार ने निम्न जाति हिन्दू और अछूतों में आत्म-सम्मान उत्पन्न करने में सफलता प्राप्त कर ली थी। इसी

समय नव उदित गैर-ब्राह्मण शहरी मध्यम वर्ग और स्थापित ब्राह्मण मध्यम वर्ग के बीच संघर्ष पैदा हो गया और उच्च जातियों में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आया। गैर-ब्राह्मण जातियों ने स्वयं में एकता स्थापित करना शुरू कर दिया और '1916 में गैर ब्राह्मण मेनिफ़ेस्टो' प्रकाशित किया गया, जिसके बाद 1917 में **दक्षिण भारतीय एसोसिएशन** का गठन किया गया जो बाद में कांग्रेस पार्टी के राजनीतिक प्रभाव के प्रत्युत्तर में **जस्टिस पार्टी** में परिवर्तित हो गई। अंत में 1944 में **जस्टिस पार्टी** और 'आत्म-सम्मान आन्दोलन' नाइकर के नेतृत्व में द्रविड़ कजघम (डी.के. पार्टी) के रूप में गठित होकर एक हो गये। बाद में, 1949 में यह टूट गई और सी. एन. अन्नादुराई के नेतृत्व में द्रविड़ मुनेत्र कजघम (डी. एम. के. पार्टी) के नाम से बनायी गई। अन्नादुराई की मृत्योपरान्त द्रविड़ आन्दोलन की सारी विचारधारा के तत्त्व पतन के कगार पर पहुँच गये और अब इतिहास का एक हिस्सा बन गये हैं।

दलित आन्दोलन (Dalit Movement)

दलित आन्दोलन वृहत् रूप में अछूत जातियों के आन्दोलन के रूप में या संवैधानिक व्यवस्था के अनुसार अनुसूचित जातियों के आन्दोलन के रूप में देखा जा सकता है। दलित आन्दोलन के इतिहास को खोजते हुए घनश्याम शाह (2002) कहते हैं कि ज्योतिबा फूले की प्रेरणा से 19वीं शताब्दी में जाति-विरोधी आन्दोलन शुरू हुआ और जो 1920 के दशक तक महाराष्ट्र और तमिलनाडु में गैर-ब्राह्मणवादी आन्दोलन के रूप में आया तथा डा. बी. आर. अम्बेडकर के नेतृत्व में इसका विकास हुआ। किंतु दलितों के सामाजिक-आन्दोलन एक विशेष चरित्र प्रदर्शित करते हैं। आर्थिक शोषण या राजनीतिक अत्याचारों के सन्दर्भों द्वारा वे संतोषजनक ढंग से व्याख्यायित नहीं किये जा सकते हैं, यद्यपि ये आयाम काफी महत्त्वपूर्ण हैं। जैसा कि मार्टिन फुक्स और अन्तजे लिंकेनबेच (2003) इंगित करते हैं, "दलित आन्दोलनों में वर्ग विश्लेषी प्रयास की कोशिश भी की गई, किंतु ग़ैर आर्थिक अत्याचारों के कारकों की व्याख्या सफलतापूर्वक नहीं हो सकी। ....। इससे भी बढ़कर, दलित या अछूतों के मामलों को पृथक् करने वाला सच यह है कि वे हमेशा एक अल्पसंख्यक हैं। जबकि कुल भारतीय जनसंख्या के सापेक्ष में आदिवासी अल्पसंख्यक अवश्य किन्तु पारम्परिक रूप से उन क्षेत्रों में नहीं जिनमें वे रहते हैं, दलित पूरे देश में फैले हुए हैं।"

दलित आन्दोलनों ने स्वयं के व्यापक और आधारभूत उद्देश्य बनाये। समान मनुष्य के रूप में 'पहचान के लिये संघर्ष' को उनके प्रमुख आंतरिक उद्देश्यों के रूप में माना जा सकता है। एक ओर तो यह आत्म-विश्वास और आत्म-निर्धारण के लिये संघर्ष है परन्तु इसका वृहतर लक्ष्य समाज को बदलना है। "केवल अस्पृश्यता के विचार के उन्मूलन में इसकी पर्याप्त अभिव्यक्ति नहीं होती है और इससे जुड़े हुए समस्त भेदभाव (अत्याचार और शारीरिक हिंसा, यौन-शोषण, बन्धुआ श्रमिक, भूमिहीनता, सार्वजनिक 'अयोग्यताएँ' और निश्चित व्यवसायों और निश्चित स्थानों या धार्मिक संगति में निषेध आदि सभी मुद्दे इसमें आते हैं" (यथावत)।

दलित आन्दोलनों पर अध्ययन बहुत कम हुआ है। घनश्याम शाह (१९८०) ने दलित आन्दोलन को निम्न प्रकार से विभाजित किया है:-

1. सुधारवादी आन्दोलन (Reformatory Movements)

2. वैकल्पिक आन्दोलन (Alternative Movements)

सुधारवादी आन्दोलन को पुनः दो भागों में बाँटा जा सकता है- (अ) भक्ति आन्दोलन, (ब) नव-वैदान्तिक आन्दोलन और (स) संस्कृतिकरण आन्दोलन। सुधारवादी आन्दोलन जाति-प्रथा को सुधारने और अस्पृश्यता की समस्या का समाधान करने का प्रयास करता है। वैकल्पिक आन्दोलन कुछ दूसरे धर्मों में अन्तरण द्वारा या शिक्षा, आर्थिक स्तर और राजनीतिक शक्ति प्राप्ति द्वारा, एक वैकल्पिक सामाजिक-सांस्कृतिक ढाँचे की रचना करने का प्रयास करता है। स्वतंत्रता के पहले दलितों ने इस्लाम या ईसाई धर्म को अपनाया है किंतु संवैधानिक घोषणा के बाद बौद्ध धर्म में परिवर्तन मुख्य रूप से अपनाया जा रहा है क्योंकि वे इससे अनुसूचित जाति की प्रस्थिति को प्राप्त किये रहते हैं और परिणामस्वरूप प्राप्त होने वाले लाभों को लेते रहते हैं। दोनों प्रकार के आन्दोलन अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिये राजनीतिक साधनों का प्रयोग करते हैं। भक्ति और नव वैदान्तिक आन्दोलन केवल अनुसूचित जातियों तक ही सीमित नहीं रहे। उनकी शुरुआत हिन्दू धर्म और समाज-सुधारकों ने की। इन आन्दोलनों के उन्नायकों के अनुसार अस्पृश्यता हिन्दुवाद का आवश्यक अंग नहीं थी और यह मामला जाति-प्रथा का था। आर्य समाज के संस्थापक दयानन्द सरस्वती का विश्वास था कि जाति प्रथा 'शासकों द्वारा समाज के हित के लिये उत्पन्न की गई थी न कि एक स्वाभाविक या धार्मिक विशिष्टता।' १९वीं शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश और 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में शुरू किये गये अस्पृश्यता विरोधी आन्दोलनों में महाराष्ट्र का **सत्य शोधक समाज**, तमिलनाडु का **आत्म-सम्मान आन्दोलन**, बंगाल के **आदि धर्म** आन्दोलन प्रमुख हैं।

बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में आधुनिक दलित सामाजिक आन्दोलन अपने शिखर पर पहुँच गया था। "पुनर्गठित सामाजिक क्षेत्रों के उदय से उत्पन्न अवसरों को उन्होंने क्षेत्रीय स्वयं संगठन और बहुक्षेत्रीय संजाल बनाने में प्रयोग किया।" आधुनिक दलित आन्दोलनों में डॉ० अम्बेडकर के आन्दोलन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। शाह इसके इतिहास को खोजते हुए कहते हैं कि प्रथम विश्व युद्ध और रूसी क्रान्ति के तुरन्त बाद के काल में अम्बेडकर ने भारत के राजनीतिक एवं सामाजिक जीवन में प्रवेश किया। यह युग सामाजिक और राजनीतिक उथल पुथल का युग था एवं सामाजिक स्वतन्त्रता के लिये आन्दोलनों में मार्क्सवादी समाजवाद का नियंत्रण बढ़ रहा था। यद्यपि अम्बेदकर ने इन आन्दोलनों में एक 'माहार' नाम से प्रसिद्ध आन्दोलन को संगठित किया एवं आगे बढ़ाया। यह गैर-दलित समाजवादियों के वैचारिक आधिपत्य और नेतृत्व को नकारते हुए, दलित मुक्ति के लिये एक स्वायत्त आन्दोलन के रूप में मुख्यतः निम्न अछूत जाति माहार तक सीमिति था, परन्तु वे आजीवन मार्क्सवाद से प्रभावित रहे। उनका आन्दोलन आज

भी दलित नेतृत्व को प्रेरित करता रहता है और उत्तर प्रदेश में सत्तासीन रही **बहुजन समाज पार्टी** (बसपा) का सम्पूर्ण राजनीतिक संचालन इसी पर आधारित था। उल्लेखनीय है कि अम्बेडकर ने निष्कर्ष दिया था कि हिन्दू धर्म को छोड़कर ही अछूत जातियों की स्थिति को सुधारा जा सकता था। उन्होंने स्वयं बुद्ध धर्म स्वीकार किया और दलितों ने इस उद्देश्य को आगे बढ़ाना जारी रक्खा।

अम्बेडकरवादी बुद्ध-वाद द्वारा प्रदान की गयी नयी पहचान और अम्बेदकरवादी नीतियों पर आधारित **दलित पैंथर आन्दोलन** एवं **दलित साहित्य आन्दोलन** ने दलितों पर हुए अत्याचारों को अभिव्यक्ति दी। राबर्ट डेलीज (1999) सही कहते हैं कि दलित पैन्थर आन्दोलन अछूत जातियों की बढ़ी हुई आक्रामता का ही एक विशिष्ट रूप है जो दलित कहलाने में गर्व का अनुभव करते हैं जबकि 'पैन्थर' शब्द स्वयं में महत्त्वपूर्ण है और अमेरिकन ब्लैक पैन्थर्स की स्पष्ट झलक देता है जिससे युवा दलित कभी-कभी अपनी पहचान व्यक्त करते हैं। यह संगठन बाम्बे में 1972 में बना। इसके संस्थापक जे. वी. पवार और धसाल थे जिन्होंने अपने मूल अधिकारों की लड़ाई पर जोर दिया और कहाकि प्रत्येक अत्याचार का बदला लेना चाहिए। एक अनुमान के अनुसार 1974 तक 25 हजार लोग इसके सदस्य बन चुके थे जिनमें नव-बौद्ध माहार बड़ी संख्या में थे। "यद्यपि इसके घोषणा पत्र में कुछ क्रान्तिकारी व्यवस्थाएँ थीं किंतु शीघ्र ही आन्दोलन अपनी कमजोर विचारधारा के कारण पतन की ओर अग्रसर हुआ। अन्ततः अपने दो नेताओं धाले और धसाल के बीच प्रतिद्वन्द्विता के कारण 1974 में यह टूट गया। 1977 तक यह संगठन नहीं रहा जिसने कभी ग्रामीण क्षेत्रों में पहुँचने का प्रयास नहीं किया था।" किंतु इसने मराठी दलित चेतना पर अमिट चिन्ह छोड़े। दलित पैन्थर वाग के कई लेखक मराठी साहित्यिक आन्दोलन, जो कि दलित साहित्य के नाम से भी जाना जाता है, के अगुआ बने। एक बार फिर नव-बौद्ध माहार ने एक महत्त्वपूर्ण आन्दोलन में अपना वर्चस्व स्थापित किया। उनकी विचारधारा स्पष्टतः विद्रोही और प्रायः आक्रामक थी, यहाँ गरीब, शोषित अछूत 'सम्मानित दलित' बन जाते हैं जिन्हें अपने अधिकारों और शक्ति का अच्छी तरह से अन्दाजा है। दलित पैन्थरों की भाँति इन लेखकों की नीयत छुपाने की नहीं है, बल्कि वे अपने विद्रोह के स्पष्ट और मुखर होने का दावा करते हैं। उनका हथियार कलम है और उनकी बहुत सी कविताएँ इन भावनाओं को व्यक्त करती हैं। कुछ लेखकों और कवियों की शैली अधिक विद्रोही है यहाँ तक कि वह आक्रामक शैली हो गई है। कई दलित कविताओं और अन्य लेखों के हाल ही में किये गये अनुवादों ने इन आन्दोलनों के बारे में विस्तारपूर्वक जानकारी दी है।

जनजातीय आन्दोलन (Tribal Movement)

जनजातियाँ, मूलतः एक नृजातीय (ethnic) समूह होती हैं। विभिन्न जनजातियों का अपना भू-भाग, इतिहास, सामाजिक ढाँचा, बोली और अनुभव होते हैं। जनजातीय आन्दोलनों पर शोध, पारम्परिक रूप से सामाजिक मानव-विज्ञान के अन्तर्गत आता है और 1940 में, इस पर

पहली बार एक विषय के रूप में चर्चा प्रारम्भ हुई। यद्यपि **'मैन इन इण्डिया'** (1945) के विशेष संस्करण के प्रकाशन के साथ भारत में जनजातीय आन्दोलन पर एक व्यवस्थित शोध प्रारम्भ हुआ किंतु इस विषय पर 1960 के दशक में सबसे अधिक कार्य हुए।

औपनिवेशिक शासन की शुरुआत से ही, भारत की जनजातियों में व्यग्रता व असंतोष के लक्षण प्रकट होने लगे। "भारत में जनजातीय आन्दोलन के विकास में बहुरूपता (Polymorphous) है तथापि भारत में अधिकांश जनजातीय आन्दोलन के केन्द्रीय रूप को कोई भी समझ सकता है। अधिकांश जनजातीय संघर्ष राज्य के विरुद्ध विद्रोह थे यही वास्तविक सार है" (राजेन्द्र सिंह, 2000)। आदिम एवं उत्तर-आदिम जनजातियों के बीच व्यग्रता की विशिष्ट अवधारणाओं को इंगित करते हुए बी० के० राय बर्मन (1984) ने निम्नांकित मापदण्डों को सम्मिलित किया है:-

1. निवास की निजता पर खतरों के विरुद्ध प्रतिक्रिया।
2. संसाधनों पर पहुँच और नियंत्रण पर खतरों के विरुद्ध प्रतिक्रिया।
3. सम्पूर्ण अन्तःक्रिया व्यवस्था में पारम्परिक भूमिकाओं के भंग होने के विरुद्ध प्रतिक्रिया।
4. मनुष्य और प्रकृति संबंधों के नये अर्थों की खोज।
5. व्यक्तियों और समाज-संबंधों के नये अर्थों की खोज।
6. पहचान की नयी सीमाओं की खोज।
7. संसाधनों के नियंत्रण की एक अधिक संतोषजनक व्यवस्था की खोज।
8. सभी स्तरों पर सामुदायिक शक्ति के संगठन के लिये एक अधिक संतोषजनक तंत्र की खोज।

यद्यपि इन प्रतिक्रियाओं (responses) के वर्णन में कुछ हद तक अनियमितताएँ हो सकती हैं, किन्तु स्पष्टतया व्यग्रता की पहली तीन संभावनाएँ मुख्यतः बाहर से आई चुनौतियों की प्रतिक्रिया हैं, जबकि अंतिम पाँच मुख्यतः अन्दर से उत्पन्न चुनौतियों के विरुद्ध प्रतिक्रियाएँ हैं।

कुछ विद्वानों ने जनजातीय-आन्दोलनों के विभिन्न प्रकारों की विभाजन व्यवस्था का विकास किया। एल० के० महापात्र (1972) ने सामाजिक आन्दोलनों में व्यापक रूप से प्रयोग किये जाने वाली विभाजन-व्यवस्था का प्रयोग जनजातीय-आन्दोलन में किया है : (1) प्रतिक्रियावादी, (2) रूढ़िवादी, (3) परिवर्तनकारी अथवा क्रान्तिकारी। प्रतिक्रियावादी आन्दोलन, 'अच्छे पुराने दिनों' को वापस लाने के लिये एक आन्दोलन करने का प्रयास करते हैं जबकि रूढ़िवादी आन्दोलन यथास्थिति को बनाये रखते हैं। परिवर्तनकारी या क्रान्तिकारी आन्दोलन वो हैं जिन्हें 'बुराई' या 'निम्न' रीति-रिवाजों, विश्वासों या संस्थाओं के उन्मूलन द्वारा सामाजिक या सांस्कृतिक नियमों के 'सुधार' या 'शुद्धिकरण' के लिये संगठित किया जाता है। सुरजीत सिन्हा (1968) इन आन्दोलनों को निम्न भागों में वर्गीकृत करते हैं:-

1. नृजातीय विद्रोह (Ethnic Rebellion)

2. सुधार-आन्दोलन (Reform Movements)

3. भारतीय राज्य के अन्तर्गत राजनीतिक स्वायत्तता आन्दोलन (Political Autonmony Movements within the Indian State)

4. अलगाववादी आन्दोलन (Secessionist Movements)

5. कृषिक असंतोष (Agrarian Unrest)

सन्थाल क्रान्ति/विद्रोह नृजातीय विद्रोह की श्रेणी में आता है, ओराओं जनजाति का ताना भगत आन्दोलन सुधार एवं सशक्तीकरण आन्दोलन का एक अच्छा उदाहरण हो सकता है, झारखण्ड और बोडोलैण्ड आन्दोलन तीसरी श्रेणी में आता है और 1940 एवं 1950 के दशकों का नागा व मिजो आन्दोलन चौथी श्रेणी में आता है और सन्थालों के बीच नक्सलबाड़ी आन्दोलन कृषिक असंतोष का अच्छा उदाहरण है। के.एस.सिंह (1982,83) भारत में जनजातीय-आन्दोलन के अपने दो खण्डों में, लगभग समान वर्गीकरण ही करते हैं, सिवाय इसके कि वह सुधारवादी आन्दोलन के स्थान पर 'संस्कृतिकरण' शब्द का प्रयोग करते हैं। मध्य भारतीय जनजातीय क्षेत्र की मुख्य जनजातियों जैसे- गोन्ड, भील, ओराओं और मुण्डा आदि ने वृहतर समाज की तुलना में अपने सामाजिक स्तर को उन्नत करने के लिये संस्कृतिकरण की प्रक्रिया को अपना लिया है। गोन्ड जनजाति के बीच क्षत्रियकरण की प्रक्रिया एक प्रचलित प्रक्रिया है जिसके द्वारा वे स्वयं के क्षत्रिय होने का दावा करते हैं।

जनजातीय आन्दोलन प्रधान रूप से मध्य भारत में तथाकथित 'जनजातीय पट्टी' में स्थित रहे हैं। इनमें से कुछ आन्दोलनों के तत्त्वों में भक्ति परम्परा (ओराओं का भगत आन्दोलन) और ईसाईयत (बिरसा गुण्डा, 1895-1901) के तत्त्व भी समाहित किये गये हैं। उत्तर-पूर्व भारत के जनजातीय आन्दोलनों (नागा, बोडो, मिजो) ने पारिस्थितिक अध्ययनों में एक विशेष स्थान बनाया है क्योंकि वे स्वातन्त्र्य-पूर्व भारत में शुरू हुए थे और स्वातन्त्रोत्तर काल में राजनीतिक स्वायत्तता और पृथक् राष्ट्र के लिये सशस्त्र संघर्ष में विकसित होकर आज भी कुछ हद तक विद्यमान हैं। मार्टिन फुक्स और अन्टजे लिंकेनबैच (2003) ने, विशेषकर ब्रिटिश भारत के दौरान, जनजातीय आन्दोलनों के अध्ययन के लिये तीन मुख्य प्रयासों की पहचान की है:

(1) संस्कृतियों के पारस्परिक संघर्ष और सापेक्ष वंचना की प्रतिक्रिया के रूप में जनजातीय आन्दोलन : मिसिनस्टिक आन्दोलन (Messianistic Movements)

स्टीफेन फुक्स (1905) ने इसी प्रयास का अनुसरण किया था। दो सजातीय, किंतु असमान संस्कृतियाँ, जिनमें एक 'अपेक्षाकृत कम विकसित और पिछड़ी हुई है,' और दूसरी प्रौद्योगिक रूप से कहीं अधिक उच्चकोटि की है, अचानक सामने आईं। सीमान्त सांस्कृतिक समूह के सदस्य नयी परिस्थितियों के साथ भावात्मक और बौद्धिक रूप से तालमेल बैठाने में असमर्थ रहे। तब उन्होंने एक भावी समाज, जिसमें वर्तमान समाज की वंचनाएँ नहीं होंगी, की कल्पना के द्वारा एक समाधान को ढूँढ़ने की कोशिश की। इच्छित विचारधारा और क्रिया-कलाप करिश्माई

नेता पर बहुत ज्यादा निर्भर करते हैं जो कि स्वयं के मसीहा या पैगम्बर के रूप में दैवीय और जादुई शक्ति के प्राप्तकर्त्ता होने का दावा करते हैं। यद्यपि ऐसे आन्दोलन प्रायः नेताओं के क्रान्तिकारी चरित्र, व्याख्याओं एवं क्रिया-कलापों को प्रकट करते हैं और उनके अनुयायियों को तर्कहीन समझा जाता है तथा उनके द्वारा किये गये विद्रोह असफल ही होते हैं।

2. सामाजिक विघटन की अभिव्यक्ति के रूप में जनजातीय आन्दोलनः पुनर्शक्तिकरण आन्दोलन (Revitalization Movements)

एडवर्ड जे (1961) ने पूर्वी भारतीय जनजातीय आन्दोलनों के अपने अध्ययन में इस अवधारणा को स्वीकार किया था। जे के प्रयासों में समाज या संस्कृति एक अवयव या व्यवस्था के रूप में देखी जाती है जो परिवर्तनकारी संस्कृतिपरक प्रक्रिया द्वारा एक नवीन संतुलन प्राप्त करने के लिये नियमित रूप से सांस्कृतिक विकृति और सामाजिक अव्यवस्था के दौर से गुजरती है। उपनिवेशिक परिस्थितियों में भारतीय जनजातियों के पुनर्शक्तिकरण आन्दोलन ने 'सांस्कृतिक परिवर्तन के उत्प्रेरक' और नये नैतिक नियमों के सृजन के साधनों के रूप में कार्य किया, जिसमें विरोधी संस्कृति के तत्त्व भी समाहित हो जाते थे।

3. 'अधीनस्थ' (subaltern) के प्रतिरोध के रूप में जनजातीय आन्दोलन

'अधीनस्थ' (subaltern) विचारधारा के इतिहास का केन्द्र बिन्दु किसान है जो इतिहास के एक विषय के रूप में उसे पहचान देता है। सबालटर्न अध्ययनों के सन्दर्भ में जनजातीय आन्दोलनों को कृषक आन्दोलन के विशेष रूप में देखा जाता है। सबालाटर्नवादियों के लिये जनजाति के साथ-साथ कृषक आन्दोलन सामाजिक और सांस्कृतिक विरोधाभासों के कारण उत्पन्न होते हैं। इससे भी बढ़कर जनजातीय आन्दोलनों में समाहित आर्थिक मुद्दे बहुधा गैर-जनजातीय कृषक आन्दोलनों को प्रभावित करने वाले मुद्दों से मिलते-जुलते थे।

संथाल विद्रोह

संथाल भारत की महत्त्वपूर्ण जनजातियों में से एक है जो बिहार से लेकर बंगलादेश तक फैले हुए हैं। संथाल परगना उनका केन्द्र है तथा वह लोग मुंदरी भाषा बोलते हैं। इन्हें अपनी संस्कृति व भाषा पर बड़ा गर्व है। इनके एक बड़े वर्ग ने धर्म परिवर्तन किया है लेकिन ईसाई धर्म में परिवर्तित होने पर भी इनकी राजनैतिक एकता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा अंग्रेजों के विरुद्ध अपनी सशस्त्र क्रान्ति (1855-56) के कारण यह लोग पूरे विश्व में प्रसिद्ध हैं।

यद्यपि कोल विद्रोह (1830) ने बाद में हुए व्रिदोहों के लिए एक वातावरण तैयार किया था, परन्तु इसकी तुलना वृहद् स्तर पर संथाल विद्रोह से नहीं की जा सकती है। यह विद्रोह एक उग्र जनविद्रोह के रूप में सामने आया जो विदेशी शासक तथा उनकी कठपुतलियों-ज़मींदारों, साहूकारों तथा स्थानीय अधिकारियों के विरोध में था। संथाल विद्रोह में बिहार, पश्चिम बंगाल तथा कलकत्ते के लगभग सौ मील दूर तक के क्षेत्र सम्मिलित थे। अपनी सेनाओं के द्वारा संथालों का नर संहार करवाकर अंग्रेजी सरकार इस विद्रोह को दबाने में सफल हो गई थी। इस विद्रोह

के नायक कनु तथा सिद्ध मुरमू दोनों को राष्ट्रीय नायकों की सूची में सम्मानित स्थान मिलना चाहिए।

अन्य जनजातियों की भाँति संथालों के पास भी वन व भूमि संपदा थी। अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए अंग्रेज सरकार ने भू-स्वामित्व की ऐसी प्रणाली बनायी जिसने ज़मींदारी प्रथा को जन्म दिया। इन ज़मींदारों का प्रयोग सरकार अपने हितों को बचाने के लिए तथा अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए करती थी। इसके साथ-साथ इस क्षेत्र में ईस्ट इंडिया कम्पनी द्वारा वसूल किया जाने वाला वार्षिक कर भी तिगुना कर दिया गया जो संथाल कृषकों की आर्थिक स्थितियों से अधिक था। बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण बहुत से बाहरी लोग भी इसी क्षेत्र में आकर बसने लगे जिन्होंने अपनी समृद्धता के कारण बहुत कम समय में अच्छा प्रभाव जमा लिया। ऐसी स्थितियों तथा प्रकृति की अनिश्चितताओं ने इन संथालों को दुर्बल बना दिया। ऐसी आर्थिक दुबर्लता ने साहूकारों तथा ज़मींदारों के लिए आदर्श स्थिति बना दी जिसमें वे अपने पैर मजबूती से जमा सके। संथालों को उनके द्वार पर ऋण मिलने लगा। इससे उन्हें कुछ राहत अवश्य मिली परन्तु यह धनराशि दान नहीं थी। वह ब्याज की उच्च दरों पर दिया गया ऋण था। बाहरी लोगों ने अपने लगाये गये धन पर वापसी की माँग की। इसी प्रकार के विनियोगों ने भूमि हस्तांतरण को जन्म दिया जिसके कारण बहुत से संथालों को अपनी भूमि गँवानी पड़ी। इन ऋणों के लेखों में गड़बड़ी की जाने लगी तथा ब्याज की दर बढ़ने लगी। इस प्रकार के खाते भी एक औपचारिकता मात्र थे जिससे इन संथालों को हानि ही होती थी। स्थानीय अधिकारी तथा अंग्रेजी कारिन्दे सभी इन साहूकारों तथा शोषकों का साथ देते थे। धीरे-धीरे सरकारी तन्त्र तथा न्यायालयों पर से भी इन संथालों का विश्वास उठ गया।

संथालों के आर्थिक शोषण ने सभी सीमायें पार कर दीं तथा वह असहनीय हो गया। ऐसे समय में स्थितियों की माँग को देखते हुए कनू तथा सिद्ध मुरमू जैसे दो साहसी सामने आये। अपेक्षित एवं आवश्यक नेतृत्व की सहायता से संथाल विशाल आन्दोलन के लिए तैयार हो गये। सन् 1855 में जून माह की भीषण गर्मी में एक दिन हजारों संथालों ने एकत्र होकर अपने आपको शोषण के बोझ से मुक्ति दिलाने की शपथ ली। सभी बाहरी तत्त्वों, विशेषतया सरकारी कर्मचारियों, ज़मींदारों, साहूकारों तथा अंग्रेजों को तुरन्त उनके क्षेत्रों से चले जाने तथा अपनी जान बचाने की चेतावनी दी गयी।

इस विद्रोह के पहले चरण में बहुत से साहूकारों तथा पुलिस अफसरों को मारा गया। इसके पश्चात् बाहरी लोगों की दुकानों की तोड़फोड़ की गई तथा उन्हें लूट लिया गया। रोके जाने पर संथालों ने अपनी तलवारों, भालों तथा जहरीले तीरों का प्रयोग किया। स्थितियों की गम्भीरता को समझते हुए प्रशासन ने शान्तिपूर्ण ढंग से समस्या का समाधान करने तथा संथालों को अपनी हिंसात्मक कार्यवाहियों को रोकने के लिए समझाने के उद्देश्य से उच्च अधिकारियों को भेजा परन्तु अब तक बहुत देर हो चुकी थी। संथाल आक्रोश अपनी चरम सीमा पर था। यह लोग अंग्रेजों तथा अंग्रेजी प्रशासन का नामोंनिशान मिटाने पर तुले हुए थे। संथालों ने अंग्रेजी सरकार के

कार्यालयों में तोड़-फोड़ की, अंग्रेजों व उनकी महिलाओं तथा बच्चों को चुन-चुन कर मारा तथा अंग्रेज सरकार की भारतीय कठपुतलियों के सभी संस्थानों पर हमला किया। अन्त में किसी भी तरह इस विद्रोह को दबाने का कार्य सेना को सौंप दिया गया। सेना ने बहुत से संथाल गाँवों को लूटा व उनमें आग लगा दी। कुछ समय पश्चात् संथाल विद्रोह के सभी महत्त्वपूर्ण नेता गिरफ्तार कर लिये गये तथा 1856 के अन्त तक यह विद्रोह लगभग समाप्त हो गया।

अलग-अलग इतिहासकारों ने इस ऐतिहासिक विद्रोह को अलग-अलग ढंग से समझा व बताया। थामसन तथा गैरैट्स की पुस्तक- **"राइज एण्ड फुलफिलमेन्ट ऑफ ब्रिटिश रूल इन इण्डिया"** के निम्न लेखांश में इस सशस्त्र विद्रोह के मूल कारण जो कि अंग्रेजों द्वारा संथालों का आर्थिक शोषण था, पर दृष्टि डाली गयी।

"भारत में 1855 के संथाल विद्रोह, जो कि उस समय एक शक्ति के रूप में उदय हुआ, ने ऐसे दमन व विरोध को जन्म दिया जो कि दो वर्षों के भीतर ही समाप्त हो गया। आदिवासी संथाल, जो कि प्रकृति की गोद में रहने वाले सीधे-सादे लोग हैं, हिन्दू घुसपैठ से परेशान हो गये थे। इनकी भूमि छिन गयी तथा यह लोग अधिक चालाक व धूर्त ऋणदाताओं के चंगुल में फँस गये। यह लोग ऐसे स्थानीय अधिकारियों के अधीन व उनके उत्तरदायित्व के अन्तर्गत थे जो इनकी कोई सहायता नहीं करते थे। फिर किसी चेतावनी के बिना बंगाल के बाहरी क्षेत्रों में तथा सौ मील तक कलकत्ता के आसपास यूरोपीय तथा भारतीयों के सिरों को तोड़ा गया, जहर बुझे तीरों का प्रयोग तथा घरों व बंगलों को जलाने जैसे कार्यों की भरमार हो गयी। यह सब नरसंहार तथा मृत्युदण्ड के रूप में धीरे-धीरे समाप्त हो गया।"

रेवरेन्ड डब्लू जे. कुलशा ने जनजातीय आर्थिक व्यवस्था में भूमि तथा वनों के महत्त्व पर बल देते हुए कहा कि अंग्रेज सरकार की मौन स्वीकृति से वृहद् स्तर पर भूमि का हस्तांरण किया जाना ही इस विद्रोह का मूल कारण था। वह लिखते हैं:

"संथाल जीवन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य है उस भूमि का स्वामित्व जो वह जोतता है। जनजातीय लोगों में कोई भी ध्येय व उद्देश्य इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना कि जनजातीय जीवन तथा उसके रीतिरिवाजों को जीवित रखना और एक संथाल की भूमि उसे केवल आर्थिक सुरक्षा ही नहीं प्रदान करती वरन् उसके पूर्वजों से उसे जोड़ती है, तथा यह बात नये व पुराने दोनों प्रकार के खेतों पर समान रूप से मान्य है। वह लोग तब तक भूमि का स्वामित्व नहीं स्वीकार करेंगे जब तक उनके पूर्वजों की आत्मायें इसकी सम्मति नहीं देतीं। भूमि उसकी सांस्कृतिक व आर्थिक धरोहर व परम्परा का एक भाग है।"

कार्ल मार्क्स ने भी संथाल विद्रोह पर ध्यान देते हुए अपनी पुस्तक "नोट्स आन इण्डियन हिस्ट्री" के माध्यम से यह कहा कि सात महीने लगातार छापामार युद्ध के बाद 1856 में यह विद्रोह दबाया जा सका। बंगाल के सुप्रसिद्ध कवि गुरुवर रवीन्द्र नाथ टैगोर ने इस विद्रोह के नायकों का स्मरण सम्मानपूर्वक किया है। यद्यपि इस व्रिदोह को निश्चित रूप से दबा दिया गया

फिर भी इस विद्रोह तथा इसके नायकों की यश गाथायें, अब भी हजारों संथालों में नयी स्फूर्ति व शक्ति का संचार करती हैं। यह आज भी हजारों लाखों क्रान्तिकारी संथालों का प्रेरणास्रोत हैं।

मुण्डा विद्रोह (बिरसा आन्दोलन)

सभी प्रकार के शोषण तथा अत्याचारों के विरुद्ध मुण्डा विद्रोह भी जनजातीय आक्रोश का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। मुण्डा जनजाति छोटा नागपुर क्षेत्र की मुख्य जनजातियों में से एक है जो जनसंख्या के दृष्टिकोण से भी भारत की महत्त्वपूर्ण जनजातियों में गिनी जाती है।

अपने पड़ोसी संथालों की ही भाँति मुण्डा जनजाति के पास भी अपनी भूमि थी। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक मुण्डा जनजाति अपने पारम्परिक सामाजिक व राजनैतिक ढाँचे में, शान्तिपूर्ण जीवन-यापन कर रही थी जिसमें सबसे अधिक अधिकार इनके सरदार को था। मुण्डा जनजाति के कुछ आपसी मतभेदों के कारण इनके कुछ क्षेत्र पड़ोसी हिन्दू रजवाड़ों की संस्कृति के निकट आ गये।

हिन्दुओं/हिन्दू राजाओं के स्तर पर आने के उद्देश्य से मुण्डा सरदारों ने हिन्दुओं की परम्पराओं तथा रीतिरिवाजों को अपनाना प्रारम्भ कर दिया। इसके साथ-साथ सरदारों ने हिन्दू पुरोहितों को संरक्षण देकर उन्हें दान में भूमि देना प्रारम्भ कर दिया। धीरे-धीरे इन पुरोहितों का व्यवहार ज़मींदारों जैसा हो गया। बढ़ती हुई जनसंख्या में कृषि योग्य भूमि की अधिक आवश्यकता हुई जिसके फलस्वरूप राजस्व भी बढ़ गया। निर्धन मुण्डा किसान, जिन्हें पुरानी तकनीकों तथा अधिकतर अनुपजाऊ भूमि के कारण बहुत कम उपज प्राप्त होती थी, राजस्व की बढ़ी हुई दरों के हिसाब से कर चुकाने में आर्थिक रूप से सक्षम नहीं थे। ऐसी स्थितियों ने उन्हें धूर्त साहूकारों की दया पर जीवित रहने को विवश किया तथा इन साहूकारों ने इनकी विवशता का अधिक से अधिक लाभ उठाया। अंग्रेजी राज्य के विस्तार के समय अंग्रेज प्रशासकों ने इन सभी प्रचलित नियमों को अपनी स्वीकृति दे दी। 1806 में अंग्रेज प्रशासकों ने ज़मींदारों को पुलिस के सभी अधिकार दे दिये।

मुण्डा जनजाति के शोषण के संदर्भ में अंग्रेजी साम्राज्य की मौन स्वीकृति के कारण इस जनजाति में असंतोष की भावना ने जन्म लिया तथा शब्द 'डीकू' सभी प्रकार के बाहरी लोगों के लिये प्रयोग होने लगा। यह असंतोष बढ़ता गया जिसके कारण कहीं-कहीं हिंसा की घटनायें भी हुईं। इन सभी घटनाओं तथा संघर्षों में अंग्रेजी प्रशासकों ने मुण्डा जनजाति के विद्रोह को क्रूरता से दबाने में शोषकों का साथ दिया। इन स्थितियों में परेशान मुण्डा जनजाति के लोगों ने मिशनरियों की शरण ली। अपने अधिकारों के वापस मिलने तथा अपने हितों की रक्षा होने के आश्वासन पर इन लोगों ने ईसाई धर्म भी स्वीकार किया परन्तु इनकी आशाओं के विपरीत आवश्यकता पड़ने पर मिशनरियों ने भी इनका साथ नहीं दिया। अब मुण्डा लोगों को किसी पर विश्वास नहीं रहा तथा पूर्ण रूप से उनका मोह भंग हो चुका था।

अब बिरसा नाम के एक बीस वर्षीय साहसी व उत्साही मुण्डा युवक ने नेतृत्व संभाला।

इस युवक की शिक्षा एक मिशन स्कूल में हुई थी तथा बाद में बिरसा वैष्णव धर्म के अनुयायी एक मुनि के साथ रहने लगा था। उसने घोषणा की कि मुण्डा जनजाति को बाहरी तत्त्वों से मुक्ति दिलाने तथा उनके उत्थान के लिए उसे भगवान ने भेजा है। इस मिथक के प्रचार में बिरसा के कुछ मित्रों ने भी उसको सहयोग दिया। उसने संपूर्ण छोटा नागपुर क्षेत्र में इस प्रकार की घोषणाएँ कीं। उसके व्याख्यानों तथा भाषणों में हिन्दू धर्म, ईसाई धर्म तथा मुण्डा संस्कृति, तीनों का मिश्रण था। उसने मुण्डा लोगों को परम्पराओं तथा रीतिरिवाजों को तिलांजलि देकर ईश्वर में विश्वास करने की बात समझाई। अधिकतर मुण्डाओं को यह बात समझ में आ गई क्योंकि वह लोग अपनी परंपराओं को निभाने में पशुओं की बलि देने जैसी महँगी रीतियों से ग्रस्त थे। मिशनरियों की ही भाँति बिरसा ने प्रार्थना सभाओं का भी आयोजन किया। इन सभाओं में वह अपनी जनजाति के लोगों से न डरने तथा साहस का परिचय देने की अपील करता था। बिरसा उन्हें समझाता था कि उसकी मानवेतर शक्तियों के कारण कोई भी लौकिक शस्त्र उन्हें मार नहीं सकता।

सन् 1895 तक अपने अथक प्रयासों से बिरसा ने छः हजार समर्पित मुण्डाओं का एक दल तैयार कर लिया। अंग्रेजों के राजनैतिक प्रभुत्व को समाप्त करना, सभी बाहरी तथा विदेशी तत्वों को बाहर निकालना तथा स्वतंत्र मुण्डा राज्य की स्थापना करना इसके मुख्य उद्देश्य थे। विद्रोह का प्रारम्भ एक पूर्व निश्चित योजना के अनुसार साहूकारों, मिशनरियों, अधिकारियों तथा सभी बाहरी लोगों पर आक्रमण द्वारा किया गया। हिंसात्मक संघर्ष के बाद भी मुण्डा जनजाति को निश्चित सफलता नहीं मिली। इसी बीच बिरसा को, जो कि अब बिरसा भगवान के नाम से प्रसिद्ध था, राँची में बंदी बना लिया गया। कुछ समय बाद बिरसा को कैद से मुक्ति मिल गई परन्तु उसने अपना रास्ता नहीं बदला। 1897 का बड़ा दिन (25 दिसम्बर) सभी मिशनरियों तथा ज़मींदारों पर आक्रमण करने के लिए सुअवसर माना गया। इस बार के आक्रमण में ईसाई मुण्डाओं को भी मार डाला गया। पुलिस चौकियों पर आक्रमणकारियों ने विशेष रूप से हमले किये। जब स्थितियाँ स्थानीय प्रशासन के नियंत्रण से बाहर हो गईं तब विद्रोह का दमन करने के लिए राँची से सेना बुलाई गई। ऐसा प्रतीत होता है कि सेना के आधुनिक शस्त्रों तथा क्रूरतापूर्ण नरसंहार के समक्ष मुण्डा विद्रोहियों को घुटने टेकने पड़े। बिरसा तथा उसका साथी गया मुण्डा राँची के कारागार में बन्दी बना लिए गये जहाँ पर बीमारियों के कारण बिरसा की मृत्यु हो गई। बिरसा की मृत्यु ने अत्याचार तथा आर्थिक शोषण के विरुद्ध गौरवमय जनजातीय विद्रोह पर पूर्ण विराम लगा दिया। विद्रोह की समाप्ति के पश्चात् जनजातीय लोगों को शोषण से बचाने के लिए विभिन्न कदम उठाने का निश्चय किया गया। नयी भूमि व्यवस्था, बन्दोबस्त तथा राँची जिले का सर्वेक्षण कार्यक्रम बिरसा आन्दोलन का प्रत्यक्ष फल था।

नागा विद्रोह

भारत का उत्तर-पूर्वी पहाड़ी क्षेत्र भी जनजातीय असंतोष व विद्रोह का केन्द्र रहा है। इस क्षेत्र में ऐसी जनजातियाँ रहती हैं, जिन्होंने किसी भी प्रशासन या अधिकारी या शक्ति के आगे घुटने टेकना नहीं सीखा। इन जनजातियों में स्वतंत्रता तथा स्वावलम्बन की भावना प्रबल है। दो

सौ साल तक लगातार अंग्रेजी राज्य होने के पश्चात् भी इन्हें दबाया नहीं जा सका। भारत की उत्तर-पूर्वी सीमा पर नागा तथा मिजो जनजातियों का लगातार सशस्त्र विद्रोह इस क्षेत्र में व्याप्त असंतोष का सशक्त उदाहरण है।

भारत का नागालैण्ड राज्य उत्तर-पूर्वी क्षेत्र में स्थित है जिसकी सीमायें बर्मा से मिलती हैं। अंग्रेजों द्वारा नागा पहाड़ियों के नाम से घोषित यह क्षेत्र बहुत दिनों तक दुर्गम व अगम्य रहा। नागा पहाड़ियों के आगे एक और जनजातीय क्षेत्र है जिस पर भारत सरकार ने कोई प्रभावी नियंत्रण नहीं किया। "सर्वेक्षण दलों ने इस क्षेत्र के कुछ भागों में कार्य अवश्य किया परन्तु कार्य अपूर्ण रहा तथा भारतीय संस्था सर्वेक्षण के बड़े-बड़े मानचित्रों में अब भी कहीं-कहीं सफेद (अनजाने क्षेत्रों) को दर्शाया गया है" (हैमेन्डार्फ, 1976)

नागालैण्ड राज्य में अंगामी नागा, आओ नागा, सेंमा नागा, कोन्यक नागा जैसी कई नागा जनजातियाँ रहती हैं। अपनी निर्धनता तथा भुखमरी के पश्चात् भी यह जनजातियाँ अपनी सांस्कृतिक परंपराओं व धरोहर पर गर्व करती हैं। अस्थायी खेती जिसे स्थानीय भाषा में "झूम" कहते हैं, इन लोगों के जीवन-यापन का मुख्य साधन है। नागा जनजातियों में किसी भी शक्ति के आगे झुकने या घुटने टेकने की परम्परा नहीं है। कभी-कभी तो यह लोग अपने सरदार के आगे भी नहीं झुकते। नागा जनजातियों ने अंग्रेजी सरकार के शोषण तथा घुसपैठ का लम्बी अवधि तक विरोध किया। लगभग सौ साल की लड़ाई तथा नरसंहार के पश्चात् ही अंग्रेजी सरकार को 1855 में इस क्षेत्र में अपना शासन बनाने में आंशिक सफलता मिली। यह क्षेत्र मिशनरियों के लिए खुल गया तथा यहाँ पर विभिन्न मिशनरियों ने लोगों को साक्षर करने तथा स्वास्थ्य सेवायें प्रदान करने का कार्य प्रारम्भ कर दिया। शीर्ष शिकार (हेडहंटिंग) आपत्तिजनक प्रथा, जो कि उनके सामाजिक स्तर तथा सम्मान का द्योतक थी, लगभग समाप्त हो गई परन्तु खूनी लड़ाई तथा बदले की भावना जैसे विचार इन जनजातियों के दिलों में गहरे बैठ चुके थे जिसे कम नहीं किया जा सका।

अपने से शक्तिशाली प्रतिद्वन्द्वी से भी विरोध किये बिना हार मानना इन नागा जनजातियों की मूल प्रकृति के विरुद्ध है। इन जनजातियों ने अपनी स्वतंत्रता में बाधा बनने के कारण, अंग्रेजों, मुगलों तथा अहोम राजाओं से भी लड़ाई की। बीसवीं सदी के पहले दशक तक यह लोग, भालों, तलवारों तथा धनुषबाण जैसे पारंपरिक शस्त्रों से लड़ते रहे परन्तु नागा जनजातियों ने आग्नेयास्त्रों का प्रयोग अन्य जनजातियों से पहले प्रारम्भ कर दिया। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान जापान की सेनाओं के द्वारा कोहिमा की घेराबंदी के समय जापानी सैनिक नागा सीमाओं में अन्दर तक प्रवेश कर गये। वापस जाते समय इन सैनिकों ने बहुत बड़ी संख्या में शस्त्र तथा गोला-बारूद यहीं छोड़ दिया। वर्तमान समय में नागा विद्रोहियों द्वारा सफलतापूर्वक आग्नेयास्त्रों का प्रयोग उपरोक्त अनुभवों का ही फल है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् नागालैण्ड तथा उत्तर-पूर्वी पहाड़ियों के अन्य क्षेत्र भारत का

एक भाग हो गये। इसी समय कुछ महत्वाकांक्षी तथा राजनीति में पारंगत नागाओं द्वारा द्वितीय युद्ध के पश्चात् पुनर्निर्माण के लिये नागाओं को संगठित करने के उद्देश्य से 1945 में **नागा हिल डिस्ट्रिक्ट ट्राइबल कौंसिल** की स्थापना की गई। ऐसा प्रतीत होता है कि अलग देश की इस महत्वाकांक्षा का जन्म इसी कौंसिल की स्थापना के कारण हुआ। **"दि नागा नेशन"** के नाम से एक समाचार-पत्र भी प्रकाशित होने लगा। बाद में **"नागा हेरल्ड"** का भी प्रकाशन हुआ जिस पर 1953 में प्रतिबन्ध लगा दिया गया। जापू फिजो तथा उसके अधिकतर कार्यकर्त्ताओं को सक्रिय राजनीति में लाने का कार्य भी संभवतः उपायुक्त चार्लस पॉसे ने ही किया। पॉसे का प्रभाव इतना बढ़ा कि जून 1947 में फिजो ने यह घोषणा कर दी कि स्वतंत्रता के पश्चात् नागा पहाड़ियाँ अब भारत का भाग नहीं हैं। "उसकी घोषणा से पूर्व भारत में अंग्रेजी अधिकारियों तथा लंदन में उनके सरंक्षकों की गोपनीय गोष्ठियों ने संभवतः भारत से अलग नागा देश के भविष्य की कामना की थी" (रक्षत पुरी, 1972)। आगे आने वाले महीनों में एक समझौता हुआ जिसे एक ओर राज्यपाल सर अकबर हैदरी तथा असम के मुख्यमंत्री बर्दोलोई थे तथा दूसरी ओर फिजो के नेतृत्व में 'नागा राष्ट्रीय परिषद्' थी। नागाओं के अनुसार इस समझौते की अन्तिम शर्त के आधार पर दस वर्षों के पश्चात् उन्हें अलग देश बनाने की स्वतंत्रता होगी। सरकारी वक्तव्यों ने स्पष्ट रूप से कहा कि समझौते में इस प्रकार की कोई शर्त नहीं थी। पंडित नेहरू ने भी नागा जनजाति की इस माँग को अव्यावहारिक बताते हुये कहा कि ऐसी माँगों को स्वीकृति नहीं दी जा सकती।

छापामार युद्ध शैली में निपुण फिजो तथा उसके समर्थक वनों में चले गये। अब स्वतंत्र नागा देश की माँग के लिए प्रणालीबद्ध विद्रोह प्रारंम्भ हो गया। नागा समूहों के सक्रिय सहयोग से यह विद्रोह लगभग दो दशकों तक चला। 1962 में नागालैण्ड को राज्य का स्तर प्राप्त हुआ। इस परिवर्तन से राजनीति में रुचि रखने वाले बहुत से नागाओं को संतोष हुआ। 1952 के बाद से नागा जनजातियों तथा भारत सरकार के बिगड़ते हुए सम्बन्धों पर टिप्पणी करते हुए, एम. अलेमथीबा आओ (स्वयं एक नागा) ने कहा कि इसका मुख्य कारण सरकार की जनजातियों के प्रति अनभिज्ञता तथा उनकी आवश्यकताओं को भलीभाँति समझने में सरकार की असफलता है।

बंदी बनाये जाने के डर से फिजो लंदन चले गये तथा यहाँ पर उनके समर्थकों ने नागालैण्ड, बर्मा तथा पूर्व पाकिस्तान के दुर्गम भौगोलिक क्षेत्रों तथा वनों में अपनी 'सरकार' बनाई। इन लोगों ने अपनी लोकसभा, अपनी सेना, न्यायालय तथा संविधान की भी संरचना की। इन नागा विद्रोहियों को पाकिस्तान व चीन जैसे भारी विरोधी देशों में शस्त्र, धन, राजनैतिक सहायता तथा प्रशिक्षण भी मिला।

अलगाववादी आन्दोलन से परेशान व मोह भंग होने के कारण बहुत से नागाओं ने संवैधानिक सरकार तथा लोकतांत्रिक संस्थाओं को मान्यता देना प्रारम्भ कर दिया। अपने आन्दोलन को निष्क्रिय होते देखकर चुनावों के तुरन्त बाद 1972 में भारत की सुरक्षा सेनाओं ने इनका डटकर मुकाबला किया। बहुत से भूमिगत विद्रोहियों को बंदी बनाया गया तथा जगह-जगह छापा मार कर विद्रोही गतिविधियों को दबा दिया। विद्रोहियों का समर्थन करने वाली संस्थाओं पर रोक

लगा दी गयी तथा विद्रोहियों को शरण देने वालों को गिरफ्तार कर उन्हें दण्ड दिया गया। धीरे-धीरे विद्रोह की यह नयी लहर शांत तो हो गयी परन्तु इसका अंत नहीं हुआ।

नागालैण्ड की विद्रोही गतिविधियों का सामना करने के लिए भारत सरकार ने बहुत प्रयास किये हैं। प्रशासन की ओर से नागाओं के विभिन्न विकास कार्यक्रमों तथा उन्हें लाभप्रद रोजगार दिलाने में अच्छी धनराशि व्यय की गई। इस प्रकार की सभी योजनाओं का क्रियान्वयन नागा लोगों द्वारा ही किया जा रहा है। वयस्क मताधिकार के आधार पर यह लोग अपनी सरकार बनाते हैं। यह प्रवृत्ति लाभकारी सिद्ध हुई है। अधिकतर विद्रोही अलग-थलग हो गये हैं जो कभी-कभी सरकारी अधिकारियों तथा सुरक्षा सेनाओं पर आक्रमण कर अपनी उपस्थिति तथा असंतोष का आभास कराते रहते हैं। भारतीय ईसाई मिशनरियों ने जनजातीय क्षेत्रों का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लिया है। इन भारतीय मिशनरियों का दृष्टिकोण विदेशी मिशनरियों के दृष्टिकोण से बिल्कुल अलग है जो या तो निष्पक्ष थीं या ईसाई नागाओं को भारत से अलग होने के लिए उकसाया करती थीं। शेष देश की औसत साक्षरता के प्रतिशत की तुलना में इन-जनजातियों के साक्षरता प्रतिशत का अधिक होना, इन मिशनरियों के समर्पण व उत्साह का नतीजा है।

नागाओं तथा अन्य उत्तर-पूर्वी जनजातियों की तथाकथित अलगाववादी प्रवृत्ति का कारण था- स्वतंत्रता के नये परिवेश में अपनी सामाजिक व सांस्कृतिक मान्यताओं व पहचान को बनाये रखने का प्रयास। उत्तर-पूर्वी क्षेत्रों की अधिकतर जनजातियों के लिए किसी राष्ट्र का एक हिस्सा होने का अनुभव नया है तथा इस सत्य को शीघ्रता से स्वीकार करने में इनकी कठिनाइयों तथा असमर्थताओं पर सहानुभूतिपूर्ण विचार होना चाहिए।

कुछ अन्य मानवविज्ञानियों के अनुसार 'हिन्दू राष्ट्रवाद' के समुद्र में अपनी सांस्कृतिक पहचान को खो देने का भय उत्तर-पूर्वी पहाड़ियों पर हो रही घटनाओं का एक प्रमुख कारण है। इस प्रकार इन जनजातियों के सांस्कृतिक एकीकरण के लिए किसी प्रकार का प्रलोभन देना या दिखावा करना हानिकारक होगा। भारत जाति, धर्म, भाषा व संस्कृति के संदर्भों में हमेशा से विविधताओं से भरा रहा है। इन्हीं विविधताओं में भारतीय एकता का मूल मंत्र है। इस एकता को बनाये रखने का कोई भी प्रयत्न राष्ट्र की सांस्कृतिक, धार्मिक व नृजातीय बहुलता को ध्यान में रखकर किया जाना चाहिए।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि नागाओं की वर्तमान समस्याओं का सम्बन्ध केवल आर्थिक पक्षों से नहीं है, फिर भी आर्थिक विकास के कामों ने स्थितियों में बहुत सुधार किया है। यह एक राजनैतिक समस्या है जिसे राजनैतिक हल मिलना चाहिए।

मिज़ो विद्रोह

मिज़ो असन्तोष व विद्रोह भी भारत की सुदूरवर्ती उत्तर-पूर्वी सीमा पर सुलगते जनजातीय विद्रोहों का एक उदाहरण है। इस विद्रोह की प्रकृति तथा भारत पर इसके प्रभाव सर्वविदित हैं जिसकी चर्चा करने की आवश्यकता नहीं है।

बंगलादेश व बर्मा की सीमाओं से मिली हुई लुशाई पहाड़ियों में रहने वाली लुशाई जनजाति एक महत्त्वपूर्ण जनजाति है। परंपरा के अनुसार लुशाई लोग अपने आवास के क्षेत्र को मिजोरम कहते हैं जिसके फलस्वरूप मिजोरम में रहने वाले मिज़ो कहलाते हैं। सुदूरवर्ती तथा दुर्गम स्थानों में रहने तथा संचार व्यवस्था के अभाव के कारण यह लोग भी नागा पहाड़ियों पर रहने वाली जनजातियों की ही भाँति आम जनसंख्या से अलग-थलग रहे हैं। इन क्षेत्रों के कुछ स्थानों पर केवल हेलीकॉप्टर द्वारा ही जाया जा सकता है। पाश्चात्य ईसाई मिशनरियों के आने से जनजातियों के अलग-थलग रहने की समस्या और भी गम्भीर हो गई। अंग्रेजी प्रशासकों द्वारा संरक्षण प्राप्त इन मिशनरियों ने जनजातीय लोगों को ईसाई धर्म में परिवर्तित कराया तथा उन्हें 'सभ्यता' की ओर ले जाने का प्रयास किया। इस प्रक्रिया ने धार्मिक तथा सांस्कृतिक मतभेदों को और बढ़ा दिया। सुदूरवर्ती क्षेत्रों में सर्वप्रथम शैक्षिक व स्वास्थ्य सेवाओं को पहुँचाने का कार्य इन मिशनरियों ने बड़े ही समर्पित ढंग से किया। ईसाई धर्म स्वीकार करने पर इन जनजातियों को अच्छे व उज्ज्वल भविष्य का आश्वासन दिया जाता था।

इन आश्वासनों से संतुष्ट होकर इन मिज़ो लोगों ने अंग्रेजी सरकार को सहयोग भी दिया। लिखित तथ्यों के अनुसार द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान जब जापानी सेना ने असम पर आक्रमण किया तब लगभग 300 मिज़ो सरदारों ने अंग्रेजी सरकार को हर प्रकार की सहायता दी।

नागा विद्रोह की भाँति मिज़ो विद्रोह भी पूर्णतया राजनैतिक है। संथाल व मुण्डा विद्रोहों की भाँति, मिज़ो विद्रोह अंग्रेजी सरकार द्वारा संरक्षित बाहरी तत्त्वों के द्वारा शोषण के विरोध में नहीं है। स्वच्छन्द जीवन व्यतीत करने वाले मिज़ो लोगों को किसी प्रकार का राजनैतिक हस्तक्षेप अच्छा नहीं लगा। जब भी इन लोगों को अपने सरदारों के अतिरिक्त किसी भी अधिकारी या व्यवस्था के अधीन रखने का प्रत्यन किया गया, इस जनजाति ने गुरिल्ला (छापामार) युद्ध शैली अपनायी। घने जंगलों तथा दुर्गम पहाड़ी रास्तों जैसे भौगोलिक स्थितियों ने इनका उत्साहवर्द्धन किया। यह लोग ऐसी भौगोलिक स्थितियों में रहते हैं जो गुरिल्ला युद्ध प्रणाली के लिए आदर्श हैं। राजनैतिक महत्वाकांक्षाओं तथा चीन व पाकिस्तान जैसे विरोधी देशों के उकसाने के कारण मिज़ो नेताओं ने स्वतंत्रता के तुरन्त बाद विद्रोह कर दिया जिसके कारण इस पूरे क्षेत्र को भारत की केन्द्रीय सरकार के अधीन रखा गया।

मूलतः यह आन्दोलन एक अलग राज्य के लिए था न कि देश से अलग होने के लिए। अलग राज्य बनाने के लिए यह लोग शिलांग के आसपास के सभी असमी जिलों को मिलाकर एक "मिज़ोलैण्ड" की माँग कर रहे थे। 1954 में **'पूर्वी भारत जनजातीय संघ'** की स्थापना ने इस आन्दोलन को एक रूप दिया, जिसके फलस्वरूप **'आल पार्टी हिल लीडर्स कान्फ्रेन्स'** उभर कर सामने आयी। "इसके पश्चात् केन्द्र से मौखिक आश्वासनों, कार्यान्वयन में बिना सूचना के विलम्ब तथा निहित हितों के कारण व्यवधान का सिलसिला प्रारम्भ हुआ। यह व्यवधान असम के उन लोगों द्वारा लगाये जा रहे थे जो पहाड़ी नेताओं तथा उनके समर्थकों की आकांक्षाओं का विरोध करते थे" (रक्षित पुरी, 1972)। ऐसा विश्वास है कि इस प्रक्रिया में असम काँग्रेस पार्टी

के नेताओं ने पहाड़ी नेताओं को विभाजित करने का प्रयास भी किया। अपने इस प्रयास के अन्तर्गत इन नेताओं ने असंतुष्ट मिज़ो लोगों को सहयोग दिया, जिन्हें लालडेंगा के नेतृत्व में **'मिज़ो नेशनल फ्रंट'** बनाने के लिए उत्साहित किया गया था। इस प्रयास ने एक अलगाववादी विद्रोह को जन्म दिया तथा मिज़ो नेशनल फ्रंट ने भारत से अलग होने की माँग की। अपनी इस माँग को मनवाने, और प्रभावी बनाने के उद्देश्य से मिज़ो नेशनल फ्रंट ने गुरिल्ला आंतकवादी क्रियाकलापों को अपनाया। अप्रैल 1970 में असम से अलग कर मेघालय को राज्य का स्तर दिया गया। मेघालय के राज्य बन जाने पर पहाड़ी जनजातीय नेता तथा उनके समर्थकों में संतोष व्याप्त हुआ। इन समर्थकों में खासी, गारो और जैन्तिया जनजाति के लोग थे। मिज़ो लोगों की राजनैतिक आकांक्षाओं को ध्यान में रखते हुए मिजोरम तथा अरुणाचल प्रदेश को असम से अलग केन्द्रशासित प्रदेश घोषित कर दिया गया। इस सरकारी घोषणा के पश्चात् भी गुरिल्ला युद्ध चलता रहा। अंग्रेजी शासकों के समय मिज़ो लोगों को अच्छे सैनिक होने का सम्मान प्राप्त था। ऐसा विश्वास है कि बहुत से खूँख्वार छापामार द्वितीय विश्व युद्ध में बर्मा की सीमा पर लड़ने वाले सिपाही हैं जिन्हें बाद में पहाड़ों पर कोई रोजगार नहीं मिला और देश के अन्य क्षेत्रों में नये अवसरों तक इनकी पहुँच नहीं थी।

कुछ समय के लिए लालडेंगा ने छुपकर अपने आन्दोलन को चलाया परन्तु बाद में अपनी माँगों के लिए सहयोग प्राप्त करने के उद्देश्य से पश्चिमी जर्मनी तथा लंदन चला गया। लालडेंगा की अनुपस्थिति में बहुत से गुरिल्लाओं तथा अन्य मिज़ो विद्रोहियों की रुचि कम होती गई तथा उन्होंने विभिन्न लोकतांत्रिक संस्थानों से सहयोग करना आरम्भ कर दिया। भारत में सुरक्षा बलों ने भी विद्रोहियों पर बहुत अत्याचार किये, जिसके कारण यह लोग निरुत्साहित हो गये। इसी समय भारत सरकार ने इस केन्द्र शासित प्रदेश के विकास के लिए उदारतापूर्वक अनुदान दिये। 1970 के दशक में इस क्षेत्र में अधिक से अधिक शिक्षा, स्वास्थ्य तथा रोजगार की सुविधायें प्रदान की गयीं। मिजोरम के क्षेत्र में लालडेंगा तथा उसके अलगाववादी आन्दोलन की लोकप्रियता धीरे-धीरे कम होती गयी परन्तु कट्टर तथा समर्पित मिज़ो लोगों का कुछ भाग अब भी अपने नेता तथा उस आन्दोलन के प्रति सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण रखता है। ऐसी स्थितियों पर विश्वास करते हुये भारत सरकार ने एक बार फिर मैत्रीपूर्ण समझौते के लिए प्रयास किया। इस प्रयास के अन्तर्गत भारत सरकार ने लालडेंगा को पश्चिमी जर्मनी से इस आश्वासन पर आमन्त्रित किया कि वार्तालाप असफल हो जाने की स्थितियों में उसे भारत से बाहर जाने की पूर्ण स्वतंत्रता होगी। भारत सरकार तथा लालडेंगा के बीच लगातार डेढ़ साल तक (1981-82) वार्तालाप चलता रहा। लालडेंगा के रुख के कारण भारत सरकार कोई भी मैत्रीपूर्ण समझौते पर नहीं पहुँच सकी तथा प्रशासन ने लालडेंगा को अपनी इच्छानुसार कहीं भी जाने की अनुमति दे दी। इस प्रकार भारत सरकार ने अपने वायदे को पूरा किया। यद्यपि मिज़ो नेशनल फ्रंट के उग्रवादी तत्व अब भी गुरिल्ला युद्धशैली का प्रयोग कर अपने विद्रोह को जारी रखते रहे परन्तु इस विद्रोह में गति तथा तीव्रता लगभग समाप्त हो गयी। मिज़ो समूहों द्वारा सहयोग न मिलने तथा पूर्वी पाकिस्तान के स्थान पर बँगलादेश

बन जाने से इस पूरे आन्दोलन पर बहुत गम्भीर प्रभाद पड़ा। एक ओर लोगों के सहयोग की कमी के कारण गुरिल्लों को अपना स्थान बनाने में कठिनाई का सामना करना पड़ा तथा दूसरी ओर पाकिस्तान के विभाजित हो जाने के कारण इन्हें योजनाबद्ध सहायता तथा शस्त्र मिलने में भी कठिनाई होती गई। इन स्थितियों ने भारतीय सेना का काम आसान कर दिया, दूसरी ओर शासन ने भी मिज़ो जनता को राष्ट्र की मुख्य धारा में लाने के लिए सभी प्रयास किये। शिक्षा व आर्थिक विकास के नियोजित कार्यक्रम चलाये गये। मिजोरम को राज्य का दर्जा मिला तथा 1987-88 में लालडेंगा और उनके संगठन से समझौते के फलस्वरूप वह मिजोरम के मुख्यमंत्री बने। अन्दरूनी कारणों से उनकी सरकार गिर गई। निराशा व बीमार लालडेंगा की जुलाई 1990 में मृत्यु के साथ एक अध्याय समाप्त हो गया।

अन्य क्षेत्रों में जनजातीय असन्तोष तथा विद्रोह

आन्ध्र प्रदेश के एजेन्सी जिलों की कोया जनजाति ने लगातार अंग्रेजी साम्राज्य का विरोध किया है। बाद में सुप्रसिद्ध अल्लूरी सीताराम राजू के नेतृत्व में गुरिल्ला युद्धशैली का प्रयोग भी किया गया। अल्लूरी सीताराम राजू ने राष्ट्रीय कांग्रेस के असहयोग आन्दोलन के समय अंग्रेजी अधिकारियों को बहुत परेशान किया था।

1911 का बस्तर विद्रोह, कुरीचिया विद्रोह तथा रानी गुइदालों के नेतृत्व में नागा आन्दोलन, कुछ ऐसे आन्दोलन हैं जिन्हें स्वतंत्रता संग्राम के समय जनजातियों के सहयोग के रूप में मान्यता मिलनी चाहिए। तांतिया भील, विष्णुगोंड, कंगला माँझी आदि कुछ ऐसे नाम हैं जिन्होंने जीवन भर विदेशी शासन के विरुद्ध संघर्ष किया।

भारत की कम्युनिस्ट पार्टियों तथा उनके कृषक दलों ने शोषित व अत्याचार की शिकार इन जनजातियों को संगठित करने तथा अपने अधिकारों की माँग के लिए संघर्ष करने में बहुत सहायता की। पश्चिमी भारत के वर्ली क्षेत्र के कृषक 1946 से आन्दोलन का एक आवश्यक भाग बन गये हैं।

विभिन्न कम्युनिस्ट पार्टियों के नेतृत्व में चल रहे कृषक संगठनों की भूमिका के संदर्भ में टिप्पणी करते हुए एल. के. महापात्र (1972) कहते हैं कि कोरापुट जिले के स्थानीय कोंड कम्युनिस्ट कार्यकर्ताओं द्वारा चलाये जा रहे ऐसे स्थानीय जनजातीय संगठनों में सम्मिलित हुए हैं जो आदिवासी और विश्व के सर्वहारा लोगों से समान व्यवहार रखते हैं। पिछले कुछ वर्षों से आन्ध्र प्रदेश की विशाखापट्टनम एजेन्सी की सओरा तथा अन्य जनजातियों ने उग्रवादी कम्युनिस्ट नेतृत्व में शस्त्रों का प्रयोग आरम्भ कर दिया है। यह लोग शोषक, ज़मींदारों, बिचौलियों तथा उनकी भूमि का निस्तारण करने वालों से निपटने के लिए शस्त्रों का भी प्रयोग करते हैं। जनजातीय लोगों में पहले से ही यह परम्परा है। यद्यपि नक्सलवादियों का आन्दोलन मूलतः जनजातीय आन्दोलन नहीं था फिर भी शोषित जनजातीय लोग इसके भूमिहीन सहयोगियों का एक बड़ा अंग थे जिसने विश्व को यह बता दिया कि अब यह लोग अपने शोषण तथा अपने ऊपर हो रहे अत्याचार को

चुपचाप नहीं सहेंगे। आजकल अपनी मुक्ति की इच्छुक तमाम जनजातियों में सशस्त्र आन्दोलन चलाने का प्रचलन हो गया है। अब यह लोग शोषित समूहों से सहयोग की अपेक्षा करने लगे हैं। आन्ध्र प्रदेश की जनजातियों का एक संगठन पीपुल्स वार ग्रुप (पी. डब्लू.जी.) कुछ दिनों से समाचार पत्रों में काफी चर्चित है। जनजातीय क्षेत्रों का असंतोष व विद्रोह बहुत से तथ्यों का मिश्रित फल है। यह स्थितियाँ मुख्यतः निम्न कारणों से उत्पन्न होती हैं:

1. वन कानूनों की कठोरता तथा उन्हें लागू करने में सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार की कमी।
2. जनजातीय ऋणों को दूर करने के लिए पर्याप्त ऋण सुविधाओं की कमी।
3. जनजातीय लोगों की भूमि को अजनजातीय लोगों के हाथों में जाने से रोकने में सुरक्षात्मक नियमों की असमर्थता।
4. सिंचाई, विद्युत तथा अन्य परियोजनाओं के लिए भूमि अधिग्रहण के कारण विस्थापित लोगों के पुनर्वास कार्यक्रमों की असफलता।
5. उच्च स्तरीय समितियों द्वारा दिये गये सुझावों को लागू करने में विलम्ब।
6. आन्ध्र प्रदेश तथा उड़ीसा के एजेन्सी क्षेत्रों में ज़मींदारी प्रथा से अधिक क्रूर 'मुट्टादारी' प्रथा को रोकने में ढ़िलाई इत्यादि।

शीलू आओ रिपोर्ट (1969) के अनुसार वर्तमान प्रशासकों तथा अधिकारियों दोनों का दृष्टिकोण जनजातीय समस्याओं तथा कठिनाइयों के प्रति ढीला व उदासीन है। अंग्रेज प्रशासकों की प्रशंसा करते हुए इस रिपोर्ट में कहा गया है कि आने-जाने की कठिन समस्याओं तथा पहाड़ों पर फैली बीमारियों के पश्चात् भी कलेक्टर या एजेन्ट तीन-चार सप्ताह तक जनजातियों के बीच रहते थे, उनकी समस्याओं को सुनते थे तथा उन्हें सुलझाने तथा न्याय दिलाने का प्रयास करते थे। वर्तमान प्रशासक ऐसे कार्यों पर ध्यान नहीं देते हैं। श्रीकाकुलम में जहाँ पर जनजातीय असंतोष ने हिंसात्मक रुख अपनाया, शीलू आओ दल को पता चला कि 1966 में एजेंट एक क्षेत्र में केवल दो दिनों के लिए रहे। मलेरिया के पूर्ण उन्मूलन होने तथा सुधरी हुई संचार व्यवस्थाओं के उपलब्ध होने पर इन प्रशासकों तथा जिला अधिकारियों को एजेन्सी क्षेत्रों में अधिक से अधिक समय व्यतीत करना चाहिए। प्रशासक इन क्षेत्रों में बहुत कम जाते हैं जिसके कारण इन अधिकारियों तथा जनजातियों का नाता धीरे-धीरे समाप्त हो रहा है।

उपरोक्त उदाहरण से स्पष्ट पता चलता है, कि जनजातीय जनसंख्या के विकास के लिए उत्तरदायी अधिकारियों का ही दृष्टिकोण कितना उपेक्षापूर्ण है। जनजातियों के संरक्षक की भूमिका निभाने की हमारी प्रकृति के दूरगामी परिणाम अच्छे नहीं होंगे। इस संदर्भ में शीलू आओ कमेटी ने कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्यों पर प्रकाश डाला है। अपने सीमित विचारों के कारण हम जनजातियों के विकास के लिये किये गये अपने प्रयासों के बदले में उनकी सराहना तथा कृतज्ञता की आशा करते हैं। ऐसी स्थिति में हम यह भूल जाते हैं कि किसी भी विकासशील समाज में, वह चाहे जितना ही आदिम क्यों न हो, परिवर्तन की क्रिया बराबर चलती रहती है। ऐसे में जनजातियों की शिक्षित

श्रेणी द्वारा ऐसी प्रवृत्तियों का विरोध आपत्तिजनक या अप्राकृतिक नहीं है। राजनीतिक जागरूकता एवं चेतना, सामाजिक व आर्थिक विकास का एक अभिन्न अंग हैं। किसी भी जनजाति को प्रशिक्षित करने की प्रक्रिया में हम उसे देश विदेश की राजनीतिक गतिविधियों से अलग नहीं रख सकते।

जनजातीय विद्रोह का कारण क्षेत्रीय, राजनैतिक या सामाजिक व आर्थिक कारकों का आनुपातिक मिश्रण हो सकता है। असम में, जहाँ पर स्वतंत्रता से पूर्व भी पहाड़ी जिलों में शिक्षित लोग थे परन्तु उनके प्रतिनिधियों को प्रशासनिक कार्यभार देने के प्रयासों की असफलता से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उनके व्यक्तित्व के सम्पूर्ण विकास तथा उनकी राजनीतिक आकांक्षाओं की पूर्ति होनी चाहिए। इसके लिए उन्हें बाहरी तत्वों से मुक्त करना आवश्यक है जो इन जनजातीय लोगों को समान स्तर नहीं देते। जनजातीय अलगाववाद का प्रमुख कारण रहा है उनके शिक्षित वर्ग की बाहरी तत्वों की आधीनता स्वीकार न करने की प्रवृत्ति। बिहार का झारखण्ड आन्दोलन इसी श्रेणी में आता है।

यही समय है जब हम जनजातियों के प्रति अपने दृष्टिकोण को परिवर्तित करें। इसके साथ-साथ उनके 'संरक्षक' बनने की प्रवृत्ति से अलग हटकर उन्हें समान स्तर देने के साथ-साथ राजनैलिक असंतोष का हल निकालने के लिए भी हमें तत्पर रहना चाहिए। इन जनजातियों की राजनीतिक आकांक्षाओं को समझना तथा इससे पूर्व कि यह आकांक्षायें अलगाववादी आन्दोलन का रूप लें, उन्हें पूरा करने का प्रयास करना चाहिए।

इस प्रकार की अलगाववादी गतिविधियाँ देश के हित में नहीं हैं। जनजातियों के प्रति हमें अपनी इस प्रवृत्ति को बदलना चाहिए कि यह लोग ऐसे पिछड़े लोगों का समूह हैं जिन पर हमें तरस खाना चाहिये तथा उन्हें दया की आवश्यकता है।

स्वातन्त्रोत्तर काल में जनजातीय संघर्षों के चरित्र में परिवर्तन हो रहे हैं। इन्हें 'जनजातीय राजनीति' और 'जनजातीय प्रतिरोध' के रूप में वर्णित किया जा सकता है। वयस्क मताधिकार और लोकतंत्रीकरण का लाभ लेते हुए प्रमुख बड़ी जनजातियों ने अपने अधिकारों और माँगों की लोकतांत्रिक स्थापना के लिये राजनीतिक सक्रियता बढ़ानी शुरू कर दी। बोडो, नागा, मिज़ो और झारखण्ड क्षेत्र की जनजातियाँ, 'जनजातीय-राजनीति' के ज्वलन्त उदाहरण हैं। पर्यावरण को नुक़सान पहुँचाने वाली बड़ी परियोजनाओं और उनके फलस्वरूप उत्पन्न विस्थापन के विरुद्ध उनका संगठित प्रतिरोध 'जनजातीय प्रतिरोध' के रूप में जाना जा सकता है। नर्मदा (सरदार सरोवर बाँध) आन्दोलन इसका उदाहरण है। मार्टिन फुक्स और एन्टजे लिंकेन बैच (पूर्ववत्) का विचार है कि जनजातीय प्रतिरोध को जनजातीय आत्मविचाराभिव्यक्ति के दूसरे तरीकों से अलग करना कठिन है। संकीर्ण अर्थ में आत्म-विचाराभिव्यक्ति के ऐसे बहुत से प्रयासों को 'आन्दोलनों' के रूप में वर्गीकृत नहीं किया जा सकता है किंतु इनका उद्देश्य जनजातीय समूहों के विशिष्ट हितों और माँगों को समाज के सामने लाना है। उदाहरण स्वरूप बहुत से क्षेत्रों में भूमि अधिकारों, शिक्षा

और सार्वजनिक संसाधनों की उपलब्धता की माँग के लिये गैर-सरकारी संगठन (NGO's) या जनजातीय समायोजन बन गये हैं। उन्होंने महिलाओं पर अत्याचारों का भी विरोध किया है और दैनिक जीवन में संसाधनों पर समान पहुँच की माँग की है।

कृषक आन्दोलन (Peasant Movement)

कृषक आन्दोलन और कृषि-उन्मुखी संघर्ष, भारत में सामाजिक नृविज्ञान और समाजशास्त्र की 'पुराने' आन्दोलनों की अध्ययन परम्परा के केन्द्रीय कथावस्तुओं में हैं। कृषक आन्दोलनों में व्यवस्थित रुचि 1960 के दशक से ली गई क्योंकि इसी दौर में 'तीसरी' दुनिया (विकासशील देशों) में 'कृषिक उन्मुखी प्रश्न' और भूमि के असमान वितरण मुख्य राजनीतिक मुद्दे थे। इस प्रकार कृषकों ने एक संभव वैकल्पिक क्रान्तिकारी विषय का प्रतिनिधित्व किया (हमज़ा अल्वी, 1965)। लेकिन एरिक स्टोक्स (1978) भारतीय समाज में कृषक विद्रोह को आश्चर्यजनक रूप से अनुपस्थित पाते हैं। यह स्थिति विशिष्ट भारतीय सामाजिक ढाँचे जैसे- जाति-व्यवस्था और ग्रामीण ढाँचे के कारण है। कैथलीन गफ (1974), ए.आर. देसाई (1979), डी. एन. धनाग्रे (1983), रंजीत गुहा (1983) और अन्य विद्वान् भारतीय किसानों के 'अक्रिय' और 'आज्ञापरायण चरित्र' को चुनौती दी है। उन्होंने तर्क दिया कि इतिहासकारों ने ब्रिटिश शासन के दौरान और उससे पहले के बहुत से कृषक विद्रोहों की उपेक्षा की है। आन्द्रे बीते (1974) के अनुसार कृषि विद्रोह के क्षेत्र मुख्यतः चावल उत्पादन वाले क्षेत्र थे। इन क्षेत्रों में न केवल कृषि-श्रमिकों का बड़ा अनुपात है बल्कि कृषकों के बीच भूमि का वितरण भी असमान है।

भारत में कृषक आन्दोलनों को, सामान्यता पूर्व-ब्रिटिश/पूर्व-उपनिवेश, ब्रिटिश, उपनिवेश और स्वतन्त्रोत्तर कालों में वर्गीकृत किया जाता है। वर्गीकरण के सन्दर्भ में ए.आर. देसाई (1986) ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत उपनिवेशी भारत के रैयतवाड़ी क्षेत्रों में, ज़मींदारी क्षेत्रों के रजवाड़ों के शासन एवं जनजातीय क्षेत्रों में वर्गीकृत करते हैं। कैथलीन गफ (1974) कृषक विद्रोह को, उनके उद्देश्यों, विचारधारा और संगठन के तरीकों के आधार पर वर्गीकृत करते हैं। उनके द्वारा सुझाये गये पाँच प्रकार निम्नवत् हैं:-

1. अंग्रेजों को उखाड़ फेंकने और पूर्व शासकों एवं सामाजिक संबंधों को पुनः स्थापित करने के लिये पुनर्स्थापन विद्रोह।
2. सरकार के एक नये रूप के अन्तर्गत एक नृजातीय समूह अथवा क्षेत्र की मुक्ति के लिये धार्मिक आन्दोलन।
3. सामाजिक लूट-पाट।
4. सामूहिक न्याय की प्राप्ति के लिये आतंकवादी प्रतिशोध, और
5. विशेष समस्याओं के समाधान के लिये हिंसक जन-आन्दोलन।

मुद्दों पर बात करते हुए घनश्याम शाह (1990) कहते हैं कि ब्रिटिश अफसरों और

इतिहासकारों में कुछ विद्रोहों को साम्प्रदायिक दंगे या केवल लूट-पाट कहने की प्रवृत्ति थी। उन्नीसवीं शताब्दी और 1920 के पूर्व में मालाबार में मोपलाह विद्रोह को पट्टेदारों और ज़मींदारों के बीच आर्थिक हितों के संघर्ष के बजाय हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिक दंगों के रूप में व्याख्यायित किया गया था सिर्फ इसलिये कि दोनों समूह भिन्न धार्मिक सम्प्रदायों से सम्बन्धित थे। मुस्लिम कृषकों का यह विद्रोह गैर-मुस्लिम ज़मींदारों के विरुद्ध था। धनाग्रे (1983), पनिक्कर (1979), नम्बूद्रीपाद (1943) ने तर्क दिया कि यह विद्रोह मुख्यतः पट्टेदारों और ज़मींदारों के बीच कृषिक-संघर्षों से सम्बन्धित थे। मोपलाह विद्रोह के कुछ नेता हिन्दू भी थे। शाह इसके आगे भी तर्क देते हैं कि अधिकांश उदाहरणों में पाया गया कि कृषकों ने अपने शोषण व दमन के विरोध में विद्रोह किया था जब उनकी आर्थिक हालत बद से बदतर होने लगी थी। इन परिवर्तनों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है:-

1. महंगाई, अकाल आदि के दौरान उनकी आर्थिक स्थिति का खराब होना।
2. ढाँचागत परिवर्तनों के कारण, जो कृषकों के शोषण में वृद्धि का कारण है, उनकी स्थितियाँ खराब होना; और
3. अपनी स्थिति में सुधार करने के लिये कृषकों की बढ़ती हुई आकांक्षा।

18वीं और 19वीं शताब्दी में ग्रामीण भारत में अक्सर अकाल पड़ता था और स्वतन्त्रता के बाद भी कुछ सीमा तक इसी प्रकार जारी रहा, यद्यपि इसे अब अकाल न कहकर 'सूखा पड़ना' कहते हैं। पिछली शताब्दी में **बेगार, वेठ** या **वेठी** (बन्धुआ मजदूर) व्यापक रूप से प्रचलित थे और आज भी हैं। अवध में (1919-22) कृषक आन्दोलन के दौरान, कृषकों ने प्रतिज्ञा की कि वे बिना मजदूरी के काम नहीं करेंगे। 19वीं शताब्दी के व्यापक प्रतिरोध और विद्रोह के कारणों में से एक प्रमुख कारण महाजनों, ज़मींदारों या सरकारी अफसरों द्वारा कृषकों के रूप में पट्टेदारों को बेदखल करना था।

यह आम धारणा है कि 1950 के प्रारम्भ में विनोबा भावे द्वारा चलाया गया **भूदान-आन्दोलन** भूमि-वितरण के मुद्दे पर मुख्यतः वामपंथी आन्दोलनों को प्रत्युत्तर था। "कृषि की उत्पादन-विधियों में परिवर्तन ने पारम्परिक कृषि संबंधों को बाधित किया है जिससे कृषकों में व्यग्रता भी बढ़ी। ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत भूमि एक विक्रय योग्य वस्तु बन गई और 19वीं शताब्दी के अंतिम चरण में वाणिज्यिक कृषि का विकास हुआ" (शाह, पूर्ववत)। बैरिंगटन मूर कहते हैं कि जहाँ बड़े पैमाने पर वाणिज्यिक कृषि ने किसानों को कामगार (सर्वहाराकरण) में बदल दिया और परिणामतः जाति इत्यादि के पुराने पारम्परिक बंधन टूट गये वहाँ संघर्षों की संभावनाएँ काफी प्रबल हैं। 19वीं और 20वीं शताब्दी में कृषि-श्रमिकों के संघर्ष का मुख्य मुद्दा ऊँची मजदूरी की माँग रहा है।

किसान सभा

अग्रणी वामपंथी संगठन **किसान सभा** ने किसानों को संगठित करने में एक महत्त्वपूर्ण

भूमिका अदा की है और देश में किसानों के संघर्ष में वह आगे खड़ी रही है। 11 अप्रैल, 1936 में बनी और 1 करोड़ से भी ज्यादा सदस्यता वाली यह सभा किसानों के मुद्दों को प्रमुखतः से उठाने का माध्यम बनी। भारतीय राष्ट्रीय कॉंग्रेस के 49वें अधिवेशन के साथ किसान सभा की पहली सभा हुई। प्रसिद्ध किसान नेता सहजानन्द सरस्वती ने इसकी अध्यक्षता की थी; इस अवसर पर सभा ने 'किसानों के घोषणा-पत्र' (Peasant Manifesto) का विमोचन किया। भारत में किसानों की दुःखद स्थिति का पुनरीक्षण करते हुए इसने कहा कि किसान दासता और कमर तोड़ देने वाली गरीबी का जीवन जी रहे हैं। ज़मींदार, तालुकदार, मालगुजार, इनामदार और अन्य भूमिपति किसानों का शोषण कर रहे थे। विद्यमान भू-राजस्व व्यवस्था और ब्रिटिश-शासकों द्वारा विकसित कर्ज और उधार-व्यवस्था, इस स्थिति के मुख्य कारण थे। समय गुजरने के साथ किसान ज्यादा से ज्यादा आर्थिक एवं राजनीतिक जागरूकता प्राप्त कर रहे थे। इस घोषणा में किसानों की निम्नांकित चार प्रमुख माँगें प्रस्तुत की गई थीं:-

1. भू-स्वामित्व के समस्त स्वरूपों की प्रचलित स्थितियों को समाप्त किया जाना चाहिए।
2. सारे पुराने कर्जों और ब्याजों को रद्द कर देना चाहिए और प्रशासन को किसानों की त्वरित आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए उधार की नयी योजनाओं को बनाना चाहिए।
3. सभी जोतने योग्य बंजर भूमि को भूमिहीनों और उन किसानों, जिनके पास पाँच एकड़ से कम जमीन है, के बीच वितरित कर देना चाहिए।
4. विद्यमान भूमि-राजस्व व्यवस्था के स्थान पर नयी भू-कर व्यवस्था के कानून की घोषणा की जानी चाहिए। यह नयी-व्यवस्था उन कृषक परिवारों पर लागू की जानी चाहिए जिनकी शुद्ध आय पाँच हजार रुपये से अधिक हो और जिनके परिवार में पाँच सदस्य तक हों।

दूसरी प्रमुख माँगों में, अनउपजाऊ भूमि पर कर में छूट, पट्टे की अवधि की सुरक्षा, सभी प्रकार की सामन्ती और पारम्परिक वसूलियों को गैर-कानूनी घोषित करना, पाँच वर्षों के लिये कर्जों की वापसी पर रोक आदि ने माँग के घोषणा-पत्र में मुख्य स्थान बनाया। यद्यपि प्रारम्भिक चरणों में किसान-सभा ने कॉंग्रेस सरकार को स्वतन्त्रता से पूर्व समर्थन दिया, बिहार, बंगाल, पंजाब और आन्ध्र प्रदेश में किसान आन्दोलनों ने कॉंग्रेस पार्टी के दक्षिणपंथी एवं वामपंथी तत्त्वों के बीच एक बड़ा विवाद उत्पन्न कर दिया और ज्यादातर वामपंथी किसान सभा की तरफ थे तथा वे किसान सभा और कम्युनिस्ट पार्टियों के द्वारा किसान संघर्ष को आगे बढ़ाते रहे। शेष अब इतिहास का एक हिस्सा बन चुका है।

तेलंगाना आन्दोलन

स्वतन्त्रता-प्राप्ति में किसानों के दो सामूहिक उपद्रव उल्लेखनीय थे जिनका वामपंथी नेताओं के सम्मिलित होने के कारण इस समय तक काफी राजनीतिकरण हो चुका था। तेभाग आन्दोलन (1946-47) उत्पादन के दो तिहाई हिस्से के लिये (आधे हिस्से के स्थान पर) बंगाल

में बटाईदारों (share croppers) का संघर्ष था जिसे किसान सभा और भारत की कम्युनिस्ट पार्टी का समर्थन प्राप्त था। तेलंगाना आन्दोलन (1946-51) मुख्यतः निज़ामी हैदराबाद में सामन्ती परिस्थितियों के विरुद्ध था और कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में यह शुरू किया गया था। यह सामन्तों के बाहुबलियों और पुलिस तथा हैदराबाद के निज़ाम के रज़ाकारों (स्वेच्छाचारी) के द्वारा क्रूर शोषण और सामन्ती परिस्थितियों के विरुद्ध संगठित आन्दोलन था।

पूर्व हैदराबाद राज्य का आधे से अधिक क्षेत्र तेलंगाना क्षेत्र में था। तेलंगाना विद्रोह 1946 के मध्य में शुरू हुआ था और पाँच वर्षों से अधिक चला और अक्टूबर 1951 में यह समाप्त हो गया। तेलंगाना आन्दोलन को समझने के लिये हमें हैदराबाद राज्य में विद्यमान कृषिक सामाजिक संरचना का स्पष्ट ज्ञान होना चाहिए। वहाँ पर दो प्रकार की भूमिधारिता (land tenure) थीः **रैयतवाड़ी** की तर्ज पर **खालसा** या **दीवानी** पट्टे- कृषक स्वामित्व तंत्र। इस प्रकार की भू अवधि में भूमि-धारक स्वयं इसके स्वामी नहीं कहलाते थे बल्कि 'पट्टेदार' के रूप में माने जाते थे (पंजीकृत अधिग्रहीता)। डी.एन. धनाग्रे (2002) इस प्रकार की भूमि धारिता की जटिलता का विश्लेषण करते हुए कहते हैं कि प्रत्येक पट्टे में वास्तविक अधिवासी 'शिक्मीदार' थे जिन्हें अधिग्रहण का पूरा अधिकार था किंतु वे पंजीकृत नहीं होते थे। जैसे ही जमीन पर दबाव बढ़ा पूर्व में जमीन जोतने वाले 'शिक्मीदारों' ने वास्तविक खेती के लिये जमीनों को उपकाश्तकारों (आसामी शिक्मी) को पट्टे पर देना शुरू कर दिया। उनकी किरायेदारी पट्टेदारों की मर्जी पर आधारित थी जिनमें न ही उनका भूमि पर कोई कानूनी अधिकार था और न ही बेदखली के विरुद्ध कोई सुरक्षा थी। दूसरे मुख्य प्रकार की भूमिधारिता 'जागीर' कहलाती थी : उनमें से एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण 'सर्फ-ए-खास' थी जिसे निज़ाम स्वयं 'राजसी-भूमि' के रूप में बाँटता था। राज्य के विभिन्न भागों में फैले 'सर्फ-ए-खास' का कुल क्षेत्रफल 8,109 वर्ग मील (1,961 गाँवों) तक फैला था और इससे लगभग कुल 2 करोड़ रुपये राजस्व प्राप्त होता था जिससे निज़ाम के कुल घरेलू नौकरों एवं अन्य खर्चे तथा उसकी सेना के खर्च का कुछ हिस्सा पूरा होता था। भूमि-प्रशासन की जागीरदारी व्यवस्था, हैदराबाद के राजनीतिक संगठन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष था। कालान्तर में जागीरदारों की संख्या धीरे-धीरे बढ़ती गई। 1922 में निज़ाम के प्रभुत्व में 1,167 जागीरदार थे; 1949 में, उनकी संख्या 1,500 तक पहुँच गई थी।

हैदराबाद में किसानों का सामन्ती शोषण तेलंगाना जिले में सर्वाधिक था। कुछ ज़मींदार, चाहे वे 'जागीरदार' या 'देशमुख' रहे हों, प्रत्येक के अपने बहुत से गाँव और हजारों एकड़ जमीन थी। गरीब किसानों के शोषण का प्रतीक 'वेट्टी व्यवस्था' ऐसी थी जिसमें ज़मींदार, अपने सेवकों के बीच में एक परिवार को अपनी भूमि जोतने और एक या दूसरा काम जिसमें घेरलू, कृषि-संबंधी या सरकारी काम सम्मिलित थे, को अपने 'स्वामी' के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन के रूप में करने के लिये विवश था। यह ज़मींदारों के प्रभुत्व और खेतिहरों की आधीनता का प्रतीक था। सामाजिक संरचना के सन्दर्भों में अधिकांश कृषि मजदूर जिन पर 'वेट्टी' लागू होता था, माला और मदिगा जैसी निम्न और अछूत जातियों से थे। इसी तरह की विशेषकर, वारंग और नलगोंडा जिलों

में, विद्यमान व्यवस्था 'भगेला' दास्ता के नाम से जानी जाती थी। "यह प्रतीत होता है कि 'वेट्टी' और 'भगेला' व्यवस्था पारम्परिक हिन्दू 'जजमानी-व्यवस्था' का विकृत रूप थी जो पारम्परिक विनिमय के सिद्धान्त पर आधारित थी" (धनाग्रे, पूर्ववत्)। तेलंगाना क्षेत्र में, एक समय में ज़मींदारों और पट्टेदारों के बीच ब्राह्मणों का वर्चस्व था। खेतिहरों पर अधिकार रखने वाली दो उल्लेखनीय जातियाँ 'रेड्डी' और 'खम्मा' के उदय के साथ, भूमि पर स्वामित्व रखने वाली जाति के रूप में ब्राह्मणों का प्रभाव घट गया। 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ से, मारवाड़ी साहूकार धीरे-धीरे ग्रामीण तेलंगाना में आ गये और उन्होंने उधार देने वाले के रूप में अपनी जगह बना ली। बहुत सारी ग्रामीण जनता-गरीब, खेतिहर, असुरक्षित काश्तकार, बटाईदार और कृषि श्रमिक- या तो निम्न अछूत जातियों से या फिर जनजातीय समूहों जैसे- हिल रेड्डी, चेंचु, लाम्बाड़ी और बंजारा आदि से आते थे। जनजातीय-समुदायों की बहुत सारी समस्यायें थीं जिनमें मुख्यतः सरकार द्वारा लगाये गये करों व अधिभारों के विरुद्ध, साहूकारों एवं राजस्व अधिकारियों के विरुद्ध जिन्होंने उनकी जमीनें हड़प लीं, और निजी ठेकेदारों के विरुद्ध भी जिन्होंने जनजातीय मजदूरों का निर्माण स्थलों पर या खदानों और कोयला खानों में, शोषण किया। धनाग्रे का विचार है कि कृषिक-व्यवस्था के दो महत्त्वपूर्ण पहलुओं की अनदेखी नहीं की जानी चाहिये। पहला, 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में सिंचाई सुविधाएँ और वाणिज्यिक फसलें- मूँगफली, तम्बाकू और तिलहन बीज- नलगोंडा, महबूबनगर, करीमनगर और वारंग जिलों में उगायी जाती थीं। दूसरा, वाणिज्यिक खेती का विकास औद्योगिक उद्यमियों एवं बाजारों, यहाँ तक कि परिवहन तथा संचार सुविधाओं वाले कस्बों की किसी वृद्धि के अनुरूप नहीं थी। परिणामस्वरूप, खेती करने वाले ज्यादातर शहरी महाजनों, विक्रेताओं, व्यापारियों और व्यवसायियों पर पूर्णतया निर्भर रहते थे जो तेलंगाना में उनके उत्पाद की बिक्री के लिये कुछ और अत्यधिक केन्द्रित बाजारों पर नियंत्रण रखते थे। स्थानीय, फुटकर विक्रेता, दलाल और ग्रामीण साहूकार खेती करने वालों से उत्पाद को लेकर शहरी वाणिज्यिक हितों की सहायता करते थे और इस प्रकार वे विपणन उद्यमिता के लाभों में हिस्सा प्राप्त करते थे। 1910 से 40 के बीच बढ़ती हुई भू असुरक्षा से स्थिति और जटिल हो गयी जब बड़ी संख्या में खेतिहरों, जिनमें जनजातीय खेतिहर भी शामिल थे, ने गैर-कृषि कार्य वाले शहरी हितों, अधिकांशतः ब्राह्मणों, मारवाड़ियों, कोमटियों और मुस्लिमों के लिये अपनी जमीनों को खो दिया। द्वितीय विश्व-युद्ध के कारण खाद्य कीमतों में हुई अचानक वृद्धि ने गरीब, शोषित और दलित खेतिहरों के लिये स्थिति को असह्य बना दिया। परेशान खेतिहर के पास, लोकतांत्रिक विरोध के लिये कोई माध्यम नहीं था क्योंकि निजाम के निरकुंश शासन ने न तो उन्हें राजनीतिक स्वतन्त्रता दे रक्खी थी और न ही कोई प्रतिनिधित्व करने वाली 'संस्था'।

उपरोक्त परिस्थितियों ने तेलंगाना आन्दोलन के लिये पृष्ठभूमि तैयार की। 1928 में स्थापित 'आन्ध्र-सभा' ने तेलंगाना जिले में कार्य किया और प्रशासनिक एवं संवैधानिक सुधारों, विद्यालयों, नागरिक स्वतंत्रता, नौकरियों में भर्ती इत्यादि जैसे मुद्दों पर जनमत जुटाया। काँग्रेस की हैदराबाद इकाई ने राजनीतिक सुधार के लिये 1938 में सत्याग्रह प्रारम्भ किया। "किंतु इस

आन्दोलन पर आर्य समाज और हिन्दू महासभा जैसे उग्रवादी 'हिन्दू राष्ट्रवादी' संगठनों का प्रभुत्व था एवं कांग्रेस ने राजनीतिक संभ्रांति को कम करने के लिये गाँधी जी की सलाह पर काम करते हुए, इस आन्दोलन का परित्याग कर दिया। हिन्दू-राष्ट्रवादी विचारधारा का उदय 'मजलिस-इत्तेहाद-उल-मुसलमीन' के बढ़ते हुए प्रभाव की प्रतिक्रिया थी जो कि राज्य की राजनीति में मुस्लिमों के वर्चस्व के प्रति कटिबद्ध हैदराबादी मुसलमानों का एक साम्प्रदायिक संगठन था" (धनाग्रे, पूर्ववत्)। द्वितीय विश्व-युद्ध के उत्तरार्ध के दौरान ही कम्युनिस्ट, तेलंगाना परिदृश्य में पहुँचे। उनका आगमन हिन्दू और मुसलमान दोनों ही साम्प्रदायिक राजनीति के लिये एक झटका था।

1946 में, कम्युनिस्टों के नेतृत्व में नलगोण्डा जिले में अपेक्षाकृत छोटा आन्दोलन शुरू हुआ और तब वह वारंगल एवं बीदर जिलों में फैला। जैसा कि हमज़ा अल्वी (1968) इंगित करते हैं कि तेलंगाना आन्दोलन का प्रारम्भिक उद्देश्य 'देशमुखों' और 'नवाबों' की अवैध और अत्यधिक अन्यायपूर्ण लूट के विरोध में सम्पूर्ण खेतिहरों की व्यापक माँगों को प्रतिबिम्बित करता है। सारे कृषि-श्रमिकों के कर्जे लिखित में समाप्त करना आन्दोलन के अधिकांश शक्तिशाली नारों में से एक था। सामन्तों और उनकी सरकारों के अत्याचारों को कम करने के लिये कृषि-श्रमिकों ने सशस्त्र प्रतिरोध किया। आन्दोलन ने एक नये क्रान्तिकारी चरण में प्रवेश किया। "स्थानीय कम्युनिस्टों ने आन्दोलन में उत्साहपूर्ण भाग लिया, यद्यपि इसे कम्युनिस्ट नेतृत्व की आधिकारिक स्वीकृति काफी बाद तक नहीं प्राप्त हुई। मार्च 1948 में सी पी आई के दूसरे अधिवेशन के समय तक तेलंगाना आन्दोलन पहले ही एक क्रान्तिकारी दौर में प्रवेश कर चुका था और अधिवेशन में कम्युनिस्ट पार्टी में विचारधारा के वामंपथी झुकाव को प्रभावित करने वाले घटकों में से एक था" (अल्वी, पूर्ववत्)। 1947 तक, तेलंगाना आन्दोलन के पास 5,000 के लगभग छापामार सैनिक हो चुके थे। कृषि-श्रमिकों ने ज़मींदारों और स्थानीय अफसरों को मार दिया या खदेड़ दिया और भूमि पर कब्जा कर लिया तथा इसका पुनर्वितरण किया। उन्होंने खेतिहरों की सरकार बनायी। अब खेतिहरों का शासन 15 हजार वर्ग मील के क्षेत्र में स्थापित था। सशस्त्र कृषि मजूदरों की सरकार 1950 तक चलती रही और तथाकथित 'पुलिस एक्शन' एवं भारतीय सेना ने इसे दबा दिया। इस प्रकार इस आन्दोलन को कुचल दिया गया किंतु, यह आज भी शोषित कृषि श्रमिकों को प्रेरणा देता रहता है।

नक्सलबाड़ी आन्दोलन

जब हम स्वातन्त्रोत्तर काल में कृषक आन्दोलनों का अध्ययन करते हैं तो हमें उन निश्चित मुद्दों की वास्तविकताओं की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये जिनकी औपनिवेशिक काल में प्रभुता थी किंतु स्वतन्त्र भारत में उनका महत्त्व समाप्त हो गया जब ग्रामीण परिस्थितियों को बदलने के लिये भूमि-सुधार, ज़मींदारी-उन्मूलन, भू-राजस्व के महत्त्व में कमी और सार्वजनिक ऋण-व्यवस्था शुरू हुई। 1947 के उपरान्त दो प्रमुख सामाजिक आन्दोलन हुए : **नक्सलबाड़ी आन्दोलन** और '**नवी किसान आन्दोलन**।'

नक्सलबाड़ी आन्दोलन को समझने के लिये उसकी राजनीतिक पृष्ठभूमि और विद्यमान राजनीतिक परिस्थितियों को समझना आवश्यक है, जोकि अब 'नक्सलाइट (नक्सलबाड़ी) आन्दोलन' के नाम से प्रसिद्ध है। 2 मार्च 1968 को पश्चिम-बंगाल में गैर-काँग्रेसी, यूनाइटेड फ्रन्ट सरकार आयी। सरकार में सी.पी. आई. (एम.), सी. पी. आई. और अन्य वामपंथी दलों का और बंगला काँग्रेस, जो काँग्रेस से टूट कर अलग हुआ धड़ा था, का वर्चस्व था। यूनाइटेड फ्रन्ट ने बहुप्रतीक्षित भूमि-सुधारों को गरीब एवं भूमिहीन कृषकों के पक्ष में लाने और साहूकारों एवं महाजनों के पुराने ऋणग्रस्तता के बोझ को समाप्त करने की प्रतिज्ञा की। सत्ता में आने के बाद सी.पी.आई. (एम.) ने स्वयं को एक कठिन परिस्थिति में पाया। नौकरशाही, न्यायपालिका और निहित स्वार्थ इस एजेण्डे के किसी आसान और शीघ्र क्रियान्वयन में बाधा थे।

इसी बीच में, विशेषकर दबे-कुचले खेतिहरों में वाम मोर्चा सरकार द्वारा उत्पन्न क्षणिक हर्षोन्माद का भ्रम तेजी से टूटता जा रहा था। उधर सी.पी.आई. (एम.) में 'अतिवाम' (ultra left) का प्रतिनिधित्व करने वाले सिलीगुड़ी के दो मशहूर नेता चारू मजूमदार एवं कानू सान्याल अपने अनुयायियों को चुपचाप बता रहे थे कि सी.पी.आई (एम.) के राजस्व मंत्री हरे कृष्ण कोनार द्वारा घोषणा भूमि-पुनर्वितरण के उपाय न केवल भूमिहीनों को संतुष्ट करने में असफल होंगे बल्कि भावी-कृषि-श्रमिकों के आन्दोलनों के हितों को कुप्रभावित करेंगे। "उन्होंने आर्थिकवाद (economism) से परे कृषि श्रमिकों के राजनीतिकरण की आवश्यकता पर जोर दिया" (सुमन्त बेनर्जी, 2002)।

इस प्रकार स्पष्ट है कि कृषकों के उफान सी.पी.आई. (एम.) में विद्यमान असहमतियों को प्रदर्शित करते हैं। अब 'अतिवादी क्रान्तिकारी समूहों' को या तो निकाल दिया गया या उन्होंने स्वयं को पार्टी से अलग कर लिया था। दार्जिलिंग जिला कमेटी को भंग करना पड़ा। अलग हुए समूहों के बीच 'नक्सलबाड़ी-ओ-कृषक संग्राम सहायक समिति' (एन. के. एस. एस. एस.) सर्वाधिक प्रमुख थी। यद्यपि नक्सलबाड़ी आन्दोलन का प्रभाव सारे देश में महसूस किया गया था और बहुत से शहरी शिक्षित युवा इसे नक्सलबाड़ी आन्दोलन का एक हिस्सा मानकर जुड़े किंतु पश्चिम बंगाल और आन्ध्र प्रदेश में इसका प्रभाव सर्वाधिक महसूस किया गया। बिहार में नक्सलबाड़ी आन्दोलन का सामना सर्वोदय-आन्दोलन से हुआ। "सच यह है कि यह सब नक्सलबाड़ी के सिर्फ तीन वर्षों में ही हो सका- भले ही यह अपने फैलाव, तीव्रता और पैमाने में नेतृत्व तथा कैडर की संरचना में कितना ही छोटा क्यों न रहा हो- ही इस बात का पर्याप्त कारण है कि इसे क्षणिक और शीघ्र लुप्त हो जाने वाली अवधारणा के रूप में नकारा नहीं जा सकता है" (पार्थ एन. मुखर्जी, 1984)।

आने वाली काँग्रेस सरकार ने आन्दोलन को क्रूरता से दबाने का कार्य किया और परिणामस्वरूप कम्युनिस्ट पार्टी से अन्य पार्टियों, विशेषकर काँग्रेस पार्टी में असाधारण रूप से सामूहिक स्थानान्तरण हुआ। हजारों प्रतिभावान और शिक्षित युवा लड़कों एवं लड़कियों को गिरफ्तार किया गया और मृत्यु तक प्रताड़ित किया गया। बचे हुए कटिबद्ध नेतृत्व और कैडर ने सी.पी.आई. (एम. एल.) पार्टी बनायी जो कुछ समय तक भूमिगत रही तथा कई राज्यों में

अब तक एक क्रान्तिकारी लोकतांत्रिक दल के रूप में काम कर रही है और चुनाव भी लड़ती है।

नक्सलबाड़ी उफान के परिणाम दूरगामी महत्त्व के हैं। इसने "सम्पूर्ण भारत के सम्पूर्ण कृषिक परिद्रष्य पर दूरगामी प्रभाव छोड़ा। यह पानी में कंकड़ के फेंकने से उठी लहरों की एक शृंखला के समान पूर्व नियोजित कार्य था। यह सत्ता में संसदीय वामंपथियों की राजनीतिक असफलता को उजागर करने में सहायक बना और इसने कम्युनिस्टों के बीच पुनर्विचार की प्रक्रिया को प्रारम्भ किया..........। जबकि सीमित आर्थिक माँगों पर सशस्त्र कृषि-श्रमिक संघर्ष का उद्भव नक्सलबाड़ी उफानों की तात्कालिक एवं क्षणिक-प्रतिक्रिया थी, इसका एक अधिक दीर्घव्यापी और पूर्व-निर्धारित परिणाम यह था कि सत्ता पर कब्जा करने के अंतिम राजनीतिक उद्देश्य के साथ देश के कुछ हिस्सों में कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों के नेतृत्व में कई संगठित संघर्ष हुए। यही वह राजनीतिक उद्देश्य था जिस पर नक्सलबाड़ी क्रान्तिकारी अपने आन्दोलन को निर्देशित करते थे जिससे सत्तासीन वामपंथियों को एक चुनौती मिली" (सुमन्त बनर्जी, पूर्ववत्)। इस प्रकार तेलंगाना और नक्सलबाड़ी आन्दोलन आज भी जनजातीय और गैर-जनजातीय कृषि श्रमिकों और शहरी शिक्षित युवाओं के एक वर्ग के क्रान्तिकारी उत्साह को प्रेरित करता रहता है जो भारतीय समाज के सभी दबे-कुचले वर्गों के सुन्दर भविष्य का सपना देखते हैं।

❑

अध्याय 24

आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन
(Social Change in Modern India)

संस्कृति एवं समाज में होने वाला परिवर्तन समाजशास्त्र एवं मानवशास्त्र के लिए बहुत ही गम्भीर विषय रहा है तथा साथ ही यह एक ऐसा अध्ययन क्षेत्र है जिसमें सैद्धान्तिक अन्तर सबसे स्पष्ट रूप में उभर कर सामने आते हैं।

सामाजिक परिवर्तन से आशय किसी सामाजिक व्यवस्था जैसे किसी समाज आदि में होने वाले सांस्कृतिक, संरचनात्मक, जनसंख्या अथवा पर्यावरण सम्बन्धी बदलाव से है। मूल अर्थों में सामाजिक परिवर्तन की ओर ध्यान आकृष्ट होना सभी समाजशास्त्रीय अध्ययनों की एक अन्तरनिहित विशेषता है क्योंकि सामाजिक व्यवस्थाएँ सदैव परिवर्तित होती रहती हैं। मानव एवं उसकी सामाजिक संस्थाओं का क्रमिक विकास युगों से होता आया है। इस क्रम में मानव एवं उसकी सामाजिक संस्थाओं में अनेक परिवर्तन होते आए हैं। भारत में सामाजिक परिवर्तन पर विचार करते हुए योगेन्द्र सिंह (1996) कहते हैं- "सामाजिक परिवर्तन को एक विचारधारा के रूप में भी देखा जा सकता है...... भारतीय समाज की विशिष्टता पर बल देना समाजशास्त्र के कच्चे आँकड़ों, जैसे- प्रमुख मूल्य, संस्थाओं, प्रथाओं एवं सांस्कृतिक रूपों तथा समाजशास्त्रीय श्रेणियों के आधार रूप में कार्य करने वाली इन अमूर्तताओं की अवधारणात्मक विश्लेषण के स्तरों में पाए जाने वाले भ्रम से जुड़ा है।"

समकालीन भारतीय समाज बहुत तेजी से परिवर्तित हो रहा है। यह परिवर्तन समाज की संरचना एवं उसके प्रकार्य दोनों में परिलक्षित हो रहे हैं। भारत में सामाजिक संस्थाएँ एवं मूल्य तेजी से बदल रहे हैं। इस परिवर्तन का सबसे अधिक प्रभाव हिन्दुओं पर पड़ेगा जिनकी जीवन शैली तीन सामाजिक संस्थाओं यथा-**जाति, संयुक्त परिवार** एवं **ग्राम्य समुदाय** पर निर्भर करती हैं तथा इन तीनों ही संस्थाओं में अत्यन्त द्रुत गति से परिवर्तन हो रहा है।

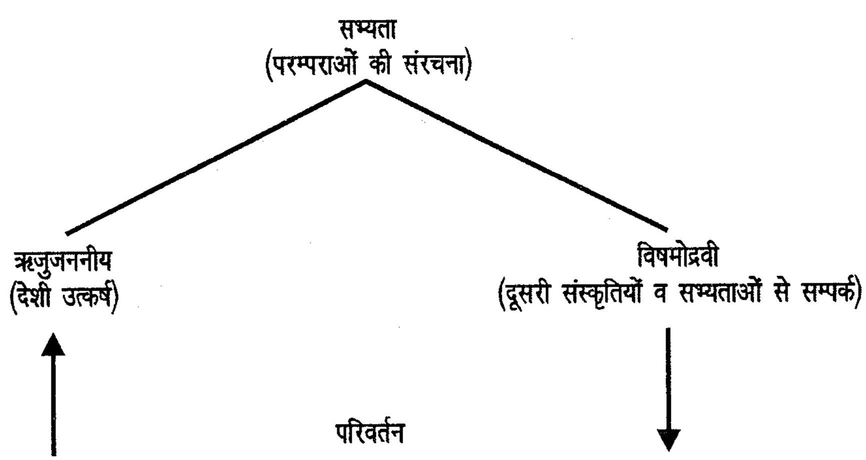
भारत को सदा से एक पारम्परिक समाज के रूप में व्याख्यायित किया गया है जिसमें (1) व्यक्ति का सामाजिक स्तर निर्धारित है तथा उसमें कोई परिवर्तन आसानी से नहीं हो सकता, अर्थात् व्यक्ति सामाजिक गतिशीलता की आकांक्षा नहीं रखता, (2) व्यक्ति का व्यवहार प्रथाओं एवं व्यवहार के तरीकों द्वारा नियन्त्रित होता है तथा पीढ़ी-दर-पीढ़ी उनके व्यवहार में थोड़ी बहुत ही भिन्नता पाई जाती है (3) सामाजिक संगठन पदानुक्रम पर आधारित है, (4) व्यक्ति प्राथमिक

समूहों के साथ सामंजस्य स्थापित करता है तथा बंधुत्व के नाते अंतःक्रिया को नियंत्रित करते हैं, (5) लोग रूढ़िवादी हैं, (6) अर्थव्यवस्था सरल एवं साधारण है व जीवन निर्वाह से ऊपर आर्थिक उत्पादकता सापेक्ष रूप से निम्न है तथा समाज में मिथकीय विचार (mythical thought) सर्वोपरि हैं। किन्तु यह वर्णन भी समकालीन भारतीय समाज को पूर्ण रूप से व्याख्यापित नहीं कर पाता है।

सामाजिक परिवर्तन के स्रोतः अंतर्जात एवं बहिर्जात (Sources of Social Change: Endogenous and Exogenous)

परिवर्तनों पर उसके आन्तरिक एवं बाह्य स्रोतों द्वारा नज़र डालकर विचार किया जाना एक आम व लोकप्रिय तरीक़ा रहा है। किसी व्यवस्था में अन्तरनिहित स्रोतों के सन्दर्भ में परिवर्तन का विश्लेषण अंतर्जात कारकों पर दृष्टि डालते हुए किया जाता है जबकि व्यवस्था से बाहर के स्रोतों के सन्दर्भ में परिवर्तन का विश्लेषण बहिर्जात कारकों के विवेचन द्वारा किया जाता है। ऋजुजननीय (orthogenetic) परिवर्तनों की व्याख्या अंतर्जात कारकों के माध्यम से की जा सकती है जबकि विषमोद्रवी (heterogenetic) परिवर्तनों की व्याख्या बाह्य कारकों के माध्यम से की जाती है।

सभ्यता या परम्पराओं की संरचना दो धरातलों से विकसित है- ऋजुजननीय (orthogenetic) और विषमोद्रवी (heterogenetic) ।



इस प्रकार यह माना जाता है कि सभी सभ्यतायें सांस्कृतिक संगठन की प्राथमिक और ऋजुजननीय (orthogenetic) अवस्था से शुरू होती हैं और एक अवधि विशेष के बाद न केवल अपने भीतरी विकास के वरन् दूसरी सभ्यताओं के संपर्क के द्वारा (जो ज्यादा महत्वपूर्ण है और जिसे विषमोद्रवी प्रक्रिया कहते हैं) विविधता को प्राप्त होती हैं। इस परिवर्तन की दिशा अनुमानतः लोक या ग्रामीण अवस्था से शहरों के सांस्कृतिक ढाँचे और सामाजिक संगठन की ओर होती है। आम तौर पर शहर के अभिजात्य लोग अपनी परम्पराओं को 'विश्वास' और लघु परम्पराओं को

'अन्धविश्वास' मानते हैं। रेडफील्ड की एक मान्यता यह भी है कि विश्व के दृष्टिकोण में भारत की लघु परम्परायें बहुदेववादी, जादू-टोने की ओर उन्मुख और अदार्शनिक हैं। वृहत् और लघु परम्पराओं के बीच अन्तर के कुछ बिन्दुओं को नीचे दिया गया है:-

अ	ब
वृहत् परम्परायें	**लघु परम्परायें**
आमतौर से मूल धार्मिक ग्रन्थों में उल्लेखित	अधिकांशतः मौखिक और केवल विश्वास के रूप में जिनका अनुमान किया जाता है, तर्क- बुद्धि के आधार पर नहीं।
बहुत व्यापक परिक्षेत्र, प्रकृति में आमतौर से राष्ट्रव्यापी	अधिकांशतः स्थानीय
शहरी वर्ग के कुछ थोड़े से श्रेष्ठ, विचारशील और सोचने वालों से संबंधित।	ग्रामीण, निरक्षर लोक व कृषक समुदायों के लोगों से सम्बन्धित।
आमतौर से संगठित और आलौकिक व धार्मिक पूजा या कर्मकाण्ड बहुत स्पष्ट और संशय मुक्त	असंगठित, अव्यवस्थित और संदिग्ध
शास्त्र व पुस्तकों के द्वारा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक सम्प्रेषित।	मौखिक साहित्य द्वारा ज़बानी सम्प्रेषित
संभ्रान्त परम्परायें (elite traditions)	लोक परम्परायें (folk traditions)

भारत में हमें वृहत् परम्पराओं के विकास और उसके बाद उनके शाश्वतीकरण की बहुत दिलचस्प और महत्त्वपूर्ण मिसालें मिलती हैं। उदाहरणार्थ, रामायण मूलतः ऋषि वाल्मीकि ने संस्कृत में लिखी थी, बाद में संत तुलसीदास ने हिन्दी की एक उत्तर-भारतीय बोली में उसकी पुनर्रचना की जो रमते जोगियों, गवैयों और भिक्षुकों द्वारा चारों ओर फैली तथा अन्य भाषाओं और बोलियों में अनूदित की गयी परन्तु हम देखते हैं कि उसके क्षेत्रीय रूपांतर में भी विशेष रूप से रामलीला के मंचन में बीच-बीच में तुलसीदास द्वारा लिखित रामायण की भाषा के कुछ अंशों का प्रयोग होता है। वृहत् परम्पराओं का लघु परम्पराओं की ओर तथा लघु परम्पराओं का वृहत् परम्पराओं की ओर प्रवाह भारतीय सभ्यता की एक जानी मानी प्रक्रिया है। फिर भी, यह सत्य है कि वृहत् की ओर का प्रवाह अपेक्षाकृत अधिक तेज है।

वृहत् से वृहत् की ओर

→

(अधिक)

वृहत् से लघु की ओर

←

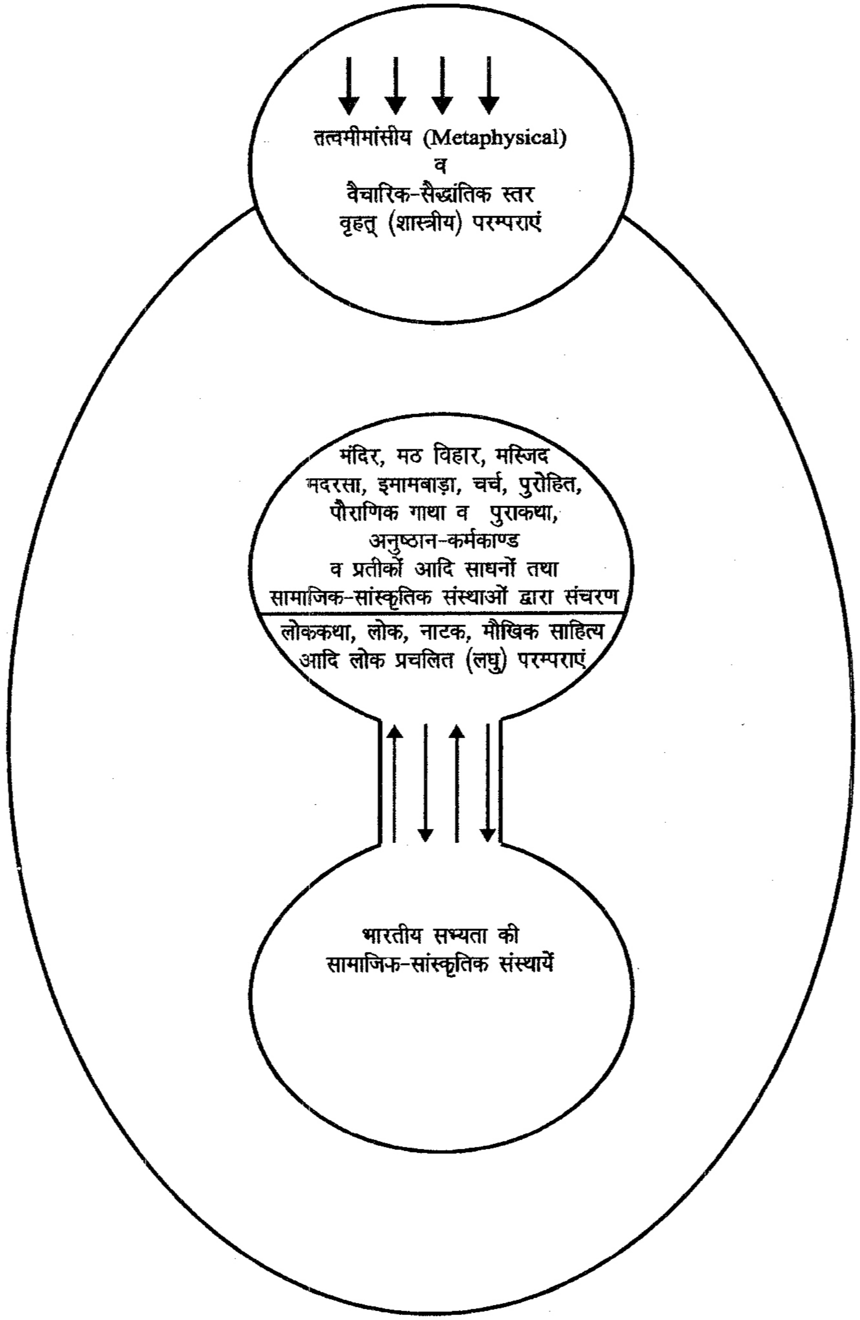
(कम)

आदान-प्रदान में गहरी असमानता के बावजूद जो तत्त्व लोक या 'ग्रामीण' कहलाते हैं उनमें शहर के श्रेष्ठ व अभिजात्य लोगों की दिलचस्पी महत्त्वहीन नहीं है। ग्रामीण पोशाकों के ढंग, लोकगीतों और लोकमंच (नौटंकी आदि) की लोकप्रियता, तन्त्र एवं टोने-टोटके के काम, जैसे नवनिर्मित मकानों में बाहर की ओर भूत बाधा भगाने के लिए उल्टी हांडियाँ लटकाना जिनके तल में विकराल चित्र बने होते हैं, आदि उदाहरण लघु परम्पराओं के प्रवाह के परिचायक हैं। अनेक आलोचकों ने यह विचार व्यक्त किया है कि वृहत् और लघु परम्पराओं के बीच कोई स्पष्ट सीमा रेखा खींचना कठिन है। ऐसा इसलिए है क्योंकि वे आपस में इतनी घुली-मिली हैं कि उनमें से किसी का भी अलग से अध्ययन कर पाना सम्भव नहीं है।

मैण्डेलबॉम भारतीय परम्परा में भागीदारी के स्वभाव के बारे में बोलते हुए बहुत महत्त्वपूर्ण टिप्पणी करते हैं:-

"वृहत् परम्परा अनिवार्यतया एक सुविधाजनक परिकल्पना (convenient abstraction) है। इसके विशुद्ध साहित्यिक रूप में इसका अनुकरण एवं अनुपालन न तो गाँवों में किया जाता है और न ही शहरी लोगों के द्वारा किया जाता है। ऐसे साहित्य व ग्रन्थ सामग्री का विशाल भण्डार मौजूद है जिससे इस बात की आधिकारिक सूचना देने के लिए कि अमुक विशिष्ट अवधि में या विशिष्ट समूह के बीच अमुक चीजें विद्यमान थीं, तत्त्व चुने जा सकते हैं।"

मैण्डेलबॉम के विचार के सम्पूरक रूप में एस० सी० दुबे एक महत्त्वपूर्ण बात उठाते हैं: "वृहत् परम्परा को इतनी जड़ परिभाषा देना क्या उचित है, ऐसी स्थिति में जबकि रेडफील्ड द्वारा दोनों परम्पराओं को सूत्रबद्ध रूप में प्रस्तुत किया गया है?" दोनों परम्पराओं के बीच परस्पर परिवर्तन की प्रक्रिया सतत् चलने वाली और प्रभावशाली होती है। रेडफील्ड के अनुसार "वृहत् परम्परा सदा परिवर्तनशील, प्रसरणशील, नवीन तत्त्वग्राही और प्राचीनता का त्याग करने वाली होती है।" किन्तु तब यह उन पुस्तकों के संदर्भ में कैसे कहा जा सकता है जो सैकड़ों-हजारों वर्ष की अवधि पार कर चुकी हैं? रेडफील्ड वृहत् परम्परा की ऐसी विशिष्ट परिभाषा के सम्बन्ध में स्वयं स्पष्ट रूपेण कठिनाई की अनुभूति करते हैं। यही कारण है कि वे इस सम्बन्ध में कोई स्पष्ट कथन नहीं करते कि वृहत् परम्परा को स्थापित करने में किस प्रकार की चीजों को सहायक माना जाना चाहिए। बल्कि वह वृहत् परम्परा के सम्बन्ध में सामान्यीकृत (generalized) एवं अमूर्त अभिकथन (abstract terms) करना अधिक पसन्द करते हैं। किन्तु यदि कोई इन अवधारणाओं का प्रयोग किसी प्रकार की वैज्ञानिक सत्यता के साथ सांस्कृतिक तथ्यों के विश्लेषण में करता है तो उसे इन अवधारणाओं का विशद अर्थ जानने की आवश्यकता है और इस अवधारणा की मुख्य कमी यही है।



भारतीय सभ्यता की सांस्कृतिक प्रक्रिया में लघु तथा वृहत् परम्पराएँ

एस0 सी0 दूबे का मत है कि भारत में परम्परा का ढाँचा द्विध्रुवीय (bipolar) न होकर बहुध्रुवीय (multipolar) है। उनकी योजना के अनुसार इसे निम्नलिखित छः वर्गों में बांटा जा सकता है:-

1. शास्त्रीय परम्परायें
2. उभरती हुई राष्ट्रीय परम्परायें
3. क्षेत्रीय परम्परायें
4. पाश्चात्य परम्परायें
5. लघु समूहों की स्थानीय परम्परायें
6. उप-सांस्कृतिक परम्परायें।

योगेन्द्र सिंह की यह टिप्पणी सही है कि परम्परा के अनेक स्तर निःसंदेह सांस्कृतिक परिवर्तन के अध्ययन की विस्तृत सम्भावनाएँ प्रस्तुत करते हैं किन्तु जिस सिद्धान्त पर उनका वर्गीकरण किया गया वह अपने आप में तदर्थ हैं और परम्पराओं या सांस्कृतिक प्रतिमानों में बहु-वर्गीकरण की दिशा में किये गये कुछ अन्य प्रयास भी इसी प्रकार की सीमाओं से युक्त हैं।

एक अन्य पहलू से देखा जाय तो यह भी कहा जा सकता है कि लघु व वृहत् परम्पराओं का अध्ययन वास्तव में अनपढ़ जनसाधारण के अमानवीकरण और उन लोगों के गुणगान व महिमागान को प्रोत्साहित करता है जिनकी पहुँच आसानी से शास्त्रीय परम्पराओं व साहित्य में थी। इस प्रकार समाज के विशेषाधिकृत तथा गैर-विशेषाधिकृत वर्गों के बीच सामाजिक अंतःक्रिया इतनी सरल नहीं है जितनी हम लघु व वृहत् परम्पराओं के बीच घटते हुए देखते हैं।

अधिकांशतया विभिन्न प्रकार की परम्पराओं के माध्यम से सांस्कृतिक सातत्य को बनाए रखना भारतीय सभ्यता में सांस्कृतिक प्रक्रिया पर एक अधिकृत छाप है। लाखों हिन्दू जो सूफी-सन्तों की मज़ारों पर सिर झुकाते हैं और पूजा करते हैं वे अपने 'हिन्दुत्व' को त्यागते नहीं हैं। मज़ारों की पूजा से उनकी 'हिन्दू आस्था' पर तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ता। ठीक इसी प्रकार हमारे महान् शास्त्रीय संगीत में बहुत से मुस्लिम संगीतकारों, गायकों व वादकों की विद्यमानता हमारी सभ्यता में सातत्य का एक अच्छा उदाहरण है। इस्लाम की 'रूढ़िवादी व्याख्या' के अन्तर्गत संगीत अत्यन्त घृणास्पद वस्तु है किन्तु यह आश्चर्यजनक एवं आह्लादकारी तथ्य है कि शास्त्रीय संगीत के सैकड़ों अत्यन्त धार्मिक मुसलमान संगीतकार सरस्वती आराधना करते हैं। इसी प्रकार जादू-टोने और दवा के क्षेत्र में भी दोनों समान रूप से विद्यमान हैं। जादूगरी या जादुई-धार्मिक विश्वास लघु परम्पराओं के भाग हैं, जबकि औपचारिक दवा या औषधिशास्त्र आयुर्वेद या आधुनिक एलोपैथी की भाँति पुस्तकीय चीज़ है और वृहत् परम्पराओं में शामिल की जाती है। यहाँ तक कि उच्चस्तरीय आधुनिकीकृत शहरी परिवारों में भी जब दवा असफल हो जाती है तो तन्त्र-मन्त्र, जादू या झाड़फूंक का सहारा लिया जाता है। कुछ लोगों द्वारा विभिन्न समय में विभिन्न

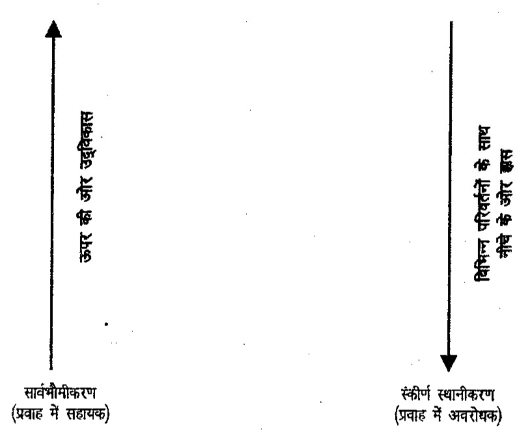
स्थितियों से निपटने के लिए इनका वैकल्पिक सहारा भी लिया गया है। नगरीय जगत की वृहत् परम्पराओं ने गाँवों की लघु परम्पराओं को स्थानच्युत (समाप्त) नहीं किया है; "दोनों के बीच की अंतःक्रिया ने एक प्रकार के दिलचस्प संलय व सम्मिश्रण (fusion) को जन्म दिया है। आधुनिकीकरण की प्रक्रिया और परम्परागत स्वरूप अनिवार्य रूप से एक-दूसरे से नहीं टकराते हैं" (सच्चिदानन्द, 1976)।

सार्वभौमीकरण व संकीर्ण स्थानीयकरण (Universalization and Parochialization)

रेडफील्ड के अनुगामी मिक्किम मैरिअट ने भारत में, विशेष रूप से उत्तर प्रदेश के किशनगढ़ी गाँव में, कुछ महत्त्वपूर्ण अध्ययन किये थे। उन्होंने लघु और वृहत् परम्पराओं के बीच परस्पर प्रभावित करने वाली प्रक्रिया को भारतीय परिप्रेक्ष्य में समझने के लिए उन धारणाओं का इस्तेमाल किया जो रेडफील्ड ने प्रयुक्त की थीं। उन्होंने पाया कि लघु और वृहत् परम्पराओं के सांस्कृतिक तत्त्वों के बीच अन्तःक्रिया निरन्तर चलती रहती है। मेरिअट का उपागम ऐतिहासिक और सांस्कृतिक है और उन्होंने ग्रामीण समुदायों के ढाँचे का अध्ययन भी इस दृष्टि से किया है।

रेडफील्ड के अनुसार सार्वभौमीकरण वृहत् परम्पराओं की तथा संकीर्ण स्थानीयकरण लघु परम्पराओं की प्रक्रियाएँ मानी जा सकती हैं। सार्वभौमीकरण की धारणा का तात्पर्य है कि जो कुछ सामग्री लघु परम्परा में विद्यमान है उसे आगे ले जाना। दूसरे शब्दों में वृहत् परम्पराओं का अंग बनने के लिए लघु परम्परा की ऊपर की ओर यात्रा। जबकि संकीर्ण स्थानीयकरण का आशय है वृहत् परम्परागत तत्त्वों का विभिन्न परिवर्तनों के साथ ह्रास होकर लघु परम्परागत तत्त्वों के साथ समन्वित हो जाना। इस प्रकार यह 'स्थानीयकरण' के रूप में भी समझा जा सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि परम्परागत लघु और वृहत् तत्त्वों के बीच अन्योन्याश्रित क्रिया अथवा परस्पर प्रभावित करने की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है।



जब वृहत् परम्परा के तत्त्व अपने को चिरस्थायी बनाने के लिए नीचे की ओर जाते हैं और लघु परम्पराओं के तत्त्वों से मिलते हैं तो वे अपने को संकीर्ण बना लेते हैं। इससे पता चलता है कि सीमित प्रभाव-क्षेत्र के कारण स्थानीय ग्रामीण अथवा लोक परम्पराओं में काफी सांस्कृतिक पुनरुत्थान क्षमता होती है क्योंकि वे स्तम्भित या पूर्णतः लुप्त होने के बजाय वृहत् परम्पराओं से जुड़ जाती हैं और उनका स्वरूप और अंतर्तत्त्व बदल जाता है। घुल-मिल जाने का यह एक रोचक ढंग है।

यह भी कहा जा सकता है कि संकीर्ण स्थानीयकरण में तर्कशक्ति या गहन विचार करने को अधिक महत्त्व नहीं दिया जाता इसलिए उसकी तर्कसंगत ढंग से व्याख्या भी नहीं का जा सकती। ऐसे बहुत से परम्परागत तत्त्व हैं जो तर्क और ज्ञान की कसौटी पर खरे नहीं उतर सकते, फिर भी वे लगातार पीढ़ी दर पीढ़ी माने जाते हैं। यह भी कहा जा सकता है कि संकीर्ण स्थानीयकरण की प्रक्रिया के माध्यम से एक छोटे समूह के विचारों, अनुभवों और आस्थाओं को महत्त्व दिया जाता है। वृहत्, परम्परागत, सांस्कृतिक रूपों में घुलने-मिलने या विरूपीकरण के परिणामस्वरूप संकीर्ण स्थानीयकरण में वृहत् परम्पराओं का मूल स्वरूप बदल जाता है। जहाँ तक संरचना पक्ष का सम्बन्ध है इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि परम्पराएँ बनाम संकीर्ण स्थानीयकरण के मामले में परम्पराएँ अपेक्षाकृत कम संगठित दिखाई पड़ती हैं।

अपनी इस बात को सिद्ध करने के लिए मैरिअट अपने किशनगढ़ी के क्षेत्रकार्य के कुछ उदाहरण पेश करते हैं। 'गोबरर्धन' और 'नौरथ पूजा' का हवाला देकर वह दो वृहत् परम्पराओं के संकीर्ण स्थानीयकरण की मिसालें पेश करते हैं। किशनगढ़ी में और उसके चारों ओर की ग्रामीण जनता में गोबर्धन पूजा की प्रथा बहुत प्रचलित है जिसमें गोबर का टीला बनाकर उसे अनाज की बालियों से सजाया जाता है और फिर पूजा की जाती है। मैरिअट का कहना है कि यह गोबर्धन पूजा वस्तुतः गो-संवर्धन को प्रोत्साहित करने वाले श्रीकृष्ण की पूजा का संकीर्ण स्थानीय रूप है। किशनगढ़ी से लगभग 10 किलोमीटर पर गोबर्धन पहाड़ी है। यह पहाड़ी एक पौराणिक कथा से जुड़ी है जिसमें बताया गया है कि भगवान कृष्ण ने इन्द्र के प्रकोप (तेज बारिश) से अपने अनुगामियों को बचाने के लिए गोबर्धन पर्वत को ऊपर उठा लिया था और उसके नीचे उन सबको शरण दी थी। इससे यह प्रदर्शित होता है कि एक वृहत् परम्परा का पौराणिक आधार लगभग 40 किलोमीटर की यात्रा में ही संकीर्ण स्थानीयकरण की प्रक्रिया में बदल गया और गोबर्धन पूजा की वृहत् परम्परा अनेक तत्त्वों से जूझती हुई किशनगढ़ी पहुँची तो वह संकीर्ण या स्थानीय हो गयी। यही बात 'नवरात्र' में देवी पूजा के बारे में कही जा सकती है। नवरात्र का पर्व देश भर में काफी प्रचलित है। उसमें दशहरे से पहले महादुर्गा, महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती आदि नौ दुर्गाओं की पूजा की जाती है, किन्तु थोड़े अन्तर के साथ। यहाँ नवरात्र में एक स्थानीय और छोटी देवी की पूजा होती है। इस देवी का कोई उल्लेख हिन्दुओं के किसी भी धर्म ग्रंथ में नहीं है। स्पष्ट है कि यह भी एक वृहत् परम्परा के संकीर्ण स्थानीयकरण का उदाहरण है।

सार्वभौमीकरण की धारणा का प्रथम प्रयोग रेडफील्ड और मिल्टन सिंगर ने किया था।

मेरिअट ने इसका स्पष्टीकरण करते हुए इसका प्रयोग वृहत् परम्पराओं और लघु परम्पराओं के बीच की अन्योन्याश्रित क्रिया अर्थात् उनकी परम्पर एक दूसरे को प्रभावित करने की प्रक्रिया तथा उनके परस्पर सम्बन्धों का विश्लेषण करने में किया। संस्कृति में फैलने और व्याप्त होने का गुण होता है। जब एक स्थानीय या लघु परम्परा ऊपर उठते हुए (अर्थात् अपेक्षाकृत बड़े क्षेत्र में विस्तृत होती हुई) वृहत् परम्पराओं को प्रभावित करती है और कालान्तर में मान्यता प्राप्त करके वृहत् परम्पराओं की धार्मिक पुस्तकों व उनके गौरव ग्रंथों में स्थान पा लेती है तो विस्तार पाने और व्यापक होने की इस प्रक्रिया को सार्वभौमीकरण के नाम से पुकारा जाता है। स्पष्ट है कि इस प्रक्रिया में स्थानीय सांस्कृतिक स्वरूप अथवा परम्परागत तत्त्व को व्यापक मान्यता प्राप्त होती है और एक तरह सार्वभौमीकरण हो जाता है। लघु परम्पराओं का यह बड़ा विस्तार है। किशनगढ़ी में सौरथी-देवी की उपासना और 'सलूनों' के पर्व का उदाहरण देकर मिक्किम मैरिअट ने स्थानीय सांस्कृतिक तत्त्वों के सार्वभौमीकरण को प्रदर्शित किया है। उनके अनुसार देश के बहुत से भागों में मनाये जाते वाले बहुत ही लोकप्रिय त्योहार दीपावली पर लक्ष्मी की पूजा सौरथी जैसी देवियों की पूजा की लघु परम्परा का सार्वभौमीकरण मात्र है। दीपावली पर किशनगढ़ी के लोग दीवार पर चावल के आटे से सौरथी देवी का चित्र बनाकर अपने स्वास्थ्य व समृद्धि के लिए पूजा करते हैं। इनका कहना है कि इस तरह के उपासना विधान हिन्दुओं की वृहत् परम्पराओं में नहीं जन्में हैं परन्तु दीपावली पर सौरथी की पूजा जैसी लघु परम्पराएँ ऊपर की ओर बढ़ीं, उन्हें मान्यता प्राप्त हुई और वृहद् परम्पराओं की पुस्तकों या गौरव ग्रन्थों में उन्होंने स्थान पाया और इस प्रकार वे कालांतर में उनका अंग बन गयीं। लक्ष्मी पूजा की भाँति ही रक्षाबंधन का पर्व भी बुनियादी रूप से लघु परम्पराओं में जन्मा है। रक्षाबन्धन के दिन बहनें अपनी सुरक्षा और कल्याण के लिए भाइयों की कलाई पर राखी बाँधती हैं। इसी से मिलता-जुलता किशनगढ़ी का पर्व 'सलूनों' तथा देश के अन्य भागों में प्रचलित लघु पम्पराओं के ऐसे ही अनेक पर्व रक्षाबन्धन पर्व के रूप में सार्वभौमीकृत हुए हैं। किशनगढ़ी में विवाहित स्त्रियाँ सलूनों के दिन अपने अविवाहित भाई बहनों के मस्तक पर तिलक लगाती हैं। बदले में भाई उन्हें धन या उपहार देते हैं; इसी प्रकार इसी दिन ब्राह्मण पुरोहित अपने यजमानों की कलाई में राखी बाँधते और बदलते में दक्षिणा आदि प्राप्त करते हैं। मैरिअट का विचार है कि रक्षाबन्धन का पर्व सलूनों जैसे पर्वों के सार्वभौमीकरण का परिणाम है।

सदियों की लम्बी अवधि में व्याप्त सांस्कृतिक घटनाओं के विकास की वह प्रक्रिया जो उन्हें एक या दूसरी परम्परा को सौंपती है, जटिल है। इन सांस्कृतिक विचारधाराओं के मूल स्रोतों को खोजने सम्बन्धी असमर्थता के कारण यह विवादास्पद है। सामाजिक इतिहास के साथ-साथ इस क्षेत्र का विशिष्ट ऐतिहासिक ज्ञान ही बहुत से कर्मकाण्डों व विश्वासों के आरम्भिक बिन्दु की सूचना देने में कुछ सहायक सिद्ध हो सकता है। किन्तु इससे सभी के मूल स्रोतों का ज्ञान नहीं हो सकेगा और प्रायः यह असम्भव है, विशेषरूप से उस स्थिति में जबकि निरक्षर या अर्धशिक्षित उपसमूहों के बारे में अध्ययन किया जा रहा हो।

योगेन्द्र सिंह (1977) अपनी टिप्पणी में कहते हैं कि तुलनात्मक रूप से सार्वभौमीकरण

और संकीर्ण स्थानीयकरण की धारणाएँ सांस्कृतीकरण में निहित सांस्कृतिक परिवर्तन की प्रक्रियाओं के लक्षण भी बताती हैं, विशेषतया सार्वभौमीकरण इस धारणा के अति निकट है। इसके बावजूद मैरिअट का योगदान अपने कार्य क्षेत्र के मामले में बहुत सीमित है, विशेषतया इसलिये कि वह सांस्कृतिक परिवर्तन की केवल ऋजुजननीय (Orthogenetic) प्रक्रिया पर ही प्रकाश डालता है।

परिवर्तन-प्रक्रिया (Processes of Change)

जब हम ग्रामीण एवं नगरीय भारतीय समाज में परिवर्तन की प्रक्रिया का विश्लेषण करने का प्रयास करते हैं तो हम पाते हैं कि सांस्कृतीकरण, पश्चिमीकरण/आधुनिकीकरण, धर्मनिरपेक्षीकरण एवं प्रजातंत्रीकरण की प्रक्रियाएँ इस उद्देश्य में महत्त्वपूर्ण साधनों एवं अवधारणों के रूप में क्रियाशील हैं।

सांस्कृतीकरण

'पुस्तकीय परिद्रष्य' के विपरीत हम पाते हैं कि भारतीय जाति व्यवस्था पूर्ण रूपेण कभी भी दृढ़ और जड़ नहीं रही है। इस निष्कर्ष ने विभिन्न प्रयासों को इस बात के लिए उत्प्रेरित किया है कि वे समाज में विस्तृत पैमाने पर घटित होने वाली गतिशीलता या परिवर्तन के ढंग को क्रमबद्ध स्वरूप में व्याख्यायित करें। इस दिशा में 'अनुलोम विवाह' की प्रक्रिया प्रारम्भिक प्रयास हो सकती है। विशद् रूप से विचार करने पर भारत में सामाजिक गतिशीलता के अध्ययन के सम्बन्ध में चार उपागम रेखांकित किये जा सकते हैं।

1. व्यक्तिगत या पारिवारिक गतिशीलता सम्बन्धी उपागम।
2. तुलनात्मक उपागम।
3. संदर्भ समूह उपागम।
4. निगमित या सामूहिक गतिशीलता सम्बन्धी उपागम।

एम. एन. श्रीनिवास भारत में निगमित गतिशीलता सम्बन्धी उपागम के मुख्य पैरोकार हैं।

अनेक बहुमुखी ग्रामीण अध्ययनों के परिणामस्वरूप कुछ धारणाएँ और मार्ग सामने आये हैं जिन्हें भारत के समाजशास्त्रियों और सामाजिक मानवशास्त्रियों का महत्त्वपूर्ण सैद्धान्तिक योगदान कहा जा सकता है। इन्हें भारत में होने वाले सामाजिक परिवर्तन के अध्ययन में विश्लेषण प्रविधियों के रूप में इस्तेमाल किया जा सकता है। यद्यपि स्वतंत्रता पूर्व की अवधि में कुछ सैद्धांतिक उपधारणाएँ तथा व्यवस्थित कार्य करने के तरीकों का विकास करने के छुट-पुट प्रयास किये गये थे फिर भी भारत में सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाओं को परिभाषित करने, उनका विश्लेषण करने और उन्हें समझने का बाकायदा प्रयास सबसे पहले एम. एन. श्रीनिवास ने अपने महत्त्वपूर्ण एवं लीक से हट कर किये गये अध्ययन *"रेलिजन एण्ड सोसाइटी एमंग द कूर्गस ऑव साउथ इंडिया"* (1952) में किया था।

सांस्कृतीकरण का मुहावरा श्रीनिवास ने कूर्गों के अध्ययन के दौरान इस्तेमाल किया था, तथा इसका तात्पर्य बुनियादी रूप से परम्परागत ग्रामीण भारत में सांस्कृतिक गतिशीलता की प्रक्रिया का वर्णन करना था। श्रीनिवास की मान्यता है कि हिन्दू जाति-पद्धति कभी भी इतनी बेलोच नहीं रही कि कोई व्यक्ति या जाति अपना स्तर बदल या ऊँचा न कर सके। उनके अनुसार सांस्कृतीकरण की परिभाषा है: "एक ऐसी प्रक्रिया जिसके माध्यम से कोई निम्न जाति या जनजाति या कोई अन्य समूह किसी अपेक्षाकृत ऊँची जाति के रीति रिवाज, पर्व-त्यौहार, विश्वास, विचारधारा और रहन-सहन की शैली अपनाते हैं, विशेषतः द्विज जातियों की।" उदाहरण के लिए एक निम्न जाति, जनजाति या कोई समूह यदि मांस, मदिरा, बलिप्रथा आदि त्याग कर भोजन, वेश-भूषा और कर्मकांड के मामले में ब्राह्मणों की नकल करने लगता है तो पीढ़ी-दो-पीढ़ी बाद वह स्थानीय जाति व्यवस्था में ऊँची स्थिति पाने का दावा कर सकता है। इस प्रक्रिया को मूलतः श्रीनिवास ने "ब्राह्मणीकरण" की संज्ञा दी थी किन्तु जब उनका सामना अनुसरण के अन्य प्रकार के प्रतिमानों से पड़ा तो उन्होंने "ब्राह्मणीकरण" छोड़कर "सांस्कृतीकरण का मुहावरा" अपनाया। वैसे भी सांस्कृतीकरण एक व्यापक धारणा वाला शब्द है क्योंकि इसके अंतर्गत न केवल क्षत्रिय, वैश्य, जाट आदि दूसरी द्विज जातियों की गणना की जा सकती है, वरन् यह विभिन्न प्रकार की मान्यताओं और जीवन शैलियों का सूचक भी बन सकता है।

अनेकों क्षेत्र अध्ययनों के आधार पर हमारे पास ऐसे परिवर्तनों का विवरण उपलब्ध है जिनमें सामाजिक समता प्राप्त करने की इच्छुक निम्न जातियों के द्वारा सांस्कृतिक अनुसरण का उल्लेख है। लेकिन सांस्कृतिक नकल या अनुकरण के विषय में बातचीत ठोस रूप में होनी चाहिए, जिससे कोई भी इसका यथार्थ चित्र देख सके। सांस्कृतीकरण अनुकरण करने वाली जाति में महिला-समुदाय की सांस्कृतिक स्वायत्तता (cultural autonomy) को कम करता है जिसमें जीवन-साथी चुनने की आजादी व यौन स्वतन्त्रता शामिल है, पारिवारिक ढाँचे में हो रहे परिवर्तनों में कुछ चीजों के प्रति परिवर्तन आन्दोलन स्वरूप में दृष्टिगत होते हैं जैसे- रूढ़िबद्ध संयुक्त हिन्दू परिवार, पिता की सुदृढ़, अधिकारसत्ता के प्रति वचनबद्धता, एक ही पत्नी रखना, जाति बहिष्कृत कर देने की बढ़ी हुई प्रवृत्तियों वाला सुदृढ़ संगठन आदि, गाय एवं सुअर का मांस खाने सम्बन्धी आदतों का परित्याग करके खान पान की बदलती हुई प्रवृत्तियाँ आदि। शिक्षा प्राप्त करने पर भी अत्यधिक बल दिया जाता है और दहेज, 'वधू मूल्य' प्रथा का स्थान ले लेता है। सामाजिक परिवर्तनों के फलस्वरूप धर्म और धार्मिक कृत्यों के संदर्भ में यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाया जाता है। इस धर्मगत यथार्थवाद के अन्तर्गत जनेऊ धारण करना, विवाह के अवसर पर सुअर की बलि का त्याग, और तीर्थयात्रा को अत्यधिक महत्त्व देने की प्रवृत्ति लक्षित होने लगती है। राजनैतिक संगठनात्मक स्तर पर देखा जाय तो हम पाते हैं कि सांस्कृतीकरण पहले से अधिक मजबूत जाति व्यवस्था को प्रोत्साहित करता है जिसमें अपने सदस्यों को पहले से अधिक जाति बाहर (outcasting) करने की प्रवृत्ति बढ़ती है। अन्तर्जातीय सम्बंधों के दृष्टिकोण से देखा जाय तो अपने से भी नीची जाति के साथ खान पान के सम्बंध को लेकर पहले से अधिक दृढ़ता आ जाती है;

खाने पीने की आदतों में भी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होते हैं।

श्रीनिवास ने आगे बताया है कि सांस्कृतीकरण की प्रक्रियाओं को राजनीतिक एवं आर्थिक तत्त्वों ने भी प्रभावित किया है। भारत में अंग्रेजी राज्य के दौरान निम्न जातियों को सांस्कृतीकरण के अनेकानेक अवसर मिले जिनके फलस्वरूप वे अपना सामाजिक स्तर ऊपर उठा सकीं क्योंकि नये शासक और नई राजनीतिक व्यवस्था सामाजिक रूप से जाति व्यवस्था में अंतर्ग्रस्त नहीं थे।

कभी-कभी एक निम्न जाति को सांस्कृतीकरण की प्रक्रिया द्वारा ऊपर उठने में बीच की जातियों के द्वेष भाव का शिकार भी होना पड़ सकता है। उनके द्वेष भाव की व्याख्या हितों के टकराव के रूप में भी की जा सकती है। ऊँची जाति के लोगों के द्वेष और उनके उपहास का शिकार होना ग्रामीण भारत के अनेक स्थानों में रहने वाले निम्न जातियों के लोगों की एक चिरपरिचित समस्या है, भले ही ये लोग जूते या साफ-सुथरे कपड़े पहनने लगें; क्योंकि निम्न जाति के लोगों को उनके जैसा नहीं दिखना चाहिए; उनकी जीवन शैली, रीति-रिवाज तीज-त्यौहार और नामों को अपनाना तो दूर की बात है। कुछ मामलों में सांस्कृतीकरण भी जाति का स्तर ऊपर उठाने में मदद नहीं करता और उन लोगों को परम्परागत सामाजिक अयोग्यता निरन्तर भोगनी पड़ती है।

संचार और यातायात के बढ़ते हुए साधनों ने सांस्कृतीकरण की प्रक्रिया के लिए सुविधायें भी प्रदान की हैं और उसकी गति को तेज किया है क्योंकि इनसे सांस्कृतिक सम्पर्क के नये मार्ग खुले हैं, और नये अवसर सामने आये हैं। लोकतंत्रीय पद्धति ने चयन करने की अपेक्षाकृत अधिक आजादी प्रदान की है। इससे भी सांस्कृतीकरण के लिए अनेक अवसर सामने आते हैं। विडंबना यह है कि अपने निम्न सामाजिक स्तर के बावजूद बहुत सी जातियाँ अपेक्षाकृत प्रगतिशील, उदार और अनुज्ञाशील हैं। उनका उदार और सकारात्मक व्यवहार विशेष रूप से स्त्रियों की स्थिति, यौन सम्बन्धी आचरण, जीवनसाथी चुनने की स्वतंत्रता आदि अनुसरणीय हो सकती हैं लेकिन सांस्कृतीकरण की प्रक्रिया में वे अक्सर रूढ़िवादी बनने लगते हैं तथा उन्हें उलटा चलते भी देखा जाता है। सांस्कृतीकरण की अत्यधिक जटिल और कभी-कभी विभ्रम पैदा करने वाली प्रकृति को स्वीकारते हुए श्रीनिवास ने स्वयं कहा है कि "सांस्कृतीकरण एक बहुत ही जटिल और विषम अवधारणा है। यह भी सम्भव है कि उसे एक अकेली अवधारणा न मानकर अव धारणाओं का समूह समझा जाय, तब वह अधिक लाभदायक सिद्ध होगी। याद रखने की जरूरी बात है कि यह केवल यह विस्तृत सांस्कृतिक प्रक्रिया का नाम है।"

सांस्कृतीकरण की प्रक्रिया के बारे में कुछ बातें और ध्यान में रखना चाहिये ताकि बहुत से भ्रमों से दूर रहा जा सके। सांस्कृतीकरण को समझने का एक दृष्टिकोण यह भी हो सकता है कि सांस्कृतीकरण सदैव सामाजिक स्थिति को ऊपर उठाने का प्रयास नहीं है। उच्च जातियों की जीवन शैली का अनुसरण निम्न जातियों की ओर से कभी-कभी एक प्रकार की चुनौती और विद्रोह भी माना जा सकता है जो उनके परम्परागत सामाजिक-आर्थिक वंचन और उसके परिणाम

स्वरूप आई कुंठा व आक्रोश का प्रतीक हो सकता है। 'परम्पराओं' का इतना खुल्लमखुल्ला उल्लंघन ऊँची जातियों को अक्सर और अधिक आक्रामक बना देता है। परम्परागत तौर पर विशेषाधिकृत वर्ग जब परम्परागत गैर-विशेषाधिकृत वर्गों के साथ सामाजिक-आर्थिक लाभों और सुविधाओं का बंटवारा नहीं करते तो इसका परिणाम हिंसा के रूप में सामने आता है। एक और दृष्टि से देखा जाय तो यह भी कहा जा सकता है कि सांस्कृतीकरण के परिणामस्वरूप सामाजिक स्थिति में होने वाला परिवर्तन अक्सर वास्तविक न होकर आभासी या भ्रामक होता है और सांस्कृतीकरण परम्परागत सामाजिक असमानताओं के खिलाफ होने वाले विद्रोह को रोकने के लिये "सेफ्टी वाल्व" (safety valve) का काम भी करता है। साथ ही यह भी कहा जा सकता है कि सांस्कृतीकरण एक प्रकार से भाग्यवादिता व कर्म के सिद्धांतों का अस्वीकरण भी है क्योंकि यदि सांस्कृतीकरण में संलग्न निम्न जातियाँ व समूह अपनी जन्मजात सामाजिक स्थिति को पूर्णरूपेण ईश्वर का फैसला मान लेतीं तो अपनी वर्तमान स्थिति को सुधारने व जाति संस्तरण में ऊपर उठाने का प्रयास न करतीं। इस प्रकार के बहुत से दूसरे विरोधाभास सांस्कृतीकरण की प्रक्रिया में देखे जा सकते हैं। यहीं पर यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि अस्पृश्य जातियाँ शायद ही कभी इस प्रक्रिया के द्वारा स्पृश्य स्थिति हासिल कर पाती हैं। इसके अतिरिक्त सांस्कृतीकरण में लगी जातियों को पहले धन व सम्पत्ति प्राप्त करना जरूरी हो जाता है जिसके उपरान्त ही सांस्कृतीकरण सफल हो सकता है।

एस0 सी0 दूबे ने सांस्कृतीकरण की सीमाओं को रेखांकित करते हुए कहा है कि सांस्कृतीकरण की परिकल्पना ने अपने सीमित लक्ष्यों की सम्पूर्ति बेहतर ढंग से की है किन्तु जब हम भारत की जटिल संस्कृति के चित्र को विश्लेषित करने के लिए इसे मुख्य उपकरण के रूप में अपनाते हैं तो यह अनेक संदर्भों में अपूर्ण व अभावग्रस्त दीखती है। विस्तरित रूपरेखा में "सांस्कृतिक प्रतिरूप" (Sanskritic Model) आकर्षक प्रतीत होता है किन्तु सावधानी के साथ किया गया इसका गहन विश्लेषण बताता है कि यह अधिकांशतया छलावा ही है।

सांस्कृतिक स्रोत एक ही प्रतिरूप (model) नहीं उपलब्ध कराते वरन् अनेक प्रतिरूप प्रस्तुत करते हैं; यहाँ तक कि उनमें से कुछ मौलिक रूप से विरोधी आदर्शों के साथ शामिल होते हैं। जिसे हम 'हिन्दू दर्शन' कहते हैं वह केवल एक ही विचार पद्धति (school of thought) से सम्बद्ध नहीं है बल्कि उसमें अनेक विचार पद्धतियों का सम्मिश्रण है। समाज के भिन्न-भिन्न विशद् चित्रों तथा अनेक भिन्न-भिन्न योजनाओं और मूल्यों को पहचानते हुए तथा उनकी वकालत करते हुए उनमें चुनाव के अनुपात का क्षेत्र निश्चित ही विशाल है। सांस्कृतिक स्रोतों के द्वारा किसी-किसी विशिष्ट तत्त्व के चुनाव के लिए जो बड़ा क्षेत्र उपलब्ध कराया जाता है उसमें व्यक्ति स्वतन्त्र होते हुए भी पूर्णतया स्वतन्त्र नहीं रहता। यह विशाल क्षेत्र भी विशिष्ट समूहों व समुदायों के क्षेत्रीय प्रसंगों व ऐतिहासिक परम्पराओं के द्वारा शर्तबद्ध होता है। इस प्रकार यह दिखाई पड़ेगा कि सामान्यीकृत सम्पूर्ण भारत का सांस्कृतिक प्रतिरूप एक विश्लेषक उपकरण (analytical tool) के रूप में उपयोगी कम छलावा अधिक होगा। बेहतर होगा कि यदि भिन्न-भिन्न क्षेत्रीय दशाओं तथा

ऐतिहासिक परम्पराओं के संदर्भ में उपयुक्त एवं अनुकूल लगने वाले ऐसे प्रतिरूपों की एक श्रेणी बनायी जाये। बाल की खाल निकालने वाले विरोधाभासी विवाद में न पड़कर यह कहा जा सकता है कि सभी समूह और समुदाय समान "सांस्कृतिक स्रोतों" से ही अपने प्रतिरूप नहीं निकालते हैं।

मुसलमान, ईसाई और पारसियों के अलावा यहाँ तक कि हिन्दुओं में भी, बहुत से ऐसे विशिष्ट समूह हैं जिनकी धार्मिक गाथायें संस्कृत में न होकर दूसरी भाषा में वर्णित हैं। बुद्ध, कबीर, रविदास, दादू या ज्योतिबा फूले आदि के अनुचर अपने इन्हीं लोगों के लेखन से प्रेरणा प्राप्त करते हैं और ये लेखन संस्कृत भाषा में नहीं हैं। प्रायः ये ऐसी भाषाओं में हैं जो अधिकाधिक जनता के द्वारा समझी जा सकती हैं। उन लोगों ने जो भी कुछ कहा केवल उनके एक हिस्से पर ही "सांस्कृतिक स्रोतों" के प्रभाव का आरोपण किया जा सकता है। उनके साहित्य का अधिकांश भाग ऐसा है जिसमें उन्होंने जो कुछ कहा वह सांस्कृतिक प्रतिरूप में उल्लिखित कुछ केन्द्रीय विचारधाराओं का सजग निषेध करता है। ऐसी हालत में क्या सांस्कृतिक प्रतिरूप की अपेक्षा शास्त्रीय प्रतिरूपों (classical models) की बात करना अधिक उपयोगी नहीं होगा? किन्तु सांस्कृतीकरण के सम्बन्ध में श्रीनिवास की व्याख्या शब्द के अर्थगत पक्ष पर सम्पूर्ण जोर नहीं डालती है। सांस्कृतीकरण के नये अभिकारकों (agents) के बारे में बात करते हुए श्रीनिवास (1992) गाँव की दैवीय आस्थाओं से सम्बद्ध तथा पंचांगों में निर्दिष्ट उत्सवों के सम्बन्ध में उल्लेख करते हैं। उत्सवों का बड़े पैमाने पर सांस्कृतीकरण हुआ है। भारत के कस्बों और शहरों में हरिकथा, यज्ञ, जागरण आदि बड़े धूमधाम के साथ मनाये जाते हैं। रेशमी-राजसी वस्त्रों से अलंकृत या गेरुए वस्त्र धारण किये ऐसे बहुत से धार्मिक व्यक्ति या नेता देखे जा सकते हैं जो लोगों को मोक्ष या भौतिक उपलब्धि प्रदान करने का आश्वासन दे रहे होते हैं। भारतीय परिद्रष्य में यह सामान्य बात है। अखबार, रेडियो, टेलीविजन आदि के आविष्कार के पहले दर्शकों के जिस परिमाप की वे कल्पना भी नहीं कर सकते थे, वे उन्हें अप्रत्याशित रूप में ही प्राप्त हुए। इनमें से प्रत्येक को सांस्कृतीकरण अधिकारक कहा जा सकता है। भारतीय सिनेमा ने धार्मिक महाकाव्यों तथा पुराणों से धार्मिक कथाएँ लेकर प्रायः उसका उपयोग किया। कम दामों में उपलब्ध पुस्तकों ने हिन्दू धर्म साहित्य में लोगों का परिचय इस स्तर तक कर दिया, जितना कि पहले कभी सम्भव नहीं था। सामाजिक गतिशीलता की प्रक्रिया के रूप में सांस्कृतीकरण गैर-हिन्दू समुदायों और विशेष रूप से उन समुदायों में जो सामाजिक सोपानिकी (social hierarchy) रखने वाले यथा मुस्लिम, सिक्ख तथा अन्य समुदायों में भी देखा जा सकता है। गैर-हिन्दू समुदायों में भी सामाजिक प्रस्थिति में सुधार (status elevation) के लिए समतापरक सांस्कृतिक अनुसरण (cultural emulation) एक मुख्य घटक रहा है। सांस्कृतीकरण की संयुक्ततापरक ससंर्गज भूमिका (cohesive role), विशेष रूप से हिन्दुओं से बाहर के समूह के संदर्भ में यथा किसी जनजाति के बारे में बात की जाये तो यह कहा जा सकता है कि सांस्कृतीकरण ऐसे समूहों को अपने प्रभाव क्षेत्र में खींच लेता है जिससे स्वाभाविक रूप से वह जनजाति कोई विशिष्ट जाति बन जाती है तथा अन्य स्थानीय जातियों से नियमित सम्बन्ध रखने लगती है। हिन्दू व्यवस्था में जनजातियों से अन्तर्मुक्त होने

(tribal absorption) सम्बन्धी बहुत से उदाहरण दिखायी पड़ते हैं, यथा- राजस्थान में मीना जनजाति, बिहार और पश्चिमी बंगाल में संथाल और मुण्डा, उत्तर प्रदेश में जौनसारी और थारू जैसी जनजातियाँ।

जब हम किसी निम्न जाति के उच्च जाति या प्रभुजाति की ओर सांस्कृतिक अनुकरण की अभिलाषा के बारे में बात करते हैं तो हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि बहुत से मामलों में सांस्कृतिक अनुकरण ही इसके पीछे मुख्य कारण नहीं है जैसा कि पहले बताया गया है, प्रत्युत इसके पीछे सामाजिक-आर्थिक वंचना के विरुद्ध एक चुनौती या विद्रोह की भावना को अभिव्यक्त करने की भावना भी सन्निहित हो सकती है। जैसे कि किसी निम्न जाति का दूल्हा घोड़े पर चढ़कर न जाये, सामाजिक-आर्थिक वंचना का प्रमाण है, जो उनके मस्तिष्क में क्षोभ पैदा करता है। ऐसी प्रथाओं का उल्लंघन शायद सांस्कृतीकरण न होकर वंचन के विरुद्ध बग़ावत है। यहाँ एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि निम्न जातियाँ अपने परम्परागत 'शोषकों' व 'उत्पीड़कों' की ही जीवन पद्धति का अनुकरण क्यों करें? वे उनके सांस्कृतिक तत्त्वों को अपनी जीवन पद्धति में क्यों ग्रहण करें? कोई भी घृणित समूह का अनुकरण क्यों करें? इसके उत्तर में हैराल्ड गोल्ड (१९८८) द्वारा दी हुयी व्याख्याओं में एक व्याख्या यह है कि निम्न जातियों के लोग सांस्कृतीकरण को इसलिए नहीं अपनाते कि वे जाति व्यवस्था को मानने से इन्कार कर दें, बल्कि वे जाति व्यवस्था की 'लगाम' अपने हाथ में लेना चाहते हैं जिससे कि वे उच्च जातियों के साथ वैसा ही व्यवहार कर सकें जैसा कि उनके साथ किया गया था, या अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा को उसी क्षेत्र में प्राप्त कर सकें जहाँ उन्होंने उसे खोया था। इसी प्रकार वे अपने मानसिक क्षोभ से मुक्त हो सकते हैं। केवल तभी उनमें सन्तोष का भाव आ सकेगा और वे कुछ ठोस चीज तथा अपने अतीत के संदर्भ में अत्यधिक सुंसगत अनुभूति प्राप्त कर सकेंगे।

विशेष रूप से शहरी क्षेत्रों में हमारी जीवन पद्धति में कर्मकाण्डीय घटकों (ritual components) के महत्त्व में कमी हो जाने की वजह से कुछ शोधकर्त्ताओं ने यह टिप्पणी की कि ऐसा प्रतीत होता है जैसे सांस्कृतीकरण की प्रक्रिया रुक गयी है क्योंकि सामाजिक प्रतिष्ठा के निर्धारण में कर्मकाण्डीय सोपानिकी (ritual hierarchy) ने अपना औचित्य खो दिया है। वस्तुतः इस प्रकार के कथन वस्तुस्थिति को सामान्यीकृत (sweeping generalization) करने के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है अन्यथा अब भी 'आधुनिक' और 'प्रगतिशील' कहे जाने वाले लोगों का अधिकांश भाग जीवनसाथी के चुनाव में जाति को क्यों महत्त्व देता है? यद्यपि यह सत्य है कि धर्मनिरपेक्ष प्रस्थिति (secular status) के लिए शक्ति और धन ही मुख्य साधन हैं, तब भी इस प्रकार के किसी भी साधन से प्राप्त की गयी प्रस्थिति अपनी वैधता के लिए या तो सवर्ण सामाजिक समूह की स्वीकृति तलाशती है या किसी व्यक्ति को उसके वास्तविक अतीत को नये वर्तमान में दफनाने के लिये प्रेरित करती है। इस प्रकार प्रस्थिति के नये सिद्धान्त भी सामाजिक स्तरीकरण के जातीय सिद्धान्त के साथ सम्पूरक रूप में लागू होते हैं। विरला ही ऐसा अवसर होता है जब उक्त सिद्धान्त स्वायत्त रूप में कार्य करें।

इस चर्चा को किसी निष्कर्ष तक पहुँचाने के पहले हमें हैराल्ड गोल्ड के निष्कर्ष पर पुनः अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। वह कहते हैं कि श्रीनिवास की अवधारणा अन्ततः इस अवधारणा पर ही निर्भर करती है कि सभी प्रस्थिति अधिक्रमों की तरह जाति व्यवस्था भी निम्न जातियों को इस बात के लिए प्रेरित करती है कि वे व्यक्तिगत रूप से उच्च वर्ग के साथ अपनी तुलना कर सकें और प्रत्येक ढंग से यह प्रयास करें कि दोनों की प्रस्थिति (status) में जो भेदकारक आधारभूत तत्त्व हैं वे शान्त हो सकें, परिष्कृत हो सकें, कम हो सकें और यहाँ तक कि पूर्णतया मिट सकें। भारत की जाति व्यवस्था के लिए यह अद्वितीय बात नहीं है, बल्कि जिस ढंग से यह प्रक्रिया भारत में अपने को क्रियान्वित कर रही है वह अद्वितीय है और इस प्रक्रिया के अंतर्गत वह भारत में व्याप्त प्रस्थिति पद्धति को जो प्रगतिशील स्वभाव प्रदान करती है, वह अद्वितीय है। इसी के साथ सांस्कृतीकरण की प्रक्रिया पकड़ में आती है। सांस्कृतीकरण की प्रक्रिया अपनाने से भारतीय समाज में जो बदलाव आ रहे हैं उनका दूरगामी महत्त्व है जो कि भारतीय समाज के विद्यार्थी को समकालीन भारतीय समाज में सामाजिक परिवर्तन के स्वभाव को समझने में बहुत सहायक है।

पाश्चात्यीकरण

सांस्कृतीकरण की तुलना में पाश्चात्यीकरण बड़ी सरल अवधारणा है। इसका सम्बन्ध भारत में सभी प्रकार के सांस्कृतिक परिवर्तनों और संस्थागत नवीनीकरण से है विशेष रूप से जब से यह देश पश्चिम के देशों, विशेष रूप से ब्रिटेन के राजनीतिक और सांस्कृतिक सम्पर्क में आया है। यथार्थतः इस शब्द के अंतर्गत वे सभी परिवर्तन आ जाते हैं जो अंग्रेजों के 150 वर्षों के शासन काल में भारतीय समाज और संस्कृति में विभिन्न स्तरों पर टेक्नोलॉजी, विचारधारा, मूल्यों और संस्थाओं आदि में हुए हैं। श्रीनिवास इस प्रक्रिया को 'आधुनिकीकरण' के बजाय पाश्चात्यीकरण का नाम देना अधिक पसन्द करते हैं। इन दोनों के बीच एक सीमा रेखा भी होनी चाहिए। बड़े पैमाने पर पाश्चात्यीकरण में वैज्ञानिक दृष्टिकोण, अध्यात्म के बजाय भौतिकता पर बल, व्यक्तिवाद, समाज की विभिन्न समस्याओं के प्रति उदार दृष्टिकोण, मानवतावाद, समानता और बुद्धिवाद आदि शामिल हैं। देश में वैज्ञानिक, प्रौद्योगिक और शैक्षिक संस्थानों की स्थापना, राष्ट्रवाद का उदय, नयी राजनीतिक संस्कृति एवं नया नेतृत्व पाश्चात्यीकरण के ही परिणाम हैं। श्रीनिवास का विचार है कि पाश्चात्यीकरण सांस्कृतीकरण की प्रगति में अवरोध नहीं डालता वरन् दोनों साथ-साथ आगे बढ़ सकते हैं। कुछ मामलों में तो पाश्चात्यीकरण से सांस्कृतीकरण की गति तीव्र होती है। उदाहरणार्थ, डाक सुविधा, रेल, समाचार पत्र-पत्रिकाओं आदि से, जो पश्चिमी प्रौद्योगिकी की देन हैं, तीर्थटन, पर्यटन, धार्मिक प्रचार तथा जातीय एवं साम्प्रदायिक सम्मेलनों को बढ़ावा मिला है। इसके अलावा पाश्चात्यीकरण का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम यह भी है कि उसके प्रभाव में बहुत सी उच्च जातियाँ (जो अंग्रेजी शिक्षा के कारण उसके प्रभाव के सामने पूर्णतः अनावृत्त हैं) रहन-सहन की अपनी परम्परागत शैली को त्याग देती हैं।

यह देखा गया है कि प्रायः पाश्चात्यीकृत व्यक्ति 'जाति के संसार' में कम तथा 'वर्ग के संसार' में अधिक रहते हैं। दूसरे शब्दों में, उनमें जातीय चेतना की अपेक्षा वर्ग चेतना अधिक पायी जाती है। उन्हें गैर-परम्परागत व्यवसाय अपनाने में अधिक हिचक नहीं होती, वे अनुष्ठानिक प्रदूषण (ritual pollution) के नियमों की अनदेखी करते पाये गये हैं, वे गोत्र या जातिगत नामों का परित्याग कर सकते हैं, मांसाहारी हो सकते हैं, रसोई या चौके में भोजन करना छोड़ सकते हैं, अक्सर जनेऊ पहनने में उन्हें शर्म आती है, आदि। संक्षेप में कहा जा सकता है कि पाश्चात्यीकृत लोग अपनी परम्परागत जीवन शैली-पद्धति को छोड़ कर पाश्चात्य प्रतिरूपों (western models) को अपनाने की ओर अग्रसर होते दिखायी देते हैं। दूसरे शब्दों में बहुत सी उच्च जातियों का झुकाव पश्चिमी तौर-तरीके अपनाने और परम्परागत नियम-कायदे छोड़ने की तरफ है। दूसरी ओर जाति व्यवस्था में ऊँचा स्तर पाने की इच्छुक निम्न जातियाँ इस 'रिक्त स्थान' की पूर्ति करते हुए सांस्कृतीकरण के वे तत्त्व अपना रही हैं, जो उच्च जातियों के लोग पाश्चात्यीकरण के प्रभाव में छोड़ रहे हैं। यह इस तथ्य की दूसरी मिसाल है कि पाश्चात्यीकरण और सांस्कृतीकरण साथ-साथ चल सकते हैं और चल रहे हैं।

भारतीय समाज के अनेक क्षेत्रों में पाश्चात्यीकरण का प्रभाव स्पष्टतः देखा जा सकता है। उसने जाति प्रथा को प्रभावित किया है, घटती हुई रूढ़िवादिता काफी हद तक पाश्चात्यीकरण के प्रभाव की परिचायक है; पाश्चात्यीकरण ने ही संयुक्त परिवार की संस्था के ह्रास को बढ़ावा दिया है और उसने समाज सुधार के कई आन्दोलनों को प्रेरणा दी है। आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्र में इससे कुटीर उद्योगों का विघटन हुआ, खेती में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए, भूमि सम्बन्धी प्रबंध में नये सुधार हुए, लोकतंत्रीय मूल्यों, मान्यताओं, आदर्शों और जागरूकता को प्रोत्साहन मिला तथा सामाजिक न्याय और देश भर में समान प्रशासन पद्धति की व्यवस्थाएँ (uniform administrative system) संभव हो सकीं। यथार्थतः मानवतावाद और हेतुवादी दृष्टिकोण पर बल देना पाश्चात्यीकरण का अंग है और उसी के कारण से ही भारत में अनेक सामाजिक व संस्थागत सुधार हो सके हैं।

आजादी के बाद पाश्चात्यीकरण की प्रक्रिया तेज हुई है। पहले ऐसा विचार था कि यह प्रक्रिया केवल उच्च जातियों तक ही सीमित है क्योंकि उनके पास इस प्रक्रिया को अपनाने के अधिक साधन हैं, लेकिन वास्तविक परिस्थितियों में देखा गया है कि शहरी क्षेत्रों में निम्न जातियों के सम्पन्न लोग अपनी सामाजिक स्थिति को बेहतर बनाने के लिए सांस्कृतीकरण के बजाय पाश्चात्यीकरण अपनाना अधिक पसन्द करते हैं और उसे प्राथमिकता देते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि निम्न जाति के लोग सांस्कृतीकरण पर अपनी अत्यधिक ऊर्जा खर्च करते हैं जबकि बहुत सी ऊँची जातियों के लोग अपने और निम्न जातियों के बीच की दूरी को बनाए रखने के लिए पाश्चात्योकरण की तरफ अग्रसर हो जाते हैं। इस प्रवृत्ति का मुख्य कारण यह है कि पुरानी सामाजिक व्यवस्था में निम्न जातियों की सांस्कृतीकरण सम्बन्धी क्षमता के कारण उच्च जातियों के लिये सामाजिक दूरी (social distance) बनाये रखना कठिन हो गया है। अपने

इस तर्क का सम्पूरक प्रस्तुत करते हुए आगे हैराल्ड गोल्ड टिप्पणी करते हैं कि यदि कोई व्यक्ति पहले से ही सांस्कृतीकृत है जैसे कि ब्राह्मण और राजपूत, तब वह पारम्परिक स्तरीकृत व्यवस्था में और ऊपर नहीं जा सकता। यदि ऐसा कोई व्यक्ति राजनीतिक या आर्थिक शक्ति के माध्यम से वस्तुस्थिति को उसी रूप में नहीं कायम रख सकता जिस रूप में वह है, तब वह नीचे ही जा सकता है या वह समानता की अवधारणा को स्वीकार करे, जिसका अर्थ होगा व्यवस्था की शून्यात्मकता को स्वीकार करना, या सामान्य रूप से सोपानिकी सम्बन्धों की निषेधात्मकता को स्वीकार करना। किन्तु यह उच्च जातियों के लिए नितान्त असम्भव होगा क्योंकि उनकी अवधारणाओं में जन्मगत श्रेष्ठता या कुलीनता का विचार घर किये हुए है। इसलिए उच्च जातियों के बहुत से लोग पाश्चात्यीकरण अपनाकर जाति व्यवस्था के 'बाहर' चले जाते हैं और यह बात उनके आडम्बर को कायम रखने में तथा स्तरीकरण के दृष्टिकोण से भारतीय समाज में उल्लेखनीय स्थान बनाने में उनकी सहयोगी होती है। ऐसी स्थिति में निम्न जातियों के लोग उच्च जातियों से समानता की मृगतृष्णा के पीछे सदा भागते रहते हैं। किन्तु जब वे अपने लक्ष्य तक पहुँचते हैं तो पाते हैं कि जिस स्थान को वे पाये हैं उसे ब्राह्मण या अन्य उच्च जाति ने स्वयं खाली कर दिया है और वह पाश्चात्यीकरण के उच्चतर शिखर पर प्रतिष्ठित हो गया है, जहाँ से वह नीचे की ओर तिरस्कारयुक्त नज़रों से देख रहा है। शायद यही कारण है कि कस्बों और शहरों में निम्न जातियों के बहुत से उच्चशिक्षा प्राप्त एवं आर्थिक रूप से सम्पन्न लोग सीधे पाश्चात्यीकरण की ओर जा रहे हैं। किन्तु निम्न जाति की अधिकांश जनसंख्या के लिए पाश्चात्यीकरण का मुहावरा व जीवनशैली अत्यधिक जटिल तथा अव्याख्येय है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सांस्कृतीकरण और पाश्चात्यीकरण की प्रक्रिया के बीच एक महत्त्वपूर्ण व गतिशील रोचक खेल चल रहा है।

पाश्चात्यीकरण का मुहावरा भी विवादों और जटिलताओं से मुक्त नहीं है। कुछ विद्वानों ने इसके स्थान पर "desanskritization/ असांस्कृतीकरण" शब्द के प्रयोग का तर्क दिया है। श्रीनिवास भी इसे भारत पर अंग्रेजों के प्रभाव के बराबर मानते हैं। पूरे परिवेश में यदि देखा जाय तो उनकी बात सही नहीं लगती। आजादी के बाद के युग में भारत में बड़े पैमाने पर रूसी और अमेरिकी प्रभाव देखे गये हैं। आधुनिकीकरण और विशेषज्ञता के रूसी और अमेरिकी संस्करण दोनों ही हमारे दूरगामी आर्थिक मामलों में इस्तेमाल किये गये हैं और उन्होंने भारतीय समाज को काफी हद तक प्रभावित भी किया है। पंचवर्षीय योजनाओं का जारी रहने वाला सिलसिला, सार्वजनिक क्षेत्र, अधिकाधिक राष्ट्रीयकरण और हमारे आर्थिक नियोजन का समाजवादीकरण आदि बातें हम पर समाजवाद के प्रभाव की स्पष्ट मिसालें हैं, जो समाजवादी भूतपूर्व सोवियत संघ के साथ भारत की गहरी मित्रता के परिणाम हैं। हाल ही में, विशेष रूप से हमारे ग्रामीण क्षेत्रों में, अपनाए गई स्वास्थ्य रक्षा कार्यवाहियों में हमें चीन का प्रभाव भी देखने को मिला है। कुछ अन्य विद्वान् "पाश्चात्यीकरण" शब्द में उपनिवेशवाद की गन्ध महसूस करते हैं इसलिये वे इसके लिए "आधुनिकीकरण" शब्द के पक्षधर हैं।

इहलौकीकरण (Secularization)

धर्म-निरपेक्षीकरण (इहलौकीकरण) की प्रक्रिया पाश्चात्यीकरण की धारणा से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है। एक तरह से वह पाश्चात्यीकरण का ही एक अंग है, जबकि कुछ लोग उसे पाश्चात्यीकरण का एक परिणाम मानते हैं।

धर्म-निरपेक्षता को भारत में अंग्रेजी साम्राज्य के समय में बढ़ावा मिला। औद्योगिक क्रान्ति और उसके बाद संचार और यातायात के साधनों में वृद्धि, शिक्षा, विशेष रूप से अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार, शहरों और कस्बों का द्रुत गति से और निरन्तर विकास तथा आधुनिक विज्ञान व टेक्नोलाजी के विभिन्न उपकरणों का अधिकाधिक प्रयोग, इन सभी ने लोगों के मानसिक क्षितिज और सोचने के ढंग को प्रभावित किया। पहली बार भारत के, विशेष रूप से शहर और कस्बों में लोगों के सामने नये विचार और विचारधाराएँ आईं। अब दूर-दूर और एकान्त में बसे समूहों और समुदायों में अन्योन्याश्रित क्रिया अर्थात् सम्पर्क द्वारा परस्पर प्रभावित करने के काम में तीव्रता से वृद्धि हुई। हेतुवाद और मानवतावाद के विचारों ने लोगों में सोचने की प्रक्रिया को नये आयाम दिये। इन सभी तत्त्वों ने धर्म-निरपेक्षीकरण की प्रक्रिया को मज़बूत किया। अनेक मिथकों का अन्त हुआ और दूसरे लोगों के बारे में चली आ रही रूढ़ भावनाएँ बदलीं और सच्चाइयों के निकट पहुँचीं। इस पूरे लेख में धर्म शब्द को मज़हब (religion) के अर्थों में इस्तेमाल किया गया है।

भारतीय समाज में धर्म-निरपेक्षीकरण का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रभाव यह देखा गया कि भारतीय जनता ने पहली बार अपनी बहुत सी सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक समस्याओं के समझने और उनका विश्लेषण करने में धर्म (मज़हब) से अलग दृष्टिकोण अपनाया। आज समाज के एक बड़े भाग के लिए, विशेषकर शहरों में, यह सम्भव है कि वह विश्व की अनेक समस्याओं पर स्वतंत्र रूप से, धर्म की सीमाओं से ऊपर उठकर, विचार कर सकें। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात है कि धर्म-निरपेक्षीकरण की प्रक्रिया ने बुद्धिजीवी वर्ग के लोगों को ऐसी अंतर्दृष्टि प्रदान की कि वे नैतिकता और नैतिक मूल्यों के मामलों की धर्म से अलग हटकर विशुद्ध हेतुवादी एवं मानवीय दृष्टि से विवेचना कर सकें। पहले यह एक स्थापित मान्यता थी कि आचारशास्त्र एवं नैतिकता धर्म से ही जुड़े हैं। उन्हें उससे अलग नहीं किया जा सकता क्योंकि प्रचलित विचार यही था कि केवल स्थापित धर्म ही आचारशास्त्र और नैतिकता के मामले में समाज का मार्गदर्शन करते हैं और धर्म (रेलीजन) ही उनका प्रधान स्रोत है।

राष्ट्रवाद के उदय और स्वतन्त्रता के लिए राष्ट्रीय आन्दोलन ने भी धर्म निरपेक्षीकरण को बड़े पैमाने पर प्रोत्साहन प्रदान किया। विविध प्रकार की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि वाले यहाँ तक कि परस्पर विरोधी धार्मिक विचारधारा वाले लोग स्वतंत्रता आन्दोलन के झंडे के नीचे जमकर खड़े हुए। स्वतंत्र भारत के संविधान ने उसे गणतंत्र का आदर्श स्वरूप माना। हमारे संविधान की सारभूत भावना में विभिन्न सामाजिक एवं धार्मिक हितों में सामन्जस्य स्थापित करने वाली अनेक व्यवस्थाओं के पीछे मूलतः धर्म-निरपेक्षीकरण की ही गतिशक्ति है। हालांकि धार्मिक कट्टरता और पुनर्जागरण की शक्तियाँ भी सक्रिय रही हैं तो धर्म-निरपेक्षीकरण की प्रक्रिया की जड़ें निरंतर गहराई प्राप्त करती रही हैं। इसका इससे बढ़कर ज्वलंत प्रमाण और क्या हो सकता है कि देश के विभाजन

और सीमा पर ही एक धार्मिक राष्ट्र की स्थापना के बावजूद हमारा धर्म-निरपेक्ष संविधान निरंतर प्रभावपूर्ण ढंग से काम कर रहा है।

सांस्कृतीकरण की तुलना में भी धर्म-निरपेक्षीकरण की प्रक्रिया एक व्यापक प्रक्रिया है। जहाँ सांस्कृतीकरण प्रधानतः केवल हिन्दुओं से सम्बन्धित है, धर्म-निरपेक्षीकरण के क्षेत्र में समाज का प्रत्येक वर्ग और अंग शामिल है। धर्म-निरपेक्षीकरण शहरी और पढ़े-लिखे लोगों को अधिक आकर्षित करतां है, जबकि सांस्कृतीकरण का आकर्षण नीची जातियों तक ही सीमित है। धर्म-निरपेक्षीकरण आधुनिक युग का उपहार है, पाश्चात्यीकरण का उप-उत्पादन है; सांस्कृतीकरण परम्परा और रूढ़िवादिता से जुड़ा हुआ है।

आधुनिकीकरण (Modernisation)

द्वितीय महायुद्ध के बाद, विशेष रूप से 1950 और 60 के दशकों में, आधुनिकीकरण एक महत्त्वपूर्ण व रोचक विषय रहा है। आर्थिक सम्वृद्धि और सामाजिक परिवर्तन की अन्तर्सक्रिय प्रक्रिया पर प्रकाश डालने वाले रूप में यह 'विकास के समाजशास्त्र' की केन्द्रीय अवधारणा के रूप में मान्य रहा है। आधुनिकीकरण के अंतर्गत मुख्यतया परम्परागत सामाजिक संरचना और मूल्यों पर आर्थिक विकास के प्रभावों का अध्ययन किया जाता है। आधुनिकीकरण की प्रक्रिया औद्योगिकीकरण, शहरीकरण, उच्चस्तरीय जीवन पद्धति, सभ्यता का विकास और चिन्तन क्षेत्र की विशदता से सम्बद्ध है। आधुनिकीकरण की परिभाषा करते हुए आइज़ेनस्टेड (1966) कहते हैं कि "ऐतिहासिक दृष्टिकोण से आधुनिकीकरण उन सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक पद्धतियों की ओर परिवर्तन की प्रक्रिया है जो सत्रहवीं सदी से उन्नीसवीं सदी के बीच पश्चिमी यूरोप और उत्तरी अमेरिका में विकसित हुई थी और बाद में उन्नीसवीं व बीसवीं सदी में दक्षिणी अमेरिका, एशिया और अफ्रीका में फैली। समकालीन सन्दर्भों में आधुनिकीकरण द्वितीय महायुद्ध के तुरन्त बाद के दशक में तीसरी दुनिया के देशों द्वारा सामना की जा रही बहुत-सी चुनौतियों के प्रति पाश्चात्य सामाजिक विज्ञान की प्रतिक्रिया है। इसलिये बहुत से विद्वानों ने आधुनिकीकरण को पाश्चात्यीकरण के शिशु के रूप में परिभाषित किया। आधुनिकीकरण के नैतिक-नीतिशास्त्रीय (ethical) पक्ष पर अपने प्रखर युक्तिसंगत विश्लेषण में एस0 सी0 दुबे (1988) कहते हैं कि इस अवधारणा का एक आकर्षक पक्ष यह था कि इसने तीसरी दुनिया की आम जनता व अभिजात्य वर्ग दोनों की सांस्कृतिक संवेदनाओं के प्रति स्पष्ट एवं गहन सम्बद्धता को दिखाया। आधुनिकीकरण अपने पूर्वनिर्दिष्ट पाश्चात्यीकरण की तुलना में बहुत कम मूल्यपरक (value loaded) था। तीसरी दुनिया के बहुत से देशों को अपनी सांस्कृतिक विरासत व परम्परा पर बड़ा गर्व था। साथ ही साथ गहन लगाव भी था। बहुत से पाश्चात्य-मानकों के प्रति रुचि दिखाने के बावजूद इन लोगों को अपनी जीवन पद्धति एवं मूल्यों को छोड़ने में कोई विशेष दिलचस्पी नहीं थी। आधुनिकीकरण की अवधारणा को जड़ों की शक्ति या परम्परागत व्यवस्था की शक्ति (strength of roots) का सम्यक् ज्ञान था। इसने उन लोगों की सांस्कृतिक पहचान के सामने कोई प्रत्यक्ष संकट नहीं पैदा किया जो शीघ्र परिवर्तन के इच्छुक थे। तीसरी दुनिया के अभिजात्य लोगों

के लिए पाश्चात्यीकरण के आदर्श निगलने में बड़ी कठिनाई थी। इसलिए वे आधुनिकीकरण को अपनाने के लिए सहर्ष तैयार हो गये क्योंकि इसने उन लोगों की सांस्कृतिक महत्ता (cultural dignity) को आहत नहीं किया। लर्नर (1958) के अनुसार तीन लक्षण आधुनिकीकृत व्यक्तित्व (modernized personality) की पहचान निश्चित करते हैं: तटस्थता (empathy), गतिशीलता और उच्चस्तरीय सहभागिता। तटस्थता वह क्षमता है जो व्यक्ति को उसी दृष्टिकोण से वस्तुस्थिति को देखने के लिए प्रेरित करती है, जिस दृष्टिकोण से दूसरे लोग देखते हैं। यद्यपि सभी समाज कुछ मात्रा में यह क्षमता रखते हैं किन्तु इस क्षमता को और तीक्ष्ण एवं शक्तिशाली बनाया जाता है जिससे यह मनुष्य के अन्तर्व्यवहारों में गुणात्मक परिवर्तन ला सके। आधुनिकीकृत समाजों में ऐसे ही परिवर्तन की अपेक्षा की जाती है। दूसरा, "गतिशीलता" का संदर्भ केवल भौगोलिक गतिशीलता का बोध नहीं कराता, बल्कि इसका विशद् अर्थ सन्दर्भ में प्रयोग किया जाता है। परिवर्तन के निर्देशक तथ्यों की मांग होती है समझने व परिकल्पना करने की क्षमता उत्पन्न करना, विभिन्न अवसरों के अनुरूप नई प्रस्थितियों (statuses) व प्रतिष्ठा से अनुगत होना तथा सहगामी भूमिकायें निभाना। परम्परागत समाजों में सामाजिक प्रस्थिति व भूमिकाओं को अत्यंत संकुचित कर दिया गया था तथा प्रदत्त प्रस्थिति (ascribed status) महत्त्वपूर्ण थी किन्तु इसके विपरीत आधुनिकीकृत समाज में सामाजिक प्रस्थिति का खुला दृष्टिकोण होता है। तीसरा, उच्चस्तरीय सहभागिता का संदर्भ सामाजिक लक्ष्यों एवं संसाधनों को अत्यधिक सक्रिय ढंग से अनुभव करने के लिए व्यक्तियों की निजी स्तर पर बढ़ी हुयी भूमिकाओं की ओर संकेत करता है। उच्च स्तरीय सहभागिता के लिए व्यक्ति में नये उद्देश्यों या बदले हुए संसाधनों को देखने, समझने तथा उनके अनुरूप अपनी भूमिका निर्धारित करने की क्षमता विद्यमान होना चाहिए। परम्परागत समाजों में सामाजिक उद्देश्यों का विषय प्रश्न उठाने के लिए समाज के समक्ष खुला नहीं होता। आधुनिकीकरण का सम्बन्ध निश्चित ही युक्तिसंगत दृष्टिकोण से है।

आधुनिकीकरण का एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि आधुनिकीकृत समाज संस्थागत ढाँचों के माध्यम से कार्य करते हैं क्योंकि संस्थायें आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में आने वाले परिवर्तनों को हमेशा आत्मसात् करते हुए चलती हैं। हम बहुत संक्षेप में देखें कि कैसे समकालीन भारतीय समाज आर्थिक विकास और सामाजिक परिवर्तन के लिए आधुनिकीकरण को अपनाने के मार्ग पर अग्रसर हो रहा है। कृषि और औद्योगिक क्षेत्र में राष्ट्र की उपलब्धि इतनी खराब नहीं है जितना कि कुछ आलोचक बताते हैं। तीसरी दुनिया के बहुत से देशों की तुलना में हमारे देश की उपलब्धि इन क्षेत्रों में बेहतर है। किन्तु विकास विकृत पक्षीय (lopsided) और क्षेत्रीय असन्तुलन से परिपूर्ण है। आर्थिक सम्वृद्धि के विवरण पक्ष और आधुनिकीकरण के लाभों के सम्यक् प्रसरण के सम्बन्ध में बहुत कम ध्यान दिया गया है। सम्भ्रान्तवाद (elitism) का विकास भयावह रूप से हो रहा है, इस पर रोक लगाई जानी चाहिए। वर्तमान में हो रहे नैतिक क्षरण की स्थिति में भ्रष्टाचार व भाई-भतीजावाद में भयावह वृद्धि हो रही है। इस प्रवृत्ति को रोकने के लिए सभी सम्भावित राजनीतिक एवं प्रशासनिक कदम उठाये जाने चाहिए, समाज के ससंर्गज

बन्धन (cohesive bonds) को मजबूत बनाया जाना चाहिए। आधुनिक समाज विवेकयुक्त एवं वैज्ञानिक समाज है। हमारे पड़ोस के देशों में रूढ़िवादी शक्तियाँ सक्रिय हैं और अभी हाल में हमारे देश पर इन शक्तियों के दबाव का प्रभाव भी पड़ा है। बाबरी मजिस्द-राम जन्मभूमि के विवाद के संदर्भ में धार्मिक पुनर्जागरण, अन्धविश्वासवाद और रूढ़िवाद की लहर उठना खतरनाक है। 6 दिसम्बर 1992 की घटना भयावह है, यह हिन्दू और मुसलमान के संयुक्त सामाजिक दामन को फाड़कर तारतार करने की धमकी है। राष्ट्र की रक्षा के लिए अल्पसंख्यकों को भी अन्धविश्वासवाद और रूढ़िवाद से चिपके रहने की प्रवृत्ति को छोड़ कर प्रगतिशील एवं धर्म-निरपेक्ष लोकतांत्रिक शक्तियों को मजबूत करना चाहिए।

राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया में सभी अल्पसंख्यकों की भागीदारी की संवृद्धि सुनिश्चित होनी चाहिए। हमारे युक्तिसंगत (rational) एवं वैज्ञानिक मनोवृत्ति (scientific temper) को अयोध्या विवाद के दौरान काफी क्षति पहुँचाई जा चुकी है। हमारे पास इसके अतिरिक्त और कोई चारा नहीं है कि हम उपलब्ध सभी संस्थागत कार्यप्रणालियों के माध्यम से विवेकवाद और वैज्ञानिक मनोवृत्ति को मजबूत बनायें। इन उद्देश्यों को प्राप्त करने में हमारी असफलता आधुनिकीकरण के लिए भयानक क्षति सिद्ध होगी।

जैसा कि एस0 सी0 दूबे ने ठीक कहा है कि "आधुनिकीकरण का कोई आदर्श नमूना नहीं है और न उसे प्राप्त करने का कोई निश्चित रास्ता ही है। विकासशील समाज अपनी रुचि के अनुरूप कोई नमूना (model) चुन सकते हैं और इसकी अनुभूमि तथा क्रियान्वयन के लिए रास्ता स्वयं निर्धारित कर सकते हैं।" हमने वांछित आधुनिकीकृत भारतीय समाज के लिए लोकतंत्र और धर्म-निरपेक्षता को चुना है। भारत के सांस्कृतिक और तकनीकी आधुनिकीकरण के लिए आधुनिक विज्ञान और प्रौद्योगिकी दूरगामी रूप से सहायक सिद्ध होंगे।

लोकतंत्रीकरण (Democratization)

लोकतंत्र एवं लोकतंत्रीकरण भारत में सामाजिक परिवर्तन एवं आधुनिकीकरण के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पक्ष रहे हैं। भारत दिन-प्रतिदिन लोकतांत्रिकता की दृष्टि से विकास कर रहा है। वयस्क एवं सार्वभौमिक मताधिकार का अधिग्रहण लोकतांत्रिकता की दिशा में एक क्रान्तिकारी कदम सिद्ध हुआ है। वयस्क मताधिकार ने राजनैतिक दलों एवं उम्मीदवारों के लिए यह अनिवार्य कर दिया कि वे भारत के छः लाख गाँवों एवं शहरी झोपड़-पट्टियों में रहने वाले करोड़ों अशिक्षित मतदाताओं तक पहुँचने का प्रयास करें। "यह असम्भव सा दिखने वाला काम कई नवीन उपायों द्वारा पूर्ण किया गया इसके लिए जाति, नातेदारी, नृजातीयता एवं आश्रयदाता-आश्रित के सम्बन्धों आदि द्वारा प्रदत्त पारम्परिक नेटवर्क ने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। इस प्रक्रिया द्वारा समाज के पिछड़े एवं अलग-थलग पड़े वर्ग भी राजनैतिक रूप से संगठित हो गए" (एम. एन. श्रीनिवास, 1992)। अस्पृश्यता का जीवन के समस्त क्षेत्रों से उन्मूलन एवं इसे दण्डनीय अपराध घोषित कर दिया जाना असमानता के विरुद्ध एक महत्त्वपूर्ण कदम सिद्ध हुआ। यद्यपि अस्पृश्यता के 'वैधानिक उन्मूलन' एवं इसकी 'वास्तविक समाप्ति' में अन्तर समझ लेना भी यहाँ आवश्यक है।

यद्यपि वयस्क मताधिकार ही केवल एकमात्र ऐसी संस्था नहीं थी जिसने लोकतंत्र को सामान्य जनता के बीच सार्थक बनाया। सभी विधानमण्डलों में निश्चित अनुपात में सीटों का आरक्षण तथा सरकारी नौकरियों में अनुसूचित जातियों, जनजातियों एवं अन्य पिछड़े वर्गों को प्राप्त आरक्षण ने यह सिद्ध कर दिया कि पारम्परिक रूप से सुविधावंचित एवं शोषित वर्ग स्वतन्त्र भारत में अपनी स्थिति में सुधार कर लेंगे। प्रत्येक चुनाव में ज्यादा से ज्यादा गरीब एवं सुविधावंचित लोग राजनैतिक रूप से लामबंद होते गए। जिन लोगों पर पहले उच्च जाति के लोग हुक्म चलाया करते थे, अब उन्हीं के पीछे-पीछे लोग उनके मतों के लिए घूमने लगे। इस तथ्य ने उनमें 'महत्त्वपूर्ण' होने का भाव पैदा कर दिया, यद्यपि आज भी अनेक ग्रामीण क्षेत्रों में पारम्परिक जजमानी व्यवस्था (आश्रयदाता एवं आश्रित का सम्बन्ध) ही मतव्यवस्था में प्रभावशील भूमिका निभा रही है। लेकिन साथ ही साथ जजमानी व्यवस्था के घटते प्रभाव से 'सेवक' जातियों को अधिक से अधिक राजनैतिक स्वायत्तता प्राप्त हो रही है। लेकिन चुनावी प्रक्रिया ने जाति सचेतनता को सबल भी किया है।

इसी के साथ एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि चाहे पिछले पचास वर्षों में प्रजातंत्र की प्रक्रिया ने कितनी भी सफलता क्यों न अर्जित कर ली हो, वास्तविकता यह है कि भारत जैसे पारम्परिक समाज में मुख्यतः व्यक्ति को ही महत्त्व दिया जाता है तथा ऐसा बहुत कम ही होता है कि संस्था को अधिक महत्त्व दिया जाय। 'पारम्परिकता एवं आधुनिकता' के मध्य रहते भारत पर टिप्पणी करते हुए दीपांकर गुप्ता (2001) कहते हैं- "पारम्परिक समाज परस्पर विरोधी सिद्धान्तों के आधार पर क्रियाशील रहते हैं। व्यक्तिगत विश्वास, व्यक्तिगत विश्वसनीयता एवं आश्रयदाता एवं आश्रित का सम्बन्ध सभी पारम्परिक सम्बन्धों के अन्तर्गत आते हैं। मध्यकालीन भारत में लोग साहूकार (बैंकर) पर विश्वास करते थे, न कि साहूकारी (बैंकिंग) की व्यवस्था पर। जब हम वैयक्तिक स्तर पर विश्वास के परे जाकर अवैयक्तिक संस्थाओं पर विश्वास करने लगते हैं तभी हम यह कह सकते हैं कि परम्परा का अंतिम दुर्ग भी जीत लिया गया। विश्वास को सामाजिक विश्वास बनाने के लिए अनिवार्य है कि अन्तर-व्यक्तिनिष्ठा एक सामान्य सिद्धान्त के रूप में उभर कर सामने आए।" यह सिद्धान्त लोकतांत्रिक संस्थाओं पर भी लागू किया जा सकता है, जिसके संवर्धन में लोकतंत्रीकरण की प्रक्रिया महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

नवीन भारतीय सम्भ्रान्त वर्ग एवं मध्यम वर्ग का उदय (New Indian Elite and Emergence of Middle Class)

भारतीय समाज के समाजशास्त्रीय अध्ययन में सम्भ्रान्त (अभिजात्य) वर्ग एवं मध्यम वर्ग की भूमिका का अध्ययनक्षेत्र अत्यधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है। सम्भ्रान्त को परिभाषित करते हुए कहा जा सकता है कि उच्च अथवा सम्भ्रान्त वर्ग किसी समाज-व्यवस्था में ऐसे लोगों का समूह अथवा वर्ग है जिन्हें अनेक सुविधाएँ प्राप्त होती हैं तथा समाज में जिन्हें प्रभुत्व का स्तर प्राप्त होता है। सम्भ्रान्त वर्ग का अस्तित्व भिन्न-भिन्न सामाजिक सन्दर्भों एवं विश्लेषण के विभिन्न स्तरों पर पाया जाता है: हम सत्ता पर अधिकार प्राप्त वर्ग को समग्र रूप से सम्भ्रान्त वर्ग का दर्जा दे सकते

हैं, वहीं हम अत्यधिक शक्तिशाली समूहों को भी सम्भ्रान्त वर्ग के रूप में मान सकते हैं।

राजनैतिक दर्शन एवं समाजशास्त्र के अन्तर्गत सम्भ्रान्त वर्ग की अवधारणा को केन्द्रीय मानते हुए राजनैतिक एवं सामाजिक संगठन के सिद्धान्त निर्मित करने के अनेक प्रयास किए गए हैं। किसी समाज के सामाजिक एवं राजनैतिक क्षेत्र (space) में सम्भ्रान्त वर्ग क्रियाशील होता है। सम्भ्रान्त वर्ग पर किए जाने वाले किसी भी अध्ययन में इस सन्दर्भ में शोध किया जाता है कि इस वर्ग में नये सदस्यों की भर्ती कैसे होती है, समान उद्देश्यों हेतु सम्भ्रान्त वर्ग किस हद तक एकता के सूत्र में बँध सकता है तथा भिन्न-भिन्न सम्भ्रान्त लोग किस प्रकार अपने प्रयासों को एकरूप देकर समान हितों का संवर्धन कर सकते हैं। प्रतिनिधि लोकतंत्रों (representative democracies) की राजनैतिक व्यवस्थाओं में अनेक प्रकार के सम्भ्रान्त वर्गों में शक्ति का बंटवारा कर दिया जाता है, जो विशेष मुद्दों के सन्दर्भ में एक दूसरे से प्रतिस्पर्धा भी करते हैं, यद्यपि मौलिक मुद्दों के संदर्भ में, जैसे- यह प्रश्न कि असम्भ्रान्त वर्गों को प्रतिस्पर्धा में प्रवेश करने दिया जाय अथवा नहीं आदि, वे एकजुट हो जाते हैं। समाजशास्त्री सी.राईट मिल्स कहते हैं कि सैनिक, आर्थिक एवं राजनैतिक संस्थाओं के शिखर पर शक्तिशाली सम्भ्रान्त वर्ग का प्रभुत्व होता है जो शक्ति के एक पद से दूसरे पद पर स्वतंत्रतापूर्वक चले जाते हैं तथा अन्य सामान्य संस्थाओं एवं पाश्विक विशेषताओं यथा-शिक्षा, पारिवारिक संपर्क आदि का उपभोग करते हैं।

'मध्यम वर्ग' का अध्ययन करने पर हम पाते हैं कि यह सिद्धांत रूप में अर्थव्यवस्था, समाज एवं राजनीति के संगम पर पाया जाता है। किन्तु मार्क्सवाद के अनुसार 'वर्ग' एक अवधारणात्मक सिद्धान्त है जिसके द्वारा समाज को विशिष्ट समूहों में बांटा जा सकता है। उनकी द्विवर्गीय व्यवस्था- बुर्जुआ अथवा पूँजीवादी वर्ग एवं सर्वहारा श्रमिक वर्ग आर्थिक एवं सामाजिक सिद्धान्त में आदर्श स्थापित करने का एक महत्त्वपूर्ण साधन हो सकता है। किन्तु 'मध्यस्थ' अथवा मध्यम वर्ग सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अध्रुवीकृत (non-polar) वर्ग रहा है। अतः मार्क्सवादी विचारधारा के अनुसार मध्यमवर्ग की मध्यमता का अर्थ मुख्यतः दोनों वर्गों की मार्क्सवादी द्विध्रुवीय योजना के संदर्भ में लिया जाता है। एन्टोनियो ग्राम्सी ने मध्यम वर्ग एवं आधुनिक पूँजीवादी समाज में उसकी भूमिका के संदर्भ में रचनात्मक मार्क्सवादी विश्लेषण प्रस्तुत किया है। मध्यम वर्ग पर डी.पी. मुखर्जी, (1948) तथा उसके बाद बी. बी. मिश्र (1961) व पवन वर्मा के अग्रणी अध्ययनों को भारत में मध्यम वर्ग पर किए गए अध्ययनों में सर्वोत्कृष्ट माना जा सकता है। किन्तु सत्य यह है कि भारत में दिन-प्रतिदिन प्रयोग किये जाने वाले शब्द 'मध्यम वर्ग' का अर्थ प्रतीकात्मक अधिक है तथा वास्तविक स्तर पर कम।

जब हम भारत में सम्भ्रान्त वर्ग के निर्माण की प्रक्रिया एवं उनके क्रमिक विकास पर दृष्टि डालते हैं, तो नवीन मध्यम वर्ग (New Middle Class) हमारे समक्ष उभर कर सामने आता है। किसी समाज की सम्भ्रान्त संरचना (Elite Structure) केवल उसके आधारभूत मूल्यों को ही प्रस्तुत नहीं करती बल्कि यह भी स्पष्ट करती है कि ये मूल्य किसी समाज की शक्ति-संरचना एवं निर्णय करने की प्रक्रिया में किस सीमा तक ठोस भूमिका निभाते हैं। "सम्भ्रान्त वर्ग जीवन के विभिन्न

क्षेत्रों में अपनी भूमिका द्वारा, जो या तो उन्हें प्रदत्त प्रदान की जाती है, जैसे कि एक पारम्परिक समाज में, अथवा अपने उत्कृष्ट कार्यों द्वारा उसे प्राप्त करते हैं, जो कि सापेक्ष रूप से आधुनिक समाज का एक सिद्धान्त है, अपने विशिष्ट मूल्यों के स्तर का प्रतिनिधित्व करते हैं। जिस प्रकार से मूल्यात्मक परिणाम (valued outcomes) एवं संस्थाएँ अनेक प्रकार की हो सकती हैं, उसी प्रकार सम्भ्रान्त वर्ग भी भिन्न-भिन्न प्रकार के हो सकते हैं" (योगेन्द्र सिंह, 1996)। पारम्परिक भारत में सम्भ्रान्त वर्ग का सामाजिक ढाँचा परम्परा के केन्द्रीय मूल्यों - पदानुक्रम (hierarchy), समग्रतावाद (holism) एवं निरंतरता के सिद्धान्तों पर आधारित था। इस प्रकार की परम्परा में राजा एवं पुजारी की भूमिका सबसे महत्त्वपूर्ण थी। ये दोनों ही भूमिकाएँ जाति-व्यवस्था से जन्मी थीं जिसने सम्भ्रान्त वर्ग के ढाँचे को सांस्कृतिक एवं नैतिक संदर्भ प्रदान किया। ये दोनों ही भूमिकाएँ ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों द्वारा अंगीकार की गईं।

'मुस्लिम शासन' के प्रादुर्भाव के साथ ही "सम्भ्रान्त वर्गीय ढाँचे का सामन्ती रूप और भी मज़बूत हो गया।" अपने हिन्दू सहभागियों के साथ-साथ मुस्लिम सामन्त शक्ति-प्रदर्शन करते रहे तथा **काजी** एवं **मुफ्ती** के धार्मिक क्षेत्र का अस्तित्व हिन्दू धार्मिक क्षेत्र के साथ-साथ विद्यमान रहा। अतः मुस्लिम शासन ने सम्पूर्ण व्यवस्था परिवर्तित करने के बजाय मात्र सम्भ्रान्त वर्गीय व्यक्तियों अथवा विभागों को ही स्थानान्तरित किया। यह मात्र एक ही व्यवस्था के अन्तर्गत सम्भ्रान्त लोगों के एक वर्ग द्वारा दूसरे सम्भ्रान्त वर्ग का स्थान ले लेना है न कि सम्भ्रान्त वर्ग की संरचना अथवा प्राकार्यों में किसी प्रकार का अन्तर।

अंग्रेजी शासन के प्रादुर्भाव के साथ ही एक नवीन प्रकार का सम्भ्रान्त वर्ग उभर कर सामने आया। शिक्षा के धर्मनिरपेक्षीकरण (secularization) की आवश्यकता महसूस की गई। साथ में शिक्षा की एक नवीन व्यवस्था आरम्भ की गई जिसने भारतीय समाज के सभी वर्गों, चाहे वे किसी भी जाति, धर्म अथवा लिंग के क्यों न हों, को शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार दिया। "इस नवीन शिक्षा व्यवस्था की विषय-सामग्री एवं संगठन प्रक्रिया उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भिक वर्षों की पुरानी एवं पारम्परिक शिक्षा व्यवस्था से भिन्न थी। अन्य कारकों के साथ-साथ इस नवीन शिक्षा-व्यवस्था ने भी एक नवीन बुद्धिजीवी वर्ग (intellectual class) को जन्म दिया। ज्ञान के संदर्भ में यह नवीन बुद्धिजीवी वर्ग प्राचीन बौद्धिक वर्ग से भिन्न था" (आई. पी. देसाई, 1965)। इस नवीन ज्ञान के दो पक्ष थे- औपचारिक (formal) एवं वास्तविक (substantive)। आई. पी. देसाई का कहना है कि संसार को देखने का नजरिया अथवा वैज्ञानिक प्रवृत्ति ही औपचारिक पक्ष है। वास्तविक पक्ष के अन्तर्गत प्रौद्योगिकी, अर्थव्यवस्था, शासन व्यवस्था एवं समाज के संगठन से सम्बन्धित मान्यताएँ, मूल्य, दृष्टिकोण एवं विचार समाहित होते हैं। नवीन सम्भ्रान्त वर्ग ने, जो गाँवों से सम्बन्धित न होकर शहरी पृष्ठभूमि से सम्बन्धित है, पत्रकारिता, वकालत, अध्यापन, समाज-सेवा आदि कार्यों को व्यवसाय रूप में अपनाया। इस नवीन सम्भ्रान्त वर्ग ने, भारत में एक नवीन मध्यम वर्ग की रचना की एवं प्रशासन, न्यायपालिका एवं अध्यापन-व्यवसाय के विस्तार के फलस्वरूप विकसित अवस्था में आ गया। पश्चिमीकृत मध्यम वर्ग के विकास के साथ-साथ भारत

में सम्भ्रान्त राजनेताओं के वर्ग का भी उदय हुआ। इसका जन्म उच्च जातियों के बीच उच्च शिक्षा के विस्तार के फलस्वरूप हुआ।

योगेन्द्र सिंह कहते हैं कि आरम्भिक बीसवीं शताब्दी का सम्भ्रान्त वर्ग एक सम्मिश्र समूह (composite group) के रूप में था। नवीन सम्भ्रान्त वर्ग ने अर्थव्यवस्था के आधुनिकीकरण, सामाजिक सुधार, समानतावाद की नीति, सामाजिक न्याय, सार्वभौमिक नागरिक अधिकार, जाति-निर्बलता के उन्मूलन तथा स्त्रियों एवं पिछड़ी वर्गों के कल्याण एवं समान अधिकारों की माँग उठाई। इस आह्वान ने एक ऐसी मूल्य व्यवस्था का निर्माण किया जो तार्किक रूप से पदानुक्रम, समग्रतावाद एवं निरन्तरतावाद को अपने में समाहित करने वाले भारतीय मूल्यों से बहुत अधिक भिन्न थी। यह मूल्य व्यवस्था आधुनिक पश्चिमीकृत विश्वदृष्टि के बहुत समीप थी। किन्तु तब भी ऐसा देखने में आया कि ये सम्भ्रान्त वर्ग भारतीय परम्परा की ओर भी आकर्षित था तथा इसके अनिवार्य तत्त्वों का संरक्षण करना चाहता था। संरचनात्मक रूप से यह नवीन सम्भ्रान्त वर्ग मुख्यतः मध्यम वर्गीय था, इसने भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यवसाय अपनाए थे तथा मुख्यतः नगरीय पृष्ठभूमि से सम्बन्धित था।

स्वतंत्रता के बाद भारत में एक नवीन सम्भ्रान्त वर्गीय ढाँचा उदित हुआ। सम्भ्रान्त वर्गीय ढाँचे में परिवर्तन के मुख्य बिन्दुओं की ओर संकेत करते हुए सिंह एक सुनियोजित कार्य-योजना प्रस्तुत करते हैं-

1. ग्रामीण क्षेत्रों के राजनैतिक शक्ति सम्पन्न सम्भ्रान्त वर्ग का बढ़ता प्रभाव तथा भिन्न-भिन्न व्यवसायों से सम्बन्धित सम्भ्रान्तों के प्रभाव में होने वाली कमी
2. सम्भ्रान्त वर्गीय ढाँचे में आने वाला विशाल अन्तर तथा मध्यम वर्गीय लोगों की संख्या में दिन-प्रतिदिन होती वृद्धि
3. राजनैतिक-सांस्कृतिक विचारधाराओं से सम्बन्धित क्षेत्रीय तथा हितसमूह उन्मुख (regional and interest group oriented) उद्देश्यों पर अत्यधिक बल दिया जाना एवं
4. सम्भ्रान्त वर्ग पर केवल उच्च जातियों के एकाधिकार की समाप्ति एवं उसका लोकतंत्रीकरण।

निर्णय करने की प्रक्रिया के उच्चतम स्तरों पर निर्णायकों के सामाजिक गठन (social composition) में भी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। पिछड़े वर्गों, विशेष रूप से अनुसूचित जातियों एवं अन्य पिछड़े वर्गों, ने नौकरशाही एवं राजनीति के नेतृत्व में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभानी प्रारम्भ कर दी। सतीश देशपाण्डे (2003) का कहना है कि स्वतंत्रता के पश्चात् उदित होने वाला मध्यम वर्ग मुख्यतः विकास शासन (development regime) का उत्पाद था। वैश्वीकरण की प्रक्रिया से लाभ उठाने वाला भी यही है।

मध्यम वर्ग, अर्थात् नवीन सम्भ्रान्त वर्ग, आज किसी भी तरह समरूपीय (homogenous) नहीं माना जा सकता। इसके अन्तर्गत विभिन्न जातियों, धार्मिक समुदायों एवं व्यवसायों के लोग आते हैं। इसका विस्तार नगरों से लेकर ग्रामीण क्षेत्रों तक है। यह उपभोक्तावाद के मकड़जाल

में फँसा हुआ है। दिन-प्रतिदिन इसकी 'आवश्यकताएँ' बढ़ती जा रही हैं तथा बाजार की शक्तियाँ इसका फायदा उठा रही हैं। यह वर्ग जल्दी से जल्दी अत्यधिक समृद्ध बनकर 'उच्च वर्गों' की कोटि में प्रवेश करना चाहता है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए वह कभी-कभी आसान लेकिन गलत तरीकों को भी अपनाने से नहीं चूकता। अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए यह इतना उतावला होता है कि इसके लिए वह अपराध व भ्रष्टाचार का सहारा लेने से भी नहीं हिचकिचाता। इस गतिशीलता के लिए नवीन आर्थिक नीति, वैश्वीकरण, एवं नवीन सूचना-प्रौद्योगिकी ने नए रास्ते खोल दिए हैं। उद्देश्य प्राप्ति के लिए यह वर्ग किसी भी प्रकार के समझौते करने से नहीं हिचकता। तीन-चार दशकों पूर्व तक भारतीय मध्यम वर्ग अपने कर्तव्यों के प्रति ईमानदार था तथा अपने सीमित साधन-युक्त जीवन में प्रसन्न रहने का प्रयास करते हुए सामाजिक परिवर्तन की धुरी के रूप में जाना जाता था। किन्तु आज ऐसी स्थिति नहीं है। आज का यथास्थितिवादी विरोधाभासी चरित्र रखने वाला, पश्चिमी रंग में रंगा मध्यम वर्ग अब सामाजिक परिवर्तन का वाहक नहीं माना जाता। यहाँ तक कि इसकी 'आधुनिकता' एवं 'पश्चिमीकरण' भी एक छलावा सा लगता है। आज का अवसरवादी, आत्म-केन्द्रित, भ्रष्ट एवं उपभोक्तावादी मध्यम वर्ग सन् 1950 एवं 1960 के दशकों के मध्यमवर्ग से बिल्कुल भिन्न है। न जाने इसके नैतिक मूल्य कहाँ गायब हो गए हैं। जाति एवं धर्म को घसीटकर राजनीति में लाने वाले राजनेता एवं राजनीतिक दल भी लोगों का ध्यान राष्ट्रनिर्माण के मुख्य मुद्दे से भटकाने के जिम्मेदार हैं। मध्यमवर्ग को 'अश्लील चरित्रहीन' बनाने के जिम्मेदार भी वही हैं। सम्भवतः यही कारण है कि भारतीय जनसंख्या का सबसे अधिक साम्प्रदायिक वर्ग नगरीय पृष्ठभूमि का शिक्षित मध्यम वर्ग ही है।

सामाजिक परिवर्तन के कर्ता (Agents of Social Change)

सामाजिक परिवर्तन एवं आधुनिकीकरण की प्रक्रिया शून्य में नहीं घटती। सामाजिक परिवर्तन के अनेक कर्ता हो सकते हैं। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण कारक शिक्षा, जन संचार माध्यम एवं जनसंचार माने जा सकते हैं। अंग्रेजी शासन के दौरान भारत ने सांस्कृतिक एवं प्रौद्योगिक आधुनिकीकरण के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण सफलता अर्जित कर ली थी। प्रौद्योगिक आधुनिकीकरण के सन्दर्भ में अनेक प्रौद्योगिक आविष्कारों यथा- यातायात एवं संचार के नवीन साधन, सड़क परिवहन, रेलवे, जल परिवहन एवं नवीन छपाई की तकनीकि, आदि ने न केवल स्थानिक गतिशीलता में सहयोग दिया वरन् लोगों के वैश्विक दृष्टिकोण को भी विस्तृत किया। सांस्कृतिक आधुनिकीकरण के सन्दर्भ में पश्चिमीकृत सम्भ्रान्त लोग एक नवीन सामाजिक व्यवस्था के सन्देशवाहक बने। उन्होंने हिन्दुवाद की पुनर्व्याख्या की, जाति व्यवस्था एवं अन्य पारम्परिक संस्थाओं को नवीन दृष्टि से विश्लेषित किया तथा समानतावाद, लैंगिक न्याय एवं मानवतावाद को नवीन भारत की स्थापना का आधार स्तम्भ माना।

सामाजिक परिवर्तन के कारकों में शिक्षा को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कारक माना गया है। अंग्रेजों द्वारा लागू की जाने वाली शिक्षा व्यवस्था प्राचीन व पारम्परिक शिक्षा व्यवस्था से मात्रा

एवं गुणात्मकता दोनों ही सन्दर्भ में भिन्न थी। इसकी विषय सामग्री उदार थी तथा आधुनिक वैज्ञानिक विश्वदृष्टि (world view) पर आधारित थी। स्वतंत्रता, समानता, मानवतावाद एवं रूढ़ियों का खण्डन नवीन शिक्षा-व्यवस्था की मौलिक विशेषताएँ हैं। सन् 1835 के बाद से अंग्रेजी भाषा को उच्चस्तरीय शिक्षा के शिक्षण माध्यम के रूप में अपना लिया गया था। अंग्रेजी भाषा सीखने के साथ ही भारतीयों के बीच उदारता एवं वैज्ञानिक सोच से युक्त विश्वदृष्टि विकसित होने लगी। अंग्रेजी भाषा ने भारत के शिक्षित वर्ग के समक्ष पश्चिमी ज्ञान के विशाल भण्डार को खोलने में भी सहायक भूमिका निभाई। शिक्षा के संगठनात्मक ढाँचे पर दृष्टि डालने पर हम पाते हैं कि अंग्रेजी भाषा के बढ़ते प्रभाव के बावजूद भी प्राथमिक स्तर पर शिक्षा क्षेत्रीय भाषाओं में ही प्रदान की जा रही थी। अंग्रेजी भाषा की शिक्षा का प्रारम्भ माध्यमिक शिक्षा के मध्य स्तर पर किया जाता था तथा कॉलेजों/विश्वविद्यालयीय स्तर पर शिक्षा पूर्णतः अंग्रेजी भाषा पर निर्भर थी। विषय सामग्री अथवा ज्ञान की दृष्टि से देखें तो हम पाते हैं कि प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा केवल मूल एवं बुनियादी ज्ञान ही प्रदान कर रही थी तथा विद्यार्थियों को प्रबुद्ध (enlightened) बनाने से इसका कोई सरोकार नहीं था। 'प्रबुद्धिकरण' महाविद्यालयी/विश्वविद्यालयी स्तर पर प्रदान की जाने वाली शिक्षा द्वारा ही सम्भव था।

सामाजिक वर्गों के सन्दर्भ में, जब अंग्रेजी शासन द्वारा शिक्षा का धर्मनिरपेक्षीकरण (secularization) कर दिया गया, तब इसे पवित्र/धार्मिक सीमाओं से बाहर निकालकर समाज के समस्त वर्गों के लिए समान रूप से सुलभ बना दिया गया। इस प्रकार पहली बार सभी सामाजिक वर्गों को सेक्युलर शिक्षा का अवसर मिला। इसके माध्यम से भारत में सामाजिक स्तरीकरण का एक नया आधार विकसित हुआ जिसके द्वारा समस्त जातियों एवं सामाजिक पृष्ठभूमियों के शिक्षित लोगों को कठोर पारम्परिक पदानुक्रम व्यवस्था में ऊपर की ओर गतिशील होने के नवीन अवसर प्राप्त हुए। इस प्रकार भारतीय समाज के आधुनिकीकरण में शिक्षा ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभानी प्रारम्भ कर दी। मानविकी (humanities) एवं समाज विज्ञानों के क्षेत्र में अधिकांश साहित्य यूरोपीय साहित्य से अधिग्रहित किया गया।

शिक्षा व्यवस्था में हुए उपरोक्त परिवर्तनों ने एक ऐसे नवीन बौद्धिक वर्ग (intelligentia) को जन्म दिया जो समाज को आधुनिकता के मार्ग पर ले जाने में सहायक हुआ। विस्तृत अर्थों में बुद्धिजीवी (intellectual class) वर्ग वह है जिसका विचारों के सर्जन, संचरण एवं समीक्षा में महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। इस वर्ग के अन्तर्गत वैज्ञानिक, कलाकार, लेखक, उच्च सरकारी पदों पर आसीन व्यक्ति, दार्शनिक, धार्मिक विचारक, समाजवेत्ता, राजनैतिक समीक्षाकार आदि आते हैं। भारत के आधुनिक बुद्धिवादी वर्ग के संज्ञानात्मक मानचित्र (cognitive map) में केन्द्रीय महत्त्व के मुद्दों पर प्रकाश डालते हुए अविजीत पाठक (1998) मुख्यतः दो मुद्दे प्रस्तुत करते हैं-

1. परम्परा, परम्परा की धार्मिकता, सामाजिक संस्थाओं एवं सांस्कृतिक व्यवहारों को समझने के प्रति गहन अभिरुचि। क्या हमारी परम्परा आधुनिकता, प्रबुद्धिकरण, तकनीकी-आर्थिक संस्थाओं अथवा धर्मनिरपेक्ष मानवतावाद (secular humanism) के पथ में एक बाधा है?

अथवा क्या हमारी परम्परा के लिए यह सम्भव है कि यह अपने संसाधनों का स्वयं सर्जन करते हुए एक वैकल्पिक एजेण्डा तैयार कर ले?

2. आधुनिकता व आधुनिकता के वैश्विक लक्ष्यों एवं परियोजनाओं (global ambitions and projects) को समझने की गहन इच्छा। क्या आधुनिकता का सम्बन्ध मात्र सम्भ्रान्त वर्ग से ही है तथा क्या यह भारत के हाशिए पर रहने वाले विशाल जनसमूह (subaltern masses), उसकी आकांक्षाओं एवं संघर्षों से कोई सम्बन्ध नहीं रखती? अथवा क्या एक आधुनिक राष्ट्र-राज्य के रूप में भारत को सार्वभौमिक लक्ष्यों, यथा-विकास, उत्पादन, कार्यकुशलता, सजातीयता (homogeneity) एवं वैज्ञानिक प्रवृत्ति आदि को प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए।

विज्ञान में उन्हें अत्यधिक सम्भावनाएँ दिखाई दीं। राजाराम मोहन राय वैज्ञानिक तरीकों के पक्षधर थे। अक्षय कुमार दत्त ने शिक्षा की पारम्परिक व्यवस्था का खण्डन किया। विद्यासागर ने उन लोगों का उपहास किया जो ये मानते थे कि शास्त्रों में समस्त वैज्ञानिक सत्य निहित हैं। सर सैय्यद अहमद खान के अनुसार मुस्लिम शिक्षा की पारम्परिक व्यवस्था प्रगति के मार्ग में एक बहुत बड़ा रोड़ा थी। भीखू पोरख (1989) के शब्दों में यहाँ तक कि नेहरू जो परम्परा को महत्त्व तो देते थे किन्तु उन्हें परम्परावादी नहीं कहा जा सकता। अपनी परम्परा के संसाधनों को प्रयोग करते हुए, उसमें अपनी अद्वितीय रचनात्मकता का मिश्रण करके उन्होंने एक वैकल्पिक राजनैतिक-सांस्कृतिक एजेण्डा तैयार किया। बौद्धिक वर्ग के बीच नेहरू की लोकप्रियता का सबसे बड़ा कारण यह है कि वे ऐसा सोचते हैं कि नेहरू द्वारा आरम्भ किया गया एजेण्डा, जो सांस्कृतिक पूर्वाग्रहों से निपटने के लिए धर्मनिरपेक्ष मानववाद को एक उपाय के रूप में प्रस्तुत करता है, आज भी अपनी सम्भावनाओं को पूरी तरह से प्रयोग नहीं कर पाया है। दुर्खीम के शब्दों में- अतः शिक्षा की सदैव से ही सामाजिक परिवर्तन के क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है तथा यह युवा पीढ़ी के सामाजीकरण में महत्त्वपूर्ण योगदान देती है। यह विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के विकास का रास्ता खोलती है। आधुनिक शिक्षा में लोगों के दृष्टिकोण एवं व्यवहार को परिवर्तित करने की सामर्थ्य है। भारत में परम्पराओं, प्रथाओं, नैतिकता, धार्मिक विश्वासों तथा समस्त मूल्य व्यवस्था में परिवर्तन लाने में आधुनिक शिक्षा ने उल्लेखनीय योगदान दिया है। आज भी यह नारी सशक्तिकरण एवं लैंगिक न्याय (gender justice) में योगदान दे रही है। सामाजिक प्रस्थिति के क्षेत्र में इसने व्यावसायिक गतिशीलता के सन्दर्भ में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। उन स्थितियों में यह और भी अधिक महत्त्वपूर्ण बन जाती है जहाँ सामाजिक प्रस्थिति एवं व्यवसाय पारम्परिक रूप से अन्तरसम्बन्धित होते हैं। शिक्षा के प्रचार-प्रसार ने गरीब एवं समाज के सुविधा-वंचित लोगों के बीच राजनैतिक चेतना जाग्रत करने में भी योगदान दिया है। यद्यपि यह सत्य है कि आज भी शिक्षित वर्ग ही देश की जनसंख्या का सबसे प्रगतिशील वर्ग है, किन्तु इसके साथ ही कुछ असुविधाजनक प्रश्न भी उठ खड़े होते हैं। शिक्षित वर्ग में भी हमे सामाजिक रूप से प्रगतिगामी, रूढ़िवादी एवं अधंविश्वासी, जातिवादी एवं सम्प्रदायिकतावादी लोग मिलते हैं। इस तथ्य के द्वारा शिक्षा की विषय

सामग्री, सामाजिक घटनाओं की सही एवं वास्तविक समझ एवं शिक्षकों द्वारा वस्तुनिष्ठ विश्लेषण पर एक प्रश्नचिह्न लग जाता है। और यहीं पर राज्य की भूमिका सामने आती है- जो है- शिक्षा का एक सुनिश्चित ढाँचा प्रस्तुत करना। यदि राज्य 'साम्प्रदायिकतावादी इतिहास' को पढ़ाने का समर्थन करे तथा बुद्धिवाद एवं वैज्ञानिक प्रवृत्ति के विकास की जगह रूढ़िवाद के विकास को प्रोत्साहन दे, तो निश्चित रूप से उससे किसी प्रकार की अपेक्षा नहीं रखी जा सकती है। किन्तु इन परिस्थितियों में भी 'सामाजिक परिवर्तन' की दिशा में शिक्षा की भूमिका को नहीं नकारा जा सकता है।

जनसंचार एवं मीडिया की सामाजिक परिवर्तन में भूमिका समाजशास्त्रीय अध्ययन का एक महत्त्वपूर्ण मुद्दा रहा है। जनमीडिया वह शब्द है जिसका प्रयोग प्रायः प्रौद्योगिकी जैसे- रेडियो, टेलीविजन, सिनेमा, प्रेस एवं विज्ञापनों आदि के माध्यम से सूचनाओं, विचारों एवं मनोरंजन के साधनों का विशाल जनसमूह के बीच संचार करने के अर्थ में होता है। यह प्रौद्योगिक मीडिया लोक गीतों, लोक-नृत्यों, नाटक, कठपुतली-नृत्यों आदि जैसे महत्त्वपूर्ण पारम्परिक संचार माध्यमों के साथ-साथ सहअस्तित्व बनाए हुए हैं।

बीसवीं सदी के प्रौद्योगिकीय अन्वेषणों ने जन मीडिया का रूप बिल्कुल परिवर्तित कर दिया है। यदि आज हम रेडियो एवं टेलीविजन की समाज में पहुँच पर नज़र डालें तो हम इसके बढ़ते प्रभाव एवं पहुँच को देखकर अचम्भे में पड़ जाते हैं। **एन्थ्रोपोलिजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया** द्वारा किया गया **दि पीपुल्स ऑफ इण्डिया प्रोजेक्ट** (1986-92) हमें बताता है कि आज रेडियो 96 प्रतिशत जनजातीय जनसंख्या तक तथा टेलीविजन 40 प्रतिशत जनजातीय जनसंख्या तक पहुँच चुका है। जनजातीय जनसंख्या को भारत की सबसे गरीब एवं आर्थिक रूप से पिछड़ी जनसंख्या माना जाता है तथा जब सम्प्रेषण के इन दो माध्यमों ने इन क्षेत्रों में अपनी उपस्थिति दर्ज करा ली है तो ग्रामीण एवं नगरीय क्षेत्रों में तो इन दोनों माध्यमों की भूमिका स्पष्ट रूप से समझी जा सकती है। रेडियो कार्यक्रमों का निर्माण अंग्रेजी एवं भारत की विभिन्न भाषाओं एवं बोलियों में समान रूप से किया जा रहा है।

समाचार एवं सूचनाएँ सम्प्रेषित करने के साथ-साथ रेडियो एवं टेलीविजन के माध्यम से मनोरंजक कार्यक्रम भी प्रस्तुत किए जाते हैं जो विभिन्न सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक मुद्दों से सम्बन्धित होते हैं। स्त्रियों एवं युवाओं से सम्बन्धित कार्यक्रम भी सामाजिक परिवर्तन में योगदान दे रहे हैं। किन्तु साथ ही कुछ ऐसे कार्यक्रम भी प्रस्तुत किए जा रहे हैं जो रूढ़िवादी एवं हानिकारक विचारों के द्वारा यथास्थितिवाद (status quoism) को मजबूत कर रहे हैं। सिनेमा भी मनोरंजन का एक सस्ता साधन है तथा टेलीविजन की ही तरह दृश्य- श्रव्य माध्यम होने के कारण इसकी पहुँच रेडियो की पहुँच एवं प्रभाव से कहीं अधिक है। सूक्ष्म स्तर (micro level) पर यह सांस्कृतिक परिवर्तनों- मुख्यतः वेशभूषा, केशसज्जा, भाषा, आचार-विचार एवं नियमों में होने वाले परिवर्तनों में महत्त्वपूर्ण योगदान देता है। हिंसा के प्रति बढ़ती संवेदनहीनता भी सिनेमा के बढ़ते प्रभाव का

प्रतिफल है। किन्तु गम्भीर एवं सामाजिक रूप से उत्तरदायी सिनेमा, जिसे, 'कलात्मक सिनेमा (Art or Parallel Cinema) अथवा 'समान्तर सिनेमा' के नाम से जाना जाता है' लैंगिक न्याय, दहेज समाप्ति, महिला सशक्तिकरण, भ्रष्टाचार उन्मूलन एवं समाज में बढ़ते अपराध को रोकने में अपनी भूमिका निभाता है। ग्रामीण बाजारों, क़स्बों एवं शहरों में चाय की दुकानें विचारों के सम्प्रेषण एवं संचरण के लिए सबसे लोकप्रिय स्थान हैं। लोग रेडियो से समाचार सुनकर अथवा समाचार पत्रों में समाचार पढ़कर इन स्थानों पर एक दूसरे से विचार-विमर्श अथवा बहस करते हैं तथा शेष जनसम्प्रदाय के लिए विचार-निर्माताओं की भूमिका निभाते हैं। आज संदेशों का सर्जन करके इन संदेशों को श्रव्य एवं दृश्य-श्रव्य प्रौद्योगिक अन्वेषणों द्वारा लाखों-करोड़ों लोगों तक पहुँचाया जाता है। केबिल टेलीविजन के 'आध्यात्मिकता' एवं धर्म से सम्बन्धित चैनल रूढ़िवाद एवं मतान्धता का प्रसार भी कर रहे हैं तथा ये सांस्कृतिक आधुनिकीकरण की प्रक्रिया पर प्रतिकूल प्रभाव डाल सकते हैं। अतः भारत में जन मीडिया की भूमिका एक दोधारी तलवार जैसी है। जब यह तर्कहीनता,अंधविश्वास एवं यथास्थितिवाद का प्रसार करने लगता है तो इसकी शैक्षिक एवं मनोरंजन सम्बन्धी भूमिका कमजोर दिखने लगती है। चूँकि समाज में जन मीडिया की भूमिका अत्यधिक महत्त्वपूर्ण एवं अनिवार्य हो गई है, अतः इसका प्रयोग सामाजिक परिवर्तन के एक साधन व वाहक के रूप में करने के लिए सही एवं दूरदर्शितापूर्ण योजना की आवश्यकता है।

❑

Epilogue

अन्ततः

भूमंडलीकरण, मानवअधिकार तथा समकालीन भारत

(Globalization, Human Rights and Contemporary India)

Epilogue
अन्ततः

भूमंडलीकरण, मानव अधिकार तथा समकालीन भारत (Globalization, Human Rights and Contemporary India)

अपने सम्पूर्ण इतिहास में प्रत्येक राष्ट्र व समाज को ऐसे मुद्दों से दोचार होना ही पड़ता है जिसके प्रति उस राष्ट्र व समाज के लोग चिंतित रहते हैं। भारत भी जातिवाद, साम्प्रदायिकता, क्षेत्रवाद, जातीय संघर्ष, जनजातीयवाद व भाषावाद जैसी समस्याओं से जूझता रहा है। लेकिन हाल के वर्षों में साम्प्रदायिकता, भूमंडलीकरण व मानवअधिकारों का उल्लंघन भारत के स्वास्थ्य के लिये खतरनाक शक्तियों के रूप में उभर कर सामने आये हैं। इस पुस्तक के विशेष खण्ड 'धर्म और समाज' में साम्प्रदायिकता पर चर्चा हो चुकी है। अब देखते हैं कि भूमंडलीकरण व मानवअधिकारों से जुड़े हुये कौन से प्रमुख मुद्दे हैं।

भूमंडलीकरण (Globalization)

अपने सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक आयामों सहित भूमंडलीकरण आज के युग के एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं चर्चित विषय के रूप में उभर कर सामने आया है। **ब्लैकवेल डिक्शनरी ऑफ सोशियोलाजी** (1995) के अनुसार- "भूमंडलीकरण वह प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत विभिन्न समाजों का सामाजिक जीवन, राजनीति एवं व्यापारिक क्षेत्र से लेकर संगीत, वेशभूषा एवं जन मीडिया के क्षेत्रों तक अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अत्यन्त द्रुतगति से प्रभावित हुआ है।" सम्भवतः भूमंडलीकरण का सबसे शक्तिशाली रूप उसका आर्थिक पक्ष है जिसमें नियोजन एवं नियन्त्रण एक ऐसी संकीर्ण स्थिति से विकसित होकर, जिसमें एक फर्म क्षेत्रीय अथवा राष्ट्रीय स्तर पर व्यापार करती है, एक विस्तृत भूमंडलीय स्थिति में परिवर्तित हो जाती है, जिसमें समस्त विश्व श्रम एवं कच्चे माल के साधन एवं बाजार के रूप में कार्य करता है। जब व्यापार स्थानीय स्तर पर किया जाता है, जैसे- काम करने वालों से निपटने, कच्चा माल एवं अन्य सामग्री प्राप्त करने, माल लाने व ले जाने के साधन जुटाने एवं तैयार माल के बेचने सम्बन्धी समस्याएँ आदि, तो यह समस्त कार्य एक ही सामाजिक दायरे/ढाँचे के अन्तर्गत किए जाते हैं। वहीं भूमंडलीय अर्थव्यवस्था में अन्तर्राष्ट्रीय निगम विभिन्न देशों में सक्रिय रूप से कार्य करते हैं तथा स्थानीय स्थितियों में पाई जाने वाली विभिन्नताओं को अपने फायदे के लिए प्रयोग करते हैं। यदि ब्रिटेन अथवा संयुक्त राष्ट्र अमेरिका जैसे समृद्ध औद्योगिक समाजों में मजदूर वेतन वृद्धि अथवा काम करने की स्थितियों में सुधार की माँगों को लेकर हड़ताल पर चले जायें, तो ऐसी स्थिति में एक अन्तर्राष्ट्रीय निगम

आसानी से अपना कामकाज किसी अन्य देश में स्थानान्तरित कर सकता है, जहाँ के मजदूर अपेक्षाकृत अधिक आज्ञाकारी एवं प्रबंध तंत्र से कम अपेक्षायें रखने वाले हों।

भूमंडलीकरण के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर आर्थिक एवं सामाजिक-राजनैतिक प्रबंधन की आवश्यकता का विश्लेषण करते हुए समीर अमीन (1997), जो कि भूमंडलीकरण एवं तीसरी दुनिया के देशों के प्रति उसके आशय के सम्बन्ध में विचार प्रकट करने वाली एक महत्त्वपूर्ण एवं चर्चित शख्सियत रहे हैं, कहते हैं, पूँजीवादी व्यवस्थाओं का भूमंडलीकरण कोई नई बात नहीं है, अपितु आधुनिक समय में गुणात्मकता की दृष्टि से इसने एक कदम आगे बढ़ा लिया है। साथ ही राष्ट्रों के बीच गहराती निर्भरता ऐसे समय पर प्रकट होती है जबकि संचयन की समस्या अत्यधिक गम्भीर रूप ले चुकी है तथा युद्ध के बाद की गर्जना अथवा स्थितियों ने अवरुद्धिकरण की स्थिति पैदा कर दी है।

भूमंडलीकरण का प्रभाव केवल व्यापार तक ही समिति नहीं है वरन् यह उत्पादन व्यवस्थाओं, तकनीकि, आर्थिक बाज़ारों एवं सामाजिक जीवन के अनेक अन्य पहलुओं को पर्याप्त रूप से प्रभावित करता है। नया भूमंडलीकरण राष्ट्र-राज्यों द्वारा अर्थ-प्रबंधन की सामर्थ्य एवं कार्य-कुशलता का क्षरण तो करता है परन्तु यह उनके अस्तित्व को नकारने अथवा समाप्त करने की बात नहीं करता।

आर्थिक भूमंडलीकरण के प्रति राजनैतिक प्रतिक्रिया स्वरूप संजातीयता (ethnicity) की अवधारणा का अभ्युदय भूमंडलीकरण का एक अन्य महत्त्वपूर्ण आयाम है। समीर अमीन कहते हैं- "वर्तमान युग निश्चित रूप से ऐसे सामूहिक सामाजिक तादात्म्य (collective social identifications) से युक्त जागरण अथवा पुनर्जागरण का परिचायक है जो किसी राष्ट्र-राज्य अथवा सामाजिक वर्ग द्वारा परिभाषित जागरण अथवा पुनर्जागरण से बिल्कुल भिन्न है।"

क्षेत्रवाद, भाषिक एवं सांस्कृतिक दावे, जनजातीय अथवा जाति-सम्बंधी निष्ठा, किसी धार्मिक समुदाय के प्रति श्रद्धा तथा स्थानीय समुदाय से लगाव आदि इस पुनर्जागरण के विभिन्न रूप हैं। कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि अफ्रीका में राष्ट्रीय एकता की विच्छिन्नता ने परस्पर स्पर्धा रखने वाली शक्तियों के वैध नवीकरण के आधार के रूप में संजातीयता को जन्म दिया है। भारत, अफगानिस्तान, पूर्वी यूरोप, भूतपूर्व सोवियत गणराज्य, भूतपूर्व यूगोस्लाविया, पश्चिम यूरोप और यहाँ तक कि स्पेन में भी राष्ट्रीय एकता पर सवालिया चिह्न लगा है। आधुनिक एवं शक्ति सम्पन्न देशों एवं भूमंडलीकरण की पक्षधर व्यवस्थाओं द्वारा प्रस्तुत दावों का बारीकी से निरीक्षण करने पर हम पाते हैं कि राजनैतिक एवं सामाजिक व्यवस्थाओं का बाज़ार के मात्र एक गुण द्वारा प्रबंधन मात्र एक कल्पना ही है।

तीसरी दुनिया के देशों में संजातीयता की अवधारणा के अभ्युदय एवं आर्थिक मौलिकता के सम्बन्ध में समीर अमीन एक विकल्प प्रस्तुत करते हैं- संजातीयता के प्रश्न को सामरिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण प्रतिमान में स्थानांतरित किया जाना चाहिए, जो कुछ इस प्रकार है- विविधता का सम्मान करें किन्तु फिर भी एकता को पर्याप्त महत्त्व दें। विविधता को सम्मान प्रदान करने का

तात्पर्य है, शक्ति की खोखली अवधारणा का त्याग जो 'राष्ट्र-हित' में सक्रिय होने का कोरा दिखावा करती है (जबकि यथार्थ में वह ठीक इसके विरुद्ध सक्रिय रहती है) तथा राष्ट्र-राज्य की विचारधाराओं को समाहित करने का ढोंग भी करती है।

भारत में हिन्दुत्ववादी शक्तियों का अभ्युदय, जो दिखावा तो करती हैं, 'राष्ट्रवादी' होने का, परन्तु यथार्थ में बहुलवाद की विरोधी एवं स्वरूप में अल्पसंख्यकों के विरुद्ध होती हैं तथा पाकिस्तान, बंगलादेश एवं कुछ अरब देशों में इसी प्रकार के चलन एवं लक्षणों से युक्त मुस्लिम मूलतत्त्ववाद (fundamentalism) का अभ्युदय कुछ ऐसे कारक हैं जिन्हें भूमंडलीकरण की प्रक्रिया ने बल प्रदान किया है।

भूमंडलीकरण के वर्तमान ध्रुवीकृत स्वरूप की आवश्यम्भाविता को निष्क्रिय रूप से स्वीकार करने तथा बाजारों के विस्तारीकरण के साथ विकास के समीकरण के विरुद्ध प्रतिक्रिया करनी ही होगी। प्रत्येक समाज को यह अधिकार प्राप्त होना चाहिए कि वह भूमंडलीय अर्थव्यवस्था से अपनी स्वतंत्रता को प्रमुखता प्रदान करते हुए सम्बन्ध स्थापित कर सके। एक बहुलवादी दुनिया में राष्ट्रीय विकास का लक्ष्य प्राप्त किया जा सकता है। विशेष रूप से बहुलवादी तीसरी दुनिया के देशों में एकरूपता (homogeneity) का लक्ष्य विभाजनकारी व विध्वंसक भी हो सकता है।

भूमंडलीकरण का प्रभाव (Impact of Globalization)

जब हम भारतीय समाज के विभिन्न वर्गों पर भूमंडलीकरण के प्रभाव को ठोस रूप में देखते हैं तो पाते हैं कि इसने विभिन्न सामाजिक समूहों पर अपना दुष्प्रभाव डालना आरम्भ कर दिया है जो खामोशी के साथ दमन, शोषण व वंचन को शताब्दियों से झेलते रहे हैं। ऐसे सामाजिक समूहों में महिलायें, दलित, जनजातियाँ व धार्मिक अल्पसंख्यकों का नाम लिया जा सकता है।

भारत में **महिलायें** आर्थिक व सामाजिक रूप से भूमंडलीकरण से प्रभावित हो रही हैं। भोजन व दूसरी अन्य आवश्यकताओं की कमी के कारण भारत में गरीब लोग कन्या शिशुओं को बालक शिशुओं की तुलना में कम खिलाते हैं। ऐसा करने के पीछे उनके आर्थिक कारण रहे हैं- बालकों को रोज़ीरोटी अर्जित करने वाला माना जा रहा है। इसी मानसिकता ने लिंग अनुपात (sex ratio) में बढ़ती खाई में महत्त्वपूर्ण भूमिका भी अदा की है। घटती हुई आर्थिक सहायता या सहायिकी (subsidy) के परिणामस्वरूप खाद्य सुरक्षा लगातार कम हुई है तथा गरीब महिलाओं को पहले से अधिक अर्थहीन व अनुत्पादक श्रम में और अधिक समय लगाना पड़ रहा है। अपने पुरुषों की बढ़ती हुई छटनी के कारण कामगार महिलायें, जो पहले खेतिहर मजदूर के रूप में जीविका कमाती थीं, ऐसे नगरीय संगठित क्षेत्रों में जाने पर मजबूर हो रही हैं जहाँ उन्हें भुखमरी या अर्धभुखमरी के स्तर पर मजदूरी मिलती है। इसके अतिरिक्त मालिकों को भी महिला कामगार को रखना अधिक सुविधाजनक लगता है- महिलायें आसानी से संगठित नहीं हो पातीं और इसलिये उनका शोषण करना अधिक आसान होता है।

भूमंडलीकरण लोगों को और अधिक लालची व भौतिकवादी बना रहा है और इसी के साथ दहेज की माँग भी तेजी के साथ बढ़ रही है जो गरीब अभिभावकों को पहले से अधिक

आर्थिक समस्याओं व अपमानजनक परिस्थितियों में ढकेल रहा है। बढ़ते हुए भूमंडलीकरण ने तथाकथित 'सौंदर्य प्रतियोगिताओं' को जुनूनी हद तक बढ़ावा दिया है। जैसा कि अरविंद (2002) कहते हैं- "इस 'पागलपन' का लाभ तो वे निगम व संस्थायें कमा रही हैं जो ऐसे कार्यक्रमों के द्वारा अपने उत्पादों का विज्ञापन करती हैं, लेकिन मानसिक स्तर पर इसका दुष्प्रभाव प्रमुख तौर पर शहरी मध्यम वर्ग या निम्न मध्यम वर्ग की लड़कियों पर पड़ता है। 'सौंदर्य गृहों' (beauty parlours), फेशियल क्रीम व दूसरे सौंदर्य प्रसाधन जो 'गोरा' करने का दावा करते हैं, उस विचार को आगे बढ़ाने में भूमिका निभाते हैं जिन्हें 'निहित स्वार्थ' फैलाना चाहते हैं। बाज़ारी अर्थव्यवस्था के तर्क से देखें तो देह व्यापार भी एक 'जायज़' प्रणाली बन जाती है- 'सेवा क्षेत्र' (service sector) का एक और उद्योग। भूमंडलीकरण के इस दौर में खाते पीते या समृद्ध परिवारों की अनेकों लड़कियाँ ऐसे ही 'ब्यूटी पार्लर', 'मसाज पार्लर' व 'आओ दोस्ती करें' (make a friend) जैसे उद्योगों के माध्यम से वेश्यावृत्ति या 'कालगर्ल' के धन्धे में जाने से भी नहीं हिचकतीं। बाजारी अर्थ व्यवस्था से प्रत्येक वस्तु 'बिकाऊ' हो सकती है।

दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति यह है कि तथाकथित उदारवादी पाश्चात्य संस्कृति, जो आधुनिक मीडिया, विशेष तौर पर केबिल टी.वी., के द्वारा फैलाई जा रही है, सामाजिक सम्बंधों के जनतांत्रीकरण (democratization of social relations) को मजबूत करती व पितृसत्तात्मक मूल्य व्यवस्था (Patriarchal value system) को हतोत्साहित करती नज़र नहीं आती है। वास्तविकता यह है कि **भूमंडलीकृत हिन्दुत्व** की छाया में सामन्ती मूल्य तथा पितृसत्तात्मक व्यवस्था पहले की तुलना में बढ़ी है। इस प्रकार भूमंडलीकरण के साथ महिलाओं को हाशिये पर डालने की प्रक्रिया, पितृसत्तात्मक (पुरुष सत्तात्मक) मूल्य तथा महिलाओं का वस्तुकरण (commodification) तेजी के साथ बढ़ा है। 'आधुनिक' मीडिया दिखाता है कि एक आदर्श स्त्री वह है जो इस पुरुष प्रधान समाज की पितृसत्तात्मक मर्यादाओं के सामने सिर झुकाये व प्रतिगामी परम्पराओं का निर्वाह करे। स्त्री व पुरुष के बीच सामाजिक सम्बन्धों का वास्तविक जनतांत्रीकरण भारत के शासक वर्ग द्वारा प्रेरित वर्तमान सामन्ती, पुरुषसत्तात्मक मूल्यों तथा साम्राज्यवादी संस्कृति के विरुद्ध छेड़े जाने वाले संघर्षों के द्वारा ही हासिल किया जा सकता है।

भारत में **दलितों** का संबंध समाज के पारम्परिक रूप से शोषित, उत्पीड़ित व अपमानित वर्गों से रहा है जो शताब्दियों से जाति व्यवस्था की विषमताओं का शिकार रहे। आज भी वे कमरतोड़ गरीबी का जुआ ढोते व सामाजिक अपमानों का अभिशाप झेलते देखे जा सकते हैं। जीवन स्तर व आर्थिक खुशहाली के किसी भी मानक की कसौटी पर उनको सबसे नीचे के पायदानों पर देखा जा सकता है। बी. एल. मुंगेकर अपने ग्रन्थ **स्टेट, मार्केट एंड द दलित : एनालिटिकस ऑफ द न्यू इकोनामिक पोलेसी** में एक सटीक विश्लेषण में लिखते हैं कि "जन्म द्वारा निर्धारित व्यवसायिक व्यवस्था व वितरण का प्रभाव विभिन्न जातियों पर भिन्न-भिन्न रूप में पड़ा। सुविधासम्पन्न उच्च जातियों के लिये, जिनका शिक्षा, व्यापार व उद्योग आदि पर एकाधिकार था, यह एक दैवीय विशेषाधिकार (divine privilege) जैसा था। जबकि निम्न जातियों

के लिये यह अभिशाप से कम नहीं था। मूलरूप से यह निम्न जातियों की शारीरिक श्रम की अनिवार्यता के कारण था। इन वंचित वर्गों को धन/सम्पत्ति कमाने व इकट्ठा करने से रोका गया जिससे उनकी आवश्यकतायें जीवन निर्वाह तक सीमित रह गईं। शारीरिक श्रम को कलंकित (stigmatized) किया जाना और भी अधिक निंदनीय था। इस प्रकार व्यवसाय के चयन में आजादी न होना, बहुत ही निम्न कमाई (मुख्यतः वस्तुओं के रूप में), आवश्यकताओं के सीमित हो जाने तथा शारीरिक श्रम को कलंकित कर दिये जाने जैसी प्रवृत्तियों ने निम्न जातियों की अर्थव्यवस्था को बर्बाद कर दिया। अपने आर्थिक अस्तित्व के लिये उन्हें पूर्णरूप से उच्च जातियों पर आश्रित होना पड़ गया। परिणामस्वरूप दलित सामाजिक रूप से जाति बहिष्कृत (outcaste), आर्थिक रूप से दूसरों पर निर्भर, राजनीतिक रूप से शक्तिविहीन व सांस्कृतिक रूप से पिछड़े रह गये।"

भूमंडलीकरण के एक भाग के रूप में वर्तमान आर्थिक सुधारों के मुख्य तत्त्वों की व्याख्या निम्नलिखित रूप में की जा सकती है: (1) विदेशी व्यापार का उदारीकरण, (2) घरेलू बाजारों का उदारीकरण व उन्हें 'खोल' दिया जाना, (3) प्रत्यक्ष विदेशी निवेश, (4) सहायता मूल्यों या सहायिकी (subsidies) में कटौती, तथा (5) क्रमिक निजीकरण। संरचनात्मक समायोजन कार्यक्रमों (structural adjustment programmes) के दौरान समाज के खुशहाल वर्गों को लाभ पहुँच रहा है लेकिन वंचित गरीब वर्ग परेशान है। चूँकि गरीबों में दलितों की संख्या सबसे अधिक है इसलिये यही सामाजिक अवखंडों (social sectors) में कम होते निवेश के दुष्परिणाम सबसे अधिक भुगत रहे हैं। यह निर्धन वर्ग ही है जो सार्वजनिक सेवाओं पर निर्भर रहता है और इसलिये बजट प्रावधानों में किसी भी कटौती के परिणामस्वरूप घटी सामाजिक सेवाओं और उनकी बढ़ी कीमतों का शिकार भी यही होते हैं।

सामाजिक-आर्थिक रूपों में देखा जाये तो ऐसा लगता है कि आरक्षण के कारण दलितों ने जो उपलब्धियाँ प्राप्त कीं, वे सब उत्क्रमित या पल्टी जा रही हैं। देश के 75 प्रतिशत से अधिक दलित कृषि क्षेत्र से अपनी जीविका अर्जित करते हैं और किसी न किसी रूप में भूमि से जुड़े हुये हैं। इनमें लगभग 75 प्रतिशत छोटे किसान हैं तथा शेष भूमिहीन खेतिहर मजदूर हैं। शहरी क्षेत्र में इनमें से अधिकतर असंगठित क्षेत्रों में काम करके जीविका कमाते हैं। 'नवीन आर्थिक नीति' के प्रभाव में भूमि सुधार को, जो उनके विकास में प्रमुख मुद्दा रहा है, राज्य की भावी कार्ययोजना के बाहर ढकेला जा रहा है। इसके स्थान पर अन्तर्राष्ट्रीय (भूमंडलीय) कृषि बाजार के लिये कृषि का निगमितिकरण (corporatisation) किया जा रहा है। विश्व बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष व विश्व व्यापार संगठन (WTO) का मिला-जुला नीति निर्धारक एजेन्डा सदा से ही भू-सीमा कानूनों (land ceilinglaws) के उन्मूलन व कृषि क्षेत्र में उदार निवेश के पक्ष में रहा है।" इस प्रकार मुद्रास्फीति व धीमी संवृद्धि प्रक्रिया (slow growth process) मिलकर एक ओर तो गरीबों को निचोड़ रहे हैं तो दूसरी ओर मुद्रा अवरोधों के चलते गरीबी उन्मूलन जैसे कार्यक्रमों व सामाजिक सेवाओं में किये जाने वाले खर्च में कटौती की जा रही है। स्पष्टतयः ऐसी नीतियों व समायोजनों

का बोझ गरीबों (जिनमें बड़ी संख्या में दलित, आदिवासी व अल्पसंख्यक समूह आते हैं) की कमर तोड़ देगा" (पी. जी. जोगदंद, 2000)।

आंध्र प्रदेश के दो जिलों के अनुभाविक अध्ययन (empirical study) में **साक्षी** के जे. एम. प्रसाद व **सम्पर्क** के डेविड सुधाकर दलितों पर भूमंडलीकरण के प्रभाव को स्पष्ट रूप से विश्लेषित करते हैं। भूमंडलीकरण की नीतियाँ तीन मूल प्रस्तावनाओं पर आधारित हैं। पहली, प्रतिस्पर्धा में शामिल सभी शक्तियाँ अप्रचुर आर्थिक संसाधनों (scarce economic resources) का अधिकतम नियतन (allocation) प्राप्त करते हुए उसका कुशल उपयोग करेंगी। दूसरा, अर्थव्यवस्था के खुल जाने पर विदेशी पूंजी व प्रौद्योगिकी का प्रवेश होगा जो एक ओर तो प्रतिस्पर्धा की शक्तियों को मज़बूत करेंगी तथा दूसरी ओर निर्यात को बढ़ावा देंगी। तीसरा, यह दोनों मिलकर उच्चतर आर्थिक संवर्धन में सहायक सिद्ध होंगी। इन प्रस्तावनाओं के अंतर्गत भूमंडलीकरण की नीतियाँ कृषि क्षेत्र में इस प्रकार लागू की जा रही हैं जिससे एक मुक्त तथा कुशल बाज़ार व कीमतें तय होंगी जो कृषि उत्पादों के आयात को भी निर्धारित करेंगी। इन उपलब्धियों को प्राप्त करने के लिए वांछित नीतियाँ निम्नलिखित मुद्दों पर केन्द्रित होंगी : (1) ऐसी फसलों व फसलों की व्यवस्था को आगे बढ़ाना जिनके निर्यात की सम्भावनाएँ अधिक हों, (2) कृषि आधारित वस्तुओं के निर्यात के लिए एक स्थायी नीति, (3) आदानों (input) जैसे बीज, कीटनाशकों व खाद की उपलब्धता सुनिश्चित करना, तथा (5) सहायिकी (subsidy) में कटौती व किसानों को उत्पादों की बेहतर कीमतें वसूलने के लिए भंडारण से रोकना। किसी बाजार के अंतरबंधित संचालन (interlinkage operations) में स्थानीय प्रभुतासम्पन्न जातियों के भूस्वामी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। ऐसी व्यवस्था में दलितों की किसी प्रकार के बाजार में यथा भूमि, ऋण, श्रम व पैदावार में कोई भूमिका नहीं होती। ऐसे संचालन के परिवर्तनों के निम्न निहितार्थ हो सकते हैं:

- भूमि के क्रय या पट्टे में (यदि वह इतने समर्थ हों तो भी) प्रतिबंधित पहुँच।
- बहुत से दलितों को, जो भूस्वामियों से संलग्न थे, छोटी जोतें पट्टे पर मिल जाती थीं जिनकी संलग्नता उनके श्रम व उत्पाद से रहती थी। इसका अर्थ यह हुआ कि जो लोग पट्टे पर भूमि पा जाते थे उन्हें भूस्वामी को मुफ्त या बाज़ार भाव से काफी नीची दर पर अपना श्रम भी देना पड़ता है और अक्सर भूस्वामियों को ही नीची दरों पर अपनी फसलें बेचनी पड़ती हैं।
- फसलों के चयन में आज़ादी न होना और न ही उत्पादों के बेचने में।
- बेहतर मज़दूरी पाने के लिये सौदेबाजी की अशक्तता।
- भूस्वामियों पर ऋण पाने के लिये निर्भरता और वह भी अपनी श्रम सेवाओं तथा उत्पादों को विविध ब्याज दरों से संलग्न करने की मजबूरी।

भूमंडलीकरण की नीतियों से भूमिहीनता बढ़ी है और साथ में साहूकारों पर निर्भरता भी जिसने ऋणग्रस्तता को भी बढ़ावा दिया है।

शिक्षा के क्षेत्र में भी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो रहे हैं। दो बड़े उद्योगपतियों मुकेश अम्बानी व कुमारमंगलम बिरला की अध्यक्षता वाली कमेटी के द्वारा ***पालेसी फ्रेमवर्क फार रिफार्म्स इन एजुकेशन*** का उद्देश्य उच्च शिक्षा का अधिकतम निजीकरण करके उसका व्यवसायीकरण करना है, जैसा कि संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में पाया जाता है। शिक्षण संस्थाओं में भुगतान सीटों (Pay seats) का चलन शिक्षा के (उच्च) वर्ग आधार को और अधिक मज़बूत करेगा। ऐसी शिक्षा व्यवस्था में समाज के निर्धन समूह यथा दलित, आदिवासी व अल्पसंख्यक समस्याओं का सबसे अधिक सामना करने जा रहे हैं। उच्च गुणवत्ता की शिक्षा, विशेषकर उच्च शिक्षा, समाज के इन वर्गों की सामर्थ्य से बाहर होती जा रही है। भूमंडलीकरण के आगमन से एक नये प्रकार की मूल्य व्यवस्था (new value system) का संचार हो रहा है जो इन वर्गों के सांस्कृतिक मूल्यों पर दुष्प्रभाव के रूप में देखा जा सकता है।

देश की **आदिवासी (जनजातीय)** जनसंख्या व दलितों की स्थिति में काफी समानता है इसलिये इन पर भी भूमंडलीकरण के प्रभाव की बहुत सी विशेषतायें समान रूप से देखी जा सकती हैं। यह दोनों ही समूह समाज के वंचित व हाशिये पर जीवन गुजारते देखे जा सकते हैं। दलितों की तरह ही जनजातीय समुदाय भी कल्याणकारी खर्चों में कटौती, सार्वजनिक क्षेत्रों में बढ़ते निजीकरण, कृषि में घटते निवेश, सार्वजनिक वितरण व्यवस्था के विघटन आदि से बुरी तरह प्रभावित हो रहे हैं। 'विकास' के नाम पर आदिवासियों को उनके पारम्परिक क्षेत्रों से खदेड़ा जा रहा है, उनके वन जलमग्न किये जा रहे हैं, उनकी आय के स्रोतों का गला घोंटा जा रहा है और इस प्रकार उनको मौत की कगार पर पहुँचाया जा रहा है।

औद्योगिक खदानीकरण तथा वन उत्पादों के व्यवसायीकरण में बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का प्रवेश क्षेत्रों व लोगों के बीच आय तथा उपभोग के संदर्भ में असमानताओं को और अधिक बढ़ायेगा। सरकार द्वारा प्रतिपादित नई आर्थिक नीति पूंजी-आधारित (capital intensive) है-उन्नत बीज, कीटनाशक तथा उर्वरक महंगे हैं तथा वित्तीय सहायिकी (subsidies) धीरे-धीरे वापस ली जा रही हैं। यांत्रिक कृषि को भी प्रोत्साहित किया जा रहा है। यह आदिवासी हितों के प्रतिकूल है। भूमंडलीकरण की नीतियाँ वन क्षेत्रों में जैव विविधता (bio-diversity) के लिये विघ्नकारी हैं जिसे आदिवासियों ने हज़ारों साल से संरक्षित रखा है। बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ पौधों, जड़ी बूटियों/वृक्षों के अनुवांशिक संसाधनों (genetic resources) को चुरा लेने की पूरी तय्यारी कर रही हैं। वे इन वस्तुओं के बौद्धिक सम्पत्ति अधिकारों (intellectual property rights) पर अपनी दावेदारी पेश करेंगी जो आजतक आदिवासी समुदायों के नियंत्रण में थे। भूमंडलीकरण औद्योगिक व उपभोग सामग्रियों के आवश्यकता से अधिक उपभोग को बढ़ावा दे रहा है। इस प्रक्रिया में आदिवासी व दूसरे वंचित लोगों की जीवन शैली में ऐसे परिवर्तन लाये जा रहे हैं जो इन वर्गों के लिए हानिकारक हैं। पूंजी कुशलता कारक (capital efficiency factor) द्वारा लघु स्तरीय इकाइयों को मैदान से बाहर किया जा रहा है जिसके परिणामस्वरूप उनके पारम्परिक हस्तकौशल (जो उनकी जीविका का प्रमुख साधन रहा है) व लघुस्तरीय उद्योगों के विघटन की

आसानी से भविष्यवाणी की जा सकती है। इस प्रकार नई प्रौद्योगिकियों (techonologies) द्वारा पारम्परिक श्रम आधारित लघुस्तरीय उद्योगों का विस्थापन कर दिये जाने से इन समाजों में बेरोजगारी और अधिक बढ़ेगी।

समस्त देश की आदिवासी जनसंख्या के लिये 'अनुसूचित क्षेत्रों' (Scheduled Areas) पर भूमंडलीकरण का प्रभाव अत्यन्त चिंता का विषय है। भूमंडलीकरण की प्रक्रिया के साथ अनुकूलन बैठाने की होड़ में हमारे नीति निर्धारक भारतीय संविधान को बिल्कुल उलट पलट देने के लिए तय्यार नज़र आ रहे हैं, विशेषकर उन क्षेत्रों में जहाँ प्राकृतिक संसाधनों पर जनता के अधिकारों की बात आती हो। एक भूमंडलीकृत परिस्थिति में बाज़ार न कि समुदाय (जनता) मुख्य खिलाड़ी हैं। अनुसूचित क्षेत्रों से संबंधित सभी कानून व नीतियों- भूमि हस्तानांतरण नियंत्रण, वन अधिनियम, पर्यावरण संरक्षण अधिनियम, भूअधिग्रहण अधिनियम- पर ख़तरे के बादल मंडरा रहे हैं। उनके निरस्त किये जाने, हल्के कर दिये जाने या संशोधित किये जाने की संभावनाएँ साफ दिखाई पड़ रही हैं। यह कानून जन अधिकारों व संसाधनों के संरक्षण के लिये बनाये गये थे जबकि नई नीतियाँ आम जनता के हितों की कीमत पर संसाधानों के दोहन पर केन्द्रित हैं। अब भूमंडलीकरण के प्रभाव में इन सभी 'अवरोधों' को हटाया जा रहा है। आदिवासी समुदाय सदा से अपने प्रबल सामुदायिक जीवन (community life) तथा सामूहिकता की भावना के लिए जाने जाते हैं और अपने इन लक्षणों को उन्होंने अपनी रणनीतिक उत्तरजीविता (survival strategy) के रूप में भी इस्तेमाल किया है। इन सबको तेजी के साथ कमजोर करते हुये सामुदायिक अधिकारों (community rights) की कीमत पर निजी अधिकारों (private rights) को आगे बढ़ाया जा रहा है। इस प्रकार आदिवासी समुदाय भूमंडलीकरण का सबसे बड़ा शिकार बनाने जा रहे हैं या यूँ कहा जाय कि भूमंडलीकरण के लिये सबसे आकर्षक 'बलि का बकरा'।

अल्पसंख्यकों में अधिकतर मुसलमान व दलित ईसाई भारत के पिछड़े व वंचित वर्गों में शामिल किये जाते हैं और इन अर्थों में यह अनुसूचित जातियों व जनजातियों के बाद रक्खे जाते हैं। इसीलिये दलितों व जनजातीय समुदायों की तरह भूमंडलीकरण के आर्थिक प्रभाव का शिकार यह वर्ग हो रहे हैं। इसके अतिरिक्त यह लोग बढ़ती हुई सांप्रदायिकता तथा सांप्रदायिक हिंसा का भी शिकार हो रहे हैं। जैसाकि अरविंद (यथावत्) लिखते हैं- "यद्यपि भारत राज्य नेहरू युग के आरम्भिक चरण से ही उच्च जाति समर्थक, हिन्दू समर्थक प्रवृत्ति से ग्रसित रहा है परन्तु 1980 के दशक के मध्य से यह प्रवृत्ति राजनीति का एक महत्त्वपूर्ण अंग रही है। लेकिन 1990 के दशक से-अर्थात् भूमंडलीकरण के दशक से-हिन्दूकरण की यह प्रवृत्ति और बढ़ी है। यह केवल संयोग नहीं है।" **हिन्दुत्व** के सबसे आक्रामक पक्षपोषक व समर्थक फ़ासीवादी (fascist) प्रवृत्ति प्रदर्शित करते दिखाई पड़ते हैं। इतिहास में जाकर देखने से पता चलता है कि हिटलर के समय से लेकर आजतक सभी फ़ासीवादी नस्लवाद (racism), सांप्रदायिकता व अल्पसंख्यक विरोधी फ़ारमूले का इस्तेमाल बहुसंख्यक समुदाय की दिन प्रतिदिन की समस्याओं से उनका ध्यान हटाने के लिये करते रहे हैं। वह एक ऐसे राष्ट्रवाद की संकल्पना प्रस्तुत करते हैं जो एक 'शत्रु' के बिना नहीं आगे

बढ़ सकती और इसी 'समानशत्रु', के 'खतरे' को सामने रखकर बहुसंख्यक समुदाय को लामबंद किया जाता है। 1990 के दशक से अल्पसंख्यकों, विशेषकर मुसलमानों व ईसाइयों पर होने वाली हिंसा बहुत बढ़ी है। कभी-कभी राज्य इस कार्य में सीधी भागीदारी करता देखा जा सकता है जैसा कि फरवरी- मई 2002 में गुजरात में होने वाली अल्पसंख्यक विरोधी हिंसा। इन नये परिवर्तनों व प्रवृत्तियों के परिणामस्वरूप अल्पसंख्यकों के सामने कोई दूसरा रास्ता नहीं बचता सिवा इसके कि वे अपने ही जैसे दूसरे वंचित व कमजोर वर्गों से मिलकर धर्मनिरपेक्ष शक्तियों के हाथ मज़बूत करें तथा नवसाम्राज्यवाद (neo-imperialism), जो भूमंडलीक ण के रूप में आ रहा है, के विरुद्ध साम्राज्यवादी विरोधी आन्दोलन में लगें। जाति व धर्म की सीमाओं को तोड़ता हुआ भूमंडलीकरण समाज के सभी कमजोर वर्गों का समानशत्रु है। जहाँ यह एक छोटे से वर्ग के हितों का पोषक है वहीं दूसरी ओर करोड़ों लोगों के हितों को रौंदता आगे बढ़ रहा है। चीन पर भूमंडलीकरण का प्रभाव एक अपवाद मात्र है क्योंकि उसकी नीति अबतक यह रही है कि घर में समाजवाद तथा बाहर पूँजीवाद। इस प्रकार वह भूमंडलीकरण के लाभ भी उठ रहा है लेकिन साथ में ही उसके हानिकारक पक्षों से अपने को बचा भी रहा है।

मानव अधिकार मोर्चा (Human Rights Front)

यह कहना ग़लत न होगा कि सभ्यता को शास्त्रीय (classical) व समकालीन मानवीय विचार का एक महान् उपहार मानव अधिकारों की धारणा ही है। सभी समाजों में व सभी युगों में मूल मानव अधिकारों के संरक्षण व संवर्धन का संघर्ष विद्यमान रहा है। पुराने अधिकारों की कोख से नये अधिकार निकलते रहे हैं। विशिष्ट अर्थों में मानव के प्राकृतिक अधिकार, जो कानून पर परिपाटी द्वारा दिये गये अधिकारों से अलग हों, मानव अधिकारों की परिधि में रखे जा सकते हैं। मानव के अहस्तांतरणीय अधिकारों (inalienable rights) की अवधारणा उतनी ही पुरानी है जितनी मेसोपोटामिया की सभ्यता। 1948 में संयुक्त राष्ट्र के गठन के बाद मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा (Universal Declaration of Human Rights) को अंगीकार किया गया। यह चिंता कि मानवजाति स्वतंत्रता व सम्मान के साथ जिये इस घोषणा का मुख्य कारण बनी। इस 'घोषणा' ने निम्नलिखित अधिकारों को मानव अधिकार का दर्जा दिया।

- बोलने का अधिकार (Right to free speech)
- न्यायिक उपचार का अधिकार (Right to Judicial remedy)
- मुक्त गमनागमन का अधिकार (Right to freedom of movement)
- अपने राष्ट्र के शासन में भागीदारी का अधिकार (Right to participate in one's governance of nation)
- काम करने/मिलने का अधिकार (Right to work)
- अच्छे जीवन स्तर का अधिकार (Right to good standard of living)
- आराम व फुरसत (अवकाश) का अधिकार (Right to rest and leisure)
- शिक्षा का अधिकार (Right to education)

- बराबर काम का बराबर वेतन (Right to equal pay for equal work)
- समुदाय के सांस्कृतिक जीवन में सहभागिता का अधिकार (Right to participate in cultural life of community)
- कलाओं से आनंद उठाने का अधिकार तथा वैज्ञानिक उपलब्धियों व उसके लाभों में हिस्सेदारी (Right to enjoy arts and share in scientific advancement and it's benefits)
- जीवन, आजादी व व्यक्तिगत सुरक्षा का अधिकार (Right of life, liberty and person's security)
- मनमानी गिरफ्तारी, नज़रबंदी व देश निकाला से आज़ादी (Freedom from arbitrary arrest, detention and exile)
- स्वतंत्र व निष्पक्ष न्यायाधिकार के द्वारा साफसुथरी जन सुनवाई का अधिकार (Right to fair and public hearing by independent and impartial tribunal)
- विचार-मत, अंतरात्मा व धर्म की स्वतंत्रता (Freedom of thought, conscience and religion)
- शांतिपूर्ण सभा व समितियों के गठन की आजादी (Freedom of peaceful assembly and association)

इन मानव अधिकारों में से अनेक भारत के संविधान में मौलिक अधिकारों के रूप में शामिल हैं। लेकिन जैसा कि अच्युत यागनिक (1991) कहते हैं- "एक विकसित नागरिक समाज (civil society) व वैयक्तीकरण (individuation) की प्रक्रिया की अनुपस्थिति में व्यक्तिगत गरिमा, स्वतंत्रता, समानता (समता) तथा मानव अधिकारों की पाश्चात्य अवधारणा को भारतीय परिस्थितियों पर लागू करना आसान नहीं है। फिर भी मानव अधिकार भी राजनीति के अंतिम (चरम) आदर्शों के रूप में स्वीकार किये गये हैं। सच्चाई तो यह है कि राज्यों व 'राज्यों के समुदायों' में सच्चा लोकतंत्रीकरण ही मानव अधिकारों की गारंटी ले सकता है।

जब हम भारत में मानवाधिकार आंदोलनों के उद्‌भव व उद्‌विकास पर नज़र डालते हैं तो पाते हैं कि उसका ढाँचा "उत्तर- उपनिवेशिक लोकतंत्र" (post-colonial democracy) में ही निहित है। सापेक्ष रूप में आधुनिक उत्तर- उपनिवेशिक भारतीय 'राज्य' को पहली चुनौती भारत की पारंपरिक सामाजिक संरचना के द्वारा दी गई जो एक खंडात्मक व स्तरीकृत व्यवस्था थी और जो अनेकों प्रदत्त पहचानों (multiple ascriptive identities) जैसे धार्मिक, प्रजातीय, भाषाई, जनजातीय, जातीय, भौगोलिक व लैंगिक मान्यताओं में सीमाबद्ध थी (अश्विनी रे, 2003)। इस प्रकार हम पाते हैं कि भारत में मानव अधिकारों का उल्लंघन केवल राज्य के द्वारा ही नहीं होता इसके लिए हमारी पारंपरिक सामाजिक संरचना भी जिम्मेदार है। उदाहरण के तौर पर असमानता का संरचनात्मक आधार और इसके परिणामस्वरूप होने वाले मानव अधिकारों के उल्लंघन जाति आधारित सामाजिक संरचना में भी देखे जा सकते हैं जिसमें, विशेषकर दलितों पर विभिन्न प्रकार के अत्याचार होते रहे हैं तथा अब भी हो रहे हैं। यही नहीं, यद्यपि अस्पृश्यता के व्यवहार का 'कानूनी उन्मूलन' तो हो चुका है फिर भी यह, पहले से कम सही, आज भी जारी है क्योंकि यह

जाति पदानुक्रम के अनुष्ठानिक शुद्धता/अशुद्धता आधार का ही फल है।

भारत में पहले मानव अधिकार समूहों की स्थापना 1930 के दशक में जवाहरलाल नेहरू और उनके साथियों के द्वारा की गई थी। उसकी स्थापना के पीछे प्रमुख उद्देश्य स्वतंत्रता सेनानियों को कानूनी सहायता देना था। वास्तविकता यह है कि 1960 के दशक तक मानवाधिकार समूह की औपचारिक स्थापना नहीं हुई थी। यह घटना तब घटी जब समाज के उत्पीड़ित व वंचित वर्गों यथा भूमिहीन मजदूरों, छोटे किसानों, असंगठित मजदूर वर्गों तथा उनके समर्थकों व संगठनकारों पर नियोजित हमला किया गया जिसके विरोध में ईमानदार राजनीतिक मध्यम वर्ग के बहुत से लोग उठ खड़े हुए। इसी दौरान कई संगठन अस्तित्व में आये जिनमें प्रमुख थे पश्चिमी बंगाल की **एसोसियेशन फ़ार द प्रोटेक्शन ऑफ डिमोक्रेटिक राईट्स (APDR)**, आंध्र प्रदेश से **आन्ध्र प्रदेश सिविल लिबर्टीज कमेटी (APCLC)** व पंजाब से **एसोसियेशन फ़ार डिमोक्रेटिक राईट्स (AFDR)**। लेकिन 1975 में श्रीमती इंदिरा गांधी के बढ़ते हुए तानाशाहीवाद के विरोध में अनेकों उदारवादी व मानववादी व्यक्तियों ने आमूल परिवर्तनवादियों (radicals) के साथ हाथ मिला लिया जिसके परिणामस्वरूप **द पीपुल्स यूनियन फ़ार सिविल लिबर्टीज एण्ड डिमोक्रेटिक राईट्स (PUCLDR)** की स्थापना हुई। कुछ ही समय में समान उद्देश्यों से जुड़े अनेकों व्यक्ति व संगठन बदलती हुई राजनीतिक परिस्थितियों के प्रभाव से एक दूसरे के निकट आ गये। इस घटना के लिये 26 जून, 1975 की 'आपातकाल' की घोषणा ने प्रमुख कारक की भूमिका अदा की। 1980 के दशक को मानव अधिकार आन्दोलन में 'चरम बिन्दु' के रूप में देखा जा सकता है। इस चरण के दौरान कुछ पुराने मानव अधिकार समूहों के पुनरुत्थान व कुछ नये समूहों के उद्भव के रूप में देखा जा सकता है।

उन समूहों ने, जो नागरिक स्वतंत्रता (civil liberties), लोकतांत्रिक अधिकारों व सामान्य मानव अधिकारों की वकालत में सक्रिय थे, तीन प्रकार के मुद्दे उठाये:

(i) राज्य द्वारा मानव अधिकारों का परोक्ष या प्रत्यक्ष उल्लंघन (जो पुलिस की कानून विहीनता जैसे पीड़ा देने, हत्या व गैर कानूनी नज़रबंदी व गिरफ्तारी के रूप में देखा जा सकता है),

(ii) कानून द्वारा दिये गये अधिकारों को व्यावहारिक रूप में नकारना तथा साथ ही में सरकारी संस्थाओं के अपने कार्यों व दायित्वों के निर्वाह में असमर्थता, तथा

(iii) अधिकारों के निर्वहन में संरचनात्मक बाधायें (structural constraints) जैसे घर-परिवार में हिंसा, भूस्वामियों की निजी फौजें, आदिवासी समुदायों का जारी 'उपनिवेशीकरण' तथा शोषण आदि।

1980 के दशक व उससे आगे देश में व देश के बाहर से भी मानव अधिकार उल्लंघन के विरोध में शक्तिशाली दबाव बनाया जाने लगा। इस प्रकार 1993 में राष्ट्रपति के अध्यादेश द्वारा एक **राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग** की स्थापना हो सकी। तत्पश्चात् **मानव अधिकार संरक्षण अधिनियम (The Protection of Human Rights Act)** ने इस अध्यादेश का स्थान ले

लिया। इस अधिनियम में प्रांतीय स्तर पर भी मानव अधिकार आयोगों के गठन की व्यवस्था की गई थी और इस प्रकार विभिन्न राज्यों ने राज्य स्तर पर भी मानव अधिकार आयोगों का गठन कर लिया है।

प्रत्येक स्तर पर मानव अधिकारों के उल्लंघन का भारत में एक कुख्यात इतिहास रहा है लेकिन अस्पृश्यता, बंधुवा मज़दूरी, पुलिस कैद में हत्या, बाल विवाह व बाल देह व्यापार, बालश्रम, हाथों से मलमूत्र की सफ़ाई, तथा लोगों का बलात् विस्थापन ऐसे क्षेत्र हैं जहाँ मानव अधिकार उल्लंघन अपने क्रूरतम रूप में देखा जा सकता है। सांप्रदायिकता भी लोकतांत्रिक व्यवस्था व मानव अधिकारों के लिये एक चुनौती के रूप में देखी जा सकती है। जैसा कि डी. एल. शेठ व हर्ष सेठी (1995) कहते हैं, "घृणा से भरे भाषण व वक्तव्य, अल्पसंख्यकों में अपनी सुरक्षा के प्रति व्याप्त डर, शारीरिक आक्रमण, बलात्कार, आगजनी, लूटमार व हत्या जो 'जातीय सफ़ाया' (ethnic cleansing) से मिलती जुलती हो और जिसे कभी राज्य की शक्तियों से साज़बाज करके और कभी उनकी सक्रिय भागीदारी के द्वारा किया जाता हो, मानव अधिकार के क्षेत्रों में सक्रिय व्यक्तियों व संगठनों के लिये एक क्षोभ का विषय है।"

ऐसे नये मुद्दे जो मानव अधिकार समूहों के एजेंडे का अंग बन चुके हैं, प्राकृतिक संसाधनों के क्षेत्र में टकराव, लैंगिग समानता, बढ़ते हुए जातीय, सांप्रदायिक तथा नृजातीय संघर्ष (ethnic conflicts) आदि हैं। आदिवासियों, दलितों व महिलाओं की ऐतिहासिक रूप से कमज़ोर व आघात योग्य परिस्थिति उनके मानव अधिकारों के उल्लंघन के लिये उपजाऊ भूमि तय्यार करती हैं। इसीलिये विभिन्न सक्रिय व संघर्षरत समूहों द्वारा लिये जाने वाली पहल ने इन समूहों व ग्रामीण गरीबों के सशक्तिकरण व संगठन का रूप ले लिया है।

भारत में मानव अधिकार आन्दोलन का तीक्ष्ण विश्लेषण करते हुए डी. एल. शेठ (1995) कहते हैं कि वह आम नागरिक स्वतंत्रता के मुद्दों से आगे बढ़ चुका है तथा अब ऐसे समूहों के बहुआयामी संघर्षों से जुड़ चुका है जिन्हें विकास व राजनीति के वर्तमान प्रारूप पैरों तले रौंद रहे हैं। अब यह आन्दोलन यह मानकर चल रहा है कि मानव अधिकारों का मुद्दा केवल तब ही नहीं उठता है जब राज्य द्वारा नागरिकों के अधिकारों का उल्लंघन किया जाता है बल्कि यह उन सभी परिस्थितियों पर लागू होता है जहाँ व्यक्तियों या समूहों को जनसंसाधनों पर दावेदारी से वंचित किया जाता है। आज समय का तकाज़ा है कि लोगों को मानव अधिकार व उसके उल्लंघन के प्रति संवेदनशील बनाया जाय ताकि यह एक जनआन्दोलन का रूप ले सके।

❑

संदर्भ सूची व ग्रन्थ सूची
(References and Bibliography)

585

संदर्भ सूची व ग्रन्थ सूची
(References and Bibliography)

Ahmed, Aijaz	2002	On Communalism and Globalization : Offence of the Far Right. New Delhi. Three EssaysPublishers
Ahmed, Eijazuddin	1999	Social Geography. Jaipur. Rawat Publication.
Ahmed, Imtiaz (ed.)	1978	Caste and Social Stratification among Muslims in India. Delhi. Manohar Publications.
Amin, Sameer	1997	Capitalism in the Age of Globalisation: The Management of Contemporary Society. Delhi. Madhyam Books.
Ansari, Ghous	1960	Muslim Caste in Uttar Pradesh. Lucknow. Ethnographic & Folk Culture Society.
Ansari, Iqbal	1994	**Seminar** (416). NewDelhi.
Ansari, M. Shoib	1997	Education in Dini Madaris. New Delhi. Institute of Objective Studies.
Ansari, A.H.	1999	Pasmanda Musalmanon Ke Masail (Hindi), Gorakpur. Centra of Backward Muslims of India.
Abercrombie, Nicholas	1994	The Penguin Dictionary of Sociology. London. Penguin Books Ltd.
Abidi, S.A.H.	1992	Sufism in India. NewDelhi. Vishwa Prakashan.
Anderson, J.D.	1993	The Peoples of India. Camberidge
Anwar, Ali	2001	Masawaat Ki Jang: Bihar ke Pasmanda Musalman (Hindi). New Delhi. Vaani

Prakashan.

Alternative Survey Group 2002 Alternative Economic Survey 2000-01: Second Generation Reforms & Delusion of Development. Delhi Rainbow Publishers.

2003 Alternative Survey: Liberalization and Social Justice. NOIDA. Rainbow Publishers.

Arvind 2002 Globalization: An Attack on India's Sovereignty. New Delhi. New Vistas Publication.

Arya, Sadhna **et al** (ed) 2001 Nariwadi Rajniti:Sangharsh Evam Mudde (Hindi). New Delhi. Hindi Karayanvayan Nideshalya. Delhi. University of Delhi.

Appadurai, A. 1997 Modernity at Large: Cultural Dimensions of Globalization. Delhi. Oxford University Press.

Atal, Yogesh 1968 The Changing Frontiers of Caste. Delhi. National Publishing House.

Atkinson, Edwin T 1973 The Himalyan Gazeteer. Delhi. Comos Publications.

Aurora, G.S. 1972 Tribe-Caste-Class Encounters. Hyderabad. Administrative Staff College of India.

Bagchi. P.C. 1920 Pre-Aryan and Pre-Dravidian in India. Calcutta.

Baig, Tara Ali 1990 Women in India. New Delhi. Publication Division (Government of India)

Baird, Robert D. (ed) 1998 Religion in Modern India. New Delhi. Manohar Publishing House.

Banerji, Sumanta (ed.) 1999 Shrinking Space: Minority Rights in South Asia. Nepal (Lalitpur). South

		Asia Forum for Human Rights.
Bailey, F.G.	1957	Caste and Economic Frontier. Bombay. Oxford University Press.
	1960	Tribe, Caste and Nation: A Study of Political Activity and Political Change in Highland Orissa. Manchester. Manchester University Press.
Beitelle, Andre	1965	Caste, Class and Power: Changing Patterns of Social Stratification. Berkeley. The Regents of University of California.
	1974	Six Essays In Comparative Sociology. New Delhi. Oxford University Press
	1986	Studies in Agrarian Social Structure. Delhi. Oxford University Press.
	1994	The Backward Classes in Contemporary India. Delhi. Oxford University Press
	1997	Inequality Among Men. London. Basil Blackwell.
Bardhan, A.B.	1977	Ansuljhi Janjatiya Samasya (Hindi) Delhi.Communist Party of India.
Bapat, Ram & Pushpa Surendra	1995	Critical Issues in Indian Society. Madras. Earthworm Books.
Berreman, Gerald D.	1963	Hindus of the Himalyas. Berkley. Cornell University Press.
Bhowmik, K.L.	1971	Tribal India: A Profile in Indian Ethnology. Calcutta. World Press.
Bodley, John H.	1982	Victims of Progress. Califormia. The Benjamin Cumming Publishing Co.
Bose, N.K.	1967	Culture ans Society in India. Bombay. Asia Publishing House.
Brass, Paul R.	1994	The Politics of India Since Independence. Cambridge. Cambridge

University Press.

Bernard, Allan & Jonathan Spencer	1996	Encyclopaedia of Social and Cultural Anthropology. London. Routlege.
Chauhan, B.R.	1970	Towns in the Tribal Setting. Delhi. National Publishing House.
Chatterji, Rakahari (ed.)	1994	Religion, Politics and Communalism: The South Asian Experience. New Delhi. South Asian Publishers.
Chatterji, P.	1998	A Possible India. Delhi. Oxford University Press.
Chandra, Bipan	1994	Ideology and Politics in Modern India. New Delhi. Har Anand Publications. Communalism in India
Chattopadhyaya, D.P.		Indian Philosophy. 1964. New Delhi. People's Publising House.
Chighani, H.R. (ed.)	2000	Secularism in India. Patna. Khuda Baksh Oriental Public Library.
Clarke, Sathyanathan	1999	Dalits and Christianity: Subaltern Religion and Liberation Theology in India. New Delhi. Oxford University Press.
Cohn, Bernard S.	1971	India : The Social Anthropology of a Civilization. New Jersey. Prentice Hall Inc.
	1987	An Anthropologist among the Historians and other Essays. Delhi. Oxford University Press.
Crooke, W.	1896	The Tribes and Castes of the North Western Provinces of Agra and Oudh. Vol. 2. Calcutta. Superintendent of Government Press.
Das, Veena	1995	Critical Events: An Anthropological Perspective on Contemporary India.

		Delhi. Oxford University Press.
(ed.)	2003	The Oxford Companion to Sociology and Social Anthropology, (Two volumes). New Delhi. Oxford University Press.
Deshpande, Satish	2003	Contemporary India: A Sociological View. New Delhi. Viking Penguin Books. India.
Desai, A.R. (ed.)	1994	Rural Sociology in India. Bombay. Popular Prakashan.
(ed.)	1979	Peasant Struggle in India. Delhi. Oxford University Press.
	1986	Agrarian Struggles in India after Independence. Delhi. Oxford University Press.
Devendra, Kiran	1996	Changing Status of Women in India. New Delhi. Vikas Publishing House.
Deliege, Robert	1999	The Untouchables of India. New York. Berg Publishers.
Dee, Brown	1973	Bury My Heart at Wounded Knee. New York. Bantom Books.
Dhanagre, D.N.	1994	Peasant Movements in India 1920-1950. New Delhi. Oxford University Press.
Dube, Leela	1969	Matriliny in Islam. Delhi. National Publishing House.
Delhi Science Forum	2002	The Indian Economy, 2001-02, An Alternative Survey. Hyderabad. Prajashakti Book House.
Dube, S.C.	1955	Indian Village. London. Routledge & Kegan Paul.
	1974	Contemporary India and its Modernization. Delhi. Vikas Publishing House Pvt. Ltd.

(ed.)	1977	Tribal Heritage of India. Delhi. Vikas Publishing House.
Dumont, Louis	1970	Homo-Hierarchicus: The Caste System and it's Implications. Chicago. Chicago University Press.
Elwin, Verrrier	1947	The Muria and their Ghotul. Bombay. Oxford University Press.
	1960	A Philosophy for NEFA. Shillong. Government of Assam.
	1996	The Tribal World of Verrier Elwin. Bombay. Oxford University Press.
Epstein, T.S.	1972	Economic Development and Social Change in South India. Manchester. Manchester University Press.
Enthoven, R.E.	1920	Tribes and Castes of Bombay. Bombay. Government Central Press.
Forbes, Geraldine	1998	Women in Modern India. New Delhi. Foundation Books.
Faridi, F.R. & M.M. Siddiqi	1992	The Social Structure of Indian Muslims. New Delhi. Institute of Objective Studies.
Fernandes, Walter	1996	The Emerging Dalit Identity: The Reassertion of the Subalterns. New Delhi. Indian Social Institute.
Freedman, Jane	2002	Feminism. New Delhi. Viva Books.
Foster, George M	1973	Traditional Societies and Technological Change. London. Harper & Row Publishers.
Fuchs, Stephen	1965	Rebellious Prophets. Bombay. Asia Publishing House.
	1973	The Aboriginal Tribes in India. New Delhi. The Macmillan Company.
Fuller, C.J. (ed.)	1997	Caste Today. Delhi. Oxford University Press.

Furer Haimendoof, Christopher	1943	The Chenchu. London. Macmillan
	1962	The Apatanis and their Neighbourhood. London. Routledge & Keganpaul.
Galanter, Marc	1984	Competing Inequalities : Law and the Backward Classes in India. Delhi. Oxford University Press.
	1989	Law and Society in Modern India Delhi. Oxford University Press.
Geetha, V. & S.V. Rajduari	1999	Towards a Non-Brahmin Millenium: From Jyothee Thass to Periyar. Calcutta. Samya.
George, T.J.S.	1998	The Enquire Dictionary. New Delhi. Harper Collin Publishers India Pvt. Ltd.
Ghurye, G.S.	1943	The Aborigines so called and Their Future. Poona. Gokhle Institute of Politics and Economics.
	1963	The Scheduled Tribes. Bombay. Popular Parkashan.
	1979	Caste and Race In India. Bombay. Popular Prakashan.
Gopalan, Sarla & Meera Shiva (ed.)	2000	National Profile of Women, Health and Development. New Delhi. Voluntary Health Association of India.
Gupta, Dipankar (ed.)	1992	Social Stratification. Delhi. Oxford University Press.
	2000	Interrogating Caste : Understanding Hierarchy and difference in Indian Society. New Delhi. Penguin Books India.
	2000	Mistaken Modernity : India Between Two Worlds. New Delhi. Harper Collins Publishers.
Gould, Harold A.	1987	The Hindu Caste System: The

		Sacrilization of a Social Order. New Delhi. Chanakya Publications.
	1988	Caste Adaptation in Modernizing Indian Society. Delhi. Chankya Publication.
	1994	Grassroots Politics in India. Oxford & IBH. New Delhi.
Harris, Marvin	1999	Theories of Culture in PostModern Times. Walnut Creek. Altta Mira Press.
Hasan, Zoya (ed.)	2000	Politics and the State in India. New Delhi. Sage Publications.
Hasnain, Nadeem	1982	Bonded for Ever. New Delhi. Harnam Publications.
	1988	Indian Anthropology. New Delhi. Palaka Prakashan.
	1988	Shias and Shia Islam in India: A Study in Society and Culture. New Delhi. Harnam Publications.
	1991	Tribal India. New Delhi. Palaka Prakashan.
Heredia Rudolf C. & Edward Mathias (ed.)	1995	Secularism and Liberation : Perspectives and strategies of India Today. New Delhi. Indian Social Institute.
Husain, Munirul & Lipi Ghosh (ed.)	2002	Religious Minorities in south Asia. New Delhi. Manak Publishers.
Hutton, J.H.	1951	Caste In India. Bombay, Oxford University Press.
Ilaiah, Kancha	1996	Why I am not a Hindu: A Shudra Critique of Hindutva Philosophy, Culture and Political Enconomy. Calcutta. Samya.
International Labour Organization	1953	Indigenous Peoples. Geneva.
Jain, P.C.	1991	Social Movements among Tribals. Jaipur. Rawat Publications.

Jafferlot, Christopher	2003	India's Silent Revolution: The Rise of Lower Caste In North Indian Politics. Delhi. Permanent Black.
Jarry David & Julia Jarry	1991	Collins Dictionary of Sociology. Glasgow. Harper Collins.
Jaya Kumar, Samuel	1999	Dalit Consciousness and Christian Conversion. Delhi. Regnam International. Oxford.
Jodhka, Surendra. S. (ed.)	2001	Community and Identities: Contemporary Discourses on Culture and Politics in India. New Delhi. Sage Publications.
Johnson, Allan J.	1995	The Blackwell Dictionary of Sociology. Massachusetts. Blackwell.
Joshi, P.C.	1976	Land Reforms in India: Trends and Perspectives. Bombay. Allied Publishers.
	2002	Marxism and Social Revolution in India & other Essays. New Delhi. Manak Publishers.
Joshi, R.P. & G.S. Narwani	2002	Panchayati Raj In India: Emerging Trends Across India. Jaipur. Rawat Publications.
Kapadia. K.M.	1961	Marriage And Family in India. Bombay.
Kapur, Promilla (ed.)	2001	Empowering the Indian Women. New Delhi. Publications Division.
Kaushik, Sushila	1996	Women's Oppression : Patterns and Perspectives. New Delhi. Vikas Publishing House.
Kaviraj, Sudipta	1999	Politics in India. Delhi. Oxford University Press.
Kaviraj, Sudipta & Sunil Khilnani (ed.)	2002	Civil Society : History and Possblitities New Delhi: Foundation Books.

Kavlekar, Kashinath	1979	Non-Brahmin Movement in Southern India (1873-1949). Kolhapur. Shivaji University Publication.
Khalidi, Omar	1995	Indian Muslims since Independence. New Delhi. Vikas Publishing House.
Khan.Z.M. & S.M. Yadav	2001	We the Minorities of India. New Delhi. Institute of Objective Studies.
Kolenda, Pauline	1984	Caste in Contemporary India: Beyond Organic Solidarity. Jaipur. Rawat Publications.
Kothari, Rajni	1970	Caste in Indian Politics. New Delhi. Orient Longman.
	1978	Communalism in Indian Politics. Delhi. Rainbow Publishers.
Kothari, Smitu **et. al**	1995	Displacement and Rehabilitation. New Delhi. **Lokayan Bulletion**. 11 (5), Speical Issue.
Kumar, Radha	1993	The History of Doing : An Illustrated Account of Movements of Women's Right and Feminism in India 1800-1990. New Delhi. Kali for Women.
Kuper, Adam & Jessica Kuper (ed.)	1985	The Social Science Encyclopaedia. London. Routlege.
Kshirsagar, R.K.	1994	Dalit Movement in India and its Leaders. New Delhi. M.D. Publications Pvt. Ltd.
Lal, Malashri & Sukerita Paul Kumar (ed.)	2002	Women's Studies in India: Contours of Change. Simla. Indian Institute of Advance Studies.
lathan, R.G.	1959	Ethnography of India. London, Macmillan.
Lokhandwala, S.T. (ed.)	1971	India and Contemporay Islam. Simla. Indian Institute of Advance Studies.
Lynch, Owen M.	1969	The Politics of Untouchability. New

York . Columbia University Press.

Mandelbaum, David G. 1970 Society in India. California. California University Press.

Mahar, J. Michael (ed.) 1998 The Untouchables in Contemporary India. Jaipur. Rawat Publications.

Mann, Michael 1983 Macmillan's Students Encyclopaedia of Sociology. London. The Macmillan Press Ltd.

Massey, James 1995 Dalits in India: Religion as a Source of Bondage or Liberation. New Delhi. Manohar Publishers.

Mathew, Thomas 1991 Ambedkar: Reform or Revolution. New Delhi. Segment Books.

Mathur, H.M. (ed.) 1990 The Human Dimensions of Development: Perspectives from Anthropology. New Delhi. Concept Publishing Company.

Mathur, K.S. & B.C. Agarwal (ed.) 1974 Tribe, Caste and Peasantry. Lucknow. Ethnographic and Folk Culture Society.

Majumdar, D.N. 1944 Races and Cultures in India. Lucknow. Universal Publishers.

Mehta, Shalina 1992 The Eternal Web: Hindu-Muslim Relations. New Delhi Cosmo Publications.

Michael, S.M. (ed.) 1999 Dalits in Modern India: Vision and Values. New Delhi. Vistaar Publication.

Mendelsohn, Oliver & Marika Vicziany 2000 The Untouchables: Subordination. Poverty and the State in Modern India. New Delhi. Foundation Books.

Mencher, Joan P. (ed.) 1983 Social Anthropology of Peasantry. Bombay. Somayya Publications.

Mead, Margaret (ed.) 1955 Cultural Patterns and Technological Change. London. Mentor Books.

Marriot, Mickim (ed.) 1955 Village India. Chicago. Chicago

		University Press.
Mehmood, Tahir (ed.)	1991	Minorities and State in Indian Law. New Delhi . Genuine Publications.
	1995	Uniform Civil Code: Fiction and Facts. New Delhi. India and Islam Research Council.
Madan, T.N. (ed.)	2001	Muslim Communities of South Asia: Culture, Society and Power. New Delhi. Manohar Publications.
Mies. M & Vandana Shiva	1993	Ecofeminism. London. Zed Books.
Muhmmad, Noor (ed.)	1999	Indian Muslims: Precepts and Practices. Jaipur. Rawat Publications
Murdidharan, M. **et al**	1983	Understanding Communalism. Banglore. Vistaar.
National Committee on the Status of Women	1988	Status of Women in India. New Delhi. ICSSR.
National Sample Survery of India	2000& 2001	Reports . Delhi.
Nesiah, Devenasan	2000	Discrimination with Reason. New Delhi. Oxford University Press.
Naim, C.M.	1999	Ambiguity of Heritage. Karachi. City Press.
Omvedt, Gail	1990	Violence against Women: New Movements and New Theories in India. New Delhi. Kali for Women.
	1994	Dalits and the Democratic Revolution: Dr. Ambedkar and the Dalit Movement in Colonial India. New Delhi. Sage Publications.
Oomen,T.K.	1972	Charisma, Stability and Change: An Analysis of Bhoodan, Gramdan Movements in India. New Delhi. Thompson Press.
Pachauri, Saroj	1994	Reaching India's Poor: Non

		Governmental Approaches to Community Health. New Delhi. Sage Publications.
Pachauri, Sudhish	2002	Hindutva Aur Uttar Adhunikta (Hindi). Delhi. Radha Krishna Prakashan.
Pai, Sudha	2002	Dalit Assertion and the Unfinished Democratic Revolution: The BSP in Uttar Pradesh. New Delhi. Sage Publications.
Pathak, Avijit	1998	Indian Modernity: Contradictions, Paradoxes and Possibilities. New Delhi. Gyan Publishing House.
Panandikar, Pai (ed.)	1997	The Politics of Backwardness: Reservation Policy in India. New Delhi. Konark Publishers.
Pandey, Gyanendra	1993	Hindus and Others: The Question of Identity in India Today. New Delhi. Penguin Books.
Panikkar, K.N.	1997	Communal Threat, Secular Challenge. Madras. Earthworm Books.
Pinto, Ambrose (ed.)	1999	Dalits: Assertion for Identity. New Delhi. Indian Social Institute.
Publication Division Govt. of India	1989	India: 40 Years of Independence. New Delhi. Director, Publication Division.
	2000	50 Years of Indian Republic. New Delhi.
Parbhu, P.N.	1954	Hindu Social Organization. Bombay. Popular Book Depot.
Qureshi, M. Hashim (ed.)		1998 Muslims in India Since Indepdence: A Regional Perspective.
Radhakrishnana, S.	1927	The Hindu View of Life. London. Allen and Unwin.
Raju, Saraswati **et al**	1999	Atlas of Women and Men in India. New Delhi. Kali for Women.
Rao, Anupama	2003	Gender and Caste. New Delhi. Kali for

		Women.
Rao. M.S.A. (ed.)	1984	Social Movements in India. New Delhi. Manohar Publications.
Raza, Moonis & Aijzauddian Ahmed	1990	An Atlas of Tribal India. New Delhi. Concept Publishing Company.
Redfield, Robert	1961	The Little Community and Peasant Society and Culture. Chicago. University of Chicago Press.
Roy Burman, B.K.	1994	Tribes in Perspective. New Delhi. Mittal Publication.
Sachchidanand, S.	1972	Social Dimensions of Agricultural Change Delhi. National Publishing House.
	1976	The Harijan Elite. Delhi. Thompson Press.
Saberwal, Satish	1986	India: The Roots of Crisis. Delhi. Oxford University Press.
Sahay, K.N.	1976	Under the Shadow of the Cross. Calcutta. Institute of Social Research & Applied Anthropology.
	1986	Christianity and Culture Change in India. Delhi. Inter India Publications.
Shah, Ghanshyam	1990	Social Movement in India: A Review of the Literature. New Delhi. Sage Publications.
(ed.)	2002	Social Movements and the State. New Delhi. Sage Publications.
Sharma, B.D.	1995	Globalization : The Tribal Encounter. New Delhi. Har Anand Publications.
	2000	Dalits Betrayed. New Delhi. Sahyog Pustak Kuteer.
Sharma, S.R.	2002	Protective Discrimination: Other Backward Classes in India. Delhi. Raj Publications.
Shanin, T. (ed.)	1987	Peasants and Peasant Societies.

		London. Blackwell.
Seth, Mira	2001	Women and Development : The Indian Experience. Delhi. Sage Publications.
Singêr, Milton & Bernard S. Cohn. (ed.)	1968	Structure and Change in Indian Society. Chicago. Aldine.
Shariff, Abu Saleh	1999	India : Human Development Report. New Delhi. Oxford University Press.
Shah, A.M. & B.S. Baviskar **et al** (ed.)	1997	Social Structure and Change: Development and Ethnicity (Vol. 4). New Delhi. Sage Publications.
Sharma, Ursula	2002	Caste. New Delhi. Viva Books Pvt. Ltd.
Siddiqi, M.K.A. (ed.)	1998	Muslims in Free India: Their Social Profile. New Delhi. Institute for Objective Studies.
Sharma, K.L. (ed.)	1998	Caste and Class in India. Jaipur. Rawat Publications.
Sinha, Surajit (ed.)	1957	"Tribal Culture of Peninsular India". **Man in India**, Vol. 37, No. 3.
Singh, Harjinder (ed.)	1977	Caste among Non-Hindus in India. New Delhi. National Publishing House.
Singh, Khushwant & Bipan Chandra (ed.)	1985	Many Faces of Communalism. Chandigarh. Centre for Research in Rural and Industrial Development.
Singh, K.S. (ed.)	1982	Tribal Movements in India (2 Volumes.). New Delhi. Manohar Publishers.
(ed.)	2002	Tribal Situation in India. Simla. Indian Institute for Advance Studies.
Singh, Yogendra	1996	Modernization of Indian Tradition. Jaipiur. Rawat Publications.
Smith, D.E.	1963	India as a Secular State. Princeton. Princeton University Press.
Srinivas, M.N. (ed.)	1955	India's Villages. Calcutta. Government

of West Bengal Press.

1966 Social Change in Modern India. Bombay. Orient Longman.

1992 On Living in a Revolution. Delhi. Oxford University Press.

1996 Caste : It's Twentieth Century Avatar. New Delhi. Penguin Book India. Pvt. Ltd.

Thorner, D. 1956 The Agrarian Prospects of India.Delhi. Oxford University Press.

Titus, M.T. 1979 Indian Islam : A Religious History of Islam in India. New Delhi. Oriental Books.

Upadhyay, B.S. 1989 Feeders of Indian Culture. New Delhi. Peoples' Publishing House.

Unnithan, T.K.N., Indra Deve & Yogendra Singh (ed.) 1965 Towards a Sociology of Culture in India. New Delhi. Prentice Hall of India Pvt. Ltd.

UNESCO 1985 Sociology and Social Anthropology in Asia and Pacific. New Delhi. Wiley Eastern Ltd.

Van der Veer, Peter 1998 Religious Nationalism : Hindus and Muslims in India. New Delhi. Oxford University Press.

Vanaik, Achin 1987 Communalism Contested: Religion, Modernity and Secularization. New Delhi, Vistaar Publications.

Vidyarthi, L.P. (ed.) 1981 Tribal Development and Its Administration. New Delhi. Concept Pubishing Company.

Vidyarthi, L.P. & B.K. Rai 1977 Tribal Culture of India. New Delhi. Concept Publishing Company.

Webster, John C.B. 1996 The Dalit Christian: A History. Delhi. Indian Society for Promoting Christian Knowledge.

Wingate, Andrew 1999 The Church and Conversion : A Study

of Recent Conversions to and From Chistianity in Tamil Area of South India. Delhi. ISPCK.

Wiser, William H	1936	The Hindu Jajmani System. Lucknow Publising House. Lucknow.
Wolf, Eric	1996	Peasants. New Jersey. Prentice Hall Inc.

DOCUMENTS, REPORTS AND PROCEEDINGS

Five Year Plan Documents (Planning Commission, Goverment of India).

Human Development Reports

Alternative Economic Surveys

Annual Reports of the Commissioner of Scheduled Castes and Scheduled Tribes.

Annual Reports of National Commission of Scheduled Castes and Scheduled Tribes.

Annual Reports of National Minorities Commission.

Annual Reports of the Commissioner of Linguistic Minorities.

Sociological Bulletin

The Eastern Anthropologist

मानव

समकालीन भारतीय समाज

एक समाजशास्त्रीय परिदृश्य

भारतीय समाज व संस्कृति के विषय व मुद्दे समाजशास्त्र, सामाजिक मानवशास्त्र, समाजकार्य, मानव भूगोल व लोक प्रशासन के विद्यार्थियों व पाठकों के लिये विशेष रुचि रखते हैं। भारतीय समाज व संस्कृति में अभिरुचि रखने वाले सामान्य परन्तु गम्भीर पाठक भी इसी श्रेणी में रक्खे जा सकते हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में प्रयास किया गया है कि भारतीय समाज व संस्कृति के सभी महत्त्वपूर्ण पहलुओं का विवरण व विश्लेषण इस प्रकार किया जाये कि उस में निरन्तरता व परिवर्तन दोनों ही भली-भाँति उजागर हो सकें क्योंकि भारत में सामाजिक परिवर्तन की गतिकी को निरन्तरता से अलग कर के नहीं समझा जा सकता। ज़ाहिर है कि भारतीय समाज के इतने बड़े कैनवास को सीमाबद्ध करना आसान नहीं है फिर भी प्रयास किया गया है कि पाठकों को सभी प्रमुख पहलुओं का अवलोकन करवाया जा सके। समग्र दृष्टि व समझ विकसित करने के लिये इसके अतिरिक्त कोई दूसरा रास्ता नहीं हो सकता।

आशा है कि यह पुस्तक पहले से उपलब्ध पुस्तकों की तुलना में इस लक्ष्य को अधिक बेहतर तरीके से प्राप्त करने में सहायक होगी। प्रस्तुत पुस्तक केवल विश्वविद्यालय स्तर के समाजशास्त्र, मानवशास्त्र, समाजकार्य, मानव भूगोल व लोक प्रशासन के विद्यार्थियों के लिये ही नहीं बल्कि इन विषयों को, विशेषकर समाजशास्त्र व मानवशास्त्र को, विभिन्न प्रतियोगी परीक्षाओं में रखने वाले परीक्षार्थियों के लिये भी समान रूप से उपयोगी होगी, ऐसा विश्वास है। साथ ही भारतीय समाज के सामान्य पाठक भी इसको पसंद करेंगे।



प्रो. नदीम हसनैन, विभागाध्यक्ष, मानव विज्ञान विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, पूर्व उप-कुलपति महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा जाने-पहचाने समाजविज्ञानी हैं। शोधकार्य के क्षेत्र में समाज के कमज़ोर व उपेक्षित वर्गों वरन् आदिवासी, दलित, पिछड़ी जातियों व अल्पसंख्यक समुदायों में इनकी विशेष अभिरुचि रही है। प्रशासनिक सेवाओं के परीक्षार्थियों में इनका लेखन व व्याख्यान अत्यन्त लोकप्रिय है। अब तक दस पुस्तकें व अनेक निबन्ध प्रकाशित। पुस्तकें अंग्रेज़ी, हिन्दी, तेलगु व कुछ अन्य भारतीय भाषाओं में भी उपलब्ध। विभिन्न सामाजिक, साहित्यिक व शैक्षिक संगठनों से भी संबद्ध हैं। अपने सामाजिक सरोकारों में मुखर भूमिका अदा करने वाले व सामाजिक कार्यकर्ता (social activist) के रूप में भी जाने जाते हैं।

BHARAT BOOK CENTRE

भारत बुक सेन्टर

17, अशोक मार्ग, लखनऊ - 226 001

फोन : 0522 - 2288381, 9475102821

ISBN-81-7678-127-7